स्वर, सुबन्त-तिङन्त पदों की सिद्धि आदि पर शास्त्रशुद्ध वैज्ञानिक एवं लक्षणयुक्त ग्रन्थ लिखने के बाद शब्दशास्त्र के लिए व्याकरण शब्द का प्रयोग रूढ हो गया।

पाणिनि ने अपने समय में प्रचलित भाषा के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। भाषा अर्थ में संस्कृत शब्द का प्रयोग अष्टाध्यायी में नहीं मिलता। विशेषण रूप में इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम रामायण में प्राप्त होता है।[1] रामायण से यह भी विदित होता है कि व्याकरण के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य अपशब्दों के प्रयोग से बचते हुए संस्कृत भाषा का शुद्ध प्रयोग माना जाता था।[2] इस समय जैसे वैदिक भाषा की कुछ विशेषताओं का ग्रहण करते हुए उत्तर देश में बोलचाल की संस्कृत का विकास हुआ था उसी प्रकार वैदिक भाषा की अन्य तथा भिन्न-भिन्न विशेषताओं को आत्मसात् कर शूरसेन कोसल प्राच्यदेश मगध मालव महाराष्ट्र लाट आदि प्रदेशों में उन प्रदेशों की संस्कृत विकसित हुई थी। पाणिनि-काल तक शब्दों के अर्थ सम्बन्ध तथा वाक्य रचना की दृष्टि से इन सब प्रदेशों की भाषा एक थी। केवल स्वर, सन्धि-कार्य ह्रस्व-दीर्घ-व्यतिक्रम तथा कहीं-कहीं विशिष्ट प्रत्यय या आगम-सम्बन्धी अन्तर दृष्टिगोचर होते थे। इस प्रादेशिक संस्कृत के भिन्न-भिन्न व्याकरण इन्द्र आपिशलि कात्यायन गार्ग्य शाकटायन इत्यादि पूर्वोक्त वैयाकरणों ने निर्मित किये थे। इनमें ऐन्द्र व्याकरण शूरसेन या हस्तिनापुर के पास-पड़ोस में प्रचलित था। इस व्याकरण के अनुसार बहुसंख्य शब्दों का प्रयोग महाभारत में देखा जा सकता है।

पाणिनि पर पूर्वाचार्यों का प्रभाव और उनका समन्वयवादी दृष्टिकोण—पाणिनि ने इन समस्त प्रादेशिक रूपों का समन्वय कर संस्कृत का देशव्यापी एकरूप उपस्थित किया। उन्होंने प्रत्येक प्रान्त के विशिष्ट रूपों को उनके समर्थक आचार्यों के नामोल्लेख-सहित विकल्प रूप से अपने व्याकरण में स्वीकृत किया। उनके द्वारा आठ बार किया गया 'प्राच्य' आचार्यों के मत का उल्लेख (जिसमें छह तद्धित प्रत्यय-सम्बन्धी मतभेद हैं) इस बात का प्रमाण है कि वे प्रादेशिक मतभेदों का समन्वय कर संस्कृत का एकदेशव्यापी स्वरूप खड़ा करना चाहते थे। एतदर्थ उन्होंने समस्त पूर्ववर्ती कृतियों से लाभ उठाया। शब्द-सिद्धि के लिए सारी आवश्यक और अपने अनुकूल बातें उन्होंने प्राचीन वैयाकरणों से ज्यों-की-त्यों ले ली। उन्होंने अक्षर-समाम्नाय प्रातिशाख्य-ग्रन्थों तथा अग्रज वैयाकरणों से लिया। यद्यपि अपनी सुविधा के लिए उन्होंने उसमें से कुछ वर्ण छोड़ दिये कुछ के नए कल्पित कर लिये और कुछ का क्रम बदल दिया। फिर भी अपनी ओर से किसी नये वर्ण का समावेश नहीं किया। लाघव के लिए एक समान शब्दावली में से नमूने के लिए एक शब्द सूत्र में ग्रहण कर शेष के लिए गण की कल्पना कर गणपाठ में उनका समावेश कर दिया। गणपाठ में भी उन्होंने अनेक गण आपिशलि आदि से ले लिये। धातु और धातुपाठान्तर्गत गणों के विषय में भी उन्हें पूर्व-वैयाकरणों और कोशकारों से पर्याप्त सहायता मिली। बयालीस वर्णों का एक विशेष क्रम में १४ सूत्रों के भीतर निविष्ट कर प्रत्या-

---

१ वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।—सुन्दर का० ३०-१७।

२ नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतोऽनेन न किंचिदपभाषितम्॥—किष्कि० का० ३ २९।

हारों द्वारा संक्षेप में बात कहने का मार्ग सुकर कर लिया। इन वर्णों से बने बयालीस प्रत्याहारों का उपयोग उन्होंने अपने व्याकरण में किया। प्रत्याहारों की प्रेरणा उन्हें इन्द्र आपिशलि आदि से मिली। सन्धि-कार्य के विषय में प्रातिशाख्य विद्यमान ही थे। उनके सारे नियमों का ग्रहण कर केवल मतभेद के स्थलों में पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया और वैकल्पिक रूप से उनके द्वारा समर्थित प्रयोगों का ग्रहण कर लिया। सर्वनाम अव्यय धातु, प्रातिपदिक इत्यादि लोक प्रसिद्ध संज्ञाएँ पूर्वाचार्यों से ले लीं। पाणिनि ने निरुक्त में व्यवहृत अनेक संज्ञाओं का प्रयोग भी स्वच्छन्दतापूर्वक किया है, यद्यपि अनेक स्थानों पर दोनों आचार्यों द्वारा व्यवहृत संज्ञाओं में अन्तर है। जैसे—

यास्क	पाणिनि	यास्क	पाणिनि
कारित	णिजन्त	चर्करीति	यङ्लुगन्त
चिकीर्षित	सनन्त	व्यञ्जन	विग्रहण
निर्वृत्ति-स्थान	(कुछ नहीं)	नामकरण	(कुछ नहीं)

यास्क ने सर्वनाम शब्द का प्रयोग 'सर्वाणि नामानि यस्य' अथवा 'सर्वेषु भूतेषु नमति गच्छति वा' इस अर्थ में किया है, पाणिनि के समान पारिभाषिक अर्थ में नहीं। इसी प्रकार, यास्क ने निपात शब्दों के पृथक् अर्थ बतलाते हुए निपातों की 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' यह व्याख्या दी है, किन्तु पाणिनि ने क्रिया के योग में उन्हें उपसर्ग तथा क्रियाजन्य शब्दों के योग में गति और कर्मप्रवचनीय संज्ञा दी है। इससे यास्क और पाणिनि के काल के बीच पर्याप्त अन्तर ज्ञात पड़ता है। फिर भी प्रत्यय प्रथमा, द्वितीया आदि से सप्तमी तक विभक्ति नाम समास तत्पुरुष अव्ययीभाव बहुव्रीहि, द्वन्द्व तद्धित आदि प्राचीन संज्ञाओं का व्यवहार उन्होंने उसी रूप में किया और उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझी। नामधातु और वधमनी व्याडि की देन है। इसके अतिरिक्त लाघव के लिए एक प्रकार के शब्दों का एक विशेष संकेत द्वारा बोध करानेवाली टि, घु, भ, नदी, निष्ठा आदि संज्ञाएँ उन्होंने स्वयं कल्पित कर लीं। इसीलिए, गोल्डस्टुकर ने कहा है कि पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में वर्णित व्याकरण पद्धति के आविष्कर्ता नहीं थे। फिर भी यह सत्य है कि उन्होंने पूर्ववर्ती वैयाकरणों की पद्धति में काफी सुधार किया और उसमें अपनी ओर से भी बहुत कुछ जोड़ा। उन्होंने प्राचीन वैयाकरणों की पारिभाषिक शब्दावली से भी लाभ उठाया।[1] डॉ० बर्नेल के अनुसार ऐन्द्र शाखा सब व्याकरणों में प्राचीनतम थी। पाणिनि उससे परिचित थे और उन्होंने उससे बहुत कुछ लिया है।[2] प्राचीन आचार्यों की शब्दावली के व्यवहार के कारण ही कुछ विचारक महाभाष्य के पस्पशाह्निक के 'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्' को आधार बनाकर कहते हैं कि अष्टाध्यायी पाणिनि द्वारा प्रोक्त है कृत नहीं।[3] इसकी निःसारता भाष्य में प्रयुक्त प्रणयति स्म, प्रयुङ्क्ते

---

१ पाणिनि हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ० ८८।

२ ऐन्द्र स्कूल ऑफ् ग्रैमेरियन्स—भूमिका।

३. आई० ई० पवाटे : दि स्ट्रक्चर ऑफ् अष्टाध्यायी, पृ० ११८ १९।

३

करोति क्रियन्ते इति कर्त्ता पठितम् आस्ति आह आदि प्रयोगों से ही स्पष्ट है। अष्टाध्यायी के लगभग ४००० सूत्रों में से केवल उन्नीस में भिन्न मतवाले आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त दो सूत्रों में सामान्यतया आचार्यों का एक-एक सूत्र में 'एके' और 'सर्वे' का तथा बीस सूत्रों में 'प्राचाम्' और 'उदीचाम्' का उल्लेख है। इस प्रकार, अष्टाध्यायी में कुल ५० सूत्र अन्य आचार्यों से सम्बद्ध हैं।

अष्टाध्यायी—पाणिनि का अष्टाध्यायी जैसा कि नाम से स्पष्ट है, आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं और कुल मिलाकर ३९८१ सूत्र। इनमें यदि १४ प्रत्याहार-सूत्र जोड़ दें तो यह संख्या ३९९५ हो जाती है।[1] अष्टाध्यायी के प्रथम दो अध्यायों में पदों के सुबन्त तिङन्त भेदों और वाक्य में उनके परस्पर सम्बन्ध पर विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में धातुओं से शब्द-सिद्धि का विवेचन तथा चतुर्थ और पंचम अध्याय में प्राति पदिकों एवं शब्द-सिद्धि का विचार है। षष्ठ एवं सप्तम अध्याय में सुबन्त एवं तिङन्त शब्दों की प्रकृति प्रत्ययात्मक सिद्धि एवं स्वरों का विवेचन है तथा अष्टम अध्याय में सन्निहित पदों के शीघ्रोच्चारण से वर्णों या स्वरों पर पड़नेवाले प्रभाव की चर्चा है। यदि प्रतिपाद्य विषयों की दृष्टि से विचार किया जाय तो संज्ञा और परिभाषा स्वरों और व्यंजनों के प्रकार, धातु-सिद्ध क्रियापद कारक विभक्ति एकशेष समास कृदन्त सुबन्त तद्धित आगम और आदेश स्वर विचार, द्वित्व और सन्धि ये अष्टाध्यायी के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं। पाणिनि के मत से प्रकृति और प्रत्यय दोनों का पृथक्-पृथक् अर्थ होता है। इसीलिए, उन्होंने सर्वत्र प्रत्यय का अर्थ दिया है। वे शब्द अर्थ और उसके सम्बन्ध को नित्य मानकर चले हैं, इसलिए उनके व्याकरण से सिद्ध हो जाने पर भी वेद तथा लोकभाषा में अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग उन्हें इष्ट नहीं था।

प्राचीन ग्रन्थों में पाणिनीय शास्त्र के चार नाम मिलते हैं—अष्टक अष्टाध्यायी शब्दानुशासन और वृत्ति-सूत्र। शब्दानुशासन शब्द का प्रयोग भाष्य के आरम्भ में ही हुआ है। पुरुषोत्तमदेव सृष्टिधराचार्य मेधातिथि न्यासकार और जयादित्य महाभाष्य के आदि वाक्य 'अथ शब्दानुशासनम्' को भी पाणिनि-सूत्र मानते हैं। भाष्यकार का यह कथन कि 'अथ शब्दोऽधिकारार्थः' प्रयुक्त हुआ है, इसी मत का पोषक है। वृत्ति-सूत्र नाम के विषय में नागेश ने कहा है कि 'पाणिनीय सूत्रों पर वृत्ति है और वार्त्तिकों पर नहीं है। वृत्ति-सूत्र शब्द इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होता है।'[2] आचार्य चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण (२ १ १)

---

१ अष्टाध्यायी को वेदांग माननेवालों की परम्परा में प्रचलित मौखिक पाठ में यह संख्या ३९८३ है जबकि 'त्रीणि सूत्रसहस्राणि तथा नवशतानि च षण्णवतिश्च सूत्राणां पाणिनिः कृतवान् स्वयम्' इस उक्ति के अनुसार यह संख्या ३९९६ है। मौखिक पाठ में ११ सूत्र ऐसे हैं, जिनमें ९ को भाष्यकार ने वार्त्तिक तथा २ को गणसूत्र माना है। इस प्रकार, यह संख्या ३९७२ हो रह जाती है। काशिका और सिद्धान्तकौमुदी में परम्परागत पाठ के अनुसार ३९८३ संख्या ही दी हुई है।

२ पाणिनीयसूत्राणां वृत्तिसद्भावात् वार्त्तिकानां तदभावाच्च तयोर्वैलक्षण्यबोधनायेदम्। २ १ १ भाष्य पर नागेश।

की वृत्ति में अष्टाध्यायी को पाणिन्युपज्ञ तथा अकालक व्याकरण कहा है। काशिका सरस्वती कण्ठाभरण और वामनीय लिङ्गानुशासन ने भी इसी बात को दुहराया है। विद्वानों का मत है कि अष्टाध्यायी के जिन सूत्रों पर महाभाष्य में 'किमर्थमिदमुच्यते' द्वारा आनर्थक्य-शंका उठाई है वे ही पाणिनि के स्वोपज्ञसूत्र हैं।

अष्टाध्यायी पूर्व व्याकरणों की अपेक्षा कहीं संक्षिप्त है। आगे चलकर संक्षेप में कहने की पद्धति पर व्याकरण में बहुत बल दिया जाने लगा। इसीलिए, पाणिनि ने प्रत्ययार्थ के प्राधान्य सूचक, वचन एवं काल (भूत भविष्यत् आदि), उपसर्जन आदि की परिभाषाओं के लिए सूत्र नहीं बनाये। अनेक विद्वानों के अनुसार इस विषय में पाणिनि की स्थिति को स्पष्ट करनेवाले 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' आदि (१ २-५३ से ५७) पाँच सूत्र प्रक्षिप्त हैं। संक्षेप की ओर दृष्टि रखने के कारण ही उन्होंने एक प्रयोग के लिए सूत्र नहीं बनाया।[1] इसीलिए स्वयं पाणिनि सूत्रों के अनेक प्रयोग पाणिनि-सूत्रों से सिद्ध नहीं होते। इस प्रकार के जनिकर्तुः (१ ४ ३०) तत्प्रयोजक (१ ४-५५) तिर्यञ्चि (१ ४ ६०) अन्वाचि (१-४ ६४) पुराण सवनाम तथा ग्रन्थकाची ब्राह्मण धम्म आदि पाणिनि प्रयोगों को भाष्यकार ने सौत्र निर्देश या आर्ष मानकर सन्तोष कर लिया है। इसीलिए, महाभाष्य के टीकाकार देवबोध ने ऐन्द्र व्याकरण का अर्णव और अष्टाध्यायी को गोष्पद की उपमा दी है।[2]

अष्टाध्यायी संहिता-पाठ में थी। स्थानेऽन्तरतमः (१ १-५०) के भाष्य में पतंजलि ने इस बात को सूचित किया है।[3] उन्होंने अन्य आचार्यों के योग-विभागों को प्रमाण न मानकर अपने योग-विभाग भी दिये हैं, यथा दिड्ढाणम्— कम् स्वरो प्रश्न (४ १ १५)। संहिता का विच्छेद प्रवचन-काल में हुआ, किन्तु भाष्यकार ने अष्टाध्यायी का संहिता-पाठ मानकर भाष्य लिखा है। अष्टाध्यायी एकश्रुति में थी।[4] कैयट ने इस विषय में अन्य आचार्यों का अनुमान परक मत उद्धृत किया है।[5] यद्यपि उनका अपना मत इससे भिन्न था। अनेक विद्वानों का विचार है कि मूल अष्टाध्यायी उदात्तादि स्वर एवं अनुनासिकादि-सहित थी किन्तु परम्परामुख के विषय में स्वरों के विशेष उपयोगी न होने के कारण स्वर नष्ट हो गये। नागेश भी मूल पाठ को सस्वर ही मानते हैं।[6] उनके इस मत का आधार भाष्यकार की 'आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते' (६ १ १६७, पृ० २११) यह उक्ति है। उन्होंने कहा है कि 'आचार्य ने सारी अष्टाध्यायी एकश्रुति से पढ़ी है इस बात में कोई प्रमाण नहीं है। हाँ कहीं-कहीं किसी पद (यथा दण्डिनामनादि सूत्र में एत्वाक) का एकश्रुति से पाठ अवश्य है। भाष्य से भी इतनी ही

---

१ नैवं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। १ १ १२ भा० २, पृ० १७८।

२ यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

३ उभयथाप्येषु तुल्या संहिता स्थानेऽन्तरतम उरण् रपर इति। १ १-५० पृ० ३०३।

४ एकश्रुतिनिर्देशात् सिद्धम्। १ ४ १०४ भा० ४ पृ० ५०८।

५ अन्ये त्वाहुः एकश्रुत्या सूत्राणि पठ्यन्त इति। कैयट प्रदीपोद्योत, १ १ १।

६ नागेश, १ १ १ पृ० १५३, निर्णयसागर-संस्करण।

बात सिद्ध होती है। जिस प्रकार पाणिनि ने टि, घु आदि अपनी संज्ञाएँ कल्पित कर सर्वनाम सर्वनाम-स्थान ... अद्यतनम् आदि प्राची संज्ञाएँ ले लीं उसी प्रकार उन्होंने अपने सूत्रों के साथ कुछ प्राचीन सूत्र भी ले लिये। यथा 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति' (४ ४ ३५) 'परिपन्थं च तिष्ठति' (४-४ ३६) 'नोदात्तस्वरितोदयम्' (८ ४ ६७) आदि। इनमें प्रथम दोनों मिलकर छन्द बनाते हैं। ये छन्दोबद्ध व्याकरण से लिये गये हैं। तृतीय भी छन्द का ही चरण है। पाणिनि-शैली के विपरीत इसमें 'उदात्तस्वरितोदययोः' के स्थान पर 'उदात्तस्वरितोदयम्' पढ़ा गया है। वास्तव में यह वचन ऋक्-प्रातिशाख्य से लिया गया है।[1] इसी प्रकार, अष्टाध्यायी में अनेक आपिशलि-सूत्र भी मिलते हैं। अनेक सूत्र प्रातिशाख्यों और श्रौतसूत्रों के हैं। भाष्य में अनेक सूत्रों के प्रसंग में पूर्वसूत्र-निर्देश का उल्लेख मिलता है। ये पूर्वसूत्र पाणिनि के पूर्वाचार्यों द्वारा निर्मित हैं।[2] आपिशलि और पाणिनि की शिक्षा के तो छह प्रकरण प्रायः समान हैं। पहले पाद के प्रथम सूत्र के आधार पर पादों के नाम भी प्रचलित थे। सीरदेव की परिभाषा-वृत्ति में गाङ्कुटादि पाद (१-२) भू-पाद (१ ३) द्विगुपाद (२ ४) सम्बन्ध-पाद (३-४) अंगपाद (६-४) आदि नाम मिलते थे। धातुपाठ गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन अष्टाध्यायी के ही पूरक हैं और पाणिनि-कृत हैं।

उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् (२ ४ २१) सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने पाणिनीय व्याकरण को अकालक कहा है। पदमञ्जरी के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्य प्राचीन व्याकरणों में भवन्ती अद्यतनी ह्यस्तनी परोक्षा श्वस्तनी भविष्यन्ती आदि कालपरक अधिकार हैं, उस प्रकार इसमें नहीं हैं। इसीलिए, यह कालाधिकार-रहित व्याकरण कहा गया है।[3] यद्यपि पाणिनि ने इन शब्दों का प्रयोग किया किन्तु कातन्त्र-व्याकरण की भाँति अधिकार-रूप से नहीं। उन्होंने इनके स्थान पर लट् लिट् आदि लकार-युक्त दस संज्ञाओं का उपयोग किया है।

अष्टाध्यायी का महत्त्व—अपने व्याकरण को सर्वमत-समन्वित सर्वग्राह्य एवं पूर्ण बनाने के लिए पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती समग्र साहित्य और चिन्तन का तो उपयोग किया ही साथ ही उन्होंने गान्धार से अंग वंग मगध कलिंग आदि समस्त भारतीय जनपदों के अन्तिम छोर तक पर्यटन कर वहाँ के चाल-ढाल आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज वेष भूषा उद्योग-धंधों वाणिज्य-उद्योग उनकी भाषा उनमें प्रचलित वैदिक शाखाओं अध्ययन-ग्रन्थों तथा उनके गोत्रवाचक स्त्रीवाचक व्यक्तिवाचक देशवाचक नगरवाचक ग्रामवाचक आदि विशेष नामों की पूर्ण जानकारी प्राप्त की। उन्होंने प्रत्येक स्थान पर प्राप्त होनेवाले पूर्व वैयाकरणों के ग्रंथों तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अवलोकन किया। उनमें दिये गये विशिष्ट नियमों और

---

१ उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्या व्यञ्जनेन वा स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्। —ऋ० प्राति० ३-१७।

२ १-२ ६८, ४ १ १४, ६ १ १६३, ७-१ १८, ८ ४-७ भाष्य।

३ पूर्वाणि व्याकरणान्यद्यतनादिकालसंज्ञायुक्तानि तद्रहितम्।—पदमञ्जरी।

४ २ ४-३, ३-२ १०९, ६ ४-११४, ३ ३-१५ आदि।

संज्ञाओं का संग्रह किया और अपने व्याकरण में उन सबका उपयोग किया। उनका व्याकरण न केवल शब्दानुशासन की दृष्टि से परिपूर्ण है अपितु वह तत्कालीन वाङ्मय संस्कृति का विश्वसनीय एवं प्रामाणिक इतिहास भी है। अष्टाध्यायी के इस पक्ष से प्रभावित होकर ही थैरेप्प फडरगन ने कहा है कि हम पाणिनि की पूजा इसलिए करते हैं कि उन्होंने हमें भारत की आत्मा का साक्षात्कार कराया है।[1] व्याकरण की दृष्टि से उन्होंने केवल पूर्ववर्ती व्याकरणों का संक्षेप विस्तार या समन्वय मात्र नहीं किया उन्होंने उसमें बहुत कुछ मौलिक भी जोड़ा। उनका व्याकरण इतना सुव्यवस्थित वैज्ञानिक लाघवपूर्ण एवं सर्वांगपूर्ण हुआ कि उनके सामने समस्त व्याकरण पीछे पड़ गये। यहाँतक कि धीरे-धीरे प्रादेशिक व्याकरणों का प्रचलन बन्द हो गया और कालान्तर में वे अप्रमाण हो गये।

भाष्यकार ने पाणिनि को प्रमाणभूत आचार्य मांगलिक आचार्य सुहृद् भगवान् आचार्य पाणिनि आदि विशेषणों के साथ सम्बोधित किया है और आचार्याचार (१ १ १) तथा आचार्य शैली को भी प्रमाण माना है। उन्होंने कहा है कि आचार्य पाणिनि पवित्र स्थान में प्राङ्मुख बैठकर तथा पवित्र दर्भ हाथ में लेकर बड़े प्रयत्न से सूत्र बनाते थे। उनके सूत्र में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता सारे सूत्र का कहना ही क्या।[2] अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि मैं अपने सामर्थ्य के आधार पर कह सकता हूँ कि इस शास्त्र में ऐसा कुछ नहीं जो निरर्थक हो।[3] उन्होंने जो सूत्र बनाये हैं, वे बहुत सोच-विचारकर। बनाने के बाद वे सूत्रों को वापिस नहीं लेते थे।[4] उन्होंने सुहृद् के रूप में व्याकरण-शास्त्र का अन्वाख्यान किया है।[5] रचना के समय उनकी दृष्टि भविष्य की ओर भी रहती थी और वे दूर तक की बात सोचते थे। इस कारण उनकी प्रतिष्ठा बच्चे-बच्चे तक फैल गई और विद्यार्थियों में उन्हीं का व्याकरण सर्वाधिक प्रिय हो गया।[6]

पाणिनि का जीवन-चरित्र—पाणिनि के जीवन के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। पतंजलि-चरित के अनुसार वे पणि नामक मुनि के पुत्र थे। पणि की पत्नी का नाम

१ वी एडोर पाणिनि बिकॉज ही रिवील्स टु अस दि स्पिरिट ऑफ इण्डिया ऐण्ड वी एडोर इण्डिया बिकॉज इट रिवील्स टु अस दि स्पिरिट ऑफ् दि स्पिरिट—फैंकरफल स्टडीज आन पाणिनीय ग्रामर, पृ० ९८।

२ प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण।—१ १ १, भा० ७, पृ० ९७।

३ सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।—६-१-७७ पृ० ११०।

४ न केवलानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।—भा० वेद० १३, पृ० २६।

५ पश्यति त्वाचार्यः।—भा० १, पृ० १५।

६ आकुमारं यशः पाणिने।—१ ४-८९, पृ० २०२।

७ सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।—६ १-७७, पृ० ११०।

मान सिद्ध होती है। जिस प्रकार पाणिनि ने टि, घु आदि अपनी संज्ञाएँ कल्पित कर सर्वनाम सर्वनाम-स्थान उभयथा अन्यतरस्याम् आदि प्राची संज्ञाएँ ले लीं उसी प्रकार उन्होंने अपने सूत्रों के साथ कुछ प्राचीन सूत्र भी ले लिये। यथा 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति' (४ ४ ३५) 'परिपन्थं च तिष्ठति' (४ ४ ३६) 'नोदात्तस्वरितोदयम्' (८ ४ ६७) आदि। इनमें प्रथम दोनों मिलकर छन्द बनाते हैं। ये छन्दोबद्ध व्याकरण से लिये गये हैं। तृतीय भी छन्द का ही चरण है। पाणिनि-शैली के विपरीत इसमें 'उदात्तस्वरितोदयमो' के स्थान पर 'उदात्तस्वरितो-दयम्' पढ़ा गया है। वास्तव में यह वचन ऋक्-प्रातिशाख्य से लिया गया है।[1] इसी प्रकार, अष्टाध्यायी में अनेक आपिशलि-सूत्र भी मिलते हैं। अनेक सूत्र प्रातिशाख्यों और श्रौतसूत्रों के हैं। भाष्य में अनेक सूत्रों के प्रसंग में पूर्वसूत्र-निर्देश का उल्लेख मिलता है। ये पूर्वसूत्र पाणिनि के पूर्वाचार्यों द्वारा निर्मित हैं।[2] आपिशलि और पाणिनि की शिक्षा के तो छह प्रकरण प्रायः समान हैं। पहले पाद के प्रथम सूत्र के आधार पर पादों के नाम भी प्रचलित थे। सीरदेव की परिभाषा-वृत्ति में गाङ्कुटादि पाद (१ २) भू-पाद (१ ३) घिगुपाद (२ ४) सम्प्रसारण-पाद (६-१) अंगपाद (६-४) आदि नाम मिलते थे। धातुपाठ गणपाठ, उणादिसूत्र और लिंगानुशासन अष्टाध्यायी के ही पूरक हैं और पाणिनि-कृत हैं।

उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् (२-४ २१) सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने पाणिनीय व्याकरण को अकालक कहा है। पदमंजरी के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्य प्राचीन व्याकरणों में भवन्ती अद्यतनी श्वस्तनी परोक्षा भवन्ती भविष्यन्ती आदि कालवाचक अधिकार हैं उस प्रकार इसमें नहीं हैं। इसीलिए, यह कालाधिकार-रहित व्याकरण कहा गया है।[3] यद्यपि पाणिनि ने इन शब्दों का प्रयोग किया किन्तु कातन्त्र-व्याकरण की भाँति अधिकार-रूप में नहीं। उन्होंने इनके स्थान पर लट्, लिट् आदि लकार-युक्त दस संज्ञाओं का उपयोग किया है।

अष्टाध्यायी का महत्त्व—अपने व्याकरण को सर्वमत-समन्वित सर्वग्राह्य एवं पूर्ण बनाने के लिए पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती समग्र साहित्य और विधान का तो उपयोग किया ही साथ ही उन्होंने गान्धार से अंग वंग मगध कलिंग आदि समस्त भारतीय जनपदों के अन्तिम छोर तक पर्यटन कर वहाँ के चाल-ढाल आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज वेष-भूषा उद्योग-धंधों वाणिज्य-व्यापार उनकी भाषा उनमें प्रचलित वैदिक शाखाओं अध्ययन-ग्रन्थों तथा उनके गोत्रवाचक स्त्रीवाचक व्यक्तिवाचक देशवाचक नगरवाचक ग्रामवाचक आदि विशेष नामों की पूर्ण जानकारी प्राप्त की। उन्होंने प्रत्येक स्थान पर प्राप्त होनेवाले पूर्व वैयाकरणों के ग्रंथों तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अवलोकन किया। उनमें दिये गये विशिष्ट नियमों और

---

१ उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्। —ऋ० प्राति० ३-१७।

२ १ २ ६८, ४ १ १४, ६ १ १६३, ७-१ १८, ८ ४-७ भाष्य।

३ पूर्वाणि व्याकरणान्यद्यतनादिकालसंज्ञायुक्तानि तद्रहितम्।—पदमञ्जरी।

४ २ ४-३, ६-२ १०३, ६-४-११४, ६-३-१५ आदि।

संज्ञाओं का संग्रह किया और अपने व्याकरण में उन सबका उपयोग किया। इनका व्याकरण न केवल शब्दानुशासन की दृष्टि से परिपूर्ण है अपितु वह तत्कालीन वाङ्मय संस्कृति का विश्वसनीय एवं प्रामाणिक इतिहास भी है। अष्टाध्यायी के इस पक्ष से प्रभावित होकर ही [illegible] ने कहा है कि हम पाणिनि की पूजा इसलिए करते हैं कि उन्होंने हमें भारत की संस्कृति का साक्षात्कार कराया है। व्याकरण की दृष्टि से उन्होंने केवल पूर्ववर्ती व्याकरणों का संक्षेप, विस्तार या समन्वय मात्र नहीं किया, उन्होंने उसमें बहुत कुछ मौलिक भी जोड़ा। उनका व्याकरण इतना सुव्यवस्थित वैज्ञानिक सारपूर्ण एवं सर्वांगपूर्ण हुआ कि उसके सामने पूर्ववर्ती व्याकरण फीके पड़ गए। यहाँ तक कि धीरे-धीरे प्राचीन व्याकरणों का प्रचलन बन्द हो गया और कालान्तर में वे नष्टप्राय हो गये।

[illegible] आचार्य [illegible] आचार्य सुहृद भगवान् आचार्य पाणिनि [illegible] किया है और आचार्य [illegible] (१।१।१) तथा आचार्य शैली को भी [illegible] उन्होंने कहा है कि आचार्य पाणिनि पवित्र स्थान में [illegible] बैठकर तथा पवित्र [illegible] सूत्र बनाते थे। उनके सूत्र में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो [illegible]। [illegible] भी उन्होंने कहा है कि वे अपने सामर्थ्य के [illegible] सूत्र में [illegible] कुछ नहीं [illegible] था। उन्होंने जो सूत्र बनाये हैं, वे [illegible]। [illegible] लेते थे। उन्होंने सुहृद के [illegible] किया है। [illegible] उनकी दृष्टि भविष्य की ओर भी [illegible] थे। इस [illegible] उनकी प्रतिष्ठा [illegible] सिद्ध हो गया।

पाणिनि का जीवन-चरित्र—[illegible] है। पतंजलि-चरित्र के अनुसार [illegible]

१ दी एडोर पाणिनि बिकॉज ही रिविल्स टु अस [illegible] एडोर इण्डिया बिकॉज इट रिविल्स टु अस दि स्पिरिट [illegible] पाणिनीय ग्रामर, पृ० ६८।

२ प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे [illegible] सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण [illegible], पृ० ९७।

३ सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्। [illegible]

४ न वेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।—आ० [illegible]

५ पश्यति त्वाचार्यः।—आ० १ पृ० १५।

६ [illegible] पाणिनेः।—[illegible] पृ० २०२।

७. सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।—[illegible], पृ० ११०।

दाक्षी था।[1] भाष्यकार ने भी इन्हें दाक्षी-पुत्र कहा है।[2] काशिका (१ २-१४) तथा चान्द्र वृत्ति (२-२ ६८) में पाणिन शब्द का प्रयोग है, जिसका निर्देश अष्टाध्यायी (४ १ १६५) में प्राप्त होता है। पणि से गोत्रापत्य अर्थ में पाणिन और युवापत्य अर्थ में पाणिनि शब्द की व्युत्पत्ति पद मंजरीकार ने दी है। दाक्षी-पुत्र का उल्लेख पाणिनीय शिक्षा में भी मिलता है। यशस्तिलक चम्पू में इन्हें पणि-पुत्र कहा है।[3] पुरुषोत्तमदेव के त्रिकाण्डशेष कोष में पाणिनि पाणिन आहिक दाक्षी-पुत्र शालङ्कि और शालातुरीय को पर्यायवाची माना है। वैजयन्ती भी शाला-तुरीय के इन सब पर्यायों को स्वीकार करता है।[5] गणरत्नमहोदधि में शलातुर को पाणिनि का अभिजन बतलाया है। शलातुर एक ग्राम था। यह स्थान अब अटक के पास 'लाहुर' कहलाता है। इससे यह भी विदित होता है कि पाणिनि लाहुर छोड़कर अन्यत्र रहने लगे थे। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में बतलाया है कि वर्ष उपवर्ष पाणिनि वररुचि पिंगल और व्याडि इन सबकी परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई और उसके बाद वहीं से उनका नाम चारों ओर फैला है।[6] इससे यह भी कल्पना की जा सकती है कि वे मगधाश्रित थे और पाटलिपुत्र में रहते थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वे कौशाम्बी या प्रयाग (जो कि क्रमश: कात्यायन और भारद्वाज की जन्मभूमि है) में रहते थे। अभिधानचिन्तामणि तथा उसकी टीका भी उनके शाला तुरीय होने का अनुमोदन करती है।[8]

पाणिनि के गुरु का नाम वर्ष वर्ष के भाई का नाम उपवर्ष पाणिनि के भाई का नाम पिंगल और प्रमुख शिष्य का नाम कौत्स था।[9] कथासरित्सागर में कहा है कि वर्ष के शिष्यों में पाणिनि अपेक्षाकृत जड़बुद्धि थे किन्तु तीव्र तप द्वारा शंकर को प्रसन्न कर उन्होंने वरदान स्वरूप व्याकरण प्राप्त किया। व्याकरण प्राप्त करने के बाद उन्होंने सर्वप्रथम अपने सहपाठी कात्यायन को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। सात दिन तक लगातार शास्त्रार्थ चलने के बाद

---

१ पत्नीति कविरन्मुनिरस्तिपूर्वं स पाणिनि नाम कुमारमाप।
स्वकुक्ष्यनाम्ना तनयेन सोऽपि दाक्षीसुतो वृद्धमन्यगच्छत्।—पतञ्जलिचरित, १ ४७।

२ सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।—१-१ २० पृ० ६२।

३ पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु।—आश्वास २, पृ० २३६।

४ पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः शालङ्किपाणिनौ शालातुरीयः।

५ शालातुरीयको दाक्षीपुत्रः पाणिनिराहिकः।—वैजयन्ती।

६. अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडि-वररुचिपतञ्जलयो इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।—काव्यमीमांसा।

७ कौशाम्बी दि बर्थ प्लेस ऑफ कात्यायन, दि वार्तिककार ऐण्ड प्रयाग, दि एबोड ऑफ दि सेज भारद्वाज एण्ड प्रोबेब्ली ऑफ् वार्तिककारज हु वेण्ट बाइ दि नेम भारद्वाजज आर इन दि मध्यदेश, दि प्रोबेबिल एबोड ऑफ् सूत्रकार—लैक्चर्स ऑन पतञ्जलि, पार्ट १, पृ० १६।

८. शालातुरीय दाक्षयो अभिधानचि० तथा गान्धारदेशप्रसिद्धशलातुरग्रामप्रसूतत्वा-देवास्य तथा इति—अभि० टीका।

९ उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्।—३-२-१०८, पृ० २४१।

कात्यायन ने पाणिनि को परास्त कर दिया। तब आकाश-स्थित शंकर ने क्रोध से हुंकार किया जिससे पृथ्वी पर ऐन्द्र व्याकरण नष्ट हो गया और उसके अध्येता मूर्ख बनकर रह गए। तब कात्यायन अपने परिवार के निर्वाह के लिए हिरण्यगुप्त नामक वैश्य के पास कुछ द्रव्य जमा कर स्वयं तप द्वारा शंकर का क्रोध शान्त करने के लिए हिमालय पर चले गये। दीर्घकाल के बाद शंकर ने प्रसन्न होकर पाणिनीय व्याकरण उन पर प्रकाशित किया।[1] पतञ्जलि-चरित में कहा है कि जब कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों पर दोष-दर्शक वार्तिक बनाये तब पाणिनि बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने कहा कि तुमने मेरा प्रभाव समझे बिना ही उच्छृङ्खलतापूर्वक जिह्वा का वृथा श्रम किया है। मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम्हारा शरीर पतित हो जाय। यह सुनकर कात्यायन को भी क्रोध आया और उन्होंने भी पाणिनि को शाप दिया कि मैंने भी शंकर के ही प्रसाद से वार्तिक बनाये हैं। तुमने यह बात जाने बिना मुझे शाप दिया है, सो तुम्हारा भी मस्तक फट पड़ेगा।

पतंजलि-चरित और कथासरित्सागर की कथा का अधिकांश मनगढ़न्त मालूम होता है। इसके अनुसार पाणिनि और कात्यायन समकालीन थे और उनकी परस्पर शत्रुता चलती थी। कथासरित्सागर (२-१, ३१-३२, ४५, ४६, ७८, ७९, तथा ४१) के अनुसार कात्यायन कौशाम्बी के सोमदत्त और वसुदत्ता के पुत्र थे। वे भी पाटलिपुत्र में वर्ष के पास पढ़े थे। उन्होंने विन्ध्याटवी में कथासरित्सागर की कहानियाँ कही थीं।[2] कथासरित्सागर (२-१९) के ही अनुसार व्याडि भी इन दोनों के सहपाठी थे। व्याडि या दाक्षायण पाणिनि के ममेरे भाई जान पड़ते हैं। यह भी सत्य जान पड़ता है कि पाणिनि नन्द-काल में उत्पन्न हुए। काशिका के पूर्व 'पाणिनीया' और 'अपरपाणिनीया' उदाहरणों से पाणिनि के दीर्घजीवी होने की कल्पना की जाती है। वे स्वयं शिक्षक थे। उन्होंने स्वयं अपनी अष्टाध्यायी शिष्यों को पढ़ाई थी। उनकी शिष्य-मण्डली विशाल थी और विद्यार्थियों में इनके ग्रन्थ का अध्ययन करनेवालों को भोजन दिया था। यह बात महाभाष्य के 'ओदनपाणिनीया' उदाहरण से ध्वनित होती है। उनकी मृत्यु सिंह के आक्रमण से बतलाई जाती है।[3]

पाणिनि की अन्य रचनाएँ—महाभाष्य प्रदीपिका के अनुसार अष्टाध्यायी के अतिरिक्त शिक्षा, धातुपाठ, गणपाठ और पंचपादी उणादिसूत्र भी पाणिनि ने बनाए थे। राजशेखर क्षेमेन्द्र और शरणदेव के उल्लेखों तथा वैयाकरणों में प्रचलित दन्तकथा के अनुसार वे जाम्बवती विजय और पार्वतीपरिणय के भी रचयिता थे। २६ ग्रन्थों में इन दोनों ग्रन्थों के उद्धरण उपलब्ध

---

१ अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत्। तत्रैकः पाणिनिर्नाम जडबुद्धितरोऽभवत्।—कथासरित्सागर, ४-२० से ९७ तक।

२ पतञ्जलि-चरित, १ ९७ से ९९।

३ महाभा० ४-२ १०८।

४ उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः।—१ ४ १ पृ० १७।

५ सिंहो व्याकरणस्यकर्तुः प्रहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः।—मित्रप्राप्ति, श्लो० ३६

होते हैं, यद्यपि ये ग्रन्थ अप्राप्य हैं।[1] राजशेखर ने उन्हें प्रथम व्याकरण और तदनु जाम्बवतीजय का कर्त्ता बतलाया है।[2] क्षेमेन्द्र ने 'पाणिनेरुपजातिभिः' से उनका कवि होना सूचित किया है। और शरणदेव ने अपनी दुर्घट वृत्ति में 'सायंचिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्य' (४ ३-२१) आदि सूत्र की व्याख्या करते हुए उनका एक श्लोक उद्धृत किया है। स्वयं पतंजलि ने उनके लिए कवि शब्द का प्रयोग किया है।[3]

पाणिनि का समय—पाणिनि के समय के विषय में बहुत काल तक विद्वानों में मतभेद रहा है। डॉ० पीटर्सन ने अष्टाध्यायीकार तथा वल्लभदेव की सुभाषितावली के कवि पाणिनि को एक मानकर उनका समय ईसवी-सन् का प्रारम्भ माना है। पिशेल दोनों को एक मानकर भी उनका समय ५०० ई० पू० के लगभग मानते थे। वेबर और मैक्समूलर के मत से पाणिनि-काल ३५ ई० पू० के लगभग होना चाहिए क्योंकि पाणिनि द्वारा उल्लिखित सूत्रकार शब्द (५ १ १८) इस तथ्य का परिचायक है कि पाणिनि से पूर्व ही सूत्र-ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हो गई थी। मैक्समूलर ने प्राचीन साहित्य के चार काल विभाग करते हुए १२०० ई० पू० से १ ०० ई० पू० तक छन्दस-काल १००० ई० पू० से ८०० ई० पू० तक मन्त्र काल ८ ० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक ब्राह्मण-काल और ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक सूत्र काल माना है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पाणिनि कात्यायन के लगभग समकालीन थे और कात्यायन का समय लगभग ३५० ई० पू० है। मैक्समूलर का वक्तव्य कथासरित्सागर पर आधृत है। डॉ० ओटो बोथलिंक ने भी कथासरित्सागर के ही आधार पर पाणिनि का समय ३५० ई० पू निश्चित किया है। गोल्डस्टुकर और डॉ० भण्डारकर के अनुसार उनके काल की निम्नतम सीमा ५०० ई० पू० है। गोल्डस्टुकर के मत से पाणिनि को अथर्ववेद की जानकारी नहीं थी क्योंकि उनके सूत्र अथर्वाङ्गिरस् या उससे निष्पन्न आथर्वाङ्गिरस् का उल्लेख नहीं करते यद्यपि महाभाष्य में 'रैवतिकादिभ्यश्छः' (४ ३ १३१) सूत्र के अन्तर्गत आथर्वण मन्त्र और आथर्वण आम्नाय का उल्लेख हुआ है। हाँ वे वेद के मन्त्र-भाग और ब्राह्मण भाग में विभाजन से परिचित थे। अष्टाध्यायी (२ ४-८० ३-२-७१ ३ ३-९९, ४ ३-१०५) में मन्त्र ब्राह्मण और कल्प का उल्लेख है। काशिका पाणिनि याज्ञवल्क्य और आश्मरथ्य को समकालीन मानती है। सम्भव है पाणिनि इन दोनों से कुछ पूर्व के हों। याज्ञवल्क्य तो वार्तिककार की दृष्टि में भी पाणिनि के समसामयिक थे। पाणिनि गृह्य एवं धर्मसूत्रों से भी परिचित थे। 'अध्यायिन्यदेशकालात्' (४ ४-७१) का निषेध, जिस पर भाष्यकार ने पर्याप्त प्रकाश डाला है गृह्यसूत्रों के ही अनुसार है। अतः उनका समय इन सूत्र ग्रन्थों के बाद होना चाहिए। डॉ० गोल्डस्टुकर का कहना है

---

१ पुमेरी—नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका—भाग १, खण्ड १, नवीन सं०।

२ नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम्॥ राजशेखर।

३ पीटर्सन दि रिपोर्ट आफ संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स, १८८२-८३, पृ० २९ से।

४ मैक्समूलर-एन्शियेण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५७२, ४९७, ४३५, ३११, २४६, २४४।

कि समय उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में ऋग्, साम और कृष्णयजुः संहिताएँ तथा ग्रन्थकारों में यास्क ही पाणिनि के पूर्ववर्ती हैं और शेष सम्पूर्ण साहित्य उनके बाद का है। डॉ० बेलवलकर के मत से पाणिनि का समय ७०० से ६०० ई० पू० है। ३५० ई० पू० माननेवालों का मुख्य आधार यवन शब्द का प्रयोग है पर अब यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि यवनों (आयोनियन ग्रीक) से इस देश के लोगों का परिचय १००० ई० पू० से ही था। ये ही क्यों असुर या असुय (असीरियन) शक (सीथियन) मद या मदग (मीडूम) पारसीक और पल्लव (पर्शियन) भी सिकन्दर के आक्रमण से शताब्दियों पहले आर्यों को ज्ञात थे। सिकन्दर का आक्रमण ३२७ ई० पू० में हुआ किन्तु प्लेटे (Plateae) के (४७० ई० पू०) युद्ध में भारतीय फौजें ईरानियों की सेना का अंग थीं। इसके अतिरिक्त 'मंखपासिम्पायन' (२ ४ ७५) 'उपा परवर्ति' योषेपादि० (५ १ ११७) आदि सूत्र भी पाणिनि को सिकन्दर-पूर्व सिद्ध करते हैं।[1]

अन्त में हम फैडरगन के स्वर में कह सकते हैं कि पाणिनि की कृति का महत्त्व केवल उससे प्राप्त होनेवाले भाषाविषयक ज्ञान के कारण ही नहीं है यद्यपि वह ज्ञान भी बहुमूल्य है। उसका महत्त्व इस बात के लिए अधिक है कि वह हमें भारतीय चिन्तन और संयुक्तन-पद्धति को समझने के लिए प्रशिक्षण देने में सक्षम है। विशेषतः वैज्ञानिक ग्रन्थ होने के कारण वह और भी उपयोगी बन पड़ा है।[2]

कात्यायन-काल

पूर्वपीठिका—थोड़े समय में ही अष्टाध्यायी का प्रचार बहुत अधिक हो गया। आचार्य लोगों को सूत्र पढ़ाते समय सूत्रों के शब्दों की उपयुक्तता, सूत्रों की तात्त्विक व्याख्या, उन पर होने वाले आक्षेपों और उनके निराकरण आदि पर विचार करना पड़ता था। कहीं-कहीं कोई आचार्य अन्य प्रकार से भी शब्द-सिद्धि कर किसी सूत्र अथवा उसके किसी शब्द का वैयर्थ्य प्रदर्शित करते हुए बुद्धि-बल का परिचय देता था। इस प्रकार पाणिनि-सूत्रों को पढ़ाते-पढ़ाते अनेक आचार्यों ने उनमें आवश्यक संशोधन उपस्थित किये। ये संशोधन वैयाकरण जगत् में वार्तिक कहलाये। इनमें भारद्वाज, सौनाग, कुणरवाडव, क्रोष्ट्रीय, कात्यायन आदि वैयाकरण सम्प्रदायों के वार्तिक विद्वत्समाज में अत्यन्त समादृत हुए।

कात्यायन का प्रातिशाख्य—कात्यायन का जन्म पाणिनि के लगभग २०० वर्ष बाद हुआ। इस समय तक पाणिनि-काल में प्रचलित अनेक शब्द अप्रयुक्त हो गये थे, कुछ के अनेक अर्थों में कुछ अर्थ अप्रयुक्त हो चुके थे और कुछ को विशेष महत्त्व प्राप्त हो चुका था। पाणिनि के समीपकालीन लेखक प्राचीनों की गिनती में माने जाने लगे थे।[3] कात्यायन ने वाजसनेयी

---

१ बोथलिङ्क पाणिनि देखिए वेबर इण्डियन स्टडीज तथा लीपज़िग का प्रकाशन (१८८७), भूमिका तथा गोल्डस्टुकर: पाणिनि—हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर पृ० ५४ से ६६ तक।

२ फैडरगन स्टडीज ऑन पाणिनीज ग्रामर—पृ० ४८।

३ याज्ञवल्क्यादयो न चिरकाला इत्याख्यानेषु वार्ता। काशिका तथा याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः तुल्यकालत्वात्।—वा० ४-३-१०५।

संहिता का प्रातिशाख्य लिखा था जिसमें उन्होंने संहिता-क्षेत्र में आनेवाले पाणिनीय सूत्रों की आलोचना की थी। सम्भवतः, इन्होंने ही कात्यायन श्रौतसूत्र की भी रचना की थी। सर्वप्रथम इन्होंने अपना प्रबन्ध वैदिक भाषा तक ही सीमित रखा किन्तु बाद में प्रातिशाख्य की आलोचना से उत्साहित होकर सम्पूर्ण अष्टाध्यायी को अपने विवेचन का विषय बनाया। इनके प्रातिशाख्य के अनेक सूत्र प्रत्याहार तथा अनुबन्ध पाणिनिवत् ही हैं। कहीं-कहीं सुधार की दृष्टि से कुछ परिवर्तन अवश्य कर दिये गये हैं। इन्हीं परिवर्तनों को उन्होंने आगे चलकर वार्तिकों के रूप में निबद्ध कर दिया।[1] अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य के सूत्रों का साम्य अनेक सूत्रों में भी देखा जा सकता है—

अष्टाध्यायी	कात्यायन-प्रातिशाख्य
अदर्शनं लोपः (१ १ ६०)	वर्णस्यादर्शनं लोपः (१ १४१)
तस्मादित्युत्तरस्य (१ १ ६७)	तस्मादित्युत्तरस्यादेः (१ ३५)
मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (१ १-८)	मुखानुनासिकाकरणोऽनुनासिकः (१-७५)

कात्यायन के वार्तिक तथा अन्य वार्तिककार—कात्यायन के वार्तिकों में कुछ गद्य में और कुछ श्लोकरूप में उपलब्ध होते हैं। उनमें कहीं-कहीं यथावत् और कहीं स्वल्प परिवर्तन के साथ पूर्ण सूत्र की तथा कहीं सूत्र के प्रथम या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द की आवृत्ति मिलती है। वार्तिकों में पूर्व वार्तिकों का उल्लेख 'उक्तं शेषे' 'उक्तं वा' और 'उक्तं पूर्वेण' से मिलता है। पाणिनि की शब्दावली का व्यवहार करते हुए भी इन्होंने अच् को स्वर, हल् को व्यंजन वर्ण् को समानाक्षर, लट् को भवन्ती और लुट् को श्वस्तनी कहा है। इससे कथासरित्सागर की इस धारणा (तरंग ४) को कि वे ऐन्द्र शाखा के थे बल मिलता है। पाणिनि से भिन्न शाखा के तो वे अवश्य थे। कात्यायन प्रातिशाख्य में शाकटायन[2] और शाकल्य[3] का तथा वार्तिकों में वाजप्यायन व्याडि और पौष्कर सादि का उल्लेख वार्तिककार के रूप में मिलता है। 'एके' और 'केचित्' से भी कुछ वार्तिककार उल्लिखित हैं। इनके बाद महाभाष्य के २५० श्लोक-वार्तिकों के रचयिता वार्तिककार आते हैं। स्वयं भाष्य में कात्यायन भारद्वाजीय सौनाग कुणरवाडव वाडव सोर्यभगवान् और कुणिकोटीय गार्गीय गोणिकापुत्र का वार्तिककार के रूप में उल्लेख है। भाष्य में भारद्वाजीयों का मत दस बार, सौनागों का सात बार, क्रोष्ट्रीयों का एक बार और कुणरवाडव का दो बार उल्लिखित है। श्लोक-वार्तिक कात्यायन के बाद के जान पड़ते हैं क्योंकि उनमें कात्यायन को पूर्ववर्ती स्वीकार किया गया है।[4]

---

१ गोल्डस्टुकर पाणिनि—हिज प्लेस इन सं० लिटरेचर, पृ० १५४ से १५७।

२ प्रत्यय सवर्णमृदि शाकटायन।—कात्या०, प्रा० ३-८।

३ शाकल्यः प्लुतेषु।—वही ३ ९।

४ ३-२ ११८ की प्रथम कारिका तथा इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द ५, टिप्पणी-सं० ४, महाभाष्य।

कात्यायन के वार्तिकों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है, पर उसे प्रमाणित नहीं कहा जा सकता। इस संग्रह का आधार महाभाष्य है, किन्तु महाभाष्यकार ने कात्यायन के सारे वार्तिकों की व्याख्या नहीं की है। उन्होंने सूत्रों के समान बहुत-से वार्तिक भी छोड़ दिये हैं। दूसरे भाष्य में पतंजलि के अपने वार्तिकों की संख्या भी कम नहीं है और कात्यायन-वार्तिकों से उनको अलग कर सकना अत्यन्त दुष्कर है। मनोरमा में भट्टोजिदीक्षित ने कहा है कि मूल सूत्रपाठ आज भ्रष्ट हो गया है। यह बात वार्तिकों के विषय में और सरलतापूर्वक कही जा सकती है। भाष्य में वार्तिकों का क्रम भी उलट-पुलट गया है, क्योंकि अनेक वार्तिकों में जिस बात को लक्ष्य कर 'उक्तं वा' या 'उक्तं पूर्वेण' कहा है, वह भाष्य में अनेक बार उस वार्तिक के बाद मिलती है। वास्तव में ऐसे स्थलों पर 'वक्ष्यते' निर्देश होना चाहिए था। ऐसे कुछ उदाहरण यहाँ अप्रासंगिक न होंगे —

	उक्तं वा का निर्देश-स्थल	उक्तं वा से सम्बद्ध प्रसंग का स्थल
१	भटि चोक्तम्—१ १ ३ वा० ९	अल्पविकारेऽन्त्यसदेशस्य ६ १ ११ वा० ५
२	उक्तं वा—१ १ १२ वा० ६	अवस ईत्वोत्वे ८ २-६ वा० ९
३	उक्तं वा—१ २-४१ वा० ७	परवल्लिङ्गम्० २ ४-२६ वा० ६
४	अविरीश्वरवचन उक्तम् १ ४ ९७ वा० १	यस्य चेश्वरवचनम् २-३ ९ वा० १
५	विभक्तौ चोक्तम् ४ १ १ वा० १५	न वा विभक्तौ ७-१ १ वा० ११
६	वा वचने चोक्तम् १ १ २ वा० ८	वा वचनानर्थक्यम् १-१-७ वा ९ आदि।

वार्तिकों में सूत्रों की कमी की पूर्ति करनेवाले कम और उनमें 'अमुक शब्द क्यों है, उसके स्थान पर अमुक शब्द क्यों नहीं' इस प्रकार की मीन-मेख निकालनेवाले वार्तिक अधिक थे। यह भी वार्तिक-पाठ के नष्ट होने का एक कारण जान पड़ता है, क्योंकि मल्लिनाथी टीका के समान एक बार पाठक की जिज्ञासा शान्त कर देने के बाद फिर ऐसे वार्तिकों का उपयोग नहीं रह जाता।

साम्प्रदायिक सूत्रपाठ के पारायण में वार्तिक भी सूत्रों के अन्तर्गत शामिल कर लिये जाते रहे हैं। उदाहरणार्थ, 'ये च तद्धिते' (६ १ ६१) का तीसरा वार्तिक 'अचिपीर्ष' तथा 'सुट् कात्पूर्व' (६ १ १३५) के चतुर्थ और पंचम वार्तिक 'अडभ्यवाय उपसंख्यानम्' तथा 'अभ्यासव्यवाये च' स्वतन्त्र सूत्र बन गये हैं।[1] इसी प्रकार 'आत्मनश्च पूरणे' (६ ३ ६) "नित्यमाम्रेडिते डाचि" (६ १ १००) 'पुनश्च कुत्सायाम्' (४ १ १६७), 'वृद्धस्य च पूजायाम्' (४-१ १६६), 'यूनश्च कुत्सायाम्' (४ १ १६७) 'सुट् कात्पूर्वः' (६ १ १३) आदि सूत्र वास्तव में वार्तिक हैं और भूल से सूत्रपाठ में सम्मिलित कर लिये गये हैं।[2] 'कपिष्ठलकदाहास्तिपवाक्यम्' और 'आमर्वैभिकस्येक-लोपश्च' ये दो भाष्य-वचन तथा सुपद्मादिगण के दो गणसूत्र (८ ३ ९९ १००) भी सूत्रों में मिल गये हैं।[3]

---

१ देखिए सूत्र ६ १ ६२ तथा ६ १ १३६।

२ वार्तिकं इष्ट्यासूत्रेण कैश्चित् प्रक्षिप्तम् तथा पुनश्च कुत्सायामिति सूत्रमनार्षमिति-वचनम्।—कैयट, ४ १ १६६ तथा देखिए कैयट, ६-१-६२, ६ १ १७०।

३ पाणिनि—[illegible]

क्या कात्यायन पाणिनि-विरोधी थे ?

कात्यायन ने पाणिनि के ३९९५ सूत्रों (३९८१+१४ प्रत्याहार-सूत्र) में १२५४ पर लगभग ४२०० वार्तिक बनाये। इनमें २६ सूत्रों पर एक से अधिक आचार्यों के वार्तिक भाष्य में मिलते हैं। कात्यायन के वार्तिकों ने ७०९ सूत्रों की व्याख्या की ५१७ में सुधार प्रस्तावित किये एवं आठ सूत्रों को अनावश्यक सिद्ध किया। कात्यायन के वार्तिकों को सूत्र-व्याख्यान सूत्रपदप्रयोजन सूत्रप्रयोजन सूत्रपद प्रत्याख्यान सूत्र-प्रत्याख्यान शंकोद्भावन-समाधान सम्बद्धार्थकथन और स्वतन्त्रार्थकथन इन आठ भागों म बाँटा जा सकता है। केवल ११ सूत्रों में भाष्यकार ने वार्तिककार के विरुद्ध सूत्रकार का समर्थन किया है। भाष्यकार और वार्तिककार द्वारा अनावश्यक माने गये सूत्रों की संख्या तथा भाष्य द्वारा वार्तिककार के विरुद्ध समर्थित सूत्रों की संख्या को देखते हुए कर्नेल डॉ॰ गोल्डस्टुकर और वेबर की यह धारणा कि कात्यायन का उद्देश्य पाणिनि के सूत्रों का औचित्य सिद्ध करना था उनका समर्थन नहीं। उल्टे वे उनमें दोष निकालना चाहते थे। कात्यायन की दृष्टि से वे पाणिनि के मित्र या प्रशंसक नहीं अपितु विरोधी जान पड़ते हैं। अनेक बार तो उनका विरोध अन्यायपूर्ण भी दीख पड़ता है निर्मूल जान पड़ती है। कात्यायन न कई बार पाणिनि को भगवान और आचार्य कहकर सम्बोधित किया है।[1] इस विषय में डॉ॰ कीलहॉर्न का यह कथन कि 'वार्तिककार का उद्देश्य केवल इतना है कि व पाणिनि-सूत्रों पर संभावित शंकाओं और आपत्तियों का बिना पक्ष या पूर्व-ग्रह के विवेचन करें और निराधार आक्षेपों का खण्डन कर उनका औचित्य सिद्ध करें किन्तु जहाँ किसी प्रकार सूत्रों का समर्थन और औचित्य-सिद्धि सम्भव न हो वहाँ उनमें संशोधन परिवर्तन या परिवर्धन प्रस्तावित करें' सर्वथा ठीक है।[2]

डॉ॰ कीलहॉर्न ने कात्यायन के वार्तिकों का विशद विवेचन किया है। उनके मत से भाष्य में प्राप्य होनेवाले वार्तिकों में अधिकांश कात्यायन के और थोड़े-से इष्टिरूप वार्तिक पतंजलि के हैं। ये वार्तिक कात्यायन ने पाणिनि-सूत्रों में दोषों के उद्भावन के लिए बनाये थे। भाष्यकार ने इनमें से अधिकांश वार्तिकों को स्वीकार कर लिया बहुत-से वार्तिकों का स्पष्टीकरण किया किन्तु अनेक स्थानों पर उनकी अनावश्यकता प्रतिपादित की। डॉ॰ कीलहॉर्न के विचार से कात्यायन के वार्तिकों पर शंका व्यक्त करने के लिए भाष्यकार ने 'वेद्' अव्यय का और अपना निजी निरूपण करते समय 'यदि तथ' शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने वार्तिककार के शंका-समाधानात्मक निरूपण में 'न वा...सिद्धं तु' आदि शब्द-योजना की है, किन्तु अपने निरूपण में 'न वा...तत्राहि वक्तव्यम्' इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है। डॉ॰ कीलहॉर्न ने इतना सब वैज्ञानिक विवेचन करने एवं उपर्युक्त मत प्रकट करने के बाद भी कई बार वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानों से एकस्वर होकर यह स्वीकार किया है कि कात्यायन और पतंजलि की दृष्टि पाणिनि के दोष प्रदर्शन की ओर थी। यह मत स्थिर करते समय इन विद्वानों की दृष्टि कात्यायन की लेखन-पद्धति तथा भाष्य द्वारा उनके समर्थन पर ही केन्द्रित रह गई। सम्भवतः इस बात की ओर उनका ध्यान नहीं गया

१ ७-१-२ भा॰ ४, ८४-९८ भा॰ ४ तथा।

२ दि कात्यायन एण्ड पतंजलि, पृ॰ ४८।

कि पाणिनि से कात्यायन तक आते-आते भाषा में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था जिसके लिए इन वार्तिकों की आवश्यकता थी, इसीलिए कात्यायन के वार्तिकों के सहित अष्टाध्यायी के पठन-पाठन की प्रथा वैयाकरणों में चल पड़ी और कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनि के पूरक माने जाने लगे विरोधी नहीं।

कात्यायन का जीवन-चरित्र—कात्यायन के जीवन के विषय में कोई प्रमाणित सामग्री उपलब्ध नहीं है। वे कात्यगोत्रीय और भाष्यकार के अनुसार दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। भाष्य में वर्णित दाक्षिणात्यों की विशेषता तद्धितान्त शब्दों का अधिक उपयोग है। यह विशेषता वर्तमान मराठी क्षेत्र में पाई जाती है। संस्कृत की विद्वत्परम्परा में इस प्रदेश के विद्वानों के लिए दाक्षिणात्य विशेषण का प्रयोग आज भी प्रचलित है। भाष्य के अनुसार दक्षिण में बड़े-बड़े सरों को सरसी कहते हैं। कुछ विद्वानों ने 'पाणिनि और पतञ्जलि की अपेक्षा दाक्षिणात्य' यह कल्पना कर इन्हें मालव या उसके समीपस्थ देश का निवासी माना है। यह अनुमान समीचीन नहीं है। भारत में प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत को दक्षिणापथ और उसके निवासियों को दाक्षिणात्य कहने की प्रथा रही है। पतंजलि दक्षिण भारत से भली भाँति परिचित थे। उनके द्वारा उल्लिखित नासिक्य कन्याकुमारी चोल, पाण्ड्य केरल आदि इसके प्रमाण हैं। दूसरे मालव और शूरसेन-प्रदेश की भाषा में कभी विशेष अन्तर नहीं रहा। आज भी मालवी बोली पर व्रज तथा गुजरात की भाषा का ही सर्वाधिक प्रभाव है। तब दक्षिण में महाराष्ट्र ही ऐसा प्रदेश रह जाता है, जहाँ पतंजलि-काल में संस्कृत का प्रचार था। इस प्रदेश में प्रारम्भतः अद्यावधि व्याकरण-शास्त्र की परम्परा भी अक्षुण्ण रही है। अतः अधिक सम्भावना इसी बात की जान पड़ती है कि कात्यायन महाराष्ट्र प्रदेश के निवासी थे।

सायण ने वररुचि और कात्यायन को एक माना है। वैयाकरण-परम्परा में भी वररुचि वार्तिककार माने गये हैं। नागेश ने वार्तिककार को ही वाक्यकार माना है। भाष्यकार ने भी वाररुच श्लोकों की चर्चा की है। उनके उल्लेख से वररुचि और कात्यायन स्पष्ट ही एक व्यक्ति अवश्य नहीं जान पड़ते किन्तु पतंजलि ने जिन भ्राज श्लोकों का उल्लेख किया है, उन्हें कैयट, हरदत्त और नागेश कात्यायन-कृत मानते हैं। वैयाकरण-परम्परा एवं सायणाचार्य जैसे विद्वानों के मत का आदर करते हुए कुछ विद्वान् वररुचि को वार्तिककार का व्यक्तिनाम तथा कात्यायन को गोत्रनाम स्वीकार करते हैं। विक्रम के सभारत्न वररुचि इनसे भिन्न रहे होंगे, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। प्राकृत व्याकरण इन द्वितीय वररुचि की रचना है। कहा जाता है कि वररुचि ने स्वर्गारोहण नामक एक काव्य भी बनाया था। पतंजलि-चरित के अनुसार भी दो वररुचि हुए हैं—एक वार्तिककार कात्यायन तथा दूसरे पतंजलि द्वारा शापित शिष्य के उज्जयिनी-निवासी शिष्य चन्द्रगुप्त ब्राह्मण के ज्येष्ठ पुत्र।[1] इस ग्रन्थ के अनुसार चन्द्रगुप्त ने ब्रह्मराक्षस से महाभाष्य का अध्ययन समाप्त कर घर लौटते समय मार्ग में चारों वर्णों की एक-एक कन्या

---

१ भगवोऽभवत् प्रथमवर्णकन्यका तनयं द्विजो वररुचिं तमाख्यया ।
स्वधनानुरूप कृतसंज्ञमध्ययन परमात्मवार्तिककृतः पवित्रया ॥
—पतंजलिचरित, सर्ग ७, श्लो० ५।

से विवाह किया जिनसे क्रमशः वररुचि विक्रमार्क भट्टि और भर्तृहरि ये चार पुत्र हुए। इनमें वररुचि ने अनेक विषयों पर समानाधिकार रखते हुए भी केवल गणित-शास्त्र पर ग्रन्थ-रचना की।[1] पतंजलि-चरित के अनुसार यह वररुचि अवश्य ही मालववासी तथा विक्रमकालीन थे।

कात्यायन के काल के विषय में मैक्समूलर, गोल्डस्टूकर आदि विद्वानों ने विस्तृत विचार किया है और तदनुसार अब निर्विवाद रूप से उनका समय लगभग ३५० ई० पू० स्वीकार कर लिया गया है।[2]

---

१ सर्वासु शास्त्रपदवीषु विचक्षणोऽपि ग्रन्थान् व्यधाद् गणित एव जनोपकारान्।
तेष्वग्रजो वररुचिर्विमलेऽक्षरेऽपि प्राप्यापमृत्युमखिलेष्वपि निर्विरोधः॥
—पतंजलिचरित सर्ग ८, श्लो० १।

२ गोल्डस्टूकर: पाणिनि—हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ० ९९ से।

अध्याय २

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

महाभाष्य

ग्रन्थ-योजना—कात्यायन के लगभग २०० वर्षों बाद पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी पर महाभाष्य की रचना की। इसमें उन्होंने पाणिनीय सूत्रों तथा उन पर लिखे गये व्याख्यानात्मक एवं पूरक वार्तिकों का विवेचन किया और यत्र-तत्र अपने इष्टि-वाक्यों का भी समावेश किया। महाभाष्य ८५ आह्निकों में विभाजित है, जिसकी विश्लेषणात्मक समीक्षा से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि महाभाष्य की रचना विषय-प्रतिपादन-शैली तथा उसका आह्निकात्मक विभाजन सब अत्यन्त नैसर्गिक है। उसकी रचना पूर्वयोजनानुसार काण्डों अध्यायों या अधिकरणों के विभाग द्वारा नहीं की गई। व्याख्यानात्मक ग्रन्थ होने के कारण अष्टाध्यायी की योजना ही महाभाष्य की योजना है। पतञ्जलि अपने शिष्यों को अष्टाध्यायी पढ़ाते हुए कुछ सूत्रों की विस्तृत समीक्षा करते जाते थे और बाद में उस समीक्षा को आह्निक रूप में लिख लेते थे। इसीलिए, भाष्य में कहीं-कहीं चालू प्रकरण को बीच में ही छोड़कर और कहीं एक प्रसंग के बाद दूसरा प्रकरण नाममात्र को प्रारम्भ करके ही आह्निक की समाप्ति की गई मिलती है। दूसरे शब्दों में महाभाष्य के ८५ आह्निक विद्यार्थियों को पढ़ाये गये ८५ दिन के पाठ हैं। आह्निक नाम ही इस बात का साक्षी है। पतञ्जलि ने अपने पूर्ववर्ती समस्त वैयाकरणों के ग्रन्थों एवं समस्त वैदिक और लौकिक प्रयोगों का सूक्ष्म अनुशीलन करने के बाद महाभाष्य का प्रारम्भ किया था इसलिए व्याकरण का कोई विषय उनकी लेखनी से नहीं छूटा। उनकी निरूपण-पद्धति सर्वथा मौलिक और नैयायिकों की तर्क-शैली पर आधृत है। अतः, पतञ्जलि के हाथों पाणिनीय शास्त्र सूत्रों की समष्टिमात्र न रहकर पूर्ण एवं वैज्ञानिक बन गया और शीघ्र ही उसकी गणना विशिष्ट दर्शन के रूप में होने लगी। महाभाष्य की रचना के बाद फलतः आपिशल शाकटायन काशकृत्स्न आदि व्याकरणों की परम्परा बन्द हो गई और सम्पूर्ण देश में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन और अध्यापन प्रचलित हो गया।

पाणिनि पर पतञ्जलि की असीम श्रद्धा थी। उन्होंने पाणिनि का स्मरण भगवान् आचार्य मांगलिक सुहृद् आदि विशेषणों के साथ किया है।[1] उनका विश्वास था कि भगवान् पाणिनि ने पवित्र स्थान में बैठकर बड़ी शुचिता एवं तन्मयता के साथ सूत्रों का प्रणयन किया है। इसलिए उनमें एक अक्षर भी अधिक या अयुक्त नहीं हो सकता।[2] उनके मत से सूत्र छन्दोवत् प्रमाण हैं।[3]

---

१ कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्।—भा० १, पृ०, ११ तथा माङ्गलिक आचार्यो वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते।—१ १ १, भा० ७ पृ० १००।

२ वही, पृ० ९७।

३ १ १ १, पृ० ९१।

इसीलिए, उन्होंने लौक निर्देश को भी प्रमाण माना।[1] उन्होंने किसी प्रयोग के अन्यथा सिद्ध हो जाने पर भी सिद्धमप्येतमपाणिनीयं तु भवति कहकर उस विधि का त्याग कर दिया।[2] इतना ही नहीं उन्होंने सूत्रों द्वारा प्रत्यक्ष न कही हुई, किन्तु ध्वनित या संकेतित बातों को आचार्य की इच्छा-शैली या आचार कहकर मान्य किया।[3] उन्होंने यत्र-तत्र आचार्य के कौशल की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया[4] और बतलाया कि सूत्र-प्रबन्ध के अतिरिक्त इंगित चेष्टित और निमिषित तक से आचार्य का अभिप्राय जाना जा सकता है।[5] इसीलिए, कुछ विद्वानों को यह भ्रम ही गया कि पतंजलि कात्यायन के विरुद्ध पाणिनि के समर्थक थे। यह बात उसी स्थिति में किसी सीमा तक सत्य कही जा सकती है, जबकि उन्होंने मुख्यतः अपना भाष्य अष्टाध्यायी पर लिखा हो और वैसा करते समय प्रसंगवश कात्यायन के आक्षेपपरक वार्तिकों का खण्डन किया हो। महाभाष्य को देखने से ऐसा लगता भी है। महाभाष्य में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्र विद्यमान हैं भले ही भाष्यकार ने उनके विषय में कुछ न कहा हो किन्तु वार्तिकों के विषय में बात ऐसी नहीं है। भाष्य में केवल उन्हीं वार्तिकों का समावेश है जिनपर भाष्यकार ने टिप्पणी आवश्यक समझी। फिर भी सामान्यतया विद्वानों की धारणा है कि महाभाष्य वार्तिकों पर लिखा गया है।[6] यहाँतक कि डॉ० कीलहॉर्न जैसे विद्वान् तक की यही धारणा है।[7] और, इसी दृष्टिकोण से कात्यायन के महाभाष्यस्थ वार्तिकों का संग्रह ही कात्यायन का वार्तिक-ग्रन्थ मानकर प्रकाशित भी किया गया है। मेरे विचार से भाष्यकार ने पाणिनि और कात्यायन दोनों पर एक साथ भाष्य लिखा है। ऐसा करते समय उन्होंने उन सूत्रों को छोड़ दिया जिनपर न तो पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने वृत्ति, उदाहरण और प्रत्युदाहरणों के अतिरिक्त कुछ कहा था और न पतंजलि की दृष्टि से ही उन पर कोई नवीन बात कहने का अवकाश था। ऐसा करते समय उन्होंने पाणिनि के साथ कात्यायन के प्रति भी पूज्य भाव रखा यद्यपि प्राथमिकता पाणिनि को प्रदान की। यह स्वाभाविक था और उचित भी।

---

१ ७-१ १२, पृ० २११।

२ आ० १ पा० १८, पृ० ३१।

३ अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नाणेन सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवति।—आ० २, पृ० ५६, तथा ५८, ६० तथा एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति।—आ० २, पृ० ८१; एतज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा।—आ० २ पृ० ८९ तथा आचार्यं शब्दस्तेषां सिद्धिर्भविष्यति।—१ १ १, पृ० ९५।

४ कौशलमात्मनोऽऽचार्यो दर्शयति।—१ १ १, पृ० ४।

५ ६ १ ३७ पृ० ६५।

६. महाभाष्य इज ए क्रिटिकल डिस्कशन ऑन दि वार्तिकाज ऑफ् कात्यायन, ह्वायल इट्स इण्डिज ऑन दि अदर हैण्ड, आर ओरिजिनल वार्तिकाज ऑन दस सूत्राज ऑफ पाणिनि एज नोटेड फॉर हिज ओन रिमार्क्स।—दि इण्डियन हिस्टा० क्वा०, भाग २, पृ० ५७०-७१।

७. दि महाभाष्य इज, ऑन दि फर्स्ट इन्स्टान्स, ए कमेण्टरी ऑफ् कात्यायन्स वार्तिकाज। कीलहार्न : कात्यायन ऐण्ड पतंजलि, पृ० ५१।

चौदह प्रत्याहार-सूत्रों को मिलाकर अष्टाध्यायी के कुल ३९९५ सूत्रों में से १६८९ सूत्रों पर पतंजलि ने भाष्य लिखा और शेष को बिना अपनी ओर से कुछ मिलाये परम्परानुसार ग्रहण कर लिया। उन्होंने इनमें से १२२८ सूत्रों पर केवल कात्यायन के तथा २६ सूत्रों पर अन्य आचार्यों के भी प्राप्त वार्तिकों की समीक्षा की और ४३५ ऐसे सूत्रों पर भाष्य लिखा जिनपर वार्तिक उपलब्ध नहीं थे। इन सूत्रों पर भाष्यकार की समीक्षा पूर्णतः मौलिक है। उन्होंने १६ सूत्रों में वार्तिककार के मत को भ्रान्त ठहराकर पाणिनि का समर्थन किया और १६ सूत्रों को अनावश्यक ठहराया। पतंजलि कात्यायनीय वार्तिकों के प्रथम भाष्यकार नहीं किन्तु सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार अवश्य थे। उन्होंने कात्यायन के अनेक आक्षेपों से पाणिनि की रक्षा की यद्यपि ऐसा करने में कहीं-कहीं पाणिनि का आवश्यकता से अधिक पक्ष लिया।

महाभाष्य-काल में संस्कृत भाषा की स्थिति—पतंजलि का युग वैदिक संस्कृति तथा वैदिक साहित्य के गिरते हुए प्रासाद को पूरी शक्ति के साथ स्थिर रखने के प्रयास का युग है। इस समय प्राकृत भाषाएँ विकसित हो रही थीं और जन-सामान्य में संस्कृत का प्रचार घटने लगा था। पाणिनि-युग में संस्कृत शिक्षित समाज की भाषा थी। अष्टाध्यायी के बीसियों सूत्र जिनमें दूर से पुकारने पुकार का उत्तर देने अभिवादन तथा उसके उत्तर, पृष्ट-प्रतिवचन नियुक्तानुयोग भर्त्सन प्रश्नाख्य प्रश्नाख्यान आशीः, प्रैष आक्रोश गर्हा असूया आदि के प्रसंगों में प्रयुक्त शब्दों के नियम दिये गये हैं, इस बात के प्रमाण हैं।[1] शूद्र उस समय भी प्राकृत का व्यवहार करते थे।[2] आगे चलकर स्त्रियों से संस्कृत का व्यवहार उठ गया। पतंजलि के समय तक आते-आते वैश्यों और क्षत्रियों में भी संस्कृत का प्रचार कम हो चला। फिर भी इस समय तक क्षत्रिय और वैश्य संस्कृत पूर्णतया समझते थे भले ही दैनन्दिन जीवन में वे पूर्णतया संस्कृत का व्यवहार न करते हों। पाणिनि के 'प्रत्यभिवादे शूद्रे' (८.२.८३) सूत्र के वार्तिक इस कथन की पुष्टि करते हैं। ब्राह्मण-समाज में इस समय भी संस्कृत व्यवहार की भाषा थी। यद्यपि ब्राह्मणों का ध्यान व्याकरण की ओर से हट चला था। वे यह सोचकर कि लौकिक शब्दों का ज्ञान लोक से और वैदिक शब्दों का वेद से ही हो जाता है फिर व्याकरण में सिर पचाने की क्या आवश्यकता व्याकरण पराङ्मुख बन रहे थे।[3] प्राचीनकाल में उपनयन-संस्कार के बाद पहले व्याकरण पढ़ाया जाता था और स्थान नाद करण अनुप्रदान आदि का सम्यक् ज्ञान हो जाने के बाद तब वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था। पतंजलि के समय में स्थिति उलट गई थी। अब ब्राह्मण-बालक भी व्याकरण को निरर्थक कहकर उसकी उपेक्षा करने लग गये थे।

पाणिनि के बाद भाषा में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे। संस्कृत अब भी देश-भर के

---

१ ८-२-९१ से ८-२-१०५ तक।

२ 'असूयकस्यप्रयोगेषु' तथा 'भो राजन्यविशां वा'।—८.२.८३।

३ पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्र स्थान नादकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणम्।—भा० १, पृ० १०।

शिष्ट-समाज को एक सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध किये थी किन्तु प्राकृत भाषाएँ भी साहित्य में स्वीकृत हो चुकी थी। संस्कृत के प्राच्य और उदीच्य स्वरूप में थोड़ा बहुत अन्तर यास्क और पाणिनि के समय से ही चला आ रहा था। बहुत-से वैदिक धातुओं के किसी अर्थ का प्रचार एक प्रदेश में था और किसी का दूसरे प्रदेश में। पाणिनि ने इन मतभेदों का उल्लेख अपने सूत्रों में किया था। यास्क ने भी उदाहरण के रूप में बतलाया था कि शव् धातु गति अर्थ में केवल कम्बोजों में बोली जाती है। आर्य जनपदों में उसका प्रयोग विकार अर्थ में ही होता है। इसी प्रकार दा का क्रिया रूप में (काटने के अर्थ में) प्राच्य देश में व्यवहार होता है। उदीच्य जनपदों में उससे बने संज्ञा शब्द दात्र का प्रयोग प्रचलित है।[1] यास्क के इस कथन को पतंजलि ने भी उद्धृत किया। पतंजलि के समय में यह भेद और बढ़ गया था। उदाहरणार्थ इस समय जाने के अर्थ में सुराष्ट्र में हम्म् धातु का मध्य में रंह् धातु का और आर्य जनपदों में गम् धातु का प्रयोग होता था।[2] अनेक शब्दों का प्रचलन बन्द होकर उनके स्थान में तत्सदृश दूसरे शब्द व्यवहार में आ गये थे। यथा ऊष के अर्थ में उषित तेर के अर्थ में तीर्ण चक्र के अर्थ में कृतवत् और पेच के अर्थ में पक्ववत् शब्द चल पड़े थे।[3] शब्दों के प्रयोग का विषय व्यापक हो चुका था। पाणिनि अथर्वसंहिता शतपथादि ब्राह्मणों और उपनिषदों से परिचित न थे किन्तु भाष्यकार के समय में चारों संहिताएँ, वाको-वाक्य इतिहास पुराण वैद्यक तथा ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थ बन चुके थे।[4] रामायण महाभारत काव्य-ग्रन्थों तथा आख्यान-साहित्य की रचना हो चुकी थी। फलतः संस्कृत का शब्दकोष पहले से बहुत बड़ा हो चुका था। ऐसे अनेक शब्द जिनकी सिद्धि अष्टाध्यायी से नहीं होती संस्कृत में सम्मिलित हो गये थे।[5] दूसरी ओर साहित्य में गृहीत होने के कारण अपभ्रंश शब्दों को स्थिरता और मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। ये शब्द सरलता से संस्कृत शब्दों में मिल जाते थे जिससे संस्कृत के भ्रंश का भय उत्पन्न हो गया था। संस्कृत शब्द थोड़े थे और उनके अपभ्रंश कहीं अधिक। एक-एक संस्कृत शब्द के जनपद भेद से अनेक अपभ्रंश रूप प्रचलित थे। एक ही गो कहीं गोणी कहीं गाता कहीं गावी और कहीं गोपोतलिका बन गई थी।[6]

भाषा के परिमार्जन में महाभाष्य का योग—ऐसी स्थिति में पतंजलि ने भाषा के परिमार्जन का काम अपने हाथ में लिया। वे जानते थे कि जन वर्गों में फिर से संस्कृत का प्रचार तत्काल दुःसाध्य है, जो इसे भूल चुके हैं। इसलिए, सर्वप्रथम उस समाज को कसकर पकड़ना लाभकर होगा जो

---

१ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दाति-र्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।—अध्याय २, खण्ड २, पृ० ८।

२ हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते।—आ० १ पृ० २१।

३ एतेषां शब्दानामर्थेऽन्यान् शब्दान् प्रयुञ्जते।—तद्यथा ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे क्व यूय-मुषिताः।—आ० १ पृ० १०।

४ आ० १, आ० ५, पृ० २१।

५ प्राप्तिज्ञो देवानाम्प्रियो न त्विष्टिज्ञः।—२-४-५६, पृ० ४९१ ९२।

६. आर्ये चाप्यध्यायीमधीते। ये चाप्यविहिता शब्दास्तान् प्रयुङ्क्ते। अयं नूनमन्यानपि जानाति।—६ ३ १०९ पृ० ३५६।

किसी-न-किसी रूप में उससे परिचित हैं। वे जानते थे कि भाषा का विकास नैसर्गिक होता है। शब्दों का व्याकरण द्वारा निष्पन्न होना एक बात है और लोक में उनका प्रयोग दूसरी बात। उदाहरणार्थ, सारथि अर्थ में व्याकरण द्वारा सिद्ध शब्द प्रवेता था किन्तु लोक में प्राजिता का प्रचलन था प्रवेता का नहीं। इस विषय में महाभाष्य का वैयाकरण-सारथि-संवाद बड़ा मनोरंजक है जिसमें सारथि वैयाकरण से कहता है कि आप प्राप्तिज्ञ (शब्दसाधुता के जानकार) हैं इष्टिज्ञ नहीं।[1] इस संवाद से यह भी पता चलता है कि इस समय तक संस्कृत व्यवहार की जीवन्त भाषा थी केवल पुस्तकों में वह सीमित न थी। नादिन्याऽऽक्रोशे पुत्रस्य सूत्र पर भाष्य में दिये हुए उदाहरण भी इसी कथन की पुष्टि करते हैं। यह समय ब्राह्मणों के उत्थान का था। पुष्यमित्र पाटलिपुत्र से विदर्भ अवन्ती और शूरसेन प्रदेश तक का शासक था। यज्ञ और कर्मकाण्ड का महत्त्व बढ़ रहा था। स्वयं पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किये थे जिनमें एक पतंजलि आचार्य थे। अर्थ के लोभ से ब्राह्मण लोग यज्ञादि कर्मकाण्डों की ओर अधिक झुक रहे थे। पतंजलि ने इस वर्ग को व्याकरण की ओर उन्मुख किया। उन्होंने आर्यावर्त में रहनेवाले शिष्ट ब्राह्मणों के लिए अष्टाध्यायी का अध्ययन आवश्यक निरूपित किया और कहा कि ब्राह्मण को षडंगों-सहित वेदों का अध्ययन निष्काम भाव से करना चाहिए। षडंगों में भी व्याकरण मुख्य है। वेदरक्षा तथा वेदज्ञान बिना व्याकरण के सम्भव ही नहीं है। अपशब्द म्लेच्छवत् हैं। भाषा का साधु ज्ञान हुए बिना साधु और अपभ्रंश शब्दों में भेद कर सकना सम्भव नहीं है और न बिना व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किये वाग्मिशील बनना सम्भव है।[2] यों मनुष्य दैवानुग्रह या स्वभाव-गति से भी अष्टाध्यायी के अनुसार शुद्ध भाषा बोल सकता है, किन्तु वह इस बात का पता नहीं लगा सकता कि दूसरे लोग जो बोल रहे हैं वह कहाँ तक ठीक है।[3] उन्होंने साधु शब्दों के प्रयोग को अभ्युदयकारी बतलाकर भाषा की शुद्धता पर बहुत जोर दिया और इस प्रकार प्राकृतों के बढ़ते हुए प्रभाव को यथाशक्य रोकने की चेष्टा की। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाष्यकार जैसे समर्थ विचारक से संस्कृत को बड़ी शक्ति मिली। इस काल में अनेक अधिकारी ग्रन्थों का प्रणयन तो हुआ ही साथ ही अगली कई शताब्दियों तक संस्कृत की धारा अक्षुण्ण प्रवाहित रही। उनके प्रयत्न से व्याकरण अध्ययन का सर्वप्रमुख अंग बन गया और संस्कृत का जो स्वरूप उन्होंने स्थिर कर दिया वह आजतक वैसा ही बना हुआ है।[4]

महाभाष्य की रचना-शैली—महाभाष्य की रचना-शैली अत्यन्त स्पष्ट सरल एवं प्रसादगुणमयी है। भर्तृहरि ने एक पंक्ति में उसे 'अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्' कहा है। इसमें दैनन्दिन व्यवहार में न आनेवाले शब्दों का प्रयोग नाममात्र को नहीं है। लम्बे समास या क्लिष्ट शब्दावली का भी कहीं व्यवहार नहीं हुआ है। भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से महाभाष्य शांकरभाष्य की अपेक्षा अधिक सरल है। शास्त्रीय ग्रन्थ होने के कारण यद्यपि

---

१ एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य।—भा० १, आ० १, पृ० २२।

२ पस्पशाह्निक—आरम्भ।

३ ५-१ १०९, पृ० ३५१।

४ ६।४।४६, पृ० ४२८।

उसमें स्थान-स्थान पर पारिभाषिक और शास्त्रीय शब्दों का आ जाना स्वाभाविक था फिर भी लोक-व्यवहार में आनेवाले निसर्ग-सुन्दर और सुपरिचित शब्दावली के प्राय: उपयोग होने के कारण भाष्य में भाषा-काठिन्य नहीं आने पाया। भाष्य की विषय प्रतिपादन-शैली भी अत्यन्त मनोरम है। तात्पर्य यह है कि सरल सुबोध और निसर्ग-रमणीय भाषा स्थान-स्थान पर वक्तृत्व छटा और संवादरूप वाक्यों की मोहकता ने भाष्य में एक विशेष प्रकार की आकर्षता उत्पन्न कर दी है। जहाँ प्रतिपाद्य विषय कठिन और गम्भीर है वहाँ बीच-बीच में विनोदयुक्त वाक्य डालकर तथा समयोचित लौकिक दृष्टान्त-वाक्यों का समावेश कर उन्होंने जिज्ञासा को यथावत् बनाये रखा है और प्रसंग को निर्जीव हो जाने से बचा लिया है।

भाष्य की विषय-निरूपण-पद्धति अत्यन्त सीधी और सम्भाषणात्मक है। कठिन विषयों का प्रारम्भ 'इदमिह सम्प्रधार्यम्' जैसे वाक्यों से पाठक को पूर्व जागरूक करके किया गया है। पतंजलि पूर्वपक्ष की स्थापना अत्यन्त तन्मयता और निष्पक्षता के साथ करते हैं और फिर 'विषम उपन्यास' जैसे वाक्यों से उत्तर पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। वे बीच-बीच में 'कि वक्तव्यमेतत् कथमनुच्यमानं गंस्यते' अथवा 'अस्ति प्रयोजनमेतत्। कथं तर्हि ?' जैसे सवादात्मक वाक्य डालकर पाठक का ध्यान लक्ष्य की ओर आकृष्ट करते जाते हैं और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनों के निरूपण के पश्चात् 'यथा न दोषस्तथास्तु' कहकर निर्णय पाठक पर छोड़ देते हैं। कभी कभी वे 'ज्ञानदीर्घस्त्वाह' कहकर अधिक ग्राह्य पक्ष की पुष्टि भी कर देते हैं। कहीं-कहीं वे सूत्रों पर आक्षेप करनेवाले वार्तिकों पर टीका कर अन्त में तर्क के साथ 'यथान्यासमेवास्तु' कहकर सूत्रकार का समर्थन करते हैं। कहीं दोनों पक्षों के मत ग्राह्य होने पर परस्पर होनेवाले आक्षेपों का निवारण-मात्र कर देते हैं किन्तु अपना मत की स्थापना नहीं करते। अथवा 'उभयथा गोणिकापुत्र' कहकर दोनों पक्षों का समर्थन कर देते हैं। सभी विवाद-ग्रस्त स्थलों में उन्होंने पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष में प्राचीन वैयाकरणों के मतों का उल्लेख किया है और अन्त में लोक में प्रचलित प्रमाण तथा सर्व-सम्मत व्याकरण-विषयक मौलिक सिद्धान्त के आधार पर अपना निर्णय दिया है और जहाँ कहीं लोक-प्रयोग के आधार पर उत्तर देना शक्य नहीं जान पड़ा वहाँ 'देवा ह्यनुमर्हन्ति' 'देव एव जानाति' जैसा विनोदात्मक उत्तर देकर काम चला लिया है। इस प्रकार उन्होंने व्याकरण जैसे नीरस विषय को भी सरस बना दिया है। वास्तव में उन्होंने सारा ग्रन्थ शिष्यों को पढ़ाते-पढ़ाते लिखा। इसीलिए, उसमें इतनी सजीवता और प्रासादिकता आ गई है।

भाष्यकार से पूर्व अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्ति-ग्रन्थ विद्यमान थे जिनमें सूत्रों के अर्थ उदाहरण और प्रत्युदाहरण दिये गये थे। इसलिए, भाष्यकार यह मानकर चले कि उनके पाठक को यह सब अवगत है। उन्होंने अपनी व्याख्यान-पद्धति तीन तत्त्वों पर आधृत की—सूत्र का प्रयोजन बतलाना पदों का योग्य अर्थ करते हुए सूत्रार्थ निश्चित करना और सूत्र की व्याप्ति बढ़ाकर या कम करके सूत्रार्थ का नियमन करना। सूत्र का प्रयोजन बतलाने के लिए वे अपना व्याख्यान 'किमुदाहरणम्', 'अयं योग' शक्यमकर्तुम्' जैसे वाक्यों से प्रारम्भ करते हैं। सूत्रार्थ का निश्चय करते समय 'अमुकपद किमर्थम्' 'कथमिदं विज्ञायते' तथा सूत्रार्थ का नियमन करते समय 'एवं कर्त्तव्यम्' 'इत्युपसंख्यानम्, 'इति वक्तव्यम्' 'इत्यस्य प्रतिषेधो वक्तव्य' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते हैं।

पाणिनि के मनोऽनुकूल इष्ट-प्रयोग-साधक और अनिष्टनिवारक अर्थ लगाना पतंजलि का उद्देश्य था। इसलिए, जहाँ कहीं सूत्र से यह काम सिद्ध होता न दिखाई दिया वहाँ उन्होंने सूत्र का योग-विभाग किया या पूर्व विप्रतिषेध से काम चलाया। यदि कहीं सूत्र से अनिष्ट प्रयोग सिद्ध होने लगा तो उसे शिष्टासम्मत होने के कारण 'अनभिधानम्' कहकर निवारित किया। इन सब बातों का विवेचन करते हुए उन्होंने अनेक स्थानों पर पूर्वाचार्यों के वार्तिक उद्धृत किये और यदि उस विचार में समर्थक या विरोधी अनेक आचार्य हुए या किसी कारण उनका नाम ग्रहण सम्भव न हुआ तो वहाँ अपर आह या अपर आहुः द्वारा उनके मत का प्रतिपादन कर दिया। वार्तिककार द्वारा सूत्र अथवा सूत्रस्थ किसी पद का प्रत्याख्यान किये जाने के अवसर पर उन्होंने यथासम्भव सूत्रकार का पक्ष ग्रहण किया। फिर भी उनकी दृष्टि सूत्रकार और वार्तिककार दोनों के प्रति आदरयुक्त रही। सूत्रकार के साथ उन्होंने वार्तिककार के लिए भी भगवान् सुहृद् और आचार्य विशेषणों का प्रयोग किया।[1] सूत्रकार का समर्थन करने के लिए ही यदि आवश्यक हुआ तो उन्होंने वार्तिककार का खण्डन किया। केवल दो स्थानों पर 'एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्' तथा 'प्रमादकृतमेतदाचार्यस्य शक्यमकर्तुम्' कहकर उन्होंने सूत्रकार का दोष दिखलाया। किसी-किसी स्थान पर उन्होंने सूत्र के शब्दों में अन्तर प्रस्तावित किया और वैसा करने के लाभ भी बतलाये किन्तु अन्त में यह कहकर कि सूत्रकार ने अर्थ का पूर्ण स्पष्टीकरण करने के लिए ही वैसा किया है, उन्होंने सूत्र को ज्यों-का-त्यों रहने दिया।

महाभाष्य की भाषा—महाभाष्य को सरस और आकर्षक बनाने में उसकी भाषा ने बहुत अधिक योग दिया है। विरोधियों के तर्कों का उत्तर देते समय भाष्यकार बड़ी चुभती व्यंग्यमयी और कटाक्षपूर्ण भाषा का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी उस में खिझ और झुंझलाहट की भी झलक मिलती है पर शुष्क सिद्धान्त-निरूपण के प्रसंगों में इस प्रकार की अभिव्यक्ति स्फूर्ति लाने में ही सहायक हुई है। भाष्यकार की कटाक्ष-शैली के कुछ उदाहरण उपस्थित करना यहाँ असांगिक न होगा—

१ किं पुनरनेन वर्ण्येन ? किं न महता कण्ठेन नित्य शब्द एवोपात्तो यस्मिन्नुपादीयमाने सन्देह स्यात् ।[2]
२ आहो पुरुषिका मात्रं तु भवानाह ।[3]
३ सेषा महतो वंशस्तम्बाल्लट्वानुकृष्यते ।[4]
४ परशस्तानि कार्याणि ।[5]
५ नहि काको वाश्यत इत्यधिकारो निवर्तते ।[6]

---

१ तत्राचार्य सुहृद्भूत्वान्वाचष्टे ।—१ ३-१०, पृ० ४३३ ।
२ भा० १, पृ० १५ ।
३ भा० १, पृ० ३५ ।
४ भा० २, पृ० ५२ ।
५ १ १ १०, पृ० १६१ ।
६ ४ ३-५१, पृ० २३६ ।

६ नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्त्यपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति।[1]

७. तत्कारी च भवति तद्द्वेषी च।[2]

८. अन्यद्भवान् पृष्टोऽन्यदाचष्टे। आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे।[3]

९ अवतप्ते नकुलस्थितं त एतत्। उदके विशीर्णं त एतत्[4]।

१० योहि तत्पुरुषमारभते न तस्य बप्रवारितो बहुव्रीहिः[5]।

११ यदि प्रयोगे धर्मः सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत। कश्चेदानीं भवतो मत्सरो यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत?[6]

१२ कस्येदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधु स्यात्?

१३ सर्पीभूतस्याला रज्जुर्भवति।

१४ अनुपूर्वीसिद्धः स्मो वैरस्माभिः प्रथमैकवचनमास्थाय यो गुणो प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति ।[9]

महाभाष्य के उपमान न्याय दृष्टान्त और सूक्तियाँ भी कम मनोरम नहीं हैं। उन्होंने विषय में बड़ी रोचकता उत्पन्न कर दी है। उसके उपमान सुपरिचित हैं और प्रभावशाली भी। उदाहरणार्थ—

(१) नह्ययमनुबन्धो शक्यकाष्ठस्य उपचेतुम्।[10] (२) यदि पुनरिमे वर्णा शकुनिवत् स्युः। शकुनय आशुगामित्वात् पुरस्तादुत्पतिता पश्चाद् दृश्यन्ते ।[11] (३) यदि पुनरिमे वर्णा आदित्यवत्स्युः। तद्यथा एक आदित्यो नैकाधिकरणस्थो युगपद्देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते।[12] (४) कथं पुनरसमास लिङ्ग शक्यं द्रष्टुम्? मृगतृष्णावत्। तद्यथा मृगास्तृषिता अपोभाराः पश्यन्ति न च ता सन्ति।[13] गन्धर्वनगराणि यथा दूरतो दृश्यन्ते उपसृत्य च नोपलभ्यन्ते तद्वद् अद्धाम् सधोरसर्पिभञ्ज्वं द्रष्टव्यम्। यथाऽविरलस्य गती सती नोपलभ्यते तद्वद् अदृष्टापूर्वसो सन्निकृष्टं नोपलभ्यते। यथा वस्त्रान्तर्हितानि द्रव्याणि नोपलभ्यन्ते तद्वद् अदृष्टापूर्वसो सन्निकृष्टं नोपलभ्यते ।[14] (५) गव्यूतवदविकारा। तद्यथा गोयूथमेकवृक्षप्रवृत्ति सर्वसम भावं गच्छति तद्वदविकारा।[15] (६) बहुतकारि तत्त्वपि शास्त्रमग्निवत्। तद्यथा अग्निर्यदेकत्र तद्दहति। बहुतकारि तत्त्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत्। तद्यथा पर्जन्यो यावदूनं पूर्णं च सर्वमभिवर्षति ।[16] (७) व्यंजनानि पुनर्नटभार्यावद्भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य

---

१ १ १ ४७ पृ० ९८०।
२ १-२-३६, पृ० ५१६।
३ १-२-४५, पृ० ५३२।
४ १ ४ १३, पृ० १४३।
५ २-१ २४, पृ० २०९।
६ भा० १, पृ० २२
७ भा० १, पृ० २०
८ ६ १ १६८ पृ० ९६।
९ भा० २, पृ० ४४।
१० भा० २, पृ० ४०।
११ वही।
१२ भा० २, पृ० ४२।
१३ ४ १ ३ पृ० १७।
१४ वही पृ० १८।
१५ ४ २-७०, पृ० ११४।
१६ ६ १ १२७, पृ० १०८।

सूर्यं तं तं तत्र तत्रैवाद्राक्षुः ।[1] (८) इतरेतराश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्पन्ते । तद्यथा नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति ।[2]

उक्त उदाहरणों में भाष्यकार ने अपने कथन की पुष्टि के लिए प्रतिदिन सम्पर्क में आने वाले उपमानों को लेकर उनका अपने ढंग से उपयोग कर लिया है और यह उपयोग इतना समाधायक है कि पाठक उसके सहारे बिना तर्क के वक्ता की बात को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है। यही स्थिति भाष्य में प्रयुक्त दृष्टान्तों की है। उपमानों के समान उनके दृष्टान्त भी सुपरिचित और सुग्राह्य हैं। यथा—

(१) नष्टाश्वदग्धरथवत् । तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्ध उभौ संप्रयुज्यावहा इति । एवमिहापि तवाप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति ममाप्यन्तरतम आदेशो नास्त्युभौ नौ सम्प्रयोग इति ।[3] (२) अभ्यन्तरो हि समुदायस्यावयवः । तद्यथा वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति । (३) असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे एषा (परिभाषा) लोकतः सिद्धा । प्रत्यङ्गवर्ती लोको लक्ष्यते । तद्यथा पुरुषोऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं कार्याणि तानि तावत् करोति । ततः सुहृदां ततः सम्बन्धिनाम् ।[4] (४) सद्भूतस्यासिद्धत्वादन्यस्य प्रादुर्भावो भवति । न हि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति ।[5] (५) लोकविज्ञानात् सिद्धम् । लोकेऽमीषां ब्राह्मणानामन्यतः पूर्वं आनीयतामित्युक्ते यथा जातीयकोऽन्यस्तथा जातीयकोऽन्यतः पूर्वं आनीयते । (६) नञ् प्रयुज्यमानः पदार्थं निवर्तयति । कीलप्रतिकीलवत् । तद्यथा कील आहन्यमानः प्रतिकीलं हन्ति । (७) प्रसक्तस्य चानभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुं नाभिनिर्वृत्तस्य । यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयात् मा भुक्था इति किं तेन कृतं स्यात् ?[8] (८) न खल्वप्यन्यत् प्रकृतमनुवर्तमानमन्यद्भवति । न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति ।[9] (९) अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति । तद्यथा शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते ताभ्यश्च पानीयं पीयत उपस्पृश्यते च शालयश्च भाव्यन्ते ।[10] (१०) आमिश्रस्यासमावेश उच्यते स नैव पूर्वग्रहणेन गृह्यते नापि परग्रहणेन । क्षीरोदके सम्पृक्ते आमिश्रत्वान्नैव क्षीरग्रहणेन गृह्येते नाप्युदकग्रहणेन ।[11] (११) उभयत आश्रये नान्तादिवत् । तद्यथा लोके यो द्वयोस्तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति । यदा तु तमुभौ युगपत् प्रेषयतो नाना दिक्षु च कार्ये भवतस्तत्र यद्यसावविरोधार्थी भवति तत उभयोर्न करोति ।[12]

इस प्रकार भाष्य ने जीवन के सामान्य तथ्यों के सहारे व्याकरण के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों और परिभाषाओं की सृष्टि की है। उनके कुछ न्याय तो अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। वे भी यद्यपि दृष्टांत ही हैं किन्तु उनकी अपेक्षा संक्षिप्त तथा विशिष्ट अर्थग्राही। यथा—

---

१ ६-१-२, पृ० ११।
२ १ १ १, पृ० १०१।
३ १ १-५०, पृ० ३३३।
४ १ १-५६, पृ० ३४०।
५ १ १-५७ पृ० ३६१।
६ १ १-५७ पृ० ३६४।
७ १ १ ६६, पृ० ४९१।
८ ९-२ ६, पृ० ३३९।
९ १ १ १० पृ० ६४।
१० १ १-५०, पृ० ८१।
११ वही।
१२ १ १-८५, पृ० १२०।
१३ वही पृ० १२१।

(१) कूपखानकन्याय—कूपखानकः कूपं खनन् यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति सोऽप्सु सञ्जातासु तत एव तं गुणं समासादयति येन स च दोषो निर्हण्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति।[1] (२) कुम्भीधान्यन्याय—यस्य कुम्भ्यामेव धान्यं स कुम्भीधान्यः। यस्य पुनः कुम्भ्यां धान्यम् च नासौ कुम्भीधान्यः[2]। (३) काकतालीयन्याय—काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालम्। काकतालमिव काकतालीयम्।[3] (४) प्रासादवासिन्याय—ये प्रासादवासिनो गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन। ये भूमिवासिनो गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन। ये उभयवासिनो गृह्यन्ते ते प्रासादवासग्रहणेन भूमिवासिग्रहणेन च एवमिहापि। (५) अजाकृपाणीयन्याय—पूर्ववत्[5]। (६) अविरविकन्याय—तद्यथा अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवत्याविकमिति। एवं पञ्चसु कपालेषु संस्कृत इति विगृह्य पञ्चकपाल इति भविष्यति पञ्चकपाल्यां संस्कृत इति विगृह्य वाक्यमेव।[6]

भाष्य में अनेक स्थानों पर मनोरम सूक्तियों और कहावतों का जो जीवन के वास्तविक अनुभव पर आधृत हैं, समावेश हुआ है। कभी-कभी ये सूक्तियाँ और कहावतें सोदाहरण मिलती हैं और कभी सारल्य में। भाष्यकार ने इन सूक्तियों का उपयोग अपनी बात की पुष्टि के लिए किया है। उदाहरणार्थ—

(१) छिन्नवर्त्म सुगमं भवति। (२) नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते। (३) समानगुण एव स्पर्धा भवति। नह्यश्वकपाभिस्सी स्पर्धते। (४) अदूरविप्रकर्षे एव स्पर्धा भवति। नहि निष्कधनः शतनिष्कधनेन स्पर्धते।[9] (५) न कामानां तृप्तिरस्ति। (६) बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।[11] (७) पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय।[12]

भाष्य में प्रयुक्त अनेक शब्द संस्कृत शब्दकोष की अमूल्य निधि हैं। विशिष्ट अर्थ में और विशिष्ट अवसरों पर प्रयुक्त होनेवाले बहुमूल्य शब्दों और वाक्यांशों से सम्पूर्ण भाष्य भरा पड़ा है। अनेक ऐसे अर्थगर्भित शब्द भाष्य में आये हैं, जिनके लिए सम्पूर्ण वाक्य की आवश्यकता होती। यह एक स्वतन्त्र विषय है, जिसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ शब्द दिये जा रहे हैं—

(१) शब्दगुम्फमात्रम् (शब्दों की बकवास-भर) (२) उष्ट्रासिका (ऊँटों की तरह अलग-अलग प्रकार से बैठना) (३) हतशायिका (मरे हुए कागों की तरह अस्त-व्यस्त पड़े होना) (४) काकपेया नदी (बीच कम जलवाली नदी) (५) माल्यासिक (जैसे का तैसा) (६) मूकवंशी (७) आहोपुरुषिका (८) अहमिन्द्र (चलते चलते पेड़ लगानावाला

---

१ भा० १, पृ० ९४।
२ १ १-७ पृ० ९७।
३ ५ ३-१०६ पृ० ४८०।
४ १ १-७ पृ० १५७।
५ ५ ३-१०६, पृ० ४८० (वही)।
६ ४ १-८८, पृ० १०२।
७ ६ १-२२३ पृ० २४३।
८ ४ १ १, पृ० १३।
९ ५ ३-५५, पृ० ४४६-४७।
१० ६ १-८५, पृ० ११९।
११ २ १-२, पृ० ४०५।
१२ १ ४-२३, पृ० १५७।

बैल या पशु) (९) संपुष्टक (एक साथ जुए में जुतने वाले जोड़ीदार बैल)। (१०) समाश (सहभोज) (११) प्रत्यक्षवर्ती कोर (पास की वस्तु को पहले देखनेवाले) (१२) खाचीन (टेढ़ा-मेढ़ा) (१३) वार्तंतर (अधिक उपयुक्त) (१४) प्रसृ परिमाण (निश्चित माप) (१५) पुष्पक (आँख में फूलीवाला व्यक्ति), (१६) कालक (काले तिलवाला) (१७) कल्माष अथवा सारंग (कुछ-कुछ काली कुछ-कुछ सफेद वस्तु) (१८) उपोद्बलक (दृढ़ करनेवाला) (१९) विपादिका (पैर का फोड़ा) (२०) व्यसन अथवा विहरण (फोड़ना या टुकड़े करना) (२१) अपस्किरण (आनन्दित बैल की सींग से भूमि खरोंचने की क्रिया कुत्ते और मुर्गे की पाँव से भूमि कुरेदने की क्रिया) (२२) विप्रलाप (परस्पर विरुद्ध बोलना) (२३) आध्यान (उत्कण्ठापूर्वक स्मरण) (२४) अभ्यवसर्ग (यथेच्छ काम करने की अनुज्ञा) (२५) नियमिणी (नसेनी सीढ़ी) (२६) प्रसित (कसकर बँधा हुआ) (२७) प्रजन (सन्तान) (२८) केशक (बालों का शौकीन) (२९) असक (दामाद) (३०) औदरिक (पेटू)। (३१) पचक (पकने में होशियार) (३२) तपक (धागा बुना हुआ वस्त्र) (३३) उष्णक (शीघ्र करने योग्य काम को शीघ्रता से करने वाला) (३४) शीतक (शीघ्र करने योग्य काम को ढिलाई से करनेवाला) (३५) उत्पिका (तपस्वी) (३६) पार्श्वक (सीधे ढंग से करने योग्य काम को चालाकी या अनृजु उपाय से करनेवाला) (३७) अयःशूलिक (मृदु उपाय से करने योग्य कामों को बलपूर्वक जबरदस्ती से करनेवाला) (३८) हिमसहु (बिना बर्फ के पर्वत) (३९) शृंगारक (सींगवाला) (४०) अवक्षेपण (कुत्सित काम) (४१) बृहतिका (घास या चादर) (४२) अवरुक्षीण (दो व्यक्तियों के बीच की गुप्त मन्त्रणा) (४३) आचितपु (पापों द्वारा जिसकी पाप भर की गई है, ऐसा परगाह) (४४) आवपन (बोने का पात्र) (४५) मीदार (मूल) (४६) धनक (द्रव्य की लालसा)। (४७) युग्म (गाड़ी में जुतने योग्य बैल)। (४८) भंगा (स्यार आदि पशुओं को डराने के लिए खेत में घास की बनाई हुई आकृति) (४९) भ्रूकुंस (नाटक में स्त्री की भूमिका करनेवाला पुरुष)।

ये शब्द निदर्शनमात्र हैं। भाष्य से ऐसे शब्दों की बड़ी तालिका उपस्थित की जा सकती है और यह आधुनिक भारतीय भाषाओं की श्रीवृद्धि में बड़ी सहायक हो सकती है।

भाष्यकार ने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की स्थापना करते समय भी इस बात का ध्यान रखा है कि वे सरलता से सर्वग्राह्य हो सकें। एतदर्थ उन्होंने सर्वत्र लोकविज्ञान या लोक-व्यवहार का आश्रय लिया है। उनके अधिकांश तर्क चाहे वे पूर्वपक्ष के हों या उत्तरपक्ष के लोकाचार पर टिके हैं। यदि उन्हें यह कहना हुआ कि प्रत्यय का स्थान निश्चित कर देना चाहिए, अन्यथा वे कभी शब्दों के आदि में कभी मध्य में और कभी अन्त में होने लगेंगे तो वे इस बात की पुष्टि के लिए एक सुपरिचित उदाहरण अवश्य देंगे। जैसे गाय का बछड़ा कभी माँ के आगे कभी पीछे और कभी पार्श्व में चलता है।[1] ऐसे उदाहरणों के सहारे भाष्य में अनेक परिभाषाएँ और नियम स्थिर किये गये हैं। यथा—

---

१ ३-१-२, पृ० ९।

१

(१) संनियोग-शिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः ।[1]

साथ-साथ रहने वालों में एक के न रहने पर दूसरा भी नहीं रहता। जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त को मिलकर कोई काम करना है। यदि देवदत्त नहीं करेगा तो यज्ञदत्त भी नहीं करेगा।

(२) सामान्येऽतिदिश्यमाने विशेषोऽनतिदिष्टो भवति ।[2]

सामान्य का अतिदेश करने पर विशिष्ट का अतिदेश नहीं होता। जैसे इस क्षत्रिय के प्रति ब्राह्मणवत् व्यवहार करना चाहिए, ऐसा कहने पर उसके प्रति वे व्यवहार किये जाते हैं, जो सामान्य ब्राह्मण के योग्य होते हैं। माठर, कौण्डिन्य आदि विशेष ब्राह्मणों के प्रति किये जाने योग्य व्यवहार का अधिकारी वह नहीं होता।

(३) अभेदका अपि गुणा दृश्यन्ते ।[3]

गुणवाचक शब्द अव्यवच्छेदक होते हैं। जैसे एक देवदत्त जटा रखने पर केश मुँड़ा लेने पर या शिखा रखने पर भी अपनी आख्या नहीं छोड़ता।

शब्दों के अनेक अर्थों तथा परस्पर समान दिखनेवाले शब्दों के अर्थ भेद पर भी भाष्यकार ने प्रसगानुसार विचार किया है, जिससे पता चलता है कि शब्दों के वैज्ञानिक प्रयोग के विषय में वे कितने सतर्क थे। भाष्य से विदित होता है कि (१) नित्य शब्द स्थिर रहनेवाले पदार्थों के लिए व्यवहृत होता है (जैसे नित्या पृथ्वी नित्य आकाश) और आभीक्ष्ण्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है (जैसे नित्य प्रहसित नित्य प्रजल्पित)। (२) जाति और वीप्सा में अन्तर है। जाति एकार्थाश्रया है और वीप्सा अनेकार्थाश्रया।[4] (३) ग्राम शब्द के अनेक अर्थ हैं। शाला समुदाय अर्थ में 'ग्रामो दग्धः' वाट-परिक्षेप अर्थ में 'ग्राम प्रविष्टः' मनुष्यों के अर्थ में 'ग्रामो गतः' और सारण्य सक्षीमक सस्थण्डिलक स्थान के अर्थ में 'ग्रामो लब्धः' प्रयोग देखा जाता है।[5] (४) आदि उसे कहते हैं जिसके विद्यमान रहने पर उसके बाद कुछ अवश्य हो किन्तु पहले कुछ न हो और अन्त उसे कहते हैं। जिसके विद्यमान रहने पर उसके पहले कुछ अवश्य हो किन्तु बाद में न हो। (५) कुत्सन और भर्त्सन में अन्तर है। कुत्सन असूयाजन्य होता है और भर्त्सन क्रोध-जन्य। (६) आशंसा और संभावना में भी अन्तर है। जिस वस्तु की आशंसा की जाती है, उसका स्वरूप मन में निश्चित रहता है। किन्तु, उसका मिलना शक्य भी हो सकता है अशक्य भी। जिस वस्तु की संभावना की जाती है उसका स्वरूप मन में निश्चित रहता है और उसकी प्राप्ति भी संभव रहती है।[6] ये दोनों भविष्यत्काल से सम्बन्ध रखती हैं। संभावना एक प्रकार से आशंसा की अवयवभूता है। (७) विधि और अभीष्ट में भी भेद है। विधि प्रेषण या आज्ञा देने को कहते हैं और अभीष्ट बड़े लोगों को सत्कार-पूर्वक कोई काम करने को

---

१ ४।१।३६, पृ० ५४ ।
२ ६।१।६८, पृ० १७५ ।
३ १।१।१ पृ० १०५ ।
४ आ० १ पृ० १४ ।
५. ८।१।४, पृ० ९६६ ।
६. १।१।३७, पृ० १५५ ।
७. १।१।२१, पृ० १९९ ।
८. ८।१-८, पृ० २७० ।
९. ३-३।१३३, पृ० ३२३ ।

कहने का नाम है। (८) निमन्त्रण सन्निहित को बुलाने और आमन्त्रण दूरस्थ को बुलाने के लिए प्रयुक्त होता है। निमन्त्रण नियोगतः (आवश्यक) स्वीकार्य है और आमन्त्रण स्वेच्छापूर्वक।[1] (९) पर शब्द के अनेक अर्थ हैं। व्यवस्था अर्थ में 'पूर्व पर' आदि अन्यार्थ में परपुत्र, परभार्या और प्राधान्य अर्थ में 'परमियं ब्राह्मणी अस्मिन् कुटुम्बे' और इष्ट अर्थ में 'परं धाम गतः' प्रयोग प्रचलित हैं। (१०) इसी प्रकार एक शब्द भी बह्वर्थक है। संख्यावाची तो विदित ही है। असहाय अर्थ में 'एकाग्निः, एकानिमिः क्षुद्रकैर्जितम्' और अन्य अर्थ में 'सधर्माणो युग्न एकास्ता' प्रयोग प्रसिद्ध है।[2] (११) अवयवशः आख्यान का नाम व्याख्यान है। (१२) वृष और वृषन्, ब्रह्मन और ब्राह्मण पर्याय हैं।[3] (१३) भोग शब्द शरीर-वाची भी है। (१४) पूर्वपुरुषों के निवासस्थान को अभिजन और अपने निवास-स्थान को निवास कहना चाहिए आदि।

महाभाष्य की मौलिक देन—व्याकरण के क्षेत्र में महाभाष्य की मौलिक देन सर्वोपरि है। शुष्क सिद्धान्तों को लोकाश्रय भाषाविज्ञान या लोक-व्यवहार के आधार पर सब-बुद्धि-गम्य बना देने का श्रेय तो उस (महाभाष्य को) है ही मौलिक विचारों का समावेश कर व्याकरण को दर्शन का स्वरूप प्रदान करने का गौरव भी उसे प्राप्त है। महाभाष्य के प्रारम्भ में ही शब्द की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि लोक में उस ध्वनि को शब्द कहते हैं जिससे व्यवहार में पदार्थ का ज्ञान हो। ध्वनि करनेवाले बालक को लोग 'शब्दकारी' कहते हैं। इसलिए, ध्वनि ही शब्द है। यह ध्वनि वास्तव में स्फोट की दर्शक है। शब्द नित्य है और अर्थ उस नित्य शब्द का ही होता है। इस नित्य शब्द की ही स्फोट संज्ञा है। स्फोट की न उत्पत्ति होती है और न नाश। बोलते समय ध्वनि द्वारा उस नित्य स्फोट-रूपी शब्द का प्रकाशनमात्र होता है और वही श्रोता के मन में अपना अर्थबोध कराता है।[8] इस दृष्टि से शब्द के दो भेद किये जा सकते हैं—नित्य और कार्य। स्फोट-रूपी शब्द नित्य और ध्वनि-रूपी शब्द कार्य या उत्पाद्य होता है।[9] संग्रहकार व्याडि ने इस विषय पर विशद विवेचन किया था और व्याकरण में शब्द-निष्पत्ति की दृष्टि से उसके नित्यत्व और कार्यत्व दोनों पक्षों का स्वीकार किया था। पाणिनि ने भी इन दोनों मतों का समन्वय कर सूत्र-रचना की थी। भाष्यकार ने भी स्फोट और ध्वनि इन शब्दों के दो स्वरूप स्वीकार किये और शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना।[11]

---

१ १ १ ११६, पृ० ३३५।
२ १ ४२ पृ० ३३४।
३ १ ४-२१, पृ० १५०।
४ ४-३-९९, पृ० २१९।
५ ५ १-७, पृ० २९९।
६. ५ १ ९, पृ० ३००।
७. ४-३-९०, पृ० २४४।

८. अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्दं कुरु मा शब्दं कार्षीः शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते।—भा० १, पृ० २।

९. द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च।—भा० १ पृ० ७।

१० किं पुनराकृतिः पदार्थ आहो उभयमपि लक्षणं प्रवर्त्यम्।—भा० १ पृ० १३।

११ भा० १, पृ० १७।

शब्द के नित्य होने के कारण ही वर्ण भी कूटस्थ अविचाली तथा अपाय उपजन और विकार से रहित है। यद्यपि एक शब्द का प्रथम और द्वितीय प्रकार भिन्न है। काल-व्यवधान और शब्द व्यवसाय [redacted] कारण भिन्न-भिन्न दिखनेवाले वर्ण एकात्म होकर भी भिन्न हैं। एकात्म शब्द में व्यवसाय औपाधिक भले हों वास्तविक नहीं हो सकता। इसीलिए, आगम के कारण शब्द में विकार आता देखकर भाष्यकार ने आगम को भी आदेश माना और सम्पूर्ण शब्द के स्थान में सम्पूर्ण शब्दान्तर को आदेश स्वीकार किया।[1] 'सर्वे सर्वपदादेशा' का सिद्धान्त इसी तथ्य पर आधृत है अन्यथा एक-देश-विकार के कारण शब्द की नित्यता नहीं ठहर सकती थी।[2] जिस प्रकार शीघ्र उड़नेवाले पक्षी एक क्षण में एक स्थान पर और दूसरे क्षण में अन्य स्थान पर दिखाई देते हैं अथवा जिस प्रकार एक सूर्य अनेकाधिकरणस्थ होने के कारण एक साथ पृथक-पृथक स्थानों पर दिखाई देता है, उस प्रकार एक वर्ण स्थान-भेद के कारण भिन्न नहीं होता। वास्तव में शब्द श्रोत्र द्वारा प्राप्त किया जानेवाला बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जानेवाला ध्वनि द्वारा प्रकाशित होनेवाला और आकाश में रहनेवाला विशिष्ट तत्त्व है। आकाश के एक होने के कारण शब्द ही एक है, किन्तु आकाश-देशों के अनेक होने के कारण वर्ण अनेक हैं।[3] व्यावहारिक दृष्टि से शब्द चार प्रकार के होते हैं—जाति-शब्द गुण-शब्द क्रिया-शब्द और यदृच्छा-शब्द। यदृच्छा शब्दों का अन्तर्भाव क्रिया-शब्दों में मान लिया जाय तो तीन ही प्रकार के शब्द रह जाते हैं।[4] किन्तु, यह बात उन्हीं आचार्यों के मत में संगत हो सकती है, जो प्रत्येक शब्द को आख्यातज मानते हैं। ऐसे ही शब्दों की निष्पत्ति के लिए पाणिनि को उणादि प्रत्ययों की कल्पना करनी पड़ी। भाष्यकार ने इन्हें अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना है।[5] शब्द या स्फोट को नित्य मानकर ही उन्होंने अक्षर को 'नष्ट न होनेवाला' अथवा 'व्याप्त करनेवाला' कहा है। अक्षर को पूर्वाचार्यों ने अपने सूत्रों में वर्ण संज्ञा दी है।[6] नित्यत्व और व्यापकत्व की दृष्टि से ही शब्द ब्रह्म कहा जाता है। अक्षर-समाम्नाय ही ब्रह्मराशि है। उसी पर सारा वाक्-समाम्नाय अवलम्बित है। यह अक्षर समाम्नाय-रूपी ब्रह्मराशि शब्द-शास्त्र के ज्ञान से पुष्पित और साधु शब्दों के प्रयोग से फलित होती है और चन्द्र तथा तारों के समान अनादि काल से भास्वर चली आती है। इसके ज्ञान से सर्ववेद-पुण्य-फल की प्राप्ति होती है।[7] इसीलिए, भाष्यकार के मत से एक भी शास्त्र-सम्मत

---

१ तत्र शब्दान्तराच्छब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता। आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्त्यनागमकानां सागमकाः।—१ १-२०, पृ० १९६।

२ सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥ (वही)।

३ नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः।—भा०; श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः एकं च पुनराकाशम्। आकाशदेशा अपि बहवः यावता बहुत्वात्तस्मात्सर्वमप्यमकारस्य।—भा० १, पृ० ४२।

४ भा० २ पृ० ६५, ६७।

५. उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि।—७-१-८, पृ० १०६।

६. न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरम्। अश्नुते इत्यक्षरम् अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति

शब्द का सम्यक् ज्ञान और सुष्ठु प्रयोग स्वर्ग और लोक में कामधुक होता है।[1] शब्द के नित्य होने पर व्याकरण-शास्त्र की उपयोगिता 'नियामक' होने में है। यह अनिष्ट और इष्ट का नियमन करता है।[2] नैयायिकों के अनुसार जो शब्द को अनित्य मानते हैं, व्याकरण का लक्ष्य शब्द-सिद्धि है।

स्फोट वर्ण नित्य हैं। वे उत्पन्न नहीं होते, व्यंजक ध्वनि के उच्चारण से अभिव्यक्त होते हैं। ध्वनि-रूप वर्ण का प्रध्वंस होता है। इसी दृष्टि से वाणी एकैकवर्णवर्तिनी कही जाती है क्योंकि वह अग्रिम वर्ण बोलते समय प्रथम का त्याग कर देती है और वह प्रध्वस्त हो जाता है।[3] उच्चारण द्रुत विलम्बित और मध्य वृत्तियों के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं। द्रुतवृत्ति से उच्चारित वर्ण का उच्चारण यदि मध्यम वृत्ति से किया जाय तो उसमें एक तिहाई समय अधिक लगता है। इसी प्रकार, यदि मध्यम वृत्ति से उच्चारित वर्ण का विलम्बित वृत्ति से बोला जाय तो भी एक तिहाई समय अधिक लगेगा फिर भी तीनों स्थितियों में वर्ण का स्वरूप एक ही रहता है। उच्चारण के भेद से उत्पन्न अन्तर ऐसा ही है जैसे एक ही मार्ग को पदाति देर में पार करता है, आश्विक उससे कम समय में और रथिक उससे भी कम समय में। उच्चारण-क्रिया से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि नित्य शब्द की व्यंजक है। स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण। जैसे कोई नगाड़ा बजानेवाला नगाड़े पर चोट मारकर आगे चलता हुआ बीस कदम तक उस नगाड़े की ध्वनि सुन सकता है। किसी को तीस कदम चलने तक नगाड़े की ध्वनि सुनाई देती रहती है और किसी को चालीस कदम तक। स्फोट तीनों स्थितियों में समान होता है, अन्तर उसकी ध्वनि में होता है। इसी प्रकार शब्द का स्वरूप एक रहता है। ध्वनि भेद से द्रुत विलम्बित और मध्य वृत्तियों में भेद प्रतीत होता है।[5]

पाणिनि के समय से ही शब्द की नित्यता और कार्यता को लेकर विचारकों में दो दल हो गये थे। भाष्यकार ने ४ ४ १ सूत्र के भाष्य में नैत्य शाब्दिक और कार्य शाब्दिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने अपनी सामान्य समन्वयवादिनी नीति के अनुसार दोनों पक्षों को स्वीकार किया। व्याडि और पतंजलि ने दोनों पक्षों को दार्शनिकता की कोटि तक पहुँचाकर उनके सामंजस्य का उपर्युक्त मार्ग ढूंढ निकाला। व्यावहारिक रूप से भी उन्होंने इस प्रकार शब्द निष्पत्ति की जो दोनों पक्षों को ग्राह्य हो सके[6]। तदनुसार ही उन्होंने वर्णों के अर्थवत्त्व और निरर्थकत्व के विषय में भी दोनों पक्षों का समर्थन किया। वर्ण अर्थवान् है। एक वर्णवाची

देशा क्रियते। सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः।—भा० २ पृ० ११।

१ ६-१-८४, पृ० ११९।
३ ६-१-५९, पृ० ३३९।
२ १ १ १, पृ० १०२।
४ १ १-७०, पृ० ४४४।

५ स्फोटः शब्दो ध्वनिः शब्दगुणः। कथम् भेर्याघातवत्—स्फोटस्य तावानेव ध्वनिकृता वृद्धिः। ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः।—१ १-७०, पृ० ४४५।

६ १ १ ४४, पृ० २६० से।

धातुएँ, प्रातिपदिक प्रत्यय तथा निपात सार्थक होते हैं। शब्दों में वर्ण-व्यत्यय से अर्थ बदल जाता है। कूप सूप और यूप के अर्थ में अन्तर क, स् और य् के अन्तर के कारण ही तो है। वृ के निकाल देने पर शब्द का यह अर्थ नहीं रह जाता। वृक्ष में से वृ निकाल देने पर 'क्ष' से यह अर्थ उपलब्ध नहीं होता। वृक्ष का अर्थ ही पूर्णतया नष्ट हो जाता है। अनेक वर्णों का संघात सार्थक होता है और जिनका संघात सार्थक होता है उनके अवयव भी सार्थक होते हैं। इसी प्रकार, जिनके अवयव निरर्थक होते हैं उनका संघात भी निरर्थक होता है। एक अन्धा नहीं देख सकता तो सैकड़ों अन्धे भी मिलकर नहीं देख सकते। यही स्थिति बालुका-कणों की है। चक्षुष्मान् अकेला देख सकता है तो उनका समुदाय देख भी सकता है। तिल अकेला तैलवान् होता है और उनका समूह भी। दूसरी ओर वर्ण अनर्थक भी पाये जाते हैं। उनमें प्रतिवर्ण से अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। वर्ण के व्यत्यय अपाय उपजन और विकार होने पर भी शब्दों के अर्थ में अन्तर नहीं आता। कृत् कस् और हिंस् धातुओं और उनसे बने तर्कु, सिकता और सिंह शब्दों के अर्थ में वर्ण-व्यत्यय होने पर भी अन्तर नहीं पड़ता। घ्नन्ति में वर्ण-लोप 'कमिता' में वर्णागम और 'घातक' म वर्ण विकार होने पर भी अर्थ में विकार नहीं आता। इससे स्पष्ट है कि वर्ण सार्थक भी होते हैं और निरर्थक भी। जिस प्रकार कई विद्यार्थी गुरु के पास अध्ययन करते हैं उनमें कुछ फलवान् होते हैं और कुछ अफल। इसी प्रकार, कुछ वर्ण सार्थक और कुछ निरर्थक होते हैं।[1]

पतंजलि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानते हैं और शब्द में अर्थाभिधान की शक्ति स्वाभाविक है, यह भी स्वीकार करते हैं[2] क्योंकि लोक में एक-एक अर्थ को लेकर उसके लिए शब्द का प्रयोग देखा जाता है।[3]

भाष्यकार ने पद के चार अर्थ माने हैं—गुण क्रिया आकृति और द्रव्य। आकृति को ही जाति कहते हैं जो द्रव्य के भिन्न या छिन्न होने पर भिन्न या छिन्न नहीं होती। यह सामान्यभूत पदार्थ है और नित्य है। एक द्रव्य म उपरत होने पर भी वह अन्य द्रव्यों में बनी रहती है। यद्यपि ध्रुव कूटस्थ अविचाली अनपायोपजनविकारी अनुत्पत्त्यवृद्धव्ययायोगि यह नित्य की परिभाषा आकृति में घटित नहीं होती क्योंकि पिण्डरूप मृत्तिका की पिण्डाकृति को मिटाकर घटिका बनाई जाती है एवं घटिकाकृति को मिटाकर कुण्डिका। उसी प्रकार, सुवर्ण की पिण्डाकृति को मिटाकर रुचक बनाये जाते हैं रुचकाकृति को मिटाकर कटक, कटकाकृति को मिटाकर स्वस्तिक और उसको मिटाकर कुण्डल बनाते हैं। इस प्रकार, आकृति बदलती रहती है किन्तु द्रव्य नहीं रहता है। इसलिए जिसमें तत्त्व या तद्भाव नष्ट न हो उसे भी नित्य

---

१ भा० २ माहे० सू० ५, पृ० ७५-८१।

२ स्वाभाविकमभिधानम्।—१ २ ६४ पृ० ५८६।

३ भा० १ पृ० १७।

४ यर्तीह तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः ? नेत्याह आकृतिर्नाम सा— भा० १, पृ० १।

मानना चाहिए। आकृति या जाति में भी तत्त्व तो बना ही रहता है।[1] गुण और क्रिया द्रव्य में ही रहती है। अतः मुख्य रूप से जाति या व्यक्ति (द्रव्य) में पदार्थ किसे मानना चाहिए, इस विषय में वैयाकरणों के भिन्न मत थे। व्याडि द्रव्याभिधानवादी थे।[2] द्रव्याभिधानवादियों का कहना था कि प्रत्येक अर्थ (द्रव्य) के लिए शब्द नियत है। अतः प्रत्यर्थं (प्रत्येक अर्थ के लिए) शब्दाभिनिवेश होता है। इसलिए, एक शब्द से अनेक द्रव्यों का अभिधान सम्भव नहीं है[3]। द्रव्य पदार्थ मानने से ही शब्दों के भिन्न-वचन सिद्ध होते हैं। आकृति अर्थ मानने पर 'गो पशु को बाँधना चाहिए' यह वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा। द्रव्य पदार्थ मानने से विशिष्ट गो बाँधी जा सकती है। इसके अतिरिक्त कोई भी एक (उदाहरणार्थ देवदत्त) एक साथ अनेकाधिकरणस्थ नहीं हो सकता। फिर जाति एक होकर एक साथ अनेक स्थानों में कैसे रह सकती है। उत्पत्ति और विनाश के प्रसंग में भी आकृति अर्थ उपयुक्त नहीं हो सकता। एक या दो गौ के उत्पन्न और विनष्ट होने से सारे स्थान की गो-जाति को एक साथ उत्पन्न या नष्ट होते नहीं देखा जाता। एक जाति के अनेक व्यक्तियों में वैरूप्य भी देखा जाता है। कोई बैल खण्ड होता है और कोई मुण्ड।[4] जाति किसी श्रेणी के सब द्रव्यों को मिलाकर एक होती है और उसका आश्रय उसका अभिव्यंजक या प्रकाशक होता है। अर्थात् सब आश्रयभूत व्यक्ति उसका प्रकाशन करते हैं। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति के नष्ट होने पर उसका प्रकाशन बन्द हो जाना चाहिए और एक भी व्यक्ति के उत्पन्न होने पर उस जाति की उत्पत्ति मानी जानी चाहिए। गोत्व जाति के प्रकाशन के लिए अतीत अनागत और वर्तमान के अनन्त गो व्यक्तियों का होना आवश्यक होगा। इस प्रकार सारा संसार गो-व्यक्तियों से ही भर जायगा।

आचार्य वाजप्यायन जातिवादी थे। वे एक आकृति का अभिधान स्वाभाविक मानते थे। उनका कथन था कि गो कहने पर शुक्ल नील पीत आदि विशिष्ट रंग की गाय मन में नहीं आती। सब गो-समूह के विषय में एक-सी बुद्धि बनती है। इसीलिए यदि किसी को किसी विशिष्ट स्थान और काल में एक गाय दिखा दी जाय तो वह अन्य देश काल और वयोऽवस्था में अन्य गो को देखकर उसे गो ही समझ लेता है। इसीलिए, जब कहा जाता है कि ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए या सुरा नहीं पीनी चाहिए, तो किसी भी ब्राह्मण का वध और किसी भी सुरा का पान निषिद्ध माना जाता है। यदि पदार्थ द्रव्य होता तो एक ब्राह्मण को न मारकर और एक सुरा को न पीकर काम चलाया जा सकता था। शब्द से यदि व्यक्ति का बोध हुआ तो जाति का बोध नहीं होगा और जब शब्द की शक्ति एक व्यक्ति का बोध कराकर क्षीण हो जायगी अन्य व्यक्तियों का बोध उससे न हो सकेगा।[5]

---

१ भा० १ पृ० १७।

२ द्रव्याभिधानं व्याडिराचार्यो न्याय्यं मन्यते—द्रव्यमभिधीयते इति।—१-२-६४ भा० ४५, पृ० ५९०।

३ प्रत्यर्थं शब्दनिवेशादेतस्मात् कारणादेकेन शब्देनानेकस्यार्थस्याभिधानं प्राप्नोति—वही, भा० १, पृ० ५६५।

४ वही, भा० ४६ से ५०, पृ० ५९०-९१।

५ १-२ ६४, भा० ३५ से ४०, पृ० ५८६ से ८८।

भाष्यकार ने दोनों पक्षों पर सविस्तार प्रकाश डाला है और दोनों का औचित्य स्वीकार किया है। उनके मत से पाणिनि भी दोनों पक्षों को स्वीकार करते थे।[१] पतंजलि के मत से शब्द न केवल जाति और न केवल व्यक्ति का अपितु जाति और व्यक्ति दोनों का निर्देशक है। उसमें कभी जाति और कभी व्यक्ति अर्थ का प्राधान्य रहता है। जब व्यक्ति अर्थप्रधान रहता है तब जाति गौण हो जाती है और बहुवचनादि का प्रयोग संगत होता है। जब जाति प्रधान होती है और व्यक्ति अप्रधान तब शब्द में एकवचन का प्रयोग न्याय्य माना जाता है। इस प्रकार, 'सम्पन्नो यव' और 'सम्पन्ना यवाः' दोनों प्रयोग साधु माने जाते हैं।[२]

महत्त्वार्थ और अमहत्त्वार्थावृत्ति अन्वय-व्यतिरेक सत्ता और संज्ञी गुणों का भेदकत्वाभेदकत्व काल-विभाग क्रिया जाति गुण द्रव्य आदि के विषय में विचार करते समय भी पतंजलि ने अनेक मौलिक विचार प्रकट किये हैं। शब्दों के प्रयोग वाक्य में शब्दों का स्थान सामर्थ्य शब्दों के नियतविषयत्वादि के सम्बन्ध में उनके द्वारा व्यक्त विचार किसी भी भाषा पर लागू होते हैं। उनके मत से लिंग का अनुशासन व्याकरण नहीं कर सकता। वह सर्वथा लोकाश्रित होता है।[३] यही बात शब्द प्रयोग के विषय में है। व्याकरण का काम व्यवस्था करना है। वह संस्कार कर पदों को व्यवहार के योग्य बतला देता है। लोक एक पद का दूसरे पद के साथ यथेष्ट सम्बन्ध जोड़कर प्रयोग करता है।[४] पद की शुद्धि से व्याकरण का सम्बन्ध है। प्रयोग लोक का अधिकार है। उदाहरणार्थ प्लक्ष और न्यग्रोध को लें। अर्थ की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। प्लक्ष न्यग्रोध है और न्यग्रोध प्लक्ष। फिर भी लोक में ये दोनों दो अलग वृक्षों के लिए व्यवहृत होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'कारणाद् द्रव्ये शब्द निवेशः' की अपेक्षा 'दर्शनं हेतुः' का सिद्धान्त अधिक ठीक है। वास्तव में शब्द 'नियतविषय' होते हैं। उदाहरणार्थ गाय और अश्व दोनों का रंग लाल होने पर भी गाय को लोहित कहा जाता है और अश्व को शोण समान रूप से काला रंग होने पर भी गौ कृष्ण और अश्व हेम कहलाता है। इसी प्रकार, तुल्य रूप से शुक्ल वर्ण होने पर भी गौ श्वेत कही जाती है और अश्व कर्क।[५] यह भी देखा जाता है कि लोग सुविधा के लिए पूर्ण वाक्य के स्थान पर वाक्य के एकदेश और पूर्ण शब्द के स्थान पर शब्द के एक देश से ही काम चला लेते हैं। विवक्षा के अनुसार एक देश या सम्पूर्ण का प्रयोग होता है। विवक्षा दो प्रकार की होती है—प्रायोवती और लौकिकी। प्रायोवती विवक्षा वह है, जिसमें वक्ता मृदु, स्निग्ध और श्लक्ष्ण वाणी से स्वयं मृदु, स्निग्ध और श्लक्ष्ण शब्दों द्वारा कोई बात कहे। लौकिकी विवक्षा प्राय: सामान्य लोगों में प्रचलित ढंग की

---

१ भा० १ पृ० १३।

२ जात्यभिधाने हि द्रव्यमप्यभिधीयते जातिरपि—यदा द्रव्याभिधानं तदा बहुवचनं भविष्यति यदा सामान्याभिधानं तदैकवचनं भविष्यति।—१-२-५८, पृ० ५५१।

३ २ १ ३६, पृ० ४९३

४ शास्त्रेण नाम व्यवस्थाकारिणा भवितव्यम्।—१-१ ९१, पृ० १६४।

५ संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते तेषां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति।—१ १ १,पृ० ९८।

६. २-२-२६, वा० १० से [redacted] पृ० ३८४।

कहते हैं। लोक और प्राय समानार्थी समझने चाहिए।[1] जो भी शब्द बोला जाय वह स्वयं में पूर्ण होना चाहिए क्योंकि सापेक्ष वाक्य अर्थ-व्यक्ति में असमर्थ होता है।[2]

पतंजलि अपनी अद्वितीय प्रतिभा और विद्वत्ता के बल से शीघ्र ही आचार्य-परम्परा में सर्वाधिक प्रमाण मान लिए गये। व्याकरण-शास्त्र में महाभाष्य का स्थान सर्वोच्च बन गया और न केवल महाभाष्य-विरोधी अपितु महाभाष्यानुक्त तक अप्रामाण्य की कोटि में गिना जाने लगा। इसीलिए, उन्होंने 'इष्यत एवैतत्संगृहीतं भवति' कहकर जिन पाणिनि-कात्यायनानुक्त बातों को ग्राह्य कह दिया वे तो ग्राह्य हो गईं[3] किन्तु जिन बातों को न कह सके और परवर्ती वैयाकरणों ने संगृहीत कर लिया वे ग्राह्य न बन पाईं। उदाहरणार्थ काशिकाकार ने बहुव्रीहि स्त्रीलिंग में जो मृदंगी मृदंगा सुगात्री सुगात्रा स्निग्धकण्ठी स्निग्धकण्ठा ये दोनों रूप माने थे उन्हें भट्टोजिदीक्षित आदि ने 'भाष्यानुक्त' कहकर अस्वीकार कर दिया।[4] इसी प्रकार, काशिकाकार ने मुनित्रय द्वारा अनुक्त किन्तु काव्यों में प्रयुक्त शब्दों के लिए जो नवीन वचन दिये उन्हें भी कैयटादि ने भाष्यानुक्त होने के कारण अप्रमाण ठहरा दिया।[5]

महाभाष्यकार पतंजलि

जीवन-चरित—महाभाष्यकार पतंजलि के जीवन के विषय में प्रमाणित सामग्री उपलब्ध नहीं है। रामभद्र दीक्षित के 'पतंजलि-चरित' के अनुसार वे शेष के अवतार थे। एक बार भगवान् विष्णु शिव के ताण्डव नृत्य को अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखते देखते ध्यान-मग्न हो गये। उनके स्थिर भार से शेषनाग को अत्यन्त श्रम हुआ। ध्यान टूटने पर शेष ने विष्णु से उनके अपूर्व सुखभार का कारण पूछा। विष्णु द्वारा मनोरम वर्णन सुनकर शेष के मन में भी ताण्डव देखने की इच्छा जागरित हुई। शेष के प्रार्थना करने पर विष्णु ने आशीर्वाद दिया कि भगवान् नीलकण्ठ की कृपा से पाणिनि ने व्याकरण-शास्त्र तथा कात्यायन ने उस पर वार्तिकों की रचना की है। वे वार्तिक अत्यन्त कठिन हैं। नीलकण्ठ भगवान् तुम्हें उन वार्तिकों का भाष्य करने की आज्ञा देंगे। तब तुम उनकी आज्ञा से भूतल पर अवतार लेकर चिदम्बर-क्षेत्र को जाओगे और वहाँ शिव-नृत्य का दर्शन करोगे।[6]

तदनुसार, पृथ्वीतल पर योग्य माता की चिन्ता में घूमते हुए एक तपोवन में शेष ने गोणिका नाम की मुनि-कन्या को देखा जो पुत्र प्राप्ति की कामना से अखण्ड तप में संलग्न थी।

---

१ ५.१.१६, पृ० ३०६।

२ सापेक्षमसमर्थं भवति।—१.१.११९, पृ० ३५९।

३ २-४-७४, ४.१-७४, ४.१-८७ आदि।

४ यथा ईदूदेद्द्विवचनंप्रगृह्यम्, १.१.११ पर अमीवादीनां प्रतिषेधोवक्तव्यः।

५ भाष्यवार्तिककाराभ्यामपठितत्वादप्रमाणमेतत्।—कैयट।

६ गोणिका तेषां मुनिवार्तिककारामभेद्यविदुषामनुग्रहाणाम्।—
भाष्यं महत् कुर्विति भक्तरक्षी नियोक्ष्यते त्वां शितिकण्ठः॥
तदा नियोगात्तस्य त्वमुर्वीतलेऽवतीर्य विहितावतारः।
चिदम्बरक्षेत्रगतः पवित्रं नवोत्सवं द्रक्ष्यसि नृत्तमेतम्॥—पत० चरित, १-६३, ६४।

उसे देखकर शेष ने मन में उसे मातृरूप में स्वीकार कर लिया। और, एक दिन जब वह भगवान् अंशुमाली को अर्घ्य दे रही थी वे तापस का रूप धारण कर उसकी अंजलि से नीचे गिर पड़े।[1] और फिर, ज्यों ही प्रणाम के लिए माता के चरणों पर झुके कि उसने उठाकर कहा—तुम मेरी अंजलि से नीचे गिरे हो अतः तुम्हारा नाम पतञ्जलि होगा।[2] पतंजलि बाल्यावस्था में ही तप के लिए चल दिये और अपनी अखण्ड तपस्या से शिव को प्रसन्न कर उन्होंने चिदम्बर-तीर्थ में शिव-नृत्य देखा। यहीं शिव ने उन्हें पदशास्त्र वार्तिकों का भाष्य करने का आदेश दिया। तदनुसार, पतंजलि ने कात्यायन के वार्तिकों का भाष्य किया। यह भाष्य इतना प्रसिद्ध हुआ कि सहस्रों की संख्या में पण्डित लोग उनके पास अध्ययन के लिए आने लगे। पतंजलि अपने और शिष्यों के बीच एक मोटा परदा डालकर अपने शरीर को गुप्त रखते हुए उन सबको एक साथ पढ़ाने लगे।[3] वे फणिपति रूप में सहस्र मुखों से एक साथ पढ़ाते थे। इसलिए, उन्होंने शिष्यों से कह दिया कि जो कोई इस परदे को उठाकर भीतर झाँकेगा वह मेरा अप्रसाद-भाजन होगा। वे वार्तिकों में कुछ को कम करते हुए, कुछ को यथावत् ग्रहण करते हुए और कुछ को व्याख्या द्वारा और समुज्ज्वल बनाते हुए पढ़ाने लगे।[4] एक बार छात्रों से न रहा गया। वे इस बात का रहस्य जानने को आतुर हो उठे कि ये प्रत्येक छात्र को एक ही काल में अलग-अलग कैसे पढ़ाते हैं और बलुकुतावश उन्होंने परदा उठा दिया। परदा उठाते ही वे शेष रूप के तेज से दग्ध होकर कामदेव-जैसी दशा को प्राप्त हुए। केवल एक विद्यार्थी जो बाहर जल लेने गया था बच रहा। उसे भी बिना आज्ञा बाहर जाने के कारण ऋषि ने राक्षस-शरीर पाने का शाप दिया किन्तु पश्चात् अनुनय से प्रसन्न होकर कहा कि तुम्हें जो विद्वान् मिले उनसे पच् धातु का निष्ठा-प्रत्यय में रूप पूछना और जो विद्वान् शुद्ध उत्तर दे उसे मेरा महाभाष्य पढ़ाना। तब तुम शाप से मुक्त हो जाओगे। इसके बाद पतंजलि वहाँ से तिरोहित हो गये और फिर उन्होंने योगसूत्र एवं वैद्यक-शास्त्र पर वार्तिकों की रचना की। पश्चात् उन्होंने गोनर्द देश में जाकर जननी (गोणिका) को प्रणाम किया और उसके स्वर्गस्थ हो जाने पर वे शेष रूप को प्राप्त हो गये।[5]

---

१ तत्र काऽपि वधूटी मुनिकन्या गोणिकेति गुणसिन्धुरनेन। सा हि मायमति पुत्रनिमित्तं दारुणेन तपसा दिनतानि। सम्भृताम्बु करसम्पुटाञ्जलिमुख्य सा सहस्रकिरणं प्रति देवम्। यावदुत्तिष्ठति तावदमुष्मात्तापसाकृतिरहिः संपपात।—वही ९-७-११।

२ स तदाभिवन्दितुं प्रणतं प्राह् मातरस्य जननी भिततान। मत्पतत्प्रणवमञ्जलितोऽसौ तत्पतञ्जलिरिति प्रथिमानम्।—वही ९-१९।

३ ततन् यवनिको वितत्य पुरः वपुरलमा च पतञ्जलिर्निपाय उपविश्य बहिस्तिरस्करिण्याः पठत हृति च ममेति तानुवाच।—वही ५-५।

४ किमपि विघटयन् किमप्यनुगृह्णन् किमपि समुज्ज्वलयंश्च वार्तिकेषु—वही ५ १२।

५ सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्तिकानि ततः कृत्वा पतञ्जलिमुनिः। प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम्। गोनर्दाख्यं देशं प्राप्य नमस्कृत्य गोणिकां जननीम् तस्यां त्रिदिवप्राप्तायां तत्रौ शेषः स्वयं स मुनिः।—वही, ५ २५, २६।

पतंजलि चरित काव्य है। अतः, स्वाभाविक है कि उसका कथानक कल्पनाओं पर आश्रित हो फिर भी इससे इतना स्पष्ट होता है कि पतंजलि की माता का नाम गोणिका था और वे गोनर्द के निवासी थे। वे चिदम्बरम् में भी रहे और वहीं उन्होंने महाभाष्य की रचना की। भर्तृहरि का यह कथन कि महाभाष्य की प्रति केवल दाक्षिणात्य प्रदेश में ही बच रह गई थी भाष्य का दक्षिण भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य सूचित करता है यद्यपि इसमें यह भी संकेत निहित है कि भाष्यकार दक्षिण के नहीं थे।[1] संभव है, इस सुदूर प्रान्त में वे गोनर्दीय नाम से भी प्रख्यात रहे हों।

लघुभाष्य-विषयक किंवदन्ती—कुछ विद्वान् महाभाष्य को गोनर्दीय-विरचित लघुभाष्य का विस्तृत रूप मानते हैं। महाभाष्य का महान् शब्द सापेक्षिक है। इस मत के अनुसार गोनर्द देश में एक ऋषि ने शिष्यों को व्याकरण पढ़ाते हुए अष्टाध्यायी भाष्य की रचना की। यह लघुभाष्य था। इससे ऋषि के मन को समाधान नहीं हुआ। एक दिन सन्ध्या करते हुए उन ऋषि की अंजलि से एक बाल ऋषि गिरा जिसका अन्वर्थ नाम पतंजलि पड़ गया। पतंजलि ने मूल भाष्य में शास्त्रीय विवेचन अधिक जोड़कर उसे महाभाष्य नाम दे दिया। लघुभाष्य और महाभाष्य में मतभेद कहीं नहीं है। उसमें लघुभाष्य को पूर्णतः आत्मसात् कर लिया गया है। इसी कारण कालान्तर में लघुभाष्य निष्प्रयोजन होकर नष्ट हो गया। महाभाष्य में गोनर्दीय नाम से सर्वत्र लघुभाष्य के कर्ता का ही मत उद्धृत है। इस मत की पुष्टि में अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। महाभाष्य का 'उभयो भाष्ययो भाष्ये' कथन किसी अन्य भाष्य की ओर संकेत करता है क्योंकि कोई भी ग्रन्थकार पीछे कही हुई या आगे कही जानेवाली बात के लिए 'उक्तं पूर्वम्' या 'वक्ष्यते' निर्देश करता है।[3] प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम का उल्लेख कोई नहीं करता। इसी प्रकार, महाभाष्य में 'तास्यनुदात्तम्' (६ १ १८६) सूत्र के प्रसंग में 'वक्ष्यत्यस्य परिहारम्' कहा है और उसका परिहार 'आनेमुक्' (७-२-८२) सूत्र के भाष्य में दिया भी है। यहाँ भी वक्ष्यति क्रिया का कर्ता लघुभाष्यकार ही है अन्यथा 'वक्ष्यति' के स्थान पर 'वक्ष्यामि' प्रयोग किया जाता। लघुभाष्य का प्राप्त न होना उसके अनस्तित्व का प्रमाण नहीं माना जा सकता था क्योंकि अधिक उपयोगी ग्रन्थ की रचना के बाद पूर्व ग्रन्थ का प्रचार प्रायः बन्द हो जाता है। यह बात अन्य अनेक ग्रन्थों के बारे में पीछे कही जा चुकी है। महाभाष्य के प्रारम्भ में ही व्याकरणाध्ययन के लाभ बतलाते हुए कहा गया है कि 'तेभ्य एव विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्य सुहृद्भूत्वाऽऽचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे। इमानि प्रयोजनानि अध्येयं व्याकरणमिति।' इस वाक्य में आचार्य-पद लघु भाष्यकार गोनर्दीय के लिए प्रयुक्त हुआ है। पाणिनि के लिए यह विशेषण नहीं हो सकता क्योंकि अष्टाध्यायी में कहीं भी व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का उल्लेख नहीं है और पतंजलि

---

१ यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥—वाक्यपदीय २-४८८।

२ गोनर्दीयेन कस्यचिद् ऋषेरञ्जलेः सन्ध्याकरणसमये पतित इत्यैतिह्यात्।—नागोजिभट्ट लघुशब्देन्दुशेखर।

३ भाष्य १-१-१९ तथा १-४-६७।

स्वयं अपने लिए आचार्य विशेषण का प्रयोग करते कैसे? इससे स्पष्ट है कि महाभाष्य के पूर्व एक लघुभाष्य ग्रन्थ अवश्य विद्यमान था और उसका कर्ता गोनर्दीय था।[1]

क्या गोनर्दीय और गोणिका-पुत्र पतंजलि हैं—महाभाष्य में चार बार गोनर्दीय मत उद्धृत मिलता है। १ १ २१ सूत्र की व्याख्या में आदि और अन्त की 'अपूर्वलक्षण आदि-रनुत्तरलक्षणोऽन्त' इस परिभाषा में 'सति तस्मिन्नस्मिन्' यह जोड़ने का परामर्श देते हैं। १ १ २९ सूत्र के अन्तर्गत वे 'अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ' कहकर त्वकत्पितृक:, मकत्पितृक: प्रयोगों का समर्थन करते हैं। १ १ ५२ सूत्र में भाष्यकार ने 'काशकुटीकारम्' प्रयोग का समर्थन करते हुए 'इष्टमेवैतद्गोनर्दीयस्य' कहा है और ७-२ १०२ सूत्र के भाष्य में 'अतिजरम् अतिजरै:' रूपों के समर्थन में गोनर्दीय 'इष्टमेवैतत् संगृहीतं भवति' कहते हैं। उपर्युक्त चार स्थानों में से तृतीय में पतंजलि की ओर हल्का-सा संकेत मान कहा जा सके अन्यत्र कहीं गोनर्दीय से भाष्यकार की ओर संकेत नहीं है। तृतीय सूत्र में भी पतंजलि की अपेक्षा 'लघुभाष्य' का अस्तित्व अधिक ध्वनित होता है। १ ४-५२ के भाष्य में गोणिका-पुत्र का उल्लेख है, जहाँ वे 'भिताश्वस्य सुम्नम्' और 'भिताश्वस्य सुम्नस्य' इन दोनों प्रयोगों का समर्थन करते हैं। कैयट ने १ २-२९ सूत्र की टीका में गोनर्दीय को भाष्यकार माना है और नागोजिभट्ट ने १ ४-५२ की टीका में गोणिका-पुत्र को भाष्यकार कहा है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में पाँच बार गोनर्दीय और आठ बार गोणिका-पुत्र का मत उद्धृत किया है, जिनमें १-५-५ सूत्र पर 'अन्य कारणवशात् परपरिगृहीतापि पाक्षिकी चतुर्थीति गोणिकापुत्र:' और १ ४-५५ सूत्र पर 'तत्सम्बन्धात्मायानुक्ल्युपयातिस्म कारान्तरवात् अष्टमी गोनर्दीय' कहा गया है। इससे प्रथम के मत से चार और द्वितीय के मत से आठ नायिकाएँ सिद्ध होती हैं। वाचस्पत्य प्रकाश आदि कोशकारों ने गोनर्दीय को पतंजलि स्वीकार किया है किन्तु महाभाष्य में गोनर्दीय या गोणिका-पुत्र से उनके पतंजलि होने की ध्वनि कहीं नहीं निकलती। गोनर्दीय को मूल भाष्यकार मान लेने से अनेक शंकाओं का समाधान अवश्य हो जाता है फिर भी गोनर्दीय और गोणिका-पुत्र एक ही नहीं जान पड़ते। सम्भव है गोणिकापुत्र पतंजलि हों। तब भी यह शंका शेष ही रह जाती है कि क्या वैदिक विद्वान् और वैयाकरण गोनर्दीय और पतंजलि कामशास्त्र के भी अधिकारी ज्ञाता थे। श्रीराजेन्द्रलाल मित्र और डॉ० कीलहॉर्न ने युक्तिपूर्वक गोनर्दीय और गोणिका-पुत्र को पतंजलि से भिन्न सिद्ध किया है।[1] अन्य किसी ग्रन्थ में तो इनके कामशास्त्रज्ञ होने का उल्लेख नहीं मिलता। पतंजलि को ४-२ ९२ की टीका में कैयट ने नागनाथ अवश्य कहा है। चक्रपाणि ने चरक की टीका के प्रारम्भ में इन्हें अहिपति के साथ मनोवाक्काय दोषों का हन्ता और चरक का प्रतिसंस्कर्ता कहा है।[2] भोजराज ने योगसूत्र-वृत्ति के प्रारम्भ में इन्हें 'फणिभृत्' विशेषण से भूषित किया है। भर्तृहरि की महा-

---

१ जर्नल ऑफ दि एशि० सोसा० ऑफ बंगाल, जिल्द ५२, पृ० २४१ तथा इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द १४, पृ० ४०।

२ पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।—
मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः॥

३ वाक्येतो वपुषो मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतः।

भाष्य-दीपिका में वे तीन बार चूर्णिकार कहे गये हैं। स्कन्दस्वामी ने निरुक्त २ १४ की व्याख्या में भाष्यकार को चूर्णिकार के नाम से उद्धृत किया है। इत्सिंग ने इन्हें चूर्णिकार संज्ञा से सम्बोधित किया है। स्कन्दस्वामी ने निरुक्तभाष्य (१ ३२) में एवं उव्वट ने ऋक्प्रातिशाख्य (१३ १९) की टीका में इन्हें पदकार बतलाया है। प्रसिद्ध श्लोक 'अनुसूत्रपदन्यासा' की टीका में 'पदं सपा हि विरचितं भाष्यम्' से मल्लिनाथ ने इन्हें पद का कर्त्ता माना है।

योगसूत्र और चरक-संहिता के कर्त्ता पतंजलि—महाभाष्यकार-विषयक ये सब उद्धरण उनके विषय में किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता नहीं प्रदान करते। इनसे केवल इतना ही पता चलता है समस्त विद्वत्समाज में पतंजलि की शेषावतार के रूप में प्रतिष्ठा थी और वे योगसूत्र व्याकरण-महाभाष्य एवं चरक-वार्तिकों के प्रणेता माने जाते रहे हैं। यहाँ तक कि भर्तृहरि जैसा अधिकारी विद्वान् भी उन्हें तीनों ग्रन्थों का कर्त्ता मानता था। वैयाकरण परम्परा में व्याकरणाध्ययन से पूर्व 'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि' श्लोक द्वारा मंगलाचरण करने की परम्परा बहुत प्राचीन है। सम्भवतः पतंजलि नामक व्यक्ति एकाधिक हुए हैं। कनिष्क की कन्या को रोगमुक्त करनेवाले चरक के प्रतिसंस्कर्ता एक पतंजलि ईसा की दूसरी शती में और योगसूत्र कर्त्ता पतंजलि ईसवी तीसरी या चौथी शती में उत्पन्न हुए थे। बाद में इतिहास की अनभिज्ञता ने तीनों को मिलाकर एक कर दिया। फिर भी मीमांसा और वेदान्त-दर्शन के 'अथातो धर्मजिज्ञासा' और 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से भिन्न शैली पर 'अथ शब्दानुशासनम्' और 'अथ योगानुशासनम्' जैसे सदृश वाक्यों भाष्य में 'युज्यते योगं ब्रह्मचारी' उल्लेख तथा योग में स्फोट के खण्डन के अभाव आदि कारणों से लीबिश और चक्रवर्ती योगसूत्रकार तथा महाभाष्यकार को एक मानते हैं।[1] प्रो॰ रेनो (Renou) के मत से योग में प्रत्याहार, उपसर्ग प्रत्यय और विकिरण का अर्थ व्याकरण से भिन्न है तथा उसमें च वा आदि का भी प्रयोग नहीं है। भाष्य की भाषा भी विश्लेषणात्मक अधिक है। दोनों में द्रव्य गुण आदि का भी तात्पर्य भिन्न है। योगसूत्र व्याकरण के नियम और महाभाष्य योग के नियम नहीं मानता। अतः, दोनों को दो भिन्न व्यक्तियों की कृति मानना चाहिए।

चरक-संहिता का मूल नाम आत्रेय-संहिता है। आत्रेय पुनर्वसु उसके कर्त्ता हैं। संहिता में ही इस बात का उल्लेख है कि आत्रेय ने अग्निवेश को आयुर्वेद-संहिता का उपदेश किया था। अग्निवेश और आत्रेय दोनों समकालीन थे और तक्षशिला में रहते थे। संहिता के ही अनुसार इसका प्रथम संस्करण चरक ने और दूसरा दृढ़बल ने किया। चरक इधर-उधर घूमनेवाले आयुर्वेदज्ञ थे। चरकशाखी वेद-शाखा का उल्लेख पाणिनि तथा काशिकाकार ने किया है। काशिकाकार वैशम्पायन का दूसरा नाम चरक बतलाते हैं।[3] कृष्ण यजुर्वेद की चरक नाम की शाखा थी।

---

१ कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥—वाक्यपदीय, १ १४८।

२ इण्डि॰ हिस्ट्री॰ क्वा॰, भाग ९, पृ॰ २६५।

३ ४ ३ १०७, ५ १ ११ तथा काशि॰ ४ ३-१०४।

उसके अनुयायी भी चरक कहलाते थे। आत्रेय-संहिता के प्रतिसंस्करण करनेवाले चरक शेष के अवतार मान जाते थे। पतंजलि का उल्लेख चरक-संहिता में कहीं नहीं है। उपर्युक्त सूचनाओं से अनुमान होता है कि चरक शाखा के किसी आयुर्वेदज्ञ यायावर विद्वान् ने अग्निवेश संहिता का प्रतिसंस्कार किया और उसके बाद अग्निवेश नाम गौण पड़कर चरक के नाम से यह संहिता प्रसिद्ध हो गई। चरक शाखा के लोग सामान्यतया आयुर्वेदज्ञ मान्त्रिक और नागोपासक थे। धीरे धीरे महत्ता स्थापित करने के लिए इन लोगों ने अपने संहिताकार पूर्वपुरुष को शेषावतार प्रसिद्ध कर दिया। कुछ विद्वानों का मत है कि महाभाष्य के प्रारम्भ में दिये गये 'शन्नोदेवीरभीष्टये' आदि चार मन्त्रों में कृष्णयजुर्वेद के 'शन्नोदेवी' वाक्य के प्रथम आने से भाष्यकार कृष्ण-यजुर्वेद की चरक शाखा के अनुयायी मालूम होते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण भी किया था। यह बात भी महाभाष्य से स्पष्ट है। वे आयुर्वेद की अच्छी जानकारी रखते थे यह भी इस निबन्ध के 'स्वास्थ्य और शरीर विज्ञान' प्रकरण से स्पष्ट होगी। हो सकता है उन्होंने ही सर्वप्रथम आत्रेय-संहिता का संस्करण किया हो और बाद में महाभाष्य की रचना की हो। यही बात योग सूत्र के विषय में कही जा सकती है। उसमें भी आर्ष प्रयोग नहीं है। सूत्रों के अर्थ में अध्याहार की आवश्यकता नहीं पड़ती। शैली महाभाष्य जैसी स्पष्ट और प्रासादिक है। अन्य दर्शनों की तुलना में योगसूत्रकार श्रेष्ठ वैयाकरण प्रतीत होते हैं। प्रथम सूत्र तथा 'प्रत्ययानुपश्य' (योग सू० २ २०) इस व्याकरणसिद्ध असमस्त प्रयोग से अनुमान होता है कि महाभाष्यकर्ता पतंजलि ही योगसूत्रकार थे। इस दृष्टि से लघुशब्देन्दुशेखर के प्रारम्भिक श्लोक की भैरवमिश्र की टीका का यह कथन कि महाभाष्य कर्ता ही चरक-संहिता और योग-सूत्र के प्रणेता थे ठीक हो सकता है और पुरातन परम्परा भी निर्मूल नहीं प्रतीत होती।[1] लैसेन और गार्बे भाष्यकार और योगसूत्रकार को एक मानते भी हैं। परस्पर असम्बद्ध विषयों पर एक ही विद्वान् का इतने प्रामाणिक ग्रन्थ लिखना असम्भव है इस तर्क के आधार पर मैक्समूलर का दोनों को भिन्न मानना तर्कयुक्त नहीं कहा जा सकता। वैयाकरण गोनर्दीय और गोणिका-पुत्र का कामशास्त्र का अधिकारी विद्वान् होना ही इस कथन की विसंगति स्पष्ट करता है।

पतंजलि का निवास-स्थान—पतंजलि ने कात्यायन को दाक्षिणात्य कहा है और अन्यत्र भी दक्षिणापथ की इस प्रकार चर्चा की है जिससे इतना स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उत्तर भारत के निवासी थे। यदि लघुशब्देन्दुशेखर के तथाकथित ऐतिह्य पर विश्वास कर लिया जाय अथवा लघुभाष्य और पतंजलि-चरित की बात प्रमाणित स्वीकार कर ली जाय तो उनका गोनर्द-निवासी होना निश्चित-सा हो जाता है। अन्य पुष्ट प्रमाण के अभाव में इसे स्वीकार करने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। डॉ० भण्डारकर वर्तमान अवध के गोंडा को गोनर्द का स्वाभाविक

---

१ प्रथमं पातञ्जलतन्त्रोपादानं वसवतरमनुकाय। महाभाष्यमात्रोक्तौ शारीरक-सूत्रभाष्यस्यापि बोध स्यादत पातञ्जलतरम्। तावन्मात्रोक्तौ चरकेऽतिव्याप्तिरतो महापदम्।

२ दीज लैसेन एण्ड गार्बे सीम इनक्लाइण्ड टु एक्सेप्ट दि आइडेन्टिटी ऑफ दि पतंजलि बट दिस पुट फोर्स अस टु एस्क्राइब दि मोस्ट हेट्रोजीनियस वर्क्स टु वन एण्ड दि सेम ऑथर—मैक्समूलर।

अपभ्रंश मानते हैं। यह स्थान अवध के पश्चिमोत्तर में है। ३.३.१३६ सूत्र के भाष्य में 'योऽयमध्वा गत आपाटलिपुत्रात्तस्य यदवरं साकेतात्' वाक्य में प्रयुक्त 'योऽयम्' शब्द इस बात को ध्वनित करता है कि भाष्यकार साकेत और पाटलिपुत्र के मार्ग के पास-पड़ोस अवश्य रहे थे। वेबर गोनर्द प्रदेश को पाटलिपुत्र के पूर्व में मानते हैं और कनिंघम इसकी व्युत्पत्ति गोंड से बतलाते हैं। वैयाकरणों की दृष्टि में गोनर्द प्राच्यदेश था। वेबर और गोल्डस्टुकर तो कात्यायन तक को प्राच्य मानते हैं। पतंजलि के विषय में वेबर का मत महाभाष्य के 'अनुशोणं पाटलिपुत्रम्' वाक्य में पूर्व के अर्थ की भ्रान्ति पर निर्भर है। पतंजलि के निवास के सम्बन्ध में विचार करते समय हमारा ध्यान दो बातों की ओर विशेष जाता है। एक तो वे आर्यावर्त के बड़े अभिमानी थे और हिमवन्त कालक पारियात्र और आदर्श के मध्यवर्ती प्रदेश को ही आर्यावर्त मानते थे। अतः उनका स्थान इसी भाग में होना चाहिए। दूसरे यों तो उन्होंने पूर्व में पाटलिपुत्र तक दक्षिण में अवन्ती और माहिष्मती तक पश्चिम में कच्छ तक और उत्तर में कश्मीर तक यात्रा की थी किन्तु वे वाहीक कुरु और साकेत के मध्यवर्ती प्रदेशों से अधिक निकटता से परिचित थे। वाहीक के छोटे-छोटे गाँवों तक का नाम उन्होंने लिया है। मथुरा और सुघ्न में वे अवश्य रहे थे। इससे विशेष सम्भावना इस बात की है कि वे वाहीक (पूर्व पंजाब) के निवासी थे। सम्भव है, इस प्रदेश का ही अन्वर्थ नाम गोनर्द रहा हो। अद्यावधि यहाँ के गो भारत में सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं। जो भी हो इतना स्पष्ट है कि वे काश्मीर, मथुरा, सुघ्न, साकेत, वाराणसी, पाटलिपुत्र और सम्भवतः उज्जयिनी अवश्य गये थे। उनका अधिक समय ग्रामों में बीता था। महाभाष्य में ग्रामीण संस्कृति के ही चित्रों की प्रचुरता है।

गोनर्द को गोंडा मानने में कुछ विद्वानों को इस कारण भी आपत्ति है कि पतंजलि अवध के समीप के निवासी होते तो रामायण के पात्रों का उल्लेख अवश्य करते। महाभारत के उद्धरणों तथा उसके पात्रों के नामों एवं उससे सम्बद्ध अंशों की बार-बार सविस्तर चर्चा भाष्य में है जब कि रामायण का एकाध ही उद्धरण भाष्य में आया है। उसके कर्ता तथा पात्रों का कहीं उल्लेख नहीं है। अतः, अवध की अपेक्षा उनका कुरु-वाहीक से अधिक सम्बन्ध होना स्पष्ट है। डॉ० मोतीचन्द्र ने प्राचीन भारत की पथ-पद्धति का व्याख्यान करते हुए 'डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रापर नेम्स' के प्रमाण से यह बताया है कि बौद्ध साहित्य में यह कथा आई है कि बावरी नाम के आचार्य ने एक ब्राह्मण के भाव का अर्थ समझने के लिए अपने शिष्यों को बुद्ध के पास भेजा था। उसके शिष्यों ने अस्सक से अपनी यात्रा प्रारम्भ की। वहाँ से वे पतिट्ठान (प्रतिष्ठान) महिस्सति (माहिष्मती) उज्जैनी (उज्जयिनी) गोनद्ध (गोनर्द) वेदिसा (विदिशा) और वनसह्वय होते हुए कौशाम्बी पहुँचे। इसके अनुसार गोनर्द विदिशा और उज्जैन के बीच में होना चाहिए। यदि यह मान लिया जाय तो विदिशा के उत्खनन में प्राप्त मुद्राओं और यज्ञशाला के अवशेषों से पुष्यमित्र याजयाज- की भी संगति बैठ जाती है। जो भी हो जबतक इस विषय में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध न होगा पतंजलि का निवास-स्थान कल्पना का ही विषय बना रहेगा।

---

१ एन्० ज्याग्रा० पृ० ४०८ तथा आर्कि० सर्वे रिपो० १, पृ० १२७।

२ इण्डि० एण्टिक्वेरी जिल्द २, पृ० ६१।

पतंजलि का काल

साहित्यिक अन्तःसाक्ष्य—पतंजलि के काल में अब विशेष विवाद नहीं रह गया है। वस्तुतः महान् प्राचीन साहित्यकारों में एक पतंजलि का ही समय असन्दिग्ध है। महाभाष्य में रामायण के अतिरिक्त महाभारत के उद्धरणों उसके पात्रों और घटनाओं की पौनःपुनिक चर्चा है। पतंजलि के समय में कंसवध और बलिबन्ध की कहानियाँ प्रसिद्ध और प्रचलित थीं। वे नाटकों का विषय बन चुकी थीं तथा अति प्राचीन भी मानी जाने लगी थी। 'कंसं घातयति बलिं बन्धयति' 'जघान कंसं किल वासुदेवः' 'असाधुर्मातुले कृष्णः' 'संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्' 'अक्रूरवर्ग्यः, अक्रूरवर्गीणः' 'वासुदेववर्ग्यः वासुदेववर्गीणः' 'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव'[1] आदि उक्तियाँ इसके प्रमाण हैं। पतंजलि-काल में वासुदेव की पूजा का प्रचलन हो चुका था और कृष्ण भगवान् माने जाने लगे थे। भाष्यकार ने प्रजापति और सर्प देवता के समान ही वासुदेव के लिए 'तत्रभवान्' पद का प्रयोग किया है। जातकों की रचना भी हो चुकी थी। १ ३-२५ सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने जो 'बहूनामप्यचित्तानाम् ... कापेयमनुतिष्ठति' ये दो श्लोक उद्धृत किये हैं वे आदित्युपस्थान जातक के पालि श्लोकों से मिलते-जुलते हैं।[3] जातक का द्वितीय श्लोक वानिप्रस्थ के प्रयोजन के रूप में वानर द्वारा छले गये मनुष्यों के लिए है। महाभाष्य और जातक दोनों के श्लोकों में दो अन्तर हैं। भाष्य में वानर की बुद्धि और जातक में पवित्रता का वर्णन है। दोनों में उप स्था+धातु का प्रयोग है। अन्तर केवल इतना है कि भाष्य में वानर बहुत हैं और जातक में एक। इससे इतना स्पष्ट है कि रामायण और महाभारत के संस्करणों एवं जातक-कथाओं के प्रचलन के अनन्तर ही महाभाष्य की रचना हुई होगी। महाभाष्य में बौधायन वासिष्ठ धर्मशास्त्र आपस्तम्ब आदि धर्मसूत्रग्रन्थों के उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि इसके पूर्व धर्मसूत्रों की भी रचना हो चुकी थी। सामान्य अलंकृत शैली के विविध छन्दोमय काव्य भी इस समय तक लिखे जा चुके थे।

धार्मिक अन्तःसाक्ष्य—धार्मिक दृष्टि से श्रमणों और ब्राह्मणों का विरोध शाश्वतिक-सा बन चुका था। मूर्ति-पूजा प्रचलित हो चुकी थी। मन्दिर बनाने की प्रथा का प्रारम्भ हो चुका था। भिक्षुक और अन्य प्रवचनकार सार्वजनिक सभागृहों में धर्मोपदेश करते थे। कृष्ण के साथ बलराम कुमार, स्कन्द विशाख और शिव की पूजा प्रचलित थी। यज्ञों का पुनरुत्थान हो रहा था। आहिताग्नि होना ब्राह्मण के लिए प्रतिष्ठा का द्योतक था। ब्राह्मणों का उत्कर्ष और वृषलों का

---

१ १ १ २६, ३-२ १११, २ ३ ३६, २-२-२३, ४-२ १०४, ६-३-६ भाष्य।

२ ४ ३-९९ भाष्य 'अपण्या मौर्या हिरण्यार्थिभिः अर्चाः प्रकल्पिताः। संप्रति पूजार्थास्तासु भवत' तथा इसपर कैयट 'नित्यः परमात्मदेवताविशेष इह गृह्यते।'

३ सब्बेसु किर भूतेसु सन्ति सीलसमाहिता।
पस्स साखामिगं जम्मं आदिच्चमुपतिट्ठति॥
नास्स सीलं विजानाथ अनञ्ञाय पसंसथ।
अग्गिहुत्तं च उहति तेन भिन्ना कमण्डलू॥—जातक-सं० १७५।

पराभव चरम सीमा पर था। भाष्य में वृषल कुल को छिद्रकर संगठित हुआ किन्तु जेय बतलाया है।[१] यह संकेत मौर्यों की ओर है।

इनके अतिरिक्त महाभाष्य में कुछ ऐसे स्पष्ट संकेत हैं, जिनके आधार पर उनका काल-निर्धारण ठीक-ठीक किया जाना सम्भव है। पतंजलि ने मौर्यों की दारिद्र्य-पूर्ण स्थिति की जिसमें वे मूर्तियाँ ढलवाकर उनकी बिक्री से राज्यकोष की पूर्ति करते थे, चर्चा की है।[३] कैयट नागोजि भट्ट आदि टीकाकारों ने इस बात को और स्पष्ट किया है, जिससे पता चलता है कि मौर्यों ने प्रतिमा निर्माण-शिल्प को व्यवसाय बना लिया था और वे शिवस्कन्द और विशाख आदि की मूर्तियाँ ढलवा कर द्रव्यार्जन करते थे।[४] पतंजलि ने एतदर्थ उनके लिए 'हिरण्यार्थी' इस निन्दासूचक विशेषण का प्रयोग किया है। वार्तिककार ने इन मूर्तियों की पूजार्थ निर्मित मूर्तियों से भिन्नता व्यक्त करने के लिए उनके साथ 'क' लगाना प्रारम्भ कर दिया था। अतः ये मूर्तियाँ शिव स्कन्द आदि न कहलाकर शिवक स्कन्दक आदि कहलाती थीं।

राजनैतिक अन्तःसाक्ष्य—पतंजलि ने पुष्यमित्र-सभा और चन्द्रगुप्त-सभा का उल्लेख किया है और पुष्यमित्र तथा चन्द्रगुप्त को राजा बतलाया है।[५] स्पष्ट ही यह चन्द्रगुप्त मौर्य है। पाटलिपुत्र से उनका घनिष्ठ परिचय था। छह सूत्रों के भाष्य में उन्होंने पाटलिपुत्र की चर्चा की है। उनके समय में पाटलिपुत्र सोन के किनारे बसा हुआ था किन्तु आज गंगा के किनारे बसा है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र 'कुसुमपुर' ही बतलाई गई है। उस समय यह नगर इतना समृद्ध और विशाल था कि इसके प्रासादों प्राकारों तथा विपणियों आदि की जानकारी देने के लिए व्याख्यानी (डायरेक्टरी) विद्यमान थी।[६]

ऐतिहासिक अन्तःसाक्ष्य—पतंजलि ने पुष्यमित्र द्वारा किसी ऐसे विशाल यज्ञ के किये जाने का उल्लेख किया है, जिसमें अनेक पुरोहित एक साथ भाग ले रहे थे। पतंजलि भी इस यज्ञ में आचार्य थे। इस प्रकार वे स्वयं ब्राह्मण याजक थे। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने क्षत्रिय याजक पर कटाक्ष किया है।[७] इस याजक-स्थिति में वे दीर्घ अवधि तक एक स्थान पर ठहरे थे

---

१ देखिए धर्म दर्शन और मूर्तिपूजा एवं वर्णप्रकरण।

२ काण्डीभूतं वृषलकुलम् कुड्यीभूतं वृषलकुलम्, ६ १ ६१ तथा जेयो वृषल।
—१ १-५०॥

३ मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्। यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।—५ ३-९९, पृ० ४७२।

४ कैयटः यास्त्वेता इति याः परिगृह्य गृहाद् गृहमटन्ति तास्विसत्यर्थः। यासु विक्रीयन्ते तासु भवति शिवकान् विक्रीणीते इति। नागोजिभट्ट मौर्यैः विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवन्तः। तैरर्चाः प्रकल्पिता विक्रेतुमिति शेषः। अतस्तासां पण्यत्वात् तत्र प्रत्ययश्रवणं प्रसक्त इति भावः।—५ ३-९९।

५ १ १ ६८, पृ० ४३५।

६ १ १ २, पृ० १८, अनुशोणं पाटलिपुत्रम् २-१-१६, पृ० २७३, २, ३, २८ पृ० ४२६, ४-२ ११६, १११ पृ० ४२६, २८ ४ ३-५७ पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसलेति। पाटलिपुत्रं चाप्यवयवशः आचष्टे ईदृशा अस्य प्राकारा इति।—४ ३-६६, पृ० ९३१।

७ यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्।—३-३-१४७, पृ० ११२।

और वहाँ छात्रों को व्याकरण पढ़ाते थे। यह बात भाष्य में दिये हुए उदाहरणों से स्पष्ट है।[1] यज्ञ के प्रसंग में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि यज् धातु का प्रयोग केवल यज्ञकुण्ड में आहुति डालना ही नहीं है। त्याग करना भी उसका अर्थ है। पुष्यमित्र के यज्ञ में द्रव्य का त्याग पुष्यमित्र करता है। याजक लोग केवल उसके प्रेरक हैं। इसीलिए 'पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्ति' *यह कथन संगत होता है 'पुष्यमित्रो याजयते याजका यजन्ति' यह प्रयोग नहीं होता।*[2] ये दोनों उल्लेख पुष्यमित्र द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ से सम्बद्ध हैं। भाष्यकार ने अपनी याजन क्रिया को 'प्रवृत्तस्याविरामे' कहकर वर्तमानकालिक बताया है।[3]

महाभाष्य का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण उल्लेख जो न केवल पतंजलि के काल-निर्धारण में सहायक है अपितु शुंगकालीन इतिहास पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है किसी यवन द्वारा मध्यमिका और साकेत पर घेरा डाले जाने से सम्बद्ध है। भाष्यकार ने यद्यपि इन दोनों आक्रमणों को प्रत्यक्ष देखा नहीं था तथापि वे उनके जीवन-काल में घटित हुए थे और लोक-विज्ञात थे। वे चाहते तो उन्हें देख भी सकते थे। ये दोनों घेरे एक ही यवन द्वारा डाले गये थे। आक्रमक इन नगरियों को जीत नहीं सका। उसे बीच में ही अपना घेरा उठा लेना पड़ा था या पराजित होकर भाग जाना पड़ा था। यह बात भी उपर्युक्त उद्धरणों से ध्वनित होती है।

महाभाष्य के इन समस्त ऐतिहासिक उद्धरणों पर एक साथ विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि पतंजलि रामायण महाभारत और सूत्र-साहित्य के प्रणयन के पश्चात्, किन्तु कालिदास से पूर्व और पुष्यमित्र के काल में विद्यमान थे। इस समय वृषलों या मौर्यों का पतन हो चुका था। पतन से पूर्व उनकी आर्थिक स्थिति डावाँडोल हो गई थी। वृषलों का सार्वजनिक अपमान किया जाता था। ब्राह्मणों का वर्चस्व चरम प्रकर्ष पर था। यज्ञ-यागादि की पुनः प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। *पुष्यमित्र ने स्वयं कोई महायाग किया था। इस समय किसी यवन ने साकेत और मध्यमिका* (चित्तौड़ के समीप का नगरी-स्थान) पर एक साथ आक्रमण किया था। पुष्यमित्र ने यवनों की पराजय के बाद ही महायज्ञ किया था जिसमें पतंजलि भी आचार्य-रूप में विद्यमान थे। 'पूर्वाकामनिरवसितानाम्' सूत्र के भाष्य में भी यवनों की पराजय का संकेत है। इसी समय

---

१ प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्या भवन्ती इहाधीमहे, इह वसामः, इह पुष्यमित्रं याजयामः। ३-२ १२३, पृ० २५४।

२ यज्यादिषु चाविपर्यासो वक्तव्यः। पुष्यमित्रो यजते याजकाः याजयन्ति। तत्र भवितव्यम्—पुष्यमित्रो याजयते याजकाः यजन्तीति यज्यादिषु चाविपर्यासो वक्तव्यः। भाषा-क्रियायां गम्यमानत्वात्? नानाक्रिया यजेरर्थः। यागस्य यजि हविःप्रक्षेपण एव वर्तते। किं तर्हि त्यागेऽपि वर्तते। अहो यजत इत्युच्यते यः सुष्ठु त्यजति करोति। तं च पुष्यमित्रः करोति याजकाः प्रयोजयन्ति।—३ १-२६ पृ० ७४।

३ प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्या भवन्ती इहाधीमहे इह वसामः, इह पुष्यमित्रं याजयामः। —३ २ १२३ पृ० १२५।

४ परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः। अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।—३ २ १११ पृ० १४६, ४७।

याज्ञिक बनने की कामना रखनेवाले ब्राह्मण-बालकों को व्याकरण पढ़ाते हुए उन्होंने महाभाष्य की रचना की थी। साकेतावरोध तथा माध्यमिकविषयक उल्लेख महाभाष्य के तृतीय अध्याय के अन्तर्गत आये हैं। इस समय उनके पचासी दिनों के पाठ में लगभग आधा समय व्यतीत हो चुका था।

पुष्यमित्र शुंग—ऐतिहासिक दृष्टि से पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ तथा यवन का आक्रमण ये दोनों घटनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। बाण के हर्षचरित के अनुसार पुष्यमित्र मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का सेनापति था। एक बार जब बृहद्रथ सेनापति के साथ सैन्य का निरीक्षण कर रहा था तब सेनापति ने सेना को अपने पक्ष में लाकर सहसा बृहद्रथ का वध कर डाला[1] और स्वयं राज्य का स्वामी बन बैठा। इस राजहत्या की पूर्वभूमिका पहले से ही तैयार कर ली गई थी। मौर्य शासन में ब्राह्मण अत्यन्त असन्तुष्ट थे और ऐसा प्रतीत होता है कि बृहद्रथ के राज्य-काल में यह असन्तोष चरम सीमा पर पहुँच गया था। उन्होंने सेनापति को अपना नेता बनाया फलतः मौर्य-साम्राज्य के नष्ट होते ही चारों ओर ब्राह्मणों का उत्कर्ष दृष्टिगोचर होने लगा। नष्टप्राय यज्ञ-संस्था और विस्मृतप्राय वेदों को पुनर्जीवन मिला। महाभाष्य में पतंजलि द्वारा यत्र-तत्र वृषलों (मौर्यों) के प्रति कहे गये दुर्वचन एक स्थान पर मौर्यों की प्रत्यक्ष निन्दा तथा पद-पद पर ब्राह्मणों का जयघोष इस बात का साक्षी है। महाभाष्य वस्तुतः वैदिक संस्कृति और ब्राह्मणत्व का जयनाद है।

शुंग और उनका साम्राज्य—पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र शुंगवंशीय था। पाणिनि के मत से शुंग भारद्वाज ब्राह्मण थे।[2] किन्तु, हरिवंशपुराण में (२ ४०) ब्राह्मण सेनानी को अश्वमेध का उद्धर्ता और काश्यप कहा है। प्रवरदर्पण में शौंग लोग वसिष्ठगोत्रीय पाराशरों के पौगायन बतलाये गये हैं। बृहदारण्यक में (६ ४ ३१) शौंगीपुत्र शिक्षक का उल्लेख मिलता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र (१२ १३-५) में भी शुंग आचार्य हैं। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को कश्यप गोत्र की बैम्बिकि शाखा का बतलाया गया है। बैम्बिकि शब्द महाभाष्य में आया है। वहाँ उसकी निष्पत्ति बिम्ब शब्द से अपत्य अर्थ में बतलाया गया है, किन्तु शुंगगोत्रायण से उसका कोई सम्बन्ध है या नहीं यह बात स्पष्ट नहीं की गई है।[3] श्री एन्० ए० शाह बिम्बक को बिन्दुसार के परिवार से सम्बद्ध मानते हैं। इन सब उल्लेखों से इतना स्पष्ट है कि शुंग ब्राह्मण माने जाते थे। भले ही वे भारद्वाज रहे हों या काश्यप, यह अलग बात है। फिर भी पं० हरप्रसाद शास्त्री इस वंश के नामों के अन्त में मित्र शब्द देखकर इन्हें ग्रीक आक्रमण के समय फारस से भागा हुआ मानते थे।[4] प्रो० बी० के० ठाकुर का

---

१ सेनापतिरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।—हर्षचरित।

२ विकर्णशुङ्गच्छगलाद्वत्सभरद्वाजात्रिषु—४ १ ११७।

३ सुधातृव्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बानामिति वक्तव्यम्।—बैम्बकि ४-१ ९७, पृ० १२९।

४ प्रोसीडिंग्स ऑफ् ओरियण्टल कान्फ्रेंस, मद्रास, प० ३७९।

५ इण्डि० हिस्टा० क्वार्ट० जिल्द ८, पृ० ३९।

अनुमान है कि ये लोग पाणिनि से भी पूर्व के सामवेदीय ब्राह्मण थे।[1] भरहुत के शिलालेख में दो द्वार शुंगकाल में बने बतलाये गये हैं।

पुष्यमित्र के राज्य में मौर्यों का मध्यभाग सम्मिलित था। आंध्र कलिंग तथा उत्तर भारत का कुछ भाग स्वतन्त्र हो गया था। पाटलिपुत्र अयोध्या विदिशा जालन्धर और शाकल ये नगर इसके अन्तर्गत थे।[2] राजधानी पाटलिपुत्र बनी रही। मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा में पिता का राष्ट्रिय था। अयोध्या के मन्दिर-द्वार के एक शिलालेख के अनुसार वहाँ एक केतन पुष्यमित्र की छठी पीढ़ी के एक कासलाधिपति ने बनवाया था। नर्मदा तक के सीमान्त दुर्ग में अग्निमित्र का साला वीरसेन रक्षार्थ नियुक्त था। पुष्यमित्र के अन्तर्गत विदर्भ यज्ञसेन और माधवसेन में विभक्त था। वर्धा (वरदा) नदी इस विभाजन की सीमा रेखा थी। विदर्भराज यज्ञसेन मौर्यराज बृहद्रथ के मंत्री के बहनोई थे। अतः उनका पुष्यमित्र विरोधी होना स्वाभाविक था। अग्निमित्र ने उसे 'प्रकृत्यमित्र' और 'प्रतिकूलकारी' कहा है। इस कारण विदिशा और विदर्भ के सम्बन्ध भी खराब हुए। यज्ञसेन का चचेरा भाई माधवसेन अग्निमित्र का मित्र था। यज्ञसेन के अन्तपाल ने उसे बन्दी बना लिया। अग्निमित्र ने यज्ञसेन को आज्ञा दी कि वह तुरन्त उसे मुक्त कर दे। यज्ञसेन ने बदले में यह शर्त उपस्थित की कि पहले उसके सम्बन्धी मौर्य सचिव को मुक्त किया जाय। अग्निमित्र ने यह शर्त न मानकर वीरसेन को आदेश दिया कि वह विदर्भ पर आक्रमण करे। इस आक्रमण में वीरसेन ने यज्ञसेन को पराजित कर माधवसेन को बन्दीगृह से छुड़ा लिया। पश्चात् विदर्भ का राज्य यज्ञसेन और माधवसेन में बाँट दिया गया[3] और विदर्भ पर पुष्यमित्र का सिक्का जम गया। खारवेल और सातकर्णी विदर्भ के पूर्व और पश्चिम में अग्निमित्र के समकालीन थे। खारवेल उससे अधिक बलवान था और विदर्भ से सम्बन्ध भी रखता था। विदर्भ पर आक्रमण के समय खारवेल और सातकर्णी का चुप बैठे रहना आश्चर्यजनक मालूम होता है। इस आधार पर प्रो॰ ठाकुर ने तो यह कल्पना कर डाली है कि कालिदास ने प्लाट के लिए इतिहास में परिवर्तन कर डाला है। अतः, मालविकाग्निमित्र का वर्णन प्रमाण नहीं माना जा सकता। प्रो॰ ठाकुर के कथन की सत्यता सन्दिग्ध है क्योंकि कालिदास ने यज्ञसेन को 'अचिराधिष्ठितराज्य' कहा है। इससे विदित होता है कि विदर्भ पहले मौर्यों के अधिकार में था। बाद में राज्य-विप्लव होने पर यज्ञसेन ने विदर्भ को दबा लिया।[4]

साकेत और मध्यमिका का अवरोध—गोल्डस्टुकर के अनुसार साकेत और मध्यमिका का अवरोध करनेवाला मिनाण्डर था जिसका समय ई॰ पू॰ द्वितीय शती है। प्रो॰ मैक्सेन के

---

१ मालविकाग्निमित्र गुजराती, अनु॰ श्री वी॰ के॰ ठाकुर।

२ दिव्यावदान तथा प्रो॰ तारानाथ के अनुसार।

३ मालविकाग्निमित्र अंक १।

४ ठाकुर मालविका॰ गुज॰ अनु॰।

५ अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्। नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम्॥ —मालविका॰ अंक १, श्लोक ८।

अनुसार १४४ ई॰ पू॰ में वह शासन करता था। चन्द्रगुप्त मौर्य ३२२ ई॰पू॰ में गद्दी पर बैठा। उस वंश के १० राजाओं ने कुल १३७ वर्ष राज्य किया।[1] इसके अनुसार पुष्यमित्र के सिंहासनारोहण का समय १८५ ई॰पू॰ होना चाहिए। मत्स्यपुराण के अनुसार पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष राज्य किया।[2] अतः, उसके शासन की निचली काल-सीमा १४९ ई॰पू॰ पड़ती है। यही काल पतञ्जलि द्वारा पुष्यमित्र को यज्ञ कराये जाने का है और यही भाष्य के निर्माण का समय है। ब्रह्माण्ड पुराण एवं विष्णुपुराण भी पुष्यमित्र का शासन-काल ३६ वर्ष ही बतलाते हैं। गोल्डस्टकर ने मिनाण्डर के काल को ध्यान में रखकर महाभाष्य का काल १४० से १२० ई॰पू॰ के मध्य माना है। मिनाण्डर का राज्यारोहण-काल भिन्न-भिन्न एतिहासिकों ने २०० से १२६ ई॰ पू॰ के मध्य माना है। डॉ॰ भण्डारकर के मत से पतञ्जलि-काल में मौर्यों का शासन गये कुछ समय बीत चुका था। अर्चाविषयक उदाहरण इसके साक्षी हैं। अत:, जीविकार्थे चापण्ये का भाष्य पतंजलि ने १५८ ई॰ पू॰ के लगभग लिखा होगा। मिनाण्डर और पुष्यमित्र समकालीन थे। अत, मिनाण्डर का समय भी ऊपर में १७५ और नीचे १४२ ई॰ पू॰ होना चाहिए। इस आधार पर डॉ॰ भण्डारकर ने तृतीय अध्याय के भाष्य का रचना-काल १४४ १४२ ई॰ पू॰ में माना है।[3] प्रो॰ वेबर ने 'माध्यमिकाँ' का अर्थ बौद्धमाध्यमिक शाखा मानकर पतंजलि का समय २५ ई॰ स्वीकार किया है। उनके विचार से बौद्धधर्म में दीक्षित होने से पूर्व कनिष्क हीनयानों का पक्षपाती और माध्यमिकों का नाशक रहा। अत' महाभाष्य का समय कनिष्क के बाद ही होना चाहिए। वेबर के इस कथन का डॉ॰ भण्डारकर ने सयुक्ति खण्डन किया है।[4] डॉ॰ भण्डारकर के अनुसार, जिसकी पुष्टि वायुपुराण एवं अन्य पुराणों में भी होता है। मौर्यों के बाद शुंग आन्ध्रभृत्य एवं काण्वायन क्रमश: राजा हुए। अशोक के लेखों में 'अतियोको' नाम 'योन' राजा का उल्लेख है। योरोपीय इतिहास के विद्यार्थी अन्तियोकस (Antiochus) से सम्यक परिचित हैं। सिकन्दर क बाद सिल्यूकस ने सिरिया से भारत तक अपना साम्राज्य स्थापित किया था। अन्तियोकस उसका पौत्र था। अशोक के लेख के अन्तियोकस द्वितीय का समय २६१ स २४० ई॰पू॰ है। ये लोग मेसिडोनियन ग्रीक थे। भाष्य में यवन शब्द से इन्हीं का उल्लेख है और इसी जाति का मिनाण्डर साकेत और माध्यमिका का आक्रमक है। ग्रीक इतिहास के अनुसार इसका समय १४२ ई॰ पू॰ है। इसस पंजाब और अफगानिस्तान पर शासन स्थापित कर लिया था। उस समय य प्रदेश भारत के अंग थे। उसकी प्राप्त मुद्राओं पर महाराजस्स त्रातस्स मिनिन्द्रस्स' अंकित है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसकी

---

१ विष्णु पु॰ ४-२४।

२ कारयिष्यति वैराज्यं षट्त्रिंशत् समाः नृपः। पार्जिटर, डायनेस्टीज ऑफ् कलि॰ पृ॰ ३३।

३ विल्सन विष्णु पु॰ प्रथम सं॰ पृ॰ ४०१।

४ कलेक्टेड वर्क्स ऑफ् डॉ॰ भण्डारकर, भाग १ पृ॰ १०८ से ११४।

५ इण्डियन ऐण्टिक्वेरी जिल्द २, सन् १८७२, पृ॰ २११ से।

प्रजा पालिमापिनी थी। 'मिलिन्दपञ्हो' में इसकी और नागसेन की वार्ता उल्लिखित है। इसकी राजधानी साकल थी।[1]

मालविकाग्निमित्र का साक्ष्य—मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र का अपने पुत्र अग्निमित्र के नाम पत्र भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस पत्र से विदित होता है कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध का अनुष्ठान करते हुए अपने राजपुत्र शत-परिवृत पौत्र और अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र के संरक्षण में अश्व छोड़ा था। उसे सिन्धु के दक्षिण तट पर यवनों ने पकड़ लिया। तब अश्व के लिए यवनों का वसुमित्र की सेना में महान् युद्ध हुआ किन्तु अन्त में वसुमित्र ने यवन-सेना को सिन्धु तट पर पराजित कर अश्व लौटा लिया। इस प्रकार पुष्यमित्र का यह यज्ञ सफल हुआ। पुष्यमित्र के आमन्त्रण पर अग्निमित्र ने भी इस यज्ञ में भाग लिया। जायसवाल के मत से पुष्यमित्र का यह द्वितीय अश्वमेध है।[3] खारवेल ने पुष्यमित्र को प्रथम अश्वमेध के बाद हराया था। खारवेल की हार के बाद अपनी झेंप मिटाने के लिए उसने दुबारा यज्ञ किया। पतंजलि का 'पुष्यमित्रं याजयाम' इस द्वितीय यज्ञ से ही सम्बद्ध है। यह यज्ञ डेमेट्रियस की पराजय के बाद सम्भव नहीं है क्योंकि डेमेट्रियस के आक्रमण १८४ से १६७ ई० पू० के मध्य हुए। पाटलिपुत्र पर आक्रमण १७५ ई० पू० में हुआ। अपोलोडोटस के अनुसार भी ग्रीकों के दो आक्रमण हुए, जिसमें प्रथम पुष्यमित्र के प्रारम्भिक काल में हुआ था। इसमें पुष्यमित्र ने सन्धि कर ली या वह दब गया जिससे अप्रसन्न होकर अग्निमित्र ने विदिशा में स्वतन्त्र सत्ता बना ली। गृह विद्रोह के कारण डेमेट्रियस के वापस चले जाने पर पुष्यमित्र ने प्रथम अश्वमेध किया। द्वितीय आक्रमण पुष्यमित्र के अन्तिम दिनों में मिनाण्डर ने किया। द्वितीय आक्रमण के समय वसुमित्र ने सिन्धु-तट पर उसे हराया। तब उसने दूसरा अश्वमेध किया और अग्निमित्र की अप्रसन्नता दूर हुई।[6] अयोध्या के शिलालेख का 'कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः पुष्यमित्रस्य' वाक्य दोनों अश्वमेधों का प्रमाण है। विवश होकर यवनों के चले जाने पर किया गया अश्वमेध पुष्यमित्र के मन को पूर्ण संतोष न दे सका होगा अतः उनकी वास्तविक पराजय के बाद द्वितीय अश्वमेध किया गया। जायसवाल द्वितीय अश्वमेध खारवेल की पराजय के बाद मानते हैं। रायचौधरी (पृ० २६७) के मत से दोनों यज्ञ सिन्धु-यवन-विजय के बाद हुए। डॉ० भण्डारकर के मत

---

१ कलेक्टेड वर्क्स ऑफ डा० भण्डारकर, भाग २ पृ० १२६।

२ स्वस्ति यज्ञशरणात् सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं परिष्वज्येदमनुदर्शयति। विदितमस्तु। योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य संवत्सरोपावर्तनीयो निरर्गलस्तुरङ्गो विसृष्टः स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनानां प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।—मालविका०, अंक ५।

३ जर्नल, ऑफ बंगाल ओरियण्टल रिसर्च सोसा०, भाग १० पृ० २०५।

४ टार्न: ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया, पृ० १३३।

५ स्ट्रेबो ११-५१६।

६. जर्नल ऑफ बंगाल ओरि० रि० सोसा०, भाग १०, पृ० २०५।

से प्रथम यज्ञ साकेत और मध्यमिका की विजय के बाद और दूसरा वसुमित्र द्वारा यवनों की पराजय के बाद हुआ।

साकेत का अवरोधक कौन था—स्मिथ ने कनिंघम का अनुसरण करते हुए माना है कि विदेशी यवनों ने पुष्यमित्र की ललकार के प्रत्युत्तर-स्वरूप सिन्धु-तट पर उसकी सेनाओं से युद्ध किया। यह सिन्धु नदी काली सिन्धु है जो मध्य भारत और राजपूताना की सीमा बनाती है। सम्भवतः ये यवन मिनाण्डर की सेना के अंग थे जिन्होंने मध्यमिका पर आक्रमण किया था। यह कथन भ्रांतिमूलक है। काली सिन्धु का सिन्धु मानना ठीक नहीं है क्योंकि शासक विदिशा और विदर्भ के शासक पर काली सिन्धु के पास यवनों द्वारा आक्रमण की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरे खारवेल से पराजित होकर पुष्यमित्र मथुरा में रहा था। मथुरा अवश्य ही उसके विरोधी बौद्धों और मिनाण्डर से दूर रही होगी और उसके राज्य में होगी। तब शासक से बाहर सिन्धु और कौन हो सकती है? तीसरे कालिदास का यह कथन भी कि अतिमोरे शत पुत्रक सेनापतिना नियुक्तः तभी सार्थक हो सकता है, जब वसुमित्र का युद्ध सिन्धु के दूर प्रदेश में हुआ हो काली सिन्धु के तट पर नहीं अन्यथा वसुमित्र की विजय का समाचार अग्निमित्र को पत्र द्वारा भेजने की कोई आवश्यकता ही न हुई होती। काली सिन्धु में विदिशा में यह समाचार पहले ही प्राप्त हो गया होता। फिर, स्मिथ ने मिनाण्डर और डेमेट्रियस के आक्रमणों को एक मानकर पुष्यमित्र को खारवेल और मिनाण्डर का समकालीन बना दिया है। यह बात महामेघवाहन खारवेल के हथिगुम्फ-शिलालेख के बृहस्पतिमित्र को ही पुष्यमित्र मानने से कही जाती है। पुष्यमित्र के मित्र के सिक्के भी उपलब्ध हैं। अतः बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र मानना ठीक नहीं है। अग्निमित्र के रुहेलखण्ड में प्राप्त सिक्के भी किसी अन्य अग्निमित्र के हैं। अग्निमित्र विदिशा में रहता था। उसके सिक्के विदिशा या पाटलिपुत्र में प्राप्त हो सकते थे। पुष्यमित्र के बाद उसका राज्य उसके आठ पुत्रों में विभक्त हो गया था। वासुदेव काण्वायन (मंत्री) इस वंश के अन्तिम राजा देवभूति को हटाकर स्वयं राजा बन गया। इसीलिए पुराणों ने काण्वों को शुंग-भृत्य कहा है। वासुदेव ने नौ तथा उसके पुत्र भूमिमित्र ने चौदह वर्ष शासन किया।[4] इनके भय से शुंग वंशजों का रुहेलखण्ड को भाग जाना संभावित है। आंवला बदायूँ और अहिच्छत्र में प्राप्त होनेवाले सिक्कों का कारण यह भी हो सकता है। इस प्रकार बृहस्पतिमित्र और पुष्यमित्र एक नहीं हैं। फिर, हथिगुम्फ-लेख का पाठ निश्चित नहीं है। यदि हम इस पाठ को 'डिमित' मानें तो यह आक्रमक डेमेट्रियस होगा मिनाण्डर नहीं। गार्गी संहिता का युग

---

१ इण्डिया इन कालिदास भगवतशरण उपाध्याय, पृ० १६१ से १६८।

२ अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चौथा सं० २०९, १० तथा २१७, २२१।

३ पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति तथा नृपाः।—जर्नल ऑफ् बंगाल ओरि० रि० सो०, भाग १०, पृ० २०२ तथा १५, पृ० ५४१।

४ अमात्यो वासुदेवस्तु बाल्याद् व्यसनिनं नृपम्।
देवभूतिमथोत्साद्य स्वयं तु भविता नृपः॥—(वही)

से इसी मत के समर्थक हैं।[1] कीथ १५० ई० पू० पतंजलि-काल बतलाते हैं, यद्यपि उन्होंने 'संस्कृत ड्रामा' में १४० ई० पू० ही पतंजलि का समय माना है।

महाभाष्य का लोप और पुनरुद्धार—पतंजलि वैदिक धर्माभिमानी थे। उन्होंने अष्टाध्यायी का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन करते हुए व्याकरणविषयक स्वतन्त्र सिद्धान्तों का भी समावेश महाभाष्य में किया और साथ ही वैदिक संहिताओं की अपौरुषेयता नित्यता एवं स्वतःप्रामाणिकता स्थापित करते हुए उदाहरण-स्वरूप यत्र-तत्र वैदिक एवं सूत्र-ग्रन्थों से वाक्य भी उद्धृत किये। निरुक्त का प्रभाव भी उन पर बहुत था। उन्होंने अनेक स्थानों पर वेद-शब्द-व्युत्पत्ति-कर्ता निरुक्त को ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया। फलतः महाभाष्य का स्वरूप अष्टाध्यायी के समान निष्पक्ष न रह गया। पाणिनि ने किसी भी दर्शन के प्रति अपना पक्षपात न प्रकट करते हुए प्रधानतया लौकिक और आपाततः वैदिक भाषा के शब्दों का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए अपना ग्रन्थ लिखा था। वेदाभिमानी पतंजलि द्वारा स्थान-स्थान पर वैदिक वाक्य उद्धृत कर आस्तिकजन ब्राह्मणों के लिए लिखा गया ग्रन्थ वेद को प्रमाण न माननेवाले बौद्ध जैन तथा अन्य दर्शनकारों की दृष्टि में सहज ही खटकने लगा। दूसरे महाभाष्य की रचना के कुछ शताब्दियों बाद बौद्ध एवं जैन सूत्रग्रन्थों पर अश्वघोष असंग वसुबन्धु, नागार्जुन उमास्वाति कुन्दकुन्द आदि बड़े बड़े विद्वानों ने तत्त्वज्ञान का ऊहापोह करनेवाले ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया। इसी समय मीमांसा न्याय आदि शास्त्रों पर शबरस्वामी वात्स्यायन प्रशस्तपाद आदि ने भाष्य-ग्रन्थों की रचना की। स्वभावतया कुछ समय बाद (१०० से ४०० ई०स०) लोगों का ध्यान इन ग्रन्थों की ओर जाने से महाभाष्य का अध्ययन उपेक्षित हो गया और धीरे-धीरे उसकी प्रतियाँ दुर्लभ होने लगीं। इसी समय कातन्त्र और चान्द्र व्याकरणों की रचना हुई। कातन्त्र पाणिनि की परम्परा पर आश्रित न होकर उनसे पूर्ववर्ती कालाप व्याकरण पर आश्रित था। पाणिनि और कात्यायन दोनों ने कलापी और उनकी शिष्य-परम्परा का उल्लेख किया है।[2] भाष्य में भी महावार्तिक के साथ कालापक शब्द आया है और उसके बाद तुरन्त ही पाणिनीय शास्त्र की चर्चा है।[3] इससे

---

१ हिस्ट्री ऑफ क्लासि० संस्कृत लिटरेचर, पृ० २७४।

२ ४।३।१०४ १०८।

३ ४-२ ६५, पृ० १८९।

प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान् ।
सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते ॥
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥
अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात् ।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावस्थितनिश्चयः ॥
वैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः ।
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके ॥
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः ।

अनुमान होता है कि पाणिनि से पूर्व कलापी की कोई व्याकरण-शाखा थी। कातन्त्र-व्याकरण उसी पर आश्रित है। इस ग्रन्थ के सूत्र कारिकामय हैं और इसमें अद्यतनी श्वस्तनी, परोक्षा आदि अपाणिनीय संज्ञाओं का प्रयोग है। कथासरित्सागर के अनुसार सातवाहन नृपति के आज्ञानुसार शर्ववर्मा ने कातन्त्र या कालाप व्याकरण का प्रणयन किया। कार्तिकेय द्वारा इस व्याकरण का उपदेश किया गया, इस धारणा के कारण उसे कौमारव्याकरण भी कहते हैं। चान्द्र व्याकरण के प्रणेता चन्द्रगोमी नामक बौद्ध आचार्य थे। चन्द्रगोमी प्राच्य वैयाकरण परम्परा के विद्वान् थे। उनका ग्रन्थ पाणिनीय पद्धति पर आश्रित है। इसी समय जैनेन्द्र व्याकरण लिखा गया। इसमें भी पाणिनि-शैली का ही अनुसरण है। शबरस्वामी आदि के भाष्यों को धार्मिक स्वरूप प्राप्त हो जाने के कारण लोगों की प्रवृत्ति उस ओर स्वाभाविक थी। दूसरे इस समय संस्कृत लोकभाषा नहीं रह गई थी। पालि और प्राकृत में ग्रन्थ लिखे जा रहे थे। शास्त्रीय वाङ्मय का अध्ययन करने के पूर्व संस्कृत के कामचलाऊ ज्ञान की आवश्यकता होती थी और वह कातन्त्र, चान्द्र आदि संक्षिप्त व्याकरणों से प्राप्त किया जा सकता था। अष्टाध्यायी को वेदांग के रूप में महत्त्व प्राप्त हो चुका था। इसलिए मुख-परम्परा से उसके सूत्र-पाठ का क्रम तो चलता रहा किन्तु उसके पठन-पाठन की परम्परा लुप्तप्राय हो गई। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि धीरे-धीरे लोगों की रुचि संक्षेप में पढ़ने तथा अल्प-विद्या-परिग्रही हो गई। ऐसे अल्प-विद्या-परिग्रही वैयाकरणों को पाकर संग्रह का पठन-पाठन बन्द हो गया। तब तीर्थदर्शी आचार्य पतञ्जलि ने समस्त न्याय तत्त्वों का एकत्र निबन्धन कर महाभाष्य की रचना की। किन्तु, महाभाष्य अत्यन्त गम्भीर था और अकृतबुद्धि लोगों के लिए उसकी थाह पाना कठिन था। महाभाष्य संग्रह का प्रतिकंचुक स्वरूप था। बैजि सौभव और हर्यक्ष जैसे शुष्क तार्किकों ने इस आर्षग्रन्थ को विप्लावित कर दिया और धीरे-धीरे यह व्याकरण-शास्त्र पतंजलि के शिष्यों के हाथ से निकल गया। इसका पठन-पाठन बन्द हो गया। यहाँतक कि इसकी प्रतियाँ केवल दाक्षिणात्य प्रदेश में ही कहीं-कहीं बच गईं। तब चन्द्र आदि आचार्यों ने दाक्षिणात्य पर्वत प्रदेश से इसकी प्रति प्राप्त कर इसका पुनः प्रचार किया।

राजतरंगिणी के अनुसार महाभाष्य के प्रथम उद्धारकर्ता कश्मीर के राजा अभिमन्यु थे। उन्हीं के आदेश से आचार्य चन्द्रगोमी ने महाभाष्य का फिर से प्रवर्तन किया और स्वयं भी एक नवीन व्याकरण बनाया।[1] डॉ० ओटो बोथलिंक के अनुसार अभिमन्यु का काल ई०पू०

काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः ॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः ।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥

—वाक्यपदीय २-४८४ ४८९।

१ आविर्बभूवाभिमन्युः शतमन्युरिवापरः ।
चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशंतस्मात्तदागमम् ॥
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं नवम् ।

—राजतरंगिणी, १ १७४ तथा १७६ ॥

१०० तथा सैसेन के अनुसार ४० से ९५ ई० तक है। अन्य विद्वानों के मत से चन्द्रगोमी का समय पाँचवीं शती का अन्तिम चरण है। छठीं शताब्दी के लगभग उपर्युक्त कारणों से ही महाभाष्य का प्रचलन फिर कम हो गया। तब कश्मीर के जयापीड ने देशान्तरों से विद्वानों को बुलाकर विच्छिन्न भाष्य-परम्परा को पुनः प्रवर्तित किया।[1] वास्तव में महाभाष्य के प्रचार का बहुत कुछ श्रेय भर्तृहरि और कैयट को है। भर्तृहरि के वाक्यपदीय तथा महाभाष्य-दीपिका ने लोगों को महाभाष्य की ओर उन्मुख किया। दीपिका के केवल सात ही आह्निक हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं। इससे पता चलता है कि यह भी कालान्तर में लुप्त हो गई थी। यह टीका विस्तृत थी। नागेशभट्ट ने लघुशब्देन्दुशेखर में 'सोऽयमक्षरसमाम्नाय' 'पुष्पित' आदि पर भर्तृहरि की टीका उद्धृत की है। जयादित्य और भर्तृहरि के समय में विशेष अन्तर नहीं है। भर्तृहरि के वाक्यपदीय ने महाभाष्य को दर्शन-ग्रन्थों की कोटि में पहुँचा दिया। इसके परिणामस्वरूप उसके अध्ययन को प्रोत्साहन मिला। ६९० ई० में अर्थात् भर्तृहरि के कोई पचास वर्ष बाद इत्सिंग ने जो अपने संस्मरण लिखे उनमें उसने महाभाष्य का भी उल्लेख किया। उसने महाभाष्य को २४००० श्लोकों का चूर्णिग्रन्थ कहा।[2] यद्यपि वह कात्यायन के वार्तिकों को भूल से काशिका-वृत्ति-सूत्र कह गया। डॉ० भण्डारकर ने इस भूल की ओर संकेत करते हुए कहा है कि काशिका या जयादित्य के किसी अन्य ग्रन्थ को वृत्ति-सूत्र मान लेना या तो इत्सिंग की भूल है या उसे समझने में और आगे चलकर उसका अनुवाद करने में दूसरों ने भूल की है।[3]

---

१ देशान्तरादागमय्य व्याचक्षाणान् क्षमापतिः।
प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले॥

—राजत० ४।४८८।

२ देयर इज ए कमेण्टरी ऑन इट (दि वृत्तिसूत्र—दि काशिकावृत्ति) एण्टाइटिल्ड चूर्णि, कण्टेनिंग २४००० श्लोक्स। इट इज ए वर्क ऑफ् दि लर्नेड पतंजलि—मैक्समूलर द्वारा अपने रिमेन्स ऑफ् सं० लिटरेचर में उद्धृत।

३ ह्वेन इत्सिंग स्पीक्स ऑफ् पतञ्जलिज वर्क एज ए कमेण्टरी ऑन दि वृत्तिसूत्र ऐण्ड ऑफ् जयादित्य काशिका ऐज दि सेम वर्क ऑफ जयादित्य आर ही मीन मिस अण्डरस्टुड आर मिस ट्रान्सलेटेड लेटर।—कलेक्टेड वर्क्स ऑफ भण्डारकर, भाग १, पृ० १५८।

खण्ड २

भारत की भौगोलिक स्थिति

अध्याय १

भारत का भूगोल

पतंजलि का भारत—पतंजलि आधुनिक भारत के भू भाग से सम्यक् परिचित थे। वर्तमान भारत और पाकिस्तान के अन्तर्गत समस्त भू भाग में बिखरे पर्वतों, नदियों, अरण्यों, जनपदों और नगरों या ग्रामों के नाम महाभाष्य में आये हैं और उनमें से अनेक के विषय में उन्होंने विशेष जानकारी भी प्रस्तुत की है। पाणिनि का परिचय उत्तर-पश्चिम भारत से विशेष था, इसीलिए अष्टाध्यायी में पश्चिमोत्तर सीमाप्रदेश, सिन्धु और पंजाब से सम्बद्ध स्थलों का अधिक उल्लेख है। पतंजलि का सम्बन्ध मध्यदेश से अधिक रहा। फलतः महाभाष्य में पाणिनि द्वारा उल्लिखित स्थलों के साथ-साथ मध्यदेश-सम्बन्धी जानकारी अधिक विस्तार के साथ आ गई है। पश्चिमोत्तर प्रदेश के भी बहुत-से जनपदों, नगरों और ग्रामों का परिचय प्रामाणिक रूप से हमें सर्वप्रथम पतंजलि से ही प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उनसे भारत के पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी भागों की इतनी अधिक जानकारी प्राप्त होती है कि उसके आधार पर हम समग्र प्राचीन भारत की झाँकी देख सकते हैं। पतंजलि के पश्चात् भी कालिदास को छोड़कर अन्यत्र कहीं भारत का इतना समीचीन और विशद वर्णन देखने को नहीं मिलता।

आर्यावर्त की सीमा—पतंजलि ने भारत को दो भागों में बाँटा है—आर्यावर्त और बाह्य। पश्चिम में कुरुक्षेत्रान्तर्गत आदर्श जनपद, पूर्व में प्रयाग के समीप का कालक वन, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में पारियात्र उनके आर्यावर्त की सीमा थी।[1] उनकी दृष्टि में यह पवित्र और शिष्टों का देश था। इस प्रदेश में रहनेवाले कुम्भीधान्य (असंग्रही), अलोलुप, अगृह्यमाणकारण (इन्द्रियजयी) और सापेक्षिक अन्तर से किसी-न-किसी विशिष्ट विद्या में पारंगत ब्राह्मण शिष्ट थे।[2] उनका आचार और वाणी प्रमाण थी। इस क्षेत्र से बाहर रहनेवालों को उन्होंने आर्यावर्त से 'निरवसित' कहा है। किष्किन्ध, गन्धिक, शक, यवन, शौर्य, क्रौंच आदि देश आर्यावर्त से बाह्य थे और इनके निवासी आर्यावर्त-निरवसित।[3] भाष्यकार का यह कथन धर्मसूत्रों की प्रतिध्वनि-मात्र है।[4] पतंजलि की आर्यावर्त की परिभाषा अक्षरशः और शिष्ट की परिभाषा शब्दों के थोड़े-से हेरफेर के

---

१ कः पुनरार्यावर्तः? प्रागादर्शात् प्रत्यक्कालकवनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्।—२ ४ १०, पृ० ४६५।

२ एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः।—६ ३-१०९, पृ० १५९।

३ २-४-१०, पृ० ४६५।

४ बौधा० १ १ १० तथा वासिष्ठ १-८, ९ १०।

साथ नहीं है,[1] जो बौधायन धर्मसूत्र या वासिष्ठ धर्मशास्त्र की है। वासिष्ठ धर्मशास्त्र में परियात्र के अतिरिक्त विन्ध्य भी आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा माना गया है।[2] बौधायन ने आरट्ट कारस्कर, पुण्ड्र सौवीर, बंग और कलिंग को पतित देश कहा है तथा इनमें जानेवालों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है।[3] भाष्यकार ने भी शकयवनादि देशों को निरवसित या बहिष्कृत माना है और इनकी वही स्थिति स्वीकार की है जो चातुर्वर्ण्य में शूद्रों की थी। बौधायन के समान वे भी आरट्ट या वाहीक देश को पतित मानते थे। उन्होंने कहा है कि यद्यपि मूर्खतादि गुणों के साम्य के कारण वाहीक-वासी को भी या पशु कह देते हैं किन्तु जहाँ गो या अज के बलि-प्रदान का विधान होता है वहाँ वाहीक की बलि नहीं दी जाती।

प्रादेशिक विभाग—दिशाओं के आधार पर भी पतंजलि ने भारत के विभाग किये हैं। आर्यावर्त की सीमा से मिले हुए वाहीक-प्रदेश से आगे के स्थलों को उन्होंने उदीच्य[4] कहा है और विन्ध्य या पारियात्र से दक्षिण की ओर के प्रदेश को दक्षिणापथ। इस प्रदेश के निवासी दाक्षिणात्य कहलाते थे। उन्होंने कात्यायन (वार्तिककार) को भी दाक्षिणात्य[5] कहा है और दाक्षिणात्यों की एक विशेषता बतलाई है—उनका तद्धितान्त प्रयोगों के प्रति प्रेम। कहा नहीं जा सकता कि दाक्षिणात्य से उनका आशय आर्यावर्त के अन्तर्गत दक्षिण प्रदेश से था या दक्षिणापथ से। वर्तमान भारतीय भाषाओं में मराठी की प्रवृत्ति तद्धितान्त प्रयोगों की ओर सर्वाधिक है। इससे अनुमान होता है कि यह दाक्षिणात्य प्रदेश महाराष्ट्र रहा होगा। दक्षिण में वे न केवल चोल केरल और पाण्ड्य जनपदों तथा कन्याकुमारी अनूप नासिक्य आदि नगरों से परिचित थे अपितु इन स्थानों की भाषागत विशेषताओं को भी जानते थे। उन्होंने कहा है कि दक्षिणापथ में बड़े-बड़े सरों को सरसी कहते हैं। उदीच्य और प्रतीच्य सीमान्त-प्रदेशों के भी अनेक आर्य और आर्येतर जनपदों का उल्लेख उन्होंने किया है। कम्बोज गान्धार, वाहीक मेष शरद सिन्धु, सौवीर काश्मीर, चीन एवं वासाद् जनपदों तक की उन्हें जानकारी थी।

पतंजलि ने दक्षिणापथ को छोड़कर शेष भारत को प्राचीन और उदीचीन भागों में बाँटा है।[6] यद्यपि इन शब्दों के साथ उन्होंने प्रतीचीन शब्द का भी उल्लेख किया है, किन्तु किसी प्रतीचीन नगर या ग्राम का वर्णन नहीं किया है। उदीच्य ग्राम और वाहीक ग्राम दोनों का पृथक्-पृथक्

---

१ शिष्टा खलु विगतमत्सरा निरहङ्कारा: कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिता:।—बौधा० १ १-५ तथा शिष्ट: पुनरकामात्मा।—वासिष्ठ, १ ६।

२ उत्तरेण हि विन्ध्यस्य।—वासिष्ठ, १ ९।

३ आरट्टान् कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान् वङ्गान् कलिङ्गान् प्रानूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा।—बौधा० १ १ १५।

४ ८ ३-८३ पृ० ४५८।

५ ४-२ १०४ पृ० २०५।

६. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या:।—भा० १, पृ० १८।

७ दक्षिणापथे महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते।—१ १ १६, पृ० १९०।

८. ५ ४-८, पृ० ४८५।

उल्लेख इस ओर संकेत करता है कि उदीच्य देश पूर्वी पंजाब से ऊपर का क्षेत्र माना जाता था।[1] इन दोनों से भिन्न 'प्राचाम्' ग्राम-नगर थे।[2] पाणिनि ने 'प्राचाम्' मत अनेक बार उद्धृत किया है। उनकी दृष्टि में कुरुक्षेत्र और पंचाल प्राच्यदेश थे। पतंजलि ने उदीच्य और प्राच्य शब्दों का प्रयोग दो अर्थों में किया है। पाणिनीय सूत्रों से जिन स्थानों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है उनके सम्बन्ध में उन्होंने उसी अर्थ में इन शब्दों का व्यवहार किया है, जिस अर्थ में पाणिनि ने। किन्तु, जहाँ स्वतन्त्र रूप से इन शब्दों का प्रयोग हुआ है वहाँ प्राच्य का अर्थ 'आर्यावर्त से पूर्व का प्रदेश' है जिसमें विदेह, वृजि, मगध आदि थे। इस प्रकार, पाणिनि और पतंजलि के प्राच्यदेश भिन्न-भिन्न हैं।

आर्यावर्त की सीमा के भीतर भी प्राच्य, उदीच्य और मध्यम विभाग थे।[3] पतंजलि द्वारा उल्लिखित प्राच्यादि जनपद आर्यावर्त की सीमा के ही भीतर थे।

आर्यावर्त में रहनेवाले शिष्ट लोगों के लिए भाष्य में सामान्यतया आर्य शब्द का प्रयोग है किन्तु बाह्य लोगों का अभिधान उनके प्रदेश के नाम से हुआ है। उदाहरणार्थ—उन्होंने कहा है कि गति अर्थ में 'शव' धातु का व्यवहार कम्बोजों में ही होता है। आर्य लोग विकार अर्थ में ही इसका प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार जाने के अर्थ में सुराष्ट्र में 'हम्म' धातु प्रचलित है, प्राच्य और मध्य देशों में 'रंह' तथा आर्यों में गम्। प्राच्यों में काटने के अर्थ में 'दाति' शब्द का प्रचार है, किन्तु उदीच्य देशों में 'दात्र' का।[4] प्राच्य-मध्य या प्राच्य और मध्यदेश से उनका क्या आशय है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। वास्तव में भाष्यकार के प्राच्य, प्राच्य-मध्य, मध्यम, दाक्षिणात्य, उदीच्य आदि देशों के बीच कोई निश्चित सीमारेखा नहीं है। स्थूल रूप से आर्यावर्त को केन्द्र मानकर उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग किया है।

पूर्व में अंग, वंग, सुह्म और पुण्ड्र तक से उनका परिचय था।

जनपद और विषय—पतंजलि ने जनपद, विषय, निवास और देश शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थों में किया है। जनपद किसी-न-किसी क्षत्रिय जाति के नाम पर बने थे। कोई क्षत्रिय जाति जितने प्रदेश पर अधिकार करके वहाँ बस गई, उतना प्रदेश उस क्षत्रिय जाति के नाम पर पुकारा जाने लगा। कम्बोज, गान्धार, काश्मीर, अंग, वंग, चोल, केरल, अवन्ति आदि इसी अर्थ में जनपद थे। कभी-कभी एक 'जन' की स्थिति दुर्बल हो जाती थी और दूसरा 'जन' उसके प्रदेश पर अधिकार कर लेता था। ऐसी स्थिति में प्रथम लोगों का वह निवासमात्र रह जाता था और द्वितीय जन का विषय या विषयाभिधान जनपद बन जाता था। भाष्य में जहाँ किसी प्रदेश को

---

१ अष्टा० ४-२-१०९ तथा ११७; भाष्य ४-२-१०४, पृ० ९०५ ६।

२ ७-३-१४, पृ० १७९।

३ सप्त प्राच्याः, सप्त उदीच्याः, सप्तौ मध्यमाः सर्वे निवासलक्षणाः।—४-२-११८, पृ० २१८।

४ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रम् उदीच्येषु।—आ० १, पृ० २१।

किन्हीं लोगों का निवास कहा है वहाँ उनका तात्पर्य केवल निवास से है यह आवश्यक नहीं कि वहाँ उनका आधिपत्य भी हो। उदाहरणार्थ—मालावत लोगों का निवास मालावत-प्रदेश था।[1] विषय का अर्थ अधिकृत देश था। यह आवश्यक नहीं कि अधिकारी 'जन' उस प्रदेश के निवासी भी हों। उदाहरणार्थ—शैव वासातु, गान्धार, वंग सुह्म पुण्ड्र, राजन्य दैवयातव आदि विषय इन प्रदेशों पर सम्बद्ध जातियों के अधिकार को सूचित करते हैं। सम्भव है, इनमें किसी जाति का ऐसा विषय भी हो जिसमें वह रहती न हो।[2] देश शब्द सामान्यतया स्थान का द्योतक था। उसका विशेष नाम दो कारणों से पड़ता था। किसी जाति का निवास होने के कारण या उसके अभिजन सम्बन्ध से। कोई देश तब किसी जाति का निवास कहला सकता था जब वह जाति वहाँ बसती हो। अभिजन के लिए वर्तमान काल में रहना आवश्यक न था।[3] पूर्वजों के निवास अभिजन माने जाते थे। भाष्य में जनपद शब्द ग्राम-समूह के अर्थ में कई बार प्रयुक्त हुआ है। जातिविशेष, उसके जनपद और उस जनपद के राजा के लिए एक ही शब्द का व्यवहार होता था।[4]

जनपदों में कभी-कभी दो या अधिक संयुक्त हो जाते थे। तब वे जनपद-समुदाय कहलाते थे।[5] क्षुद्रक-मालव या काशी-कोशल इस प्रकार के जनपद-समुदाय थे। किसी-किसी जनपद के अन्तर्गत कई छोटे-छोटे जनपद उसके प्रान्त-रूप में होते थे। इन्हें जनपदावयव कहते थे।[6] साल्व के कई घटक साल्वावयव के नाम से प्रसिद्ध थे। कुछ जनपद मिलकर एक संघ बना लेते थे। त्रिगर्तषष्ठ इस प्रकार का जनपद-संघ था। एक ही जनपद के प्रान्तों में सीमा पर के छोटे जनपद जनपदावधि कहे जाते थे।

देश—देश शब्द का प्रयोग जनपद विषय या निवास अर्थ के अन्तर्भाव के बिना ही होता था। इसी आशय से भाष्यकार ने कहा है कि जो शब्द एक देश में प्रयुक्त नहीं होते वे देशान्तर में प्रयुक्त होते हैं। देश में कम्बोज सुराष्ट्र आदि भी गृहीत होते थे और प्राच्य मध्य आदि भी इसी सामान्य अर्थ में भाष्य में प्राची देश उदीच्य देश या दाक्षिणात्य देश शब्दों का व्यवहार[8] है और लौहितगंग उग्मतमम शीघ्रपतीक निर्भ आदि का भी।[9] इन स्थानों में देश शब्द छोटे से क्षेत्र का वाचक है। बस्ती या निवास के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

राष्ट्र—राष्ट्र शब्द का भी व्यवहार पतंजलि ने किया है किन्तु उसका निश्चित स्वरूप

---

१ ४ २-७१, पृ० ११५।

२ ४-२-५२, पृ० १८४।

३ निवासो नाम यत्र संप्रत्युष्यते अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्।—४ ३-९०, पृ० २६६।

४ ४-१ १६, पृ० १६२।

५ ४ १-५४, पृ० ९८।

६. ४ २-११३, पृ० २९७ तथा ४ १ १७३।

७. ५ ३-११६, का०।

८. ४-२-१२४, पृ० २९५।

९. का० १, पृ० २११

१० १ ४ १ पृ० १०७।

उन्होंने उपस्थित नहीं किया है। पाणिनि और पतंजलि दोनों से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि राष्ट्र किसी राजा के अधीन प्रदेश को कहते थे।[1] उसमें किसी जाति-विशेष के निवास-स्थान या उसके द्वारा अधिकृत विषय होने का अर्थ निहित नहीं था। 'नेशन' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है।

तीर्थ—अनेक जनपदों उनमें निवास करनेवाली जातियों पर्वतों पर्वतीय निवास देशों, उनमें बसी जातियों नगरों, ग्रामों और नदियों से परिचय पाने के बाद भी महाभाष्य के पाठकों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि सम्पूर्ण भाष्य में किसी स्थल का तीर्थ के रूप में उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं तीर्थ शब्द तक केवल एक बार आया है और वह भी गुरुकुल के अर्थ में।

समुद्र—भाष्यकार के भारत का वर्णन तबतक पूर्ण नहीं होता जबतक तीन सीमान्तों पर उसका पाद-प्रक्षालन करनेवाले समुद्रों का दर्शन न कर लिया जाय। उन्होंने बाडव-सहित समुद्र का अनेक बार उल्लेख किया है।[2] जिस प्रकार हिमालय के समानार्थी अनेक शब्दों में केवल हिमवान् से उन्हें प्रेम है उसी प्रकार सागर के अनेक पर्यायों में समुद्र से। सागर ही नहीं सागर से सम्बद्ध प्रदेशों में कच्छ द्वीप, अनूप अन्तरीप और अन्वीप नाम भाष्य में आये हैं।[3] कच्छानूप से तो वे परिचित थे ही।

सांस्कृतिक एकता—पतंजलि द्वारा वर्णित देश के भीतर हिन्दूकुश से हिन्द-महासागर तक (जिसमें अफगानिस्तान का भी अधिकांश सम्मिलित है) तथा कच्छ-काठियावाड़ से आसाम तक का सारा क्षेत्र आ जाता है। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जो जातियाँ इस क्षेत्र के भीतर रहती रही हैं वे रहन-सहन के सामान्य भेदों के होते हुए भी कुछ सामान्य सूत्रों में आबद्ध थीं। इनमें सबसे बढ़कर एकसूत्रता भाषा की थी।

---

१ यो हि राष्ट्रे प्रायेण भवति तत्र भवोऽसौ भवति।—४-१ ३९, पृ० २३३।
२ ९-१ ४९, पृ० २९४।
३ ८ १ ४, पृ० २६४।
४ ११-१७ पृ० ४०१ तथा १ ४-६, पृ० १११।

अध्याय २

पर्वत और अरण्य

हिमवान्—आर्यावर्त की सीमा के वर्णन प्रसंग में भाष्यकार ने हिमवान् और पारियात्र का उल्लेख किया है।[1] हिमवान् भारत की उत्तरी सीमा का प्रहरी रहा है। यह नाम सार्थक था क्योंकि इसकी चोटियों पर बारहों मास बर्फ जमी रहती है। हिमवान् की शृंग-श्रेणियां 'हिम्य' कही जाती थीं।[2] हिम की अधिकता के कारण यह संज्ञा दी गई थी। इसके ठीक विरुद्ध वे पर्वत हैं जिनपर हिम का लेशमात्र नहीं रहता। ये पर्वत 'हिमेलु' कहे जाते थे।[3] भाष्यकार हिमालय की महत्ता गुरुता और विस्तार से परिचित थे। उन्होंने गुरुता के प्रतीक के रूप में उसका वर्णन किया है।[4] हिमालय पर जमनेवाली बर्फ का अम्बार 'हिमानी' कहलाता था।[5] शृंगों पर जमी हुई बर्फ ग्रीष्म काल में पिघलती है, जिससे नदियों में पूर आता है। भाष्य में इसे 'हिमश्रथ' कहा है। हिमश्रथ हिमालय से निकलनेवाली नदियों को सतत जल प्रदान करता रहता है। इन नदियों में गंगा का उल्लेख भाष्य में विशेषतः हुआ है।

हिमशृंग—भाष्य में हिमालय की दो चोटियों के नाम मिलते हैं। ये चोटियाँ 'सौर्य' कहलाती थीं जिनके कारण हिमालय का एक नाम 'सौर्यी' भी था। सौर्य-शृंग कौन-से हैं, यह पता अभी तक नहीं लग सका है। 'प्रस्थ' भी हिमालय के दो शृंग बतलाये गये हैं। प्रस्थ सौर्य-शृंगों का ही दूसरा नाम था या अन्य किन्हीं शिखरों का अथवा पर्वत के ऊपर की सपाट भूमि के अर्थ में प्रस्थ शब्द आया है यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है। भाष्यकार ने सौर्य और प्रस्थ दोनों का प्रयोग द्विवचन में किया है जिससे यह अनुमान होता है कि वे हिमालय की किन्हीं दो चोटियों से अवश्य परिचित थे। सौर्य-शृंगों के कारण ही हिमालय का नाम सौर्यी पड़ने से इतना तो निर्विवाद है कि सौर्य किसी विशेष चोटी का नाम था सामान्य संज्ञा शब्द नहीं था। प्रस्थ के

---

१ २-४-१० पृ० ४६५।
२ ५-२-११०, पृ० ४२०।
३ ५-२-१२२, पृ० ४२१।
४ ५-३-५५, पृ० ४४५।
५ १-४-११, पृ० १४०।
६ ४-१-४९, पृ० ६३।
७ १-१-४ पृ० १११।
८ १-४-३१ पृ० ११६।
९ सौर्यो हिमवतः शृङ्गे। स्वाम् सौर्यी हिमवान्।—१ १-५७, पृ० १७१।

विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। फिर भी प्रस्थ हिमालय की ही चोटियाँ थीं। अन्य किसी पर्वत की चोटी के लिए यह शब्द प्रयुक्त नहीं होता था। 'प्रस्थे हिमवतः शृङ्गे'[1] का अर्थ यह भी हो सकता है कि हिमालय की दो चोटियाँ प्रस्थ (ऊपर समतल स्थानवाली) हैं। हिमवान् का एक शृंग गौरीशंकर मध्य में नीचा होकर पूर्व और पश्चिम छोरों पर ऊँचा है। इस कारण वह एक होकर भी 'द्विवत्' प्रतीत होता है। संभव है, इसी शृंग को प्रस्थ कहते हों।

भाष्यकार ने हिमालय को गमनशील कहा है। यह उससे पिघलकर बहनेवाली बर्फ या निकलनेवाली नदियों को लक्ष्य कर कहा गया है।[2] सामान्यतया पर्वत त्रिकाल-स्थिर कहे गए हैं।[3]

त्रिककुत्-श्रेणी—प्राचीन ग्रन्थों में हिमालय के अनेक नाम मिलते हैं किन्तु पतंजलि ने सर्वत्र हिमवान् शब्द का ही प्रयोग किया है। हिमालय का विस्तार सुलेमान पर्वत-श्रेणी से लेकर भारत की समस्त उत्तरी सीमा आसाम तथा पूर्व में अराकान पर्वत-श्रेणियों तक माना गया है। पाणिनि भी इससे परिचित थे। उन्होंने त्रिककुत् का उल्लेख किया है, जो काशिकाकार के अनुसार ककुदाकार शृंगोंवाले पर्वत-विशेष का नाम था। तीन शिखरोंवाले अन्य पर्वत त्रिककुद् कहे जाते थे।[4] किंशुलकादि गण के साल्वकागिरि, अंजनागिरि, भंजनागिरि, लोहितागिरि और कुक्कुटगिरि सुलेमान और समीपवर्ती पर्वत-श्रेणियों के नाम थे।[5] इनमें कुक्कुटागिरि का उल्लेख तो पालि-ग्रन्थों में भी मिलता है।[6] अंजनागिरि का उल्लेख रामायण के किष्किन्धाकाण्ड (३७-५) में है। यह सुलेमान पर्वत का ही प्राचीन नाम है। यह बलूचिस्तान को पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश से पृथक् करता है। इसकी सबसे ऊँची चोटी तख्ते सुलेमान ११२९५ फुट ऊँची है। इसी प्रकार अंजनागिरि का वर्णन जातक (५.४५१) में पाया जाता है। पाणिनि ने आयुधजीवियों के निवास-पर्वतों की चर्चा की है और काशिकाकार ने उनमें हृद्गोल अन्धकवर्त रोहितगिरि एवं [illegible] नाम गिनाए हैं। ये सब भी सुलेमान पर्वत-श्रेणी के ही अंग हैं। हृद्गोल का प्राकृत नाम हिंगुल है, जो अघोर या हिंगुला नदी के किनारे, समुद्र-तट से कोई २० मील की दूरी पर पर्वत-श्रेणी के द्वार के रूप में बलूचिस्तान में अवस्थित है।[8] जातक (५.४१५) में भी हिंगुलागिरि हिमालय में ही बतलाया गया है। लोहितागिरि हिन्दूकुश पर्वत का पुराना नाम है जिसके आधार पर अफगानिस्तान का प्राचीन काल में रोह नाम दिया गया था। पतंजलि

१ ३-१-५८, पृ० १०८।

२ हिमवानपि गच्छति।—१ २-११६, पृ० २५६।

३ वही, पृ० २५५।

४ त्रिककुत् पर्वते ककुदाकारं पर्वतस्य शृङ्गं ककुदमित्युच्यते। न च सर्वस्त्रिशिखरः पर्वतस्त्रिककुत्। किं तर्हि? संज्ञैषा पर्वतविशेषस्य। त्रिककुदोऽन्यः।—५ ४ १४७ काशि०।

५ ६-१ ११७।

६ अग्रवाल पृ० १७८।

७ ४ ३-९१।

८ दे० ज्या० डिक्श०, पृ० ७५।

का मालाकन्द या वर्तमान मलाकन्द भी जो स्वात नदी के दक्षिण में है इसी श्रेणी का अंग है। श्री बी० सी० ला के मत से हिन्दूकुश का प्राचीन नाम माल्यवत् था।[1] रामायण और कालिदास ने माल्यवान् लंका और चित्रकूट के बीच माना है। सम्भव है मालाकन्द ही हिन्दूकुश का प्राचीन नाम रहा हो। कापिशी के साथ भाष्यकार ने पार्वतेय का उल्लेख किया है।[2] डॉ० वा० श० अग्रवाल के मत से यह हिन्दूकुशगिरि का प्रदेश है जिसे प्राचीन लेखकों ने pardene कहा है।[3] पार्वतेय शब्द पतंजलि के अनुसार, पर्व से बना है। डॉ० अग्रवाल के मत को स्वीकृत करने पर हिन्दूकुश हिगुला और पर्व पर्यायवाची ठहरते हैं। दरद की चर्चा भाष्य में बार-बार हुई है। दरद पर्वत-श्रेणी तथा उसके निवासियों से भाष्यकार का निकट परिचय जान पड़ता है। दरद में होकर बहने के कारण सिन्धु दारदी कही गई है।[4] उत्तर-पश्चिम पर्वत-श्रेणियों को छोड़कर हिमवान् के अन्य भागों का उल्लेख भाष्य में नहीं मिलता।

हिमवान् के अवान्तर भाग—हिमालय के तीन विभागों महाहिमवान्, क्षुद्रहिमवान् और बहिर्हिमवान् से भी भाष्यकार परिचित जान पड़ते हैं। 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' में भी इन विभागों की चर्चा आई है। इससे अनुमान होता है कि भाष्यकार ने 'महान् हिमवान्' का उल्लेख पूर्वीय पर्वत-माला के लिए उसके विशिष्ट अर्थ में ही किया है। पाणिनि का 'गिरेश्च सेनकस्य' सूत्र (५ १ ११२) भी इस ओर संकेत करता है कि पतंजलि-काल में ऊँचाई और विस्तार की दृष्टि से हिमालय के अवान्तर भेद और नाम प्रचलित थे। इस सूत्र के अनुसार निष्पन्न शब्द संज्ञावाचक थे। उदाहरणार्थ—अन्तर्गिरि सन्थालपरगना जिले की राजमहल पहाड़ियों का एक नाम कहलाता था।[6] हिमालय की अधित्यका बहिर्गिरि कहलाती थी। उपत्यका हाथियों की अधिकता के लिए प्रसिद्ध थी। यह नेपाल की तराई और पूर्व का भाग है। पर्वत वृक्षों से भरे-पूरे होते हैं, यह अनुमान भाष्यकार ने हिमवान् को देखकर ही किया होगा।[8]

पारियात्र—पारियात्र आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा थी। भाष्यकार ने आर्यावर्त की सीमा के प्रकरणों को छोड़कर अन्यत्र भी हिमवान् के साथ ही पारियात्र का उल्लेख किया है।[10]

---

१ अग्रवाल पाणिनि, पृ० ४१ तथा हिस्टा० ज्याग्रा०, पृ० १८।

२ ४-२-९९, पृ० २०३।

३ हिस्टा० ज्याग्रा० पृ० ४०।

४ ४ १ ११० पृ० २४१, ६ ३ १४, पृ० ३१०, ६ ३-४२ पृ० ३२९।

५ ४ ३-८३ काशि०।

६. पार्जिटर मार्क० पु० पृ० ३२५ नोट।

७. ७-३ ४५, पृ० १८९। डी ला (ज्याग्रफ एन ऐन इं० पृ० ३८९) के अनुसार भागलपुर और मुंगेर के पास का पहाड़ी क्षेत्र बहिर्गिरि था।

८. ५ २-३४ पृ० ४०८।

९. वही, पृ० ४०३।

१० ८ १ ४ पृ० २६४।

धर्मसूत्र भी पारियात्र को उत्तरापथ और दक्षिणापथ के बीच सीमा रेखा मानते हैं। पारियात्र का सर्वप्रथम उल्लेख बौधायन (१ १ २५) में मिलता है। स्कन्दपुराण में इसे भारतवर्ष के मध्य में स्थित और कुमारीखण्ड का दूरतम भाग बतलाया है। पार्जिटर के मत में पारियात्र वर्तमान भोपाल के पश्चिम में स्थित विन्ध्य भाग तथा अरावली पर्वतों का प्राचीन नाम था।[1] इसी को टाल्मी (Ptolemy) ने Apokopa कहा है।[2]

विन्ध्य—विन्ध्य की चर्चा भाष्य में आनुषंगिक रूप से ही आई है—कोई चाहे तो छोटी सी धान्य-राशि को विन्ध्य कह सकता है। इससे स्पष्ट है कि पतञ्जलि विन्ध्य की ऊँचाई से परिचित थे। इसीलिए, उन्होंने खलतिक की उपमा हिमवान् से न देकर विन्ध्य से दी है।[3] पतञ्जलि काल में विन्ध्य शब्द वर्तमान विन्ध्य पर्वत की उस शाखा के लिए प्रयुक्त होता था जो नर्मदा और ताप्ती का उद्गम-स्थल है और जिसे टाल्मी ने औण्डन (Ouindon) कहा है। विन्ध्य के विभिन्न भागों के अलग-अलग नाम थे। उदाहरणार्थ—विन्ध्य-पाद-स्थित उस पर्वत का नाम था जिसे टाल्मी ने Sardonyx बतलाया है। यह ताप्ती का उद्गम-स्थल सतपुड़ा-श्रेणी है।

विदूर—विदूर पर्वत वैदूर्य मणि का प्रभव माना जाता था। वास्तव में इसका नाम बालवाय था किन्तु वैयाकरण विदूर कहते थे। वैदूर्य मणि विदूर में उत्पन्न नहीं होती थी वहाँ उसका संस्कार किया जाता था।[4] विदूर सतपुड़ा की उस श्रेणी को कहते थे जिसमें होकर ताप्ती की सहायक नदियाँ पयोष्णी और नर्मदा बहती हैं।[5] यह गुजरात-प्रदेश में है। महाभारत के अनुसार अगस्त्य का आश्रम इस पर्वत पर था। सह्याद्रि से सटा सबसे महत्वपूर्ण पर्वत यही है। पश्चिमी घाट-श्रेणी का उत्तरांचल इसके अन्तर्गत था किन्तु महाभारत के अनुसार इसमें दक्षिणी विन्ध्य का एक भाग तथा सतपुड़ा-श्रेणी सम्मिलित थी।[6]

खलतिक—खलतिक पर्वत के चारों ओर के वन भी खलतिक कहलाते थे।[7] पतञ्जलि के अतिरिक्त अशोक के गुफा-लेखों (सं० २ ३) में भी इसका उल्लेख है। गया के उत्तर और राजगृह के पश्चिम में स्थित वर्तमान बराबर पहाड़ियों का ही दूसरा नाम खलतिक था।[8]

अरण्य

पतञ्जलि के समय में देश का एक बड़ा भाग वनों या अरण्यों से घिरा था। आरण्य पशु

---

१ ज्याग्रा० ऑफ् इण्डिया, पृ० १७-१८।
२ पौराणिक ज्याग्रफी, पृ० ३५५।
३ २-१-५०, पृ० ४८२।
४ वैयाकरणाः बालवायं विदूर इत्युपाचक्षते।—४ ३-८४, पृ० ३४३।
५ प्रयुज्नोऽयं निर्वातो न ह्यसौ विदूरात् प्रभवति विदूरे संस्क्रियते।—वही।
६ महाभारत ३ १२१ १६ से १९।
७ खलतिकस्य पर्वतस्यादूरभवानि खलतिकं वनानि।—१ २-५२, पृ० ५५५।
८ जर्नल ऑफ् बंगाल ओरियण्टल रिसर्च सोसायटी, जिल्द १ भाग २, पृ० १६२।

अध्याय ३

नदियाँ

सिन्धु—महाभाष्य में पर्वतों के साथ-साथ सम्पूर्ण आर्यावर्त और उससे बाहर भारत में बहनेवाली बहुत-सी नदियों के नाम आये हैं। इनमें भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त देश सिन्धु तथा पंजाब में बहनेवाली सिन्धु-समूह की नदियाँ प्रमुख हैं। ऋग्वेद की इक्कीस नदियों में सात का ही उल्लेख भाष्यकार ने किया है। ऋग्वेद में सिन्धु का महत्त्व सर्वाधिक है। इसमें सिन्धु इस प्रकार अन्नों का पोषण करनेवाली कही गई है, जैसे माता पुत्रों का या गौ दुग्ध से मनुष्यों का पालन करती है।[1] नदीसूक्त (१०-७५) में जो प्रियमेध-परिवार के सिन्धुक्षित की रचना है सिन्धु का वर्णन अन्य सब नदियों से अधिक हुआ है। वह देवताओं के समान रथ पर चलती कही गई है। इस सूक्त की छठी और आठवीं ऋचाओं में भी उसमें देवत्व की प्रतिष्ठा की गई है।[2] ऋग्वेदकालीन सभ्यता का निर्माण नदियों के किनारे पर हुआ था। इस काल में घटनाओं और व्यक्तियों के नाम तक नदियों के नाम पर रखे जाते थे। महाभाष्य-काल की स्थिति भिन्न थी। उस समय सभ्यता का केन्द्र सिन्धु प्रदेश के बदले आर्यावर्त बन गया था जिसकी सीमा सरस्वती के नीचे की ओर थी। इसीलिए भाष्यकार ने सिन्धु-समूह की अपेक्षा गंगा-समूह की नदियों का उल्लेख अधिक किया है।

सप्त सिन्धव—सिन्धु का स्वतन्त्र उल्लेख भाष्य में केवल एक बार ऋग्वेद के एक उद्धरण के अन्तर्गत हुआ है। इससे पता चलता है नौका द्वारा सिन्धु पार की जाती थी यद्यपि यह काम कठिन माना जाता था। एक स्थान पर उद्धरण के भीतर ही सप्त सिन्धुओं की भी चर्चा आई है।[3] प्राचीन काल के आर्य देश का वर्णन सात सिन्धुओं सरस्वतियों गंगाओं या नदियों के द्वारा करने की परिपाटी रही है। ऋग्वेद-काल में सम्पूर्ण आर्याधिष्ठित प्रदेश का वर्णन 'सप्त सिन्धवः' कहकर किया जाता रहा।[4] पंजाब की पाँच नदियाँ सरस्वती या कुभा (काबुल) और सिन्धु मिलकर 'सप्त सिन्धवः' कही जाती थीं। जब आर्यावर्त का विस्तार आसमुद्र हो गया

---

१ अभित्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः। —ऋग्० १०-७५ ४।

२ सुखं रथं युयुजे।—ऋग्० १०-७५-९।

३ वही, ऋग्० ६, ८।

४ सक्तुमिव तितउना।—७-१ १६, पृ० ४५।

५ भा० १, पृ० १०।

६ ऋग्० १०-७५ ४।

तब गंगा यमुना, गोदावरी सरस्वती नर्मदा सिन्धु और कावेरी य 'सप्तसिन्धु' कहलाने लगीं।[1] बौद्धों के मध्यदेश की भी बाहुका अधिकक्का गया (फल्गु) सुन्दरिका सरस्वती प्रयाग (गंगा-यमुना-संगम) और बाहुमती य सात ही पवित्र नदियाँ हैं।[2] विसुद्धिमग्ग म इनके स्थान पर गंगा यमुना सरयू सरस्वती अचिरवती माही और महानदी य सात नाम मिलते हैं।[3] ग्रन्थ क महरौली स्तम्भ-लेख में सिन्धु क सात मुख बतलाये गये हैं।[4] य समुद्र म मिलने से पहले सिन्धु की सात धाराएं हैं। ये भी 'सप्त सिन्धु' कही जाती रही हैं।

सिन्धु-समूह—सिन्धु तिब्बत क पश्चिम भाग में कैलास पर्वत क उत्तर-पूर्व में स्थित मानस झील से निकलकर पहले दो धाराओं में बहती है जिनमें एक धारा कैलास के उत्तर पश्चिम की दिशा में चली जाती है और दूसरी दक्षिण-पश्चिम दिशा म। प्लिनी क अनुसार सिन्धु-समूह में उन्नीस नदियाँ गिनी जाती थीं जिनम सर्वाधिक महत्त्व की नदी सतलज (Hesydrus) है। सिन्धु भारत की पश्चिमी सीमा मानी जाती रही है।[5] नदीसूक्त में सिन्धु की कई सहायक नदियों का उल्लेख है। इनमें कुभा का आधुनिक नाम काबुल है जिसे एरियन (Arrian) ने Kophes कहा है और पुराणों न कुहू। इसी में सुवास्तु या स्वात और गौरी (पंजकोरा) मिलती हैं। वैदिक क्रुमु, जिसे अब कुरम कहते हैं तथा गामल नदी को आत्मसात् कर सिन्धु में मिलती है। गोमती या गोमल इसकी पश्चिमी सहायक नदी है।[6]

सिन्धु-समूह की नदियाँ—सिन्धु की पूर्वी सहायक नदियों में चन्द्रभागा (चेनाब) वितस्ता (झेलम) इरावती (रावी) और विपाशा (व्यास) हैं। चन्द्रभागा नदी का परिगमन बाह्लादि गण में हुआ है। यही ऋग्वेद की असिक्नी है, जिसे एरियन न Akesines कहा है। इरावती का उल्लेख काशिकाकार[7] ने इन्द्र क एतत्-प्रसंग म उद्धृत के साथ किया है। इस ग्रीक इतिहास कारों ने Hydraotis, Adris या Rhoadis कहा है। यह सर्वप्रथम काश्मीर में चम्बा क दक्षिण पश्चिमी किनारे पर दिखाई देती है। वहाँ से लाहौर होकर दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हुई वितस्ता और चन्द्रभागा की संयुक्त धारा में मिल जाती है। विपाट विपाशा या व्यास पीरपंजाल गिरिमाला से निकलकर काश्मीर में रावी के उद्गम-स्थल चम्बा के पास ही दृष्टिगोचर होती है और फिर दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हुई २९० मील क बाद शुतुद्रि में मिलती है। इसे ग्रीक लोगों ने Hypases या Hyphasis कहा है। भाष्यकार न विपाशा और शुतुद्रि दोनों

---

१ गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥
२ मज्झिमनिकाय १ पृ० ३९।
३ विसुद्धिमग्ग १ १०।
४ तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका।
५ मैक्रिंडिल: ऐन० इण्डि० पृ० २८, ४३।
६ लॉ रिवर्स ऑफ् इण्डिया पृ० ११०।
७ ४ १ ९६, पृ० ५६।
८ २-४-७।

का उल्लेख गंगा और यमुना के साथ किया है।[1] उन्होंने ऋग्वेद का एक मंत्रांश (३-३३-१ तथा १०-७५-५) भी उद्धृत किया है[2] जिसमें शुतुद्रि नाम आया है।[3] विपाशा का परिगणन शरदादि गण में भी है। पाणिनि ने विपाशा के उत्तर और दक्षिण प्रदेशों में बनाये जानेवाले कूपों का विशेषतः उल्लेख किया है और दोनों ओर बने कूपों में अन्तर बतलाया है।[4] भाष्यकार ने भी शरदादि गण में विपाश् के परिगणन पर विचार किया है।[5] शुतुद्रि नाम धाराओं में बहने के कारण पड़ा है। शुतुद्रि मानसरोवर के पश्चिमी भाग से निकलकर कमेत (Kamet) पर्वत पर दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़ी है और फिर पश्चिम की ओर चली है। बाद में कपूरथला के दक्षिण-पश्चिम छोर पर विपाशा इसमें मिल गई है। इसके बाद शुतुद्रि और विपाशा की संयुक्त धाराएँ दक्षिण-पश्चिम की ओर बही हैं और अलीपुर तथा उच (Uch) के बीच में वे चन्द्रभागा से मिल गई हैं। पाजिटर के अनुसार प्राचीन काल में यह सिन्धु के सीमान्त तक स्वतन्त्र बहती थी। शुतुद्रि और विपाशा की संयुक्त धारा अब 'घग्घर' कहलाती है। एरियन के समय तक यह नदी कच्छ की खाड़ी तक स्वतन्त्र रूप से बहती थी।[6]

भाष्यकार ने सिन्धु की पाँचों सहायक नदियों के समूह को पंचनद कहा है और पंचनद में उत्पन्न होनेवाली वस्तु को पाँचनद।[7] इस प्रकार, उन्होंने सतलज व्यास रावी चेनाब और झेलम का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख भी कर दिया है। इनमें इरावती नाम इसके गहरे होने और तेज बहने के कारण पड़ा था। इरा (जल) की अतिशयता इसका कारण थी। इरावती कहीं-कहीं दो या तीन धाराओं में भी बहती थी और जिस प्रदेश में इसकी दो या तीन धाराएँ पाई जाती थीं वह प्रदेश द्वैरावतीक या त्रैरावतीक कहलाता था।[8] कालिकापुराण (२४ १४०) के अनुसार इसका उद्गम इरा झील से है। इरावती १३० मील तक हिमालय में बहती है और लाहौर होती हुई अहमदपुर और सरायसिन्धु के बीच वितस्ता और चन्द्रभागा की संयुक्त धारा में मिल जाती है।[11] सिन्धु की पाँचों सहायक नदियाँ संयुक्त रूप से पंचनद कहलाती थीं।

इस समूह की नदियों में सर्वाधिक महत्त्व की नदी सिन्धु है और डेरियस के बेहिस्तून (Behistun)-शिलालेख में इसे हिन्दु तथा Vendidad में Hentu कहा है। योरोपीय लेखक

---

१ १ १ २३, पृ० २०७।
२ ऋग्वेद, ३-३३-१ तथा १०-७५-५।
३ इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि।—१ २-३२, पृ० ५१०।
४ ५ ४-१०७।
५ उरस्य विपाशः।—४ २-७४।
६ १ १ २३, पृ० २०७।
७ पाजिटरः मार्क० पु०, पृ० २९१ नोट।
८ इम्पीरियल गजेटियर ऑफ् इण्डिया, भाग २१, पृ० १७९।
९ ४ १-८८, पृ० १००।
१० २ ४ १ पृ० १०७।
११ लाः रिवर्स ऑफ् इण्डिया, पृ० ११।

इसे Indus तथा चीनी Sintu कहते हैं। यह जिस प्रदेश से होकर बहती है उसका नाम भी इसी के आधार पर सिन्धु पड़ गया है।[1] अलबेरूनी के अनुसार पंजाब या पञ्चमाता के संगम के बाद से अरार तक सिन्धु को पञ्चनद कहते थे। इससे पूर्व उसका नाम सिन्धु और बाद में मेहरान था।

सरस्वती—सिन्धु-समूह से नीचे की ओर उतरकर सरस्वती और दृषद्वती नामक दो प्रसिद्ध नदियाँ हैं। भाष्यकार ने दृषद्वती का उल्लेख नहीं किया है किन्तु सरस्वती का नाम गंगा और यमुना के साथ कई बार लिया है।[2] मनु का ब्रह्मावर्त इन्हीं दो नदियों के बीच अवस्थित था। मिलिन्दपञ्ह में सरस्वती को हिमवती नदी कहा है। सिद्धान्तशिरोमणि में यह 'क्वचिद् दृश्या क्वचिददृश्या' कही गई है। जिस स्थान पर यह विलुप्त होती है उसे महाभारत (८२ ३) तथा पद्मपुराण (अ०२१) में विनशन कहा है। पद्मपुराण (३२ १०५) में इसके गंगा से मिलने के स्थान को गंगोद्भेद तीर्थ कहा है। कात्यायन (१२–३–२०) कात्यायन (१०–१५–१ तथा १०–१८–१३ तथा १०–१९–४) आश्वलायन (१२–६–२–१) तथा शांखायन (१३-२९) के श्रौतसूत्रों में सरस्वती-तट पर किये गये यज्ञों का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों में मुख्यतः ऋग्वेद में सरस्वती का बार-बार उल्लेख हुआ है। वर्तमान दृश्या सरस्वती शुतुद्रि और यमुना के बीच में से होकर बहती है। ऋग्वेद-काल में यह बड़ी शक्तिमती नदी थी और समुद्र में गिरती थी।[3] सरस्वती हिमालय की सिरमुर (sirmur)-श्रेणी से, जिसे शिवालिक कहते हैं निकलकर पटियाला के नीचे बहती हुई राजपूताना के मरु के उत्तरी भाग में विलुप्त हो जाती है। यही मनु का विनशन-प्रदेश है। चलोर नामक ग्राम के मरु में लुप्त होकर यह एक बार भवानीपुर में प्रकट होती है। फिर बालचापर में विलुप्त होकर बरखेड़ा में दिखाई देती है। उर्नाई के पास मार्कण्डा नदी इसमें मिलती है और अन्त में यह घग्गर या घर्घर में मिल जाती है। महाभारत के अनुसार भी सरस्वती एक बार लुप्त होकर तीन बार फिर प्रादुर्भूत हुई है। ये स्थान हैं—चमसोद्भेद शिरोद्भेद और नागोद्भेद।

अन्य नदियाँ—पश्चिमी भारत की नदियों में उदुम्बरावती और मशकावती का नाम भी भाष्य में आया है।[4] काशिका (४ २-८५) में पुष्कलावती का भी उल्लेख हुआ है। इनमें पुष्कलावती गान्धार प्रदेश में होकर बहनेवाली स्वात नदी का पुष्कलावती नगरी के पास स्थानीय नाम मालूम होता है। पुष्कलावती गान्धार जनपद की पश्चिमी राजधानी थी जिसे अब चारसद्द कहते हैं। यह नगरी स्वात और काबुल नदी के संगम से कुछ ऊपर की ओर

---

१ १३-१० पृ० ३३।

२ १-२-१२, पृ० ९१०।

३ मैक्समूलर: ऋपृ०, सं०, पृ० ४६।

४ वनपर्व: अ० ८२, एल० एल० डे ज्याग्रा० डिक्श०; पंजाब गजेटियर, अम्बाला जिला।

५. ४ २-७१, पृ० १९४।

स्थित रही है।[1] मशकावती भी पुष्कलावती के समान स्वात का स्थानीय नाम ही जान पड़ता है। मशकावती युद्धप्रेमी आश्वकायनों की जिन्हें ग्रीक लेखकों ने assakenoi कहा है, राजधानी थी। इसे मसग कहते हैं। मशग के पास से बहनेवाली स्वात को ही स्थानीय लोग मशकावती कहते होंगे। स्वात का प्राचीन नाम सुवास्तु या सुवास्तु था। उदुम्बरावती औदुम्बर प्रदेश की जिसे भी बी० सी० ला पठानकोट[2] के पास-पड़ोस मानते हैं स्थानीय नदी थी। पाणिनि (४ १ १७३) के अनुसार उदुम्बर साल्व-जनपद का एक भाग था। कनिंघम वर्तमान नूरपुर राज्य का प्राचीन शाल्व मानते हैं। उदुम्बर-प्रदेश की नदी उदुम्बरावती रही हो यह सम्भावना की जा सकती है। भाष्यकार के मत से ये नाम सम्बद्ध देशों के विशेषण हैं। इस प्रकार, उदुम्बर, मसक पुष्कर, शारण नामक स्थानों से होकर बहनेवाली नदियाँ क्रमशः उदुम्बरावती मशकावती पुष्करावती और शारावती कहलाती थीं।

गंगा-समूह—मध्यदेश की नदियों में गंगा और यमुना मुख्य हैं। भाष्यकार ने सर्वाधिक उल्लेख उन्हीं का किया है।[3] वे इनमें मिलनेवाली अनेक नदियों से परिचित थे जो इनमें मिलकर अपना नाम-रूप विलीन कर देती हैं और गंगा यमुना नाम से ही पहचानी जाती हैं। गंगा हिमालय से निकलती है और उससे प्राप्त होनेवाले जल से सदा भरपूर रहती है।[4] इसीलिए, उसे हैमवती कहते थे। इसी प्रकार, सिन्धु दरदिस्तान की पहाड़ियों से होकर बहने के कारण दारदी कहलाती थी। गंगा के किनारे हस्तिनापुर और वाराणसी नगरियाँ बसी हैं, यह बात भाष्यकार को ज्ञात थी। उन्होंने पारेगङ्ग शब्द का भी प्रयोग किया है। यह गंगा के दक्षिण पार का प्रदेश होगा। गंगा मध्यदेश की सर्वाधिक प्रसिद्ध नदी थी। भाष्यकार के समय में सभ्यता का केन्द्र सिन्धु और सरस्वती से हटकर गंगा और यमुना का दस्ताब हो गया था। संस्कृत लेखकों के अनुसार गंगा की मुख्य सहायक नदियाँ उन्नीस हैं। गंगा के अनेक नामों में भाष्यकार ने गंगा के अतिरिक्त अन्य कोई नाम नहीं लिया है। आधुनिक भूगोलविद् गंगा का उद्गम गढ़वाल पर्वत-श्रेणी में गंगोत्री से मानते हैं। रामगंगा गोमती यमुना तमसा (टौंस) सरयू गण्डकी (सदानीरा) कमला कौशिकी (कोसी) शोन (सोन) फल्गु शकुति (सकरी) चम्पा दामोदर आदि नदियाँ मार्ग में गंगा में मिलती चलती हैं। गंगा इतनी पवित्र मानी जाती थी कि उसकी पूजा प्रतिष्ठा में किये लगते थे एवं मन्दिर किये जाते थे जो गंगामह कहलाते थे।[9]

---

१ वा० श० अग्रवाल :—व्याख्या० डेटाइल पाणिनीय अष्टाध्यायी।—जनल ऑफ यू० पी० हिस्टा० सो० जिल्द १६ भाग १ पृ० १८।

२ ट्राइब्स इन एन० इण्डिया, पृ० १५५।

३ १ १ २३ पृ० २०७—१-१-१२ पृ० ५१२।

४ अनेका नदी गंगा यमुनां च प्रविष्टा गंगायमुनाग्रहणेन-गृह्यते १ १-७२, पृ० ४५०

५ १ ४ ३१ पृ० ११७।

६ ४ ३-८३।

७ २-१ १६ पृ० २७१।

८ मैक्रिण्डिल : ऐन० इण्डि० पृ० १३६ से।

९ ५ १ १२ पृ० ३०२।

गंगा विशेष कूलंकषा भी नहीं है, इसीलिए 'यमुनायां घोष' यह लाक्षणिक प्रयोग प्रचलित हो सका।[1] उम्मत्तगंग लोहितगंग आदि प्रदेशों के नाम गंगा के कारण ही रखे गये थे। यमुना गंगा की प्रथम और सबसे बड़ी सहायक नदी है। यमुनोत्री या कलिंद पर्वतमाला से निकलकर यमुना शिवालिक नग-श्रेणी की घाटी और गढ़वाल से होकर मैदान में उतरती है और समानान्तर बहती चलती है। प्रयाग के पास यह गंगा में मिल जाती है। इसी बात को दृष्टि में रखकर भाष्यकार ने कहा है कि अनेक नदियाँ गंगा और यमुना में प्रविष्ट होकर उन्हीं के नाम से जानी जाती हैं। यमुना बौद्धों की प्रसिद्ध पाँच नदियों में से है। इसके किनारे भी अनेक तीर्थ हैं। ग्रीक लेखकों ने इसे Erannaboas या हिरण्यवाह कहा है। स्कन्दपुराण के अनुसार इसकी एक सहायक नदी वालुवाहिनी भी है।

रथस्पा गंगा की दूसरी बड़ी सहायक नदी है जिसका उल्लेख भाष्यकार ने किया है। यह रामगंगा का प्राचीन नाम है जो अल्मोड़ा (कुमायूँ) के ऊपर से निकलकर फर्रुखाबाद और हरदोई के बीच गंगा में मिलती है। इसकी एक बड़ी सहायक नदी कुमती है जिसे आजकल घोहा कहते हैं। कुमती या घोहा भी कुमायूँ से निकलकर रामगंगा के समानान्तर बहती हुई बरेली शाहजहाँपुर जिलों को पार कर रामगंगा-गंगा-संगम से कुछ ही पहले हरदोई जिले में रामगंगा से मिलती है। गंगा के दूसरी ओर फर्रुखाबाद जिले से होकर बहनेवाली नदी इक्षुमती है जो आजकल ईसन कहलाती है। इसे काली या कालिन्दी भी कहते हैं। भाष्यकार ने इन दोनों नदियों का उल्लेख किया है। भागवतपुराण (५ १०-१) के अनुसार इक्षुमती कुरुक्षेत्र की एक नदी का नाम था।

सरयू से भाष्यकार परिचित थे। पाणिनि-सूत्र (६ ४ १७४) की जिसमें सरयू में होने वाली वस्तु को सारव कहा है, भाष्यकार ने विस्तृत व्याख्या की है। सरयू छपरा के पास गंगा में मिलती है। इसे आजकल घाघरा कहते हैं। प्राचीन प्रसिद्ध नगरी अयोध्या इसी के तट पर बसी थी। अचिरवती या हिरण्यवती या अजिरवती सरयू की प्रमुख सहायक नदी है। इसका उल्लेख काशिकाकार ने किया है।[2] इसका आधुनिक नाम राप्ती है। कोसल की तृतीय और अन्तिम राजधानी श्रावस्ती इसी के पश्चिमी तट पर थी। अवदानशतक में इसे ऐरावती कहा है।[3]

गंगा की पूर्वी सहायक नदियों में शोण का नाम भाष्य में मिलता है। भाष्यकार पाटलिपुत्र को शोण के किनारे बसा हुआ बतलाते हैं। शोण मध्यप्रदेश के मण्डला जिले में अमरकण्टक से निकलती है और बघेलखण्ड मिर्जापुर, शाहाबाद जिलों में बहती हुई, ५०० मील चलकर पाटलि-

---

१ ४ १ ४८, पृ० ५९ ।
२ १ ४ ६, पृ० १०५ ।
३ ६-१ १५७ पृ० ११४।
४ ४-२-७१, पृ० ११४ ।
५ ६-३-१०९।
६ अव० शतक, १ ६६, ९-१०।

पुल के पास गंगा में मिल जाती है। भाष्यकार और पाणिनि दोनों ने देविका नदी का वर्णन किया है।[1] भाष्यकार ने इसके तट पर उत्पन्न होनेवाले शालि को दाविका-कूल कहा है। डॉ० वा० श० अग्रवाल ने विष्णुधर्मोत्तर (१ १७-१५) तथा वामन (अध्याय ८४) पुराणों के आधार पर इसे आधुनिक देग (Deg) माना है,[2] जो जम्मू की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट और शेखूपुरा जिलों में बहती हुई रावी में मिलती है। पार्जिटर का भी यही मत है। डॉ० अग्रवाल का मत इस बात पर आश्रित है कि देग के किनारे उत्पन्न होनेवाला चावल पंजाब में श्रेष्ठ माना जाता है। अग्निपुराण (अध्याय २००) में देविका सौवीर प्रदेश से होकर बहती हुई बतलाई गई है।[3] उत्तरप्रदेश की देवा या देविका जो सरयू की दक्षिणी धारा का एक नाम है देविका नदी बतलाई जाती है। कालिका-पुराण के अनुसार यह सरयू और गोमती के मध्य बहती थी। देवा का तट भी शालि की उपज के लिए प्रसिद्ध है।[4]

परीवाह—भाष्यकार ने छोटे-छोटे नालों का भी उल्लेख किया है जो नदी-सदृश मालूम होते हैं। उन्होंने इन्हें नदीकल्प परीवाह कहा है।[5] गिरिनदी सामान्य नदियों से भिन्न होती है। उसमें क्षण में देखते-देखते पूर आ जाता है और स्वल्प काल में उतर जाता है। इसीलिए, गिरिनदी का पृथक् उल्लेख किया है।[6]

सर-सरसी—नदी-कल्प-परीवाहों के बाद सर और सरसी का स्थान है। भाष्यकार उत्तर और दक्षिण भारत के सर-सरसियों से परिचित थे। दक्षिणापथ में बड़े-बड़े सरोवरों को सरसी कहने की प्रथा थी। वे सरसियाँ कमलों और कुमुदों से खिली रहती थीं।[7]

अनूप—नदियों की दो धाराओं के बीच बसे प्रदेश अनूप कहलाते थे। इन्हें कच्छ भी कहते थे। भाष्यकार ग्राम अनूप कन्यानूप (कन्याकुमारी) तथा कच्छ प्रदेश से परिचित थे।[8] उन्होंने द्वीप (जिसके दो ओर जल हो) उनमें रहनेवाले द्वैप्य लोगों का जो समुद्र-तट पर रहते थे, उल्लेख किया है। समीप (जिसमें जल भरा हो) अन्तरीप प्राप और पराप प्रदेशों की भी चर्चा की है। निश्चय ही उन्हें अन्तरीपों एवं प्रापादि प्रदेशों की जानकारी रही होगी।[9] समुद्र से भी वे अवगत थे। समुद्र के अनेक नामों में उन्हें समुद्र नाम से ही प्रेम था। वाडव की जानकारी उन्हें थी। वाडव का उल्लेख उन्होंने समुद्र के प्रसंग में ही किया है।[10]

---

१ ७-१ १ पृ० १७१।
२ इण्डिया एज नोन टु पाणिनि पृ० ४५।
३ अग्नि पु० अध्याय २००।
४ आगरा गाइड और मर्जेटियर १८४१ भाग २, पृ० १९० तथा २५२।
५ ४-२ ९१ पृ० ११८।
६ ८-४ १० पृ० ४७१।
७ १ १ १६, पृ० १९०।
८ ८-२ ६, पृ० ३११।
९ ६ ३-९७, पृ० १६६।
१० २ ३-९७, पृ० ४५४ तथा ८-१ ४, पृ० ११४।

अध्याय ४

जनपद

महाभाष्य में निम्नलिखित जनपदों विषयों निवासों या देशों के नाम आये हैं

कम्बोज—कम्बोज का उल्लेख पतंजलि ने दो बार किया है—एक पाणिनि के 'कम्बोजाल्लुक्' (४ १ १७५) सूत्र में कम्बोज के स्थान पर 'कम्बोजादि' संशोधन उपस्थित करने में कात्यायन का समर्थन करते समय[1] और दूसरे वेदभेद से भाषा का अन्तर बतलाने के प्रसंग में।[2] प्रथम नियम के अनुसार कम्बोज लोगों के प्रदेश तथा राजा दोनों ही कम्बोज कहलाते थे। द्वितीय कथन से विदित होता है कि 'शव्' धातु का प्रयोग कम्बोज देश में गति के अर्थ में होता था किन्तु आर्य लोग उसका प्रयोग विकार के अर्थ में ही करते थे। यथा—शव। भाष्य का यह कथन यास्क का अनुवाद-मात्र है।[3] जातकों के अनुसार कम्बोज महाभारत के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश था जहाँ के लोग आर्य विधियाँ छोड़कर असभ्य और पतित हो गये थे।[4] शान्तिपर्व (६५ १४) में भी यही बात कही गई है। अनुशासनपर्व (३३ २१) में इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि 'ब्राह्मणादर्शन' से कम्बोजों में क्रिया-लोप हो गया है और वे क्षत्रिय शूद्र बन गये हैं। ग्रियर्सन पतंजलि (यास्क) के उक्त कथन के आधार पर कम्बोजों को अनार्य मानते हैं। उनके मत से 'शवति' ईरानी क्रिया है संस्कृत नहीं और ये लोग संस्कृत-ईरानी-मिश्र भाषा बोलते थे।[5]

महाभारत में कम्बोज की राजधानी राजपुर बतलाई गई है।[6] राजपुर का उल्लेख ह्वेनसांग ने भी किया है। उसके मत से यहाँ के निवासी देखने में कर्कश और असंस्कृत थे।[7] कम्बोज काश्मीर के पुंछ-क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व में था। श्रीराय चौधुरी काश्मीर में पुंछ के पास-पड़ोस के इलाके को जिसमें काफ़िरिस्तान भी शामिल है, प्राचीन कम्बोज मानते हैं।[8] कनिंघम ने राजपुर

---

१ ४ १ १७५, पृ० १९४।

२ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति।—भा० १ पृ० २१।

३ निरुक्त २-२।

४ कावेल जातक ६, पृ० ११०।

५. जर्नल ऑफ् रॉयल ए० सो० १९११, पृ० ८०१-२।

६. महाभारत ७-४-५।

७. वॉटर्स ऑन युआनच्वांग, १ २८४।

८. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० १०८।

को काश्मीर के दक्षिण भाग की राजौरी जागीर माना है जिसके शासक राय लोग रहे हैं।[1] रीज डेविड्स कम्बोज की राजधानी द्वारका बतलाते हैं।[2] वी० ए० स्मिथ और चार्ल्स इलियट ने सम्भवतः कम्बुज (कम्बोडिया) और कम्बोज को एक मानकर उसे तिब्बत या हिन्दूकुश प्रदेश *के अन्तर्गत बतलाया है और वहाँ की भाषा ईरानी बतलाई है।*[3] *मैकिण्डिल ने ह्वेनसांग के कावोफु* या (अफ़गानिस्तान) को ही कम्बोज मान लिया है।

कम्बोज के कम्बल बहुत प्रसिद्ध थे।[4] यह बात इतनी प्रख्यात थी कि यास्क ने कम्बोज शब्द की व्याख्या करते हुए उसे कम्बल से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कम् + भुज से इसकी व्युत्पत्ति स्वीकार कर काम्बोजों को कमनीयभोजी माना है। कम्बल (शीत प्रदेश में) कमनीय होते ही हैं।

नाम्पिपुर, जिसे पतंजलि ने वाहीक ग्राम कहा[5] है लूडर के अनुसार कम्बोज में था। संभवतः लूडर ने वाहीक को बाह्लीक समझ लिया है।

गान्धार—भाष्यकार ने गान्धारि लोगों के विषयाभिधान जनपद का गान्धार या गान्धारय[6] (बहु व०) कहा है। गान्धार की स्त्री गान्धारी कहलाती थी।[7] यह जनपद गान्धारि लोगों का निवास भी था और विषय अर्थात् उनके द्वारा शासित भी।

गान्धार प्रदेश भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर कम्बोज के पास ही स्थित था। वर्तमान रावलपिंडी और पेशावर के जिले इसके अन्तर्गत थे यद्यपि इसकी वास्तविक सीमा के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।[8] भाष्यकार द्वारा उल्लिखित सौवास्तव (४-२-९९, पृ० २०३) या सुवास्तु और गौरी नदी के बीच का उद्दियान प्रदेश गान्धार के अन्तर्गत था।

सिन्धु के दोनों ओर फैले होने के कारण गान्धार की दो राजधानियाँ थीं। तक्षशिला पूर्वी तथा पुष्कलावती पश्चिमी थी। पुष्कलावती का आधुनिक रूप चारसद्दा है, जो स्वात और काबुल नदी के संगम के पास स्थित है। पुष्कलावती या पुष्करावती को भरत-पुत्र और राम के *भतीजे पुष्कर ने बसाया था।*[11]

---

१ एन० क्या० पृ० ९८१।
२ बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २८।
३ अर्लि हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया चौथा सं० पृ० १९१।
४ अलेग० इनवेजन पृ० ३८।
५ समापद पृ० ४८९, तथा ५१—३।
६ ४-२-१०४ पृ० २१२।
७ लूडर्स इनस्क्रिप्शन्स सं० १७६, ४७२।
८ ४-२-५२ पृ० १८४।
९ ४ १ १४ पृ० १६।
१० ट्राइब्स इन एन० इण्डिया पृ० ९।
११ रामायण उत्तर का० १००-१०।

कापिशी—कापिशी के अन्तर्गत सम्पूर्ण कफीरिस्तान और घोरबन्द तथा पंचशीर की घाटियाँ थीं। यह सारा प्रदेश पर्वतों से घिरा हुआ था जिसमें उत्तरी पर्वत हिमाच्छन्न रहता था। 'कापिश्याः ष्फक्' सूत्र में संशोधन-स्वरूप वार्तिक जोड़ने से स्पष्ट है कि भाष्यकार कापिशी की वास्तविक स्थिति से परिचित थे।[1] यह प्रदेश फलों विशेषतः द्राक्षा के लिए प्रसिद्ध था।

बाह्लीक—भाष्यकार ने उपयुक्त सूत्र में वार्तिक में बाह्लि का भी उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि कापिशी बाह्लि उर्दि और पर्दि समीपवर्ती प्रदेश थे। बाह्लि या बाह्लिक बहुत प्राचीन काल से भारत के उत्तरी भाग में रहते थे। रामायण के उत्तरकाण्ड (१००-३) में ऐल जाति के कर्दम या कर्दमेय के वंशजों का उल्लेख है और बाह्लिक उनसे सम्बद्ध बताये गये हैं। उत्तरकाण्ड (१०३.२१) में बाह्लि या बाह्लिक प्रदेश मध्यदेश के बाहर बतलाया गया है। कर्दमक फारस की कर्दमा नामक नदी से सम्बद्ध थे। इसलिए बाह्लिक-प्रदेश ईरान के बल्ख का प्राचीन रूप माना जाता है।[3] चन्द्र का महरौली-स्तम्भलेख जिसमें बाह्लिकों को सिन्धु के पार बतलाया गया है इस बात का पोषक है। बाह्लिक बैक्ट्रियोइ लोग थे जो अरकोसिया के पास के प्रदेश में रहते थे।[4] बाह्लिक प्रातीप्य राजा का उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण (१२.९.३.१ से ३ तथा १३) में मिलता है।

नैश—यह काबुल (कोफन) और सिन्धु नदी के बीच में मेरु पर्वत के पादमूल में एक छोटा-सा पर्वतीय क्षेत्र था जिसे ग्रीक इतिहासकारों ने नायस कहा है। यही पतंजलि का नैश जनपद था जिसके निवासी नैस्य कहलाते थे। सिकन्दर के आक्रमण से बहुत पहले ही ग्रीक-निवासियों (हेलेनिक) ने इस नगर की नींव डाली थी। एरियन ने कहा है कि नैस्य भारतीय नहीं हैं। वे डियानिसस के साथ भारत आनेवाले ग्रीक पुरुषों की सन्तान हैं। मज्झिमनिकाय (२.१४९) में भी कम्बोज के साथ एक यवन-राज्य का उल्लेख है, जिसके विषय में कहा गया है कि उसमें दो ही वर्ग हैं—आर्य या दास।[6] नैश नगर इस जनपद की राजधानी था जो स्वात प्रदेश में कोहेमूर की उपत्यका में स्थित था। इसकी शासन प्रणाली सभात्मक थी और शासन-सभा में ३०० सदस्य थे। नैश नगर-राज्य था।

---

१ ४-२-९८ पृ० २०३।

२ रायचौधुरी : पा० हिस्ट्री ऑफ् एन० इण्डिया, पृ० ४४९।

३ पारसीकेषु कर्दमा नाम नदी।—अर्थशास्त्र-व्या० २-११ तथा इण्डि० हिस्टा० क्वार्टरली भाग ९, पृ० ३७ ३९।

४ तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता बाह्लिकाः।

५ इण्डियन हिस्टा० क्वा० भाग ९, पृ० ३९।

६ योनकम्बोजेसु द्वे एव वण्णा अय्यो चेव दासो च।

७ कैम्ब्रिज हि० ऑफ इण्डि० पृ० ३५३।

८ एन० ऑफ् अलेक्जेण्डर, पृ० ८१।

दरद—पतंजलि ने दरद दारद दारदिका दारक वृन्दारिका शब्दों के द्वारा दरद-प्रदेश से अपना निकट परिचय व्यक्त किया है।[1] दरद भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के निवासी थे। महाभारत में खश, शक यवन आदि के साथ उनका उल्लेख है।[2] मत्स्यपुराण में दरदों का प्रदेश गन्धार, चित्रपुर, उर्श औरस आदि के साथ सिन्धु का कछार बतलाया गया है।[3] महाभारत और पुराणों के अनुसार ये पंजाब के ऊपरी भाग की खश जाति के प्रदेश के पास काश्मीर की उत्तर पश्चिमी सीमा के आगे प्रदेश के निवासी माने जा सकते हैं। ये पर्वतीय लोग थे यह बात तो इनके नाम (दरद=पर्वत) से ही स्पष्ट है।

काश्मीर के इतिहास में दारदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजतरंगिणी में इसकी बार बार चर्चा है। आज भी इनका प्रदेश दर्दिस्तान (जिला दरदी) कहलाता है। ग्रीक लेखकों ने इन्हें विभिन्न नामों से स्मरण किया है। उदाहरणार्थ—स्ट्रेबो इन्हें दर्दइ, प्लिनी दर्दै और डियोनीज दर्दनोइ कहते हैं।

पार्द या पारद—पार्द जिनका उल्लेख भाष्यकार ने एक वार्तिक में किया है और जिनके यहाँ होनेवाली वस्तु को पार्दायनी कहा है, दारदों के समान ही पर्वतीय बर्बर जाति के लोग थे। पुराणों और महाभारत में भी इनका उल्लेख सदा असंस्कृत जातियों के साथ हुआ है। हरिवंश (१३-७६३ ६४ तथा १४-७७५ से ८१) में तो इन्हें म्लेच्छ और दस्यु तक कहा गया है। मनुस्मृति के पतित क्षत्रियों की श्रेणी में ये लोग भी आते हैं। पार्जिटर पारदों को शकों कम्बोजों और यवनों आदि के साथ उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश का निवासी मानते हैं।

यवनदेश—यवन ग्रीकवंशीय आयोनियन लोग[4] थे जिन्हें उत्तर-पश्चिमी भारत के राजनीतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त[5] है। शिलालेखादि में इनका उल्लेख ई० पू० तीसरी शती से ईसा की दूसरी शती तक मिलता है। महाभारत में कम्बोज शक मद्र आदि लोगों के साथ ये भी कौरवों के पक्ष में थे। पतंजलि ने भी इन्हें आर्यावर्त से निरवसित शूद्र कहा है। रामायण के किष्किन्धाकाण्ड (४३-११ १२) में शक-यवनों को कुरु और मद्र प्रदेशों के मध्यवर्ती क्षेत्र का निवासी कहा है। महाभारत में इनका स्थान बर्बरों किरातों और गान्धारों के पास है।

यवन-प्रदेश की ठीक स्थिति के बारे में अभी तक विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डॉ० भण्डारकर उसे भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा से मिला कोई क्षेत्र मानते हैं[6] जिसे ई० पू० ५५० के

---

१ ४ २-१२० पृ० १४१; ५-३-११४, पृ० ३२० तथा ६ १-४२, पृ० ३२९।
२ द्रोणपर्व १०-१८।
३ २१ ४५ से ५१।
४ एन० इण्डियन हिस्टा० ट्रेडि० पृ० २०६, २६८।
५ इण्डि० कल्चर, भाग १ पृ० ३४३ से।
६ कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डि० भाग १, पृ० ५९५।
७. वही, पृ० २७४।
८. २ ४ १००पृ० ४६५।
९. वही, पृ० ९९।

समय यवनों या ग्रीक लोगों ने बसाया होगा। पाणिनि के समय में भारत का इस प्रदेश से घनिष्ठ सम्पर्क हो चुका था। पाणिनि के बाद कात्यायन के समय में उनकी लिपि काफी प्रचलित हो चुकी थी और उसे यवनानी कहते थे।[1] पतंजलि ने यवनों द्वारा साकेत और मध्यमिका पर किये गये आक्रमणों की चर्चा की है।[2]

शकस्थान—शकों का उल्लेख पतंजलि ने यवनों के साथ ही आर्यावर्त से निरवसित के रूप में किया है। इनका प्रदेश शकस्थान कहा गया है। यह भारत के सीमान्त के पास का सीदिया क्षेत्र था। पेरिप्लस के अनुसार भारत सागर में मिलनेवाली नदियों में विशालतम सिन्धु नदी शकस्थान होकर बहती थी। इसकी राजधानी मिननगर थी और समुद्र-तट पर स्थित बारबरिकम नगर इसका सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। ईसा की तीसरी शती में शकस्थान और उत्तर-पश्चिम भारत के कुछ प्रदेश सेसानियन लोगों के अधिकार में थे। ईसा-पूर्व दूसरी और पहली शताब्दी में भी न केवल शकस्थान अपितु कापिशी और गान्धार पर भी शकों का अधिकार था।

काश्मीर—अशोक के समय में काश्मीर मौर्य-साम्राज्य का अंग था किन्तु पतंजलि के समय में स्वतन्त्र राज्य जान पड़ता है। उन्होंने मद्रराज और मद्रराज्ञी के साथ काश्मीरराज और काश्मीरराज्ञी का उल्लेख किया है।[3] काश्मीर पंजाब के उत्तर में स्थित था और चारों ओर से ऊँचे ऊँचे पर्वतों से घिरा था। उसकी राजधानी के पश्चिम ओर से वितस्ता बहती थी। इसकी भूमि उपजाऊ थी जिसमें अन्न फल और फूल खूब पैदा होते थे। ह्वेनसांग के अनुसार राज्य का घेरा ७००० ली० था।[4]

सिन्धु—भाष्यकार ने पाणिनि-सूत्र (४ ३ ९३) के सिन्धु पद को चर्चा के लिए उद्धृत किया है।[5] सिन्धु नदी के कारण इस प्रदेश का नाम सिन्धु पड़ा है। वैदिक काल में यह प्रदेश घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था।[6] डॉ० अग्रवाल ने इसे सिन्धु-सागर के दो-आब का प्रदेश माना है।

पारस्कर—पारस्कर देश का उल्लेख पतंजलि ने किया है। यह सिन्धु प्रदेश के थर पारकर जिले का प्राचीन नाम था।[9]

सौवीर—सौवीर में वर्तमान मुलतान और बहावलपुर के क्षेत्र सम्मिलित थे।[10] स्कन्द

---

१ ४ १-४९, पृ० ६१।
२ ३-२-१११, पृ० २४७।
३ ४-१ १ पृ० ११।
४ बॅटर्स ऑन युवांगच्वांग भाग १, पृ० २६७ से ७१।
५ १ ३-१०, पृ० ३६।
६ वैदिक इण्डेक्स भाग २ पृ० ४५।
७ इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि पृ० ५०।
८ ५-२ १५७ पृ० १९४।
९ डॉ० अग्रवाल पाणिनि, पृ० ५१।
१० रायचौधुरी पालि० हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० ६१९।

पुराण में मुलस्थान (मूलस्थान) को देविका-तट पर स्थित बतलाया है।[1] यह वही देविका मूल (स्थान) है जहाँ के शालि का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[2] रुद्रदामा के जूनागढ़-शिलालेख में उसका एक प्रदेश के रूप में उल्लेख है। लॉ के अनुसार सिन्धु-सौवीर नाम इस बात का द्योतक है कि सौवीर सिन्धु और वितस्ता (झेलम) के बीच का प्रदेश था। कनिंघम के मत से बदरी (एडर) प्रदेश का खम्भात की खाड़ी के ऊपर का क्षेत्र सौवीर कहलाता था।[3] रौरुक सौवीर की राजधानी थी जिसका राजगृह से व्यापारिक सम्बन्ध था।

पतञ्जलि ने सौवीर गोत्रों का विशेष उल्लेख किया है। भाष्य में भागवित्ति तार्णबिन्दव[5] और फाण्टाहृति[6] ये सौवीर गोत्रों के नाम आये हैं। सौवीरी स्त्रियों का भी भाष्यकार ने बार बार उल्लेख किया है।

सुराष्ट्र—सुराष्ट्र का उल्लेख महाभाष्य में भाषा-भेद के प्रसंग में हुआ है। इसका दूसरा नाम सुरभ भी था।[7] पद्मपुराण (१९०-२) के अनुसार सुराष्ट्र गुजरात के अन्तर्गत था किन्तु भागवतपुराण में इसे स्वतन्त्र देश बतलाया है।[8] अर्थशास्त्र (अनु पृ० ५०) में यहाँ के हाथी अंग और कलिंग प्रदेश की अपेक्षा निम्नकोटि के बतलाये गये हैं। चन्द्रगुप्त के समय में सुराष्ट्र मौर्य-साम्राज्य का अंग था और एक राष्ट्रिय यहाँ का शासन चलाता था। अशोक के समय में यह स्थानीय स्वराज्य-प्राप्त प्रदेश था और तुषास्फ यहाँ का स्थानीय शासक था। वर्तमान जूनागढ़ या गिरिनगर सुराष्ट्र का मुख्य नगर था। शिलालेखों में इसे ऊर्जयत् भी कहा है।[11]

कच्छ—कच्छ की राजधानी प्रो० लैसेन के मत से कच्छेश्वर और कनिंघम के अनुसार कोटीश्वर थी। कोटीश्वर तीर्थ स्थान है और यहाँ बड़ी संख्या में शिवलिंग भी प्राप्त हुए हैं।[12] भाष्य में अनेक बार कच्छ नाम आया है। यहाँ के निवासी काच्छक कहलाते थे।[13]

ब्राह्मणक—महाभाष्य में ब्राह्मणक नामक जनपद का उल्लेख है। इसके निवासी ब्राह्मणकीय कहलाते थे।[14] ह्वेनसांग के अनुसार सन् ६४१ ई० में सिन्ध चार भागों में विभाजित था—उत्तर

---

१ स्कन्द पु० प्रभासक्षेत्र-माहात्म्य अध्याय २७८।
२ ७-३-१ पृ० ३७१।
३ एन० ज्या० पृ० ५६९ तथा लॉ हिस्टा० ज्या० पृ० २९६।
४ ४ १ ९० पृ० १०८।
५. ४ १-२८ पृ० १७५।
६. ४-१ १५०, पृ० २४७।
७ २ ४ ६२, पृ० ४९९ आदि।
८. भा० १ पृ० ११।
९. लूडर्स लिस्ट संख्या ११२३।
१० १ १० ३४; १ १५ ३९।
११ स्कन्दगुप्त और रुद्रदामन् के गिरनार-लेख।
१२ कनिंघम एन० ज्या० पृ० ३४६।
१३ ४ २ १३० पृ० २१७।
१४ ४ २ १०४ पृ० २११।

मध्य, निम्न तथा कच्छ। इनमें मध्य सिन्ध का प्राचीन नाम ब्राह्मणक था। इसे मुस्लिम लेखकों ने ब्राह्मणाबाद कहा है।[1] इस प्रदेश की राजधानी ब्राह्मणस्थलनगर थी। यह आयुध-जीवी ब्राह्मणों का जनपद था और सिकन्दर के आक्रमण के समय राजा द्वारा आत्मसमर्पण कर देने पर भी यहाँ की जनता ने उसका सामना किया था। पतंजलि का अवृषलक देश भी ब्राह्मणक जनपद का ही बोधक है।[2] उन्होंने वृषल शब्द का उपयोग सदा ही ब्राह्मण-विरोधी के रूप में किया है। स्मिथ ने पटलनगर और ब्राह्मणाबाद को एक ही माना है।[3]

शूद्र या सौद्रायण—अवृषलक के समान अब्राह्मणक भी देश का नाम था। यह देश जैसा कि विरुद्धार्थी शब्द से स्पष्ट है वृषल-देश होना चाहिए। एक अन्य स्थान में भाष्य में 'शूद्राभीरम्'[5] शब्द आया है जो शूद्र और आभीर दो स्वतन्त्र जातियों का बोधक है। यह शूद्र जाति शूद्र वर्ण से भिन्न थी जिसका महाभारत, पुराणों तथा ग्रीक-इतिहासकारों ने बार-बार उल्लेख किया है। ये लोग वर्तमान सिन्धु के एक भाग शूद्र देश में रहते थे। महाभारत में इनका प्रदेश विनशन (पश्चिमी राजपूताना) के पास बतलाया गया है[6] और मार्कण्डेयपुराण में अपरान्त या पश्चिमदेश। ब्राह्मणकों के समान इन्होंने भी डटकर सिकन्दर का सामना किया था।

क्षुद्रक-मालव—क्षुद्रक और मालव दो स्वतन्त्र क्षत्रिय-जातियाँ थीं। जिनके जनपद का नाम भी क्रमशः क्षुद्रक और मालव था। मालव के निवासी जो अपने शस्त्र और धन के प्रति निष्ठावान् थे मालवक कहलाते थे। मालवगण के राजपदधारियों की सन्तान मालव और उनके युवापत्य मालव्य कहे जाते थे। इसी प्रकार क्षौद्रक और क्षौद्रक्य शब्दों का व्यवहार होता था। क्षौद्रक्य और मालव्य केवल क्षत्रिय जाति के लोगों को ही कह सकते थे। उनके दास और कर्मकर क्षौद्रक और मालवक ही कहलाते थे।[9]

मालव पहले पंजाब में रहते थे किन्तु धीरे-धीरे वे उत्तरी भारत, राजपूताना, मध्य भारत, उत्तरप्रदेश और लाट देश तक फैल गये और अन्त में स्थिर रूप से वर्तमान मालवा में बस गये।

मालवों को सिकन्दर के इतिहासकारों ने मल्लोई, मल्ली या मल्लाइ कहा है और इनके

---

१ कनिंघम एन० ज्या०, पृ० ३०९ से ३१८।

२ १ ४ १ पृ० १०७।

३ अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० १०७।

४ १ ४ १ पृ० १०७।

५ १ २-७२, पृ० ९०७।

६ शूद्राभीरान् प्रति द्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती।—महा० ९ ३७-१।

७ लॉ ट्राइब्स इन एन० इण्डिया, पृ० ३५१।

८ ४-२-२५, पृ० १८१-८३।

९ ४ १-१०४ पृ० ६०९ तथा इदं तर्हि क्षौद्रकाणामपत्यं मालवानामपत्यमिति। अत्रापि क्षौद्रक्यः मालव्य इति नैतत्तेषां दासे वा भवति कर्मकरे वा। किं तर्हि? तेषामेव कस्मिंश्चित्।—४-१ १६८ पृ० ६९२।

साथ क्षुद्रक मालवों (Oxydrakai Sudracae Hydrakai) का भी नाम लिया है। स्मिथ के अनुसार ये लोग झेलम[1] और चेनाब के संगम के नीचे अर्थात् झंग जिले तथा मान्टगोमरी जिले के एक भाग में रहते थे।[2] मैक्रिण्डिल का मत है कि इनका जनपद इससे बड़ा था और उसमें चेनाब तथा रावी का वर्तमान दोआब तथा चेनाब-सिन्धु के संगम तक का प्रदेश सम्मिलित था। इसमें वर्तमान मुल्तान जिला तथा मान्टगोमरी का कुछ भाग आता है।[3] रायचौधुरी इन्हें रावी की निम्न घाटी में इस नदी के दोनों तटों पर बसे मानते हैं।[4]

क्षुद्रकों और मालवों का संयुक्त सेना-संगठन था जिसे भाष्यकार ने क्षौद्रक-मालवी सेना कहा है। यह शब्द सेना का ही वाचक था। क्षुद्रक मालवों से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य वस्तुएँ क्षौद्रक-मालवक कही जाती थीं। ये दोनों संघ आयुधजीवी थे। इसलिए इनकी सेना स्वभावतः बलिष्ठ थी। यह बात इनके द्वारा सिकन्दर के विरुद्ध किये गये युद्धों से स्पष्ट है। इन युद्धों में दोनों संघों की सेनाएँ संयुक्त रूप से लड़ी थीं। इन सेनाओं से हुए युद्ध के विषय में ग्रीक इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है। कर्टियस का कहना है कि इस संयुक्त सेना का सेनापति एक क्षुद्रक योद्धा था। डियोडोरस का मत है कि सेनापति-निर्वाचन के विषय में क्षुद्रकों और मालवों में मतैक्य न हो पाने के कारण ही संयुक्त रूप से न लड़ सके। एरियन के विचार से मतभेद नहीं था किन्तु सिकन्दर ने आक्रमण इतनी अप्रत्याशित शीघ्रता से कर दिया कि उन्हें सेना को संयुक्त करने का अवकाश ही न मिल पाया। मालव और क्षुद्रक बार-बार पीछे हटकर भी सिकन्दर से लड़ते रहे।

भाष्यकार ने एकाकी क्षुद्रकों की विजय का तीन बार उल्लेख किया है।[5] भाष्य का यह कथन मिथ्या गौरव का द्योतक नहीं है अपितु प्रचलित भारतीय धारणा का अभिव्यंजक है। उन्होंने इस बहुप्रचलित वाक्य को एकाकी का अर्थ असहाय बतलाने के लिए उद्धृत किया है। क्षुद्रकों के साथ सिकन्दर का यह अन्तिम युद्ध था जिसमें सिकन्दर गम्भीर रूप से घायल होकर वापस लौट पड़ा था। यह क्षुद्रकों की निश्चित विजय थी। इस युद्ध में चाहे अप्रत्याशित आक्रमण के कारण हो, चाहे मतभेद के कारण मालवों की सेना क्षुद्रकों के साथ नहीं थी। द्वितीय कारण अधिक ठीक जान पड़ता है। एरियन और प्लूटार्क यह युद्ध मालवों के साथ और कर्टियस तथा डियोडोरस क्षुद्रकों के साथ मानते हैं।[6] भाष्य के कथन के सन्दर्भ में द्वितीय मत ही सही जान पड़ता है।

युद्ध के बाद भी मालव पंजाब में बने रहे। बाद में वे राजपूताना में आकर जयपुर के पास बस गये। कोटा से लगभग ४५ मील दूर नगरस्थान में इनके बहुत-से सिक्के मिले हैं, जिन

---

१ जर्नल ऑफ् रॉयल एशि० सो० १९०३ पृ० ६९१।

२ इनवेज़न ऑफ इण्डि० पृ० ३५७।

३ पॉलि० हि० ऑफ ऐन० इण्डि० पृ० २०२।

४ मैक्रिण्डल: इनवेज़न ऑफ इण्डि० पृ० २३६ १५० ३५१।

५ १ १-२४ पृ० २३६; १ ४ २१ पृ० १५० तथा ५ ३-५२ पृ० ४४१।

६ इनवेज़न ऑफ इण्डिया पृ० ३५१।

पर 'मालवानां यम' अंकित है। कनिंघम के मत से ये सिक्के २५० ई० पू० से २५० ई० तक के हैं।[1]

पुरु—पुरु देश के राजा को भाष्यकार ने पौरव कहा है।[2] पुरुओं का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[3] बाद में इनकी परम्परा विस्मृत-सी हो गई और फिर महाभारत में ययाति और शर्मिष्ठा के पुत्र के रूप में पुरु के दर्शन होते हैं। प्राचीन पुरु सिन्धु के पश्चिम में रहते थे किन्तु बाद में वे सरस्वती नदी के चारों ओर प्राच्य देश में भी मिलते हैं। ओल्डनबर्ग के अनुसार पुरु लोग आगे चलकर कुरु लोगों में सम्मिलित हो गये, जिस प्रकार तुर्वस और क्रिवि लोग पचालों में विलीन हो गये थे इसीलिए वैदिक काल के बाद उनका पृथक पता नहीं चलता।[4] ऋग्वेद में पुरुओं को जिस सरस्वती के किनारे बताया गया है, वह जिमर के मत से सिन्धु ही है।[5]

शिबि—शिबि लोगों का विषय (अधिकृत प्रदेश) 'शैवप' या शैवपेय कहलाता था।[6] शिबि लोग सम्भवतः वे ही थे जिनका नाम ऋग्वेद (७-१८-७) में आया है और जिनके सहित १० जातियों से सुदास के युद्ध का वर्णन मिलता है। ग्रीक लेखकों ने इन्हें सिबइ या सिबोइ कहा है और अकेसाइन्स (ऋग्० असिक्नी) या चन्द्रभागा और सिन्धु के मध्यवर्ती देश का निवासी बतलाया है।

शिबियों की राजधानी शिबपुर थी जिसका उल्लेख पतंजलि ने किया है। उन्होंने इसे उदीच्य ग्राम कहा है और इसके निवासी को शैवपुर। यह शिबपुर मूलतः शिविपुर था। इसी का उल्लेख शारकोट के शिलालेख में हुआ है।[7] शारकोट का टीला ही प्राचीन शिबियों की राजधानी शिबिपुर था और पंजाब में झंग-क्षेत्र में इरावती और चन्द्रभागा के बीच ये लोग रहते थे।

शिबियों में कुछ लोग अपना प्रदेश छोड़कर उत्तर पंजाब और राजपूताना चले गये जान पड़ते हैं।[8] उत्तर पंजाब में भी उनके एक जनपद का पता चलता है जिसका मुख्य नगर अरिट्ठपुर (अरिष्टपुर) था। इसे टालेमी ने अरिस्टोसेमरा कहा है। संभवतः इसी का दूसरा नाम शारावती था।[9] शिबियों की दूसरी शाखा राजपूताना में चित्तौड़ के पास जा बसी। यहाँ इनकी राजधानी मेज्जुर थी जिसे श्री एम्० एस० दे नागरी मानते हैं। यह स्थान चित्तौड़ से ११ मील उत्तर में है।

---

१ आर्कि० सर्वे रिपोर्ट, भाग १-१८७१-७२, पृ० ७२ से।
२ ४ १ १६८, पृ० १६३।
३ वैदिक इण्डे० भाग २, पृ० १२।
४ सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, १२-१९८।
५ वै० इण्डे० भाग २, पृ० १२।
६. ४ २-५२ पृ० १८४।
७ ऐंशियन्ट इण्डिया ५ १२ तथा डियोडोरस १७-९६।
८. ४-२ १०४, पृ० २०५।
९. एपि० इण्डि० १९२१, पृ० १६।
१० शिबिजातक, सं० ४९९, उम्मदन्ती जातक, सं० ५२७, वेस्सन्तर जातक, सं० ५४७।
११ वै० ज्या० डिक्श० पृ० ८१।

यही पतंजलि की मध्यमिका है। इस स्थान पर जो सिक्के मिले हैं उनपर 'मज्झमिकाय सिबि जनपदस' लिखा हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि शिबियों का जनपद चित्तौड़ की मध्यमिका नगरी के चारों ओर था। जिसमें शिबि-राज ने प्रजा के कहने से अपने युवराज वेस्सन्तर को देश से निकाल दिया था। बाद में बढ़ते-बढ़ते शिबि लोग दक्षिण तक पहुँच गये। प्राचीन चोल-राजवंश शिबि ही था। वाराह-मिहिर की बृहत्संहिता में दक्षिण देश में जिस शिबिका देश का उल्लेख है यह इन शिबियों का ही स्थान जान पड़ता है।[1]

पार्जिटर के अनुसार ये लोग एक समय उशीनर में रहते थे और बाद में इनके राजा शिबि उशीनर तथा उनके चार पुत्रों ने वृषदर्भ सुवीर, केकय और मद्रक जनपदों पर भी आधिपत्य कर लिया था। इस प्रकार उत्तर पश्चिम कोने को छोड़कर शेष सारे पंजाब पर इनका शासन रहा।

वसाति—भाष्य में शिबि या शैवदेश के साथ ही 'वासात या 'वसातय' देश का नाम आया है। यह वसाति जाति का विषय (अधिकृत देश) था। ये लोग भी चेनाब और सिन्धु के संगम के पास चेनाब के निचले प्रदेश में रहते थे[2]।

दार्व—दार्व कम्बोज से ही फूटकर पृथक जनपद बना था। स्ट्रेबो के मत से इसके अन्तर्गत झेलम और चेनाब के बीच का सारा निम्न तथा मध्यवर्ती पर्वतीय क्षेत्र था।[3] यह तक्षशिला से ऊपर की ओर पर्वतों के भीतर का प्रदेश था। मोटे तौर पर इसमें पुंच तथा पड़ोस के कुछ काश्मीरी जिले और सीमा-प्रान्त के हजारा जिले का कुछ भाग शामिल था। सिकन्दर के आक्रमण के समय यहाँ अभिसार का शासन था। इसकी तथा पुरु की तक्षशिला से कट्टर शत्रुता थी। जब सिकन्दर इसकी ओर बढ़ा तब इसने आत्मसमर्पण का संवाद कहला भेजा किन्तु जब वह पुरु से लड़ने लगा तब अभिसार ने भी पुरु का साथ दिया।[4] अभिसार को कई इतिहासकारों ने दार्वाभिसार भी लिखा है। महाभारत में दार्वों का उल्लेख त्रिगर्तों तथा दरदों एवं अन्य उत्तरी पंजाब की जातियों के साथ हुआ है। काशिकाकार ने दार्व और अभिसार को पृथक जनपद माना है।[5]

कैकय—कैकय प्रदेश के निवासियों को भाष्य में कैकेय कहा है। प्राचीन कैकय विपाशा से प्रारम्भ होकर गन्धार की सीमा तक विस्तृत था। वर्तमान झेलम शाहपुर और गुजरात के जिले इसके अन्तर्गत थे। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में शक हूण कम्बोज और बाह्लिक-प्रदेश के उत्तर भाग में इसकी स्थिति बतलाई है। महाभारत में उसका नाम प्रायः बाह्लिक और पुराणों में मद्र के साथ आया है। पौराणिक परम्परा के अनुसार कैकेय लोग अनु (अनार्यजाति)

---

१ पार्जि॰ हिस्ट्री ऑफ ऐन॰ इण्डि॰ पृ॰ २०५ तथा कीलहार्न : लिस्ट ऑफ सदर्न इंस्क्रिप्शन्स सं॰ ६८५।

२ पार्जि॰ हिस्ट्री ऑफ़ एन॰ इन॰, पृ॰ ५५७।

३ इनवे॰ ऑफ़ अलेक॰, पृ॰ ११२।

४ वही।

५ वही।

६. ४-२ १२४ १२५।

७. रामायण, अयो॰ काण्ड, ६८ १९ से २२।

के वंशज थे। ऋग्वेद (८-७४) से अनुमान होता है कि अनु लोग पहले उसी प्रदेश में रहते थे जहाँ बाद में कैकेय लोग बस गये।

कैकय के सर्वप्रथम राजा अश्वपति का उल्लेख प्राप्त है। यह अश्वपति अनेक ब्राह्मणों के धर्मोपदेष्टा थे।[1] इनकी राजधानी राजगृह या गिरिव्रज थी।[2] कनिंघम झेलम-तट पर स्थित जलालपुर को ही प्राचीन गिरिव्रज या राजगृह मानते हैं।[3]

पुराणों में कैकेयों का शिवि उशीनरों से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया है। ये शिवि उशीनर के चार पुत्रों में से एक के वंशज थे।

मद्र—मद्र देश वर्तमान स्यालकोट[5] तथा रावी और चेनाब नदियों के मध्यवर्ती एवं समीपवर्ती प्रदेश का नाम था। मद्र वाहीक देश का एक भाग था। यह पूर्व और अपर दो भागों में विभाजित था। पूर्व (पूर्वी) मद्र रावी से चेनाब तक और अपर (पश्चिमी) मद्र चेनाब से झेलम तक फैला था। इसकी राजधानी साकल था जो स्यालकोट का प्राचीन नाम है।[6] मद्र प्राचीन वैदिक कालीन क्षत्रिय जाति के वंशज थे। व्यापारिक दृष्टि से यह प्रदेश महत्वपूर्ण था। ३२६ ई० पू० में यह प्रदेश सिकन्दर के अधिकार में आया। ईसा की प्रथम शताब्दी में उस पर मिनान्डर (मिलिन्द) का शासन था। भाष्य में मद्रराज और मद्रराज्ञी का उल्लेख है।[7] उसमें 'मद्रों का राजा' शब्द भी आया है। मद्र में जौ की उपज अधिक थी। भाष्य से अनुमान होता है कि मद्र और उशीनर की भूमि उपज की दृष्टि से समान थी। मद्र के किसी ह्रद से भाष्यकार परिचित थे। मद्र के निवासी को मद्रक कहते थे। मद्र या मद्र के राजा के प्रति भक्ति (निष्ठा) रखनेवाला भी मद्रक कहलाता था।[8]

उशीनर—उशीनर कुरु-प्रदेश के उत्तर में था। गोपथ-ब्राह्मण (२ ९) में उशीनरों को उदीच्य कहा है। ऐतरेय (८ १४) ब्राह्मण कुरु-पांचालों को वश और उशीनरों के साथ मध्यदेश में साथ-साथ रहते बतलाता है। पतंजलि ने मद्रों के साथ बार-बार उशीनरों का उल्लेख किया है। इससे ये पड़ोसी जान पड़ते हैं। उशीनर की बनी कन्थाएँ भाष्यकार के समय में प्रसिद्ध थीं यहाँतक कि वहाँ की बनी कन्थाओं के नाम तक बनानेवाले परिवारों के आधार पर प्रसिद्ध थे। यथा—सौशमिकन्थम् आह्वरकन्थम् आदि। ये नाम विशेष प्रकार की कन्थाओं के थे।[9]

---

१ शत० ब्रा० १०-६ १-२, छान्दो०उप० ५ ११ ४।
२ रामायण अयो० ६७-७ ६८ २२।
३ कनिंघम आर्कि० सर्वे रि० भाग २।
४ वायुपु० अ० ९९ मत्स्यपु०, अ० ४८, विष्णुपु० ४ १८।
५. महाभारत २ ११९६ तथा ८ २०३३।
६. ४ १ १, पृ० ११।
७. ९-१ २, पृ० २६३।
८. ४-१-९०, पृ० ११०।
९. ४-३-१०, पृ० ९४६।
१० ४-१-९० पृ० ११० १ ३-६२, पृ० ७८ ६-२ ४४, पृ० ३१४ ७-१-७४, पृ० ७०।

यही पतंजलि की मध्यमिका है। इस स्थान पर जो सिक्के मिले हैं उनपर 'मज्झमिकाय सिबिजनपदस्स' लिखा हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि शिबियों का जनपद चित्तौड़ की मध्यमिका नगरी के चारों ओर था। जिसमें शिबि राज ने प्रजा के कहने से अपने युवराज वेस्सन्तर को देश से निकाल दिया था। बाद में बढ़ते-बढ़ते शिवि लोग दक्षिण तक पहुँच गये। प्राचीन चोल-राजवंश शिवि ही था। वाराह-मिहिर की बृहत्संहिता में दक्षिण देश में जिस शिबिका देश का उल्लेख है यह इन शिबियों का ही स्थान जान पड़ता है।[1]

पार्जिटर के अनुसार ये लोग एक समय उशीनर में रहते थे और बाद में इनके राजा शिबि उशीनर तथा उनके चार पुत्रों ने वृषदर्भ सुवीर, केकय और मद्रक जनपदों पर भी आधिपत्य कर लिया था। इस प्रकार उत्तर पश्चिम कोने को छोड़कर शेष सारे पंजाब पर इनका शासन रहा।

वसाति—भाष्य में शिबि या शैबदेश के साथ ही 'वासात या 'वसातय' देश का नाम आया है। यह वसाति जाति का विषय (अभिहित देश) था। ये लोग भी चेनाब और सिन्धु के संगम के पास चेनाब के निचले प्रदेश में रहते थे[2]।

दार्व—यह कम्बोज से ही फूटकर पृथक जनपद बना था। स्ट्रेबो के मत से इसके अन्तर्गत झेलम और चेनाब के बीच का सारा निम्न तथा मध्यवर्ती पर्वतीय क्षेत्र था।[3] यह तक्षशिला से ऊपर की ओर पर्वतों के भीतर का प्रदेश था। मोटे तौर पर इसमें पुँछ तथा पड़ोस के कुछ काश्मीरी जिले और सीमा प्रान्त के हजारा जिले का कुछ भाग शामिल था। सिकन्दर के आक्रमण के समय यहाँ अभिसार का शासन था। इसकी तथा पुरु की तक्षशिला से कट्टर शत्रुता थी। जब सिकन्दर इसकी ओर बढ़ा तब इसने आत्मसमर्पण का संवाद कहला भेजा किन्तु जब वह पुरु से लड़ने लगा तब अभिसार ने भी पुरु का साथ दिया।[4] अभिसार को कई इतिहासकारों ने दार्वाभिसार भी लिखा है। महाभारत में दार्वो का उल्लेख त्रिगर्तों तथा दरदों एवं अन्य उत्तरी पंजाब की जातियों के साथ हुआ है। काशिकाकार न दार्व और अभिसार को पृथक जनपद माना है।[5]

केकय—केकय-प्रदेश के निवासियों को भाष्य में कैकय कहा है। प्राचीन केकय विपाशा से प्रारम्भ होकर गन्धार की सीमा तक विस्तृत था। वर्तमान झेलम शाहपुर और गुजरात के जिले इसके अन्तर्गत थे। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में शक हूण कम्बोज और वाह्लिक-प्रदेश के उत्तर भाग में इसकी स्थिति बतलाई है। महाभारत में उसका नाम प्रायः वाह्लिक और पुराणों में मद्र के साथ आया है। पौराणिक परम्परा के अनुसार कैकेय लोग अनु (अनार्यजाति)

---

१ पालि० हिस्ट्री ऑफ ऐन० इण्डि०, पृ० २०५ तथा कौलहार्न : लिस्ट ऑफ् सदर्न इन्स्क्रिप्शन्स सं० ६८५।

२ पालि० हिस्ट्री ऑफ् एन० इन०, पृ० २५७।

३ इनवे० ऑफ् अलेक०, पृ० ११२।

४ वही।

५ वही।

६. ४ २ १२४ १२५।

७. रामायण अयो० काण्ड ६८ १९ से २२।

के वंशज थे। ऋग्वेद (८-७४) से अनुमान होता है कि अनु लोग पहले उसी प्रदेश में रहते थे, जहाँ बाद में कैकेय लोग बस गए।

केकय के सर्वप्रथम राजा अश्वपति का उल्लेख प्राप्त है। यह अश्वपति अनेक ब्राह्मणों के धर्मोपदेष्टा थे।[1] इनकी राजधानी राजगृह या गिरिव्रज थी।[2] कनिंघम झेलम-तट पर स्थित जलालपुर को ही प्राचीन गिरिव्रज या राजगृह मानते हैं।[3]

पुराणों में कैकेयों का शिबि उशीनरों से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया है। ये शिबि-उशीनर के चार पुत्रों में से एक के वंशज थे।

मद्र—मद्र देश वर्तमान स्यालकोट तथा रावी और चनाब नदियों के मध्यवर्ती एवं समीपवर्ती प्रदेश का नाम था। मद्र वाहीक देश का एक भाग था। यह पूर्व और अपर दो भागों में विभाजित था। पूर्व (पूर्वी) मद्र रावी से चनाब तक और अपर (पश्चिमी) मद्र चनाब से झेलम तक फैला था। इसकी राजधानी शाकल था जो स्यालकोट का प्राचीन नाम है।[5] मद्र प्राचीन वैदिक कालीन क्षत्रिय जाति के वंशज थे। व्यापारिक दृष्टि से यह प्रदेश महत्त्वपूर्ण था। ३२६ ई० पू० में यह प्रदेश सिकन्दर के अधिकार में आया। ईसा की प्रथम शताब्दी में उस पर मिनान्डर (मिलिन्द) का शासन था। भाष्य में मद्रराज और मद्रराजा का उल्लेख है।[6] उसमें 'मद्रों का राजा' शब्द भी आया है। मद्र में जौ की उपज अधिक थी।[7] भाष्य से अनुमान होता है कि मद्र और उशीनर की भूमि उपज की दृष्टि से समान थी। मद्र के किसी ह्रद से भाष्यकार परिचित थे। मद्र के निवासी को मद्रक कहते थे। मद्र या मद्र के राजा के प्रति भक्ति (निष्ठा) रखनेवाला भी मद्रक कहलाता था।[8]

उशीनर—उशीनर कुरु-प्रदेश के उत्तर में था। गोपथ-ब्राह्मण (२·९) में उशीनरों का उल्लेख हुआ है। ऐतरेय (८·१४) ब्राह्मण कुरु-पांचालों का वश और उशीनरों के साथ मध्यदेश में साथ-साथ रहते बतलाता है। पतंजलि ने मद्रों के साथ बार-बार उशीनरों का उल्लेख किया है। इससे वे पड़ोसी ज्ञात पड़ते हैं। उशीनर की बनी कन्थाएँ भाष्यकार के समय में प्रसिद्ध थीं यहाँतक कि वहाँ की बनी कन्थाओं के नाम तक बनानेवाले परिवारों के आधार पर प्रसिद्ध थे। यथा—सौशमिकन्थम्, आह्वरकन्थम् आदि। ये नाम विशेष प्रकार की कन्थाओं के थे।[10]

---

१ शत० ब्रा० १०-६-१ २, छान्दो०उप० ५ ११ ४।
२ रामायण, अयो० ६७-७, ६८-२२।
३ कनिंघम आर्कि० सर्वे रि० भाग २।
४ वायुपु० अ० ९९, मत्स्यपु० अ० ४८, विष्णुपु० ४-१८।
५ महाभारत २ ११९६ तथा ८-२०३३।
६ ४-१ १, पृ० ११।
७ ५-१-२, पृ० २६३।
८ ४-१-९०, पृ० ११०।
९ ४-१-१० पृ० २४६।
१० ४-१-९० पृ० ११० १ २-६९, पृ० ७८; ६-२-४४, पृ० ३१४, ७-१-७४, पृ० ७०।

पाणिनि-सूत्रों (४ २ ११७-११८) से पता चलता है कि उशीनर वाहीक के अन्तर्गत था। उन्होंने उशीनर के अन्तर्गत वाहीक ग्राम बतलाये हैं। इस प्रकार कैकय उशीनर और मद्र तीनों वाहीक के ही भाग मालूम होते हैं। इनमें कैकय झेलम और चनाब के बीच में मद्र चनाब और रावी के मध्य में उत्तरी भाग में तथा उशीनर दक्षिणी भाग में था।

वाहीक—यह प्रदेश वाह्लीक से भिन्न था। कर्णपर्व (अ० ४४ श्लोक १० तथा १७) में कहा है—शाकलं नामनगरमापगा नाम निम्नगा। आर्तिका नाम वाहीकास्तेषां वृत्तं सुनिन्दितम्॥ इससे स्पष्ट है कि वाहीकों को आर्तिक (जाट?) भी कहते थे। इनकी राजधानी शाकल या स्याल-कोट थी। यह राजा मिलिन्द की भी राजधानी थी। वाहीकों के वृत्त को महाभारतकार ने निन्दित कहा है। भाष्यकार ने वाहीक की व्युत्पत्ति बहिः से मानकर उसे आर्यावर्त से बाह्य-प्रदेश बतलाया है।[1] काशिकाकार ने शाकल को वाहीक ग्राम कहा है।[2] भाष्यकार ने वाहीक ग्रामों में आरट् कास्तीर, वासरूप्य शाकल सौसुक पाटलिप्रस्थ नान्दीपुर, कौकुलीवह और मौंच का उल्लेख किया है जिससे अनुमान होता है कि वाहीक विशाल एवं समृद्ध प्रदेश था। यह प्रदेश आर्यावर्त से बाह्य किन्तु उससे सटा हुआ होगा। अन्यथा मध्यदेशस्थ पतंजलि को उसके गाँवों की इतनी अधिक जानकारी न होती।[4] भाष्यकार ने शाकल को भी ग्राम कहा है जिससे अनुमान होता है कि शेष ग्रामों की स्थिति शाकल के समान ही बड़े कस्बों-जैसी होगी। पूर्वी पंजाब वाहीक प्रदेश था। पांचनद पांच नदियों का प्रदेश था। इसमें वर्तमान पंजाब का सारा प्रदेश आ जाता है। राजनीतिक दृष्टि से पांचनद और वाहीक कभी इकाई नहीं रहे। भाष्यकार ने लोक-व्यवहार की दृष्टि से ही वाहीक और पांचनद प्रदेशों का उल्लेख किया है जनपद के रूप में नहीं।

अम्बष्ठ—इन्हें ग्रीक लोगों ने अबस्तनोइ या अम्बस्तइ कहा है। ये चेनाब के निचले भाग में रहते थे। ये लोग ऐतरेय ब्राह्मण के समय में ही पंजाब में बस गये थे।[5] महाभारत में इनका स्थान उत्तर-पश्चिम भारत बतलाया गया है। पार्जिटर के अनुसार ये पंजाब के पूर्वीय अंचल में बसे हुए थे और इनका शिबियों तथा यौधेयों से घनिष्ठ सम्बन्ध था।[6] सम्भवतः बाद में ये लोग नर्मदा के उद्गम-स्थल मेकल पर्वत के पास चले गये। भाष्यकार ने अम्बष्ठ-प्रदेश के निवासी पुरुषों को आम्बष्ठ्य और स्त्रियों को आम्बष्ठ्या कहा है।

---

1. ४ १-८५, पृ० ९५।
2. ४ २-११७।
3. ४-२ १०४ पृ० २०५ से २१२ तथा ४-२-१२४, पृ० २१५।
4. ८ १ १२ पृ० २७३ ८ ३-८२, पृ० ४५८।
5. ऐत० ब्रा० ७-२१ ३।
6. एन० इण्डियन हिस्टा० ट्रैडि०, पृ० १०९ २६४।
7. लॉ ट्राइब्स इन एन० इण्डिया, पृ० ९७, १७४।
8. ४ १ १७०, पृ० १११; ६-१ १ पृ० १९।

त्रिगर्त—भाष्यकार ने त्रिगर्त निवासी त्रैगर्तकों को क्षत्रिय कहा है।[1] त्रिगर्त का उल्लेख यौधेयादि गण में भी है।[2] ये लोग आयुधजीवी थे। कौण्डोपरथ दाण्डकि कौष्टकि जालमानि, ब्रह्मगुप्त और जानकि या जालकि इन छह आयुधजीवी संघों का एक महासंघ था। इनमें छठा संघ त्रिगर्तों का था।[3]

त्रिगर्तों को महाभारत (सभा प० ५२ १४ १५ तथा द्रोण प० १८ १६) में पंजाब का और राजतरंगिणी (५ १४४) में काश्मीर के समीप का बतलाया है। हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि में त्रिगर्त और जालन्धर पर्यायवाची कहे गये हैं।[4] कनिंघम ने कांगड़ा-क्षेत्र को जो जालन्धर में चम्ब पर्वत-श्रेणी और व्यास के उत्तरी मार्ग के बीच में है प्राचीन त्रिगर्त माना है।[5] यह पुराणों के अनुकूल है जिनमें त्रिगर्तों को पर्वतीय जाति कहा है। वास्तव में त्रिगर्त सतलज और रावी के बीच का प्रदेश था। कांगड़ा इसके अन्तर्गत था और इसकी केन्द्रीय नगरी जालन्धर थी।[6] त्रिगर्त नाम रावी व्यास और सतलज इन तीन नदियों के कछार में स्थित होने के कारण पड़ा था। इस प्रकार के गर्तान्त नाम रखने की प्रथा जान पड़ती है। यथा—श्वाविद्गर्त वृकगर्त आदि।

त्रिगर्त प्रायः अनावृष्टि से पीड़ित रहता था। महाभारत (२ ४८ १३) में भी त्रिगर्त में अनावृष्टि का विशद वर्णन है। इस सन्दर्भ में भाष्यकार का यह कथन है कि 'बादल केवल त्रिगर्त को छोड़कर अन्य सब स्थानों में बरस गया' विशेष महत्त्व रखता है।

साल्व—४ २ १३३ सूत्र के भाष्य में कई बार साल्व का उल्लेख है। सूत्र ४ १ १७३ से पता चलता है कि साल्व के अनेक अवयव थे। पाणिनि ने साल्वेय का भी उल्लेख किया है जो राजविशेष तथा देशविशेष का द्योतक है (४ १ १६९)। काशिकाकार (४ १ १७३) ने साल्वेय और साल्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि साल्वा एक क्षत्रिया का नाम था उसकी सन्तान साल्वेय और साल्व कहलाई। उनके निवास का नाम साल्व जनपद हुआ। इस जनपद के उदुम्बर, तिलखल मद्रकार, युगन्धर, भुलिंग एवं शरदण्ड ये छह अवयव थे। इनमें रहने वाले लोग क्षत्रिय-वृत्ति अर्थात् आयुधजीवी थे जो साल्वक कहलाते थे। पाणिनि ने साल्वकों की हर शारीरिक चेष्टा को भी साल्वक नाम दिया है। कच्छ सिन्धु, वर्णु गान्धार, मधुमत् कम्बोज काश्मीर, साल्व कुरु रंकु आदि कच्छादि देशों के पहनाव-ओढ़ाव बोलचाल खान-पान के

---

१ ४ २ १०४, पृ० २०९ तथा ४-२ १३७, पृ० २१८।

२ ५ ३-११७।

३ येषामायुधजीविनां सङ्घानां षडवयवाः सन्ति त्रिगर्ताः षष्ठाः। त्रिगर्त षष्ठो येषां ते त्रिगर्तषष्ठा इत्युच्यन्ते। तेषु चेयं स्मृतिः आहुस्त्रिगर्त षष्ठांस्तु कौण्डोपरथदाण्डकिकौष्टकिजालमानिश्च ब्रह्मगुप्तोथ जालकिः।— ५ ३-११६ का०।

४ जालन्धरास्त्रिगर्ताः स्युः।—अभि० चि०, ४ २४।

५ कनिंघम आर्कि० सर्वे रि० भाग ५, पृ० १४८।

६ एपि० इण्डि० भाग १, पृ० १०२, ११६।

७ ८-१-५, पृ० २००।

अपने-अपने अलग अलग संघ थे और उनके अलग-अलग नाम भी थे। उदाहरणार्थ—काण्डक मापगर्भक, कापिञ्जलकी चूडा या सैन्धविकी चूडा साल्वक हुसित या जल्पित इन सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ थी।[1] साल्व-जनपद इन सबके अतिरिक्त तीन और बातों के लिए भी प्रसिद्ध था—पदाति सैनिक बैल और यवागू।[2] साल्व का पदाति साल्व ही कहलाता था साल्वक नहीं। बैल का साल्वक और यवागू को साल्विका कहते थे।

साल्व का सर्वप्रथम उल्लेख गोपथ-ब्राह्मण में (१-२ ९) मिलता है। साल्व संभवतः उस भू भाग का नाम था जिसे अब अलवर राज्य कहा जाता है।[3] महाभारत (वनपर्व अ० १४) के अनुसार साल्व की राजधानी साल्वपुर थी जिसे सौभम नगर भी कहते थे। काशिकाकार ने साल्व-जनपद में वैधूमाग्नी नगरी का नाम दिया है जिसका निर्माण विधूमाग्नि ने किया था। डॉ० अग्रवाल के मत से साल्व अत्यन्त प्राचीन जाति थी जो बलूचिस्तान और सिन्ध होती हुई पश्चिम से आई थी और राजस्थान में बस गई। ये साल्वका गिरि के रूप में जो हाला पर्वत का प्राचीन नाम है और जिसका परिगणन पाणिनि ने किंशुलकादि गण (६ ३-११७) में किया है अपने स्मृति-चिह्न पीछे छोड़ आये थे।[4]

उदुम्बर—उदुम्बर साल्व का एक अवयव था जिसका राजा औदुम्बरि कहलाता था।[5] भाष्य में उदुम्बर देश में बहनेवाली नदी का नाम उदुम्बरावती बतलाया है। सभापर्व (२ १८६९) में उदुम्बरों का स्थान मध्यदेश बतलाया है। मार्कण्डेयपुराण (१०८ ९) में उदुम्बरों का उल्लेख कपिस्थलों कुरुवाह्रों और गजाह्वयों के साथ हुआ है। इनमें गजाह्वय लोग तो हास्तिनपुर से और कुरुवाह्र भी किसी-न-किसी प्रकार कुरुओं से सम्बद्ध रहे होंगे। इससे अनुमान होता है कि ये लोग भी कुरु प्रदेश के समीप ही कहीं रहे होंगे। पंजाब के कांगड़ा जिले में इनके सिक्के मिल जाने से अब इतना निश्चितप्राय हो गया है कि उदुम्बर देश रावी और व्यास के बीच कांगड़ा घाटी तथा गुरुदासपुर जिले के पठानकोट के ही आस-पड़ोस का प्रदेश था और यहीं होकर बहनेवाली कोई नदी उदुम्बरावती कहलाती थी। भाष्य में मशकावती के साथ उदुम्बरावती का नाम आने से यह अनुमान किया जा सकता है कि उदुम्बर देश की राजधानी का नाम उदुम्बरावती था जिसके कारण ही इसके पास से बहनेवाली नदी का नाम उदुम्बरावती पड़ा।

युगन्धर—युगन्धर देश के मनुष्य को यौगन्धर या यौगन्धरक कहते थे। युगन्धर का राजा यौगन्धरि कहलाता था। डॉ० अग्रवाल ने जर्नल एशियाटिक (Journal Asiatic

---

१ ४ २ १३४।
२ ४-२ १३६, १६।
३ कनिंघम आर्कि० सर्वे रि० भाग २० पृ० १२०।
४ ४ २-७६।
५ पाणिनि पृ० ५५।
६ २ ४-५८, पृ० ४९१ तथा ६ ३ १११, पृ० ३६२।
७ ४-२-७१ पृ० १९४।
८ ४ २ ११०, पृ० २१७।

१९२९, पृ० १११-१४) में उद्धृत एक वैदिक मंत्र (जिसका वेद और संख्या नहीं दी गई है) के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि युगन्धर यमुना के क्षेत्र में कहीं था और इस प्रकार यमुना के ऊपरी भाग तथा सरस्वती के बीच अम्बाला जिले में उसे मान लिया है। उनके अनुसार जगाधरी युगन्धर का अपभ्रंश माना जा सकता है।[1] श्रीविमलचरण ला का अनुमान है कि दक्षिणी पंजाब की पुरानी जीन्द रियासत ही युगन्धर-जनपद थी। महाभारत (३ १२९ ९) में युगन्धर को कुरुक्षेत्र का प्रवेश-द्वार कहा है। काशिका के अनुसार युगन्धर साल्वों के अधिकार में था और साल्व अवयव गिना जाता था।

स्रुघ्न (१)—स्रुघ्न थानेश्वर से लगभग ४० मील की दूरी पर छोटा-सा जनपद था जिसका घेरा लगभग १०० मील था। यह पूर्व की ओर गंगातट और उत्तर में ऊँचे पर्वतों की श्रेणी तक विस्तृत था। यमुना इसके बीच में होकर बहती थी। कनिंघम के अनुसार सिरमौर की पहाड़ियाँ और गंगा के बीच का प्रदेश तथा गढ़वाल का पहाड़ी क्षेत्र भी इसके अन्तर्गत था। युवानच्वांग ने इसे सु-लु-किन-नो कहा है। स्रुघ्न की राजधानी भी स्रुघ्न थी जिसे आज भी सुघ कहते हैं। स्रुघ्न में रहनेवाले स्रौघ्न कहलाते थे। भाष्य में स्रौघ्नी स्त्रियों का आदरपूर्वक उल्लेख है। भाष्यकार स्रुघ्न जनपद, स्रुघ्न नगर, उसको जानेवाले मार्ग तथा वहाँ की सुख-समृद्धि से सुपरिचित थे।[2]

अजमीढ—भाष्य के अनुसार यह एक जनपद था। काशिकाकार ने इसे जनपदावधि अर्थात् बड़े जनपद का एक अवयव कहा है।[3] संभव है महाभारत के सुप्रसिद्ध अजमीढ-परिवार से इसका कोई सम्बन्ध हो। ऋग्वेद (७-१८ १९) में अज लोगों का उल्लेख है जिन्हें तृत्सु और सुदासवर्मों ने पराजित किया था। ऋग् (४ ४४ ६) में अजमीढ के वंशजों आजमीढों की भी चर्चा है। सम्भव है इन प्रदेशों और नगरों का सम्बन्ध अजों और आजमीढों से हो।

अजक्रन्द—इसका उल्लेख अजमीढ के ही साथ हुआ है। इसे भी काशिका ने जनपदावधि कहा है।[4]

नीप—नीप का राजा नैप्य कहलाता था।

निचक—निचक के राजा को नैचक्य कहते थे। नीप के समान इसके क्षेत्र के विषय में भी जानकारी उपलब्ध नहीं है।

---

१ इण्डिया एज नोन टु पाणिनि पृ० ५५ तथा पृ० ५७।
२ कनिंघम एन० ज्या० पृ० ३९५ से ९९।
३ ४ १-२५, पृ० २११ ४ १-१२, पृ० २५१, ६ ३ ४९, पृ० ३२७।
४ ४ १ १७०, पृ० १६३।
५ ४-२-१२५।
६ वही।
७ ४-१ १७० पृ० १६३।
८ वही।

भाष्य में सुपंचाल अर्धपंचाल और पूर्वपंचाल के निवासी को क्रमशः सुपांचालक अर्धपांचालक और पूर्वपांचालक कहा है[1] और वहाँ के एक शासक ब्रह्मदत्त का उल्लेख किया है।[2]

रंकु—रंकु-प्रदेश में रहनेवालों को रांकवक कहते थे।[3] पाणिनि के अनुसार इस देश की मनुष्य से भिन्न वस्तुओं को रांकवक या रांकवायण कहा जाता था। काशिका के अनुसार रंकुदेश बैलों और कम्बलों के लिए प्रसिद्ध था। डॉ० अग्रवाल यह प्रदेश अल्मोड़ा के आसपास बतलाते हैं।[4]

भारद्वाज—पाणिनि ने भारद्वाज को भी देश कहा है, जिसके अन्तर्गत कुकम और पर्ण नामक ग्राम थे। भाष्यकार ने ऐषीक और सौमुक ये दो ग्राम भी भारद्वाज देश के अन्तर्गत बतलाये हैं।[5] पार्जिटर के अनुसार महाभारत में भारद्वाज प्रदेश का उल्लेख प्रायः गंगा के ऊपरी भाग के पर्वत-प्रदेश के लिए हुआ है और इस आधार पर वे गढ़वाल को भारद्वाज प्रदेश मानते हैं। अत्रि या आत्रेय और भारद्वाजों का महाभारत पुराणों तथा पाणिनि के गणपाठ तथा महाभाष्य में अनेक बार जो साथ-साथ उल्लेख मिलता है उसका कारण इन दोनों का पारस्परिक मैथुनिक (दाम्पत्य) सम्बन्ध है।

कोसल—भारत के सोलह महाजनपदों में कोसल भी सम्मिलित था।[9] इसके पश्चिम में कुरु-पंचाल तथा पूर्व में विदेह था। सदानीरा (गण्डक) नदी इसे विदेह से पृथक करती थी।[10] कोसल लोग सूर्यवंशी मनु के वंशज थे। इनके पूर्वज इक्ष्वाकु थे इसलिए कोसल को इक्ष्वाकु-जनपद भी कहते थे। रामायण-काल में इस जनपद को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ किन्तु राम के बाद वह दो भागों में विभक्त हो गया। उनके बड़े पुत्र कुश दक्षिण-कोसल के शासक हुए। उन्होंने कुशस्थली नगरी जिसे विन्ध्यमाला में उन्होंने ही बसाया था राजधानी बनाई (वायु पु० ८८ १९८)। छोटे पुत्र लव उत्तर-कोसल के राजा हुए। उन्होंने अपनी राजधानी श्रावस्ती में स्थापित की। जैन और बौद्ध साहित्य में कोसल के अनेक स्त्री-पुरुषों की कथाएँ हैं। बौद्धधर्म के प्रारम्भ-काल में भी कोसल के उत्तर और दक्षिण ये दो नाम मिलते हैं। उत्तर-कोसल की दो राज

---

१ १ १-७२ पृ० ३५४।
२ अपि ब्रह्मदत्त पञ्चालाः ९-१ ९, पृ० ४१२।
३ ४ २ १०० पृ० २०३।
४ वही काशिका।
५ पाणिनि पृ० ५९।
६ ४-२-१४५, पृ० २१९।
७ पार्जिटर: मार्क० पु०, पृ० ३२०।
८ ९-४ ९२, पृ० ५००; ४ १-८९, पृ० १०५।
९ अंगु० नि० १-२१३।
१० कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिo, भाग १, पृ० ३०८।
११ ४ २ १०४, पृ० २१३।

राजधानियाँ थीं—श्रावस्ती और साकेत। सरयू नदी इन दोनों के बीच विभाजक रेखा थी। रामायण तथा अन्य प्रारम्भिक बौद्धग्रन्थों के अनुसार कोसल की पहली राजधानी अयोध्या थी किन्तु बुद्ध के समय में इसका महत्त्व कम होता गया। रीज डेविड्स के अनुसार साकेत और अयोध्या दोनों दो पृथक नगर थे।[1] श्रावस्ती और साकेत भारत के प्रमुख नगरों में गिने जाते थे। इनके अतिरिक्त सेतव्य और उक्कट्ठ भी बड़े नगर थे।

काशी और कोसल लगभग समान शक्ति और क्षेत्रफलवाले जनपद थे। बाद में कोसल अधिक शक्तिशाली बन गया और अन्त में उत्तर-कोसल श्रावस्ती के नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाभाष्य में काशिकोसलीयों का साथ-साथ ही उल्लेख मिलता है यद्यपि पृथक जनपदों के रूप में उन्होंने उसमें इन्हें जनपद-समुदाय कहा है। इसमें एक जनपद दूसरे की अवधि अर्थात् उसका अवान्तर भाग नहीं था।[2] कोसल की सन्तान कौसल्यायनि कहलाती थी।[3]

काशी—कोसल के समान काशी भी महाजनपद थी।[4] भाष्य में इसका उल्लेख सदा कोसल के साथ हुआ है। इसकी राजधानी वाराणसी थी। महाभारत-युद्ध के पूर्व ही काशी को राजनीतिक महत्त्व प्राप्त हो चुका था। उसकी सीमा गोमती तक विस्तृत थी। यह भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य था।[5] कभी काशी का अधिकार कोसल पर और कभी कोसल का काशी पर हो जाता था। पतञ्जलि इस स्थिति से परिचित थे। उन्होंने 'काशिकोसलीय' को इसी दृष्टि से एकीभूत जनपद और जनपद-समुदाय कहा है।[6] राजनीतिक दृष्टि से क्षीण हो जाने पर काशी कभी कोसल का और कभी मगध का अंग बना। काशी को लेकर ही कोसल के प्रसेनजित् और मगध के अजातशत्रु में झगड़ा हुआ, जिसमें प्रसेनजित् हार गया और काशी मगध में सम्मिलित हो गई।

ऋषिक—ऋषिक जनपद के निवासी या उसमें होनेवाली वस्तुएँ आर्षिक कहलाती थीं। ऋषिक सम्भवतः शूरसेन-जनपद का एक नाम था, जिसे मनु ने ब्रह्मर्षि देश कहा है।[9]

इक्ष्वाकु—इक्ष्वाकु-जनपद, जिसे भाष्यकार ने क्षत्रिय-निवास होने के कारण 'इक्ष्वाकवः' कहा है कोसल का दूसरा नाम था। इसके निवासी ऐक्ष्वाक कहलाते थे।[10]

गिलीनक—गिलीनक में होनेवाली वस्तु या व्यक्ति को गैलीनक कहते थे।[11]

---

१ बुद्धिस्ट इण्डि०, पृ० ३४।
२ ४-१-५४, पृ० १८।
३ ४ १ १५५, पृ० १६०।
४ अंगु० नि० १-२१३, ४-२५२।
५ संयुत्त नि०, १-८२ से ८५।
६. जनपदसमुदायो जनपदग्रहणेन न गृह्यते काशिकोसलीया इति।—४ १-५४, पृ० ६८।
७. जातक, ३-११५।
८. ४-२-१०४, पृ० २१३।
९. मनु २-१९।
१० ४-२-१०४, पृ० २१३।
११ ४ २-५२, पृ० १८४।

आरोहणक—आरोहणक में होनेवाली वस्तु या व्यक्ति आरोहणकीय कही जाती थी।[1]

राजन्यक—राजन्यक दैवयातवक बैल्ववनक आम्बरीषपुत्रक और आत्मकामेयक नाम की छोटी-छोटी जागीरें गान्धार, शौव और वासात् जनपदों के समीप में थीं जिनपर क्रमशः राजन्य दैवयातव बिल्ववन आम्बरीषपुत्र और आत्मकामेय नामक आयुधजीवी पर्वतीय क्षत्रियों का अधिकार था। ये सब प्रदेश पश्चिमोत्तर भारत में थे। यहाँ के निवासी क्षत्रियों के स्थानान्तरण के साथ इन प्रदेशों की सीमाएँ भी बदलती रहती थीं।

कुन्ति—कुन्ति का उल्लेख भाष्य में सर्वत्र कुरु और अवन्ति के साथ हुआ है, जिससे इसका जनपद होना स्पष्ट है। भाष्य के अनुसार कुन्ति का राजा कौन्त्य तथा कुन्तिराज की पुत्री कुन्ती कहलाती थी। कुन्ति-जनों का उल्लेख काठकसंहिता के एक मंत्र में है। इन्होंने पांचालों को पराजित किया था। इनका प्रदेश पंचाल और कुरु-जनपद के समीप ही कहीं था।

वृजि—भाष्यकार ने कुरु और वृजि के गार्हपत (परिवार-व्यवस्था) का विशेषतः उल्लेख किया है।[1] ये व्यवस्थाएँ परस्पर भिन्न थीं। कुरु में परिवार छोटे-छोटे होते थे और वृजि में बहुत बड़े-बड़े। आज भी यह अन्तर पूर्ववत् विद्यमान है।

वृजि अष्टकुलक जाति-संघ का सदस्य था जिसमें विदेह लिच्छवि तथा वृजि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। ज्ञातृक उग्र भोज और ऐक्ष्वाक भी इस संघ के घटक थे। आठवें सदस्य का नाम ज्ञात नहीं है। वज्जि नामक क्षत्रिय जाति का निवास और विषय वज्जि या वृजि कहलाता था। इनका भी लिच्छवियों के समान वैशाली से निकट सम्बन्ध था। यही अष्टगणसंघ का प्रमुख नगर था। इसका वैभव अपार था। वृजियों का एक संघ या गण था। इसका पाटलिपुत्र से भी मधुर सम्बन्ध रहा किन्तु बाद में अजातशत्रु ने इसे तहस-नहस कर डाला। वृजिसंघ की जनता जो संघ की भक्त थी वृजिक कहलाती थी। भाष्य में मद्र और वृजि के प्रति भक्ति का विशेषतः उल्लेख है।

विदेह—विदेह वर्तमान तिरहुत क्षेत्र का नाम था जिसे सदानीरा या गण्डकी नदी कोसल राज्य से पृथक् करती थी। इसकी राजधानी मिथिला थी। ब्राह्मण-काल से भी पूर्व विदेह संस्कृत हो चुका था। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार विदेह में आर्य-संस्कृति के प्रथम प्रवर्तक विदेघ माथव थे जिन्होंने प्रतीच्य भाग से ज्ञान की ज्योति लाकर यहाँ जलाई।[5] विदेहों का कोसलों और कभी काशी के साथ संयुक्त उल्लेख भी मिलता है। पंचविंश ब्राह्मण (२५ १०-१७) में यहाँ के राजा निमिसाप्य का उल्लेख है। वैदिक काल से बौद्धकाल तक विदेह वैदिक संस्कृति का महान् केन्द्र रहा।

---

१ ४-२ १०४, पृ० १११।
२ ४ १-१७५, पृ० १८४।
३ ६-२ १४२, पृ० २५८
४ ४ ३ १०० पृ० २४६।
५ शत० ब्रा०, १ ४ १ १० ।
६ तैत्ति० ब्रा० ३ १०-९-९ ।
७. पंचविंश ब्रा०, २५ १०-१७ ।

भाष्य ने विदेह के राजा को वैदेह कहा है। दूसरे स्थान पर विदेह को एकराज्य से भिन्न संघराज्य माना है जिससे पता चलता है कि बौद्धकाल में विदेह भी संघराज्य था।

मगध—वर्तमान पटना और गया जिले मोटे तौर पर प्राचीन मगध कहलाते थे। दिव्यावदान में इसे सर्वरत्नमय सुन्दर नगर कहा है।[2] पतञ्जलि ने इसे आर्यावर्त की सीमा के बाहर माना है। मगध की राजधानी गिरिव्रज या प्राचीन राजगिरि थी जो पाँच पर्वतों से घिरी थी। इसका क्षेत्रफल लगभग २३०० मील था। दक्षिण में विन्ध्य और पश्चिम में सोन मगध की सीमा थी। मगध बौद्धधर्म का प्रसिद्ध केन्द्र रहा। यहीं सारिपुत्त और मौद्गल्यायन ने बौद्धधर्म की दीक्षा ली थी। अशोक के समय में मगध की राजधानी पाटलिपुत्र थी। प्रारम्भिक बौद्धकाल में यह व्यापार का भी बड़ा केन्द्र था। मगध और लिच्छवि-गण की सीमा का निर्धारण गंगा से होता था। इसी प्रकार, मगध और अंग की सीमा चम्पा नदी थी। मगध और अंग में समय-समय पर युद्ध होता रहता था। इसके वैवाहिक सम्बन्ध अनेक महाजनपदों से थे। गान्धार तक से मगध के राजनीतिक सम्बन्ध थे।

मगध के निवासी को मागध कहते थे। सुमागधक, अर्धमागधक, पूर्वमागधक शब्द भी भाष्य में आये हैं।[3] मद्र के समान मगध भी अच्छा उपजाऊ प्रदेश था। इसी कारण उसके लिए 'सुमगधा' शब्द का प्रयोग किया है। अन्यत्र भी भाष्य में समृद्धि अर्थ में किये गये समास का उदाहरण 'सुमद्रम्' और 'सुमगधम्' ही मिलता है। मगध में चावल की उपज विशेष थी। भाष्यकार ने मगध-शाटि का इस प्रकार उल्लेख किया है जिससे पता चलता है, कि वे उच्चकोटि के होते थे और मगध से दूर-दूर तक निर्यात किये जाते थे।[4] मथुरा के वस्त्रों के समान ही मगध की शाटि का बाहर आदर था। भाष्य में मगध के राजा का भी उल्लेख मिलता है।

अंग—मगध के पूर्व में अंग लोग रहते थे। इनकी राजधानी चम्पा (भागलपुर) के पास थी। अंग प्रसिद्ध षोडश महाजनपदों में था। दीघनिकाय (२ २३५) के अनुसार यह भारत के सात प्रमुख राजनीतिक विभागों में से एक था। बुद्ध के समय में यह मगध के अधीन बन गया और इसके बाद इसकी स्वतन्त्रता का उल्लेख नहीं मिलता यद्यपि इसके पूर्व यह स्वतन्त्र था।[6]

अंग जनपद वर्तमान भागलपुर, मुंगेर जिलों तथा पास-पड़ोस के प्रदेश का नाम था। यह उत्तर में कोसी नदी तक विस्तृत था।

भाष्यकार ने अंग वंग सुह्म और पुण्ड्र का एक साथ उल्लेख किया है और इनके निवास

---

१ ४ १ १६८, पृ० १६९।
२ दिव्यावदान, पृ० ४२५।
३ १ १-७२, पृ० २५४।
४ २-४-८४, पृ० ५१५।
५ तानेव शाटीन् मुञ्चामहे ये मगधेषु।—भा० १, पृ० ४४।
६ जातक, ५ ३१६, ६ २७१।

को विषयाभिधान जनपद कहा है।[1] अंग के निवासी पुरुष आंग या आंगक कहे जाते थे और स्त्रियाँ आंगी।[2]

वंग—भाष्य में जिस प्रकार अम्बष्ठ और सौवीर नाम सदा साथ-साथ आये हैं उसी प्रकार अंग और वंग भी।[3] वंग प्राचीन बंगाल का नाम है। वंग और कलिंग के मध्य में राढ देश था जिसके उत्तर और दक्षिण दो भाग थे। आंगी के साथ वांगी स्त्री का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।

कलिंग—भारत के पूर्वी किनारे का कलिंग जनपद महानदी और गोदावरी के बीच स्थित था। लांगुलीय नदी के समीप समुद्र-तट पर बसा हुआ 'पृथूदक' भी कलिंग के ही अन्तर्गत था। महाभारत के अनुसार वर्तमान उड़ीसा तथा दक्षिण में वैतरणी नदी एवं विजयापट्टम् तक का प्रदेश कलिंग के अन्तर्गत था। कलिंग की राजधानी दन्तपुर थी।[5] भाष्यकार ने कलिंग को जनपद कहा है।[6]

सुह्म—सुह्म जिसका उल्लेख भाष्यकार ने अंग और वंग के साथ (४ २-५२ पृ०१८४) किया है उस प्रदेश के एक भाग का नाम था जिसे आगे चलकर राढ कहा गया है। यह गंगा के किनारे पर अवस्थित था। भाष्य में इसे पुण्ड्र से भी पृथक् बतलाया है जिसका समर्थन महाभारत तथा पुराणों से भी होता है।

खणिक—खणिक भी एक जनपद था। कलिंग के साथ इसका नाम आया है। सम्भवतः *यह मगध का खाणुमत स्थान है। खाणुमत ब्राह्मणों का क्षेत्र था। यहाँ बिम्बिसार द्वारा प्रदत्त* भूमि पर आश्रित एक विद्यालय था जिसमें वैदिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इसके आचार्य कूटदन्त थे और उनका समस्त सम्बद्ध भूमि तथा ग्रामों पर पूर्ण स्वामित्व था। यहाँ प्रति-वर्ष महायज्ञ होता था जिसमें अनेक पशुओं की बलि दी जाती थी।[7] भाष्यकार ने खणिक का उल्लेख जिस अपवाद के उदाहरण के रूप में किया है उससे ध्वनित होता है कि खणिक विद्या का तीर्थ था और इस प्रदेश में दूर-दूर के विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे।

---

१ विषयाभिधाने जनपदेलुब्बहुवचन विषयाद्बहुवचनस्य अङ्गाः विषयोऽङ्गाः वङ्गाः सुह्माः पुण्ड्राः—४ २-५२ पृ० १८४।

२ १ ४ ६२, पृ० ४६६।

३ वही।

४ महाभारत, १ ११४ ४।

५ महार्णव भाग ३, पृ० १६१।

६ ३-२ ११५, पृ० १५०।

७ दीघ० [illegible] ९७।

८ सुमंगलविलासिनी १ ४१ तथा दिव्य नि० १ १२७।

९ वही।

१० ३-२ ११५, पृ० १५०।

चम्पतगांम और लोहितगंग-प्रदेशों से भी भाष्यकार परिचित थे।[1] ये प्रदेश गंगा के किनारे थे इसमें सन्देह नहीं। काशिकाकार ने इनमें कृष्णगंग तथा शनैर्गंग नाम और जोड़ दिये हैं। ये प्रदेश-विशेषों के रूढ नाम थे। सार्थक और रूढ नाम का उदाहरण काशिका ने शीघ्रगंग दिया है। शीघ्रगंग किसी प्रदेश-विशेष का नाम न था अपितु जिस स्थान पर गंगा का प्रवाह तेज होता उस प्रदेश को कह सकते थे। इन प्रदेशों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

किष्किन्धा—किष्किन्ध-गन्धिकों में किष्किन्ध सुप्रसिद्ध किष्किन्धा पर्वत के पास रहने वाले थे। यह पर्वत भारत के दक्षिण में आंध्र-प्रदेश था जिसमें प्रसिद्ध किष्किन्धा गुहा थी। यहीं रामयुग के बालि का निवास-स्थान था। इसके पास-पड़ोस का क्षेत्र जो आजकल मैसोर में है तथा जहाँ से पम्पा नदी निकली है किष्किन्धों का प्रदेश था। गन्धिक लोग इन्हीं के पड़ोसी थे। रामायण के अनुसार ये असभ्य जातियाँ थीं।

क्रौंच—क्रौंच लोग क्रौंच पर्वत के निवासी थे। यह हिमालय के एक भाग का नाम था जो आसाम के उत्तर में हिमालय की पूर्वी श्रेणी के अन्तर्गत था। पुराणों के अनुसार कार्तिकेय ने इसका भेदन किया था। इसके दो भागों के बीच का मार्ग क्रौंचरन्ध्र कहलाता था। क्रौंचों की राजधानी क्रौंचपुर थी। क्षैर्य लोग इन्हीं के पड़ोसी रहे होंगे। भाष्य में क्षैर्य ग्राम का भी उल्लेख है।[4] हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में भी क्षैर्य नगर का नाम आया है। सम्भव है यह नगर क्षैर्य लोगों की राजधानी रही हो। भाष्यकार ने किष्किन्ध गन्धिक क्षैर्य और क्रौंच को आर्यावर्त से निरवसित माना है।[5]

अवन्ति—अवन्ति जिसे अवन्तिका भी कहते थे भारत के पश्चिमी भाग में नर्मदा के किनारे पर स्थित प्रदेश था।[6] रीज डेविड्स के अनुसार अवन्ति विन्ध्य-पर्वत के उत्तर में तथा बम्बई प्रदेश के उत्तर-पूर्व में थी।[8] आपके मत से दूसरी शताब्दी के अन्त तक यह प्रदेश अवन्ति कहा जाता रहा किन्तु बाद में इसका नाम मालव पड़ गया। अवन्ति के दक्षिणी और उत्तरी दो भाग थे। दक्षिणी भाग की राजधानी माहिष्मती और उत्तरी भाग की उज्जयिनी थी जो शिप्रा नदी के तट पर बसी थी। मोटे तौर पर वर्तमान मालवा निमाड़ और पास-पड़ोस का क्षेत्र इसके अन्तर्गत था। प्राचीन भारत में अवन्ति-क्षत्रिय बड़ी शक्तिशाली जाति के थे। अवन्ति के राजा को आवन्त्य और उसकी पुत्री को भाष्य में अवन्ती कहा है।[9]

---

१ १४१ पृ० १०६।
२ ६ १ १५७, पृ० १९८।
३ ९-४-१० पृ० ४६५।
४ वही।
५ वही।
६. अवन्तिषु प्रतीच्या मै।—अमरवर्ग, ३-८९।
७ लाम्स ऑफ् दि बदरेन, पृ० १००।
८. बुद्धि० इण्डि०, पृ० २८।
९. ४ १ १७०, पृ० २६४ तथा ४ १ १६, पृ० ३७। १-२-३६, पृ० ५४८।

महिष्मान्—महिष्मान् माहिषकों का निवास था।[1] माहिष (क) लोगों की चर्चा पुराणों में आई है और वहाँ उन्हें दाक्षिणात्य कहा है। इसकी राजधानी माहिष्मती विन्ध्य और ऋक्ष पर्वतों के बीच नर्मदा-तट पर अवस्थित थी। इसके चारों ओर का प्रदेश महिष्मान् कहलाता था।

विदर्भ—पतंजलि ने विदर्भ का उल्लेख किया है और उसके राजा को वैदर्भ कहा है।[3] यह वर्तमान बरार का प्राचीन नाम था। कालिदास के मालविकाग्निमित्र (५-२०) में शुंगकाल में विदर्भ को 'अचिराधिष्ठित' राज्य कहा है और उसके राजा को 'नवसंरोपणशिथिलस्तरु'।

केरल—केरल तमिल के चेरल का कनाड़ी रूप है। इसका प्राचीन नाम चेर या चेरल नाड था। चेरल का अर्थ है पर्वत-श्रेणी। स्मिथ के अनुसार चन्द्रगिरि नदी के दक्षिण में पश्चिमी घाट का प्रदेश प्राचीन केरल था। वर्तमान मलाबार ट्रावन्कार और कोचीन प्राचीन केरल के घटक थे। भाष्यकार ने केवल एक स्थान पर केरल का उल्लेख किया है और उसके राजा को भी केरल कहा है।[5]

चोल—आज तंजोर और त्रिचनापल्ली जिलों तथा पुदुक्कोट्टा रियासत के कुछ भाग का प्राचीन नाम था। इसकी राजधानी उरगपुर (उरैयुर) थी जिसे अब त्रिचनापल्ली कहते हैं। भाष्य में केरल के साथ ही इसका नाम आया है।

पाण्ड्य—प्राचीन पाण्ड्य प्रदेश के अन्तर्गत वर्तमान मदुरा और तिनवल्ली जिले एवं सम्भवतः रामनद और त्रावनकोर-कोचीन राज्यों का दक्षिण भाग था। इसकी दो राजधानियाँ थीं—कोलइ तथा मदुरा (दक्षिण मथुरा)। ताम्रपर्णी और कृतमाला (वेगइ) नदियाँ इससे होकर बहती थीं।

भाष्यकार ने पाण्डु शब्द का प्रयोग देश के अर्थ में किया है और उसके राजा को पाण्ड्य कहा है। इससे अनुमान होता है कि दक्षिण में भी पाण्डु का कोई राज्य था यद्यपि इसका शासक स्वतन्त्र था। मदुरा (मथुरा) भी पाण्ड्य और उत्तर भारत के निकट सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। संभव है पतंजलि की पाण्ड्य शब्द की व्युत्पत्ति इस कल्पना पर आश्रित हो क्योंकि पाणिनिकाल में किसी दक्षिणी राज्य का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

उग्र—उग्र बड़ी पुरानी तथा किसी समय सुप्रसिद्ध जाति थी। बृहदारण्यक उपनिषद् (३-८ २) में इसका उल्लेख है। अंगुत्तरनिकाय (१ २६) से उनका सम्बन्ध वैशाली से ज्ञात पड़ता है और हस्तिग्राम से भी। सूत्रग्रन्थों से यह संकेत मिलता है कि उग्रों का सम्बन्ध ज्ञातृकों

१ ४ १-८७ पृ० १९६।
२ मार्कण्डेय पु०, १०७-४६ तथा मत्स्य पु०, ११-७० ।
३ १४१ पृ० ९७।
४ अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया पृ० ४६६ ।
५ ४ १ १७५, पृ० २६४।
६ रायचौधरी: पालि० हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० ११८।
७ ४ १ १६८, पृ० २६३ ।

और लिच्छवियां से था। पतंजलि ने उग्रों का उल्लेख किया है किन्तु यह निश्चित नहीं कि वे किसी उग्र प्रदेश से भी परिचित थे।[1]

भोज— उग्रों के साथ ही भाष्य में भोज का भी उल्लेख है। उन्होंने उग्रपुत्री और भोज पुत्री का भी उल्लेख किया है। भोज यादव जाति के थे और उत्तर पूर्वी गुजरात में रहते थे। प्रारम्भ में इनके मध्य तथा दक्षिण भारत में रहने का प्रमाण मिलता है। पुराणों में सात्वतों और भोजों को यदुवंश का अंग बतलाया गया है।[2] महाभारत में इन्हें द्रुह्यु का वंशज माना है।[3]

मद्रकार— महाभारत (सभापर्व ११-५९०) के मद्रकार या मद्रकों का यह प्रदेश कुरु, मत्स्य और शूरसेन जनपदों के समीप था। भाष्यकार ने मद्रह्रद के साथ भद्रह्रद का उल्लेख किया है, जिससे अनुमान होता है कि वे मद्र के समान भद्र देश से भी परिचित थे।

आत्रेय—मार्कण्डेयपुराण में (५७-३९) आत्रेयों का पुष्कलों कुशेरुकों और लम्पाकों के साथ उल्लेख है।[4] मत्स्यपुराण में अत्रि और आत्रेयों को एक माना है।[5] महाभारत में भी इनका अनेक बार नाम आया है।[6] ये सरस्वती के पास द्वैतवन में रहते थे। भाष्यकार ने भारद्वाजों के साथ ही इनका उल्लेख किया है।

वत्स—वत्सों का उल्लेख भाष्य में अनेक बार मिलता है किन्तु विदों और उर्वों के साथ सदा इनका नाम आने से यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि उनका आशय वत्सगोत्रीय लोगों से है या वत्स-जनों से। वंश वश या वत्स देश का उल्लेख वैदिककाल से ही प्राप्त होता है। सांख्यायन श्रौतसूत्र (१६ ११-२१) में भी वत्सों की चर्चा है। इस जनपद की राजधानी कौशाम्बी का नाम भाष्य में अनेक बार आया है।[7] बौद्धकाल से पूर्व उत्तर-भारत में चार बड़े राज्य थे—मगध कोशल अवन्ति और वत्स। ये समीप के छोटे राज्यों को हड़पकर बलवान् बने थे। मगध ने अंग को कोशल ने काशी को अवन्ति ने शूरसेन को और वत्स ने भर्ग को आत्मसात् कर लिया था। वत्स मगध और अवन्ति का मध्यवर्ती राज्य था।

आभीर—पतंजलि ने शूद्रों के साथ आभीरों का उल्लेख किया है।[8] महाभारत (शान्ति पर्व अ० ५१) के अनुसार ये अपरान्तक प्रदेश के निवासी थे। इसका समर्थन 'दि पेरिप्लस ऑव दि एरिथ्रियन सी' के लेखक ने भी किया है। पेरिप्लस का काल पतंजलि के कुछ ही बाद का है। महाभारत (९ ३७-१) में इनकी ठीक स्थिति पश्चिमी राजपूताना में बतलाई है। टालेमी और

---

१ ६ ३-७० पृ० १४७।
२ मत्स्य पु० ४३-४८ वायु पु०, ९४-५२।
३ आदिपर्व, अ० ८४।
४ भा० २, पृ० ६९।
५. मत्स्य पु०, ११३-४३।
६ महाभारत, वनपर्व २६ ९७१।
७. ४ ४ ६२, पृ० ५००।
८ १-२-६४, पृ० ५७८।
९. १-२-७२, पृ० ६०७।

पेरिप्लस आभीर या अबेरिया देश का सुराष्ट्र से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाते हैं। टालेमी के समय में इण्डोसीथिया जिसमें पेरिप्लस के अनुसार आभीर देश भी सम्मिलित था तीन भागों में बँटा था—सुराष्ट्र पाताल और आभीर। ईसा-पूर्व दूसरी शती के मध्य में सम्भवत: यह देश बैक्ट्रियन ग्रीकों के अधिकार में चला गया किन्तु समुद्रगुप्त की इलाहाबाद-प्रशस्ति के अनुसार ईसा की दूसरी शती में यह दक्षिण-पश्चिम भारत की सशक्त जाति बन चुकी थी।

यौधेय—यह पाणिनि से पूर्व की ही वीर क्षत्रिय जाति थी। पुराणों के अनुसार ये उशीनरों की वंश-परम्परा में थे।[1] कनिंघम ने इन्हें मुल्तान के पास-पड़ोस के जोहियावार (यौधेय वार) क्षेत्र में रहनेवाले जोहिया राजपूतों से सम्बद्ध बतलाया है। इनके तीन वर्ग थे। यौधेयों के प्राप्त सिक्कों से भी इस बात की पुष्टि होती है, जिसमें 'जय यौधेयगणस्य' के साथ 'द्वि' और 'त्रि' अंकित हैं। यह द्वितीयस्य और तृतीयस्य का बोधक है। रुद्रदामन् के समय में इन लोगों का सुदृढ़ सेना-संगठन था। गिरिनार के शिलालेख से यह बात स्पष्ट है।

शालंकायन—भाष्य में बाभ्रव्यों और शालंकायनों का नाम आया है। ये नाम सम्भवत: गोत्रों के हैं। शालंकायनों के तीन विभाग थे। इनके अपने संघ भी थे। डॉ० जायसवाल इन्हें राजनीतिक संघ मानते हैं। इनके किन्हीं प्रदेशों की कोई जानकारी अभी तक प्राप्त नहीं है। सम्भवत: ये छात्रसंघ थे राजनीतिक नहीं।

त्रिपुरी—त्रिपुरी चेदि-राज्य की राजधानी थी किन्तु गुप्त राजाओं के समय में यह एक प्रान्त था और राष्ट्रिय के अधिकार में था। त्रिपुरी प्राचीन चेदि-राज्य (वर्तमान जबलपुर के समीप का क्षेत्र) के रूप में भी प्रसिद्ध थी।

---

१ ब्रह्माण्ड पु० ३-७४ तथा हरिवंश अ० ३२।
२ एन० ज्या० पृ० २४५, २८१।
३ रैप्सन इण्डियन क्वायन्स पृ० १४।
४ ५।१-५८, पृ० ३११।
५ २।१-९१, पृ० २९९।

अध्याय ५

नगर और ग्राम

ग्राम और उनके भेद—भाष्यकार ने चार प्रकार के संस्त्याय (बस्तियाँ) बतलाये हैं—ग्राम घोष नगर और संवाह।[1] जिस बस्ती में कुछ ब्राह्मण कृषक तथा पञ्चकारुक रहते थे वह गाँव कही जाती थी। जिस स्थान में गाय भैंस आदि पशु पालनेवाले लोग प्रमुखता से रहते थे उसे घोष कहते थे। जिस बड़ी बस्ती मे भिन्न जातियों के बहुत-से लोग अलग-अलग अपने मुहल्ले बनाकर रहते थे वह नगर कहलाती थी तथा नगर के समान बसी हुई किन्तु उससे भी बड़ी बस्ती को संवाह कहते थे।[2] भाष्य में नगरी का भी उल्लेख है किन्तु नगर से उसका भेद स्पष्ट नहीं किया गया है।[3] भाष्यकार ने इन चारों संस्त्यायों को आर्य निवास कहा है।[4]

सामान्यतया ग्राम प्रत्येक बस्ती को कहते थे चाहे वह घोष हो या नगर। जब बस्ती की विशेषता का उल्लेख करना होता था तभी नगर, संवाह आदि शब्द व्यवहार में आते थे। इसीलिए 'विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः' (२ ४-७) सूत्र के लिए वार्तिककार को 'ग्रामप्रतिषेधे नगरप्रतिषेधः' वार्तिक का निर्माण करना पड़ा जिससे ग्राम कहने से केवल ग्राम का ही ग्रहण हो नगर का न हो। आज भी राजस्थान और महाराष्ट्र में ग्राम शब्द सामान्यतया हर बस्ती के लिए प्रयुक्त होता है। 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' (७-३ १४) सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने कहा है कि ग्राम और नगर में कोई अन्तर नहीं है। जो काम गाँव में होते हैं वे ही नगर में होते हैं और जो गाँव में वर्जित हैं वे नगर में भी वर्जित हैं। फिर भी जब संस्त्याय-विशेष बतलाना होता है तब ग्राम और नगर का अलग-अलग नाम लेना पड़ता है। इस विषय में कोई कठोर नियम नहीं है। कभी ग्राम कहने से केवल ग्राम का ही बोध होता है और कभी नगर का भी। ब्राह्मण (३-४४) तथा *जैमिनीय उपनिषद् में जिन महाग्रामों की चर्चा है वे संभवतः संवाह रहे होंगे। कगी के अनुसार* वैदिकयुगीन भारत में नगर नहीं थे। यद्यपि वाजसनेयी संहिता (३३ १८) में काम्पिल्य का उल्लेख है। पश्चिम भारत में ग्रामों की संख्या बहुत थी। वहाँ पूर्व के समान अरण्य नहीं थे। ऐतरेय (६ ३३) और शतपथ-ब्राह्मण (१३ ३-७-१०) में जिन महारण्यों की चर्चा है वे पूर्व में ही थे। महाभाष्य में उदीच्य और वाहीक प्रदेश के ही ग्रामों का उल्लेख है। शेष भारत के नगरों के ही नाम आये हैं।

---

१ संस्त्यायविशेषा ह्येते ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति।—७-३ १४, पृ० १८०।

२ प्राकारो नगरस्य ५ १ ११ पृ० ३०४।

३ ८ ४ ४२ पृ० ४२६।

४ कः पुनरार्यनिवासः? ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति।—२-४ १०, पृ० १५४।

भाष्य में ग्रामों और नगरों के प्राच्य और उदीच्य ये दो भेद मुख्य हैं। उदीच्य देश में प्रायः ग्रामों का उल्लेख है, नगरों का बहुत कम यद्यपि प्राच्य देश में ग्राम और नगर का उल्लेख पृथक्-पृथक् है।[1] प्राच्य देश में नगरों की संख्या अधिक थी। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जिस समय सिन्धु और पंचनद आर्य-सभ्यता के केन्द्र थे उस समय देश कृषिप्रधान था। कृषि की प्रधानता में ग्राम तो समृद्ध बन जाते हैं किन्तु नगरों का निर्माण नहीं होता। बाद में जब प्राच्य देश विद्या और संस्कृति का केन्द्र बना, तब व्यापार उन्नत हो चुका था। गणतन्त्रों के स्थान पर बड़े-बड़े एकतन्त्र राज्य गठित हो चुके थे। फलतः बड़े नगरों का निर्माण हुआ। वस्तुतः भाष्यकार के समय में सभ्यता का केन्द्र प्राच्य देश से और आगे पूर्व में बढ़ गया था। भाष्य के उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि की दृष्टि में शाकलपुर (लाहौर) से पूर्व का प्रदेश जिसकी पूर्वी सीमा कुरु-पांचाल थी प्राच्य था। इससे और पूर्व की ओर उनका ध्यान कम गया था। गया भी तो वे प्राच्यदेश उसे नहीं मानते थे क्योंकि वह प्रदेश आर्यदेश की सीमा से बाहर था। इसलिए, ग्राम-नगरों के सम्बन्ध में भाष्यकार ने भी सिन्धु-वाहीक को उदीच्य और उससे पूर्व पांचाल तक के प्रदेश को प्राच्य कहा है।

पाणिनि ने उत्तर-पद के आधार पर ग्रामों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया था। इनमें तीर, रूप्य मन्थ प्रस्थ पुर वह कन्था अग्नि वन वर्ण कन्था पलद नगर ग्राम ह्रद आदि उत्तर पद मुख्य हैं। उदीच्य देश के सम्बन्ध में उन्होंने भी सर्वत्र ग्राम शब्द का ही प्रयोग किया है, नगर का नहीं। पतंजलि के समय में वर्गीकरण का यह प्रकार छोटा पड़ने लगा था। उनके समय में ऐसे अनेक नगरों का निर्माण हो चुका था जो इनसे स्वतन्त्र थे। पतंजलि ने सूत्रकार के ग्राम सम्बन्धी सूत्रों में अधिकांश के उदाहरण नहीं दिये हैं अन्यथा उनकी सूची बहुत बड़ी होती। इतर ग्रामों के नाम यों ही अन्य प्रसंगों में आ गये हैं। भाष्यकार के ग्रामों और नगरों में निम्नलिखित प्रमुख हैं—

कापिशी—कापिशी का स्वतन्त्र उल्लेख तो भाष्यकार ने नहीं किया है किन्तु पाणिनि के 'कापिश्याः ष्फक्' (४।२।९९) सूत्र पर उन्होंने एक वार्तिक का निर्माण कर कापिशी के साथ बाह्लि उर्दि और दर्वि को भी जोड़ लिया है जो इस बात का प्रमाण है कि वे कापिशी से सम्यक् परिचित थे। टालेमी के अनुसार यह नगरी काबुल से १५५ मील उत्तर-पूर्व की ओर बसी हुई थी। कनिंघम के मत से कापिशी कोहिस्तान के उत्तरी छोर पर पंजशीर और तगाओ की घाटी में स्थित थी। कनिंघम ने इसका विस्तार १० मी० बतलाया है। कापिशी फलों और अन्न के उत्पन्न के लिए प्रसिद्ध थी। बील के 'बुद्धिस्ट रेकार्ड्स ऑफ वेस्टर्न वर्ल्ड' (१-५४) के अनुसार यहाँ का राजा क्षत्रिय था जो प्रति वर्ष मोक्षमहापरिषद् का आयोजन करता था। यहाँ के निवासी निर्दय और भयंकर थे। वे ऊन के वस्त्र पहनते थे। कापिशी सुरा के लिए प्रसिद्ध थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (अधि०२, अ० २५) में भी कापिशी का उल्लेख मिलता है।

---

१ ७-३-१४, ४-२-१०९, ४-२-११७।
२ ४-२-१०९ ११०, १२१, १२५, १२६, १४२।

मशकावती—मशकावती का उल्लेख भाष्यकार ने नदी के प्रसंग में किया है।[1] इस नगरी से सम्बद्ध नदी भी मशकावती कहलाती थी। यह नगरी अश्मकों (४ १ १७३) की राजधानी थी जिसे मसग कहते थे। मशकावती मलाकन्द दर्रे के पास-पड़ोस बसी हुई थी। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (भाग १ पृ० ३५३) के अनुसार सिकन्दर की सेनाओं ने इस पर आक्रमण किया और नगर पर अधिकार कर सारी सेना को मौत के घाट उतार दिया था।

तक्षशिला—सिन्धु के पूर्व की ओर बसी हुई यह नगरी गान्धार की प्राचीन राजधानियों में एक थी। कनिंघम के अनुसार काल-का-सराय से एक मील उत्तर-पूर्व में शाह-ढेरी के पास के टीले प्राचीन तक्षशिला के अवशेष हैं। यहाँ खुदाई में ५५ स्तूप २८ मठ और ९ मन्दिर मिले हैं। अशोक के समय में कुणाल यहाँ का राष्ट्रिय था। उस समय इस स्थान में उपद्रव होते रहते थे। एरियन ने इसे महान् समृद्ध और जनाकीर्ण नगर कहा है। प्लिनी ने इसे पर्वत-पाद के समतल प्रदेश में स्थित प्रसिद्ध नगरी बतलाया है। यह ८० वर्ष तक ग्रीक शासन में रही और बाद में अशोक के अधिकार में आई। ह्वेनसांग ने इसका घेरा ६॥ मील बतलाया है। तक्षशिला प्राचीन भारत के सबसे बड़े शिक्षा-केन्द्रों में थी।

वाहीक ग्राम—उदीच्य और वाहीक ग्रामों में कस्तीर, वायसतीर, पयारम्य, मणि-रूप्य, शिवपुर, शारकरूप, निर्मीनक, मौञ्जक, आराल, कास्तीर, दामरूप्य, शाकल, सौमुक, निवा-हर्षु, नासिकर्षु, मालाप्रस्थ, पातानप्रस्थ, कारीपुर, नान्दीपुर, वातवह, कौकुलीवह, मार्मीनमापु, मौञ्ज और करन्तप नाम भाष्य में आये हैं।[2] इनमें से अधिकांश के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। शिवपुर का मूल नाम शिबिपुर था। शोरकोट के शिलालेख के अनुसार यह शोरकोट का पुराना नाम था। शोरकोट शिबियों की राजधानी थी[3] और झेलम तथा चेनाब के संगम से कुछ दूर ऊपर की ओर अवस्थित थी। अब इसके केवल खण्डहर-पत्थर अवशेष हैं। पातानप्रस्थ काश्मीर में कांगड़ा घाटी के प्रवेश द्वार पर स्थित पठान या पठानकोट का प्राचीन नाम था। यह उदुम्बरों की राजधानी थी।

शाकल—शाकल या सागल मद्रदेश की राजधानी थी।[5] यह रावी या इरावती के पश्चिम में आपगा नदी के किनारे, जिसे अब अयक कहते हैं स्थित थी। महाभारत में इसे शमीपीलु और करीरों के वन के मध्य में बसी बतलाया गया है।[6] पीलु वृक्ष पंजाब के इस भाग में बहुत अधिक होते भी हैं। ह्वेनसांग (६३०ई०) ने भी शाकल के पास पो-लो-श वनों का वर्णन किया है जो कनिंघम के मत से पीलु ही हैं। महाभारत के अनुसार मद्र लोग आरट्ट और वाहीक भी कहे जाते थे।

---

१ ४-२-७१ पृ० १९४।

२ ४-२-१०४ वा० २, ३ ६, २४, २५, २७ पृ० २०४।३।

३ महाभारत २ ३-१४।

४ कनिंघम आर्कियो० सर्वे रि० भाग १४, पृ० ११६।

५. १ १ १०, पृ० ३६।

६. शमीपीलुकरीराणां वनेषु सुखवर्त्मसु।—पेण्टापोटेमिया इण्डिका० प्रो० लैसेन, पृ० ७१-७४।

कनिंघम ने पर्याप्त खोजबीन के पश्चात् सांगकलाका टिबा नामक पहाड़ी पर के ध्वंसावशेषों को ही साकल माना है।' मिलिन्दप्रश्न (पृ०१ २) के अनुसार यह व्यापार का भी केन्द्र था। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' (१-५४९ ५०) के अनुसार ई० पू० ३२६ में इस पर सिकन्दर ने अधिकार कर लिया। पतंजलि ने साकल को वाहीक-ग्राम कहा है। सम्भव है उनके समय यह नगरी इतनी विशाल न रही हो। इनके अतिरिक्त कपिष्ठल का उल्लेख पाणिनि ने गोत्र के रूप में किया था किन्तु भाष्यकार के कथन से ज्ञात पड़ता है कि वे गोत्र से भिन्न कपिष्ठल से भी परिचित थे।' यह संभवतः करनाल जिले का वर्तमान कैथल स्थान है।'

हास्तिनपुर—कुरुओं की यह प्राचीन राजधानी उत्तरप्रदेश के मेरठ जिले में थी। पतंजलि ने इसे गंगा-तट पर बसा हुआ बतलाया है। कनिंघम ने इसे मेरठ की मवाना तहसील का एक पुराना कस्बा माना है। विविध तीर्थकल्प के अनुसार इस नगर को राजा हस्तिन ने भागीरथी-तट पर बसाया था। भगवान् महावीर यहाँ कई बार गये थे। भगवती-सूत्र (२ ९) हरिवंश (२०-१-५१ ५४) तथा भागवतपुराण (९-२१-२०) इन तथ्यों की पुष्टि करते हैं। पार्जिटर के अनुसार हस्तिन के दो पुत्र हुए—अजमीढ और द्विमीढ। इनमें अजमीढ ने हास्तिनपुर में पौरव परम्परा स्थिर रखी। अधिसीम कृष्ण के पुत्र निचक्षु के शासन-काल में यह नगर गंगा से कट कर बह गया। तब यहाँ के राजा कौशाम्बी में जाकर रहने लगे।

स्रुघ्न(?)—पतंजलि ने बार-बार स्रुघ्न का उल्लेख किया है। यह स्थान हास्तिनपुर से ४० मील की दूरी पर उत्तर में स्थित था। मथुरा से इसका निकट सम्बन्ध रहा होगा। कई स्थानों पर भाष्य में स्रुघ्न और मथुरा का इस ढंग से उल्लेख मिलता है मानों उनमें दैनन्दिन आना जाना-सम्पर्क रहता हो। उन्होंने स्रुघ्न जानेवाले मार्ग का उस पर बार होकर उल्लेख किया जान पड़ता है।' सम्भवतः मथुरा से स्रुघ्न को सीधा मार्ग जाता था। अश्वादि पशु इसी मार्ग से स्रुघ्न को ले जाये जाते होंगे। 'स्रौघ्न प्रासादों और प्राकारों की भी भाष्य में चर्चा है जिससे स्पष्ट है कि स्रुघ्न बड़ी सम्पन्न नगरी थी। स्रौघ्नी स्त्रियों के लिए भी भाष्यकार ने श्रेष्ठ विशेषणों का प्रयोग किया है।' स्रुघ्न जिसे अब सुघ कहते हैं स्रुघ्न जनपद की राजधानी थी। कनिंघम के अनुसार

---

१ कनिंघम एन० ज्या० पृ० २०१ १९।

२ ८ १ ९१ पृ० ४१२।

३ अग्रवाल पाणिनि पृ० ७१।

४ अनुगङ्गम् हास्तिनपुर, २ १ १६, पृ० ३०१।

५ एन० ज्या० पृ० ७०२।

६ पार्जिटर डायनेस्टीज ऑफ दि कलि एज, पृ० ५।

७ आर्कि० सर्वे रि० भाग १४ पृ० ११६।

८ भा० २ पृ० ४९।

९ अयं पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते।—१ ३-२५, पृ० ९४।

१० १ ४-५१ पृ० १८१।

११ ४ ३-३६ पृ० २११।

स्रुघ्न चारों ओर से प्राकृतिक सीमाओं द्वारा दृढ़ता से सुरक्षित था और इस प्रकार यह वास्तव में दुर्ग था। स्रुघ्न का घेरा लगभग चार मील था। आज सुघ, मण्डलपुर, दयालगढ़ और बुरिया ये गाँव प्राचीन स्रुघ्न की ही भूमि पर बसे हैं जिनकी कुल जनसंख्या लगभग २००० है। इन स्थानों में दिल्ली के तोमर राजाओं से बुद्धकाल (५०० ई० पू०) तक के सिक्के प्राप्त हुए हैं। स्रुघ्न नगरी मेरठ, सहारनपुर-अम्बाला होकर उत्तर पंजाब जानेवाले मुख्य मार्ग पर स्थित थी। यहीं होकर यमुना के लिए मार्ग जाता था। महमूद गजनवी, तैमूरलंग और बाबर कन्नौज, हरद्वार और दिल्ली की लूट एवं विजय के बाद इसी मार्ग से वापस लौटे थे। पतंजलि के समय में भी यह मार्ग प्रसिद्ध रहा होगा, जिसका उन्होंने अंगुलि-निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। काशिकाकार के कथन से भी ज्ञात होता है कि स्रुघ्न पाटलिपुत्र से तक्षशिला जानेवाले उत्तरापथ के मुख्य मार्ग पर स्थित था।[1]

मथुरा—पतंजलि के समय में मथुरा भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नगरियों में थी। मथुरा, स्रुघ्न और पाटलिपुत्र इन तीनों का उल्लेख भाष्य में सबसे अधिक हुआ है।

मथुरा शूरसेन जनपद की राजधानी थी यद्यपि भाष्य में शूरसेन जनपद का नाम नहीं है। वैदिक काल में इस नगरी का उल्लेख नहीं मिलता। पार्जिटर के अनुसार शत्रुघ्न ने लवणासुर को मारकर और मधुवन के अरण्य को काटकर मथुरा को बसाया था। इसे मधुरा भी कहा जाता था। ग्रीक इतिहासकारों ने इसे मथुरा या मथोरा कहा है। बौद्ध जैनग्रन्थों, फाह्यान, ह्वेनसांग और टाल्मी के कथनों से स्पष्ट है कि ईसा-पूर्व ३०० से तीसरी शती के अन्त तक यह नगरी बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही। पतंजलि से यह भी पता चलता है कि मथुरा व्यापार-उद्योग के लिए प्रसिद्ध और धन-धान्य से समृद्ध नगरी थी।[4] कुरु जनपद से उसके व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ थे और बड़ी संख्या में कुरु लोगों का मथुरा में आना-जाना लगा रहता था। कुरु के साथ मथुरा के बड़े प्रिय सम्बन्ध थे।[6]

मथुरा कई शताब्दियों तक बौद्धधर्म का केन्द्र रही। पतंजलि-काल में वहाँ जैन पर्याप्त संख्या में बस चुके थे। कुषाण-काल से पूर्व मथुरा में वाघपाल, धनभूति और उसके पूर्वजों का शासन था। यह बात खुदाई में प्राप्त रेलिंग स्तम्भों तथा लेखों से विदित होती है। भरहुत के द्वार-मार्ग के लेखों में भी इन शासकों के नाम हैं। उनमें यह स्पष्ट उल्लिखित है कि शुंगों के राज्यान्तर्गत (शुङ्गानां राज्ये) वाघपाल ने ये स्तम्भ बनवाये थे। इस समय मथुरा-राज्य शुंग राज्य की सीमा के अन्तर्गत रहा होगा। लेखों में यह बात स्पष्ट नहीं है कि वाघपाल स्वयं राजा था या नहीं।

---

१ ६-३-४९, पृ० १२७ तथा अन्तरा तक्षशिलां पाटलिपुत्रं च स्रुघ्नस्य प्राकाराः।—२-३-४ काशि०।

२ अ० २, पृ० ४२, १-२-६४ आदि।

३ एन० इण्डियन हिस्टा० ट्रेडिशन पृ० १७०।

४ १-२-५२, पृ० ५५३।

५ ट्रेवित्स ऑफ फाहियान, वैटर्स-युवानच्वांग पृ० क्रमशः ४२ तथा १ ३०१।

६ प्रियकुरवकाः मथुराः प्रियकुरवका मथुरा।—४-१-१४, पृ० १४।

कनिंघम ने पर्याप्त खोजबीन के पश्चात् सांगकबाला टिबा नामक पहाड़ी पर के ध्वंसावशेषों को ही शाकल माना है।[1] मिलिन्दप्रश्न (पृ० १ २) के अनुसार यह व्यापार का भी केन्द्र था। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (१-५४९-५०) के अनुसार ई० पू० ३२६ में इस पर सिकन्दर ने अधिकार कर लिया। पतंजलि ने शाकल को वाहीक-ग्राम कहा है। सम्भव है उनके समय यह नगरी इतनी विशाल न रही हो। इसके अतिरिक्त कपिष्ठल का उल्लेख पाणिनि ने गोत्र के रूप में किया था किन्तु भाष्यकार के कथन से ज्ञात पड़ता है कि वे गोत्र से भिन्न कपिष्ठल से भी परिचित थे।[2] यह संभवतः कर्नाल जिले का वर्तमान कैथल स्थान है।[3]

हस्तिनापुर—कुरुओं की यह प्राचीन राजधानी उत्तरप्रदेश के मेरठ जिले में थी। पतंजलि ने इसे गंगा-तट पर बसा हुआ बतलाया है। कनिंघम ने इसे मेरठ की मवाना तहसील का एक पुराना कस्बा माना है।[5] विविध तीर्थकल्प के अनुसार इस नगर को राजा हस्तिन ने भागीरथी तट पर बसाया था। भगवान् महावीर यहाँ कई बार गये थे। भगवती-सूत्र (२९) हरिवंश (२०-१-५३ ५४) तथा भागवतपुराण (९-२१-२०) इन तथ्यों की पुष्टि करते हैं। पार्जिटर के अनुसार हस्तिन के दो पुत्र हुए— अजमीढ और द्विमीढ। इनमें अजमीढ ने हस्तिनापुर में पौरव परम्परा स्थिर रखी। अधिसीम कृष्ण के पुत्र निचक्षु के शासन-काल में यह नगर गंगा से कट कर बह गया। तब वहाँ के राजा कौशाम्बी में जाकर रहने लगे।[6]

स्रुघ्न[7]—पतंजलि ने बार-बार स्रुघ्न का उल्लेख किया है। यह स्थान हस्तिनापुर से ४ मील की दूरी पर उत्तर में स्थित था। मथुरा से इसका निकट सम्बन्ध रहा होगा। कई स्थानों पर भाष्य में स्रुघ्न और मथुरा का इस ढंग से उल्लेख मिलता है मानों उनमें दैनन्दिन यात्रा चलन-गमन रहता हो। उन्होंने स्रुघ्न जानेवाले मार्ग का उस पर खड़े होकर उल्लेख किया जान पड़ता है।[8] सम्भवतः मथुरा से स्रुघ्न को सीधा मार्ग जाता था। अश्वादि पशु इसी मार्ग से स्रुघ्न को ले जाये जाते होंगे। स्रौघ्न प्रासादों और प्राकारों की भी भाष्य में चर्चा है जिससे स्पष्ट है कि स्रुघ्न बड़ी सम्पन्न नगरी थी। स्रौघ्नी स्त्रियों के लिए भी भाष्यकार ने स्पष्ट विशेषणों का प्रयोग किया है।[9] स्रुघ्न जिसे अब सुघ कहते हैं स्रुघ्न जनपद की राजधानी थी। कनिंघम के अनुसार

---

१ कनिंघम एन० ज्या० पृ० २०६ १९।
२ ८ ३ ९१ पृ० ४६२।
३ अग्रवाल पाणिनि पृ० ७१।
४ अनुपक्रम हस्तिनापुर ९ १ १६ पृ० २७३।
५ एन० ज्या० पृ० ७०२।
६ पार्जिटर डायनेस्टीज ऑफ दि कलि एज पृ० ५।
७ आर्कि० सर्वे रि० भाग १४, पृ० ११६।
८ भा० २ पृ० ४९।
९ मर्य पथ्या स्रुघ्नमुपनिष्क्रमे।—१ ३ २५, पृ० ९४।
१० १ ४-५१ पृ० १८१।
११ ४ ३ ३६, पृ० ३११।

स्रुघ्न चारों ओर से प्राकृतिक सीमाओं द्वारा दृढ़ता से सुरक्षित था और इस प्रकार वह वास्तव में दुर्ग था। स्रुघ्न का घेरा लगभग चार मील था। आज सुघ, मण्डलपुर, दयालगढ़ और बुरिया ये पाँच प्राचीन स्रुघ्न की ही भूमि पर बसे हैं जिनकी कुल जनसंख्या लगभग २००० है। इन स्थानों में दिल्ली के तोमर राजाओं से बुद्धकाल (५०० ई० पू०) तक के सिक्के प्राप्त हुए हैं। स्रुघ्न नगरी मेरठ, सहारनपुर-अम्बाला होकर उत्तर पंजाब जानेवाले मुख्य मार्ग पर स्थित थी। यहीं होकर यमुना के लिए मार्ग जाता था। महमूद गजनवी, तैमूरलंग और बाबर कन्नौज, हरद्वार और दिल्ली की लूट एवं विजय के बाद इसी मार्ग से वापस लौटे थे। पतञ्जलि के समय में भी यह मार्ग प्रसिद्ध रहा होगा जिसका उन्होंने अङ्गुलि-निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। काशिकाकार के कथन से भी ज्ञात होता है कि स्रुघ्न पाटलिपुत्र से तक्षशिला जानेवाले उत्तरापथ के मुख्य मार्ग पर स्थित था।[1]

मथुरा—पतञ्जलि के समय में मथुरा भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नगरियों में था। मथुरा, स्रुघ्न और पाटलिपुत्र इन तीनों का उल्लेख भाष्य में सबसे अधिक हुआ है।

मथुरा शूरसेन जनपद की राजधानी थी यद्यपि भाष्य में शूरसेन जनपद का नाम नहीं है। वैदिक काल में इस नगरी का उल्लेख नहीं मिलता। पार्जिटर के अनुसार शत्रुघ्न ने लवणासुर को मारकर और मधुवन के अरण्य को काटकर मथुरा को बसाया था। इसे मधुरा भी कहा जाता था। ग्रीक इतिहासकारों ने इसे मथुरा या मथोरा कहा है। बौद्ध जैनग्रन्थों, फाहियान, युवान्च्वाङ और टाल्मी के वचनों से स्पष्ट है कि ईसा-पूर्व ०० से तीसरी शती के अन्त तक यह नगरी बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही। पतञ्जलि से यह भी पता चलता है कि मथुरा व्यापार-उद्योग के लिए प्रसिद्ध और धन-धान्य से समृद्ध नगरी थी।[1] कुरु जनपद से उसके व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ थे और बड़ी संख्या में कुरु लोगों का मथुरा में आना-जाना लगा रहता था। कुरु के साथ मथुरा के बड़े प्रिय सम्बन्ध थे।[2]

मथुरा कई शताब्दियों तक बौद्धधर्म का केन्द्र रही। पतञ्जलि-काल में वहाँ जैन पर्याप्त संख्या में बसे हुए थे। कुषाण-काल से पूर्व मथुरा में वाचपाल, धनभूति और उनके पूर्वजों का शासन था। यह बात खुदाई में प्राप्त वेष्टिनी स्तम्भों तथा लेखों से विदित होती है। भरहुत के द्वार-मार्ग के लेखों में भी इन शासकों के नाम हैं। उनमें यह स्पष्ट उल्लिखित है कि शुंगों के राज्यान्तर्गत (सुङ्गानां राज्ये) वाचपाल ने ये स्तम्भ बनवाये थे। इस समय मथुरा-राज्य शुंग राज्य की सीमा के अन्तर्गत रहा होगा। लेखों में यह बात स्पष्ट नहीं है कि वाचपाल स्वयं राजा था या नहीं।

१ १-१-४९, पृ० १२७ तथा अन्तरा तक्षशिलां पाटलिपुत्रं च स्रुघ्नस्य प्राकारः।—२-३-४ काशि०।

२ अ० २, पृ० ४२, १२-१४ आदि।

३ एन० इण्डियन हिस्टा० ट्रेडिशन पृ० १७०।

४ १-२-५२, पृ० ५५१।

५ ट्रैवेल्स ऑफ् फाहियान, वैटर्स-युवानच्वांग, पृ० क्रमशः ४२ तथा १ ३०१।

६ प्रियकुरवका मथुरा बहुकुरवका मथुरा।—४-१ १४, पृ० १४।

मथुरा ने न जाने कितने राजनीतिक उत्थान-पतन देखे हैं। शत्रुघ्न ने अपने दो पुत्रों सुबाहु और शूरसेन के साथ यहां शासन किया।[1] महाभारत और पुराणों के अनुसार यहां यादवों का शासन रहा।[2] अन्धक और वृष्णि यहां पहले निवास करते थे।[3] बाद में राक्षसों से भीत होकर वे यहां से चले गये और उन्होंने द्वारावती को राजधानी बनाया।[4] मगधराज जरासन्ध ने इसे आक्रान्त किया।[5] महाप्रस्थान के समय युधिष्ठिर ने वज्रनाभ को मथुरा का शासन सौंपा था। अन्धकों के शासन-काल में यह नगरी उग्रसेन के अधिकार में थी।[6] गुप्त-साम्राज्य के उत्थान के पहले यहां सात नाग-राजाओं ने शासन किया। बुद्धकाल में मथुरा के शासक को मातृपक्ष द्वारा उज्जयिनी से सम्बद्ध होने के कारण अवन्तिपुत्र कहते थे।[7] दीपवंश के अनुसार यह सर्वोत्तम नगरी थी। जैनग्रन्थों के अनुसार यहां वासुदेव नामक शक्तिशाली राजा था। यौधेयों का भी शासन मथुरा पर समुद्रगुप्त से पूर्व रहा। पंजाब और काबुल के शासक मिनाण्डर का भी मथुरा पर अधिकार रहा।[8] मेगास्थनीज के समय में इस पर मौर्यों का शासन था। प्रथम शताब्दी में शक राजाओं ने हिन्दू राजाओं का उन्मूलन कर मथुरा पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। द्वितीय शताब्दी में मथुरा कुषाण राजा हुविष्क के अधिकार में आई। पतञ्जलि के समय में मथुरा शुंग राजाओं के अधिकार में थी यद्यपि कुछ विद्वानों को इसमें सन्देह है। फिर भी शुंगों के प्रभाव में तो वह अवश्य थी। पतञ्जलि द्वारा अत्यधिक आत्मीयता के साथ बार-बार मथुरा का उल्लेख किया जाना भी इस कथन के पोषण में सहायक है।

फाह्यान के अनुसार मथुरा में बहुत बौद्ध मठ थे जो भिक्षुओं से भरे रहते थे। कृषि यहां का मुख्य व्यवसाय था। कच्चे रेशे की कपास कपड़ा और सोना यहां का प्रसिद्ध था। भाष्यकार ने भी यहां के कार्षापण और सुन्दर वस्त्रों का उल्लेख किया है। अंगुत्तरनिकाय (१ २५६) में अन्यत्र यहां की सड़कें विषम रजोमयी चण्डशुनका दुर्लभपिण्डा और बालायक्षा (पशु प्रेतों से भरी) कही गई हैं।

प्राचीन मथुरा यमुना के दक्षिण तट पर इन्द्रप्रस्थ और कौशाम्बी के मध्य स्थित थी। गंगा-तट पर अवस्थित सांकाश्यनगर यहां से चार योजन दूर था।[11] वर्तमान मथुरा यमुना के पश्चिम

---

१ रामा० ७-६२ ६।
२ विष्णु पु०, ४ १३ १ तथा वायु पु० ९६ १, २।
३ ब्रह्मपुराण अ० १४।
४ *हरिवंश पु० अ० ३७।*
५ स्कन्द पु० विष्णुखण्ड।
६ पार्जिटर: एन० इण्डियन हिस्टा० ट्रैडि०, पृ० १७१।
७ वायुपुराण अ० ९९।
८ रायचौधुरी पालि० हिस्ट्री ऑफ एन० इण्डिया, पृ० ३९१।
९. स्मिथ: अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चौथा सं० पृ० २१०।
१० वही पृ० २८६।
११ कच्चायन: पाली ग्रामर, भाग ३ अ० १।

के कारण उत्तर की ओर हट गई है। भाष्य में पाटलिपुत्र इससे पूर्व दिशा में बतलाया गया है।[1]

माथुर लोग स्वास्थ्य और सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध थे। भाष्यकार ने उन्हें सांकाश्यों और पाटलिपुत्रकों से अधिक सुन्दर कहा है।[2]

अहिच्छत्र—अहिच्छत्र के रहनेवाले पुरुष आहिच्छत्र और स्त्रियाँ आहिच्छत्री कहलाती थीं। अहिच्छत्र उत्तर पंचाल की राजधानी थी।[3] महाभारत से भी इसकी पुष्टि होती है।[4] अहिच्छत्र उत्तरप्रदेश के बरेली जिले में स्थित रामनगर का प्राचीन नाम था। यहाँ जो सिक्के मिले हैं, उनसे पता चलता है कि वराहमिहिर यहाँ का शासक रहा था। पभोसा के गुफालेख से भी इस बात का पता चलता है। शौनकायनि भी यहाँ का शासक था। प्रयाग के समुद्रगुप्तवाले शिलालेख में जिस शक्तिशाली राजा अच्युत का नाम आया है, उसके सिक्के भी अहिच्छत्र में मिले हैं। अहिच्छत्र को कहीं-कहीं अहिक्षेत्र भी लिखा गया है। वैसे इसका प्राचीनतर नाम अहिच्छत्र था जो लूडर्स के ब्राह्मी शिलालेखों की सूची के एक लेख में सुरक्षित है। यह रूप टालेमी के अदिसद्र से भी मिलता है।[5] हरिवंशपुराण के अनुसार अर्जुन ने यह नगर द्रोणाचार्य को दे दिया था। विविध तीर्थ कल्प के अनुसार इसका प्राचीन नाम शंखावती था। एक बार पार्श्वनाथ इस नगर में भ्रमण कर रहे थे कि कमठासुर ने ईर्ष्यावश इतनी वर्षा की कि सारा नगर जलमग्न हो गया और पार्श्वनाथ भी आकण्ठ जलमग्न हो गये। तब नागराज ने रानियों-सहित उन पर फनों का छत्र लगा दिया और उनके शरीर को कुण्डली से आवृत कर उनकी रक्षा की। तब से इस नगर का नाम अहिच्छत्र पड़ गया। कुषाण युग के समय तक इसका महत्त्व बना हुआ था। आज यह स्थान खण्डहरों के रूप में है। प्राचीन किले के ध्वंसावशेष जो मीलों में बिखरे हैं, पाण्डु का किला कहलाते हैं। इसे देखने से पता चलता है कि इस किले में ३४ बुर्ज थे।

कान्यकुब्ज—कान्यकुब्ज उत्तरप्रदेश के फर्रुखाबाद जिले के वर्तमान कन्नौज का पुराना नाम है। भाष्यकार ने अहिच्छत्र के साथ ही इसका उल्लेख किया है। इसके गाधिपुर, कुशस्थल और महोदय नाम भी मिलते हैं।[6] रामायण (बालकाण्ड) के अनुसार यह विश्वामित्र की जन्मभूमि थी। भागवतपुराण (९-१-२१) में इसे अजामिल की नगरी कहा है। कान्यकुब्ज भी पंचाल-जनपद के अन्तर्गत था।

सांकाश्य—सांकाश्य जिसे पालि-ग्रन्थों ने संकस्स कहा है, फर्रुखाबाद (उ०प्र०) जिले में अवस्थित एक ग्राम था जिसे आजकल संकीसा कहते हैं। यह स्थान कुन्दारकोट से २६ मील उत्तर में तथा अलीगंज से दक्षिण-पूर्व की ओर ११ मील दूर है। इटावा से उत्तर-पूर्व की ओर

१ १ १-५७, पृ० ३५७।
२ ५ ३-५७, पृ० ४५४।
३ रैप्सन : एन० इण्डिया, पृ० १६७।
४ आदिपर्व, अ० १४०।
५ मैक्रिण्डल इण्डिया ऐज० डिस्क्राइब्ड बाइ टालेमी, पृ० १३४।
६ अभि० राजेन्द्रकोष, ४ ३९।
७ एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ४, पृ० २५६।

यह ४० मील दूर पड़ता है। कुछ लोगों के मत से सांकाश्य कन्नौज से ४५ मील उत्तर-पश्चिम की ओर एवं फतहगढ़ से २३ मील दूर इटावा जिले में अतरंजी और कन्नौज के बीच कालिन्दी (प्राचीन इक्षुमती) नदी के उत्तरी तट पर स्थित संकिसा बसन्तपुर का प्राचीन नाम था। पतञ्जलि के अनुसार सांकाश्य गवीधुमान् से चार योजन दूर था।[1] यह दूरी गवीधुमान् की सीमा की समाप्ति से सांकाश्य के सीमारम्भ तक थी। सांकाश्य के निवासी सांकाश्यक कहलाते थे। सौन्दर्य की दृष्टि से भाष्यकार ने पाटलिपुत्रकों एवं माथुरों दोनों को इनसे श्रेष्ठ माना है और बार-बार इस कथन को दुहराया है।[2]

गवीधुमान्—गवीधुमान् सम्भवतः वर्तमान कुदरकोट है जो इटावा से उत्तर पूर्व की ओर २४ मील और फर्रुखाबाद जिले में स्थित संकिसा से ३६ मील दूर है।[3] पतञ्जलि ने गवीधुमान् को सांकाश्य से चार योजन दूर बतलाया है।

कौशाम्बी—पतञ्जलि ने बिना कोई विशेष विवरण दिये बारह बार कौशाम्बी का उल्लेख किया है।[4] इससे केवल इतना पता चलता है कि यह अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान था और वे इससे बहुत अधिक परिचित थे। काशिकाकार ने इसे कुशाम्ब द्वारा बसाई गई नगरी कहा है।[5]

कौशाम्बी को पालि-ग्रन्थों में कोसम्बी और चीनी ग्रन्थों में किआउ-शंग-मि कहा है। यह वत्स या वत्स जनपद की राजधानी थी। इलाहाबाद जिले का कोसमग्राम जो प्रयाग से लगभग ३० मील दूर दक्षिण-पश्चिम में यमुना के किनारे स्थित है कौशाम्बी का वर्तमान रूप है। जैन आज भी इसे कौशाम्बी कहते हैं। ह्वेनसांग के अनुसार कौशाम्बी प्रयाग से ५०० ली० की दूरी पर स्थित थी। इसके तथा प्रयाग के बीच में हाथी आदि अन्य पशुओं से भरा सघन वन था।[6] इस आधार पर कुछ लोगों को उपर्युक्त मत स्वीकार नहीं है। मेजर वास्ट ने रीवाँ रियासत में भरहुत के समीप का प्रदेश तथा वैटर्स ने बांदा जिले में अजयगढ़ का उत्तरी-पूर्वी भाग को कौशाम्बी माना है।[7]

पौराणिक परम्परा के अनुसार पुरुवंशीय बलराज उदयन यहाँ के प्रसिद्ध राजा हुए। पुरु लोगों की राजधानी हस्तिनापुर और राज्य कुरुराज था। जब हस्तिनापुर को गंगा ने नष्ट कर दिया तब परीक्षित के वंशज राजा यहाँ चले आये। महाभारत के अनुसार यमुना वत्स में

---

१ गवीधुमतः सांकाश्य चत्वारि योजनानि। गवीधुमतो निःसृत्य यत्र चत्वारि योजनानि भवन्ति तत् सांकाश्यम्।—२ ३ २८, पृ० ४२६।

२ सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः।—१ ३ ११ पृ० ४५।

३ एन्० एल० डे—ज्या० डिक्श० पृ० ५९।

४ १ १-५६, १ २ ४४ आदि।

५. ४ २ ६८।

६ कनिंघम आर्कियो० सर्वे रि० भाग १ पृ० ३०१।

७ कनिंघम आर्कि० सर्वे रि० भाग १ पृ० ३०३ तथा जर्नल ऑफ रा० ए० सो० १९०४ पृ० २४९ तथा वैटर्स २ ३३९।

होकर बहती थी। कौशाम्बी साकेत या श्रावस्ती एवं प्रतिष्ठान से जोड़नेवाले व्यापार-मार्गों का केन्द्र-स्थल थी।[1] कोसम में प्रद्योत का बनवाया हुआ ईंटों का किला आज भी वर्तमान है।

साकेत—साकेत उत्तर-कोशल की राजधानी तथा उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नगर था जहाँ से यमुना पारकर कौशाम्बी के लिए मार्ग जाता था। श्रावस्ती से साकेत तक सात बार बदले हुए घोड़े बदलकर रथ द्वारा आया जा सकता था।[2] यह नगर कोशल की उत्तरी पूर्वी सीमा पर अवस्थित था और भारत के छह प्रमुख नगरों में था।[3] विनयपिटक (१ ८८) के अनुसार साकेत और श्रावस्ती का मार्ग डकैतों से भरा था जो भिक्षुओं तक को लूट लेते थे। राजसेना डाकुओं को पकड़कर मार डालती थी। टालेमी ने इसे सौगर कहा है। पतञ्जलि के अनुसार साकेत पूर्व और पश्चिम भारत को जोड़नेवाले मुख्य मार्ग पर अवस्थित था। उन्होंने स्रुघ्न और साकेत जानेवाले मार्गों से अपना परिचय बतलाया है। उन्होंने कहा है कि पाटलिपुत्र जानेवाले मार्ग पर पहले साकेत पड़ता है।[5]

पतंजलि ने यवनों द्वारा साकेत पर घेरा डाले जाने की बात कही है।[6] यह यवन कौन था और उसने कब साकेत पर आक्रमण किया ? कुछ इतिहासकार यह आक्रमण डिमिट्रियस द्वारा किया गया मानते हैं। उसने भारत पर दो ओर से आक्रमण किया। पश्चिम में इसका सेनापतित्व स्वयं डिमेट्रियस ने किया और पूर्व में उसके सहायक मिनाण्डर ने। दोनों कैंची के फल के समान चलकर पाटलिपुत्र में मिले। टार्न ने भी इस कथन का समर्थन किया है।

अधिकांश विद्वान् साकेत और अयोध्या को एक मानते हैं। विल्सन के संस्कृत-कोष में भी साकेत का अर्थ अयोध्या दिया है। रघुवंश (सर्ग १३ श्लो० ७९ तथा १४ १३) में साकेत राजा दशरथ की राजधानी बताई गई है। रामायण में भी साकेत दशरथ की राजधानी बतलाई गई है। इन आधारों पर कनिंघम साकेत और अयोध्या को एक नगर मानते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ने (७-३) अयोध्या को एक ग्राम कहा है और सांख्यायन श्रौतसूत्र (१५ १७-२५) ने इस बात की पुष्टि की है कि साकेत और अयोध्या एक थे। प्रो० रीज डेविड्स ने सफल तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि बुद्ध के समय में साकेत और अयोध्या दोनों पृथक नगर थे।[9] फुहरर के 'मानुमेण्ट्स ऐंटिक्विटीज ऑफ नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज एण्ड अवध' (पृ० २७५) में उन्नाव जिले

---

१ वत्स और सिमहा मफ्तूल इण्डि०, पृ० १२।

२ मज्झिम नि० १-८८।

३ दिघ० नि० २ १४६।

४ १ १ २५, पृ० ६४।

५ योऽयमध्वा गत आपाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं साकेतादिति ।—१-२ १३५ पृ० १२८।

६ अरुणद्यवनः साकेतम् ।—३-२ १११ पृ० २४६।

७. टार्न ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया पृ० १४० २२५, २२६।

८ एन० ज्या० पृ० ४६४।

९. लॉ: ज्या० ऑफ अर्ली बुद्धिज्म पृ० ५।

ने सुजनकोट के खण्डहरों को जो सई नदी के तट पर हैं प्राचीन साकेत बतलाया गया है। कनिंघम के अनुसार साकेत को ही फाह्यान ने शा-चि और ह्वेन-सांग ने विशाख नगरी कहा है।[1]

साकेत या अयोध्या पुष्यमित्र शुंग के राज्य के अन्तर्गत थी। पतंजलि ने अयोध्या पर यवनों द्वारा घेरा डाले जाने की बात कही है। यहाँ पाये गये एक शिलालेख में बतलाया गया है कि पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किये थे।[2]

काशी या वाराणसी—भाष्य में एक स्थान को छोड़कर अन्यत्र कौशाम्बी और वाराणसी नाम साथ-साथ आये हैं। भाष्यकार ने वाराणसी को गंगा-तट पर बसा हुआ बतलाया है।[3] पतंजलि के समय में भी वाराणसी गंगा-तट पर लम्बी-लम्बी बसी हुई थी। व्यापारी-वर्ग में वाराणसी का नाम जित्वरी प्रसिद्ध था। वाराणसी भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारी जाती रही है। यथा—सुरुन्धन सुदस्सन ब्रह्मवड्ढन पुप्फवती रम्म मोलिनी आदि।[4] यह प्राचीन काशी राज्य की राजधानी थी और काशी नाम से भी प्रसिद्ध थी। कूर्मपुराण (१०-६१) के अनुसार यह वरणा और असी नदियों के मध्य में स्थित थी। यह वरणा सम्भवतः अथर्ववेद (४-७-१) की वरणावती है। वाराणसी या काशी और श्रावस्ती के बीच में अच्छा व्यापार मार्ग था। काशी व्यापार और उद्योग के लिए प्रसिद्ध थी। इसका श्रावस्ती और तक्षशिला से निकट व्यापारिक सम्बन्ध था।[5] भाष्यकार ने काशी को वस्त्र व्यापार का केन्द्र बतलाया है जहाँ विशेष प्रकार का कपड़ा तैयार होता था।

जातकों के अनुसार इसका विस्तार १२ योजन था। वाराणसी बड़ी समृद्ध एवं धनी बसी नगरी थी। हिन्दू जैन और बौद्ध साहित्य में समान रूप से ख्यात और समादृत वाराणसी को आनन्द ने बुद्ध के परिनिर्वाण के लिए सुझाए हुये नगरों की सूची में सम्मिलित किया था।[6] जैन विविध तीर्थकल्प के अनुसार वाराणसी चार भागों में बँटी थी। जैनों के अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म काशी में हुआ था। बुद्ध के समय में काशी-जनपद कोशल में मिल चुका था। चीनी यात्रियों ने इस पो-लो-नि-स्से कहा है और यहाँ के लोगों को बहुत भला अबौद्ध तथा अध्ययनशील बतलाया है।[7] शांख्यायन श्रौतसूत्र (१६-२९-५) बृहदारण्यकोपनिषद् (१-८ २) शतपथ

---

१ एन० ज्या० पृ० ४६०।

२ एपि० इण्डि० भाग २०, पृ० ५७।

३ अनुगङ्गं वाराणसी गङ्गा चाप्यायता वाराणस्यायता।—२-१ १६, पृ० २७३।

४ वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति—४ ३-८४, पृ० २४३।

५ जातक ४ १५ तथा १९९ धर्मापिटक, पृ० ७।

६. धम्मपद कमेण्टरी, ३-४२९ तथा १ १२३।

७ इह समाने आयामे विस्तारे पटस्याम्योर्घो भवति काशिकस्यान्यो माथुरस्य।—५ ३-५५, पृ० ४४६।

८. जातक, ५ ३७७ १ १६०।

९. दिव्य नि० २ १४६।

१० चीन: बुद्धिस्ट रेकार्ड्स ऑफ वेस्टर्न वर्ल्ड २ ४४।

ब्राह्मण (११-५ ४ १९) कौषीतकी उपनिषद् (४ १) बौधायन श्रौतसूत्र (१८ ४४) रामायण एवं महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थों एवं पुराणों में काशी का पौनःपुनिक उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुशासनपर्व (अ० ३० पृ० १८८९ १९००) के अनुसार काशी दिवोदास ने बसाई थी।

पाटलिपुत्र—भाष्यकार ने बीस से भी अधिक सूत्रों के भाष्य में किसी-न-किसी रूप में पाटलिपुत्र का उल्लेख एक या अनेक बार किया है। इससे दो बातों का अनुमान होता है। एक यह कि भाष्यकार के समय में पाटलिपुत्र भारत का सर्वाधिक प्रसिद्ध नगर था और दूसरे यह कि भाष्यकार का उससे बहुत निकट का सम्बन्ध था। वे जानते थे कि यह नगर मथुरा से पूर्व दिशा में है।[1] जिसके बीच में अनेक स्थान हैं। यह शोण नदी के तट पर लम्बा-लम्बा बसा हुआ है।[2] जिस स्थान पर बैठकर उन्होंने अध्यापन कार्य किया वहाँ से पाटलिपुत्र पहुँचने में कई दिन लग जाते थे। इसीलिए, उन्होंने कहा है कि कोई पाटलिपुत्र जानेवाला एक दिन चलकर कहे कि आज चलना हो गया तो उससे उसकी गमन क्रिया समाप्त नहीं हो जाती। जितना चला उतने को दृष्टि में रखकर इस प्रकार की बात कही जाती है।[3] उन्होंने पाटलिपुत्र का मार्ग बतलाते हुए कहा है कि इसके बीच में साकेत मिलता है। मार्ग में कुएँ मिलते हैं।[4] पाटलिपुत्र मथुरा से दूर है यह बात भी भाष्य में कही गई है। सम्भव है, मथुरा में बैठकर ही भाष्यकार ने शुभ्र साकेत और पाटलिपुत्र जानेवाले मार्गों का निर्देश किया हो।[5] उन्होंने सांकाश्यकों से पाटलिपुत्रकों को और पाटलिपुत्रकों से भी माथुरों को अभिरूपतर कहा है।[6] यह कथन भी उक्त अनुमान का पोषक है।

पाटलिपुत्र मगध-साम्राज्य की राजधानी था। प्रारम्भ में यह मगध का एक सामान्य ग्राम था और इसे पाटलिग्राम कहते थे। यह गंगा के दूसरे तट पर स्थित कोटग्राम के ठीक सामने था। राजगृह से वैशाली जानेवाले मुख्य मार्ग पर यह पड़ाव का गाँव था। नगर के रूप में इसकी नींव अजातशत्रु के सुनीथ और वर्षकार नामक दो मंत्रियों द्वारा इसमें दुर्ग बनाये जाने के प्रसंग में पड़ी। पाटलिपुत्र गंगा शोण और गण्डक के संगम के पास बसाया गया था। पतञ्जलि के समय में यह शोण तट पर ही अवस्थित था। बाद में शोण दूर हटती चली गई।

पाटलिपुत्र बहुत विशाल नगर था। इसकी सुरक्षा के लिए ६० फुट चौड़ी और ३० हाथ गहरी परिखा बनाई गई थी। मेगास्थनीज के अनुसार परिखा की लम्बाई ८० स्टेडियम था

---

१ पूर्वं मथुरायाः पाटलिपुत्रम्।—१ १-५७, पृ० १५७ ।
२ २ १ १६, पृ० २०१ ।
३ ३-२-१०२ पृ० २१९ ।
४ ३ ३-१३६, पृ० ३२८ ।
५ ३-३-१३६, पृ० ३९९ ।
६ ८-४-८४ पृ० ३१० ।
७ ५ ३-५७, पृ० ४५४ ।
८ सुमङ्गलविलासिनी, २-५४०।

१६,१६० गज और चौड़ाई १५ स्टेडियम या ३०३० गज थी।[1] भीतरी खाई से २४ फुट भीतर हटकर एक प्राकार था जिसमें ५७० गुम्बज तथा ६४ दरवाजे थे। नगर में चार द्वार थे जिनसे अशोक को चार लाख कार्षापण की दैनिक आय थी। पाटलिपुत्र भारत का सर्वाधिक समृद्ध और शानदार नगर था। इसके प्रासाद प्राकार और परिखा देश भर में प्रसिद्ध थे। भाष्यकार ने बार बार इसका उल्लेख किया है। नगर इतना बड़ा था कि उसके विभिन्न भागों की व्याख्या करनेवाली पुस्तिका थी जिसका नाम 'सुकोसला' था। सुकोसला में पाटलिपुत्र के प्राकार, परिखा प्रासाद आदि समस्त अवयवों का वर्णन था। फाह्यान के समय में इसकी टक्कर का कोई दूसरा नगर देश में न था[6] किन्तु लगभग दो सौ वर्षों के भीतर ह्वेनसांग के समय में वह बहुत कुछ उजड़ चुका था।[7]

राजकीय उद्यानों की पुष्प विविधता के कारण पाटलिपुत्र का पूर्वनाम पुष्पपुर या कुसुमपुर था। जैन परम्परा के अनुसार अशोक के पुत्र उदयन ने यह नगर बसाया है। वास्तव में इसके निर्माण का श्रेय अजातशत्रु को है।

पाटलिपुत्र उत्तरकालीन शिशुनागों नन्दों एवं चन्द्रगुप्त अशोक आदि मौर्य सम्राटों की राजधानी रहा था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल में भी यह बहुत शानदार एवं जन संकुल था। छठी शताब्दी के हूण-आक्रमण के समय तक यह अच्छी स्थिति में रहा। पाटलिपुत्र की खुदाई में जो वस्तुएँ मिली हैं उनमें एक रेलिंग और स्तम्भ भी हैं, जो सम्भवतः शुंग या पतंजलि के काल का है।

उज्जयिनी—यद्यपि भाष्य में उज्जयनी नाम केवल एक बार आया है किन्तु उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार का इस नगरी से प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त था। वे माहिष्मती और उज्जयिनी के मध्य की दूरी से अवगत थे। इसीलिए, प्रातःकाल को उज्जयिनी से पैदल चलकर सूर्योदय तक माहिष्मती पहुँच जाने की उन्होंने आश्चर्यकारी बात कही है।[8]

भाष्यकार का उज्जयिनी से परिचित होना स्वाभाविक है क्योंकि इस प्रदेश में विदिशा

---

१ मैकक्रिंडल: एन० इण्डि० एज डेस्क्रा० बाई मेगास्थनीज एण्ड ऐरियन पृ० ६५ से ६७।

२ वही।

३ तारानाथ-पासाडिका १-५२ की हिस्ट्री० ब्या० पृ० २५० पर उद्धृत।

४ पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसलेति। अवयवशो ह्याख्यानं व्याख्यानं पाटलिपुत्रं भाष्यमाणमाचष्टे ईदृशा अस्य प्राकार इति।—४ ३ ६६ पृ० २१६ तथा पाटलिपुत्रकाः प्रासादाः पाटलिपुत्रकाः प्राकाराः।—४ २ ११४ पृ० २५८।

५ लेगी: फाह्यान पृ० ७७-७८।

६ वैटर्स ऑन युआनच्वांग, २-८७।

७ मनरंजन घोष पाटलिपुत्र पृ० १४ १५।

८ उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं सम्भावयति सूर्योद्गमनपनि—२-३-७६ पृ० ७६।

पूर्व ३०० के लगभग यहाँ बस गई थी।[1] भाष्यकार ने महाभाष्य में ग्रीकों द्वारा माध्यमिका पर किए गए आक्रमण का उल्लेख किया है।

नासिक्य—नासिक्य को पतंजलि ने नगर कहा है। पुराणों में इसे नासिक और रामायण में जनस्थान कहा है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार नासिक्य नर्मदा-तट पर अवस्थित था। जनस्थान पंचवटी और गोदावरी के समीप था। इसके इस नाम का कारण यहाँ लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा का नासिकाच्छेदन है। गोदावरी के दक्षिण तट पर बसा हुआ वर्तमान नासिक नगर नासिक्य का आधुनिक रूप है। आगे चलकर सातवाहन राजाओं के समय में नासिक हीनयानों की महायान शाखा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया जिनकी २१ गुफाएँ यहाँ विद्यमान हैं।[3] भरहुत के बौद्धिय लेख सं० ४८ में भी नासिक का उल्लेख है।[4]

शिरीषा—यह हिसार जिले का वर्तमान सिरसा है। इसका नाम शिरीषवन के समीप होने के कारण पड़ा।[5]

रोणी—सम्भवतः यह हिसार जिले का रोड़ी स्थान है। किन्तु, आजकरोण और सैहकरोण के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। सम्भव है यह इसी के पास-पड़ोस के ग्राम हों।[6]

कटुबदरी—कटुबदरी वृक्षों के समीप बसे होने के कारण यह नाम पड़ा होगा।

अन्य ग्राम—नगग्राम नवनगर, चौवहाण नगर, सौर्य और आम्बवनगर तथा कैंडवत और वासुभिन्नी ग्राम[9] तिमृका ग्राम[10] एणीक नामक उदीच्य ग्राम[11] दीपुर और स्कौनगर नामक प्राच्य ग्राम[12] त्रिपुरी एवं त्रिपुरि नगरी[13] उदुम्बरावती नगरी[14] पंचग्रामी पञ्चनगरी (ग्राम और नगरविशेष)[15] एवं पूर्वेषु कामशमी और अपरेषु कामशमी[16] इन सबका भी भाष्यकार

१ कनिंघम : आर्कि० सर्वे रि० भाग ६, पृ० १९६ २०२।
२ १ २-१११ पृ० २४६।
३ बरुआ एण्ड सिन्हा भरहुत इंस्क्रिप्शन्स पृ० १८, १२८।
४ लूडर्स लिस्ट-सं० ११२२, ११४५।
५ शिरीषाग्रामदूरभवा ग्रामाः शिरीषाः।—४ २-४१, पृ० ५५०।
६. ६ १-७२, पृ० ४४२।
७ ४ २-४१ पृ० ५५०।
८. ५ ३-७२, पृ० ४००।
९. २ ४-७ पृ० ४६४।
१० ७-२-९९, पृ० १५५।
११ ४-२ १४५, पृ० ३१९।
१२ १ १-७५, पृ० ४६३।
१३ ५ ४-९८, पृ० ४९९।
१४ ४-२-७१ पृ० ११४।
१५ २ १९ १, पृ० २९९।
१६ १ ४-३, पृ० १२४।

परिचित थे। इनमें डॉ॰ अग्रवाल ने नवनगर को वंग या पश्चिमी बंगाल की प्राचीन राजधानी नवद्वीप माना है किन्तु भाष्यकार ने वंग के अन्य किसी ग्राम या नगर का उल्लेख नहीं किया है। त्रिपुरी का उल्लेख चाहमान देवी (चेदि) के रतनपुर के सन् ८८९ के शिलालेख में मिलता है जिस पर कोकल्ल के अठारह पुत्रों में से एक का शासन था।[1] पाणिनि (६ १ १५५) के कास्तीर और अजस्तुन्द ग्रामों की स्थिति का भी कोई पता नहीं चला है। भाष्य का कन्याकूप केप कमोरिन का प्राचीन तमिल नाम था। ग्रीक लेखकों न इसे 'कोमेरिया ऐक्रान' कहा है।

१ एपि॰ इण्डि॰ १ ३३ तथा लॉ: ट्राइब्स इन ऐन॰ इण्डिया, पृ॰ ५० २३९१।

खण्ड ३

भारत की सामाजिक स्थिति

अध्याय १

समाज-सगठन

कुल (परिवार)—समाज का सबसे छोटा घटक कुल था।[1] विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति सम्मान प्रदर्शन के लिए उनके कुल का उल्लेख किया जाता था।[2] कुल प्रायः पुरुषों के नाम पर थे। उदाहरणार्थ—कारीपगन्ध्या का कुल उसके पति या पुत्र के नाम से लोगों में प्रसिद्ध था। कारीप गन्ध्या के नाम से स्वतन्त्र कुल की गणना नहीं की जाती थी।[3] कुछ कुल कई पूर्वजों के नाम से प्रसिद्ध हो जाते थे। जैसे षट्कुल परिवार के छह पूर्वजों के नाम पर प्रसिद्ध था। इसके सदस्य षाट्कुल कहलाते थे। ब्राह्मणों में आज भी कुछ लोग स्वयं को षाट्कुल[4] मानते हैं। पद जाति कार्य या व्यक्ति के नाम से कुलों का उल्लेख किया जाता था—यथा सेनानिकुल ब्राह्मणकुल[5] नृपकुल याज्यकुल[6] कारीपगन्ध्या-पतिकुल आदि। इस प्रकार, कुल शब्द वर्तमान परिवार के अर्थ में प्रयुक्त होता था। लोक-व्यवहार में कुल और गोत्र प्रायः एक ही अर्थ में बोले जाते थे। कुल गोत्र का अवयव था।[7]

कुलीन—कुल में उत्पन्न व्यक्ति की संज्ञा कुलीन थी। कुछ कुल प्रतिष्ठित माने जाते थे और कुछ कुख्यात। प्रतिष्ठित कुल की सन्तान माहाकुल माहाकुलीन[8] या महाकुलीन कही जाती थी और कुख्यात कुल की सन्तान दौष्कुलेय या दुष्कुलीन।[9] कुलीन कुल्य[10] और कौलेयक भी उच्च कुल के बोधक थे। धनी परिवार के लोग आढ्यकुलीन कहलाते थे। श्रेष्ठ सच्चरित्र परिवार की कन्याएँ कुलपुत्री या कुलदुहिता कही जाती थीं।[11] ये पद गौरव के परिचायक थे। परिवारों के अपने मित्र परिवार या व्यक्ति होते थे जिनका पीढ़ियों से पारिवारिक स्नेह-सम्बन्ध चला आता था। ये परिवार कुलमित्र कहे जाते थे।[12] कुलदुहिता से ठीक उलटी घर-घर आहिण्डन करने वाली कुलटा स्त्रियाँ भी होती थीं।[13] पारिवारिक प्रतिष्ठा या अयश पीढ़ी-दर-पीढ़ी सन्तान के साथ संलग्न रहता था। कुलीन की सन्तान कौलीन कही जाती थी और कौलीनि के छात्र कौलीन।

---

१ १ १ ६९, पृ० ११७।
२ १ १-५१, पृ० ३२१।
३ ६-१ १६, पृ० ४०।
४ ४ १-८८, पृ० १००।
५ १ १-५६, पृ० १५४।
६ १ १-५१ पृ० ३३४।
७ ४ १-७९, पृ० ८८।
८ ४ १ १३९।
९ ४ १ १४१।
१० ४-१ १४३।
११ ४ १ १४०।
१२ ६-३-७०, पृ० १४७।
१३ ६-२-१०६, पृ० २७७।
१४ ६-१-२४ पृ० १५१।

कौपीन कह देना मात्र यह बतला देने के लिए पर्याप्त था कि इस छात्र का पुत्र न केवल स्वयम् अभिजात है अपितु उसके पूर्वज भी सच्चरित एवं ख्यात रहे हैं।[1] इसी प्रकार, कुकुट्य का अपयश उसकी सन्तान के साथ लगा रहता था। कौलटिनेय या कौलटेय कह देना यह बतला देने के लिए पर्याप्त था कि इसकी माता समाज में हीन दृष्टि से देखी जाती थी।[2] यदि किसी परिवार में सामाजिक या धार्मिक मर्यादा के विरुद्ध काम होता था, तो लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होता था और वह लोगों की दृष्टि से गिर जाता था।[3]

प्राचीन भारत में कुल का महत्त्व बहुत अधिक था। गोत्र के समान कुल का नाम भी कभी-कभी विख्यात पूर्वज के नाम पर चलता था और कभी जीवित वृद्ध पुरुष के नाम पर। यथा गार्ग्य लोगों के कुल को गार्ग्यकुल भी कहते थे और गर्गकुल भी। इसी प्रकार, वात्स्यकुल और वत्सकुल या वैदकुल और विदकुल दोनों प्रकार से व्यवहार चलता था।[4]

कुल-भेद—कुल दो प्रकार के माने जाते थे—गुरुकुल और पितृकुल। विवाहिता का कुल पतिकुल होता था।[5] घर में वृद्ध पुरुष या पति न रहने पर पुत्र का कुल माता आदि स्त्रियों का कुल माना जाता था। यदि कई भाई कुल में हुए और वे विभक्त हो गये, तो एक ही कुल के कई घर हो जाते थे। घर का स्वामी गृहपति या आवसथिक कहलाता था।[6] गृहपति घर का ज्येष्ठ पुरुष होता था। पितामह या पिता के न होने पर ज्येष्ठ भ्राता या कोई बड़ा पुरुष गृहपति कहलाता था। गृहपति प्रथा को गार्हपत कहते थे, जिसमें जनपद भेद के अनुसार साधारण अन्तर रहता था। भाष्य में कुरुगार्हपत और वृजिगार्हपत का विशेष उल्लेख मिलता है।[7]

कुल के अंग—कुल या परिवार के मूल पुरुष थे माता और पिता जिन्हें संयुक्त रूप से 'पितरौ' 'मातापितरौ या मातरपितरौ' भी कहते थे।[8] वेदों में 'पितरा' 'मातरा' प्रयोग मिलते हैं। उत्तर भारत में मातरपितरौ प्रयोग प्रचलित था। माता-पिता से सद्व्यवहार तथा उनकी सेवा पुत्रों का कर्तव्य था।[9] भाइयों के बड़े आदि के क्रम से ज्येष्ठ मध्यम और कनिष्ठ नाम होते थे।[10] दो में बड़े को ज्यायान् कहते थे। सम्मान की दृष्टि से ज्येष्ठ का स्थान पिता के बाद ही था।[11]

---

१ ४ १ ९० पृ० १०९।
२ ४ १ १२७।
३ उपरताम्यस्मिन्कुले वताम्युपरत स्वाध्याय—१ ४ ११० पृ० ३२३।
४ २-४ ६४, पृ० ५०१।
५ १ १-५१, पृ० १२१।
६ ४ ४ ९०, पृ० २८९ तथा ४ ४-७४।
७ ४-१ १६४।
८ ६ २ ४५, पृ० ५५८।
९ १-२-७०।
१० ६-३ ३२ ३३।
११ १ १ ९, पृ० १६३।

कनीयान् ज्यायान् की आज्ञा का पालन करता था।[1] पुत्रों के नामकरण से युवा होने तक माता-पिता उनका पोषण करते थे। वे कुल मण्डप में सबके सामने पुत्र का नाम रखते थे।[2]

पुत्र—कुल या परिवार में पुत्र का महत्त्व बहुत अधिक था। उसे शोकापनुद या शोक को दूर करनेवाला मानते थे। सगे भाई सोदर्य या समानोदर्य कहलाते थे।[3] पिता से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति में जिसे पित्र्य या पैतृक कहते थे तथा पितामह से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति में जिसे पैतामहक कहते थे[4] क्रमशः सब सोदर्य तथा पितृव्य अंशक या अंशहारी होते थे। अपने पुत्र के अतिरिक्त अन्य बालकों को भी कभी-कभी पुत्र मान लिया जाता था। पुत्र गोद भी लिये जाते थे जो पुत्रक कहलाते थे। पुत्र की कामना सभी गृहस्थ करते थे।

अन्य बान्धव—पिता के भ्राता को पितृव्य और माता के भ्राता को मातुल कहते थे। पिता और माता के पिता की संज्ञा पितामह और मातामह थी।[8] उनकी माता को क्रम से पितामही और मातामही कहा जाता था।[9] मातुल की पत्नी मातुली या मातुलानी कहलाती थी।[10] पितामह के पिता को प्रपितामह कहते थे। इस प्रकार पुत्र पिता पितामह और प्रपितामह तक चार पीढ़ियाँ प्रायः मिल जाती थीं। इनसे ऊपर सबको पितर कहते थे। मातृपक्ष की तीन पीढ़ियों तक का ही भाष्य में उल्लेख है प्रमातामह का नहीं। प्रपितामह की दृष्टि से नीचे की पीढ़ियाँ प्रपौत्र पौत्र पुत्र होते थे।[11] माता और पिता की बहन को मातृष्वसा मातुःष्वसा या मातुःस्वसा तथा पितृष्वसा पितुःष्वसा या पितुःस्वसा कहते थे।[12] बहन स्वसा कहलाती थी और उसका पुत्र स्वस्रीय।[13] भाई के पुत्र को भ्रातृव्य या भ्रात्रीय कहते थे। भावज के लिए भ्रातृजाया शब्द का व्यवहार था।[14] भतीजे के लिए भ्रातुष्पुत्र शब्द भी प्रचलित था।[15] बुआ का लड़का या फुफेरा भाई पैतृस्वस्रेय[16] कहा जाता था और मौसी का पुत्र या मौसेरा भाई मातृष्वस्रीय। पत्नी जाया भार्या या जनी कहलाती थी[17] और उसके माता पिता श्वश्रू और श्वशुर।[18] साले के लिए श्याल और श्वशुर्य शब्द थे।[19] श्वशुर्य का पुत्र श्वाशुरि और उसके छात्र श्वाशुर कहलाते थे। नाती को नप्ता कहते थे[20] और ननद को ननान्दृ तथा ननदोई को

---

१ १ १ ९१, पृ० २०२।
२ १ १ ३, पृ० ९५।
३ ४ ४-१०८।
४ ४ ३-७९।
५ ४-२ १०४, पृ० २०८, ९।
६ ५-२-९९।
७ ३ १-८, पृ० ३९।
८ ४ २-३६, पृ० १७६।
९ वही।
१० वही।
११ ४ १ ४९, पृ० ३३।
१२ ५ २-१०।
१३ ३८-८४ तथा ८ ३-८५, पृ० ४५८।
१४ ४ १ १३३ तथा ४ १-९०, पृ० १०९।
१५ ४-१ १४४ तथा ४ १-१४५, पृ० १४५।
१६ काशिकाविवरण ८ ३-४८।
१७ १ १-५१, पृ० ११७।
१८ ४ १ १३४, पृ० १४४।
१९ ४-१ ११२, पृ० १८८ तथा ६ १-८४, पृ० ११८ तथा ४ ४-८२, पृ० २८५।
२० १-२-७१, पृ० १०५।
२१ ४-१-९०, पृ० १०९।
२२ १ १-७२, पृ० ४५५

ननान्दृपति। पुत्री और दुहिता दोनों शब्द व्यवहार में आते थे।[1] ननान्दृ की सन्तान नानान्द और दुहिता की सन्तान दौहित्र कही जाती थी। इसी प्रकार पुत्र का पुत्र पौत्र कहलाता था। स्वसा और भगिनी समानार्थी थे। भगिनी का पुत्र भागिनेय होता था।[2]

संयुक्त कुल—पिता माता और भाई एक साथ रहते थे किन्तु कभी-कभी किसी कारण से अनबन हो जाने पर भाई भाई अलग भी हो जाते थे। इन विभक्त-धन भाइयों को 'विभक्त' कहते थे। भ्रातृ-सम्बन्ध पर टिप्पणी करते हुए भाष्य में कहा है 'देवदत्त का भ्राता' इसमें षष्ठी विभक्ति का क्या अर्थ है? यही न कि दोनों एक स्थान से उत्पन्न हुए हैं। किन्तु यह कहना बिलकुल गप ही है। क्योंकि जिस प्रकार रात के समय शाकुनिक लोग एक ही प्रतिश्रय में ठहर जाते हैं और सवेरे उठकर चल देते हैं। उनका परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। यही स्थिति भ्रातृत्व की है। भ्रातृव्यों में तो प्रायः झगड़ा हुआ करते थे। इसीलिए, भ्रातृव्य शब्द का अर्थ ही सपत्न हो गया था।[4] एक पति की कई स्त्रियाँ परस्पर सपत्नी होती थीं और सपत्नी की सन्तान सापत्न। वस्तुतः सपत्न और भ्रातृव्य शब्द स्वयं भारतीय परिवार के संगठन के दोषों पर प्रकाश डालते हैं। समान पति वाली पत्नियों का परस्पर शत्रुभाव रहना स्वाभाविक था। सपत्न का मूल अर्थ शत्रु नहीं था अपितु समान-पतिकत्व के कारण निरन्तर चलनेवाले शत्रुभाव को दृष्टि में रखकर लाक्षणिक रूप से उसका अर्थ शत्रु प्रचलित हो गया। यही बात भ्रातृव्य के विषय में कही जा सकती है। भाष्यकार ने कहा है कि अपने भाई और चचेरे भाई में अन्तर तो होता ही है।

कुलाचार—परिवारों में शिष्टाचार के नियम निश्चित थे। माता-पिता और आचार्य की सेवा करना पुत्र और शिष्य का धर्म था। गुरु-पुत्र के साथ भी चरण-स्पर्श तथा उच्छिष्ट भोजन के अतिरिक्त गुरु के समान ही व्यवहार किया जाता था।[8] छोटे लोग बड़ों को प्रणाम करते थे। अभिवादन और प्रत्यभिवादन के नियम निश्चित थे। पिता के जीवित रहते पुत्र उसका आज्ञानुवर्ती रहता था। पिता के जीवन-काल में स्वतन्त्रवत् आचरण करनेवाला पुत्र समाज में निन्द्य होता था। फिर भी कभी साम्पत्तिक तथा अन्य कारणों से परिवार में विग्रह उत्पन्न हो जाता था। भाष्य में पुत्रहती पुत्रजग्धी पुत्रपुत्रादिनी पितृहा मातृहा भ्रातृहा शब्द मिलते हैं।[11] ये अपवाद हैं। माता पिता भ्राता पुत्र आदि की हत्या अत्यन्त गर्हित थी इसीलिए ये शब्द गाली के रूप में व्यवहृत होते थे।

कुल सम्बन्ध—परिवार तथा उसके मित्र-कुल में कुछ पुरुष या स्त्री ऐसे भी होते थे जो

---

१ १ १-७२ पृ० ४५२।
२ ४ १ १०४, पृ० ११४।
३ १ ३ १८, पृ० २१७।
४ १ ४ ६७, पृ० ३६२।
५ ४ १ १४५, पृ० १४५।
६ ६ ३ १५, पृ० १९१।
७ २ १ १ पृ० २४६।
८ १ १-९, पृ० ६१।
९ १ १-५६, पृ० ११८।
१० ४ १ १६२, पृ० १५५।
११ ८ ४ ४८, पृ० ४२८ तथा ३ २-८७, पृ० २१५।

सम्बन्ध में भले ही पितृव्यादि न लगते हों पर उनका सम्मान पितृव्यादि के समान किया जाता था। इतना ही नहीं उन्हें घर के लोग कल्पित सम्बन्ध से ही पितृव्य श्वशुर, मातृष्वसा आदि कहकर पुकारते थे। यह सम्बन्ध उन व्यक्तियों तक ही सीमित रहता था। उनकी सन्तान से उस प्रकार का सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं था। इसीलिए लोक-व्यवहार में यदि कोई व्यक्ति किसी को श्वशुर कहता था तो भी उसकी सन्तान श्वशुर्य नहीं कही जाती थी। वास्तविक (रक्त-सम्बन्ध) से कल्पित सम्बन्ध (स्नेह-सम्बन्ध) का अन्तर स्पष्ट करने के लिए ही उसे श्वाशुरि कहते थे।[1] श्वशुर्य पत्नी का सोदर होता था और श्वाशुरि चचेरा या स्नेह के कारण माना हुआ भाई। इसी प्रकार माता की सगी बहन मातृष्वसा होती थी तथा रिश्ते में या स्नेह के कारण लगनेवाली अन्य बहनें मातृस्वसा।[2] पिता के समान पूज्य व्यक्ति पितृ-सदृश कहलाता था।[3] पिता के लिए हितकारी वस्तु को पितृभोगीण कहते थे। हितकारी बात वह मानी जाती थी जो या तो पिता को रुचनेवाली बातों से सम्बद्ध हो या धार्मिक दृष्टि से उसके अनुकूल हो या उनके शारीरिक सुख में सहायक हो। सम्बन्धवाची पिता भ्राता के विषय में पतंजलि ने कहा है कि इन शब्दों के यौगिक अर्थ का ग्रहण नहीं करना चाहिए। ये शब्द इन-इन अर्थों में समाज में प्रचलित हो गये हैं, इसलिए इनका जो अर्थ प्रसिद्ध है वही ग्रहण करना चाहिए। यों भी बहुत-से शब्द नियतविषय लोक में प्रचलित हैं। यदि यौगिक अर्थ मानने लगेंगे तो भरण करनेवाला यह अर्थ भ्राता शब्द का होगा और इस अर्थ में यदि भाई को भ्राता कहें, तो स्वसा को भी भ्राता कहना चाहिए क्योंकि भरण जितना छोटे भाइयों का बड़ा भाई या बड़े का छोटा भाई करता है उतना बहन भी करती है। यदि पुत्र का अर्थ कुल को पवित्र करनेवाला या प्रसन्न करनेवाला मानें तो दुहिता को भी पुत्र कहना चाहिए क्योंकि वह भी उनके समान माता-पिता को आनन्दित करती है। यदि पिता का अर्थ रक्षा करनेवाला या पालन करनेवाला मानें तो माता को भी पिता कहना चाहिए क्योंकि वह भी पुत्रों के रक्षण और पालन का काम करती है और यदि श्वशुर उसे कहें जिसे आशु (शीघ्र) प्राप्त करना चाहिए, तो श्वश्रू भी श्वशुर कहला सकती है। किन्तु, लोक में इन सबका प्रयोग उक्त अर्थों में नहीं होता। इसलिए, सम्बन्धवाचक शब्दों को रूढ या नियतविषय ही मानना चाहिए।[4]

सम्बन्धों का आधार—पारिवारिक सम्बन्ध दो प्रकार के माने जाते थे। एक पत्नीवंश या स्त्रीवंश से और दूसरे पितृमातृवंश से। स्त्रीवंश में श्याल या श्वशुर्य पत्नीष्वसा श्यालबधू, श्वशुर श्वश्रू आदि थे। इन्हें संयुक्त कहते थे। संयुक्त शब्द उनके पृथग्वंशीय होने की ओर संकेत करता है, जो सम्बन्ध होने के बाद मिल जाते थे। पितृमातृसम्बन्धियों में भाई, भतीजे चाचा आदि थे जो बान्धव या कुटुम्बी कहलाते थे। इन्हें ही 'ज्ञाति' कहते थे। इस प्रकार ज्ञाति के लोगों में आत्मीयत्व की भावना रहती थी। इसीलिए, वे 'स्व' अर्थात् आत्मीय भी कहलाते थे।[5] स्व-सम्बन्ध अपने कुलवालों से होता था और संयुक्त सम्बन्ध पत्नीवंशवालों से। इन सम्बन्धों में

---

१ ४-१-३६, पृ० १२१।
२ ३-८४।
३ ४ १ १, पृ० २०१।
४ ५ १ ९, पृ० ३०१।
५ १ ४-७१, पृ० ६०५।
६. १ १ ३५, पृ० २३०।
७. ६-२-१३३, काशिका।

कुछ स्त्रियों के ही पारस्परिक सम्बन्धों के परिचायक थे। यथा—ननान्दा, ननान्दृपति याता आदि और कुछ पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्धों के सूचक थे। यथा—स्याल आदि। कुछ स्त्री-पुरुष दोनों के समान सम्बन्ध किन्तु पृथक् व्यक्तियों के वाचक थे। जैसे—श्वशुर, श्वश्रू आदि और कुछ दोनों के सामान्य थे। यथा—भ्राता दुहिता मातुल आदि। ये सम्बन्ध एक साथ तीन परिवारों की तीन कोटियों को एक सूत्र में बाँधते थे। जहाँ कुलदुहिता ब्याही जाती थी जहाँ पुत्र ब्याहे जाते थे और अपना कुलाचार पीढ़ियों में तीनों परिवार एक सूत्र में बँध जाते थे। कुछ लोग माता-पिता न होकर भी उनके समान ही व्यवहार करते थे और माता-पिता के सम्मान से सम्मानित भी होते थे।[1]

विद्या-सम्बन्ध—रक्त-सम्बन्ध या योनि-सम्बन्ध के अतिरिक्त विद्या-सम्बन्ध भी प्रचलित थे। इनका बन्धन भी योनि-सम्बन्ध जैसा ही परिपुष्ट होता था भले ही वह सदा पीढ़ी-दर-पीढ़ी न चल पाता हो। पाणिनि ने विद्या और योनि-संबंध की एक साथ चर्चा बार-बार की है।[2] भाष्यकार ने गुरु के अतिरिक्त गुरुपुत्र का कई बार उल्लेख किया है[3] और उसके साथ व्यवहार के नियम[4] बतलाये हैं। विद्या-सम्बन्धों में गुरु-परिवार के अतिरिक्त सतीर्थ्य सम्बन्ध भी सम्मिलित था।[5] जिस प्रकार मातामह से मिलनेवाली सम्पत्ति को मातामहक कहते थे उसी प्रकार उपाध्याय या आचार्य से प्राप्त होनेवाली वस्तु औपाध्यायक या आचार्यक कही जाती थी। इससे स्पष्ट है कि सन्तान के न होने पर शिष्य आचार्य की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था।[6]

कुल के घटकों का सापेक्षिक महत्त्व—परिवार में प्रत्येक सदस्य का स्थान उसकी आयु के क्रम से था। एक ही पीढ़ी के लगभग समान वय के स्त्री-पुरुषों में पुरुष का स्थान स्त्री के ऊपर माना जाता था। स्त्री पुरुष में ही अन्तर्भूत मानी जाती थी। इसीलिए, पितरौ भ्रातरौ पुत्रौ श्वशुरौ आदि में पिता भ्राता पुत्र श्वशुर आदि के द्विवचन से उल्लेख से उनके साथ माता बहन दुहिता या पुत्री और श्वश्रू का भी बोध हो जाता था। वृद्ध पुरुष या स्त्री का नामोल्लेख कर देने से युवापत्य भी उसमें सम्मिलित मान लिया जाता था। जैसे गार्ग्यौ (द्विवचन) कहने से गार्ग्य और गार्ग्यायण (उसके बाद का वंशज) दोनों का ग्रहण हो जाता था। वृद्ध स्त्री के द्विवचन में उल्लेख से युवापत्य भी उसमें अन्तर्निहित स्वीकार कर लिया जाता था किन्तु उस स्त्रीवाचक शब्द को पुल्लिंग के समान बना दिया जाता था। जैसे गार्गी और गार्ग्यायण (अगली पीढ़ी की सन्तान) के लिए 'गार्ग्यौ' दाक्षी और दाक्षायण के लिए 'दाक्षी' वात्स्या और वात्स्यायन के लिए 'वात्स्यौ' कह देना पर्याप्त था। इस स्थल में अवशिष्ट स्त्रीलिंग शब्द का पुंवद्भाव कर देना पुरुष की प्रधानता को सुरक्षित रखने की अप्रत्यक्ष चेष्टा का सुन्दर निदर्शन है क्योंकि गार्ग्यौ वात्स्यौ दाक्षी आदि के पुल्लिंग रूप उसके पति के वाचक हैं। इसलिए, सम्मान-रक्षार्थ उसे युवापत्य

---

१. ६।१।१२ पृ० ३६।
२. ४।३।७७ तथा ६।३।२३।
३. २।१।१ पृ० २१२।
४. १।१।५६ पृ० ११८।
५. ६।१।८०।
६. ४।२।१०४ पृ० २०८, ९।
७. १।२।६८ तथा १।२।७०, ७१।
८. १।२।६७ तथा २।१।६५।
९. २।१।६६।

की अपेक्षा अधिक महत्त्व देने के लिए अवशिष्ट रखा जाता होगा, वास्तव में इस अवशेष का कारण उसके पति की प्रधानता थी उसकी स्वयं की नहीं। यह बात पूर्वकाम से स्पष्ट हो जाती है। इस उदाहरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि परिवार या वंश पितृमूलक था। अतः वाचिक सम्बन्धों में स्त्री-पुरुष की छायामात्र थी किन्तु अभ्यर्हितता की दृष्टि से उसका स्थान सुरक्षित था। इसीलिए, माता और पिता का समास होने पर मातापितरौ में अभ्यर्हित माता शब्द का प्रयोग प्रथम दिखाई पड़ता है।[1]

कुल-मित्र—रक्त-सम्बन्ध से भले न हों किन्तु व्यवहार में मित्र भी परिवार के अति निकट होते हैं। मैत्री व्यक्तियों तथा परिवारों की अलग-अलग रहती थी। कभी-कभी वह मैत्री दो परिवारों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती थी। इस प्रकार, कुल-मित्र भी होते थे।[2] मित्र की सद्भावना पूर्ण होने के कारण सुहृद् कहते थे। इसका ठीक उल्टा दुर्हृद् (शत्रु) था।[3] सखि और मित्र समानार्थी थे। सखा का स्नेह-व्यवहार सख्य कहलाता था। यह पारस्परिक होता था।[4] मित्रता की भावना से किसी की ओर सात पग चलना मैत्री के लिए पर्याप्त था। इसलिए, सख्य को साप्तपदीन कहते थे।[5] सम्भवतः, यह विशेषण वैवाहिक सप्तपदी के आधार पर बना था जिसका मूल अर्थ दाम्पत्य-सम्बन्ध था। बाद में लक्षणा से सामान्य मैत्री के लिए साप्तपदीन शब्द का प्रयोग होने लगा।

मित्रता को संगत भी कहते थे। ऐसी मैत्री जो कभी ढीली न पड़े अजर्य कहलाती थी। इसी अर्थ में मैत्री से भिन्न प्रसंग में अजर या अविरता शब्द का व्यवहार होता था।[6] संगतकरण या मित्रलाभ आवश्यकतावश भी होता था। यात्री लोग अपनी सुविधा के लिए 'रथिकों और अश्वारोहों से मैत्री' करते हैं यह उदाहरण भाष्य में मिलता है। मित्रों की कोटियाँ उनके सौहार्द के स्थायित्व तथा गाम्भीर्य के आधार पर सुसखा, परमसखा आदि की जाती थी।[7]

कुलातिथि—अतिथि परिवार का स्थायी नहीं किन्तु आकस्मिक अंग था। आतिथ्य परिवार का धर्म था। अतिथि को अर्घ्य पाद्य अर्थात् पीने और पाँव धोने के लिए तो उसके आने के साथ ही दिया जाता था।[8] उसे घर में परिवार के अन्य सदस्यों के साथ ठहराया जाता था इसीलिए उसे पुरोगवत्[9] कहते थे। भिन्न-भिन्न कोटि के अतिथियों का स्वागत उनके अनुरूप होता था। किसी को मांसौदन खिलाया जाता था। कोई मटर या उड़द की दाल (कालाय-सूप) का ही अधिकारी होता था। किसी को श्वेतच्छत्र भेंट किया जाता था। श्वेतच्छत्र विशेष सम्मान के लिए उसके बैठने या ठहरने के लिए लगाया जाता था। ऐसे अतिथि क्रमशः मांसौदनिक कालाय

---

१ २-२-३४, पृ० २१०।
२ ६-२-१०६, पृ० २७७।
३ ५-४-१५०
४ ५-१-१२६, आ० ६, पृष्ठ ८।
५ ५-२-२२।
६. ३-१-१०५, पृ० १८३।
७. १-१-२५, पृ० ३४।
८. १-१-७२, पृ० ४५६।
९ ५-४-२५।
१० ३-२-६१ पृ०२२५।

शूलिक और श्वेतच्छत्रिक कहलाते थे।[1] आचार्य, राजा और श्रोत्रिय का स्वागत गोमांस से किया जाता था। यह उनके प्रति विशेष सम्मान के प्रदर्शन के लिए था। इसलिए, इन्हें गोघ्न अतिथि कहते थे।[2] कुछ अतिथि व्यक्तिविशेष के न होकर सारे गाँव के माने जाते थे और गाँव के सारे परिवार या कुल उनकी सेवा करते थे।[3] अतिथि के सत्कार को आतिथ्य और सत्कार करने वाले को अतिथेय (स्त्री आतिथेयी) कहते थे।[4]

कुल-भृत्य—सेवकों या कर्मकरों में बहुत-से स्वामी के घर ही रहते थे और भोजन-वस्त्र पाते थे। जो नहीं रहते थे वे भी काम के लिए अपना अधिकांश समय वहीं बिताते थे। ऐसे नौकरों में कुम्हार,[5] वैतपिण्ड[6] आदि थे। उदवीवध जल ढोने का साधन था। धनी परिवारों में द्वारपाल[7] या दौवारिक, मणिपाली[8] अभ्यंग,[9] स्नान,[9] लेप आदि करनेवाले भृत्य तथा राजपरिवारों में दण्डग्राह, छत्रग्राह[10] आदि भी रहते थे। ये सब किंकर भी कहलाते थे।[11]

इस प्रकार परिवार या कुल पितृवंश, मातृवंश, विवाहयौनिक सम्बन्धी, मित्रगण, अतिथि, भृत्य आदि की समष्टि थी। यह समाज का मुख्य तथा शक्तिशाली घटक था।

सपिण्ड—कुल के बाद सपिण्डों का स्थान था। पिता की सात तथा माता के वंश की पाँच पीढ़ियाँ सपिण्ड कहलाती थीं।[12] यदि किसी परिवार में स्थविरतर सपिण्ड जीवित होता तो उसके पौत्र प्रपौत्रादि को युवा[13] कहते थे।

वंश—वंश एक परम्परा थी। वंश एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलता हुआ स्थायी सामाजिक बंध था। व्यक्ति की अगली पीढ़ियाँ उसकी वंश्य कहलाती[14] थीं। स्वभावतः पिता द्वारा प्रचलित माना जाता था। सामान्यतया स्त्री के नाम पर वंश नहीं चलता था। कुछ लोग मातृवंश और पितृवंश दोनों मानते थे और देश के कुछ भागों में मातृवंश भी प्रचलित था।[15] वंश और सन्तान प्रायः पर्याय थे। योनि-सम्बन्ध या रक्त के अतिरिक्त विद्या-वंश या विद्या-संबंध भी प्रचलित था। आचार्य की शिष्य-परम्परा उनका वंश मानी जाती थी। उदाहरणार्थ—व्याकरण की तीन मुनि 'वंश्य' माने जाते रहे।[16] 'त्रिमुनिव्याकरणम्' का अर्थ वह व्याकरण था जिसमें तीन मुनि वंश्य रहे हों। भारद्वाज की इक्कीस पीढ़ियाँ तथा गौतम की तिरपन पीढ़ियाँ भाष्यकार के समय तक हो चुकी थीं।[17] भाष्य के 'एकविंशति भारद्वाजम्' और 'त्रिपञ्चाशद् गौतमम्' ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि लोग अपने परिवार की वंशावली तैयार रखते थे। न केवल वंशावली अपितु उनका

१ ४ १ १९, पृ० ३०९।
२ ३ ४-७३।
३ २-२ २४ पृ० ३३६।
४ ५ ४ २६ तथा ४ ४ १०४।
५. ६ ३ ६०।
६. वही तथा ४ ४ १७, पृ० २७५।
७. ७-३ ४।
८ पात्रेसमितादिगण ६ २-४१ तथा २-१-९।
९ महिष्यादिगण ४-४ ४८ तथा ६-२-४१।
१० वही तथा २-२ २।
११ रैवत्यादिगण ४ १ १४६।
१२ ३ १-२१ पृ० २११।
१३ ४-१ १६५, पृ० १५७।
१४ वही।
१५ ४ १ १४७, पृ० १४६।
१६ वही।
१७ २ १ १९, काशिका।
१८ २ ४-८४, पृ० ५१९

संक्षिप्त इतिहास भी उन्हें ज्ञात रहता था। तभी इस बात का पता लगना सम्भव था कि किसके वंश में दस पूर्वज पीढ़ियों तक अशिक्षित और कर्तव्यच्युत लोग नहीं हुए हैं। सोमपान के अधिकारी का निर्णय करते समय पहली दस पीढ़ियों का इतिहास देखा जाता था।[1]

गोत्र—सामाजिक संगठन में गोत्र का महत्त्व पतंजलि-काल में बहुत अधिक था। वंश के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के नाम पर उस वंश का नाम पड़ जाता था। विद्या, तप, कार्य आदि किसी दृष्टि से कोई पुरुष महत्त्वपूर्ण हुआ तो उसकी सन्तानों को लोग उसके नाम से जानने लगते थे और आगे चलकर पौत्र, प्रपौत्र आदि उसके नाम को अपने नाम के साथ जोड़ने लगते थे। भाष्यकार के समय में यह प्रथा इतनी अधिक थी कि पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र तथा अगली पीढ़ियों के नाम पूर्वज के नाम के आधार पर रखने के लिए कुछ नियम निश्चित कर दिये गये थे।

गोत्र शब्द के दो अर्थ थे—सामान्य अपत्य या सन्तान तथा व्याकरणशास्त्र का पारिभाषिक गोत्र। प्रथम लौकिक व्यवहार में प्रचलित था[2] और उसका प्रयोग सम्मान या प्रतिष्ठा के द्योतन के लिए होता था। ऐसा वहाँ होता था, जहाँ परिवार में कोई पूर्वज सम्मानित व्यक्ति होता था। सन्तान अभिमान-पूर्वक अपने गोत्र का उल्लेख करती थी।[3] लौकिक गोत्रों में आर्ष और अनार्ष दो प्रकार होते थे। आर्ष गोत्र विद्या-सम्बन्ध से तथा अनार्ष गोत्र योनि-सम्बन्ध से माने जाते थे। शास्त्रीय दृष्टि से इन्हें गोत्रावयव कहते थे। जैसे कुणिक, पुणिक या मुखर नामक व्यक्तियों के प्रसिद्ध हो जाने के कारण उनकी सन्तानें भले ही वे उन गुणों से सम्पन्न न हों कौणिक, पौणिक या मौखर कही जाती थीं। स्त्री कौणिक्या, पौणिक्या या मौखर्या कहलाती थी।[4] व्याकरण शास्त्र में पौत्र से लेकर अगली प्रपौत्रादि सन्तान को गोत्र कहते थे[5] किन्तु यदि गोत्रापत्य का प्रपितामह, पितामह, पिता, बड़ा भाई या गोत्र में अन्य कोई सपिण्ड स्थविरतर जीवित होता था तो उसे युवा कहते थे। गर्ग की पौत्रादि से आगे की सन्तान (गोत्र) को गार्ग्य और युवापत्य को गार्ग्यायण कहते थे। इसी प्रकार वत्स, वात्स्य, वात्स्यायन, प्लक्ष, प्लाक्ष्य, प्लाक्षायण, दक्ष, दाक्ष्य, दाक्षायण आदि कहलाते थे। इनकी सामान्य सन्तान (पुत्रादि) को गार्गि, वात्सि, प्लाक्षि, दाक्षि कहते थे। भाष्यकार ने गोत्र के प्रारम्भ का उल्लेख करते हुए कहा है कि ऊर्ध्वरेतस् ऋषि (सन्तान का जनन या अजनन जिनके अधिकार की बात थी) अट्ठासी सहस्र हुए हैं। उनमें कश्यपादि सात तथा आठवें अगस्त्य ने सन्तान उत्पन्न करना स्वीकार किया था। उनकी सन्तान गोत्र कहलाती है।

---

१ एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति दशपुरुषानूकं यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोमं पिबेदिति—४-१-९३, पृ० १२०।

२ २ ४-६९, पृ० ५०२।

३ २-३-१८, पृ० ४२०।

४ ४ १-७८।

५ ४ १-७९ काशिका।

६ ४ १ १६२, पृ० १५४।

७ ४ १ १६३, पृ० १५५।

यूथिक और श्वेतच्छत्रिक कहलाते थे।[1] आचार्य राजा और श्रोत्रिय का स्वागत गोमांस से किया जाता था। यह उनके प्रति विशेष सम्मान के प्रदर्शन के लिए था। इसलिए, इन्हें गोघ्न अतिथि कहते थे।[2] कुछ अतिथि व्यक्तिविशेष के न होकर सारे गाँव के माने जाते थे और गाँव के सारे परिवार या कुल उनकी सेवा करते थे।[3] अतिथि के सत्कार को आतिथ्य और सत्कार करने वाले को अतिथेय (स्त्री आतिथेयी) कहते थे।[4]

कुल-भृत्य—सेवकों या कर्मकरों में बहुत-से स्वामी के घर ही रहते थे और भोजन-वस्त्र पाते थे। जो नहीं रहते थे वे भी काम के लिए अपना अधिकांश समय वहीं बिताते थे। ऐसे नौकरों में उपहार,[5] वैयधिक[6] आदि थे। उपजीवन चक्र ढोने का साधन था। धनी परिवारों में द्वारपाल[7] या दौवारिक मणिपाली[8] अभ्यंग[9] स्नान[10] लेप आदि करनेवाले भृत्य तथा राजपरिवारों में दण्डग्रह छत्रग्रह[11] आदि भी रहते थे। ये सब किंकर भी कहलाते थे।[12]

इस प्रकार परिवार या कुल पितृवंश मातृवंश विद्यायौनिक सम्बन्धी मित्रगण अतिथि भृत्य आदि की समष्टि थी। यह समाज का मुख्य तथा शक्तिशाली घटक था।

सपिण्ड—कुल के बाद सपिण्डों का स्थान था। पिता की सात तथा माता के वंश की पाँच पीढ़ियाँ सपिण्ड कहलाती थीं।[13] यदि किसी परिवार में स्थविरतर सपिण्ड जीवित होता तो उसके पौत्र प्रपौत्रादि को युवा[14] कहते थे।

वंश—वंश एक परम्परा थी। वंश एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलता हुआ स्थायी सामाजिक अंग था। व्यक्ति की अगली पीढ़ियाँ उसकी वंश्य कहलाती[15] थीं। रक्तवंश पिता द्वारा प्रचलित माना जाता था। सामान्यतया स्त्री के नाम पर वंश नहीं चलता था। कुछ लोग मातृवंश और पितृवंश दोनों मानते थे और देश के कुछ भागों में मातृवंश भी प्रचलित था।[16] वंश और सन्तान प्रायः पर्याय थे। योनि-सम्बन्ध या वंश के अतिरिक्त विद्या-वंश या विद्या-सबंध भी प्रचलित था। आचार्य की शिष्य-परम्परा उसका वंश मानी जाती थी। उदाहरणार्थ—व्याकरण की तीन मुनि 'वंश्य' माने जाते रहे।[17] 'त्रिमुनिव्याकरणस्य' का अर्थ वह व्याकरण था जिसमें तीन मुनि वंश्य रहे हों। भारद्वाज की इक्कीस पीढ़ियाँ तथा गौतम की तिरपन पीढ़ियाँ भाष्यकार के समय तक हो चुकी थीं।[18] भाष्य के 'एकविंशति भारद्वाजम्' और 'त्रिपञ्चाशद् गौतमम्' ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि लोग अपने परिवार की वंशावली तैयार रखते थे। न केवल वंशावली अपितु उनका

---

१ ४ १ १९, पृ० ३ ९१।
२ ३-४-७३।
३ २-१-२४ पृ० ३३६।
४ ५ ४ २६ तथा ४-४-१०४।
५ ६ ३ ६०।
६ वही तथा ४ ४ १७, पृ० २७५।
७ ७-३-४।
८ पाककादिगण, ६ २-५१ तथा २-२-९।
९ महिष्यादिगण ४-४ ४८ तथा ६-२-५१।
१० वही, तथा ७-१ २।
११ रैवत्यादिगण ४-१ १४६।
१२ ३-२-२१, पृ० २१३।
१३ ४ १ १६५, पृ० १५७।
१४ वही।
१५ ४ १ १६०, पृ० १४६।
१६ वही।
१७ २ १ १९, काशिका।
१८ २ ४-८४, पृ० ५१५

संक्षिप्त इतिहास भी उन्हें ज्ञात रहता था। तभी इस बात का पता लगना सम्भव था कि किसके वंश में दस पूर्वज पीढ़ियों तक अशिक्षित और कर्तव्यच्युत व्यक्ति नहीं हुए हैं। सोमपान के अधिकारी का निश्चय करते समय पहले इन दस पीढ़ियों का इतिहास देखा जाता था।[1]

गोत्र—सामाजिक संगठन में गोत्र का महत्त्व पतंजलि-काल में बहुत अधिक था। वंश के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के नाम पर उस वंश का नाम पड़ जाता था। विद्या तथा कार्य आदि किसी दृष्टि से कोई पुरुष महत्त्वपूर्ण हुआ, तो उसकी सन्तानों को लोग उसके नाम से जानने लगते थे आगे चलकर पौत्र, प्रपौत्र आदि उसके नाम को अपने नाम के साथ जोड़ने लगते थे। भाष्यकार के समय में यह प्रथा इतनी अधिक थी कि पिता, पुत्र पौत्र प्रपौत्र तथा अगली पीढ़ियों के नाम पूर्वज के नाम के आधार पर रखने के लिए कुछ नियम निश्चित कर दिये गये थे।

गोत्र शब्द के दो अर्थ थे—सामान्य अपत्य या सन्तान तथा व्याकरणशास्त्र का पारिभाषिक गोत्र। प्रथम लौकिक व्यवहार में प्रचलित था[2] और उसका प्रयोग सम्मान या प्रतिष्ठा के द्योतन के लिए होता था। ऐसा वहाँ होता था जहाँ परिवार में कोई पूर्वज सम्मानित व्यक्ति होता था। सन्तान अभिमान-पूर्वक अपने गोत्र का उल्लेख करती थी।[3] लौकिक गोत्रों में आर्ष और अनार्ष दो प्रकार होते थे। आर्ष गोत्र विद्या-सम्बन्ध से तथा अनार्ष गोत्र योनि-सम्बन्ध से माने जाते थे। शास्त्रीय दृष्टि से इन्हें गोत्राभास कहते थे। जैसे कुणिक भृमिक या मुख्य नामक व्यक्तियों के प्रसिद्ध हो जाने के कारण उनकी सन्तानें भले ही वे उन गुणों से सम्पन्न न हों कौणिक भौमिक या मौखरि कही जाती थीं। स्त्री कौणिक्या भौमिक्या या मौखर्या कहलाती थीं।[4] व्याकरण शास्त्र में पौत्र से लेकर अगली प्रपौत्रादि सन्तान को गोत्र कहते थे[5] किन्तु यदि गोत्रापत्य का प्रपितामह, पितामह, पिता बड़ा भाई या गोत्र में अन्य कोई सपिण्ड स्थविरतर जीवित होता था तो उसे युवा कहते थे। गर्ग की पौत्रादि के बाद की सन्तान (गोत्र) को गार्ग्य और युवापत्य को गार्ग्यायण कहते थे। इसी प्रकार वत्स वात्स्य वात्स्यायन दक्ष, प्लाक्ष्य प्लाक्षायण दक्ष दाक्ष्य दाक्षायण आदि कहलाते थे। इनकी सामान्य सन्तान (पुत्रादि) को गार्गि वात्सि प्लाक्षि दाक्षि कहते थे। भाष्यकार ने गोत्र के प्रारम्भ का उल्लेख करते हुए कहा है कि ऊर्ध्वरेतस् ऋषि (सन्तान का जनन या अजनन जिनके अधिकार की बात थी) अट्ठासी सहस्र हुए हैं। उनमें कश्यपादि सात तथा आठवें अगस्त्य ने सन्तान उत्पन्न करना स्वीकार किया था। उनकी सन्तान गोत्र कहलाती है।

---

१ एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति दशपुरुषानूकं यस्य गृहे श्रुतं न विच्छेदम् स सोमं पिबेदिति—४-१-९३, पृ० १२०।

२ २-४-६२, पृ० ५०२।

३ २-३-१८, पृ० ४२०।

४ ४-१-७८।

५ ४-१-७९ काशिका।

६ ४-१-१६२, पृ० १५४।

७ ४-१-१६३, पृ० १५५।

भूपिक और श्वेतच्छत्रिक कहलाते थे।[1] आचार्य राजा और श्रोत्रिय का स्वागत गोमांस से किया जाता था। यह उनके प्रति विशेष सम्मान के प्रदर्शन के लिए था। इसलिए, इन्हें गोघ्न अतिथि कहते थे।[2] कुछ अतिथि व्यक्तिविशेष के न होकर सारे गाँव के माने जाते थे और गाँव के सारे परिवार या कुल उनकी सेवा करते थे।[3] अतिथि के सत्कार को आतिथ्य और सत्कार करने वाले को अतिथेय (स्त्री आतिथेयी) कहते थे।

कुल-भृत्य—सेवकों या कर्मकरों में बहुत-से स्वामी के घर ही रहते थे और भोजन-वस्त्र पाते थे। जो नहीं रहते थे वे भी काम के लिए अपना अधिकांश समय वहीं बिताते थे। ऐसे नौकरों में उदहार,[4] वैवधिक[5] आदि थे। उदकीवध जल ढोने का साधन था। धनी परिवारों में द्वारपाल[6] या दौवारिक मणिपाली[8] अभ्यंग[9] स्नान[10] लेप आदि करनेवाले भृत्य तथा राजपरिवारों में छत्रग्रह, अमत्रग्रह[11] आदि भी रहते थे। ये सब किंकर भी कहलाते थे।[12]

इस प्रकार परिवार या कुल पितृवंश मातृवंश विद्यायौनिक सम्बन्धी मित्रगण अतिथि भृत्य आदि की समष्टि थी। यह समाज का मुख्य तथा शक्तिशाली घटक था।

सपिण्ड—कुल के बाद सपिण्डों का स्थान था। पिता की सात तथा माता के वंश की पाँच पीढ़ियाँ सपिण्ड कहलाती थीं।[13] यदि किसी परिवार में स्थविरतर सपिण्ड जीवित होता तो उसके पौत्र प्रपौत्रादि को युवा[14] कहते थे।

वंश—वंश एक परम्परा थी। वंश एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलता हुआ स्थायी सामाजिक बंध था। व्यक्ति की अगली पीढ़ियाँ उसकी वंश्य कहलाती[15] थीं। रक्तवंश पिता द्वारा प्रचलित माना जाता था। सामान्यतया स्त्री के नाम पर वंश नहीं चलता था। कुछ लोग मातृवंश और पितृवंश दोनों मानते थे और देश के कुछ भागों में मातृवंश भी प्रचलित था।[16] वंश और सम्बन्ध प्रायः पर्याय थे। योनि-सम्बन्ध या वंश के अतिरिक्त विद्या-वंश या विद्या-संबंध भी प्रचलित था। आचार्य की शिष्य-परम्परा उसका वंश मानी जाती थी। उदाहरणार्थ—व्याकरण की तीन मुनि 'वंश्य' माने जाते रहे।[17] 'त्रिमुनिव्याकरणस्य' का अर्थ यह व्याकरण था जिसमें तीन मुनि वंश्य रहे हों। भारद्वाज की इक्कीस पीढ़ियाँ तथा गौतम की तिरपन पीढ़ियाँ भाष्यकार के समय तक हो चुकी थीं।[18] भाष्य के 'एकविंशति भारद्वाजम्' और 'त्रिपञ्चाशद् गौतमम्' ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि लोग अपने परिवार की वंशावली तैयार रखते थे। न केवल वंशावली अपितु उनका

---

१ ४ १ १६, पृ० ३०९।
२ ३ ४-७१।
३ ९-२-२४, पृ० ३३६।
४ ५ ४-२६, तथा ४ ४-१०४।
५. ६ ३ ६०।
६. वही तथा ४-४ १७, पृ० २७५।
७ ७-३-४।
८. पाककादिगण, १-२-५१ तथा २-२-९।
९. महिष्यादिगण ४ ४ ४८ तथा १-२-५१।
१० वही तथा २-१-२।
११ रेवत्यादिगण ४-१ १४६।
१२ ३-२-२१, पृ २१३।
१३ ४-१ १६५, पृ० १५७।
१४ वही।
१५. ४ १ १४७ पृ० १४६।
१६. वही।
१७. २ १ १९, काशिका।
१८. २-४-८४, पृ० ५१५

संक्षिप्त इतिहास भी उन्हें ज्ञात रहता था। तभी इस बात का पता लगाना सम्भव था कि किसके वंश में दस पूर्वज पीढ़ियों तक अविद्वान और कर्तव्यच्युत लोग नहीं हुए हैं। सोमपान के अधिकारी का निश्चय करते समय पहली दस पीढ़ियों का इतिहास देखा जाता था।[1]

सगोत्र—सामाजिक संगठन में गोत्र का महत्त्व पतंजलि-काल में बहुत अधिक था। वंश के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के नाम पर उस वंश का नाम पड़ जाता था। विद्या, बल, कार्य आदि किसी दृष्टि से कोई पुरुष महत्त्वपूर्ण हुआ तो उसकी सन्तानों को लोग उसके नाम से जानने लगते थे। आगे चलकर पौत्र प्रपौत्र आदि उसके नाम को अपने नाम के साथ जोड़ने लगते थे। भाष्यकार के समय में यह प्रथा इतनी अधिक थी कि पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र तथा अगली पीढ़ियों के नाम पूर्वज के नाम के आधार पर रखने के लिए कुछ नियम निश्चित कर दिए गये थे।

गोत्र शब्द के दो अर्थ थे—सामान्य अपत्य या सन्तान तथा व्याकरणशास्त्र का पारिभाषिक गोत्र। प्रथम लौकिक व्यवहार में प्रचलित था[2] और उसका प्रयोग सम्मान या प्रतिष्ठा के द्योतन के लिए होता था। ऐसा वहाँ होता था जहाँ परिवार में कोई पूर्वज सम्मानित व्यक्ति होता था। सन्तान अभिमान-पूर्वक अपने गोत्र का उल्लेख करती थी।[3] लौकिक गोत्रों में आर्ष और अनार्ष दो प्रकार होते थे। आर्ष गोत्र विद्या-सम्बन्ध से तथा अनार्ष गोत्र योनि-सम्बन्ध से माने जाते थे। शास्त्रीय दृष्टि से इन्हें गोत्राभास कहते थे। जैसे कुणिक, मुणिक या मुखर नामक व्यक्तियों के प्रसिद्ध हो जाने के कारण उनकी सन्तानें भले ही वे उन गुणों से सम्पन्न न हों कौणिक, मौणिक या मौखरि कही जाती थीं। स्त्री कौणिक्या, मौणिक्या या मौखर्या कहलाती थी।[4] व्याकरणशास्त्र में पौत्र से लेकर आगे की प्रपौत्रादि सन्तान को गोत्र कहते थे[5] किन्तु यदि गोत्रापत्य का प्रपितामह, पितामह, पिता, बड़ा भाई या गोत्र में अन्य कोई सपिण्ड स्थविरतर जीवित होता था तो उसे युवा कहते थे। गर्ग की पौत्रादि के बाद की सन्तान (गोत्र) को गार्ग्य और युवापत्य को गार्ग्यायण कहते थे। इसी प्रकार वत्स वात्स्य वात्स्यायन प्लक्ष प्लाक्ष्य प्लाक्षायण दक्ष दाक्ष्य दाक्षायण आदि कहलाते थे। इनकी सामान्य सन्तान (पुत्रादि) को गार्गि वात्सि प्लाक्षि दाक्षि कहते थे। भाष्यकार ने गोत्र के प्रारम्भ का उल्लेख करते हुए कहा है कि ऊर्ध्वरेतस् ऋषि (सन्तान का जनन या अजनन जिनके अधिकार की बात थी) अठासी सहस्र हुए हैं। उनमें कश्यपादि सात तथा आठवें अगस्त्य ने सन्तान उत्पन्न करना स्वीकार किया था। उनकी सन्तान गोत्र कहलाती है।

---

१ एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति दशपुरुषानूकं यस्य गृह्ये शूद्रा न विद्येरन् स सोमं पिबेदिति— ४ १ ९३, पृ० १२०।

२ २-४-६२, पृ० ५०२।

३. ४ १-१८, पृ० ४२०।

४ ४ १-७८।

५ ४ १-७९ कारिका।

६. ४-१ १६२, पृ० १५४।

७. ४ १-१६३, पृ० १५५।

उपचारात् अन्यों को भी गोत्र कह देते हैं।[1] वास्तव में ये गोत्रावयव हैं। लौकिक व्यवहार में युवा आदि सभी सन्तानों को गोत्र कहते थे।[2] उदाहरणार्थ—बालक से लोग पूछते थे 'बच्चे तुम्हारा गोत्र कौन-सा है।' इस प्रकार गोत्र शब्द वंश के अर्थ में प्रयुक्त होता था।[3]

सवर्ण का उल्लेख ऊपर हुआ है। वर्ण या जाति का क्षेत्र गोत्र की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक था। एक ही वर्ण या जाति के लोग परस्पर एक दूसरे को बन्धु समझते थे। बन्धुत्व जाति को एक सूत्र में बाँधनेवाली डोर था। बन्धु शब्द ब्राह्मणादि जाति का अभिव्यंजक था। बन्धुत्व के द्योतन के लिए ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को ब्राह्मणजातीय क्षत्रियजातीय या वैश्यजातीय कहते थे।

सजनपद—एक जनपद में रहनेवाले भी अपने को परस्पर एक सूत्र में आबद्ध मानते थे। वे सजनपद कहलाते थे।[4] यों तो जन विशिष्ट वर्गों मुख्यतः क्षत्रिय-संघों को कहते थे जैसे भरतजन या पंचालजन। जब ये लोग स्थायी रूप से एक स्थान में बस गये तब वह स्थान जनपद कहा जाने लगा और उसका नाम उस जाति या संघ के नाम पर पड़ गया जो मुख्यतः उस प्रदेश का निवासी था। इस प्रकार अधिकांश जनपदों के नाम विभिन्न क्षत्रिय जातियों के नाम पर निश्चित हुए। किन्तु, इन जनपदों में केवल क्षत्रिय ही नहीं अन्य वर्ण या जातियाँ भी रहती थीं और वे सब सजनपद कहलाती थीं। इन प्रदेशों के स्वामी क्षत्रियों को जनपदी कहते थे।[5] जनपद के नाम से उसके निवासी पुकारे जाते थे।

अन्य शब्द—पाणिनि ने कुल और वंश के अतिरिक्त सबन्धु, सवचन सवय सवर्ण सस्थान सरूप सगोत्र सनाम सज्योति सजनपद और सनाभि शब्दों का भी प्रचलन बतलाया है। सबन्धु एक ही जाति के लोग होते थे। सवचन एक भाषा बोलनेवाले कहलाते थे। सवय एक साथ खेलने-कूदनेवाले सस्थान एक ही ग्राम या नगर के निवासी सरूप एक ही रूपाकृति के लोग सगोत्र एक गोत्र की सन्तानें सनाम तुल्य नाम के लोग यथा राम (रामचन्द्र बलराम परशुराम) सज्योति कुण्डली में एक-से ग्रहवाले सजनपद एक जनपद के निवासी और सनाभि एक ही मूल वंश की सन्तानें कही जाती थीं। सोदर, सतीर्थ्य सब्रह्मचारी आदि के समान ये लोग भी परस्पर सम्बद्ध होते थे। नाभि वर्ण स्थान वचन ये सब लोगों को एकसूत्रता में आबद्ध करने के साधन थे। इनमें सनाभि सपिण्ड से भी व्यापक शब्द था। एक मूल पुरुष से उत्पन्न सन्तान भले ही वह बीसियों पीढ़ी पहले से अलग हो चुकी हो और दूर-दूर स्थानों में रहती हों सनाभि मानी जाती थीं।

---

१ अष्टाशीतिः सहस्राण्यूर्ध्वरेतसामृषीणां बभूवुस्तत्रागस्त्याष्टमैर्ऋषिभिः प्रजननोऽभ्युपगतः तत्प्रभवतो यदपत्यं तानि गोत्राणि। अतोऽन्ये गोत्रावयवाः।—४ १-७९, पृ ८८।

२ अपत्यापत्यो गोत्रसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम्।—४ १ १६३, पृ० १५९।

३ ४ १ ९०, पृ० ११२।

४ ५ ४-९, काशिका।

५ ६ ३-८५।

६. ४ ३-१००, काशिका। ७. ५ ३-८५।

लोक—जनसाधारण को लोक कहा जाता था।[1] इसी से 'लोग' शब्द बना है। लोक में आर्यों का अपना वर्ग था। 'आर्य' शब्द सामाजिक संगठन का परिचायक था।[2] शिष्ट मनीषी तथा आचारवान् लोग अपने को आर्य कहते और एक सूत्र में आबद्ध मानते थे यद्यपि इनके प्राच्य उदीच्य दाक्षात्य आदि भेद प्रदेश भेद के अनुसार थे।[3] भाषा तथा रीति-रिवाज की दृष्टि से भी इनमें थोड़ा अन्तर था, किन्तु सामाजिक दृष्टि से वे एक थे।

---

१ अन्यतरोऽहं लोके न त्वहं लोकः।—आ० १, पृ० २०।

२ आ० १, पृ० २१।

३ वही तथा आ० १, पृ० १८।

अध्याय २

वर्ण और जाति

चातुर्वर्ण्य—भाष्य में चार वेदों, चार वर्णों और चार आश्रमों का उल्लेख है। इन्हें क्रमशः चातुर्वेद्य, चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य कहते थे। भाष्यकार ने ब्राह्मणादिगण (५ १ १२४) के चातुर्वर्ण्यादि में आश्रमों और वेदों को परिगणित कर लिया है।[1] इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार के समय में यह चतुष्टय त्रयी समाज में भली भाँति प्रतिष्ठित थी। उस समय वेदत्रयी नहीं अपितु वेदचतुष्टयी स्वतः प्रमाण मानी जाती थी। जीवन भी तीन में नहीं, चार आश्रमों में विभक्त था। इसी प्रकार, समाज के भी चार व्यवस्थित विभाग हो चुके थे।

जाति—वर्णों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, विट् और शूद्र ये नाम भाष्य[2] में आये हैं। पाणिनि ने वर्ण शब्द का उल्लेख ब्राह्मणादि[3] वर्ण, लिंग या चिह्न[4] और रंग[5] तीनों अर्थों में किया है। वर्णों के भीतर, किन्तु और अधिक व्यापक अर्थ में जाति शब्द का प्रचलन इस समय हो चुका था। जाति ने गोत्रों और चरणों को भी अन्तर्भूत कर लिया था।[6] यह युग चरणों के भी उत्कर्ष का था। गोत्र और चरण भिन्न-भिन्न घरों या वंशों में जन्मे और पृथक् विद्या-संस्थाओं में पढ़े व्यक्तियों के विशिष्ट व्यक्तित्वों के परिचय में मुख्य सहायक हो सकते थे। इससे दो बातें हुईं। प्रथम तो प्रत्येक जाति किसी-न-किसी वर्ण के अन्तर्गत रही। दूसरे, वर्ण केवल चार थे और सारे समाज को चार भागों में बाँट देने पर प्रत्येक के भीतर इतना विशाल जनसमूह आता था कि उसमें विशिष्ट व्यक्तियों के उत्कृष्ट गुणात्मक या क्रियाशीलात्मक परिचय के लिए अवकाश न था। इसलिए, प्रारम्भ में जिन लोगों के पूर्वज श्रेष्ठ थे उन्होंने अपने को उनके नाम से पुकारना प्रारम्भ किया। जिनके वंश में प्रख्याति की कोई बात न थी उन्होंने अपनी आस्था अपने आचार्य के नाम पर प्रारम्भ की। भाष्यकार की जाति की परिभाषा में समाज की यही मनोवृत्ति प्रतिबिम्बित है।[6] धीरे-धीरे जब चरणों के अपकर्ष का समय आया तब केवल वंश ही अभिमान की वस्तु रह गया।

---

१ ५ १ १२४, पृ० ३६४।

२ सर्वे एते शब्दाः गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति।—५ १ ११५, पृ० ३६७ तथा २ २-३४, पृ० ३४१।

३ ५-२-१३२।

४ ५-२-१३४।

५ २-१ ६९ तथा ४ १ ३९।

६ आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥ ४ १ ६३, पृ० ७२।

चरण केवल ब्राह्मणों तक सीमित रह गये। अन्य लोग उनपर अभिमान न कर सकते थे। इस कारण धीरे-धीरे गोत्रों की प्रधानता हो गई और चरण गौण पड़ गये। इस स्थिति में जाति जन्मना मानी जाने लगी। भाष्यकार ने जाति को जनन से प्राप्य कहा। उसमें उत्कर्षापकर्ष नहीं हो सकता था।[1] भाष्यकार ने एक स्थान पर जाति और वर्ण में भेद किया है। जाति जन्म से प्राप्त होती है और वर्ण जन्म तथा गुणकर्म दोनों से। जिसमें अपने वर्ण के गुण नहीं होते वह जाति-ब्राह्मण या जाति-क्षत्रिय ही कहा जाता था। जाति-ब्राह्मणादि शब्द इस बात को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होते थे कि वह व्यक्ति अपनी योग्यता से अपने वर्ण का अधिकारी नहीं है।

पाणिनि ने चरण को भी जाति के अन्तर्गत माना है। वार्तिककार ने भी कठ, कालाप आदि को जातिबोधक मानकर 'कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने' (२-१ ६३) तथा 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' (५ ३ ९३) सूत्रों के उदाहरणों में संगृहीत किया है तथा 'जातेश्च' (६ ३ ४१) में कठी बह्वृची को जाति का उदाहरण माना है।[3] भाष्यकार ने गोत्र के आधार पर प्रयुक्त जाति शब्दों में अवन्ती कुन्ती गान्धारी ये उदाहरण दिये हैं जो इन देशों के राजाओं के स्त्री अपत्य के वाचक हैं। गोत्र जिसके आधार पर जाति मानी जाती थी पौत्र के बाद की सन्तान अर्थात् प्रपौत्र (चौथी पीढ़ी) से प्रारम्भ होता था।[4] इससे एक बात और स्पष्ट होती है कि जाति का मूल जन्म के आधार पर व्यक्तियों के वर्गीकरण में है। व्यवसाय या शिल्प के आधार पर जातियाँ पतञ्जलि के समय तक नहीं पाई जाती थीं। भाष्य में यद्यपि अनेक व्यवसायों की चर्चा है किन्तु उनके आधार पर जाति के नामकरण का संकेत कहीं नहीं मिलता। इस प्रकार, स्वर्णकार, कुम्भकार, कर्मार, नापित चर्मकार आदि को भाष्य ने शिल्पकार माना है, जाति-विशेष नहीं। इन्हें जाति रूप बहुत बाद में प्राप्त हुआ जान पड़ता है।

ब्राह्मण—भाष्यकार ने जिस क्रम से चारों वर्णों का उल्लेख किया है, वही उनके सामाजिक सम्मान का भी क्रम था। ब्राह्मणों का स्थान[7] प्रथम था। भाष्यकार का काल ब्राह्मणों का युगकाल जान पड़ता है। 'ब्राह्मण क्षत्रिय विट् शूद्र' यह वर्णों की आनुपूर्वी थी जिसमें ब्राह्मण मूर्धन्य थे। ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न विद्वान् तथा ब्राह्मणों के विहित कर्मों को करनेवाला व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता था।[8] इस प्रकार जन्म विद्या और कर्म इन तीनों बातों से वर्ण का निर्धारण

---

१ जननेन या प्राप्यते सा जातिर्न चैतस्यामुत्कर्षापकर्षौ स्तः।—५ १-५५, पृ० ४४७।

२ तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥—२-२ ६, पृ० २४०।

३ ६ ३ ४१ काशिका।

४ ४-१ १४ पृ० १६ तथा ४ १ १७७ ७८।

५ ४ १ १६२।

६ ५ १ ११५, पृ० ३४०।

७ २-२-३४ पृ० ३९१।

८ यौपि मन्त्रवाक्यानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छिवं विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्॥—४-१ ४८, पृ० ९२।

होता था। ब्राह्मण क्षत्रिय आदि शब्द गुणों के आधार पर प्रयुक्त होते थे। जन्म शास्त्राध्याय और तपस् (श्रेष्ठ कर्म त्याग) ये किसी व्यक्ति को ब्राह्मण बनाते थे। जो व्यक्ति विद्या तथा तप से हीन होता था उसे जाति-ब्राह्मण (केवल जन्म से ब्राह्मण) कहते थे।[1] इसके अतिरिक्त ब्राह्मण के परिचायक कुछ बाह्य लक्षण थे। ब्राह्मण प्रायः गौरवर्ण शुद्धाचरण पिंगलाक्ष और कपिलकेश होते थे। ये लक्षण भी ब्राह्मण की परिभाषा के अन्तर्गत थे और उन्हें देखकर लोग व्यक्ति के ब्राह्मण होने का अनुमान कर लेते थे।[2] फिर भी जिस प्रकार किसी समुदाय के लिए प्रयुक्त होनेवाला शब्द उसके अवयवों के लिए भी प्रयुक्त होता है उसी प्रकार उपर्युक्त समस्त गुणों से युक्त व्यक्ति को भी ब्राह्मण कहते थे और उनमें से एक या दो से हीन को भी। उदाहरणार्थ, बैठकर मल-त्याग करना भोजन करना ये ब्राह्मण के गुण थे किन्तु यदि कोई ब्राह्मण खड़े-खड़े मूत्र त्याग करता या चलते चलते खाता था तो भी उस अब्राह्मणाचार को ब्राह्मण कहा ही जाता था। और शुद्धाचार आदि गुणों से युक्त व्यक्ति अन्य वर्णों में भी थे। ऊपर-ऊपर के लक्षणों से भी कभी कभी उनके ब्राह्मण होने की भ्रान्ति हो जाती थी। बाद में पता चलता कि वह ब्राह्मण नहीं है। ऐसे प्रकरणों में सन्देह भ्रांति का कारण होता था और जाति सन्देह निवारण करती थी। किसी ने किसी स्थान के विषय में कह दिया कि वहाँ ब्राह्मण मिलेगा। वहाँ जाकर जो व्यक्ति देखा उसे ब्राह्मण समझ लिया। ऐसे प्रकरणों में भ्रांत निर्देश सन्देह का कारण होता था और जाति ज्ञान उसका निवर्तक। फिर भी सन्देह समान-रूप-गुणवालों के विषय में ही हो सकता था। उरद के समान काले रंग के पुरुष को दूकान पर बैठा देखकर उसके विषय में किसी को ब्राह्मण होने का सन्देह नहीं होता था।[3]

भाष्यकार के इस सम्पूर्ण कथन से कई बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह कि ब्राह्मणों का वर्ण गौर था। शायद ही कोई ब्राह्मण काले रंग का हो। रंगों का मिश्रण आगे चलकर हुआ। दूसरे, वर्ण अभिमान एवं उच्चता का द्योतक था। इस वर्ण (रंग) के आधार पर ही त्रिवर्ण की सृष्टि हुई थी। तीसरे, ब्राह्मण सामान्यतया तप-स्वाध्याय-रत समाज था। धन्य से शायद ही कोई ब्राह्मण जीवन-यापन करता हो। पीछे जो ब्राह्मण अपनी मर्यादा का उल्लंघन करते थे वे हेय दृष्टि से देखे जाते थे किन्तु ब्राह्मण माने जाते थे।

वर्ण और जाति दो पृथक् वस्तुएँ थीं। जाति जन्म से प्राप्त हो जाती थी। उसमें घट बढ़ को स्थान न था। जो जिस गोत्र में उत्पन्न होता था जिस चरण में पुनर्जन्म पाता उसी के नाम पर उसकी जाति पुकारी जाती थी। चरणों के आधार जाति केवल द्विजन्मा विशेषतः कुछ ब्राह्मणों की होती थी। व्यवसाय या शिल्प के आधार पर भी वर्ग थे। जो जिस व्यवसाय के

---

१ सर्व एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्य शूद्र इति। गौरः, शुच्याचारः, पिङ्गलः, कपिलकेशः, इत्येतानप्यभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति। समुदाये ब्राह्मणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते जातिहीने गुणहीने च।—न ह्ययं कश्चं माषराशिवर्णमापण मासीनं दृष्ट्वाप्यध्यवस्यति ब्राह्मणोऽयमिति।—२-२ ६, पृ० १४०।

२ २-२ ६, पृ० १४०।

३ वही।

परिवार में उत्पन्न होता वही उसका व्यवसाय होता था पर ऐसा कोई नियम न था। धीरे-धीरे कर्मार, कुम्भकार, मालाकार आदि परिवार में उत्पन्न लोगों की जाति भी कर्मार आदि होने लगी। इस समय जाति केवल कुल या वंश की परिचायिका थी। इससे अधिक उसका कोई महत्त्व न था। वर्ण का क्षेत्र इतना व्यापक न था यद्यपि वह जाति से उच्च कोटि की वस्तु थी। वर्ण अनायास नहीं प्राप्त हो जाता था। उसके लिए तदुचित गुण-कर्म और स्वभाव का अर्जन आवश्यक था। उदाहरणार्थ ब्राह्मणत्व के लिए तप और श्रुति ये अर्हताएँ निश्चित थीं। इस प्रकार, पतञ्जलि-काल में वर्ण और जाति आज के समान परस्पर उलझे हुए न थे। वे पृथक्-पृथक् समझे और माने जाते थे। भाष्य के ब्राह्मणकारक और जाति-ब्राह्मण'[1] शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। जाति-ब्राह्मण ब्राह्मण से छोटा माना जाता था। आगे चलकर वर्णकारकत्व क्षीण होता गया और जाति प्रमुख बनती गई। यहाँतक कि वर्ण को अपने अस्तित्व के लिए जाति का आश्रय लेना पड़ गया।

शुद्धाचार दैनन्दिन व्यवहार में परिलक्षित था। ब्राह्मण नित्य दन्त-मार्जन स्नान आदि करते थे। भाष्य का 'ब्राह्मण के दाँत शुक्ल हैं वृषल के कृष्ण हैं' यह कथन इस ओर संकेत करता है।[2] शुचिता समाज में ब्राह्मण को उच्च स्थान दिलाती थी।[3] शिष्ट ब्राह्मणों का पद सामान्य ब्राह्मण से ऊँचा था। आर्यावर्त के वे ब्राह्मण जो केवल दिन-दो दिन खाने भर से अधिक धान्य संचित नहीं करते थे लोलुपता से अस्पृष्ट रहते थे इन्द्रियों के वशीभूत नहीं होते थे और थोड़े बहुत अन्तर से किसी-न-किसी एक विद्या में पारंगत अवश्य होते थे वे शिष्ट कहलाते थे। केवल शास्त्र-पारंगत शिष्ट नहीं माने जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि केवल शास्त्र जाननेवाले को शिष्ट कहने में अन्योन्याश्रय दोष है क्योंकि शास्त्र से शिष्टि प्राप्त होती है और शिष्टि से शास्त्र।[4] इसलिए, कुम्भीधान्य अलोलुप अगृह्यमानकारण विद्या-विशेष-पारग-आर्यावर्तीय ब्राह्मण को शिष्ट कहना चाहिए। नियमित स्नानादि क्रियाएँ करनेवाले ब्राह्मण भोगवान् कहे जाते थे।[5] शिष्ट भोगवान् आदि विशेषण ब्राह्मणों को तप आचार, स्वाध्याय की प्रेरणा के लिए थे। कुछ बातें तो ब्राह्मण के लिए अनिवार्य थीं। उसे शब्द-विद्या या व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। भाष्यकार ने अष्टाध्यायी को 'शिष्टआचार्य' कहा है। अष्टाध्यायी का अध्ययन करनेवाला

---

१ २-२ ६ पृ० १४०।

२ अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति। अब्राह्मणोऽयं यो गच्छन् भक्षयति।—२-२-६, पृ० १४० तथा २ २-११, पृ० १४५।

३ वही।

४ एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः।—६-३ १०९, पृ० ३५९।

५ वही।

६ ५ १ ९ पृ० १००।

७ भा० १ पृ० ३।

ही जान सकता है कि कौन शिष्ट है और कौन नहीं।[1] बिना व्याकरण के अपशब्दों का सम्यक् ज्ञान नहीं होता। अपशब्द म्लेच्छ हैं। यदि ब्राह्मण व्याकरण का अध्ययन न करता तो वह म्लेच्छ (अपशब्द) शब्दों का प्रयोग कर म्लेच्छन और अपभाषण के दोष का भागी माना जाता।[2] मनीषी ब्राह्मण नाम आख्यात उपसर्ग और निपात इन चारों में सीमित पदों को जानते थे। वे जानते थे कि परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी में किसका कौन-सा स्थान है और मनुष्य की कौन-सी वाणी व्यवहार में दिखाई पड़ती है और कौन गुहा रहती है।[3]

श्रुति का अध्ययन ब्राह्मण का धर्म था। इसी से उसे ब्रह्मण्य या ब्राह्मण्य प्राप्त होता था। श्रुति का अधीती ब्राह्मण श्रोत्रिय कहलाता था। श्रोत्रिय का स्वभाव या अध्ययन-कर्म श्रौत कहा जाता था।[4] एतदर्थ जन्म से आठवें वर्ष उसका उपनयन कर दिया जाता था और उससे श्रुति का अध्ययन प्रारम्भ कराया जाता था। ब्राह्मण-बालक के माता पिता एतदर्थ बालक को बचपन से तैयार करते थे। उसके अनेक मांत्रिक कर्मों में पारलौकिक महत्त्व भी था जो ब्राह्मण का ही कर्तव्य था।[5] इस प्रकार, यह उसका कष्ट-साध्य तप-पूत दायित्व-पूर्ण सात्त्विक जीवन था जिसने समाज में उसे अद्वितीय प्रतिष्ठा प्रदान की थी। उसकी यह प्रतिष्ठा धन के नहीं त्याग और निःस्पृहता के कारण थी।

ब्राह्मण लोग मद्य नहीं पीते थे। अन्य वर्णों की स्त्रियाँ मद्य पी सकती थीं किन्तु ब्राह्मणी के लिए सुरा सर्वथा वर्जित थी। शास्त्रों की आज्ञा थी कि सुरापा ब्राह्मणी को परलोक में पति का संयोग नहीं प्राप्त होता।

कुछ ब्राह्मण आयुधजीवी भी होते थे। ब्राह्मण के समस्त गुणों के अर्जन के साथ वे शस्त्र विद्या में जिसका महत्त्व अन्य विद्याओं से कम न था पारंगत होते थे। ऐसे ब्राह्मण संगठित रूप से एक साथ रहते थे। भाष्य में ब्राह्मणक जनपद का उल्लेख है।

ब्राह्मणों की संख्या समाज में अधिक थी। बहुत-से गाँवों में तो पाँच कारुकुलों को छोड़कर शेष घर ब्राह्मणों के ही थे।[9] जहाँ ऐसा नहीं था वहाँ भी ब्राह्मणों के घर अनन्तर, अर्थात् पास पास रहते थे शायद ही कभी उनके बीच में वृषल-कुल रहता था।[10]

भाष्यकार का युग विद्या की दृष्टि से ब्राह्मणों के चरम उत्कर्ष का युग नहीं था। अब

---

१ ५-३ १०९, पृ० ३५९।
२ भा० १ पृ० ४।
३ भा० १ पृ० ७।
४. ५ १ १२५।
५. ५ १ १३०, पृ ३३६।
६ ६ १-८४ पृ० ११६।
७. या ब्राह्मणी सुरापी भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति।—३-२-८, पृ २११।
८. ५-२-७१।
९. ब्राह्मणग्राम आनीयतामित्युच्यते तत्र चान्तरा पञ्चकारुकीभवति।—१ १४८, पृ० २९।
१० ३ १-७, पृ० ११५।

जाति और ब्राह्मण भी पर्याप्त [illegible] जाते थे। [illegible] में पुत्र [illegible] और [illegible]
[illegible] नहीं था क्योंकि सभी ब्राह्मण [illegible] था। [illegible] प्रथा भी [illegible] के बाद [illegible] था। [illegible] वर्णों का [illegible] और [illegible] की [illegible] दे [illegible] उन्हें वैदिक [illegible] का [illegible] किया जाता था। [illegible] में [illegible] थी। [illegible] के [illegible] कुछ [illegible] हैं और [illegible] हैं। फिर, [illegible] की [illegible][1] [illegible] (कुछ [illegible]) [illegible] और [illegible] थी। [illegible] [illegible] थी। [illegible] अन्य वर्णों में थी।[2] [illegible] भाग की [illegible] की [illegible] दे। [illegible]। [illegible] कुछ ब्राह्मण [illegible] के विषय में [illegible] ध्यान रखा जाता था। कुछ [illegible] नहीं [illegible] दे। कुछ [illegible] नहीं [illegible] थे।[3] कुछ [illegible] दे। [illegible] थे।[4]

[illegible] थे। [illegible] अभिवादन[5] [illegible] दे। [illegible] था।[6] [illegible] और [illegible] दे।[7] [illegible] [illegible] दे। [illegible] थे। [illegible], [illegible] और [illegible] दे। [illegible] थे। [illegible] था। [illegible] थे।[8] [illegible] थी। [illegible] था।

1 आ० १, पृ० ३०।
2 [illegible], पृ० [illegible] [illegible], पृ० [illegible]।
3 [illegible], पृ० [illegible]।
4 [illegible], पृ० [illegible]।
5 [illegible] १, पृ० [illegible]।
6 आ० १, पृ० ३०।
7 [illegible], पृ० [illegible]।
8 [illegible] पृ० [illegible]।
9 [illegible]
१, पृ० ५।
10 [illegible], पृ० [illegible]।
11 [illegible], पृ० [illegible] तथा [illegible]।

में पालित का। उदाहरणार्थ इन्द्रवर्मन् क्षत्रिय और इन्द्रपालित वैश्य का नाम होता था।[1] ब्राह्मण नाम इन्द्रदत्त देवदत्त यज्ञदत्त आदि होते थे।

वैश्य—क्षत्रिय और वैश्य की स्थिति ब्राह्मण और शूद्र के मध्य थी। शूद्र के अभिवादन के उत्तर में वाक्य की टि को प्लुत नहीं किया जाता था किन्तु ब्राह्मण के अन्त में अवश्य किया जाता था। क्षत्रिय और वैश्य के अन्त में प्लुत विकल्प से होता था।[3] इससे स्पष्ट है कि वे व्याकरण में न विशेष दक्ष होते थे और न उससे अनभिज्ञ ही।

वैश्य को विट्[4] भी कहते थे। वैश्य की स्थिति क्षत्रिय से कुछ ही नीचे थी। इनके नाम पालितान्त या गुप्तान्त होते थे जिससे स्पष्ट है कि वे समाज द्वारा रक्षित रहते थे। वैश्य सम्पत्ति या रै के उत्पादक थे। भाष्य में भाण्डजङ्घि और कापटवकि इन वैश्य-गोत्रों के नाम आये हैं।[5]

शूद्र—शूद्रों का स्थान अन्तिम था। शूद्र दो प्रकार के व्यक्ति कहलाते थे—(१) वे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जो शास्त्र-विहित स्वकर्तव्यों का पालन न कर शूद्रवत् जीवन व्यतीत करते थे। अशिक्षित संध्याग्निहोत्र-विरहित असंयमी ब्राह्मण भी शूद्र माने जाते थे और (२) शूद्र माता-पिता से उत्पन्न सन्तान। इस प्रकार, कर्म-शूद्र और जन्म-शूद्र दो प्रकार के शूद्र थे। कर्म-शूद्र तो हेय दृष्टि से देखे ही जाते थे उन्हें कोई भी ब्राह्मणोचित अधिकार प्राप्त नहीं होता था। जिस वंश में कोई शूद्र होता था उसे भी कुछ अधिकारों से वञ्चित रहना पड़ता था। उदाहरणार्थ यदि किसी ब्राह्मण-परिवार में कोई शूद्र उत्पन्न हो जाता तो उस परिवार का दस पीढ़ी तक सोमपान का अधिकार छिन जाता था।[6] शूद्र जाति की स्त्री शूद्रा कहलाती थी। शूद्र की भार्या उसकी स्त्री होने के नाते भले ही वह अशूद्रा हो शूद्री कही जाती थी। शूद्र स्त्रियों में अधिक सम्मानित स्त्री को महाशूद्रा कहते थे।

शूद्रों की अनेकों जातियाँ थीं। जो लोग भृति लेकर काम करते थे वे सब शूद्र माने जाते थे। कात्यायन ने महाशूद्र जाति भी मानी है। काशिका के अनुसार आभीर को महाशूद्र[9] कहते थे। धीवर भी शूद्रों में गिने जाते थे।[10] भाष्यकार ने भी आभीर को शूद्र कहा है।[11] रथकारों का

---

१ यो राजन्य विशां वेति जानन् राजन्य इन्द्रवर्माहं भोः। आयुष्मानेधीन्द्रवर्म३न् विड् इन्द्रपालितोऽहं भोः। आयुष्मानेधीन्द्रपालिता ३ इन्द्रपालित।—८ २-८३, पृ० ३८८।

२ वही।

३ ८-२-८४ पृ० ३९१।

४ आ रेवानेतु मा विश।—८-२-१५, पृ० ३९९।

५ २-४-५८, पृ० ४९३।

६ एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति दशपुरुषानूकं यस्य गृहे शूद्रा न विन्देरन् स सोमं पिबेदिति।—४-१-९३, पृ० १२०।

७ ४ १ ४, पृ० २९।

८ वही।

९ महाशूद्रशब्दो ह्याभीरजातिवचनः।—४ १ ४ काशिका।

१० ४ १ १४, पृ० ३५।

११ १-२-७२, पृ० १०७।

स्थान शूद्रों में सबसे ऊँचा था। वे निषाद से कुछ ही नीचे थे।[1] तन्तुवाय, कुम्भकार, नापित, त्वष्टा[2], कर्मार, अयस्कार, रजक, चर्मकार ये सब शूद्रों के अन्तर्गत थे। सारी 'कारि' जातियाँ शूद्र थीं। कटकारों का स्थान शूद्रों में भी नीचा था।

शूद्रों की संख्या बहुत अधिक थी। वास्तव में आर्यावर्तीय त्रिवर्णों को छोड़कर शेष सब की गणना सामान्यतया शूद्रों में की जाती थी। इनमें आर्यावर्त से बाहर के भी लोग थे और आर्यावर्तीय भी। बाहर के लोगों में किष्किन्ध-गन्धिक, शक, यवन, शौर्य, क्रौंच आदि थे। आर्य बस्तियों—ग्राम, घोष, नगर, संवाह आदि—से बाहर रहनेवाले चण्डाल, मृतप भी शूद्र थे। बस्ती के भीतर रहनेवाले किन्तु यज्ञ-कर्म से बहिष्कृत तक्षा, अयस्कार, रजक, तन्तुवाय आदि भी शूद्र थे, यद्यपि इनका दर्जा विशेष नीचा न था। जिनके द्वारा स्पर्श किये गये पात्र अपवित्र माने जाते थे वे जातियाँ भी शूद्र कहलाती थीं।

शूद्र अशिक्षित थे। व्याकरणादि का ज्ञान इन्हें न था, अतः अभिवादन के प्रत्युत्तर में इनके लिए प्लुत नहीं किया जाता था। इस विषय में इनकी स्थिति स्त्रियों जैसी थी। उदाहरणार्थ यदि तुषजक ब्राह्मण को प्रणाम करता तो वह उत्तर में कहता था 'कुशली तो हो तुषजक?'[3]

निरवसित—शूद्र दो श्रेणियों में विभक्त थे—निरवसित और अनिरवसित। तक्षा, अयस्कार, रजक, तन्तुवाय आदि अनिरवसित थे और चण्डाल, मृतप आदि निरवसित। अनिरवसित लोग त्रिवर्णों के पात्र छू सकते थे, किन्तु निरवसित नहीं। निरवसित निम्नतम कोटि के शूद्र थे। ये यदि किसी त्रिवर्ण के पात्र से खा-पी लेते थे तो त्रिवर्ण इस पात्र को संस्कार द्वारा शुद्ध करके भी व्यवहार में नहीं ला सकते थे, यद्यपि कुछ अन्य निम्न शूद्रों द्वारा व्यवहृत त्रिवर्णों के पात्र भस्मादि द्वारा शुद्ध करके काम में ले लिये जाते थे। निरवसित शूद्र गाँवों के बाहर रहते थे। इनके और त्रिवर्णों के घरों के बीच दूरी रहती थी। इनके घर गाँव के छोर पर होते थे। यद्यपि बड़े-बड़े नगरों में वे नगर के बीच भी रहते थे।[5]

वृषल—वृषल को शूद्र का पर्याय कहा गया है। ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान वृषल कही जाती थी। मनुस्मृति में पौण्ड्र, दरद, खश, यवन, शक आदि क्षत्रिय-जातियों को वृषल-भाव को प्राप्त बतलाया गया है। इस दृष्टि से वृषल के प्रति समाज में द्वेष-भाव नहीं होना चाहिए, उलटे उनका स्थान शूद्र से ऊपर माना जाना उचित था। किन्तु भाष्य में जिस प्रकार बार-बार वृषल का स्मरण किया है, उससे उसके प्रति अत्यन्त हेय दृष्टि तथा द्वेषबुद्धि का पता चलता है। वृषल, दस्यु, चोर और दास की स्थिति लगभग समान थी। दासी और वृषली के प्रति कामुकता

---

१ नैषादिकेभ्यः किञ्चिन्न्यूना रथकारजातिः।—४ १ १५१ काशिका।

२ ४ १ १५२ काशिका।

३ ८२-८३, पृ० ३८७।

४ १ १ १६ काशिका।

५ एवमपि य एते महान्तः संस्त्यायास्तेष्वभ्यन्तरतश्चण्डाला मृतपाश्च वसन्ति।—२ ४ १०, पृ० ४६५।

का व्यवहार यद्यपि अशिष्ट माना जाता था तथापि समाज में प्रचलित था और दण्ड्य[1] नहीं था। दासी और वृषली का सादृश्य निन्दा का द्योतक था।[2] भाष्य में कामुकता की पात्री के रूप में अनेक बार दासी और वृषली का साथ-साथ उल्लेख है।[3] दस्यु, चोर और वृषल को नीच स्वभाववाला माना जाता था। वार्तिककार ने प्रशंसा-अर्थ में इन तीनों के आगे रूपप् प्रत्यय कर वृषलरूप दस्युरूप चोररूप इन शब्दों का प्रयोग सामान्य से अधिक वृषल दस्यु या चोर बतलाया है। और फिर यह कहकर कि प्रशंसार्थ में प्रत्यय न करके प्रकृत्यर्थ-वैशिष्ट्य में प्रत्यय कर देना पर्याप्त बतलाया है और उदाहरण दिया है कि यह वृषलरूप अर्थात् असली वृषल है। यह न केवल प्याज खा जा सकता अपितु उसके साथ सुरा भी पी सकता है। यह चोररूप या पक्का चोर है। वह चाहे तो आँखों का काजल ले जाय। यह दस्युरूप या वास्तविक दस्यु है। यह भागते हुए का भी खून पी सकता है। ये उदाहरण इन तीनों के स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। वृषल लशुनभोजी और सुरापायी होते थे। समाज उनसे घृणा करता था उनकी स्त्रियों को उपभोग्या बनाने में ग्लानि या पाप का भय नहीं मानता था। वृषल का ताड़न सामान्य बात थी। वे लातों से भी पीटे जाते थे।[5] एक स्थान पर उसे श्वाशास्य अर्थात् कुत्तों द्वारा मरवा डालने योग्य अथवा कुत्तों की मौत मरने योग्य कहा है।[6] पाप क्षेय है और वृषल जेय है, यह सामान्य कहावत थी। वृषल गन्दे भी रहते थे। उनके दाँत काले और मैले होते थे। वृषल एक गाली थी। असूयक यदि अभिवादन के साथ बड़े व्यक्ति का अपमान करता तो वह आशीर्वाद न देकर कहता 'नीच तू असूयक है। तू प्रत्यभिवाद का अधिकारी नहीं। अरे जा वृषल तेरे टुकड़े-टुकड़े[10] हों। जब वृषल की यह स्थिति थी तब ब्राह्मण को ऊँचा और वृषल को नीचा स्थान मिलना स्वाभाविक था।[11] इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं यदि एक साथ नदी पार करने के लिए वृषल और ब्राह्मण पहुँचते तो मल्लाह वृषल को तट पर छोड़कर ब्राह्मण को पहले पार उतार देता था।[12] भाष्य में चोर और वृषल को

---

१ २ ३ १९, पृ० ३५६।

२ ६ २-११ पृ० २५४।

३ २-३-६९, पृ० ३५६ तथा दास्या सम्प्रयच्छते वृषल्या सम्प्रयच्छते। यो हि शिष्ट व्यवहारे ब्रह्मचारिण्या सम्प्रयच्छतीत्येव।—१ ३-५५, पृ० ९१।

४ ५ ३-६६, पृ० ४६०।

५ १ ३ २८, पृ० ९१।

६ ३ १ १०७, पृ० १८४।

७ १ १-५ पृ० ३०५।

८ २-२-८, पृ० ३४३।

९ ८ २-८३, पृ० ३८८।

१० वही।

११ २-२ ११ पृ० ३४५।

१२ २-३-१६, पृ० ४३१।

संतापित करने 'साथ-साथ धिक्कारने' का इस प्रकार उल्लेख मिलता है जैसे चोर और दस्यु के समान वृषल होना ही अपराध या पाप की बात हो।

इस प्रकार, वृषलों की स्थिति शूद्रों से बहुत नीची थी। भाष्य में एक बार भी शूद्र का उल्लेख निरादर के साथ नहीं हुआ है यहाँतक कि निरवसित शूद्रों के प्रति भी कहीं दुर्भावना की गन्ध नहीं मिलती। वृषल की स्थिति भिन्न थी। वृषल पुरुष उच्च वर्णों की लात-गाली के अधिकारी थे और स्त्रियाँ उनकी काम-वृत्ति की तृप्ति का साधन।

आर्य और दास—आर्य और दास इन दोनों का उल्लेख भी भाष्य में कई बार हुआ है। आर्ययुवन्[1] आर्यकृती[2] आर्या आर्याणी[3] आर्यकुमार[4] आर्यनिवास[5] इन शब्दों का प्रयोग आर्यों के सम्बन्ध में मिलता है। उदाहरणों में आर्य और क्षत्रियग्राम[6] साथ-साथ ही[7] आये हैं। इससे अनुमान होता है कि आर्य और क्षत्रिय समीपी अवश्य थे। त्रिवर्ण आर्य कहलाते थे। दास आर्यों से बहिर्गत थे। सम्भवतः वे आर्यक्रीत होते थे और उनपर उनका पूरा अधिकार होता था। दासों का स्तर वृषलों के समकक्ष था। वे नीची नजर से देखे जाते थे पर हेय्य दृष्टि से नहीं। क्रीत और परिक्रीत दासों में अन्तर था। परिक्रीत निश्चित द्रव्य से विशिष्ट काल के लिए नियुक्त कर्मकर होते थे और क्रीत विशिष्ट द्रव्य द्वारा तबतक के लिए, जबतक वह राशि लौटा न दी जाय।[8] इस अवधि में उनके भरण-पोषण का भार उनके आर्य या स्वामी पर रहता था। स्वामी या स्वतन्त्र जन का बोधक अर्य शब्द आर्य से भिन्न था।[9] पाणिनि ने दासी-भार शब्द का उल्लेख किया है।[11] पतंजलि ने इस सब्रा शब्द को बहुवचन माना है।[12] डॉ० वा० श० अग्रवाल के मत से स्वामी द्वारा दासी की प्रसूतावस्था का दायित्व तथा व्यवस्था ही दासी-भार है।[13] अर्थशास्त्र के अनुसार गर्भवती दासी को बिना प्रसव की समुचित व्यवस्था के बेच देना अपराध था।[14] किन्तु, दासी के प्रसव का भार दासी-भार क्यों था। उसे तो दास-भार मानना चाहिए यदि वह गर्भ उसके पति का हो। इस

---

१ २-३-५४ पृ० ४८७।
२ २ ३-२, पृ० ४०५।
३ ८ ४ ११ पृ० ४८०।
४ ४ १ ३०।
५ ४ १ ४९, पृ० ९३।
६ १-२-५८।
७ १-३-१०९, पृ० १५९।
८ ४ १ ४९, पृ० ९१।
९ १ ४ ४४।
१० ३-१ १०३ तथा आर्यस्वामी, वही, पृ० १८२।
११ ६-२ ४८, पृ० ९५९।
१२ वही।
१३ इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि पृ० ७९।
१४ अर्थशास्त्र अनु०, पृ० २०७।

का व्यवहार यद्यपि अशिष्ट माना जाता था तथापि समाज में प्रचलित था और वर्ज्य[1] नहीं था। दासी और वृषली का सादृश्य निम्नता का द्योतक था।[2] भाष्य में कामुकता की पात्री के रूप में अनेक बार दासी और वृषली का साथ-साथ उल्लेख है।[3] दस्यु, चोर और वृषल को नीच स्वभाववाला माना जाता था। वार्तिककार ने प्रशंसा-अर्थ में इन तीनों के आगे रूपम् प्रत्यय कर वृषलरूप दस्युरूप चोररूप इन शब्दों का प्रयोग सामान्य से अधिक वृषल दस्यु या चोर बतलाया है। और फिर यह कहकर कि प्रशंसार्थ में प्रत्यय न करके प्रकृत्यर्थ-वैस्पष्ट्य में प्रत्यय कर देना पर्याप्त बतलाया है और उदाहरण दिया है कि यह वृषलरूप अर्थात् असली वृषल है। यह न केवल प्याज खा ही सकता अपितु उसके साथ सुरा भी पी सकता है। यह चोररूप या पक्का चोर है। यह चाहे तो आँखों का काजल ले जाय। यह दस्युरूप या वास्तविक दस्यु है। यह भागते हुए का भी खून पी सकता है। ये उदाहरण इन तीनों के स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। वृषल अभक्ष्यभोजी और सुरापायी होते थे। समाज उनसे घृणा करता था उनकी स्त्रियों को उपभोग्या बनाने में ग्लानि या पाप का भय नहीं मानता था। वृषल का ताड़न सामान्य बात थी। वे लातों से भी पीटे जाते थे।[5] एक स्थान पर उसे श्वापात्य अर्थात् कुत्तों द्वारा मरवा डालने योग्य अथवा कुत्तों की मौत मरने योग्य कहा है।[6] पाप श्रेय है और वृषल पाप है, यह सामान्य कहावत थी। वृषल गन्दे भी रहते थे। उनके दाँत काले और मैले होते थे।[8] वृषल एक गाली थी। असूयक यदि अभिवादन के साथ बड़े व्यक्ति का अपमान करता तो वह आशीर्वाद न देकर कहता 'नीच तू असूयक है। तू प्रत्यभिवाद का अधिकारी नहीं। अरे जा वृषल तेरे टुकड़े-टुकड़े[10] हों। जब वृषल की यह स्थिति थी तब ब्राह्मण को ऊँचा और वृषल को नीचा स्थान मिलना स्वाभाविक था।[11] इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं यदि एक साथ नदी पार करने के लिए वृषल और ब्राह्मण पहुँचते तो मल्लाह वृषल को तट पर छोड़कर ब्राह्मण को पहले पार उतार देता था।[12] भाष्य में चोर और वृषल को

---

१ २ १-६६, पृ० ४५६।

२ ६-२-११ पृ० २५४।

३ २-१-६६, पृ० ४५६ तथा दास्या सम्प्रयच्छते, वृषल्या सम्प्रयच्छते। यो हि शिष्ट व्यवहारे ब्राह्मणीभ्य सम्प्रयच्छतीत्येव।—१ ३-५५, पृ० ६१।

४ ५ ३-६६, पृ० ४३०।

५ १ ३-२८, पृ० ३५।

६ ३-१ १०७, पृ० १८४।

७ १ १-५० पृ० ३०५।

८ २-२-८, पृ० ३४३।

९ ८-२-८३ पृ० ३८८।

१० वही।

११ २-२-११ पृ० ३४५।

१२ २-३-३६, पृ० ४३१।

संतापित करने 'शाप-शाप चिल्लाने' का इस प्रकार उल्लेख मिलता है जैसे चोर और दस्यु के समान वृषल होना ही अपराध या पाप की बात हो।

इस प्रकार, वृषलों की स्थिति शूद्रों से बहुत नीची थी। भाष्य में एक बार भी शूद्र का उल्लेख निरादर के साथ नहीं हुआ है, यहाँतक कि निरवसित शूद्रों के प्रति भी कहीं दुर्भावना की गन्ध नहीं मिलती। वृषल की स्थिति भिन्न थी। वृषल पुरुष उच्च वर्णों की मान-गाली के अधिकारी थे और स्त्रियाँ उनकी काम-वृत्ति की तृप्ति का साधन।

आर्य और दास—आर्य और दास इन दोनों का उल्लेख भी भाष्य में कई बार हुआ है। आर्यपुत्र[1] आर्यकृती[2] आर्या आर्याणी[3] आर्यकुमार[4] आर्यनिवास[5] इन शब्दों का प्रयोग आर्यों के सम्बन्ध में मिलता है। उदाहरणों में आर्य और क्षत्रिय प्रायः साथ-साथ ही[6] आये हैं। इससे अनुमान होता है कि आर्य और क्षत्रिय समीपी अवश्य थे। त्रिवर्ण आर्य कहलाते थे। दास आर्यों से बहिर्गत थे। सम्भवतः[7] वे आर्यक्रीत होते थे और उनपर उनका पूरा अधिकार होता था। दासों का स्तर वृषलों के समकक्ष था। वे नीची नजर से देखे जाते थे पर हेय दृष्टि से नहीं। क्रीत और परिक्रीत दासों में अन्तर था। परिक्रीत निश्चित द्रव्य से विशिष्ट काल के लिए नियुक्त कमकर होते थे और क्रीत विशिष्ट द्रव्य द्वारा तबतक के लिए, जबतक वह राशि लौटा न दी जाय।[9] इस अवधि में उनके भरण-पोषण का भार उनके आर्य या स्वामी पर रहता था। स्वामी या स्वतन्त्र जन का बोधक अर्य शब्द आर्य से भिन्न था।[10] पाणिनि ने दासी भार शब्द का उल्लेख किया है।[11] पतंजलि ने इस संज्ञा शब्द को बहुवचन माना है।[12] डॉ० वा० श० अग्रवाल के मत में स्वामी द्वारा दासी की प्रसूतावस्था का दायित्व तथा व्यवस्था ही दासी-भार है।[13] अर्थशास्त्र के अनुसार गर्भवती दासी को बिना प्रसव की समुचित व्यवस्था के बेच देना अपराध था।[14] किन्तु, दासी के प्रसव का भार दासी भार क्यों था। उसे तो दास-भार मानना चाहिए यदि वह गर्भ उसके पति का हो। इस

---

१ २-३-५४, पृ० ४२७।
२ २ ३-२, पृ० ४०५।
३ ८ ४ ११, पृ० ४८०।
४ ४ १ ३०।
५ ४ १ ४९, पृ० ६३।
६ ६ २-५८।
७ ६ ३ १०९, पृ० १५९।
८ ४ १ ४९, पृ० ३३।
९ १ ४ ४४।
१० ३ १ १०३ तथा आर्यस्वामी, वही, पृ० १८२।
११ ६-२ ४८, पृ० २५९।
१२ वही।
१३ इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि पृ० ७९।
१४ अर्थशास्त्र अनु० पृ० २०७।

स्थिति में पति उसका भारवाह होता स्वामी नहीं। यदि दोनों स्वामी की चर्या में होते तो भी वह भार दास भार कहलाता क्योंकि एक तो स्वामी की अपेक्षा उसका दायित्व दास पर अधिक होता। दूसरे यदि वह भार दोनों के कारण स्वामी पर होता तो भी पुंस्त्व की प्रधानता के कारण तत्पुरुष समास में दास भार शब्द का ही प्रयोग होता। फिर, दास की बीमारी या मृत्यु के व्यय का भार भी तो स्वामी पर ही रहता था। ऐसी स्थिति में दास भार शब्द का व्यवहार भी मिलना चाहिए था। दासी-भार शब्द संज्ञा अर्थात् किसी विशेष भार का बोधक है और वह भार ऐसा था जो दासी का ही हो सकता था दास का नहीं। वह भार निश्चय ही उसकी प्रसूति का था। दासी प्रसूत सन्तान के पालन-व्यय का भार स्वामी को ही वहन करना पड़ता था क्योंकि वह सन्तान स्वामी की होती थी। यदि स्वामी द्वारा दासी से सन्तान उत्पन्न हो तो उसका भार स्वामी को वहन करना चाहिए, यह राजकीय व्यवस्था थी और इस दायित्व से बचने के लिए वह दासी को बिना प्रसव और प्रसूति की समुचित व्यवस्था किये किसी अन्य के हाथ नहीं बेच सकता था। अर्थशास्त्र में वर्णित दण्ड इस नियम का उल्लंघन करनेवालों के लिए ही है। स्वामी द्वारा दासियों से सन्तान होना पतंजलि-काल में साधारण बात थी। भाष्यकार ने दासियों के प्रति स्वामियों की कामुक-वृत्ति का बार-बार जो उल्लेख[1] किया है, उसके प्रकाश में 'दासीभार' शब्द का अर्थ और स्पष्ट हो जाता है। स्वामियों से दासी में उत्पन्न सन्तानों को दासेर कहते थे[2] और यही वह भार था जिसका दायित्व स्वामी पर रहता था। यही कारण था कि 'दास्याः पुत्र' शब्द गाली माना जाता था। भाष्य में 'दासभार्य' का एकाधिक बार उल्लेख है।[3]

आदर्श पर्वत से पूर्व कालक वन से पश्चिम हिमालय से दक्षिण और पारियात्र के उत्तर का प्रदेश आर्यावर्त माना जाता था। इस प्रदेश के निवासी आर्य कहलाते थे। इस प्रदेश को भाष्यकार ने आर्य-निवास कहा है। दास कर्मकर आर्यों के घरेलू नौकर होते थे जिनकी स्थिति अन्य शिल्पी वैतनिकों से कहीं नीची थी। इन्हें स्वामी से भोजन वस्त्र और यथा-तथा परिभाषा (डाँट डपट) प्राप्त होती थी।[4] जनपद-निवासियों के जो नाम जनपद के आधार पर होते थे उनमें भी दासों तथा अन्य जनों के बीच अन्तर किया जाता था।[5]

---

१ ३ ३-९५, पृ० ६६ तथा २-३ ६६, पृ० ४५६।
२ ४-१ ११४, पृ० ११८।
३ २-१ १ पृ० २३०।
४ ६ ३-१०६, पृ० ३५२।
५. ३ १ २६, पृ० ७०।
६. ४-१ १६८, पृ० ११२।

अध्याय ३

संस्कार

भाष्य में नामकरण, चूडाकर्म और उपनयन-संस्कारों का ही स्वतन्त्र रूप से उल्लेख मिलता है। गर्भ, प्रजनन, प्रसव, गर्भकालीन स्वास्थ्य, गर्भ को पिण्डीभूत रूप से 'इदमित्थम्' किया सकने की अक्षमता आदि की अनेकत्र चर्चा होने पर भी संस्कार के रूप में गर्भाधान का वर्णन भाष्य में उपलब्ध नहीं होता और न पुंसवन, सीमन्तोन्नयन आदि की ही उसमें चर्चा है।

नामकरण—नाम जन्म से दस दिन बाद रखा जाता था। दस दिन तक अशौच मनाया जाता था। भाष्यकार का 'दशाम्युत्तरकालं जातस्य पुत्रस्य नाम विदध्यात्' (भा० १ पृ० ९) कथन शतपथ-ब्राह्मण की प्रतिध्वनि-मात्र है।[1] नाम माता और पिता मिलाकर निश्चित करते थे।[2] एतदर्थ न कोई बड़ा उत्सव किया जाता था और न विशेष मण्डप बनाया जाता था। नामकरण माता और पिता मिलकर घर के भीतर ही 'संवृत अवकाश' में कर लेते थे।[3]

नाम रखने के विशिष्ट नियम थे। नाम का प्रारम्भ घोषवद्[4] व्यंजन से होता था। मध्य में अन्तःस्थ व्यंजन रहता था। वृद्ध अक्षर रहित तीन पीढ़ियों के नाम के अनुसार, शत्रुवर्ग में अप्रतिष्ठित दो या चार अक्षरवाला कृदन्त नाम श्रेष्ठ माना जाता था। तद्धितान्त नाम नहीं रखा जाता था। पारस्कर गृह्यसूत्र (१ १७-१) तथा वासिष्ठ धर्मसूत्र (अध्याय ४) में भी इस कथन का समर्थन मिलता है। आश्वलायन में द्व्यक्षर को प्रतिष्ठा तथा चतुरक्षर को ब्रह्मवर्चस् का दायक बतलाया है।[5] पारस्कर[6] और बैजवाप[7] ने कन्या के नाम के लिए पृथक नियम दिये हैं किन्तु भाष्यकार इस विषय में मौन हैं।

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य नामों में भी अन्तर रहता था। ब्राह्मण नामों के अन्त में दत्तादि, क्षत्रिय नामों के अन्त में 'वर्मन्' और वैश्य नामों के अन्त में पालितादि वर्णबोधक शब्द रखे जाते थे। प्रत्यभिवादेऽशूद्रे (८-२-८३) सूत्र के वार्तिक 'भो राजन्यविशां वा' की व्याख्या में भाष्यकार

१ तस्मात् पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात्।—शत० ब्रा० ६-१ ३-९।

२ वीरमित्रोदयसंस्कार प्रकाश भाग १, पृ० २४१ में उद्धृत बैजवाप।

३ लोके तावन्मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकाशे नाम कुर्वाते देवदत्तो यज्ञदत्त इति।—१ १ १, पृ० ३५।

४ घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितं तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नामकृतं कुर्यान्न तद्धितम्।—भा० १, पृ० ०९।

५. आश्व० गृ० सू० १ १५-५।

६. पार० गृ० सू० १ १७-३।

७. व्यक्षरमीकारान्तं स्त्रियाः।—बैज० वीरमित्रो० भाग १, पृ० २४१।

द्वारा दिये गये उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है। शूद्रों के नाम तुपजक आदि क्षुद्रत्वबोधक होते थे। मनु के मत से ब्राह्मण का नाम मांगल्य क्षत्रिय का बलान्वित वैश्य का धन-संयुक्त और शूद्र का जुगुप्सित होना चाहिए।[1] व्यास के अनुसार ब्राह्मण का नाम शर्मान्त क्षत्रिय का वर्मान्त वैश्य का गुप्तान्त और शूद्र का दासान्त होना चाहिए।[2] भाष्य में शर्मान्त और दासान्त नामों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। मनुस्मृति-काल तक आते-आते वर्णों का पारस्परिक अन्तर बहुत बढ़ गया जान पड़ता है। भाष्यकाल में अन्तर की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जाता था। भाष्य में उल्लिखित सैकड़ों नामों में इन नियमों का अनुसरण नहीं है। इसी प्रकार, परवर्ती काल में प्रचलित नक्षत्र मासदेवता और कुलदेवता के नाम पर रखे गये तथा लोक-विदित इन चौहरे नामों की भी भाष्य में चर्चा नहीं है। नक्षत्र नाम पर रखे गये नामों का उल्लेख भाष्य में अवश्य है किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरे लोक-विदित नाम का संकेत भाष्य में नहीं मिलता। गृह्यसूत्रों को भी नक्षत्र-नाम तथा लोक-नाम ये दो ही इष्ट थे। स्मृतियों तथा ज्योतिष-ग्रन्थों में अन्य दो नामों की भी चर्चा है। इस युग में प्रत्येक काल-विभाग का एक स्वतन्त्र देवता माना जाने लगा था। आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र (१ १५ ४) में नक्षत्र और नक्षत्र-देवता के नाम पर नाम रखने का विधान है। शंख और लिखित ने पिता या अन्य कुल-वृद्ध को नक्षत्रों से सम्बद्ध नाम रखने का आदेश[3] दिया है। यह दूसरा नाम है। बौधायन गृह्यसूत्र में नक्षत्र-नाम को गुह्य कहा है। इसे केवल माता-पिता या परिवार के लोग ही जानते थे। आश्वलायन के अनुसार इस नाम को उपनयन-काल तक अभिवादन के समय बोला[4] जाता था। पाणिनि ने नक्षत्र के आधार पर रखे जानेवाले नामों के सम्बन्ध में नियम[5] दिये हैं। कात्यायन और पतंजलि के समय तक आते-आते इस प्रकार के नामों में विविधता उत्पन्न हो गई थी। उदाहरणार्थ श्रविष्ठा या आषाढा नक्षत्र में उत्पन्न होनेवाले के नाम श्रविष्ठ या श्राविष्ठीय और आषाढ या आषाढीय दोनों हो सकते थे। इसी प्रकार, पतंजलि के समय में लड़कियों के नाम भी नक्षत्रों पर रखे जाने लगे। महाभाष्य में चित्रा रेवती रोहिणी फल्गुनी आदि कन्याओं के नाम मिलते हैं।

गार्ग्य और शंख द्वारा प्रतिपादित मासदेवता और कुलदेवता से सम्बद्ध नामों का प्रचार पतंजलि-काल में नहीं था। नक्षत्र-देवताओं से सम्बद्ध नाम भाष्य में अवश्य आए हैं। नक्षत्र तथा उनसे सम्बद्ध देवता निम्नलिखित माने जाते थे—

---

१ मनु० २ ३१।

२ व्यास राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार, पृ० ११८ पर उद्धृत।

३ नक्षत्रनामसम्बद्धं पिता वा कुर्यादन्यो वा कुलवृद्ध इति—वीर० मि० संस्कार प्र भाग १, पृ० २१७ पर उद्धृत।

४ नक्षत्रनामधेयेन द्वितीयं नामधेयं गुह्यम्।—बौधा० गृ० सू०, वीरमित्रो०, भाग २, पृ० २३७ पर उद्धृत।

५ आश्व० गृ० सू० १ १५ ९।

६. ४ ३-३४ तथा ८ ३-१००।

७ ४-३-३४ पृ० २१२।

नक्षत्र	देवता	नक्षत्र	देवता
अश्विनी	अश्वि	स्वाति	वायु
भरणी	यम	विशाखा	इन्द्राग्नि
कृत्तिका	अग्नि	अनुराधा	मित्र
रोहिणी	प्रजापति	ज्येष्ठा	इन्द्र
मृगशिरस्	सोम	मूल	निऋति
आर्द्रा	रुद्र	पूर्वाषाढ़ा	आप्
पुनर्वसु	अदिति	उत्तराषाढ़ा	विश्वेदेवा
पुष्य	बृहस्पति	श्रवण	विष्णु
आश्लेषा	सर्प	धनिष्ठा	वसु
मघा	पितृ	शतभिक	वरुण
पूर्वाफल्गुनी	भग	पूर्वभाद्रपद	अजैकपाद
उत्तराफल्गुनी	अर्यमन्	उत्तरभाद्रपद	अहिर्बुध्न्य
हस्त	सवितृ	रेवती	पूषन्
चित्रा	त्वष्टा		

चूडाकर्म—चूडाकर्म को भाष्यकार ने चौल (चोड) संस्कार कहा है।[1] यद्यपि इसके विषय में विशेष विवरण भाष्य में नहीं मिलता फिर भी अन्यत्र उद्धरणों से इतना स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति कभी मुण्डी कभी जटी और कभी शिखी हो सकता था।[2] मुण्डन प्रायः सम्पूर्ण सिर का करा दिया जाता था। कभी-कभी शिखा शेष रख दी जाती थी किन्तु शिखा का होना अनिवार्य नहीं था। सम्पूर्ण मुण्डन के लिए ही 'भद्राकरोति' या 'मद्राकरोति' शब्द भाष्य में आये हैं। सम्भवतः मुण्डी और जटी के समान शिखी होना भी एक केश+भूषा-प्रकार था। शिखा एक से अधिक भी हो सकती थी। उनकी संख्या प्रवरों के अनुसार होती थी।[3] आश्वलायन (१ १७) के अनुसार कुलधर्म के अनुकूल केश बनवाने की प्रथा थी।[4] लौगाक्षी के अनुसार वशिष्ठगोत्रीय लोग शिरो-मध्य-भाग में एक शिखा रखते थे। अत्रि और कश्यप वंशों के लोग दोनों ओर दो शिखाएँ धारण करते थे। आंगिरस् लोगों के पाँच शिखाएँ थीं। भृगुवंशीय बिना चोटी के अर्थात् सर्वमुण्डित रहते थे।

चूडाकर्म का बहुत महत्त्व था, क्योंकि उसके बाद बालक को लिखना-पढ़ना प्रारम्भ

---

१ चूडा प्रयोजनमस्य चौडम्।—५ १ ९७, पृ० ३५४।
२ देवदत्तो जटयपि मुण्ड्यपि शिख्यपि स्वामाख्यां न जहाति।—१ १ ६, पृ० १०५।
३ ४ १-५४, पृ० ६६।
४ ५ ४ ६७, पृ० ४९८।
५ यथर्षि शिखां निदधाति।—आश्व० गृ० सू० १६-६ तथा बराह गृ०सू०, अ० ४।
६ यथाकुलधर्मं केशवेशान् कारयेत्।—आ० गृ० सू० १ १७।
७ वीरमित्रो०, भाग १, पृ० ३१५ पर उद्धृत।

कराया जाता था। चाणक्य ने भी लिपि और संख्यान का प्रारम्भ चूडाकर्म के बाद बताया है। भाष्यकार ने चूडाकर्म का समय नहीं बतलाया है। आश्वलायन के अनुसार तृतीय पंचम सप्तम या अष्टम वर्ष में अथवा उपनयन के साथ ही चूडाकर्म करना चाहिए।[1] पारस्कर और मनु प्रथम या तृतीय वर्ष का अन्त चूडाकर्म का समय बतलाते हैं।[2]

उपनयन—भाष्यकार ने गर्भ से अष्टम वर्ष में उपनयन का विधान किया है और कहा है कि एक बार उपनयन करने के बाद फिर उपनयन की आवश्यकता नहीं होती। उन्होंने इसे संस्कार कहा है और शास्त्र की आज्ञा[3] से उपनयन का विधान किया है। रथकार का उपनयन वर्षाकाल में होता था।

विवाह—विवाह की गणना सभी सूत्रकारों ने संस्कारों के अन्तर्गत की है। गृह्यसूत्र तो प्रायः विवाह-विधि से ही प्रारम्भ होते हैं और गर्भाधान पुंसवन सीमन्तोन्नयन आदि के वर्णन करते हुए समावर्तन पर ठहरते हैं। भाष्य में १-३ १९ सूत्र की व्याख्या में विवाह का उल्लेख है। इसके लिए स्वकरण और उपयमन शब्दों का भी व्यवहार हुआ है। प्रत्येक विवाह वर वधू के पारस्परिक पाणि-ग्रहणपूर्वक स्वकरण द्वारा सम्पन्न होता था। इसलिए, भार्या पाणिगृहीती[4] कही जाती थी। इस विषय की विशेष चर्चा नारी के प्रकरण में हुई है।

वर प्रयुक्त था

२-१ १, २ तथा

११६ तथा ११७।

वर्षासु — टीका०

अध्याय ४

आश्रम

चातुराश्रम्य—भाष्य में जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग आश्रम कहलाता था। चारों आश्रमों को 'चातुराश्रम्य'[1] कहते थे। पतंजलि ने इन चारों आश्रमों का पृथक्-पृथक् उल्लेख न करके उनके कर्तव्यों एवं जीवन-चर्या पर ही यत्र-तत्र विचार व्यक्त किये हैं।

ब्रह्मचारी—प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य[2] था, जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। ब्रह्मचर्य में दीक्षित बालक ब्रह्मचारी कहलाता था। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे दण्डमाणव[3] और अन्तेवासी[4]। दण्डमाणव अल्पायु और निम्नकक्षा के तथा अन्तेवासी बड़ी आयु एवं उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले ब्रह्मचारी होते थे। त्रिवर्ण में प्रत्येक बालक का उपनयन-संस्कार सोलह वर्ष की आयु के भीतर कर दिया जाता था। आयु की मर्यादा का यह अन्तिम छोर था। सामान्यतया उपनयन बारह वर्ष की आयु के भीतर हो जाता था। ब्राह्मण का उपनयन तो गर्भ के आठवें वर्ष में ही हो जाता था। उपनयन करनेवाले को आचार्य कहते थे। इसीलिए, उपनयन-कर्म का दूसरा नाम आचार्यकरण भी था।[5] उपनयन का अर्थ है, उपनेता माणवक को ऐसी विधि से पास लाता था जिससे वह उसका आचार्य बन जाता था। इसीलिए, उपनयमान और आचार्य पर्याय थे। उपनयन के बाद माणवक दण्डमाणव बन जाता था। उसकी यह संज्ञा पलाश-दण्ड या आषाढ[6] हाथ में रखने के कारण थी। दण्डमाणव और अन्तेवासी प्रायः कमण्डलु भी अपने साथ रखते थे।[7] हिन्दी में 'दण्ड-कमण्डल उठाकर चल देना' यह मुहावरा ब्रह्मचारी के इन दो उपलक्षणों के आधार पर ही बना है। माणव और ब्रह्मचारी मुण्डित होते थे। मुण्डित करने की क्रिया 'भद्राकरण'

---

१ ५ १ १२४ पृ० ३६४।

२ ५ १ ९४।

३ ४ ३ १३० काशिका।

४. वही।

५. धर्माय्मेप्सो माणवक उपनेयः इति माणवकमुपनीय कृतः शास्त्रार्थ इति कृत्वा पुनः प्रवृत्तिर्न भवति।—१ १-८४ पृ० ११६।

६. १ ३ ३६ काशिका।

७ ३-१ १००, पृ० १८२।

८. ५ १ ११०।

९. १ ४-८२, पृ० २०१।

या 'परिव्राजक' कहलाती थी।[1] बौद्ध और जैन ब्रह्मचारी श्रमण कहलाते थे। भाष्यकार के समय में श्रमणों के भी विहार या शिक्षा-प्रतिष्ठान विद्यमान थे किन्तु उनमें और ब्राह्मणों में शत्रुभाव चला करता था। यह शत्रुभाव इस चरम सीमा तक था कि भाष्य में उसे काकोलूकीय विरोध के समान शाश्वतिक कहा है।[2]

ब्रह्मचारी को अन्तेवासी[3] कहते थे। वह 'चरण' या वैदिक शाखा के विद्यालय में रहकर अध्ययन करता था। चरण वैदिक अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान के केन्द्र थे। उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी ही, जो व्याकरणादि का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर चुकते थे, चरणों में प्रविष्ट होते थे। ब्रह्म वेद को कहते हैं। उसके लिए किया जानेवाला व्रत ही ब्रह्म कहलाता था। इस ब्रह्म-व्रतवाले की संज्ञा ब्रह्मचारी थी।

ब्रह्मचर्य की अवधि—व्रत की अवधि लक्ष्य के अनुसार भिन्न थी। कुछ लोग सारा जीवन ही निष्कारण अर्थात् निःस्वार्थ वेदाध्ययन में लगा देते थे। ये ब्रह्मचारी नैष्ठिक होते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारी अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत लेते थे।[4] इस प्रकार, वे आठवें वर्ष में उपनीत होकर छप्पन वर्ष की आयु तक अध्ययन करते थे। सामान्यतया एक वेद के अध्ययन में बारह वर्ष लगते थे। ब्रह्मचारी द्वादशवार्षिक, वार्षिक, मासिक और अर्धमासिक भी होते थे। ये वे लोग होते थे जो किसी विशेष विषय के अध्ययन के निमित्त दीक्षित होकर कुछ समय चरण में रहते थे। चरणों में इस प्रकार की व्यवस्था थी कि कोई थोड़े समय के लिए भी दीक्षित होकर रह सके। *उदाहरणार्थ कोई 'विदामघवन्' (ऐत० आर० ४) इत्यादि तथा आममापा* मव० (तै० आ० १ १) इत्यादि में पाँच महानाम्नी संज्ञक ऋचाओं के अध्ययन के लिए ही चरण में प्रवेश ले लेता था और उनका अध्ययन समाप्त कर चला जाता था। महानाम्नी ऋचाओं के लिए किया गया व्रत महानाम्नी कहा जाता था। ऋचाओं के साहचर्य के कारण व्रत को भी महानाम्नी कहते थे। इस व्रत में दीक्षित ब्रह्मचारी माहानाम्निक[6] कहलाता था। इसी प्रकार आदित्य साम (जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण) का व्रत लेनेवाले को आदित्यव्रतिक ब्रह्मचारी कहते थे। भाष्य में अवान्तरदीक्षी और तिलव्रती ब्रह्मचारियों का भी उल्लेख है। अवान्तर दीक्षी एक वेद के हेतु निश्चित अवधि के अन्तर्गत मध्यवर्ती काल के लिए दीक्षित ब्रह्मचारी थे।

---

१ ५ ४ १७, पृ० ४९८।

२ २-४ १२, पृ० ४६७।

३ ४ ३-१३० काशिका।

४ ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं व्रतं तदपि ब्रह्म। तच्चरतीति ब्रह्मचारी।—८ ३-८६ काशिका।

५ वही वा० ४।

६. तदस्य ब्रह्मचर्यमिति महानाम्न्यादिभ्य उपसंख्यानं कर्तव्यम्। महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यं माहानाम्निकम्, आदित्यव्रतिकम्। महानाम्नीश्चरति माहानाम्निकः, आदित्यव्रतिकः। नैव युक्तो निर्देशस्तच्चरतीति। महानाम्न्यो नामतो ऋचः तासां चर्यते व्रतं तासां चर्यते। नैष दोषः साहचर्यात्ताच्छब्द्यं भविष्यति। महानाम्नी सहचरितं व्रतं महानाम्न्यो व्रतम्।—५ १ ९४, पृ० ३४१।

मासिक से अष्टचत्वारिंशक या अष्टचत्वारिंशी तक ब्रह्मचारी चरणों में प्रविष्ट होते थे।[1] कालविषयक ये उदार नियम इस बात के परिचायक हैं कि चरणों के द्वार प्रत्येक सत्यान्वेषी के लिए सदा खुले रहते थे।

वर्णी—ब्रह्मचारी त्रैवर्णिक ही होते थे। इसीलिए उन्हें वर्णी कहते थे। 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' (५ २ १३४) सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने कहा है कि ब्रह्मचारी त्रैवर्णिक ही समझना चाहिए। वही विद्याग्रहण के लिए उपनयन के बाद ब्रह्मचर्या करता है। ब्राह्मणादिक तीन वर्णों को ही वर्णी कहते हैं।[2] वर्णी लोग किसी-न-किसी आम्नाय का अध्ययन करते थे। प्रत्येक आम्नाय का नाम उसके आचार्य के नाम पर प्रचलित था। जैसे काठक (कठ) मौदक (मोद), कालापक (कलाप) पैप्पलादक (पिप्पलाद) छान्दोग्य (छन्दोग) आदि।[3] एक विषय या वेद का अध्ययन करनेवाले सभी वर्णी ब्रह्मचारी[4] कहलाते थे और एक ही चरण में रहकर पढ़नेवाले[5] सतीर्थ्य।

मानव माणव और माणवक—माणव कुत्सित (विहित कर्म न करनेवाले और निषिद्ध कर्मवाले) तथा मूढ़ (विद्याविहीन) मानव को कहते थे। मानव (मनु की सन्तान) और माणव में इतना ही भेद था।[6]

भाष्यकार ने माणव और माणवक में अन्तर किया है। छोटा माणव माणवक कहलाता था। आठ वर्ष से कम आयु के बालक को माणवक या माणविका (स्त्री) कहते थे। माणवक घर पर रहते और खेलते कूदते थे। इनके नाम पिता के नाम पर पड़ जाते थे। जैसे काष्टाहुति का पुत्र माणवक काष्टाहुत[7] या चपमु की पुत्री चापमवी माणविका।[8] खेलना-कूदना इनका मुख्य काम था।[10] ये बड़े चपल और अधीर होते थे[11] इसलिए इन्हें धैर्यवान बनाने का प्रयत्न किया जाता था। माणवक जब कुछ बड़े होते थे, तब उनका उपनयन कर उन्हें आचार्य के पास भेज दिया जाता था। ये लोग वेदाध्ययन की तैयारी करते थे। भिक्षा माँगने जाते थे। भाष्यकार ने

---

१ ५ १-९४, पृ० १४१।
२ ५ २-१३४ काशिका।
३ ४ ३ १२६ तथा ४ ३ १२० पृ० २५२।
४ ८ ३-८६, पृ० १५४।
५ ६ ३-८७।
६ अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिध्यति माणवः॥—४ १ १६१ पृ० १५३।
७. १ ३-२१, पृ० ६२।
८ १ ३-२९, पृ० ६२।
९ १ २-४१, पृ० ५१८।
१० ५ ४ १५४, पृ० ५१५।
११ अनाम्नायस्य माणवकः॥—१ ३-२१, पृ० ६२।

इन्हें 'अनूच'[1] कहा है। माणवक बाल रखते थे[2] किन्तु माणवों के बाल मुंडा दिये जाते थे।

ब्रह्मचर्य का पतन—पतंजलि के समय में ब्रह्मचारियों में चरित्रहीनता भी विद्यमान थी। पाणिनि ने स्वयं भौमों अन्तेवासियों माणवकों और ब्राह्मणों के निन्दनीय कृत्यों का उल्लेख किया है। पतंजलि ने इस प्रसंग में उदाहरण नहीं दिये हैं, किन्तु काशिकाकार के उदाहरण पतंजलि-काल से चले आनेवाले परम्परागत उदाहरण ही हैं जिनसे स्पष्ट है कि कुछ ब्रह्मचारी कुमारी घृत ओदन आदि के लोभ से विशिष्ट चरणों में प्रवेश कर लेते थे। कोई कुमारी प्राप्ति के लोभ से दाक्ष आम्नाय पढ़ता था तो कोई घृत के लालच से रौढि का शिष्य बन जाता था। दाल-भात के लोभ से ही कुछ ब्रह्मचारी पाणिनीय व्याकरण पढ़ने लगते थे। छोटे लड़के भिक्षा के लोभ से माणव बन जाते थे।[3]

ब्रह्मचर्य की साधना योग[4] मानी जाती थी। एक गुरुकुल में जाकर व्रत-समाप्ति तक अध्ययन करनेवाला या उच्च कक्षा का विद्यार्थी अन्तेवासी कहलाता था। जो विद्यार्थी बार बार गुरुकुल बदलते रहते थे वे निन्दित माने जाते थे और उन्हें तीर्थकाक या तीर्थध्वांक्ष[5] कहते थे। कुछ-कुछ ब्रह्मचारी अध्ययन-समाप्ति के पूर्व ही बिना स्नातक बने और बिना गुरु की आज्ञा लिये अध्ययन छोड़कर घर लौट जाते थे और गृहस्थ बन जाते थे। यह बात परम्परा के विरुद्ध थी। नियम यह था कि अध्ययन समाप्त कर *समावर्तन-संस्कार* के बाद (जो विशेष स्नान तथा समारम्भ के साथ मनाया जाता था और जिसके कारण ही अपोती ब्रह्मचारी स्नातक और स्नायी कहलाता था) ब्रह्मचारी गुरु से आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। जो ऐसा न कर व्रत को खण्डित कर डालता था उसे खट्वारूढ़[6] कहते थे। यह वचन निन्दा का वाचक था।

गृहस्थाश्रम—ब्रह्मचर्य के बाद दूसरा आश्रम गृहस्थ या गृहपति का था। गृह में प्रवेश के अवसर पर यज्ञादि धार्मिक संस्कार किया जाता था। इस संस्कार के अवसर पर प्रयुक्त होनेवाले मन्त्र गेहानुप्रवेशनीय कहे जाते थे। आश्रम में प्रवेश करनेवाले को गृहपति कहते थे। प्रत्येक गृहपति के लिए प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करना आवश्यक था। प्रत्येक घर

---

१ ५ ४-१५४, पृ० ५१९।
२ १ २ ५९, पृ० ५११।
३ ६ २ ६९ काशिका।
४ ३-१-८७, पृ० १५५।
५ यथा तीर्थे काका न चिरं स्थातारो भवन्त्येवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति।—२ १ ४२, पृ० २९५।
६ अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वा रोढव्या। य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढोऽयं जाल्मः।—२-१-२६, पृ० २८१।
७ ५ १ १११, पृ० ३४५।
८ ४ १ ३३, पृ० ५१।

में आठों पहर यज्ञाग्नि जाग्रत् रहती थी। यह अग्नि गार्हपत्य कहलाती थी।[1] गृह का एक भाग इसके लिए नियत रहता था जिसे आवसथ कहते थे। आवसथ[2] की शुद्धता पवित्रता का ध्यान रखा जाता था। मूत्रादि क्रियाएँ उससे दूर की जाती थीं। आवसथ में रहने के कारण ही गृहस्थ का नाम आवसथिक[3] भी था। आवसथ की यज्ञाग्नि का नाम आवसथ्य था। गृहस्थ का प्रमुख यज्ञ पत्नी-संयाज था, जिसका सम्पादन वह पत्नी के साथ करता था और इस यज्ञ में भाग लेने के कारण ही भार्या का नाम पत्नी भी था। पत्नी-संयाज में बोले जानेवाले मंत्रों का नाम भी गृहपति ही था। यों गृहस्थ का सम्बन्ध दक्षिणाग्नि से भी था क्योंकि वह पत्नी-संयाज के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से यज्ञ करता था किन्तु उसका मुख्य यज्ञ पत्नी-संयाज ही था।

पतंजलि-काल में परिवार सामान्यतया संयुक्त था। परिवार के वृद्ध पुरुष या पिता के जीवन-काल में पुत्र-पौत्र उनके अधीन या अस्वतन्त्र रहते थे। यदि कोई पिता के जीवन-काल में स्वतन्त्र आचरण करता तो उसे निन्दित या कुत्सित माना जाता था। यदि वह पुरुष वत्स या गर्ग गोत्र का हुआ तो लोग कहते थे 'जाल्म तुम वात्स्य हो जाल्म तुम गार्ग्य हो। अर्थात्, तुम्हें गर्ग या वत्स की सन्तान होना शोभा नहीं देता'[5] ऐसे अपवाद बहुत कम थे। परिवार भरे-पूरे और पुत्र-पौत्र-सम्पन्न थे। सप्रजस् और बहुप्रजस् परिवारों का बाहुल्य था यद्यपि अप्रजस् (सन्तान हीन) एवं दुष्प्रजस् परिवार भी थे।[6] जिस व्यक्ति के पुत्र-पौत्र जीवित होते थे, वह पुत्रपौत्रीण कहा जाता था।[7] पुत्र माता के नाम पर भी पुकारे जाते थे—यथा गार्गीपुत्र। गार्गीपुत्र की सन्तान गार्गीपुत्रकायणि गार्गीपुत्रायणि या गार्गीपुत्रि कही जाती है। परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति वृद्ध या वंश्य कहा जाता[8] था। पुत्र और पौत्र के आगे की सन्तान गोत्र[9] कही जाती थी, किन्तु यदि घर में प्रपितामह पितामह पिता ज्येष्ठ भ्राता या अन्य ज्येष्ठ पुरुष जीवित रहता तो पौत्रादि की सन्तान युवा कहलाती थी।[10] एक गोत्र के लोगों में सपरिवारता का भाव था। इसीलिए यदि स्थविरतर सपिण्ड भी जीवित होता तो भी सन्तान युवा कहलाती थी। घर में बड़ा व्यक्ति स्थविर कहलाता था। युवा कहलाना गौरव की बात मानी जाती थी। इसीलिए,

---

१ ४४-९०, पृ० २८९।

२ ४४-७४।

३ दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।—२-१-३६, पृ० ४१०।

४ ४-४-९०, पृ० २८९।

५ पितुर्यो लोके व्यपदेशस्तस्मात्स्वातन्त्र्येण भवितव्यम्। य इदानीं पितृमान् स्वतन्त्रो भवति स उच्यते गार्ग्य त्वमसि जाल्म। न त्वं पितृतो व्यपदेशमर्हसि।—४-१ १६२, पृ० १५५।

६ ५ ४ १२२, २३।

७ ५-२ १०।

८ ४-२-१५१।

९ ४-१ १६३ पृ० १५५।

१० वही ४ १ १६२, पृ० १५४।

११ ४-१ १६३, १४, १५, पृ० १५५ से १५७।

वृद्ध को भी सम्मान प्रदर्शित करने के लिए युवा कह देते थे। जैसे श्रीमान् वात्स्यायन या श्रीमान् गार्ग्यायण। सामान्यतया वृद्ध गार्ग्य और युवा गार्ग्यायण पुकारे जाते थे।[1] ये सब बातें संयुक्त परिवार प्रथा तथा रक्त-सम्बन्ध के महत्त्व को प्रतिपादित करती हैं।

परिव्राजक—सर्वस्व को छोड़कर चले जानेवाले प्रव्रजित या परिव्राजक कहलाते थे। ये अपने साथ त्रिविष्टब्धक रखते थे। त्रिविष्टब्धक परिव्राजक का परिचायक था। जिस प्रकार धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है उसी प्रकार त्रिविष्टब्धक से परिव्राजक की उपस्थिति का अनुमान किया जा सकता था।[2] त्रिविष्टब्धक तीन काष्ठ-खण्डों को एक साथ रस्सी से बाँधकर तिपाई के समान बनाया जाता था।[3] भाष्यकार ने शंकरा नामक परिव्राजिका[4] तथा मस्करी परिव्राजकों की चर्चा की है।[5]

भिक्षु—भिक्षुओं का उल्लेख भाष्य में परिव्राजक की अपेक्षा अधिक हुआ है। भिक्षु सर्वस्व का परित्याग कर भिक्षा के सहारे जीवन बिताते थे। इन लोगों के आश्रम का नियामक एक सूत्रग्रन्थ था जिसके प्रणेता पाराशर्य थे।[6] एक भिक्षुसूत्र कर्मन्दक का भी था। इन दोनों के अनुयायी क्रमशः पाराशरी[7] और कर्मन्दी कहलाते थे। सम्प्रदाय-परम्परा के अनुसार वे स्थण्डिलशायी होते थे। यह भिक्षुव्रत था। इसलिए, भिक्षु स्थण्डिल कहलाते थे।[8] वे चलते समय इधर-उधर न देखकर पैरों पर दृष्टि गड़ाये केवल कुक्कुटी-पात भर भूमि को देखते चलते थे। दृष्टि-संयम भी उनकी साधना का एक अंग था। इन अविक्षिप्तदृष्टि भिक्षुओं को इसी कारण कौक्कुटिक[9] कहते थे। भिक्षु के लिए बस्ती से दूर अरण्य में रहने का विधान था। कुछ भिक्षु बस्ती से अलग किन्तु बस्ती के पास रहते थे। ये नैकटिक कहे जाते थे।[10] भिक्षु की जीविका का आधार भिक्षा थी। भिक्षा में उन्हें सभी प्रकार के अन्न प्राप्त होते थे। सर्वान्न भक्षण करने के कारण भिक्षु सर्वान्नीन[11] कहलाते थे।[12] इस साधन चर्या ने उन्हें समाज प्रतिष्ठा का पात्र बना दिया

---

१ ४-१ १६३, पृ० १५५, १५६।

२ २-१ १ पृ० ३४३।

३ यथा तर्हि त्रिविष्टब्धकं। तत्राप्यन्ततः धूमं भवति।—१ १ १ पृ० १०२।

४ ३-२-१४ पृ० ११२।

५ ६-१ १५४, पृ० १९१।

६ ४-३ ११०।

७ ४ ३-१११।

८ ४ २ १६, पृ० ११३।

९ ४ २-१६, पृ० ११३ तथा ४ २-१५ काशिका।

१० वैसस्यापस्तथा हि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिः पादविक्षेपदेशे चक्षुः संयम्य गच्छति स उच्यते कौक्कुटिक इति।—४ ४ ४६ काशिका।

११ ४-४-७३ काशिका।

१२ ५ २ ९, पृ० ३६९।

१३ ५ १ ११३, पृ० ३४६।

था। भाष्य में उसे क्रोशशतिक कहा है, अर्थात् भिक्षु का अभिगमन सौ कोस पहले से करना चाहिए, यह सामाजिक मर्यादा थी।[1]

महाभाष्य में परिव्राजक और भिक्षु शब्द अवश्य आये हैं, किन्तु वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का पृथक् स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि आरम्भ से वैदिक आर्यों में तीन ही आश्रमों की प्रथा थी—ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य और वैखानस। वेदों में अथर्व और वर्णों में शूद्र के समान आश्रमों में भिक्षु या संन्यास-आश्रम बाद में सम्मिलित किया गया। बौद्धों में संन्यास का महत्त्व था और वैदिकों में वैखानस का। धीरे-धीरे जब वैदिकों और बौद्धों में जब बहुत-सा सांस्कृतिक आदान प्रदान हुआ तब वैदिकों ने बौद्धों के अन्तिम आश्रम को भी आत्मसात् कर लिया। तो भी दोनों आश्रमों का अन्तर बहुत काल तक स्पष्ट नहीं हो पाया। महाभाष्य में जिस प्रकार वेदों को 'त्रैविद्य' भी कहा है और 'चातुर्वेद्य' भी उसी प्रकार चातुराश्रम्य का उल्लेख करते हुए भी विवरण तीन का ही दिया गया है। कालिदास के समय तक यही स्थिति बनी रही। रघुवंश के प्रारम्भ में उन्होंने तीन आश्रमों का ही उल्लेख किया है और तृतीय आश्रम को 'मुनिवृत्ति' का आश्रम कहा है।[2] अभिज्ञानशाकुन्तल में भी उन्होंने गृहस्थ के बाद वैखानस आश्रम का ही उल्लेख किया है। दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में प्रियंवदा से पूछता है—'वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानात् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्'। कट्टर वैदिक लोग चतुर्थ आश्रम के बराबर विरोधी ही बने रहे। बौधायन धर्मसूत्र में संन्यास को असुर प्रवर्तित कहकर उसकी निन्दा की है।[3] इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। इस पर 'साधु-संन्यासी' प्रकरण में विशेष विचार किया जायगा।

---

१ क्रोशशतादभिगमनमर्हति इति क्रौशशतिको भिक्षुः। योजनशतिको गुरुः।—५।१।७४ पृ० ३३७।

२ शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥—रघुवंश।

३ बौधा० धर्म० सू० प्रश्न २, खं० ११।

वृद्ध को भी सम्मान प्रदर्शित करने के लिए युवा कह देते थे। जैसे श्रीमान् वात्स्यायन या श्रीमान् गार्ग्यायण। सामान्यतया वृद्ध गार्ग्य और युवा गार्ग्यायण पुकारे जाते थे।[1] ये सब बातें संयुक्त परिवार प्रथा तथा रक्त-सम्बन्ध के महत्त्व को प्रतिपादित करती हैं।

परिव्राजक—सर्वस्व को छोड़कर चले जानेवाले प्रव्रजित या परिव्राजक कहलाते थे। ये अपने साथ त्रिविष्टब्धक रखते थे। त्रिविष्टब्धक परिव्राजक का परिचायक था। जिस प्रकार धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार त्रिविष्टब्धक से परिव्राजक की उपस्थिति का अनुमान किया जा सकता था।[2] त्रिविष्टब्धक तीन काष्ठ-खण्डों को एक साथ रस्सी से बाँधकर तिरस्थ के समान बनाया जाता था।[3] भाष्यकार ने शंकरा नामक परिव्राजिका तथा मस्करी परिव्राजकों की चर्चा की है।[4]

भिक्षु—भिक्षुओं का उल्लेख भाष्य में परिव्राजक की अपेक्षा अधिक हुआ है। भिक्षु सर्वस्व का परित्याग कर भिक्षा के सहारे जीवन बिताते थे। इन लोगों के आश्रम का नियामक एक सूत्रग्रन्थ था जिसके प्रणेता पाराशर्य थे।[5] एक भिक्षुसूत्र कर्मन्दक का भी था। इन दोनों के अनुयायी क्रमशः पाराशरी[6] और कर्मन्दी कहलाते थे। सम्प्रदाय-परम्परा के अनुसार वे स्वच्छिक्षचारी होते थे। यह भिक्षुव्रत था। इसलिए, भिक्षु स्वच्छिक्ष कहलाते थे।[7] वे चलते समय इधर-उधर न देखकर पैरों पर दृष्टि गड़ाये केवल कुक्कुटी-पात भर भूमि को देखते चलते थे। दृष्टि-संयम भी उनकी साधना का एक अंग था। इन अविक्षिप्तदृष्टि भिक्षुओं को इसी कारण कौक्कुटिक[8] कहते थे। भिक्षु के लिए बस्ती से दूर अरण्य में रहने का विधान था। कुछ भिक्षु बस्ती से अलग किन्तु बस्ती के पास रहते थे। ये नैकटिक कहे जाते थे।[11] भिक्षु की जीविका का आधार भिक्षा थी। भिक्षा में उन्हें सभी प्रकार के अन्न प्राप्त होते थे। सर्वान्न भक्षण करने के कारण भिक्षु सर्वान्नीन[12] कहलाते थे।[13] इस साधन चर्या ने उसे समाज प्रतिष्ठा का पात्र बना दिया

---

१ ४ १ १६३ पृ० १५८, १५९।

२ २ १ १ पृ० २४३।

३ यथा तर्हि त्रिविष्टब्धकं। तथाप्यन्तरा सूत्रं भवति।—१ १ १ पृ० १०२।

४ ३-२-१४ पृ० ३१२।

५. ६-१ १५४, पृ० १९३।

६ ४ ३-११०।

७. ४ ३-१११।

८. ४ २-१६, पृ० १९३।

९. ४-२-१६, पृ० १९३ तथा ४-२-१५ काशिका।

१० देशस्यात्पतया हि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिः पादविक्षेपदेशे चक्षुः संयम्य गच्छति स उच्यते कौक्कुटिक इति।—४ ४ ४६ काशिका।

११ ४ ४-७३ काशिका।

१२ ५-२-९, पृ० ३९९।

१३ ५ १ ११३ पृ० ३४६।

था। भाष्य में उसे क्रौशशतिक कहा है, अर्थात् भिक्षु का अभिनन्दन सौ कोस पहले से करना चाहिए, यह सामाजिक मर्यादा थी।[1]

महाभाष्य में परिव्राजक और भिक्षु शब्द अवश्य आये हैं, किन्तु वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों का पृथक् स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि आरम्भ से वैदिक आर्यों में तीन ही आश्रमों की प्रथा थी—ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य और वैखानस। वेदों में अथर्व और वर्णों में शूद्र के समान आश्रमों में भिक्षु या संन्यास-आश्रम बाद में सम्मिलित किया गया। बौद्धों में संन्यास का महत्त्व था और वैदिकों में वैखानस का। धीरे-धीरे जब वैदिकों और बौद्धों में जब बहुत-सा सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ तब वैदिकों ने बौद्धों के अन्तिम आश्रम को भी आत्मसात् कर लिया। तो भी दोनों आश्रमों का अन्तर बहुत काल तक स्पष्ट नहीं हो पाया। महाभाष्य में जिस प्रकार वेदों को 'त्रिविद' भी कहा है और 'चातुर्वेद्य' भी उसी प्रकार चातुराश्रम्य का उल्लेख करते हुए भी विवरण तीन का ही दिया गया है। कालिदास के समय तक यही स्थिति बनी रही। रघुवंश के आरम्भ में उन्होंने तीन आश्रमों का ही उल्लेख किया है और तृतीय आश्रम को 'मुनिवृत्ति' का आश्रम कहा है।[2] अभिज्ञानशाकुन्तल में भी उन्होंने गृहस्थ के बाद वैखानस आश्रम का ही उल्लेख किया है। दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में जिज्ञासु भाव से पूछता है—वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्'। कट्टर वैदिक लोग चतुर्थ आश्रम के बराबर विरोधी ही बने रहे। बौधायन धर्मसूत्र में संन्यास को असुर प्रवर्तित कहकर उसकी निन्दा की है।[3] इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। इस पर 'साधु-संन्यासी' प्रकरण में विशेष विचार किया जायगा।

---

१ क्रोशशतादभिगमनमर्हतीति क्रौशशतिको भिक्षुः। यौजनशतिको गुरुः।—५।१।७४ पृ० ११७।

२ शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥—रघुवंश।

३ बौधा० धर्म० सू० प्रश्न २, अ० ११।

अध्याय ५

नारी

भाष्यकार ने अनेक रूपों में नारी का उल्लेख किया है। आयु की दृष्टि से शिशु, कुमारीतरा[1] कुमारी किशोरी युवती वधूटी जरती आदि शब्द भाष्य में मिलते हैं और सम्बन्ध की दृष्टि से कन्या वर्या पत्नी माता भगिनी मातामही पितामही आदि। कुमारीतरा पाँच-छह वर्ष की लड़की को कहते थे कुमारी आठ-दस वर्ष की और किशोरी बारह-चौदह वर्ष की लड़की कहलाती थी।

प्रथमवयस्का—'वयसि प्रथमे' (४ १ २०) का भाष्य करते हुए पतंजलि ने उत्तानशया लोहितपादिका द्विवर्षा त्रिवर्षा कन्या वधूटी और चिरण्टी का उल्लेख किया है। इनमें वधूटी और चिरण्टी द्वितीय वय के बोधक हैं। उत्तानशया तीन-चार महीने की लड़की को कहते हैं जो बैठ नहीं पाती और ऊपर, मुँह किये सोती है। लोहितपादिका सात आठ महीने की लड़की को कहते हैं, जो अपने पाँवों नहीं चल पाती थी। इसके बाद द्विवर्षा त्रिवर्षा आदि आती हैं। कुमारीतरा इसके बाद की अवस्था और कुमारी उससे अधिक अवस्था की लड़की होती है। प्रथम और द्वितीय वयस् का भेद पतंजलि के मत से पुरुष के साथ सम्बन्ध न होने और होने पर आश्रित था। पुरुष के साथ संप्रयोग कन्या को वधूटी से पृथक करता था।[2] कुमारी के साथ राजकुमारी का पृथक उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।[3]

कुमारी और किशोरी तक की आयु की लड़कियाँ कन्या कहलाती थीं। वयस्क कन्याओं को वर्या कहते थे। वर्या के विवाह की प्रार्थना कोई भी कर सकता था।[4] इसके लिए कोई निरोध न था। पति के चयन में कन्या की भी सम्मति ली जाती[5] थी। इसीलिए, उसे पतिंवरा कहते थे। माता-पिता अभिरूप वर की खोज करते थे और यथाशक्ति अभिरूपतम वर को कन्या देते थे।[6] बड़ी आयु में विवाह की प्रथा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। ऋग्वेद में

---

१ ४-१ २०, पृ० ४४, ४५।

२ ५-३-५५, पृ० ४४२।

३ १ १ ६३ पृ० ४०२।

४ ३-१ १०१।

५ ३-२-४६।

६. अभिरूपाय कन्या देयेति न चाभिरूपे प्रवृत्तिरस्ति तत्राभिरूपतमायेति गम्यते।— १ ४ ४२, पृ० १७०।

कन्या के पितृगृह में प्रौढ़ हो जाने का उल्लेख मिलता है।[1] तैत्तिरीय आरण्यक में भी बड़ी आयु तक कन्याओं के अविवाहित रहने का उल्लेख है[2] यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद् में बाल-विवाह का संकेत मिलता है और वहाँ ऐसी कन्या को आटिकी कहा[3] है। फिर भी सामान्यतया कन्या द्वारा स्वयं पति के वरण के प्रसंग ही ऋग्वेद से उत्तरकालीन वैदिक साहित्य तक प्राप्त होते हैं।[4]

वर द्वारा कन्या का पत्नी-रूप में अंगीकरण 'स्वकरण' कहलाता था। जो अपनी नहीं थी उसे अपनी बनाने का नाम स्वकरण था। भाष्यकार ने कहा है कि यद्यपि 'स्वीकरण' शब्द इस अर्थ में अधिक उपयुक्त है तथापि संहिता का स्वभाव विचित्र है और यहाँ स्वकरण शब्द ही प्रयुक्त[5] होता है। यह स्वकरण अन्य करणों से भिन्न था। यह कोरा स्वकरण नहीं था अपितु पाणि-ग्रहणयुक्त स्वकरण था।[6] पाणि-ग्रहण या विवाह को उपयमन भी कहते थे। इस अर्थ में 'भार्यामुपयच्छते' भार्यामुपायत' या 'उपायस्त' प्रयोग होता था अन्यथा 'उपयच्छति' बोला जाता था। विवाह के लिए दारकर्म शब्द का भी प्रयोग प्रचलित[7] था। पाणिग्रहण शब्द का विशेष अर्थ था। प्रत्येक दार-कर्म या विवाह वर-वधू के पारस्परिक पाणिग्रहणपूर्वक स्वकरण द्वारा सम्पन्न होता था। पाणिग्रहण द्वारा स्वीकृत भार्या पाणिगृहीती होती थी यह पाणिगृहीती का विशेष अर्थ था। बिना विवाह के या ही यदि किसी कार्यवश स्त्री का हाथ पकड़ लिया जाता तो वह पाणिगृहीता कही जाती[8] थी। पाणिग्रहण की यह क्रिया 'हस्तेकरण' या 'पाणौकरण' कहलाती थी। विवाह करके आने को 'हस्तेकृत्य गत' या 'पाणौकृत्य गत' कहते थे।

भार्या—विवाह कुमारी का भी होता था और व्यक्तमैथुना स्वस्था और विधवा का भी। जिसने प्रथम बार पति का वरण किया हो ऐसी भार्या कौमारी कहलाती थी। ऐसी अपूर्वपति कुमारी का पति कौमार कहा जाता था। कौमारी भार्या और कौमार पति दोनों में कुमारत्व भार्या का ही देखा जाता था। पति का कुमार होना आवश्यक नहीं था। अन्यथा कौमारी भार्या का प्रस्तुत अर्थ न होकर कुमार पति की कुमारी पत्नी यह होता। सम्भवतः, पाणिनि-काल में ऐसी बात नहीं थी। उस समय पति का कुमार होना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना जाता था। इसीलिए, कात्यायन को पाणिनि के 'कौमारापूर्ववचने' (४ २ १३) सूत्र में वर तथा कन्या दोनों पक्षों में कौमारत्व-ग्रहण के लिए वार्तिक जोड़ना पड़ा जिसे पतंजलि ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया। पत्नी के कुमारीत्व का विशेष रूप से उल्लेख इस बात की ओर संकेत करता है कि इस समय ऐसे विवाह भी पाये जाते थे जिनमें स्त्री-विवाह के समय कुमारी नहीं

१ अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।—ऋग्०, २-१७-७।
२ कुमारीषु कानीनीषु जारिणीषु च ये हिताः।—तैत्ति० आर० १-२७।
३ छान्दो० उप० १ १०-१।
४ भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्।—ऋग्०, १०-२७-१२।
५ १ ३-५६, पृ० ७०।
६ वही काशिका।
७ १ २ १६ काशिका।
८ ४ १-५२, पृ० ९४।

रहती थी। उसका कुमारीत्व पहले ही नष्ट हो चुकता है ऐसी स्त्री त्यक्ता त्यक्तभर्तृका या विधवा हो सकती थी। पुरुषों के लिए विवाह-काल में कुमार होना अनिवार्य न था। पतंजलि ने उक्त सूत्र को अनावश्यक मानकर उसका खण्डन कर दिया है। तो भी दोनों रूपों में स्त्री के कुमारी होने की बात पर उन्होंने किसी प्रकार का आक्षेप नहीं किया है। स्पष्ट है कि पतंजलि-काल में स्त्रियों की सामाजिक समानता पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था।[1]

जनी और जन्या—नवविवाहिता कन्या वधू या जनी कही जाती थी। जनी को उसके पति के पास ले जानेवाली या विवाह-मेला में उन दोनों की गाँठ बाँधनेवाली उसकी सहेलियों को जन्या कहते थे। जन्या शब्द समूहवाचक था और परिवार में यह कार्य कौन लड़कियाँ करेंगी यह निश्चित रहता था। लड़की छोटी हो या वृद्ध हो जाय परिवार में जन्या ही कहलाती थी। यह सम्बन्ध उसी प्रकार का था जैसा आजकल 'सहबाला' (वर का छोटा भाई) का होता है। जन्या वधू की बहनें या वयस्याएँ होतीं[2] थीं।

जाया और पत्नी—जनी शब्द जननी का संक्षिप्त रूप था। 'संज्ञायां जन्या' (४-४-८२) जननी को ही जनीभाव निपातन करता है। जनी शब्द में सन्तानोत्पादन का भाव निहित था। इसीलिए, पत्नी को जाया (जिसमें सन्तान उत्पन्न की जाय) कहते थे। जिसकी जाया युवती होती थी उसे युवजानि कहते थे और वृद्ध पत्नीवाले को वृद्धजानि।[3] पत्नी को दार भी कहते थे। यह शब्द दृ (विदारणार्थक) धातु से प्रेरणार्थ में बना है जिसका अर्थ है विदारण करानेवाली। अथवा जिनके द्वारा विदारण किया जाय। पत्नी शब्द का व्यवहार सामान्य नहीं था। पति के साथ यज्ञ में भाग लेनेवाली उसकी सहधर्मिणी को पत्नी कहते थे। जिन जातियों को यज्ञ का अधिकार नहीं था उनमें भार्याओं के लिए यदि पत्नी शब्द का व्यवहार होता था तो साम्य के कारण ही। वृषल और तुपजक की जाया को 'पत्नी के समान' मानकर ही पत्नी कहा जाता था।[5] वास्तव में पाणिनि और उनके पूर्वकाल में जब कि यज्ञ का प्राधान्य था द्विजातिमात्र की भार्या के लिए पत्नी शब्द प्रयुक्त होता था और अरुन्धती के पति वसिष्ठ 'था' वसिष्ठ की पत्नी अरुन्धती इस कथन का अर्थ होता था 'जिस यज्ञ का अधिकार अरुन्धती को प्राप्त है उसका फल माननेवाले वसिष्ठ' अथवा जिस यज्ञ का अधिकार वसिष्ठ को है,

---

१ कौमारापूर्ववचने कौमारापूर्ववचन इत्युभयतः स्त्रियाः अपूर्वत्वे। अपूर्वपति कुमारीमुपपन्नः कौमारो भर्ता। कुमार्यपूर्वपति पतिमुपपन्ना कौमारीभार्या।—४-२-१३, पृ० १७१, ७२।

२ जनी वहन्ति जन्याः। जनीं वोढारो जन्याः, जनीभवास्तु जन्या इति।—४-४-८२, पृ० २८५।

३ ५-४-१३४।

४ दारयन्ति इति दाराः, दीर्यते तैर्दाराः—३-३-२० पृ० ३०१।

५ पत्युर्नो यज्ञसंयोगे यज्ञसंयोग इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति इयमस्यपत्नी। कथं तर्हि स्यात्? पत्नीसंयाज इति यत्र यज्ञसंयोगः।—एवमपि तुपजकस्य पत्नीति न सिद्ध्यति उपमानात् सिद्धम्। पत्नीव पत्नी।—४-१-३३, पृ० ५०-५१।

उसका फल भोगनेवाली बन्धती'। इस पत्नी-संयाज' (यज्ञ-विशेष) के सम्बन्ध में ही पत्नी शब्द का प्रयोग होता था। पतञ्जलि-काल तक आते-आते पत्नी-संयाज की प्रथा सामान्य घरों में नष्ट हो गई किन्तु पत्नी शब्द जो एक बार चल चुका था चलता गया। वह द्विजातियों तक सीमित न रहकर भार्या का सामान्यबोधक बन गया। पतञ्जलि के सामने पाणिनि के समर्थन का प्रश्न था और लोकप्रिय होने के कारण वे सूत्र से 'यज्ञसंयोगे' शब्द को निकालना भी सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए, उन्होंने दूसरी युक्ति का सहारा लिया। पंचमहायज्ञ उनके समय में भी प्रचलित थे। इसलिए उन्होंने कहा कि पत्नी शब्द जिस पति शब्द से बना है उसका अर्थ भर्ता नहीं है। वह ऐश्वर्यवान् अर्थ में व्यवहृत दूसरा पति शब्द है। इसी से पत्नी शब्द बनता है। द्विजाति के प्रत्येक पुरुष और स्त्री के लिए प्रतिदिन पंचमहायज्ञों का विधान है। उनके लिए प्रातः-सायं गृहस्थ जिस चरु और पुरोडाश का निर्वाप करता है उसका वह ईश्वर या स्वामी होता है। वह उसके फल का भी ईश्वर होता है। इस अर्थ में पुरुष को पति कह सकते हैं और स्त्री को पत्नी।[1] किन्तु, इससे भी पूरी समस्या का समाधान नहीं हो सका। शूद्रों की स्त्रियों के लिए भी पत्नी शब्द का प्रचलन हो चुका था। उसके लिए भाष्यकार ने कहा कि वहाँ उपमान से काम चल जायगा। वह शूद्र पत्नी न होते हुए भी पत्नी के समान होने के कारण औपचारिक अर्थ में पत्नी कही जा सकती है।[2] पाणिनि-काल से पतञ्जलि-काल तक पत्नी शब्द का अर्थ-विकास समाज में शनैः-शनैः होनेवाले परिवर्तनों पर अच्छा प्रकाश डालता है।

बहुविवाह—पुरुष एक साथ एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे। ऐसे पुरुषों की पत्नियाँ परस्पर सपत्नी कहलाती थीं।[3] भाष्य में अष्ट भार्याओंवाले पुरुष का उल्लेख है।[4] स्त्री एक साथ एक से अधिक पुरुषों से विवाह कर सकती थी या नहीं इसका भाष्य में कोई उल्लेख नहीं है। पति का गौरव पत्नी की गौरव-वृद्धि में सहायक था। वीरपत्नी दासपत्नी जैसे शब्द क्रमशः पति के कारण पत्नी को प्राप्त होनेवाले गौरव और क्षुद्रता के बोधक थे।[5] सपत्न्यादि गण में एक वीर, दास शब्दों का उल्लेख है।

पत्नी के भरण-पोषण का भार पुरुष पर होता था। पोषित होने के कारण ही पत्नी को भार्या[6] भी कहते थे। नवोढा भार्या को वधूटी और चिरण्टी कहते थे। ये शब्द भार्या की यौवन-सम्पन्नता को व्यक्त करते थे।[7] इभ्य और आढ्य युवतियाँ आकर्षण का विशेष केन्द्र थीं।[8]

---

१ ४ १ ३३, पृ० ५० ५१।

२ नैष दोषः पतिशब्दोऽयमैश्वर्यवाची। सर्वेण च गृहस्थेन पंचमहायज्ञा निर्वर्त्याः। यच्चाह सायंप्रातर्होमचरुपुरोडाशान्निर्वपति तस्यासावीष्टे। एवमपि शूद्रजातस्य पत्नीति न सिद्ध्यति। उपमानात्सिद्धम्। पत्नीव।—वही।

३ ४ १ ३५। ४ ७-१ २१ पृ० २६। ५ ४-१ ३५।

६ ६ ३-२८ पृ० १८२।

७. ४ १-२० पृ० ४४।

८. २-१ ६६, पृ० ३२२।

रहती थी। उसका कुमारीत्व पहले ही नष्ट हो चुकता है ऐसी स्त्री त्यक्ता त्यक्तभर्तृका या विधवा हो सकती थी। पुरुषों के लिए विवाह-काल में कुमार होना अनिवार्य न था। पतंजलि ने उक्त सूत्र को अनावश्यक मानकर उसका खण्डन कर दिया है। तो भी दोनों रूपों में स्त्री के कुमारी होने की बात पर उन्होंने किसी प्रकार का आक्षेप नहीं किया है। स्पष्ट है कि पतंजलि-काल में स्त्रियों की सामाजिक समानता पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था।[1]

जनी और जन्या—नवविवाहिता कन्या वधू या जनी कही जाती थी। जनी को उसके पति के पास ले जानेवाली या विवाह-वेला में उन दोनों की गांठ बांधनेवाली उसकी सहेलियों को जन्या कहते थे। जन्या शब्द संज्ञावाचक था और परिवार में यह कार्य कौन लड़कियां करेंगी यह निश्चित रहता था। लड़की छोटी हो या वृद्ध हो जाय परिवार में जन्या ही कहलाती थी। यह सम्बन्ध उसी प्रकार का था जैसा आजकल 'सहबाला' (वर का छोटा भाई) का होता है। जन्या वधू की बहन या वयस्याएं होती[2] थीं।

जाया और पत्नी—जनी शब्द जननी का संक्षिप्त रूप था। 'संज्ञायां जन्या' (४ ४-८२) जननी का ही जनीभाव निपातन करता है। जनी शब्द में सन्तानोत्पादन का भाव निहित था। इसीलिए पत्नी को जाया (जिसमें सन्तान उत्पन्न की जाय) कहते थे। जिसकी जाया युवती होती थी उसे युवजानि कहते थे और वृद्ध पत्नीवाले को वृद्धजानि। पत्नी को दार भी कहते थे। यह शब्द दृ (विदारणार्थक) धातु से प्रेरणार्थ में बना है जिसका अर्थ है विदारण करानेवाली। अथवा जिनके द्वारा विदारण किया जाय। पत्नी शब्द का व्यवहार सामान्य नहीं था। पति के साथ यज्ञ में भाग लेनेवाली उसकी सहधर्मिणी को पत्नी कहते थे। जिन जातियों को यज्ञ का अधिकार नहीं था उनमें भार्याओं के लिए यदि पत्नी शब्द का व्यवहार होता था तो साम्य के कारण ही। वृषल और तुषजक की जाया को पत्नी के समान मानकर ही पत्नी कहा जाता था।[5] वास्तव में पाणिनि और उनके पूर्वकाल में जब कि यज्ञ का प्राधान्य था द्विजातिमात्र की भार्या के लिए पत्नी शब्द प्रयुक्त होता था और अरुन्धती के पति वसिष्ठ 'या' वसिष्ठ की पत्नी अरुन्धती इस कथन का अर्थ होता था 'जिस यज्ञ का अधिकार अरुन्धती को प्राप्त है उसका फल भोगनेवाले वसिष्ठ' अथवा 'जिस यज्ञ का अधिकार वसिष्ठ को है,

---

१ कौमारापूर्ववचने कौमारापूर्ववचन इत्युच्यते स्त्रियाः अपूर्वत्वे। अपूर्वपतिं कुमारीमुपपन्नः कौमारो भर्ता। कुमार्यपूर्वपतिः पतिमुपपन्ना कौमारीभार्या।—४ २ १३, पृ० १७१, ७२।

२ जनी वहन्ति जन्याः। जनीं वोढारो जन्याः, जनीभवास्तु जन्या इति।—४ ४-८२, पृ० २८५।

३ ५ ४।१३४।

४ दारयन्ति इति दाराः, दीर्यते तैर्दारा—३-३-२० पृ० ३०१।

५ पत्युर्नो यज्ञसंयोगे यज्ञसंयोग इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति इयमस्य पत्नी। अयं तर्हि न्यायः? पत्नीसंयाज इति यज्ञसंयोगः।—एवमपि तुषजकस्य पत्नीति न सिद्ध्यति उपमानात्सिद्धम्। पत्नीव पत्नी।—४ १ ३३ पृ० ५० ५१।

उसका फल भोगनेवाली सरस्वती[1]। इस पत्नी-संयाज' (यज्ञ-विशेष) के सम्बन्ध में ही पत्नी शब्द का प्रयोग होता था। पतञ्जलि-काल तक आते-आते पत्नी-संयाज की प्रथा सामान्य घरों में नष्ट हो गई किन्तु पत्नी शब्द जो एक बार चल चुका था चलता गया। वह द्विजातियों तक सीमित न रहकर भार्या का सामान्यबोधक बन गया। पतञ्जलि के सामने पाणिनि के समर्थन का प्रश्न था और श्रोत्रिय होने के कारण वे सूत्र से 'यज्ञसंयोग' शब्द को निकालना भी सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने दूसरी युक्ति का सहारा लिया। पंचमहायज्ञ उनके समय में भी प्रचलित थे। इसलिए, उन्होंने कहा कि पत्नी शब्द जिस पति शब्द से बना है उसका अर्थ भर्ता नहीं है। यह ऐश्वर्यवान् अर्थ में व्यवहृत दूसरा पति शब्द है। इसी से पत्नी शब्द बनता है। द्विजाति के प्रत्येक पुरुष और स्त्री के लिए प्रतिदिन पंचमहायज्ञों का विधान है। उनके लिए प्रातः-सायं गृहस्थ जिस चरु और पुरोडाश का निर्वाप करता है उसका वह ईश्वर या स्वामी होता है। वह उसके फल का भी ईश्वर होता है। इस अर्थ में पुरुष को पति कह सकते हैं और स्त्री को पत्नी।[2] किन्तु, इससे भी पूरी समस्या का समाधान नहीं हो सका। शूद्रों की स्त्रियों के लिए भी पत्नी शब्द का प्रचलन हो चुका था। उसके लिए भाष्यकार ने कहा कि वहाँ उपमान से काम चल जायगा। वह शूद्र पत्नी न होते हुए भी पत्नी के समान होने के कारण औपचारिक अर्थ में पत्नी कही जा सकती है।[3] पाणिनि-काल से पतञ्जलि-काल तक पत्नी शब्द का अर्थ-विकास समाज में शनैः-शनैः होनेवाले परिवर्तनों पर अच्छा प्रकाश डालता है।

बहुविवाह—पुरुष एक साथ एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे। ऐसे पुरुषों की पत्नियाँ परस्पर सपत्नी कहलाती थीं।[4] भाष्य में अष्ट भार्याओंवाले पुरुष का उल्लेख है।[5] स्त्री एक साथ एक से अधिक पुरुषों से विवाह कर सकती थी या नहीं इसका भाष्य में कोई उल्लेख नहीं है। पति का गौरव पत्नी की गौरव-वृद्धि में सहायक था। वीरपत्नी दासपत्नी जैसे शब्द क्रमशः पति के कारण पत्नी को प्राप्त होनेवाले गौरव और क्षुद्रता के बोधक थे।[6] सपत्न्यादि गण में एक वीर, दास शब्दों का उल्लेख है।

पत्नी के भरण-पोषण का भार पुरुष पर होता था। पोषित होने के कारण ही पत्नी को भार्या[7] भी कहते थे। नवोढा भार्या को वधूटी और चिरण्टी कहते थे। ये शब्द भार्या की यौवन-सम्पन्नता को व्यक्त करते थे। रम्य और आढ्य युवतियाँ आकर्षण का विशेष केन्द्र थीं।

---

१ ४ १ ३३, पृ० ५०, ५१।

२ नैव दोषः पतिशब्दोऽयमैश्वर्यवाची। सर्वेण च गृहस्थेन पंचमहायज्ञा निर्वर्त्याः। यच्चात्र सायंप्रातर्होमचरुपुरोडाशान्निर्वपति तस्यासावीष्टे। एवमपि शूद्रजनस्य पत्नीति न सिद्ध्यति। उपमानात्सिद्धम्। पत्नीव।—वही।

३ ४ १ ३५।   ४ ७-१-२१ पृ० २६।   ५ ४-१ ३५।

६ ६ १-२८ पृ० १८२।

७ ४-१-२० पृ० ४४।

८ २ १-६६, पृ० १२२।

पत्नी का धर्म—पत्नी का धर्म पति को प्रसन्न रखना और उसकी काम-तृप्ति भी था। सन्तानोत्पत्ति-मात्र जो विवाह का लक्ष्य भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग कहा जाता है पतंजलि काल में आंशिक रूप से ही सत्य था। भाष्यकार ने कहा है, 'वेग (कामपीड़ा) के कारण स्त्रियों में प्रवृत्ति होती है। वेग-विगम (काम-शान्ति) जिस प्रकार गम्या में हो सकती है उसी प्रकार अगम्या में। तो भी इस विषय में नियम बनाया गया है कि कौन गम्या है और कौन अगम्या'[1] सुन्दर वस्त्रों से सज्जित होकर पति को कामयमान स्त्री जिस प्रकार पति के सामने स्वयं को विवृत (निरावरण) करती है, उसी प्रकार वाग्विद् के सम्मुख वाक् उपस्थित होती है' इस प्रकार की उपमा भाष्यकार जैसे योगिय ने निःसंकोच दी है।[2] 'पति के निमित्त शयन करना' जैसी उक्तियाँ संकोच का कारण नहीं थीं।[3]

सौन्दर्य नारी का महत्त्वपूर्ण गुण माना जाता था। स्त्रियाँ एतदर्थ सुन्दर आकर्षक वस्त्रों तथा आभूषणों का उपयोग करती थीं। पति सौन्दर्य का मूल्य समझता था। 'वरतनु'[4] आदि सम्बोधन इसके प्रमाण हैं। भूषणों की चर्चा यथास्थान अन्यत्र हुई है। ऊपर अभिरूपतम वर का उल्लेख भी हो चुका है। पति-पत्नी का पारस्परिक आकर्षण दाम्पत्य-जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग था। कभी-कभी प्रेमी के हृदय पर अधिकार करने के लिए वशीकरण मंत्रों का भी उपयोग होता जिन्हें 'हृद्य' कहते थे।[5] कर्णिका ललाटिका केशवेश तथा अन्य भूषणों और मण्डनों का खूब प्रचार था।

दिधिषू—अनेक बहनों में बड़ी बहन का विवाह पहले किया जाता था। छोटी बहन का पहले विवाह होना सामाजिक दृष्टि से अच्छा नहीं समझा जाता था। जिसकी छोटी बहन का विवाह पहले हो जाता था उसे 'दिधिषू' कहते थे और उसके पति को 'दिधिषूपति'[6]। इससे स्पष्ट है कि समाज ऐसे मामलों पर कड़ी दृष्टि रखता था और जो अपवाद होते थे उन्हें स्मरण रखा जाता था।

भार्या के सम्बोधन—वधू को सुभगा कहते थे। यह शब्द उसके प्रति सम्मान-भावना का परिचायक है। कन्यादान के साथ पिता द्वारा कन्या को कुछ द्रव्य या वस्त्रादि दिये जाते थे। इसे 'हरण' कहते थे। हरण धर्म्य माना जाता था।[8]

विवाहित स्त्रियों को पति के नाम के आधार पर पुकारने की प्रथा थी। पूतक्रतु की स्त्री

---

१ आ० १ पृ० १८।

२ यथैव पत्ये उशतीसुवासाः तद्यथा जायापत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते।—आ० १ पृ० ८।

३ १ ४ ३२, पृ० १६८।

४ १ ३-४८, पृ० ६७।

५ ४-४ ९६।

६ ४ १ ६६, ४ १ ४२ ३ २ १५१।

७ ६ २ १९।

८ ६ २-६५ टिप्पणी, पृ० २७१ (पूना – संस्करण)।

पुरुकुत्सानी[1] वृषाकपि की वृषाकपायी[2] मनु की मनायी या मनावी[3] गणक की गणकी, गोपालक की गोपालिका, महामात्र की महामात्री, प्रष्ठ और प्रचर नेता की प्रष्ठी और प्रचरी कहलाती थी। इसी प्रकार, उपाध्याय की पत्नी उपाध्यायी या उपाध्यायानी, मातुल (मामा) की पत्नी मातुली या मातुलानी, आचार्य की पत्नी आचार्यानी और क्षत्रिय की पत्नी क्षत्रिया या क्षत्रियाणी कही जाती थी। ये मान्यताएँ केवल पति के नाम पर आश्रित थीं। यह आवश्यक नहीं था कि आचार्यानी स्वयं पढ़ाती हो या क्षत्रियाणी स्वयं क्षत्रिय हो। सूर्य की स्त्री को, देवता हो तो सूर्या और मानुषी हो तो सूरी (कुन्ती) कहते थे।[4] यह इस बात का सूचक है कि विवाहोपरान्त कन्या[5] पति के गुण-गौरव की सहभागिनी बन जाती थी। पति का कुल उसका कुल बन जाता था। सधवा होना बड़े भाग्य की बात मानी जाती थी। जिस स्त्री का पति जीवित होता था उसे पतिवत्नी[6] कहते थे। पतिवत्नी शब्द जीवत्भर्तृकत्व का बोधक था।

यह आवश्यक नहीं था कि हर कन्या विवाह करे। इच्छानुसार कोई लड़की कुमारी रह सकती थी। ऐसी लड़की जबतक विवाह न करे, कन्या मानी जाती थी। समाज में वृद्धकुमारियाँ और जरत्कुमारियाँ भी पाई जाती थीं।[8]

नैतिक दोष—भाष्य में नैतिक पतन को सूचित करनेवाले उल्लेख भी कई स्थानों पर मिलते हैं। कन्याएँ विवाह के पूर्व भी गर्भवती हो जाती थीं। उनकी सन्तान कानीन कहलाती थी। भाष्यकार ने कानीन शब्द पर आपत्ति करते हुए कहा है कि यों तो यदि कन्या है तो उसका अपत्य नहीं हो सकता और यदि अपत्य हो गया तो कन्या कहाँ रही। कन्या और अपत्य ये दोनों परस्पर-विरोधी बातें हैं। अतः, कन्यापुत्र को कानीन नहीं कह सकते। फिर भी, कन्या का कन्यात्व पुरुष के साथ विवाह और उसके साथ यौन सम्बन्ध होने पर समाप्त होता है। जिसका पुरुष के साथ यौन सम्बन्ध विवाह होने के पूर्व हो जाता है, उसका कन्यात्व तो नष्ट नहीं होता, इसलिए कन्या या कन्या पुकारी जानेवाली या कन्या मानी जानेवाली लड़की के अपत्य को कानीन कहना उचित ही है।[9] जारभरा शब्द भी पतञ्जलि में आया है और भाष्यकार ने 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो

---

१ ४-१ ३६।
२ ४ १ ३७।
३ ४ १ ३८।
४ ४-१ ४८, पृ० ५६।
५ ४ १-४९ वा० ४ १-७ पृ० ६१।
६ ४ १-४८, पृ० ६१।
७ ४-१ १२, पृ० ४९।
८ ६-२-९५।
९ कन्यायाः कनीन च। इदं विप्रतिषिद्धम्—यदि च कन्या नापत्यमथापत्यं न कन्या। नैतद्विप्रतिषिद्धम्—कथम्? कन्याशब्दोऽयं पुंसाभिसम्बन्धपूर्वके सम्प्रयोगे वर्तते। या चेदानीं प्रागभिसम्बन्धात् पुंसा सह सम्प्रयोगं गच्छति तस्यां कन्याशब्दो वर्तत एव। कन्यायाः कन्योक्तायाः कन्याभिमतायाः सुतकन्यायाः यदपत्यं स कानीनः।—४ १ ११६, पृ० १४०।

व्युनिन्यच' (२-१ १२४) सूत्र में उसके पंचादिगण में पढ़ने का समर्थन किया है। जार पति से भिन्न गुप्त प्रेमी को कहते थे। भाष्य की व्युत्पत्ति के अनुसार बुढ़ापा लानेवाले या बुढ़ापे की ओर ले जानेवाले को जार कहते हैं।[1] जार को पालने-पोसनेवाली स्त्री जारभरा कही जाती थी।[2] स्वाभाविक है कि जार की दृष्टि शरीर और सौन्दर्य के उपभोग की ओर रहती हो। ऐसी स्थिति में अवाञ्छित गर्भ रहना भी स्वाभाविक था। गर्भवती स्त्री को अन्तर्वत्नी कहते थे।[3] अनुचित गर्भ बहुधा गिरा या छिपा दिये जाते थे। गर्भ को नष्ट कर देनेवाली स्त्रियाँ पुत्रघ्नी या भ्रूणघ्नी कही जाती थीं। परिवार की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बूढ़ी स्त्रियाँ भी इस पाप में सहायक हो जाती थीं। ऐसी 'पुत्रपुत्रादिनी' स्त्रियाँ भी समाज में थीं। समाज इन्हें घृणा की दृष्टि से देखता था। पाणिनि ने ऐसी स्त्रियों के प्रति समाज की आक्रोश-भावना का उल्लेख किया है।[4] भाष्यकार के दिये हुए वैदिक उदाहरणों से इस पाप-परम्परा की गति वैदिक काल तक मालूम होती है।[5] भाष्य में भ्रूण-हत्या का भी बार उल्लेख मिलता है।[6]

दासी—दासियों की स्थिति समाज में अच्छी न थी। वे मालिकों की काम-क्षुधा तृप्ति का साधन बनती रहती थीं। ऐसी दास-भार्याओं की संख्या बहुत थी। इनकी सन्तान जो दासेर कहलाती थी[7] घर में पलती रहती थी और वहीं सेवा-टहल करने लगती थी। ये दासियाँ रखैल बन जाती थीं। इनके अतिरिक्त यदा-कदा इस प्रकार के ऐसे अपमान उन्हें झेलने पड़ते थे जिनमें मालिक किसी प्रकार का दायित्व लेने को तैयार नहीं होते थे। समाज स्वामियों के ऐसे आचरण को गर्हित मानता था। पतंजलि ने इसे अशिष्ट व्यवहार कहा है। शिष्टता के नियमों से बाह्यता व्यक्त करने के लिए ही इस प्रकार के सम्बन्ध में सं+यम् धातु को आत्मनेपद का विधान किया गया था।[8] संयच्छते का अर्थ है—दानपूर्वक उपयोग करना। भाष्यकार ने इस प्रकार के दासी या वृषली के सम्बन्ध को व्यतिहार या क्रिया-विनिमय कहा है क्योंकि दासी और कामुक दोनों का इष्ट परस्पर एक दूसरे से सिद्ध होता था।[9] काशिकाकार (१ ३ २३) के काल तक आते-आते तो वृषली ग्राम-पुत्रों की काम-तृप्ति का सहज साधन बन गई थी।

कुमारत्वादि में इस प्रकार की अवाञ्छित घटनाओं की आशंका के कारण ही समाज स्वस्थ वैवाहिक जीवन को श्रेष्ठ मानता था। विवाह के लिए मनुष्य सम्पूर्ण साधन एकत्र करता था

---

१ ३-३-२० पृ० १०१।
२ ३-२ ११४ पृ० १९७।
३ ४ १ ३२, पृ० ४९।
४ ८ ४ ४८, पृ० ४९८।
५. ३-२ १०८, पृ० १८५।
६. महाभाष्य शब्दकोष पृ० ८४३-४४।
७. ४-१ १, पृ० २१५।
८. ४ १ ११४ पृ० ११८।
९. १ ३-५५, पृ० ९९।
१० १ ३-५५, पृ० ९९।

और तदर्थ श्री-त्याग से परिश्रम करता था।[1] और कुछ उपाय न मिला तो भीख माँगकर ही चार पैसे जोड़ लेता था और घर चलाता था।

माता—स्त्री शब्द मातृत्व की ओर संकेत करता है। स्त्री शब्द 'स्त्यै' धातु से बना है, जिसका अर्थ है गर्भधारण करनेवाली। सृजन में पुमान् कर्ता और अधिकरण स्त्री मानी जाती थी।[2] स्त्रीत्व की पूर्णता मातृत्व में ही हो सकती है। पत्नीत्व और विवाह उस प्रसंग साधन हैं। इसीलिए, स्त्री पुत्र की कामना किया करती है। भाष्य में प्रयुक्त पुत्रकाम्यति पुत्रीयति पुत्रीयस्वे पुत्रीमिपति आदि शब्द इसी कथन की पुष्टि करते हैं।[3] पुत्र उत्पन्न होने पर बड़ा हर्ष मनाया जाता था। भाष्य में पुत्रोत्पत्ति के हर्ष में दश सहस्र गायें तक दान किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

माता का सन्तान पर प्रभाव—मातृ-रूप में स्त्री का महत्त्व पत्नी से बढ़कर था। सन्तान की अच्छाई या बुराई बहुत कुछ माता पर निर्भर रहती है यह बात समाज में मान्य थी। इसीलिए, प्रशंसा निन्दा या किसी विशेष गुण-दोष की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए सन्तान को प्रायः माता के नाम पर पुकारा जाता था। माता अच्छी हुई तो सन्तान सौभागिनेय काल्याणिनेय[5] भाद्रबाहेय[6] भाद्रमातुर या सांमातुर[7] कहलाती थी। माता की निन्दा प्रकट करने में कानीन,[8] कौलटेय[9] कौलटेर,[10] दास्या-पुत्र दासेर, कारणेर[11] आदि शब्दों का प्रयोग होता था। मातृ-सम्बन्धी किसी विशेष बात की ओर ध्यान आकृष्ट करने में द्वैमातुर, वैमातुर,[12] षाण्मातुर[13] वैमात्रेय[14]

---

१ ७-१-९१ पृ० ३०२।

२ अधिकरणसाधना लोके स्त्री। स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति। कर्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति।—४ १ ३, पृ० २०।

३ १ १ १ पृ० १३ तथा ६ १ १५८, पृ० २०० तथा ७-४-३५, पृ० २३४ तथा ६ १ ४, पृ० १५।

४ यस्मिन् दशसहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति।।—१ ४ ३, पृ० ३३३।

५ ४ १ १२६।

६ १ ४-२, पृ० ११९ तथा ४ १ ११४, पृ० ११८।

७ ४ १ ११५।

८ ४ १ ११६, पृ० १४०।

९ ४-१ १२७।

१० ४ १ १३१।

११ ४ १ १३१।

१२ ७-१-९२, पृ० ३००।

१३ ४-१ ११५।

१४ १ ४ १२०, पृ० १४१।

ल्युणिन्यच (३-१ १३४) सूत्र में उसके पचादिगण में पढ़ने का समर्थन किया है। जार पति से भिन्न गुप्त प्रेमी को कहते थे। भाष्य की व्युत्पत्ति के अनुसार बुढ़ापा लानेवाले या बुढ़ापे की ओर ले जानेवाले को जार कहते हैं।[1] जार का पालने-पोसनेवाली स्त्री जारभरा कही जाती थी।[2] स्वाभाविक है कि जार की दृष्टि शरीर और सौन्दर्य के उपभोग की ओर रहती हो। ऐसी स्थिति में अवाञ्छित गर्भ रहना भी स्वाभाविक था। गर्भवती स्त्री को अन्तर्वत्नी कहते थे।[3] अनुचित गर्भ बहुधा गिरा या छिपा दिये जाते थे। गर्भ को नष्ट कर देनेवाली स्त्रियाँ भ्रूणहती या भ्रूणघ्नी कही जाती थीं। परिवार की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बूढ़ी स्त्रियाँ भी इस पाप में सहायक हो जाती थीं। ऐसी 'पुत्रपुत्रादिनी' स्त्रियाँ भी समाज में थीं। समाज इन्हें घृणा की दृष्टि से देखता था। पाणिनि ने ऐसी स्त्रियों के प्रति समाज की आक्रोश भावना का उल्लेख किया है।[4] भाष्यकार के दिये हुए वैदिक उद्धरणों से इस पाप-परम्परा की गति वैदिक काल तक मालूम होती है।[5] भाष्य में भ्रूण-हत्या का नौ बार उल्लेख मिलता है।[6]

दासी—दासियों की स्थिति समाज में अच्छी न थी। वे मालिकों की काम-क्षुधा तृप्ति का साधन बनती रहती थीं। ऐसी दास-भार्याओं की संख्या बहुत थी। इनकी सन्तान जो दासेर कहलाती थीं[7] घर में पलती रहती थी और वहीं सेवा-टहल करने लगती थी। ये दासियाँ रखैल बन जाती थीं। इसके अतिरिक्त यदा-कदा इस प्रकार के ऐसे अपमान उन्हें झेलने पड़ते थे जिनमें मालिक किसी प्रकार का दायित्व लेने को तैयार नहीं होते थे। समाज स्वामियों के ऐसे आचरण को गर्हित मानता था। पतञ्जलि ने इसे अशिष्ट व्यवहार कहा है। शिष्टता के नियमों से बाह्यता व्यक्त करने के लिए ही इस प्रकार के सम्बन्ध में सं+यम् धातु को आत्मनेपद का विधान किया गया था।[8] संयच्छते का अर्थ है—दानपूर्वक उपभोग करना। भाष्यकार ने इस प्रकार के दासी या वृषली के सम्बन्ध को व्यतिहार या क्रिया-विनिमय कहा है क्योंकि दासी और कामुक दोनों का इष्ट परस्पर एक दूसरे से सिद्ध होता था।[9] काशिकाकार (१ ३-२३) के काल तक आते-आते तो वृषली ग्राम-पुत्रों की काम-तृप्ति का सहज साधन बन गई थी।

कुमारत्वादि में इस प्रकार की अवाञ्छित घटनाओं की आशंका के कारण ही समाज स्वस्थ वैवाहिक जीवन को श्रेष्ठ मानता था। विवाह के लिए मनुष्य सम्पूर्ण साधन एकत्र करता था

---

१ ३-३-३० पृ० ३०१।
२ ३ १ ११४ पृ० १९७।
३ ४ १ ३२ पृ० ४९।
४ ८ ४ ४८, पृ० ४९८।
५ ३-१ १०८, पृ० १८५।
६ महाभाष्य शब्दकोष पृ० ८४३ ४४।
७ ४-१ १ पृ० २३५।
८ ४ १ ११४, पृ० १३८।
९ १ ३-५५, पृ० ९९।
१० १ ३-५५, पृ० ९९।

और सवर्ण धी-ध्यान से परिश्रम करता था।[1] और कुछ उपाय न मिला तो भीख माँगकर ही चार पैसे जोड़ लेता था और घर बसाता था।

माता—स्त्री शब्द मातृत्व की ओर संकेत करता है। स्त्री शब्द 'स्त्यै' धातु से बना है, जिसका अर्थ है गर्भधारण करनेवाली। समाज में पुमान् कर्त्ता और अधिकरण स्त्री मानी जाती थी।[2] स्त्रीत्व की पूर्णता मातृत्व में ही हो सकती है। पत्नीत्व और विवाह सब इसके साधन हैं। इसीलिए, स्त्री पुत्र की कामना किया करती है। भाष्य में प्रयुक्त पुत्रकाम्यति पुत्रीयति पुत्रीयन्ती, पुत्रीयिषति आदि शब्द इसी कथन की पुष्टि करते हैं।[3] पुत्र उत्पन्न होने पर बड़ा हर्ष मनाया जाता था। भाष्य में पुत्रोत्पत्ति के हर्ष में दस सहस्र गायें तक दान किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

माता का सन्तान पर प्रभाव—मातृ-रूप में स्त्री का महत्त्व पत्नी से बढ़कर था। सन्तान की अच्छाई या बुराई बहुत कुछ माता पर निर्भर रहती है यह बात समाज में मान्य थी। इसीलिए, प्रशंसा निन्दा या किसी विशेष गुण-दोष की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए सन्तान को प्रायः माता के नाम पर पुकारा जाता था। माता अच्छी हुई, तो सन्तान सौभागिनेय कल्याणिनेय[5] माद्रबाहेय[6] भद्रमातुर या साम्मातुर[7] कहलाती थी। माता की निन्दा प्रकट करने में कानीन कौलटेय[8] कौलटेर,[9] दास्याःपुत्र दासेर, काणेर[10] आदि शब्दों का प्रयोग होता था। मातृ-सम्बन्धी किसी विशेष बात की ओर ध्यान आकृष्ट करने में द्वैमातुर, षाण्मातुर,[11] साम्मातुर,[12] वैमात्रेय[13]

---

१ २-१-५१ पृ० ३०२।

२ अधिकरणसाधना लोके स्त्री। स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति। कर्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति।—४-१ ३, पृ २०।

३ १ ३-१ पृ० ११ तथा ६ १ १५८, पृ० २०० तथा ७-४-३५, पृ० २३४ तथा ६-१ ४, पृ० १५।

४ यस्मिन् दशसहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति॥—१ ४ ३, पृ० १३१।

५ ४-१ १२६।

६ १ ४-२, पृ० ११९ तथा ४-१ ११४, पृ० ११८।

७ ४-१ ११५।

८ ४ १ ११६, पृ० १४०।

९ ४ १ १२७।

१० ४-१ १३१।

११ ४ १ १२३।

१२ २ १-५९, पृ० ३००।

१३ ४ १ ११५।

१४ १ ४ १२०, पृ० १४१।

मैत्रेय सापत्न[1] आदि शब्द बनते थे। इस प्रकार, जो गुण-दोष या विशेषताएँ माता में रहती थीं, वे उसकी सन्तान के साथ भी परिचयात्मक रूप से जोड़ दी जाती थीं। अनेक सम्बन्धों का निर्धारण स्त्रियों के सम्बन्ध से होता था। उदाहरणार्थ—मातृष्वसा[2] पितृष्वसा[3] एवं स्वसा[4] के नाम पर उनकी सन्तानें पैतृष्वस्रीय मातृष्वस्रीय और स्वस्रीय कही जाती थी। पिता का नाम न मालूम होने पर सन्तान माता के (गोत्र) के नाम से पुकारी जाती थी किन्तु पिता का नाम न मालूम होना कुत्सा की बात थी। इसलिए, ऐसे नाम (गोत्र) से सन्तान का पुकारा जाना निन्दा का सूचक था। *गार्गी (गोत्र) स्त्री की सन्तान गार्ग्य या गार्गिक कहलाती थी।* इसी प्रकार, वात्स्य ग्लौचुकायन आदि वात्स्यबोधक नाम पड़ जाते थे।[5]

वंश—भाष्यकार के समय में वंश पिता के नाम पर चलता था। स्त्री वंश्य नहीं मानी जाती थी। इसीलिए, पाणिनि ने स्त्री की युवसंज्ञा का निषेध कर दिया है।[6] पाणिनि ने सामान्यतया अपत्य नाम पिता के नाम पर ही आधृत माने हैं। स्त्रियों के नाम पर सन्तान के नाम विशेष कारणों से ही पड़ते थे। किन्तु, यह मत सर्वमान्य न था। कुछ विद्वान् माता और पिता दोनों को वंश्य मानते थे और दोनों के नाम पर अपत्य-नाम स्वीकार करते थे।

पुत्र के बाद पुत्र होना प्रसन्नता की बात मानी जाती थी। ऐसे पुत्र को पुत्रानुज[8] कहते थे। इसी प्रकार, कुलीन माता की सुशील एवं सदाचारिणी पुत्री को कुलपुत्री या कुलदुहिता[9] कहते थे। पुत्री रूप गुण और शील में बहुत कुछ माता के समान[10] होती है। इसीलिए, कुलीनता को इतना महत्त्व दिया जाता था।[11] पाणिनि ने कुकुल कुल और महाकुल तीनों का पृथक उल्लेख किया है। इनमें उत्पन्न सन्तान क्रमशः कुलीन महाकुलीन[12] और दुष्कुलीन[13] होती थी।

सामाजिक प्रतिष्ठा—पतंजलि का युग स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा के अपेक्षाकृत ह्रास का काल था। यद्यपि स्त्रियों में अब भी आपिशल और काशकृत्स्न-प्रणीत ग्रन्थों की अध्ययन-

---

१ ६-३-३५, पृ० ३२३।
२ ४ १ १३४, पृ० १४४।
३ ४ १ १३८।
४ ४ १ १४३।
५ ४ १ १४७, पृ० १४५।
६ ४ १ १६३ ४ १ ९४।
७ न स्त्री वंश्या—अपत्याद् ह्यनेन वंशी मातृवंशः पितृवंशश्च।—४-१ ११४, पृ० १४६, १४७।
८ ६ ३ ३, पृ० २९९।
९ ६ ३-७० पृ० ३४७।
१० १ १-५७, पृ० १६५।
११ ४ १ १३९।
१२ ४ १ १४१।
१३ ४-१ १४२।

दीक्षा विद्यमान थीं।[1] कठ कालाप और बह्वृच शाखाओं में विदुषियाँ विद्यमान थीं।[2] कुमारियाँ बाल्यकाल से ही दीक्षा लेकर श्रमणा और प्रव्रजिता का जीवन बिताती थीं।[3] कुछ कुमारी रहकर अध्यापिका का काम करती थीं। कुछ धार्मिक सम्प्रदायों की श्रेष्ठ प्रचारिकाएँ स्त्रियाँ थीं।[4] इस प्रकार, स्त्रियों में उच्च शिक्षा का प्रचार अब भी था तो भी वह बहुत-कुछ ब्राह्मणों एवं राजन्य-वर्ग तक सीमित रह गया था। स्त्रियों को आचार्या और उपाध्याया का पद भी प्राप्त होता था।[5] उच्च परिवारों में पर्दे की प्रथा थी। राज-परिवार की स्त्रियाँ तो असूर्यम्पश्या' थीं। वे सूर्य (पुल्लिङ्ग) तक का मुख नहीं देख पाती थीं। स्त्रियाँ सभा में नहीं जाती थीं। सभा-गृह में साधुपुरुष को सभ्य कहते थे किन्तु स्त्री सभा में साधु नहीं मानी जाती थीं। यदि सभा का अर्थ श्रीवासुदेवशरण शास्त्री के अनुसार यज्ञ-सभा को जिसमें विद्वान् पुरुषों का ही जाने का अधिकार है मान लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों में अध्ययन की प्रवृत्ति भी नष्ट होने लगी थी और यज्ञादि सभा में उनकी उपस्थिति अच्छी नहीं मानी जाती थी। यदि सभा से तात्पर्य नगर-सभा या शाला से है तो भी यह स्पष्ट है कि स्त्रियों का पुरुषों के साथ सार्वजनिक समारोहों में भाग लेना अच्छा नहीं माना जाता था। इसीलिए तो भाष्यकार ने कहा है कि 'तब साधु' सूत्र स्त्री के सम्बन्ध में प्रत्यय का विधान नहीं करता क्योंकि स्त्री सभा में साधु (भली) कैसे लग सकती है?[6] पाणिनि के 'प्रत्यभिवादे शूद्रे' (८ २-८३) सूत्र पर कात्यायन का वार्तिक और उसपर पतंजलि का भाष्य इस बात का प्रमाण है कि पाणिनि के बाद स्त्री की स्थिति गिरते-गिरते लगभग शूद्रों के समकक्ष आ गई थी। पाणिनि-काल में छोटों के द्वारा बड़ों को प्रणाम करने पर बड़ों की ओर से किये प्रत्यभिवाद में शूद्र के लिए प्लुत नहीं किया जाता था। उदाहरणार्थ यदि देवदत्त गुरु को प्रणाम करता तो प्रत्यभिवाद में गुरु कहता 'भो आयुष्मानेधि देवदत्ता३'। इस वाक्य में गुरु देवदत्त के अन्तिम स्वर को प्लुत बोलता किन्तु यदि कोई शूद्र प्रणाम करता और उसका नाम देवदास होता तो वही व्यक्ति आशीर्वाद देता—'भो आयुष्मानेधि तुषजक'। तब तुषजक का अन्तिम स्वर प्लुत नहीं किया जाता था। पतंजलि के समय में स्त्रियों को भी शूद्रों के साथ जोड़ दिया गया और शूद्रा के समान उनके प्रणाम के उत्तर में भी प्लुत नहीं किया जाने लगा। यदि गार्गी गुरु को प्रणाम करती तो वह बिना प्लुत के प्रत्यभिवाद करता—'भो आयुष्मती भव गार्गि'। इस प्रकार शूद्र स्त्री और असूयक (अविनीत) इन तीनों का स्थान शिष्टाचार की सामान्य मर्यादा में भी निम्नकोटि का माना जाने लगा था।[7] स्त्रियों और पुरुषों

१ ४ १ १४, पृ० ११।
२ वही।
३ ९-१-७०।
४ ७-१-४५, पृ० १९०।
५ ४ १ ४९, पृ० ६३।
६ ९ १ १, पृ० २१२।
७ ४ १ १५, पृ० ४०।
८ ४ १ १५, पृ० ४०।
९ ८-२-८३, पृ० ३८०।

के प्रति नमस्कार-पद्धति में इसी कारण अन्तर कर दिया गया था। अपने से बड़े पुरुषों के प्रति नमस्कार-निवेदन करते समय नमस्कारकर्ता अपने नामोल्लेख के साथ कहता था 'अभिवादये देवदत्तोऽहं भो' और गुरुजन उत्तर देते थे आयुष्मानेधि देवदत्त३ किन्तु स्त्रियाँ नमस्कार करते समय न अपना नामोच्चार करती थीं और न उन्हें नमस्कार करनेवाला अपना नामोच्चार करता था। आशीर्वाद देते समय स्त्रियाँ वाक्यान्त में प्लुति भी नहीं करती थीं क्योंकि उन्हें व्याकरण का ज्ञान नहीं होता था। भाष्यकार ने व्याकरण पढ़ने का एक उद्देश्य यह भी बतलाया है कि नमस्कार के प्रत्यभिवाद में हम प्लुति करना जान जायें अन्यथा छोटे सम्बन्धी बाहर से लौटकर हमें उसी प्रकार प्रणाम करने लग जायेंगे जिस प्रकार स्त्रियों को केवल 'यह मैं आ गया' कह अभिवादन कर लेते हैं।[1]

राजनीतिक प्रतिष्ठा—यह सत्य है कि जनपदों या प्रदेश विशेष की निवासिनी नागरिका के रूप में स्त्रियों की पृथक स्थिति स्वीकार की जाती थी। महाभाष्य में जनपदों की सदस्याओं के रूप में उनका पुरुषों से पृथक अस्तित्व स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ अवन्ती कुन्ति कुरु शूरसेन मद्र दरद्, अम्बष्ठ सौवीर पंचाल विदेह अंग वंग मगध भर्ग काश्य केकय यौधेय शौभ्रेय शौभ्रेय आदि की नागरिक स्त्रियाँ क्रमशः अवन्ती कुन्ती कुरू शूरसेनी मद्री दरद् आम्बष्ठ्या सौवीर्या पांचाली वैदेही आंगी वांगी मागधी भार्गी काश्यी कैकेयी यौधेयी शौभ्रेयी और शौभ्रेयी कहीं जाती थीं। इसी प्रकार पर्शु रक्षा असुरी काश्मीरी साल्वी ग्रावजेयी वार्तेयी भार्तेयी भैगर्ती मारुती औशीनरी आदि नाम सम्बद्ध प्रदेशों की स्त्रियों के लिए व्यवहृत होते थे।[2] इसी प्रकार गोत्रापत्यों में भी बहुत्ववाचक स्त्री-पुरुषों में भेद किया जाता था और स्त्री गोत्रापत्यों के लिए पृथक शब्दों का व्यवहार था। उदाहरणार्थ— यस्क लभ्य दुह्, गर्ग विद वत्स अग्नि भृगु, कुत्स वसिष्ठ गोतम अंगिरस आदि गोत्रों की स्त्रियों (बहुवचन में) के बोधक शब्दों में अपत्यार्थ प्रत्यय बना रहता था किन्तु पुरुषों के वाचक शब्दों में प्रत्यय का लुक (लोप) हो जाता था। इस प्रकार, यस्क के पुरुष गोत्रापत्य 'यस्काः' कहलाते थे और स्त्रियाँ 'यास्क्यः'। लभ्याः (लाभ्य) दुह्याः (दौह्य) गर्गाः (गार्ग्य) विदाः (वैद) वत्साः (वात्स्य) अग्नयः (आग्नेय्य) भृगवः (भार्गव्य) कुत्साः (कौत्स्य) वासिष्ठाः (वासिष्ठ्यः) गोतमाः (गौतम्य) अंगिरसाः (आंगिरस्य) आदि अनेक अन्य गोत्रापत्यों में यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता था।[3] प्राच्य गोत्रों यथा पञ्चागार, मल्लरथ भरत गोत्रों यथा युधिष्ठिर, अर्जुन आदि गोत्रों में यह अन्तर प्रचलित था। किन्तु, इस अन्तर का प्रभाव उनकी सामाजिक स्थिति पर नहीं था। नागरिक के रूप में पृथक परिगणित होने से उन्हें कौन-

---

१ अभिवादे प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥
अभिवादे स्त्रीवन्मा भूम।—भा० १ पृ० ६।

२ ४ १ १७६ तथा ४ १ १७७, १७८ तथा २-४ ६२ पृ० ४९६।

३ २-४ ६३ से ६६।

४ २-४-६६ काशिका।

से विशेष अधिकार प्राप्त होते थे या कौन-सी प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी इसका उल्लेख भाष्य में कहीं नहीं मिलता। गोत्रापत्य के रूप में भी उनका पृथक् उल्लेख उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाता नहीं मालूम होता। वास्तव में यह अन्तर केवल लिंगभेद के लिए किया जाता था। इस अन्तर का यदि अन्य कोई उद्देश्य हो सकता था तो वह था स्त्रियों का पुरुषों से व्यवच्छेद करना जिससे उनके हीनत्व की ही पुष्टि विशेष होती है। गोत्रापत्य के एकवचन और द्विवचन के रूपों में वा मों भी कोई अन्तर नहीं किया जाता था। केवल बहुवचन का अन्तर लोक-व्यवहार के कारण था। इसमें इससे अधिक कुछ पढ़ने का प्रयास करना व्यर्थ है।

आजीवन कुमारियाँ—'कुमारः श्रमणादिभिः' (२.१.७०) सूत्र के श्रमणादि गण में पठित श्रमणा, प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, तापसी, दासी, बन्धकी, अध्यापिका और पण्डिता शब्द पतंजलिकालीन नारी की वास्तविक स्थिति पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं। कुछ नारियाँ शिक्षा, स्वाध्याय, वैराग्य और तप को सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर देती थीं। ये कुमारश्रमणा, कुमारप्रव्रजिता, कुमाराध्यापिका, कुमारतापसी और कुमारपण्डिता देवियाँ समाज का गौरव थीं। दूसरी ओर कुमारकुलटा, कुमारगर्भिणी स्त्रियाँ थीं जो इस बात को स्पष्ट करती हैं कि समाज में कहीं-न-कहीं घुन अवश्य लग चुका था और उसके वैवाहिक नियमों में ऐसे दोष आ चुके थे जो समाज को चरित्रहीनता की ओर ले जाते हैं। कुमारदासी और कुमारबन्धकी स्त्रियाँ समाज के धनाढ्य और धनहीन वर्ग के वैषम्य की ओर इंगित करती हैं जिसका दण्ड दुधमुँही निर्धन बालिकाओं को भी भुगतना पड़ता था।

गणिकाएँ—अनेक स्त्रियाँ गणिकाओं और नटियों का कार्य करती थीं। गणिकाओं की संख्या इतनी अधिक थी कि उनके संघ बन गए थे।[1] नटियों की प्रतिष्ठा इतनी कम थी कि रंगस्थल में कोई भी उनसे प्रेम की अभिव्यक्ति कर सकता था। वे भवसाम्या मानी जाने लगी थीं।[2]

—

१ गणिकानां समूहो गाणिक्यम्।—४-२-४० पृ० १७९।

२ नटानां स्त्रियोरङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः।—६-१२, पृ० १३।

अध्याय ६

निवासो

निवास—निवास लोगों के रहने के स्थान को कहते थे।[1] किसी व्यक्ति का निवास वह स्थान था जहाँ वह उस समय रहता था भले ही उसके पूर्वज वहाँ न रहे हों। पूर्वजों के निवास स्थान का नाम अभिजन था। इस प्रकार, किसी का निवास और अभिजन एक ही स्थान हो सकता था। किन्तु, यदि कोई पूर्वजों के स्थान को छोड़कर अन्यत्र रहने लगता तो उसके निवास और अभिजन भिन्न-भिन्न स्थान होते थे।

आकार, अर्थात महत्ता की दृष्टि से निवासों में अन्तर होता था। सामान्य निवास और विशिष्ट निवास के लिए भी पृथक नाम थे। निवास सामान्य शब्द था जो जनपद से शाला तक के लिए प्रयुक्त होता था। निवास के नाम पर लोगों के नाम पड़ जाते थे। स्रुघ्न जिसका निवास होता था उसे स्रौघ्न कहते थे। इसी प्रकार जिसका अभिजन मथुरा होता उसे माथुर कहते थे। व्यापक अर्थ में निवास देश का वाचक था और संकुचित अर्थ में घर का। घर के लिए भाष्य में निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग मिलता है—

शाला—शाला बहुत छोटा एक छप्पर का घर होता था। हिन्दी में इसका अपभ्रंश रूप सार (पशु बाँधने का छाया हुआ स्थान) प्रचलित है। सामान्य अर्थ में शाला शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट कार्य के लिए निश्चित घर होता था। जैसे गाय-बैल बाँधने का स्थान गोशाला[4] बहुत-से दण्डधारियों के रहने का स्थान दण्डिमती शाला[5] और बहुत-से युवकों के रहने का स्थान बहुयुका शाला कहा जाता था। शुल्क वसूल करने के लिए बनाया गया छोटा-सा स्थान शुल्कशाला था जिसके अधिकारी को शौल्कशालिक कहते थे। शाला सभा का भी पर्याय था। यह बात 'अशाला च' (२ ४ २४) से ध्वनित होती है। सभा शब्द संघात और शाला दोनों का बोधक था और इस प्रकार शाला और सभा पर्याय थे। काशिका ने इसी सूत्र का प्रत्युदाहरण

---

१ निवसन्त्यस्मिन्निति निवासो देश उच्यते।—४-३-८९ काशिका।

२ ४-३-८९, पृ० २४४।

३ ४-३-८९, ९० पृ० २४४।

४ २-४-२५।

५ ४ २ ९१ पृ० ४००।

६ ४ १ १३ पृ० १८।

७. ४ ४ ६९।

'कम्पदना' दिया है और सभा का अर्थ कुटी बताया है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि सभा कोठा घर होता था।[1]

इसका कमरा सुरक्षित और सुरक्षित रखने के लिए बनाई गई शाला को भी कहते थे। ग्रन्थकार ने 'विहनना' 'विहनना' और 'कुटुम्बशाला' का उल्लेख किया है। शाला में लोग रहते थे ही, परन्तु वह घर की तो वाचक थी ही 'विहनना' की भी वाचक थी। इसीलिए धान्यकोठ के योग्य अपूर्व वाहक को 'शालीन' कहते थे।

क्षय—निवास का एक अन्य नाम था क्षय। क्षय शब्द क्षि (निवास) धातु से अधिकरण अर्थ में प्रत्यय होकर बना है।[2] काशिकाकार ने क्षय शब्द के प्रयोग का सुन्दर उदाहरण भी दिया है—'क्षय आवृहि कम्बलम्'। इससे क्षय शब्द का अर्थ गृह स्पष्ट है।

गृह—गृह शाला से बड़ा होता था। प्रत्येक परिवार के पास एक गृह होता था। भाष्य के उल्लेखों से शाला और गृह में दो अन्तर मालूम होते हैं। प्रथम यह कि शाला गृह से छोटी या निम्न प्रकार की होती थी यद्यपि सर्वत्र ऐसा नहीं होता था और द्वितीय यह कि गृह व्यक्तिगत निवास को कहते थे और शाला का स्वरूप अपेक्षाकृत सामाजिक था। देवदत्त का घर कौन सा है? जैसे उल्लेख शाला के विषय में नहीं मिलते। इसी प्रकार, देवदत्त के घर ऊँचे हैं आदि वाक्यों में जिस प्रकार घरों के दुमंजिला या तिमंजिला होने का संकेत मिलता है उस प्रकार शाला के विषय में ऐसे संकेत उपलब्ध नहीं हैं। ऋग्वेद (२-४२ ३) आदि में गृह शब्द का प्रयोग बहुवचन में ही मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि गृह में एक-से अधिक कमरे होते थे। गृह को गेह भी कहते थे। गेह कुटी और मठ पर्यायवाची थे। गेह या कुटी छोटे भी होते थे और बड़े भी। प्रथम कुटी शाला के समान ही एक छप्पर या कमरे की होती थी। कमरे का आकार कितना भी बड़ा हो सकता था। छोटे आकार की कुटी को कुटीर कहते थे।[9]

निकाय—निवास का एक भेद निकाय भी था।[10] निकाय निवास-स्थान के अतिरिक्त संघ (प्राणिसमूह) का भी वाचक था। यथा भिक्षुकनिकाय ब्राह्मणनिकाय या वैयाकरण निकाय।[11] निवास से भिन्न अर्थ में निचेय शब्द का प्रयोग होता था। निकाय से मिलता-जुलता

---

१ ४ १-२१, २४ काशिका।
२ ६-२ १०२।
३ ४ १ २७ पृ० ४९।
४ ४ १-५५, पृ० ६९।
५ ६ ३-३५, पृ० १९२।
६ ५ २ ९०, पृ० १७२।
७ ६ १ ९०१ काशिका।
८ १ १ २६ पृ० २१९।
९ ४ १-९९, पृ० ११७।
१० ३-३-४१।
११ ३-३-४२ काशिका।

एक दूसरा शब्द निकाय्य भी आवास के लिए प्रचलित था।[1] इन दोनों शब्दों की निष्पत्ति पाणिनि ने निपातन द्वारा बतलाई है। निकाय और निकाय्य संघों के निवास-स्थान थे।

अगार—अगार गृह से बड़ा होता था। इसके कई खण्ड होते थे। एक ही अगार के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न भिन्न कार्यों के लिए उपयोग में आते थे। अगार राजकीय भवन होते थे। बड़े मन्दिरों के लिए अगार शब्द का प्रयोग हुआ है। अगार की देखभाल के लिए अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। देवागार, कोष्ठागार, भाण्डागार आदि के लिए नियुक्त अधिकारी देवागारिक कोष्ठागारिक और भाण्डागारिक आदि कहलाते थे।[2]

निषद्या—निषद्या उस निवास को कहते थे जहाँ यात्री आवश्यकतानुसार ठहरता था। निषद्या एक प्रकार की धर्मशाला या सराय होती थी।[3]

विशिष्ट निवास—कुछ मकान केवल विशिष्ट व्यक्तियों के ही रहने या ठहरने के लिए निश्चित रहते थे। वे स्थान एकशालिक या ऐकशालिक कहलाते थे।

इस प्रकार, आकार भेद से तथा कार्य-विशेष के लिए निश्चित रहने के कारण निवास के अनेक भेद हो गये थे। इनमें शाला एकशालिक गृह वेश्म कुटी मठ कुटीर, सद निकाय निकाय्य निषद्या और अगार का उल्लेख भाष्य में मिलता है।

प्रासाद और हर्म्य—इनके अतिरिक्त दो प्रकार के निवास और थे—हर्म्य तथा प्रासाद। हर्म्य धनियों के घर को कहते थे।[4] ये अपेक्षाकृत बड़े और सुन्दर होते थे। हर्म्य एक से अधिक मंजिलों के और खूब ऊँचे होते थे। हर्म्य में गृह तथा पास-पड़ोस की भूमि और पशुशाला के सम्मिलित रहने का भाव था (वैदि० इण्डे० २ ५१०)। प्रासाद राजभवन होते थे।[5] भाष्यकार ने पाटलिपुत्र के प्रासादों की बार-बार चर्चा की है। इससे स्पष्ट है कि प्रासाद राजधानियों में बनाये गये बड़े बड़े महलों को कहते थे। प्रासाद भी छोटे-बड़े दोनों प्रकार के होते थे। कभी-कभी छोटे प्रासाद कुटी-से दिखाई पड़ते थे।

गृहनिर्माण-विधि—छोटे-छोटे घर या शालाएँ छप्पर से छाये जाते थे। छप्पर विशेष प्रकार के तृणों से बनते थे और छदि कहलाते थे। छदि के काम आनेवाले तृण छादिषेय कहे जाते थे। छदि में काष्ठों (सरकण्डों) का प्रयोग भी अधिक होता था। इसलिए, उसे काण्डीर भी कहते थे।[6] दीवारें या भित्तियाँ मिट्टी और ईंटों की बनती थी। पक्की और कच्ची दोनों प्रकार की

१ ३ १ १२९।
२ ४ ४-७०।
३ ३-३ ९९।
४ ५ ३-१०९।
५ १ ३-४० पृ० ६७।
६ १ १-८, पृ० १५७।
७. ३-१ १०, पृ० ४४।
८. ५ १ २, पृ० २९४।
९. भा० २, पृ० ७६।

ईंटें भित्तिकर्म के लिए व्यवहार में आती थीं। ईंटों से बनी दीवार इष्टकचित और पक्की दीवार पक्वेष्टकचित कही जाती थी।[1] अच्छे मकानों में नीचे पक्का फर्श बनाया जाता था। पक्के फर्श को 'कुट्टिमभूमि' कहते थे।[2] मकानों के फर्श ऊँचे बनाये जाते थे जिससे वर्षा का पानी उसके भीतर न भर जाय। ये ऊँचे फर्श वेदिका कहलाते थे। वेदिका या पुण्डरीक की विशेष बनावट मकानों की पहचान के भी काम आती थी। 'क्तस्तत्स्थु निष्ठा' (१ १-२६) सूत्र के भाष्य में कहा गया है देवदत्त का घर कौन-सा है यह पूछने पर किसी ने उत्तर दिया, 'जहाँ कौआ बैठा है' तो कौए के उड़ जाने पर या खो जाने पर घर भी खो जायगा किन्तु दूरवर्ती उस अस्थिर चिह्न से कोई स्थिर चिह्न यथा वेदिका या पुण्डरीक ग्रहण कर लेगा।[3]

घर के कमरों में वायु तथा प्रकाश के लिए झंझरी या गवाक्ष बनाये जाते थे। घर के भीतर आँगन रहता था जिसे अजिर कहते थे।[4] स्नान के लिए पृथक स्थान निश्चित रहता था जिसे प्रस्न कहते थे।[5] सामान टाँगने के लिए दीवारों में लकड़ी की खूँटियाँ गाड़ दी जाती थीं जो शंकु कहलाती थीं। घरों में दीपक रखने का स्थान भी बनाया जाता था जो घर के भीतर ऐसे स्थान में होता था जहाँ रखा हुआ दीपक सारे घर को प्रकाशित कर सके। दीपक मिट्टी के होते थे जो हवा से बुझ जाते थे।[6]

अगार बड़ा मकान होता था। इसे वेश्म भी कहते थे।[7] अगार के बाहरी कोठे को जो गृहस्थ के घर का एक भाग था[8] आवसथ कहते थे। इसमें आवसथ्य अग्नि रखी जाती थी और उसमें रहनेवाला आवसथिक[9] कहलाता था। आवसथ यज्ञ या उत्सव पर्वों के अवसर पर अतिथियों खासकर ब्राह्मण अतिथियों के स्वागतादि के लिए बनाया जाता था (अथर्व ९ ६ ३)। वैदिक इण्डेक्स में इसे धर्मशाला का एक रूप माना है (भाग १ पृ० ६६)। अगार का ही एक भाग प्रघण या प्रघाण कहलाता था।[10] प्रघण द्वार के पास के कमरे होते थे जिनमें प्रायः अगार-रक्षक रहते थे। द्वार भवन का बाह्य मार्ग होता था। अगारों हर्म्यों और प्रासादों के द्वार पर रक्षक

---

१ ६ ३ ६५ तथा १ १-७२, पृ० ४५५।
२ ४ ४-२० पृ० २७५।
३ १ १-२६, पृ० २१८, १९।
४ ७-४-४१, पृ० २३५।
५ २ ४-५४ पृ० ४९०।
६ ३-३-५८, पृ० ३०८।
७ ५ १-२, पृ० २९८।
८ १ १ ४६, पृ० २९८।
९ ८ २-५०, पृ० ३९८।
१० १ १ ४६, पृ० २९८।
११ ५ ४ ४३।
१२ ४ ४-७४।
१३ ३-३-७९।

नियुक्त रहते थे जो दौवारिक कहलाते थे।[1] काशिका ने द्वार को अभिनिष्क्रमण-क्रिया का करण कहा है।[2] द्वार कपाटों से बन्द किये जाते थे जिससे चोर घर में प्रवेश न कर सकें।[3] द्वार से ही घर का नाम दुरोण पड़ा (वैदि० इन्डेक्स १ ३९०)। किवाड़ परिघ या पलिघ द्वारा भीतर से बन्द कर लिए जाते थे। पलिघ लोहे की छड़ या चटखनी होती थी।[4] लौह-शृंखला का व्यवहार द्वार बन्द करने में होता था। शृंखलाएँ पशुओं को बाँधने के भी काम आती थीं।[5] इस तरह बन्द किवाड़ों को भी तोड़-फोड़कर शक्तिशाली चोर माल-मत्ता निकाल ले जाते थे। इसीलिए, वे कपाटघ्न कहलाते थे।[6]

मकानों के ऊपर (सबसे ऊपर) अटारी या बुर्जी बनाई जाती थी जिसे वामलूरी[7] कहते थे। छत की दीवार के आगे छज्जे बनाये जाते थे और उन्हें कलापूर्ण खुदाई या कारीगरी से सजाया जाता था। छज्जे वलभी[8] कहलाते थे। मलिन्द छप्परों या छज्जों की ढलती को जिससे बरसात का पानी टपकता था वलीक कहते थे।[9]

मकानों में पहली के ऊपर बनाई हुई अन्य मंजिलें अट्टालिका कहलाती थीं। मकान में ऊपर का भाग भी अट्टालिका कहलाता था। इसी अनुकरण पर एक के ऊपर एक लगाई हुई गाँठ या बन्धन को अट्टालिका-बन्ध कहते थे।[10]

मकान बनाने की विद्या या कला को वास्तुकर्म वास्तोष्पतीय या वास्तोष्पत्य कहते थे। इसका देवता वास्तोष्पति माना जाता था। वास्तुकर्म से सम्बद्ध वस्तु को वास्तव्य कहते थे।[11]

---

१ ४-४-७०।
२ ४ ३-८६।
३ ३-२-५८।
४ ८ २ २२, पृ० ३४५।
५ ५ २-७९।
६ ३-२-५४।
७ ६-२-८२, पृ० २७४।
८ वही।
९ ३-१-८७ पृ० १५५।
१० ३-४ ४१ पृ० ३६२।
११ ४ २ ३२ तथा ३ १-९६, पृ० १८०।

अध्याय ७

ग्राम और नगर

आर्य-निवास—भाष्यकार ने आर्य-निवासों के ग्राम, घोष, नगर और संवाह ये नाम बताये हैं।[1] घोष थोड़ी-सी झोपड़ियों का छोटा-सा गाँव होता था। इसमें एक प्रधान पुरुष और अन्य उसी के समान या उससे छोटी स्थिति के लोग रहते थे। जैसे गार्ग्यों का घोष, वात्स्यों[2] का घोष या दाक्षिघोष।[3] घोष मुख्यतः गाय, भैंस आदि पशु पालनेवालों की बस्ती होती थी। जिस स्थान में ब्राह्मण तथा कृषक अधिक रहते थे, उसे ग्राम कहते थे। प्राकार और परिखावाली बस्ती, जिसमें अलग-अलग जातियों के लोग अलग मुहल्लों में रहते थे, नगर कहलाती थी। अधिक जनसंख्या वाले नगर को संवाह कहते थे। इस प्रकार, घोष और ग्राम बसावट की दृष्टि से समान थे तथा नगर और संवाह समान थे। देश ग्राम, नगर, जनपद[4] और राष्ट्र[5] इन चार भागों में विभक्त था।

ग्राम और नगर में साम्य—ग्राम और नगर अनेक बातों में समान थे। इसलिए कई बार ग्राम और नगर में अन्तर नहीं किया जाता था। उदाहरणार्थ, यदि कहा जाता कि ग्राम्य कुक्कुट और ग्राम्य शूकर का मांस नहीं खाना चाहिए, तो लोग नागर शूकर और नागर कुक्कुट का भी मांस नहीं खाते थे। इसी प्रकार, गाँव में अध्ययन नहीं करना चाहिए, इसका अर्थ होता था कि नगर में भी अध्ययन नहीं करना चाहिए। यह बात सामान्य विधियों के विषय में थी, किन्तु बस्ती की दृष्टि से यदि ग्राम का उल्लेख होता, तो उसमें नगर नहीं शामिल माना जाता था। उदाहरणार्थ, यदि किसी से पूछा जाता कि आप कहाँ से आ रहे हैं और यदि वह इसके उत्तर में कहता कि ग्राम से नहीं, तो स्वतः यह अर्थ समझ लिया जाता था कि नगर से आ रहा है। इसलिए ग्राम भिन्न था और नगर भिन्न। तात्त्विक अन्तर न होने पर भी संस्थान (रिवाज) विशेष के कारण ग्राम, घोष, नगर और संवाह ये भेद बन गये थे। भाष्य के मत से ग्राम कहने से नगर का भी ग्रहण होना चाहिए।[6]

ग्राम-रचना—ग्राम शाला-समुदाय अर्थात् घरों के समूह को कहते थे। गाँव जल गया,

---

१ कः पुनरार्यनिवासः? ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति।—२ ४ १०, पृ० ४६५।

२ ४-३-१२७ पृ० २५१।

३ ६-२-८५।

४ १-१ ६३, पृ० ४१४।

५ ५ ३-७२, पृ० ४००।

६ ७-२-१४, पृ० १८०।

इसका अर्थ 'घर पक गये' माना जाता था। गाँव के सीमा-चिह्न पत्थर, खाई आदि भी ग्राम में ही अन्तर्निविष्ट थे। गाँव में प्रविष्ट हुआ इसका अर्थ कि ग्राम के सीमासूचक चिह्नों के भीतर आता था। ग्राम कहने से ग्रामनिवासियों का भी बोध होता था। गाँव गया गाँव आया का अर्थ गाँव में रहनेवाले लोग गये या आये ऐसा समझा जाता था। गाँव से सम्बद्ध अरण्य स्थण्डिल और सीमा-सूचक वस्तुएँ सब गाँव का अंग मानी जाती थीं। गाँव मिल गया' का अर्थ था कि गाँव की बस्ती खेत अरण्य तट, नदी आदि सब मिल गये। इसीलिए, वे दो गाँव अनन्तर या पड़ोसी माने जाते थे जिनके अरण्य खेत तथा सीमाएँ परस्पर जुड़ी रहती थीं भले ही उनके बीच में नदी या पहाड़ी का व्यवधान हो। इस प्रकार के व्यवधान उनके आनन्तर्य में बाधक नहीं माने जाते थे।[1]

ग्राम एक मकान के भी होते थे और बड़े भी।[2] प्रायः सभी जाति के लोग ग्रामों में निवास करते थे। जिस गाँव में एक ही जाति या वर्ण की प्रमुखता होती थी उसमें भी कम-से-कम लुहार, कुम्हार, बढ़ई, नाई और धोबी ये पाँच कारु (शिल्पी) अवश्य रहते थे।[3] जिस जाति के लोग गाँव में अधिक रहते थे उसी के नाम पर गाँव का नाम पड़ जाता था जैसे 'ब्राह्मणग्राम'। गाँव का मुखिया ग्रामणी कहलाता था। गाँव की सीमा से लगे हुए सीमा से बाहर या भीतर के घर अन्तर-गृह कहलाते थे। चण्डाल मृतप आदि लोगों के ये घर होते थे। ये लोग नगरबाह्य होते थे।[4] एक ही ग्राम में रहनेवाले समानग्रामिक कहलाते थे।[5]

ग्राम्य अरण्य—गाँव चारों ओर से अरण्यों से घिरे रहते थे। ग्राम के बगीचे[6] न्यग्रोधों के समूह किरीप आदि के वृक्ष बस्ती के चारों ओर लगाये जाते थे। उनकी सीमाएँ या तो नदी से निश्चित की जाती थीं या सीमा-बोधक चिह्न बनाये जाते थे। गिरि, कठिन (झाड़ियाँ)[7] प्रस्तार, वन[8] चमस आदि से भी सीमा निश्चित की जाती थी।

ग्राम-पानीय—गाँव के भीतर पानीय होते थे।[11] सभी गाँवों में पानी की व्यवस्था थी। एतदर्थ लोग कुएँ खोदते थे। भाष्यकार ने कहा है कि कूपखानक कूप खोदते समय धूल-मिट्टी

---

१ १ १-७, पृ० १५५।

२ एकशालो ग्राम ।—१ १ ११, पृ० २०१।

३ ब्राह्मणग्राम आनीयतामित्युच्यते तत्र चावरतः पञ्चकारवोऽभवन्ति ।—१ १ ४८, पृ० २९५।

४ १ १ १९, पृ० २४७।

५ १ १ १६, पृ २१८ तथा वहीं काशिका।

६ ४ ३-६० पृ० २१७।

७ १ १-७ पृ० १५५।

८ १ १-४६, पृ० १४२।

९ ४ ४-७२।

१० ७-३-२५।

११ ग्रामे ग्रामे पानीयम् ।—८ १ १, पृ० २५८।

से अवकीर्ण हो जाता है किन्तु जब कुएँ में पानी आ जाता है तब उस पानी से धूल-मिट्टी तो धुल ही जाती है अन्य भी बहुत-सा काम[1] होता है। कुओं के पास पशुओं के पीने के लिए पानी के हौज बनाये जाते थे जो निपान कहलाते थे।[2] आदमियों के लिए भी प्याऊ बनाये जाते थे जिन्हें प्रपा[3] कहते थे। निपान को आहाव भी कहते थे क्योंकि यहीं खड़ा होकर गाँव के पशु चरानेवाला ग्रामचीन पशुओं को बोलने के लिए हाँक मारता था।[4] कुएँ समय-समय पर साफ किये जाते थे। जो लोग यह काम करते थे वे उदपाह[5] कहलाते थे। इसी प्रकार कुओं से पानी ढोनेवालों को उदहार या उदकहार और जिस काँवर से वे पानी ढोते थे उसे उदवीवध या उदकवीवध कहते थे।[6] उदहार प्रायः कहार होते थे।

ग्राम-परिसर—गाँव के चारों ओर की भूमि तीन भागों में बँटी रहती थी—सीत्या गोचर[7] और ऊसर।[8] सीत्याभूमि केदारखण्डों में विभक्त थी जिसमें अन्न बोया जाता था। गोचर भूमि पशुओं के चरने के लिए नियत थी। बन्ध्या भूमि को ऊसर कहते थे। गोचर भूमि में चरनेवाले ग्राम्य पशुसंघों का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है।[9] गाँव का वह क्षेत्र जहाँ गाँव के पशु प्रायः बैठते थे या बँधते थे गोष्ठ कहलाता था। जहाँ एक बार गोष्ठ रहा हो किन्तु बाद में उजड़ गया हो वह स्थान गोष्ठीन कहा जाता था।[10] गोष्ठ गाँव के बाहर पशुओं के बाड़े होते थे जिनका स्थान आवश्यकतानुसार बदलता रहता था। जब एक स्थान आसितंगु या आसितंगवीन हो जाता था[11], तो गोपाल लोग दूसरे स्थान में गोष्ठ बना लेते थे। गाँव में सेवक और नायक भी होते थे और जिन गाँवों से वे चले जाते थे उन्हें विसेवक और विनायक कहते थे।[12]

नगर-निर्माण—नगर शब्द मत्वर्थ (वाला) में नग शब्द के आगे र प्रत्यय होकर बना है, जिसका अर्थ है नग अर्थात् वृक्षोंवाला।[13] भाष्यकार ने पृथक वार्तिक द्वारा नगर की व्युत्पत्ति

१ कूपखनकः कूपखनन् मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति सोऽप्सु सञ्जातासु तत एव तं गुणमासादयति येन सदोषो निर्हण्यते। भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति।—भा० १, पृ० २४।

२ ३-३-७४।

३ ३-१-५८, पृ० १०८।

४ वही, ३-३-७५।

५ ३-२-१०।

६ वही।

७ ४ ४ ९१।

८ ३-३-११९, पृ० ११८।

९ ४ २-१०७, पृ० ४११।

१० १ २-७३।

११ ५-२-१८, गोष्ठ भवेन तमिहितगोसमूहो देश उच्यते (का०)।

१२ ५ ४-६ काशिका।

१३ १ ४ ६० पृ० १११।

१४ ५-२ १०७, पृ० ४११।

प्रतिपादित की है। अन्यत्र भी उन्होंने नगर को वनस्पतियों से युक्त कहा है।[1] भाष्यकार के इन कथनों से तत्कालीन नगर बसाने की पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। नगर ऐसे ही स्थानों पर बसाये जाते थे जहाँ जल की पूरी सुविधा हो हरी भरी उपजाऊ भूमि हो और जहाँ वनस्पतियों का आधिक्य हो। ऐसे स्थान में नगरकार लोग सर्वप्रथम नगर-सीमा निश्चित करते थे।[2] भाष्य में नगरकार शब्द का बार-बार उल्लेख नगर-निर्माण-कला का उत्कर्ष सूचित करता है। नगर-निर्माण करने-वाले शिल्पियों का विशेष वर्ग इस कार्य के लिए उत्तरदायी होता था। ये लोग पहले परिखा और प्राकार तैयार करते थे। एतदर्थ उपयुक्त भूमि का चुनाव करना पड़ता था। परिखा (चतुर्दिक खाई) के योग्य भूमि पारिखेयी कही जाती थी।[3] परिखा-युक्त नगर को पारिख और उसमें होने वाली वस्तु को पारिखीय कहते थे।

नगर-प्राकार—नगर की दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु थी उसके प्राकार। परिखा और प्राकार बाह्य आक्रमणों से नगर की रक्षा के लिए बनाये जाते थे। पतंजलि ने जहाँ अनेक महत्त्व-पूर्ण नगरों का उल्लेख (प्राकार के लिए भी पहले से ही उचित भूमि और मजबूत ईंटों का चुनाव कर लिया जाता था)[5] किया है वहाँ वे उनके प्राकारों का उल्लेख करना नहीं भूले हैं। पाटलिपुत्र[6] और सुघ्न के प्राकारों का विशेषतः तथा अन्य नगरों के प्राकारों का सामान्यतः उल्लेख उन्होंने किया है।[8] प्राकार इतने ऊँचे और चौड़े बनते थे कि उनके ऊपर से आवागमन की व्यवस्था रहती थी। प्राकार ईंटों से बनाये जाते थे।

नगर-प्रासाद—प्रासाद नगर की तीसरी विशेषता थी। प्रासाद महलों को कहते थे जो अन्य घरों से भिन्न होते थे। उच्चता विस्तार और रचना सभी दृष्टियों से ये अधिक महत्त्वशाली थे। इनसे नगर का गौरव बढ़ता था। इसीलिए, भाष्य में सुघ्न[10] और पाटलिपुत्र[11] के प्रासादों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। प्राकार सम्पूर्ण नगर की वस्तु थी किन्तु प्रासाद व्यक्तिगत सम्पत्ति[12] थे। प्रासादवासी लोगों का सामाजिक महत्त्व अधिक था। प्रासादवासी ऊपरी मंजिलों में रहते थे।

---

१ १ १-५१ पृ० ५५१।

२ १ १ ३९, पृ० २४७।

३ ५ १ १७।

४ १ १-५८ पृ० ३८०।

५ ५ १ १६। प्राकार आसामिष्टकानां स्यात् प्राकारीया इष्टकाः प्राकारीयो देशः।—वही, काशिका।

६. ४-३-१३४ पृ० २५८ तथा ४ ३ ६६ पृ० २१९।

७. ४ ३-२९, पृ० २३३।

८. १ ३-१२९, पृ० १६४।

९. ५ ३-१००।

१० ४ ३ ७९, पृ० २३३।

११ ४ ३-१३४, पृ० २५८।

१२ ५ १ ११ पृ० ३०४।

सामान्य गृहवाले नीचे भूमि पर रहते थे। भाष्यकार ने इन्हें क्रमशः प्रासादवासी और भूमिवासी कहा है। कुछ लोग उभयवासी भी होते थे। इनके पास प्रासाद भी थे और सामान्य गृह भी।[1] प्रासाद में कई मंजिलें होती थीं। उनकी उच्चता भी ध्यान आकृष्ट करती थी। प्रासाद पर चढ़कर देखने का अर्थ था ऊँचे चढ़कर देखना।[2] इसीलिए, गृहों के प्रवेश-सत्कार से सम्बन्ध रखनेवाले अनुप्रवचन (मन्त्र) गेहानुप्रवेशनीय कहे जाते थे किन्तु प्रासाद के प्रवेश से सम्बन्ध रखनेवाले प्रासादारोहणीय।[3] प्रवेश और आरोहण शब्द इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हैं।

नगर, प्राकार और प्रासाद इन तीनों शब्दों के लिए पतंजलि को स्वतन्त्र वार्तिकों का निर्माण करना पड़ा है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि पाणिनि और कात्यायन के समय तक ये शब्द अधिक प्रचलित न थे। प्रसाद और प्रकार से प्रासाद और प्राकार का भेद भाष्यकार ने इन्हें कृत्रिम कहकर स्पष्ट किया है।

प्रासादों के अतिरिक्त नगर में राजकीय निवास राजसभा[4] इनसभा कोष्ठागार,[5] भाण्डागार आदि राजकीय भण्डार, शुल्कादि की शालाएँ, द्यूतागार, प्रपा[7] या पानागार तथा आपण[8] प्रेक्षागृह आदि होते थे। आगारों का दायित्व उनमें नियुक्त अधिकारियों पर होता था। शुल्क-शालाओं और पानागारों की व्यवस्था के लिए भी राजकीय कर्मचारी[11] रहते थे।

नगर भाग—नगर के दो भाग होते थे—अन्तर और बाह्य। साधारण नागरिक 'पुर' के अन्तर भाग में रहते थे।[12] चण्डालादि की बस्ती बाह्य भाग में होती थी।[13]

नगर-मार्ग—नगर के मार्ग गाँव की गलियों से चौड़े होते थे—इतने चौड़े कि उनपर रथ आ-जा सकें। ऐसे मार्ग रथ्या कहलाते थे।[14] इधर-उधर से आनेवाले मार्ग यत्र-तत्र एक दूसरे

---

१ १ १-८, पा० १५७।
२ २-३-२८, पृ० ४२५।
३ ५ १ १११ पृ० ३४५।
४ ६-३-१२२, पृ० ३६४।
५ २-४-२३।
६ ४-४-७०।
७ ४-४-९१।
८ २-१ १ पृ० २१८।
९ ४ २ १०४ पृ० २०८।
१० ४-२-८०।
११ ४-४-७०।
१२ १ १ ३६ पृ० २३८ तथा काशिका।
१३ वही।
१४ ५ १ ६ पृ० २१८।

को काटते थे और इस प्रकार त्रिपथ त्रिपथ और चतुष्पथ बनते थे।[1] भाष्यकार ने दीर्घकेशी तथा बहुत स्थानोंवाली रथ्याओं का जिक्र किया है।[2]

नगर-द्वार—प्रत्येक नगर में चार मुख्य द्वार होते थे जिनपर द्वारपाल नियुक्त रहते थे।[3] ये द्वारपाल आवागमन पर नियन्त्रण रखते थे तथा निश्चित नियमों के अनुसार द्वार-कपाट बन्द करते थे। द्वारों के नाम रखने का भी नियम था। नगर का द्वार जिस प्रमुख नगर की ओर खुलता था उसी के आधार पर उसका नाम रखा जाता था। उदाहरणार्थ यदि कान्यकुब्ज नगर का द्वार मथुरा की ओर होता तो उसे माथुर द्वार कहते थे। इसी प्रकार स्रौघ्न या पाटलिपुत्रक द्वार[4] थे। इन द्वारों से होकर प्रसिद्ध नगरों को जानेवाले मार्ग का नाम भी गन्तव्य नगर के नाम पर पड़ जाता है। उदाहरणार्थ कान्यकुब्ज से स्रुघ्न या मथुरा जानेवाला मार्ग स्रौघ्न या माथुर कहा जाता था।[5] भाष्यकार ने इस प्रसंग में 'अभिनिष्क्रामति द्वारम्' (४ ३-८६) सूत्र में 'अभिनिष्क्रामति' शब्द पर आपत्ति करते हुए कहा है कि सूत्र में 'अभिनिष्क्रामति' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन द्वार निष्क्रमण नहीं कर सकता। जाने-आने की क्रिया तो चेतन पर ही अवलम्बित रहती है। इसलिए, 'अभिनिष्क्रमणं द्वारम्' कहना अधिक ठीक होता। काशिका ने कहा है कि द्वार अभिनिष्क्रमण-क्रिया का करण होता है। उसकी स्वातन्त्र्य से विवक्षा की गई है। पतंजलि ने उक्त आपत्ति का उत्तर स्वयं ही दे दिया है कि अचेतनों में चेतनावालों के समान उपचार देखा जाता है। जैसे घर का कोना बाहर निकल आया है या घर का कोना भीतर धँस गया है। इसी प्रकार यह द्वार मथुरा के सामने निकलता है आदि प्रयोग ठीक हैं।[6]

भाष्यकार ने ऐसे अनेक मार्गों का उल्लेख किया है जो एक नगर से दूसरे नगर को जाते थे। स्रुघ्न साकेत मथुरा और पाटलिपुत्र[7] जानेवाले मार्ग बड़े नगरों से सम्बद्ध थे।

परिखा प्राकार और द्वार नगर की प्रतिरक्षा के प्रमुख साधन थे। आक्रमणकारी प्राकार तोड़कर ही नगर पर अधिकार कर सकता था।

गन्धर्वनगर—भाष्यकार ने इन नगरों से भिन्न वायु-से प्रतीत होनेवाले उन गन्धर्वनगरों की भी चर्चा की है, जो दूर से तो दिखाई देते हैं किन्तु पास जाने पर हाथ नहीं लगते।[8]

---

१ २-३-५० पृ० ४०९।
२ ४ १-५४, पृ० ६६ तथा ४ १ १३, पृ० १४।
३ ३-२-१, पृ० १०९।
४ ४ ३-८६।
५ ४ ३-८५।
६ ४ ३-८६, पृ० २४१।
७ १ ३-२५, पृ० ६४।
८ बाह्लादिगण ४ १-९६।
९ ४ १ १३, पृ० १८।

अध्याय ८

गृह-सामग्री

सामान्य ग्रामीण घरों में रहनेवाली दैनिक उपयोग की वस्तुओं का उल्लेख भाष्य में मिलता है। इनमें शयन-सामग्री, पात्र तथा घरेलू काम के हथियार आदि हैं।

शयन-सामग्री—शयन-सामग्री में बिष्टर[1] बिछौने या आसन के लिए प्रयुक्त होता था। बिष्टर के अंग कौन थे, इस बात का पता भाष्य से नहीं चलता। छोटी खाटें, जिन्हें मंचा या मंचक[2] कहते थे, बालकों के खाने-सुलाने के काम आती थीं। इन पर पड़े बालक खिलखिलाया[3] करते थे। खट्वा (खाट) पुरुषों के सोने के काम आती थी। इसे शय्या भी कहते थे। शय्या ऐसा शब्द था जो खाट के लिए ही प्रयुक्त होता था, हर शयन के लिए नहीं। यह मंच से बड़ी होती थी। सम्भव है, मंच पालने को भी कहते हों। अतः लोग भूल से मंच को मञ्च भी कह जाते थे।[4] खट्वा की चर्चा भाष्य में बार-बार आई है।[5] भाष्य में खट्वा से वस्तुओं के खरीदने का भी पता चलता है। किसी-किसी परिवार में बहुत खाटें होती थीं। उसे खट्वाढ्य कहते थे। खट्वा शयन के साधनों में एक थी। सामान्यतया लेटने के आधार को शयन और बैठने के आधार को आसन[7] कहते थे। जिसके पास खट्वा नहीं होती थी वह घास-फूस भूमि पर बिछाकर सो जाता था।[8]

बैठने के साधनों में द्विपदिका और त्रिपदिका घरों में रहती थीं।[11] ये दो और तीन पाँव की लकड़ी की तिपाई-जैसी वस्तुएँ थीं।

---

१ ८।१।९१।
२ भा० १, पृ० ३२।
३ मञ्च हसंति ।—४-१।४८, पृ० ५९।
४ १।१-९९।
५ भा० १, पृ० ३२।
६ भा० १, पृ० ३४।
७ ४-१।१, पृ० २६।
८ भा० १ पृ० ३६।
९ २-१-२८, पृ० ४२५।
१० १-२-११० पृ० २४५।
११ १।१-५७, पृ० ३५२।

खट्वा को पर्यक या पल्यंक और शय्या भी कहते थे।[१] आसन्दी या आरामकुर्सी का भी व्यवहार होता था।[२] यह प्रतिष्ठित लोगों का आसन था। लँगड़े या अपाहिज लोग पर्ण के सहारे चलते थे। इन्हें पर्णिक कहते थे।[३] पर्ण बैसाखी तथा पहियेदार कुर्सी दोनों को कहते थे।

पात्र—दैनिक व्यवहार के पात्रों में घट घटी कुम्भ कलश कलशी कुम्भी महाकुम्भ करक और कमण्डलु जलपात्र थे। घटी छोटे लोटे के बराबर का मिट्टी या धातु का पात्र था। यज्ञादि में वेदी के पास अनेक घटियों में जल भरकर रखा जाता था। घट उससे बड़ा था और सामान्यतः मिट्टी का बनता था।[४] कलशी घटी के आकार की होती थी।[५] कुम्भ घट से भी बड़ा होता था। कुम्भी मलैया या मिट्टी की छोटी-सी मटकी थी। महाकुम्भ कण्ठी के आकार का होता था जिससे एक मन तक वस्तु समा सकती थी। कुलाल ये सब पात्र बनाते थे। जिसे घट की आवश्यकता होती थी वह कुम्भकार के पास जाकर आवश्यकतानुसार बनवा लेता था।[६] घटी और घटिका समान थी।[७] इन्हें भी कुम्हार बनाते थे। कमण्डलु बड़े लोटे के आकार का ब्रह्मचारियों का जलपात्र[८] था। सामान्य लोटे को करक कहते थे।[९] छात्र प्रायः 'कमण्डलुपाणि' होते थे।[१०]

स्थाली (बटलोई) ओदन या सूप बनाने के काम आती थी।[११] पिठर थाली या छोटी थाली के आकार का (तेला या कटोरा) था।[१२] पिठर काँसे का बनता था जो बाद्य के समान बजाने के काम भी आता था।[१३] स्थाली के विभिन्न आकार थे। भिन्न-भिन्न परिमाण के तण्डुलों के पकाने के लिए अलग-अलग स्थालियाँ रहती थीं जिनके नाम उनकी पकाने की योग्यता के आधार पर पड़ जाते थे। जैसे एक द्रोण चावल पकाने की योग्यता रखनेवाली स्थाली द्रौणी या द्रौणिकी कहलाती थी। इसी प्रकार पात्रीणा आढकीना आचितीना पाक्यशीया फाणितिकी किंकुट्टीया आदि स्थालियाँ थीं।[१५]

---

१ ८-२ २२ पृ० ३६५।
२ ८-३-१९, पृ० ३३७।
३ ४ ४-१, पृ० २७४ तथा ४-४-१०।
४ भा० १ पृ० ५ तथा ३-२ १, पृ० २११।
५ भा० १, पृ० १७।
६ ४ ३-५१।
७ ३-१ १९, पृ० १९७।
८ भा० १, पृ० १७।
९ भा० १, पृ० १६।
१० १ ४-२, पृ० ३३१ तथा २ ३३ २६, पृ० ४२१।
११ ८ २-८४ पृ० ३९०।
१२ २-१ ३६, पृ० २६४।
१३ १ ४-१०६, पृ० २०८।
१४ ४-४-५५, पृ० २८०।
१५ ५ १-५२ से ५५, पृ० ३२५।

स्थाली के समान उखा या कटाह भी पकाने का पात्र था और उसके नाम भी स्थाली के समान प्रास्थिक आदि, पकाने की योग्यता के आधार पर होते थे।[1]

इनके अतिरिक्त कुम्भिका या कुम्भी, अमत्र कंस या कंसपात्री या कांस्यपात्री कपाल शराव आदि नित्य व्यवहार के पात्र थे। कुम्भी (कूंडी) पत्थर या लकड़ी की होती थी।[2] छोटे बड़े भेद से इनके अनेक आकार थे। माट को भी कुम्भिका कहते थे। यह मिट्टी की बनती थी। भाष्य में कुम्भिका से पानी टपकने का उल्लेख है।[3] अमत्र कठौती या उसी प्रकार का अन्य पात्र था जिसमें भात आदि परोसा जाता था। कंस कटोरी या कटोरा था जो कांसे या तांबे का बनता था। कंस दूध-भात खाने के काम आता था।[4] यह भी भिन्न-भिन्न आकारों का बनता था। लौह कंस (तांबे का कटोरा) इतना चमकता था कि बेरों की टोकरी (बदर पिटक) के बीच रख देने पर ऐसा प्रतीत होता कि उसमें बेर भरे हुए हैं।[5] कंस-पात्रों का प्रचार सम्पन्न घरों में ही विशेष था और यह गौरव की बात मानी जाती थी। कपाल कंस से बड़े आकार के होते थे। शराव प्याले के आकार के होते थे। शराव और कपाल मिट्टी के बने होते थे। शरावों का प्रचार अपेक्षाकृत अधिक था।[6] मिट्टी के पात्र पुराने होने पर बदल दिये जाते थे। नई कुम्भी और नई घटी का महत्त्व विशेष था।[7] काशिकाकार ने *'भक्ताख्यास्तदर्थेषु'* (६ २-७१) सूत्र के भाष्य में *भिक्षा-कंस श्राणा-कंस* और भाजी-कंस शब्दों का उल्लेख किया है। कंस जिस वस्तु के लिए व्यवहार में आते थे उसी के आधार पर उनके नाम पड़ जाते थे। ऋग्वेद में भी अमत्र का उल्लेख है। यह सोमपात्र के रूप में प्रयुक्त होता था।[10] उखा खाद्य वस्तुओं के उबलने के काम आती थी। यह कड़ाई का प्राचीन रूप था। ऋग्वेद के मन्त्र-प्रसंगों में इसका वर्णन है और वहाँ यह मृण्मयी बतलाई गई है।[11]

पेषणादि-साधन—भोजन से सम्बद्ध वस्तुओं में शूर्प और तितउ (चालनी) अन्न को साफ करने के काम आते थे।[12] उलूखल अन्न को कूटने के काम आता था। मूसल इस काम में उसका

---

१ ४-२ १७ तथा ५ १-५२।
२ ४-१ ४२ काशिका।
३ ३-१-८० पृ० १५५ तथा भा० १ पृ० १९।
४ ४ १ ४२ काशिका।
५ १ ३-१, पृ० १४।
६ १-२-३०, पृ० ५०३।
७ ८ ९-३, पृ० ३१७।
८ भा० १, पृ० १९।
९ ४ २ १४ काशिका।
१० १ १ ४४, पृ० २५९।
११ ३-३-२०, पृ० २९९ तथा भा० १ पृ० ८।
१२ ९-१ ३६, पृ० २८८ तथा १ १-५०, पृ० ३०७।
१३ भा० १ १६२ १३ १४, तैत्ति० सं० ४-१ ६ ३ तथा वाजस० सं०, ११-५९।

साथी था।[1] तिल्पीडनी प्रत्येक घर में नहीं होती थी। तेली के घर में होती थी, तथापि उसका महत्त्व प्रत्येक परिवार के लिए था।

उदञ्चन-साधन—उदकोदंचन उदंक (तेल ऊपर निकालने का साधन) कुएँ से पानी खींचने की रस्सी अश्मा (पीसने की सिल) और दृषद् (चक्की) ये गृहोपयोगी वस्तुएँ प्रायः सभी घरों में थीं। उदंक पीपे में से तेल निकालने के लिए था।[2] उदकोदंचन धातु-पात्र था जिससे घड़े में से पानी निकालते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में तथा शतपथ-ब्राह्मण में उदंचन शब्द पानी खींचने की बाल्टी के अर्थ में मिलता है।[3] रस्सी को भाष्यकार ने पाणिसम्मी कहा है। यह दुबड़ी या तिलड़ी बनाई जाती थी। रज्जु के बनाने या बटने को 'वर्तन' कहते थे। बटने के बाद रज्जु काष्ठ-स्तम्भ में रगड़कर चिकनी की जाती थी और तब वह संपुष्ट या संघुषित हो जाती थी।[4] इसके बाद दुबारा ऐंठकर वह तिलड़ी की जाती थी[5] और तब उससे पानी खींचा जाता था। अश्मा[6] (सिल) और दृषद्[7] (चक्की) ये दोनों पीसने के काम आते थे। दही मथने की मटकी तथा रई (मन्थ) भी प्रायः घरों में रहते थे।[8]

छिदा-साधन—असि[9] परशु,[10] दात्र[11] इध्म-व्रश्चन[12] पलाश-शातन[13] (हँसिया), आखन आखर, आखनिक[14] या आखनिकबक खादी[15] वृक्षादन[16] और अंकुशा[17] सामान्य व्यवहार के औज़ार थे। असि और परशु काटने के काम आते थे। दात्र (गड़ासी) को कहते थे। इध्म-व्रश्चन कुल्हाड़ी का नाम था जो लकड़ी काटने के काम आती थी। पलाश-शातन पेड़ों से पत्ते छाँटने के

---

१ भा० ९-१४ १।
२ ३-३-१२३ पृ० ११८।
३ ऐत० ब्रा० ७-३२ तथा शत० ब्रा० ४ ३-५ २१।
४ ३-१ १२४, पृ० १९९।
५ १ १ ४४ पृ० २७५।
६ ५ १ ११९, पृ० ३५५ तथा १ ३-२८, पृ० ६५।
७ १ ३ १ पृ० ८।
८ ४-३ २५, पृ० २३०।
९ ५ १ ११०।
१० १ ४-१ पृ० १०९, ११०।
११ २-१ २, पृ० २६४।
१२ ९-१ ३२, पृ० २८५।
१३ २-२-८, पृ० ३४२।
१४ वही।
१५ ३-३-१२५, पृ० ३१९।
१६ ४ १ ३, पृ० १८।
१७ वही।
१८ ९-१ १ पृ० ३९७।

काम आता था। आखन या आखर फावड़े को कहते थे। खोदने में इसका प्रयोग होता था। वृक्षादन कुल्हाड़ी का दूसरा नाम था। वाशी या कुल्हाड़ी और वृक्षादन एक ही औजार का नाम था। मकुला सरौते को कहते थे जो सुपारी आदि काटने के काम आता होगा।

भरनी और कोठे—पदार्थों को रखने के लिए जिन पात्रों का व्यवहार होता था उनमें घृतघट और तैलघट भोजन से सम्बन्ध रखते थे। ये अन्य घटों से भिन्न थे और केवल घृत तथा तैल रखने के ही काम आते थे। घी या तेल निकाल लेने पर भी उनकी घृतघट या तैलघट संज्ञा अक्षुण्ण रहती थी। ये घट कभी-कभी घी और तेल खत्म हो जाने पर अग्नि में तपाए जाते थे और तृण की कूची से मलकर साफ भी किये जाते थे जिससे उनमें रखे गये घृत या तेल खराब नहीं होते थे।[1] कुतुप चमड़े की कुप्पी होती थी जो तैलादि रखने के काम आती थी। कुतू कुतुप से बड़ी होती थी। कुतू आवपन थी।[2] उसमें भरकर अन्न बोया जाता था। उष्ट्रिका भी आवपन-पात्र[3] था। सम्भवतः ऊपर का भाग (गरदन) ऊँट के समान लम्बा होने के कारण इसका नाम उष्ट्रिका पड़ा था। दृति (मशक) चमड़े की थैली के रूप में व्यवहृत होती थी। दृति में भरी हुई वस्तु, दार्तेय कहलाती थी। भस्त्रा भस्त्रिका या भस्त्रका चमड़े की बनी मशक-जैसी वस्तु थी जो पदार्थ भरने के काम आती थी।[5] लुहार की चमड़े की धौंकनी को भी भस्त्रा कहते थे। गोणी और गोपी क्रमशः बड़े और छोटे आकार की बोरियाँ थीं जो प्रायः घरों में रहती थीं और अनाज भरने के काम आती थीं।[7] गोणी का प्रचलन आज भी ग्रामों में है। टट्टू पर अनाजादि लादनेवाले बनिये गोणी का ही उपयोग करते हैं। टट्टू की पीठ पर दो गोणियाँ दायें-बायें लटकाकर परस्पर जोड़ दी जाती हैं। वीवध (काँवर या बहँगी) पानी या अन्य सामान ढोने के काम आती थी।

अन्न भरने के लिए मिट्टी के अनेक पात्रों का प्रयोग किया जाता था। रबी या खरीफ की उपज इनमें भरकर रखी जाती थी जिससे चूहे या कीड़े उसे नष्ट न कर सकें। ऐसे पात्रों में कुम्भ कुम्हार का बनाया हुआ मटका होता[8] था। कलश और कलशी भी जिनका अपभ्रंश रूप कलसा और कलसी आज भी प्रचलित है अनाज भरने के काम आते थे।[9] कुसूल[10] उससे बड़ा मिट्टी का बना मटका या डेहरा होता था और कुम्भी कुम्भ का छोटा संस्करण।[11] कुसूल में बहुत अधिक

१ २ १ १, पृ० २४०।
२ ५ १-८९ काशिका।
३ ४ १ ३ पृ० २२।
४ ४ ३-५६।
५ ४ १ १४, पृ० ७४ तथा ४ ४ १६ तथा १ १-७२, पृ० ४५७।
६ १ २-५०, पृ० ५४२।
७ ४-४ १७ पृ० २७५।
८ ४ ३-५६ तथा ६ ४ १७४, पृ० ५०७।
९ ८ ४ ११, पृ० ४८१ तथा १ ३-७, पृ० २७।
१० ५-१ १०२ तथा ४ १ १, पृ० ९।
११ १ ३-७, पृ० २७।

अनाज समा जाता था। इसे कुसूल या कोष्ठ (कोठा) भी कहते थे।[1] इनका मुँह अनाज भरने के बाद ऊपर से बन्द कर दिया जाता था किन्तु नीचे की ओर अनाज निकालने के लिए ऐसा छेद रखा जाता था जिसे आवश्यकतानुसार खोला जा सके। इस छेद को कुसूल-बिल कहते थे। कूप और खाता खत्तियों के रूप थे। भूमि के भीतर खोदकर कच्ची या पक्की खत्तियाँ भी अनाज रखने के लिए बनाई जाती थीं। इनके मुख को भी कूपबिल और खाताबिल कहते थे। छोटा कुसूल कुसूली कहलाता था।[2]

आस्तरण—घरों में भूमि पर बैठने के समय जिन आस्तरणों का उपयोग होता था उनमें कट मुख्य था। कट काश तथा अन्य अनेक तृणों से बनाये जाते थे।[3] चर्म का व्यवहार बिछौने के रूप में भी होता था। द्वीपी का चर्म बिछाने में श्रेष्ठ माना जाता था किन्तु वह सब घरों में उपलब्ध नहीं था।

---

१ ३-१-१ पृ० २५३।
२ ४-१-१, पृ० ९।
३ ३-१-९९, पृ० १९८।
४ ३-३-१६, पृ० ४३१।

अध्याय ९

वेशभूषा

सामान्य वस्त्र—भाष्यकार ने परिधानीय वस्तुओं में वस्त्र और वसन का उल्लेख किया है। वस्त्रान्त और वसनान्त शब्द के अवयव ही होते हैं।[1] उनके इस कथन से पूरे बड़े वस्त्र की कल्पना होती है। उन्होंने चीर, चीवर और चैल का भी उल्लेख किया है। वस्त्र और वसन सामान्यतः सिले या बिना सिले हो सकते थे। चीर बिना सिला वस्त्र चौड़ा, कटित और छोटा वस्त्र होता था। चीवर शब्द संन्यासियों के वस्त्रों के लिए प्रयुक्त होता था।[2] जैन बौद्ध भिक्षुओं में यह शब्द विशेष प्रचलित था। चैल सिले-सिलाये या बिना सिले पहने हुए वस्त्र के लिए प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इतनी हल्की वर्षा, जिसमें खुले स्थान में चलनेवाले के वस्त्र गीले हो जायें 'चैलक्नोप' कहलाती[3] थी। सामान्य वसन के अर्थ में पट शब्द का भी व्यवहार होता था।

तन्तु-भेद—वस्त्र कार्पास क्षुमा, भंगा, कोशक और ऊर्णा के तन्तुओं से बनाये जाते थे। भाष्यकार ने कार्पास के लिए मृदु विशेषण का प्रयोग किया है।[4] वे कार्पास से वस्त्र तैयार करने की सारी प्रक्रिया से परिचित थे। उन्होंने कार्पास को 'पिचव्य' कहा है।[5] क्षुमा और भंगा से बने वस्त्रों को क्षौम या क्षौमिक और भांग या भांगीन कहते थे। ऊर्णा या ऊन से बने वस्त्र और्ण या और्णिक कहलाते थे।[6] कोश से बने वस्त्रों को कौशेय कहते थे। कोश वस्तुतः कृमि-कोश होते थे। वे कृमि हरी पत्ती खाकर जीते थे और कोश प्रजनन करते थे। भाष्यकार ने इस बात पर विचार किया है कि कौशेय को कोश का विकार माना जाय या कोश से सम्भूत। अन्त में उन्होंने कोश के विकार को ही कौशेय माना है।[7]

गुण भेद—इन चारों प्रकार के वस्त्रों में गुण या अर्हता की दृष्टि से अन्तर रहता था। भाष्यकार ने कहा है कि जिस प्रकार वस्त्र बनानेवाला अधिक वस्त्र तैयार करने का प्रयत्न करता है,

---

१ १-२-१०, पृ० ४८१।
२ ३-१-२०।
३ ३-४ ३३।
४ ६-२-१५७ काशिका।
५. ४ १-५६, पृ० ७०।
६. ५ १-२, पृ० २१४।
७. ४ ३ १५१।
८ वही।
९ ४-३-५९, पृ० २१४।

उसी प्रकार वह उनमें श्रेष्ठता लाने का भी उद्योग करता है।[1] वह चाहता है कि मेरे वस्त्र अधिकाधिक सूक्ष्म हों। सूक्ष्मतर वस्त्र बनाने की बात भाष्यकार ने बार-बार कही है।[2] उन्होंने कहा है कि वस्त्रों की वस्त्रों से स्पर्धा होती है, अर्थात् वस्त्र बनानेवाले वस्त्रों के विषय में दूसरे वस्त्र बनानेवालों से स्पर्धा करते हैं।[3] इन सब उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि भाष्यकार के युग में सूक्ष्म वस्त्रों को बनाने की कला बहुत उन्नत थी और इस दिशा में जनरुचि भी बहुत जागरूक थी।

वस्त्रों की सिलाई—पहनने में दोनों प्रकार के वस्त्रों का व्यवहार होता था—बिना सिले और सिले हुए। भाष्यकार ने तीक्ष्ण सुई से सीने का उल्लेख किया है। तीक्ष्ण सूची सूक्ष्मतर वस्त्रों की सिलाई के लिए काम में आती थी। उन्होंने अच्छी तरह सीकर तैयार किये गये वस्त्रों की ओर संकेत किया है।[4] फटे हुए कपड़े के पुनः उत्स्यूत या रफू करने का प्रकार भी भाष्यकार के समय में था।[5]

उत्तरीय और अन्तरीय—काशिकाकार ने शरीर को वास्त्रयुगिक[6] कहा है, अर्थात् वस्त्रयुग से शरीर की शोभा बढ़ती है। यह कथन इस बात का प्रमाण है कि सामान्यतः लोग शरीर पर दो वस्त्र धारण करते थे। ये वस्त्र अन्तरीय और उत्तरीय कहलाते थे। अन्तरीय शरीर में पहना जानेवाला वस्त्र था और उत्तरीय ओढ़ा जानेवाला। ये दोनों मिलकर उपसंव्यान कहलाते थे। सामान्यतया उत्तरीय वस्त्र छोटा होता था और अन्तरीय बड़ा किन्तु कभी-कभी दोनों का आकार बराबर भी रहता था। भाष्यकार ने अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः (१ १ ३६) सूत्र के वार्तिकों पर टीका करते हुए शंका उठाई है कि इस सूत्र में उपसंव्यान शब्द ग्रहण करना निरर्थक है। उपसंव्यान शब्द को यदि सूत्र से निकाल दें तो बहिर्योग शब्द शेष रह जाता है। उपसंव्यान शब्द उप+सम्+व्येञ् धातु+ल्युट् प्रत्यय होकर बनता है। इसमें क्रिया का अर्थ 'आच्छादन करना' है। उसके आगे होनेवाले प्रत्यय के कर्म और करण दोनों अर्थ सम्भव हैं। इस प्रकार, उपसंव्यान के दो अर्थ हुए—वह वस्त्र, जिससे आच्छादन किया जाय और वह वस्त्र जिसका आच्छादन किया जाय। उत्तरीय वस्त्र से शरीर का आच्छादन किया जाता है और अन्तरीय वस्त्र का उत्तरीय वस्त्र द्वारा आच्छादन किया जाता है। उत्तरीय शरीर के ऊपर रहता है, इसलिए बहिर्योग कहने से उसका ग्रहण हो जायगा। अन्तरीय वस्त्र का योग या संयोग बहिर्वस्त्र से रहता है, इसलिए उसका भी ग्रहण बहिर्योग कहने से हो सकता है। ऐसी स्थिति में उपसंव्यान की कोई आवश्यकता सूत्र में नहीं है। इसका उत्तर वार्तिककार ने दिया है कि कभी-कभी उत्तरीय और अन्तरीय दोनों

---

१ यथैवासौ द्रव्येषु यतते वस्त्राणि मे स्युरिति एवं गुणेष्वपि यतते सूक्ष्मतराणि मे स्युरिति।—२ १ ६८, पृ० ३२६।

२ वही।

३ यावता वस्त्राणि तद्गुणसमपेक्षास्तेषूत्पन्नं चापेक्ष्य वस्त्राणां वस्त्रैर्युगपत् स्पर्धा भवति।—वही।

४ तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन्।—१ २ २, पृ० २६४।

५ १ १-५६, पृ० ३३५।

६ पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्।—१ ४ ६०, पृ० १९०।

७ ५ १ ११।

होता था। प्रावार को प्रवर भी कहते थे। पाणिनि ने प्रावार को आच्छादन कहा है। प्रावार चादर या शाल को कहते थे। बृहतिका भी आच्छादन था जो प्रावार के ही समान कन्धों से ओढ़ा जाता था।[1] बृहतिका प्रावार से बड़ी थी और कमर के नीचे घुटनों तक पहुँचती थी। बृहतिका शब्द इसके लम्बे होने की ओर संकेत करता है। सम्भव है, यह लम्बा सिला हुआ वस्त्र अचकन का पूर्वज हो। यह घुटनों तक लम्बा कुरते जैसा वस्त्र था। पतञ्जलि[2] ने वस्त्र और कम्बल के साथ बृहतिका का उल्लेख किया है जिससे यह लम्बी चादर-तुल्य ओढ़ना मालूम होता है। प्रावारक का एक भेद वपका भी था[3]। तान्तव अर्थ में वर्णिका शब्द प्रचलित था अन्यथा अंगिका शब्द का व्यवहार होता था।

कुतप—भाष्यकार ने कुतप वस्त्र[4] की चर्चा की है। उन्होंने कुतप वस्त्र पहननेवाले सौश्रुत की 'कुतप-सौश्रुत' संज्ञा बतलाई है। कुतप हल्का, गरम ऊनी कम्बल या शाल होता था। यह पर्वतीय विशेषतः नैपाली ऊन का बना होता था।

उष्णीष—उष्णीष या पगड़ी बाँधने की भी प्रथा थी। भाष्यकार ने लाल पगड़ी बाँधकर घूमनेवाले ऋत्विजों[5] की चर्चा एकाधिक बार की है। पगड़ी का प्रचार इस बात का संकेत देता है कि 'वास्तयुगिक' शरीर सामान्यतः शोभित माना जाता था। यह निम्नतम मर्यादा थी। वैसे लोग दो से अधिक भी वस्त्र धारण करते थे। इनमें शरीर के ऊपर भाग में पहना जानेवाला वस्त्र निश्चित ही स्यूत होता था।

उपर्युक्त सब परिधान 'वासस्' कहलाते थे। पहनने के बाद इनकी ठीक तहें बनाकर रख देने की प्रथा थी जिससे वे गन्दे न दिखें। भाष्य में दोनों वस्त्रों का तह बनाकर रखने का उल्लेख है।[6] ये दोनों वस्त्र उत्तरीय और अन्तरीय थे।

वस्त्रों का रंग—वस्त्र अनेक रंग के होते थे। रंग बिरंगे वस्त्रोंवाले देवदत्त को भाष्यकार ने चित्रिताभरण कहा है। 'तेन रक्तं रागात्' (४ २ १) के प्रसंग में भाष्यकार ने नीली मंजिष्ठा शकल कर्दम कषाय हरिद्रा पीत आदि अनेक रंगों से वस्त्रों के रँगे जाने का उल्लेख किया है। फिर भी शुक्ल वस्त्र का प्रचार उच्च संस्कृत लोगों में अधिक था। वस्त्र शाटी और कम्बल के साथ उन्होंने सर्वदा शुक्ल विशेषण का उपयोग किया है। कभी तो 'शुक्लतर' विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है। लाल वस्त्र भी प्रयोग में आते ही थे। भाष्यकार ने कहा है कि दो लाल वस्त्रों के बीच रखा हुआ शुक्ल वस्त्र भी लाल दिखाई देता है।[9]

---

१ ५ ४ ६।
२ १ २ ६९, पृ० ६०३।
३ ७-१ ४५, पृ० ११०।
४ २ १ ६९, पृ० ११०।
५ लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति।—१ १-२७, पृ० २२० तथा ९-१ ६९, पृ० ११९।
६ प्रभुक्ति वाससी।—१ १-६६, पृ० ८४।
७. १ ४-२ प० १८।
८ १-२-४० पृ० ५०३।
९ १ १ ६४ पृ० ५९९ तथा २ २-२४, पृ० ३६१।

कम्बल—कम्बल का व्यवहार प्राचीन भारत में बहुत था। शाटक के समान कम्बल भी निश्चित आकार के तथा निश्चित वजन के बनते थे। सामान्यतया ये ही कम्बल बाजार में बिकते थे और इन्हें 'पण्यकम्बल' कहते थे।[1] 'पण्यकम्बल' विशिष्ट कम्बलों की संज्ञा थी। सामान्य तौर पर अन्य विक्रतव्य कम्बलों को भी पण्यकम्बल कहते थे पर उसके उच्चारण में समासान्तोदात्त होता था पूर्वपद प्रकृति-स्वर नहीं। पण्यकम्बल 'ऊर्णापलशतम्' से बनता था जिसका वजन लगभग पाँच सेर होता था। एक कम्बल-भर ऊन को कम्बल्य कहते थे।[2] अतः कम्बल्या ऊर्णा का अर्थ पाँच सेर ऊन होता था। कम्बल बनाने के योग्य सामान्य ऊन कम्बलीय कहलाती थी। 'कम्बल्य' संज्ञा शब्द था जो विशिष्ट परिमाण का द्योतक था। पण्यकम्बलों का प्रचार बहुत अधिक था। कम्बल प्रायः शुक्ल वर्ण के बनते थे। शिष्टवर्ग में शुक्लवर्णीय कम्बलों का प्रचार अधिक था। भाष्यकार ने सर्वत्र शुक्ल कम्बल का ही उल्लेख किया है।[3] कुतप के समान रांकव कम्बल भी प्रसिद्ध थे जो रंकु-प्रदेश में बनते थे। ये कम्बल बड़े मजबूत बनाये जाते थे जो वर्षों नहीं फटते थे। भाष्यकार ने कम्बल को 'अजरिता' कहा है जिसका अर्थ है 'न फटनेवाला'।

कन्था—कन्था बड़े परिश्रम से बनाई जाती थी। जिसके लिए धैर्य के साथ कला भी अपेक्षित थी। कन्था से सम्बद्ध वस्तु कान्थिक कहलाती थी। कन्था का प्रचार बहुत अधिक था यह बात इसी से प्रमाणित होती है कि पाणिनि ने कान्थिक शब्द के लिए पृथक् 'कन्थायाष्ठक्' (४-२ १०२) सूत्र का निर्माण किया है। वर्णु देश की कन्था विशेष प्रसिद्ध थी। वर्णु नदी का समीपवर्ती प्रदेश भी वर्णु कहलाता था। वर्णु के लोग कन्था बनाने में विशेष प्रवीण थे। वर्णु में बनी कन्था से शैष अर्थ में कान्थक शब्द बनता था।[5] कान्थिक से भिन्न कान्थक शब्द केवल वर्णु की विशेषता बतलाने के लिए था। कन्था आस्तरण का काम देती थी। वर्णु के समान उशीनर जनपद के सौशमि और आह्वर प्रदेशों में बनी कन्थाएँ भी अति प्रसिद्ध थीं। सौशमि और आह्वर की कन्थाओं की अर्हता तथा प्रचार अन्यत्र बनी कन्थाओं से अधिक था। इसलिए सौशमि-कन्थ आह्वर-कन्थ शब्द संज्ञा बन गये थे। पाणिनि ने उशीनर-जनपद में बनी विशिष्ट नामवाली कन्था का बोध करानेवाले कन्थान्त तत्पुरुष को नपुंसकलिंग माना है।[6] उशीनर से भिन्न प्रदेश की कन्था के साथ समास होने पर समस्त पद नपुंसकलिंग नहीं होता। वीरण कन्था और आह्वर-कन्था में यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। तत्पुरुषसमास में इस प्रकार नपुंसकलिंग बना कन्था शब्द के उत्तर पद होने पर आद्युदात्त हो जाता था। चर्मकन्थ तथा

---

१ पण्यकम्बलः संज्ञायामिति वक्तव्यम् यो हि पणितव्यः कम्बलः पण्यकम्बल एवासौ भवति।—६-२ ४२, पृ० २५९।

२ कम्बलाच्च संज्ञायाम्—इदं तर्हि प्रयोजनं संज्ञायामितिनं वक्ष्यामीति। इह माभूत कम्बलीया ऊर्णा।—५ १ ३, पृ० २९७।

३ १ १ ६४, पृ० ५९९।

४ ३-१ १०५, पृ० १८३।

५ ४-२-१०३।

६ २ ४ २० काशिका।

चिह्नादिगण में पठित (चिह्न, मडर, मद्गुर, वैतुल, पटत्क, विलक्षण आदि) शब्दों के पूर्व होने पर कन्या शब्द आद्युदात्त होता था।[1] कन्या-विषयक इतने सूक्ष्म नियम उसके व्यापक उपयोग तथा उसके बनाने की उन्नत कला के परिचायक हैं।

उपानह्—'वासस्' के अतिरिक्त वेश की पूर्णता के लिए उपानह् आवश्यक माने जाते थे। उपानह् का उल्लेख संहिता-काल (तैत्ति० सं० ५ ४ ४ तथा शतपथ ब्रा० ५ ४ ३ १९) से ही बराबर मिलता है। शतपथ में शूकर चर्म के जूतों का उल्लेख है। कौषीतकी ब्राह्मण (२-१) में दण्ड और उपानह् नाम साथ-साथ आये हैं। ये चर्म और काष्ठ दोनों के बनते थे। भाष्य में औपानह्य दारु[2] और औपानह्य चर्म[3] दोनों का उल्लेख है। ब्रह्मचारी तथा वैखानस काठ के उपानह् धारण करते होंगे। उपानह् अनुपदीन[4] होते थे अर्थात् पाँव की माप के तैयार किये जाते थे। वस्त्र के साथ उपानह् भूषा के लिए भी उपयोग में लाये जाते थे। अच्छा आकार, बनावट की मज़बूती सुन्दरता और कोमलता उन्हें आकर्षक बना देती थी। इसलिए, कुछ लोगों को उपानह् के प्रति विशेष आसक्ति रहती थी। भाष्य में ऐसे व्यक्ति को जिसे छत्र और उपानह् प्रिय हों 'छत्रोपानहप्रिय'[5] बतलाया है। उपानह् लकड़ी के इस प्रकार के भी बनते थे जिनमें छेद रहते थे और आधुनिक चप्पल के पट्टों के समान मूँज की रस्सी उन छेदों में इस प्रकार पिरो दी जाती थी कि वह पाँव को सँभाल सके। उपानह् का यह प्रकार खड़ाऊँ से भिन्न था। इस प्रकार उपानह् (पौली) आज भी ग्रामों में पहने जाते हैं। काशिकाकार ने इन पौलियों को लक्ष्य करके ही 'औपानह्य मुञ्ज'[6] उदाहरण दिया है। चमड़े के जूतों में जो कच्चे चमड़े के बनाये जाते थे कोमलता उत्पन्न करने के लिए तिल का कल्क[7] (तेल के नीचे जमा हुआ मैल या ठेंठ) लगाया जाता था।

यष्टि आदि—यष्टि आत्मरक्षा का साधन तो थी ही भूषा के लिए भी उपयोग में आती थी। लोग सदा यष्टि हाथ में लेकर चलते थे। इन लोगों का नाम ही यष्टि के आधार पर पड़ जाता था। उदाहरणार्थ सदा यष्टि साथ में रखनेवाले मौद्गल्य को 'यष्टिमौद्गल्य'[8] कहा जाता था। साधारणतया यष्टि लेकर चलनेवाले को याष्टीक[9] कहते थे। दण्ड यष्टि से बड़ा होता था। ब्रह्मचारी तो सर्वदा दण्ड साथ में रखते थे किन्तु उनका दण्ड भूषा[10] के रूप में नहीं था। ब्रह्म

१ ६ २-१२४।
२ ५ १-२, पृ० २९४।
३ वही।
४ ५ २ ९।
५ २ १-५१ पृ० ३०४।
६ ५ १ १४ काशिका।
७ उपानच्चर्मतिलकल्कः।—५-३ पृ० ३०४।
८ २ १ ६५, पृ० ३९०।
९ ४-४-५९।
१० ४-२ १०४, पृ० २१०।

धारी का दण्ड पलाश का होता था जिसे आषाढ़ भी कहते थे। दण्ड के लिए साल वृक्ष का भी व्यवहार होता था।[1] असि भी कोशों में धारण की जाती थी। कमर में लटकने के कारण असि को कौक्षेयक भी कहते थे।[2]

सौन्दर्यप्रियता—पाणिनि और पतंजलि दोनों में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे तत्कालीन सौन्दर्यप्रियता का पता चलता है। प्रावीण्य के आधार पर व्यक्तियों के दो वर्ग थे—नागरक और प्राकृत।[3] नागरक जन शिक्षित तथा सुसंस्कृत थे। कामशास्त्र में नागरकों के सम्पूर्ण जीवन का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२-१-५६) सूत्र पुरुषों की शरीर-शक्ति के प्रति जागरूकता सूचित करता है तथा 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' (४ १ ६९) एवं 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' (४ १ ७०) और उसपर भाष्यकार का संबोधन 'संहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्' इस बात के सूचक हैं कि शक्ति के साथ शारीरिक सौन्दर्य की ओर भी लोग काफी ध्यान दिया करते थे। सौन्दर्य के लिए पहली आवश्यक वस्तु है स्वास्थ्य। पुरुषव्याघ्र पुरुषसिंह करभोरुरम्भोरु, संहितोरु बनना बिना स्वास्थ्य के सम्भव नहीं। दूसरी सौन्दर्यवर्धक वस्तु है वस्त्र जिनकी अच्छी किस्मों और सूक्ष्मता के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है।

अलंकार—इनके अतिरिक्त अलंकारों के द्वारा शरीर को सजाने की ओर लोगों का ध्यान विशेष था। पुरुष और स्त्री दोनों अलंकार धारण करते थे। अलंकार प्रायः सुवर्ण के होते थे। यों मणियाँ और मुक्ता भी पहने जाते थे पर वे धनी-वर्ग तक सीमित थे। मणिकार (आभूषण बनाने और बेचनेवाले) वैकटिक (हीरे, मणियाँ काटने-तराशनेवाले) रंजक (रँगरेज) विशेषतः नीली कुसुम्भरंजक मालाकार और सौगन्धिक सौन्दर्य सज्जा में सहायक थे। कामसूत्र में इन व्यावसायिकों की सविस्तर चर्चा मिलती है। भाष्यकार के समय में इन सबका महत्त्व कम न था।

अलंकारों में जो आकल्पकरण (सौन्दर्यवर्धक) और सुभगकरण माने जाते थे भाष्यकार ने सुवर्णालंकारों का उल्लेख किया है और वह भी विशेषतः स्त्रियों के सम्बन्ध में। 'कन्या को अलंकृत करता है'[4] वाक्य के साथ उन्होंने सुवर्ण का अलंकार पहननेवाले पुरुष का भी निर्देश किया है।[5] कन्याओं में सज्जा की प्रवृत्ति बचपन से ही होती है। वे स्वयं अपने प्रसाधन के लिए चिन्तित रहती थीं। 'कन्या स्वयं ही अपने को मण्डित कर रही है कन्या स्वयं ही अपने को भूषित कर रही है' यह वाक्य भाष्य में मिलता है। अलंकारादि द्वारा मण्डित व्यक्ति 'अभिरूप' दिखाई देता है, 'दर्शनीय' मालूम होता है,[8] यह बात वे अच्छी तरह समझते थे।

---

१ ८-१-५६, पृ० ४१८।
२ ४-२-९६।
३ ४-२-१२८।
४ १-३-५६, पृ० २२०।
५ ५-२-१६, पृ० ४१८।
६ ३-२-२४, पृ० १६५।
७ ३-१-८७, पृ० १६६।
८ १ १ १ पृ० १५।

पुरुषों के आभूषणों में अंगद कुण्डल और किरीट महत्त्वपूर्ण थे।[1] अंगद भुजाओं में पहने जाते थे। कुण्डल वर्तुलाकार कर्णाभूषण थे। किरीट शिरोभूषण थे। ग्रैवेयक[2] ग्रीवा या कण्ठ में पहना जाता था जिसे कण्ठा कहते हैं। यह मोटा तथा कम लम्बा होता था और कण्ठ से सटा रहता था। ग्रैवेयक पुरुष और स्त्री दोनों पहनते थे।

स्त्रियाँ अंगुलीय[3] रुचक कटक वलय स्वस्तिक कुण्डल दाम और पुटक[4] पहनती थीं। कटक कलाई में पहने जाते थे। स्वस्तिक के आकार के स्वस्तिकों को कानों में पहनने की प्रथा थी। दाम सोने की मजबूत माला के समान बनते थे और कण्ठ तथा कटि में पहने जाते थे। कर्णिका कान में पहनी जानेवाली बालियों थी और ललाटिका मस्तक पर लटकनेवाला सोने का तिलक।[5] कर्णवेष्टक कान के आभूषण थे जो मुख की सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक माने जाते थे।

माल्य—स्रक या माला भी भूषणों के अन्तर्गत मानी जाती थी। माला पहनने की प्रथा सर्वाधिक थी। भाष्य में माला का उल्लेख बहुत बार हुआ है। कहा नहीं जा सकता कि सुवर्ण माला पहनने की प्रथा थी या नहीं पर पुरुष और स्त्री दोनों ही स्रक धारण करते थे। मालाधारी पुरुष स्रग्वी कहलाता था। 'माल्यभूषकण्ठ'[6] पुरुष की शोभा ही और होती है। सम्भव है यह माल्यभूष सुवर्ण का भी हो। स्नान और अनुलेप के बाद माल्य पहना जाता था। मालाएं सभी सुगन्धित पुष्पों की बनाई जाती थीं। 'उत्पलमालभारिणी कन्या'[7] से उत्पल-मालाओं के प्रयोग का पता चलता है। उत्पल-मालाएँ आज भी ग्रामीण कन्याओं में बहुत प्रिय हैं। बाजार में भी मालाओं की बिक्री बहुत थी। 'मालावकम्' उदाहरण इसका प्रमाण है।[11]

केशवेश—नेपथ्य के प्रति लोक-रुचि सर्वाधिक जाग्रत् थी यद्यपि दन्त और अधरों का भी शृंगार किया जाता था। जो लोग इन शृंगारों में अत्यधिक आसक्त होते थे वे समाज में अच्छी नजर से नहीं देखे जाते थे। लोग उनके नाम रख देते थे। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति केश-सज्जा में व्यस्त रहता था उसे केशक कहते थे। इसी प्रकार दाँतों और ओठों को सजाने में तत्पर रहने-

---

१ १ १-२ पृ० १८।
२ १-२-६६।
३ ४ १ ३९, पृ० २११।
४ आ० १ पृ ११।
५ २-१-२६ पृ० ७९।
६ ४ १-६५।
७ ५-१ ९९ कालिका।
८ ५ २ १२१।
९ आ० २, पृ० ४८।
१० १ १-७२ पृ० ३५५।
११ आ० २, पृ० ३६।

वाले को लोग दन्तौष्ठक तथा केशों और नखों का शृंगार करने में आसक्त जन को केशनखक कहते थे।[1]

पुरुषों और स्त्रियों की केश-सज्जा में अन्तर था। कुछ पुरुष केश कटवाते ही नहीं थे। वे जटिल रहते थे। तापस[2] तो जटिल होते ही थे अनेक अध्यापक[3] नट तथा सामान्य जन भी बाल नहीं कटवाते थे। नट को पतंजलि ने सर्वकेशी कहा है। हाँ माणवक मुण्डित कर दिये जाते थे।[4] कुछ लोग बाल मुँडा देते थे किन्तु शिखा शेष रहने देते थे। कुछ लोग सारे बाल मुँडा डालते थे। ये लोग क्रमश जटी शिखी और मुण्डी कहे जाते थे।[5] एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि जब कोई कहता है कि यहाँ मुण्डी बनो यहाँ जटी रहो यहाँ शिखी बनो,तब जैसा वहाँ कहा जाता है वैसा व्यक्ति वहाँ उपस्थित होता है।[6] वपि धातु का प्रयोग बाल कटवाने के अर्थ में होता था। बाल कटवाने की क्रिया वपन कहलाती थी। लोग दाढ़ी भी बनवाते थे। दाढ़ी बनानेवाले अपने शिल्प में विशेष दक्ष होने का प्रयत्न करते थे। नागरक नापित एवं ग्रामनापित चतुर नापितों की सज्ञा थी। ऐसा नागरक नापित मिल गया तो क्षौर कराया हुआ व्यक्ति फिर से क्षौर करा लेता था। शिल्प-विशेष या भोजन-विशेष के कारण क्षौर एव भोजन कर्म कर लेने पर भी पुन उस काम में प्रवृत्ति देखी जाती थी।[9] केश बनवाने के ढग इतने भिन्न-भिन्न थे कि केश देखकर ही आदमी की पहचान कर ली जाती थी। केशों के द्वारा पहचाना गया व्यक्ति केशचञ्चु या केशचण कहाजाता था।[10] जो लोग बाल नहीं कटाते थे उनमें बहुत-से लोग जूड़े के रूप में उन्हें बाँध लेते थे। ऐसे लोग केशचूड कहे जाते थे।[11] जटाओं और श्मश्रु से लोगों को सरलता से धोखा दिया जा सकता था। नकली दाढ़ी-मूँछ लगाकर लोग दूसरों को प्रवंचित करते थे। जटाओं और बढ़े हुए श्मश्रु को देखकर लोगों के मन में व्यक्ति के प्रति सम्मान-भाव पैदा होता है। अनेक प्रवचक इस आदर-भावना का अनुचित लाभ उठा लेते थे। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है 'जटाओं से वंचना करता है श्मश्रुओं से धोखा देता है।'[12]

---

१ ५ २-६६ काशिका।
२ १-२ ३२, पृ० ४११।
३ २ १-२१ तथा वही।
४ २ १ ६९, पृ० ३२३।
५ ३-१-८, पृ० ४०।
६. १ १ १ पृ० १०५।
७. भा० २, पृ० ४०।
८. १ ३-१, पृ० ८।
९. भुक्तवांश्च पुनर्भुङ्क्ते कृतश्मश्रुश्च पुन श्मश्रूणि कारयति।
सामर्थ्यात्तत्र प्रवृत्तिर्भवति भोजनविशेषाच्छिल्पविशेषाद्वा ॥—१-२ ९, पृ० ४०८।
१० १ ३-७, पृ० ९६।
११ ९-२-२४, पृ० ३०३
१२ ९ १ ४८ पृ० ७९

केशों के समूह को कैश्य या कैशिक[1] कहते थे। कभी-कभी उनकी लटें आगे निकाल ली जाती थीं। स्त्रियाँ बालों को आगे की ओर घुँघराला बना लेती थीं या उनकी लटें आगे की ओर कर लेती थीं। इन्हें प्रामुक्का[2] कहते थे। स्त्रियों के केशवेश का नाम कबरी था। यह नाम पुष्प लगा लेने पर केशों के कबर दिखाई पड़ने के कारण पड़ा था। बालों से भिन्न कबर वस्तु कबरा कहलाती थी। कबरी शब्द पीछे की ओर बनाये हुये जूड़े के लिए प्रयुक्त होता था।[3] जूड़ा बाँधने का ढंग भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न था। प्रत्येक प्रदेश के जूड़े उस प्रदेश के नाम पर प्रसिद्ध थे जैसे 'काच्छक चूडाकलाप'। कच्छ-प्रदेश में जूड़ा बनाने की शैली अन्य प्रदेश से भिन्न थी। इसी प्रकार अन्य प्रदेशों के अपने-अपने प्रकार थे। केश-विन्यास में माँग को सीमन्त कहते थे।[5] स्त्रियों की केश-सज्जा का यह आवश्यक अंग था। इसीलिए, स्त्रियों को सीमन्तिनी कहा जाता था। सीमन्त से भिन्न अर्थ में सीमान्त शब्द प्रचलित था।

नारियाँ कबरी बनाती थीं और चूड़ा भी। चूड़ा सिर के ऊपर उठा हुआ रहता था और कबरी पीछे की ओर। पुष्प दोनों के भूषण थे। मल्लिका और चम्पक[6] के पुटों की चर्चा भाष्य में आई है।

नैनों में काजल या अंजन लगाने की प्रथा थी। अंजन लगे नेत्र अक्त कहलाते थे।

अन्य प्रसाधन—स्नान और अनुलेप की चर्चा ऊपर हुई है। स्नान से पूर्व तेल की मालिश, उबटन और उसके बाद चन्दनादि सुगन्ध द्रव्यों का लेपन एवं नारियों द्वारा मस्तक में पत्र रचना की प्रथा थी। धनिक परिवारों में उत्सर्दक उत्सादक उद्वर्तक परिषेचक अनुलेपक प्रलेपक विलेपक आदि परिचारक नियुक्त थे।[8] अनुलेपन आदि में प्रयुक्त होनेवाले सुगन्ध द्रव्यों का भी उल्लेख गणपाठ में मिलता है। उदाहरणार्थ किशरादि गण में किशर, नलद, तगर, गुग्गुलु, उशीर का परिगणन हुआ है।[9] शलालु एक अन्य सुगन्धित द्रव्य था जिसका बेचनेवाला शलालुकी कहलाता था।[10] चन्दन का भी प्रयोग अधिक होता था। भाष्यकार ने कहा है कि घी की गन्ध तेज होती है किन्तु चन्दन की मृदु होती है।[11]

---

१ ४-२-४८।

२ ४-१-६०, पृ० ७१

३ ४-१-४२ काशिका

४ काच्छकचूडाकलापः।—४-२-१३४।

५ ६-१-२४, पृ० १५१

६ २-१-१ पृ० २४०

७ अवलेपोऽभिपीडितपुष्पको यतालिकां जातिनं पीतलप्रकाशयति।—८-२-४८, पृ० ३९७।

८ चामकादि गण ५-१-५ तथा महिष्यादि गण, ४-४-४८।

९ ४-४-५३।

१० ४-४-५४।

११ २-२-८, पृ० ३४१ तथा घृतस्य तीव्रः, चन्दनस्य मृदुः।—वही।

अध्याय १०

भोजन-पान

अन्न और भक्ष्य—पतंजलिकालीन समाज को हम भोजन के आधार पर दो भागों में बाँट सकते हैं—अन्नाद और क्रव्याद। पकाये हुए धान्य या सस्य को अन्न कहते थे और उसे खाने-वाले को अन्नाद। इसी प्रकार मांस को पकाकर खानेवाले क्रव्याद कहलाते थे। धान्य और मांस को बिना पकाये अर्थात् कच्चे रूप में खानेवालों को क्रमशः आमाद और क्रव्याद कहते थे।[1] भोजन के लिए अभ्यवहार शब्द प्रचलित था।[2]

अन्नाद या सस्याद लोग जिन अन्नों का व्यवहार करते थे, उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—मुख्य और सहायक। मुख्यान्नों में निम्नलिखित का उपभोग भाष्य में पाया जाता है—

ओदन—पकाये हुए चावल को ओदन[3] कहते थे जिसका दूसरा नाम भक्त भी था। भक्त से ही वर्तमान शब्द 'भात' बना है। ओदन अनेक प्रकार के चावलों का बनता था। शालि, महाशालि, व्रीहि, महाव्रीहि, हायन, यवक, षष्टिक एवं नीवार ये धान्यों के प्रमुख भेद थे। शालि की पौध सावन में रोपी जाती थी और अगहन में कटती थी। इसके लिए जल की विशेष आवश्यकता होती है। मगध के शालि विशेष प्रसिद्ध थे। ये बड़े और सुगन्धित होते थे। वेविका नदी के किनारे उत्पन्न होनेवाले शालि भी प्रसिद्ध थे। ये 'वैविका-कूल' शालि कहलाते थे।[4] महाशालि और भी बड़ी जाति थी। भाष्यकार ने एक स्थान पर कहा है कि यदि वर्षा अच्छी हुई, तो शालि हो जायेंगे।[5] अन्यत्र कहा है 'हम वे ही शालि खा रहे हैं जो मगध में होते हैं।'[6] शालि का ओदन स्वादिष्ट होता था। इसीलिए एक स्थान पर 'शालि का ओदन तुम्हें दूँगा'[7] ऐसा प्रलोभन दिये जाने का उल्लेख है। प्रश्नकर्ता भी पूछता है—'क्या भात शालि का है?'[8]

---

१ ३-२-६८, ६९ काशिका।
२ वर्तं च नाभ्यवहारार्थमुपादीयते।—भा० १, पृ० ११।
३ १-४-४९, पृ० १७३।
४ ४-४-१०० काशिका।
५ ७-३-१, पृ० १७१।
६ १-१-१४३, पृ० १२४।
७ भा० ३, पृ० ४५।
८ ५-१-१, पृ० २१० तथा २-१-१, पृ० २४८।
९ वही तथा ८-१-५१, पृ० ३९३।

व्रीहि सर्वाधिक प्रचलित धान्य[1] था। व्रीहि भी शालि के समान रोपे जाते थे। आकार के अनुसार इनके छोटे और बड़े भेद होते थे। व्रीहि की सबसे बड़ी जाति 'महाव्रीहि'[2] कही जाती थी। व्रीहि और शालि के लिए विशिष्ट केदार (क्षेत्र) निश्चित रहते थे जिन्हें व्रैहेय और शालेय[3] कहते थे। हायन रोपे नहीं जाते थे अपितु बोये जाते थे। षष्टिक[4] (साठा) भी बोये जाते थे रोपे नहीं जाते थे। इनके लिए अधिक पानी की आवश्यकता नहीं होती थी। ये साठ दिन में पक जाते थे। इस प्रकार यह शब्द सार्थक था।

नीवार छोटा और निम्न कोटि का धान था जो बिना जोते-बोये अपने-आप उत्पन्न होता था।[5]

तण्डुल भारत का मुख्य भोजन था। भाष्यकार ने कहा है कि एक तण्डुल भूख मिटाने में असमर्थ होता है, किन्तु उनका समूह वपिस्तक (ढेर) समर्थ होता है।[6] तण्डुल से बनाये जाने के कारण ओदन को 'तण्डुल-विकार' कहते थे। किसी तण्डुल का ओदन अधिक स्वादिष्ठ बनता था और किसी का कम। भाष्यकार ने शालि को भक्त कहा है क्योंकि उनका ओदन विशेष रुचिकर माना जाता था। अच्छी किस्म के अन्य चावल भी भाक्त कहे जाते[7] थे इसीलिए खानेवाला उत्कण्ठावश खाने से पहले पूछता है 'क्या शालि का भात बना है?'[8]

भारत में एक कोने से दूसरे कोने तक भक्त या ओदन का ही व्यवहार मुख्य भोजन के रूप में होता था। मगध म धान की उपज प्रमुख रूप से होती ही थी कश्मीर में भी चावल का व्यवहार होता था। भाष्य में एक स्थान पर कहा गया है 'देवदत्त तुम्हें मालूम है कि हम कश्मीर गये थे। वहाँ ओदन खाये थे। हम कश्मीर जायेंगे वहाँ ओदन खायेंगे।'[9] अधिक प्रचलन के कारण भक्त भोजन का पर्यायवाची बन गया था। जिस प्रकार भोजन करने के अर्थ में उत्तर भारत में 'रोटी खाना' प्रचलित है और पूर्वी भारत में 'भात खाना' उसी प्रकार भाष्यकार ने भक्त शब्द का व्यवहार अनेक बार भोजन के अर्थ में किया है। इसीलिए जो मजदूर रोटी-कपड़े पाकर मजदूरी करते थे वे 'भाक्तिक' कहे जाते थे।[10] भाष्यकार ने कहा है कि कर्मकर लोग काम करते हैं, जिससे

---

१ ८ १ ४, पृ० २६५।

२ ६-२-३८।

३ ५ २ २।

४ षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते। षष्टिके संज्ञाग्रहणं कर्तव्यम्। मुद्गा अपि हि षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ५ १ ९० पृ० ३६०।

५ ३-३ ४८।

६ १ २ ४५, पृ० ५३५।

७ १ ४-४९, पृ० १०३।

८ ३-१ १२६, पृ० ७३ तथा ४ ४ १०० काशिका।

९ २ १ १, पृ० ३१०।

१० १ १ ४४, पृ० २०४।

११ ४ ४ ६८ काशिका।

उन्हें भक्त (भोजन) और वेष (पहनने के कपड़े) मिलें।[1] इसी कारण पाचक या रसोइए को सामान्यतया 'भक्तकर' कहते थे।[2]

पाचक-क्रिया—भोजन पकाने की क्रिया का भी उल्लेख भाष्य में कई बार हुआ है। पकाने की क्रिया के चार मुख्य तथा अनेक गौण अंग बतलाये गये हैं। मुख्य अंग हैं—अधिश्रयण (बटलोई को चूल्हे पर चढ़ाना) उदकासेचन (बटलोई में पानी भरना) तण्डुलावपन (बटलोई में चावल डालना) और एधोपकर्षण (लकड़ी खींचना या बढ़ाना)[3]। गौण क्रियाओं में चावल धोना बीच-बीच में आवश्यकतानुसार पानी डालना पके-अनपके की परीक्षा करना आदि हैं। चूल्हे पर चढ़ाये जाने के पूर्व चावल धोये जाते थे। भोजन का पानी घर की नालियों से होकर सड़कों पर बहा करता होगा। इस पानी को देखकर रथ्या में चलनेवाला व्यक्ति अनुमान कर लेता था कि इस घर में भोजन पकाया जा रहा है। पके तण्डुल की पहचान एक पुलाक को देखकर कर ली जाती थी। एक चावल पक गया तो बटलोई के सारे चावल पक गये मान लिये जाते थे।[5]

पकाने की क्रिया में सहायक वस्तु के प्राधान्य के अनुसार कभी देवदत्त पकाता है कभी बटलोई पकाती है और कभी लकड़ी पकाती है' आदि वाक्यों का प्रयोग होता था। एक 'पचति' (पकाना) क्रिया की अंगभूत सम्पूर्ण क्रियाएँ करनेवाले के साथ पापच्यते (पूरी तरह पकाता है) क्रिया का व्यवहार होता था।[7] जब देवदत्त पकाने की क्रिया में प्रमुख दिखता था तब कहते थे 'देवदत्त पचति'। यह तब होता था जब देवदत्त अधिश्रयण उदकासेचन तण्डुलावपन और एधोपकर्षण आदि क्रियाओं में व्यस्त दिखता था। 'स्थाली द्रोण भर पकाती है' आढ़क भर पकाती है' आदि वाक्यों का व्यवहार तब होता था, जब स्थाली या बटलोई में द्रोण भर पकाने की क्षमता या पकाने की क्रिया पर बल देना होता था। इसी प्रकार जब चलनेवाली और जलकर पाचक पकाने की क्रिया करनेवाली लकड़ियों पर जोर देना होता था तब 'लकड़ियाँ पकाती हैं' यह कथन उपयुक्त माना जाता था।[9]

भोजन-पात्र—भात खाने के लिए शराव या कांस्य-पात्र काम में आते थे। शराव सामान्य व्यवहार में चलते थे या धार्मिक विधि में काम में आते थे। शराव में परोसा हुआ भात 'शाराव'

---

१ ३-१-२६, पृ० ७७।

२ १ ३-७२, पृ० ९०।

३ अधिश्रयणोदकासेचनतण्डुलावपनैधोपकर्षणादि क्रियाः कुर्वन्नेव देवदत्तः पचतीत्युच्यते।—१ ४-२३, पृ० १५६।

४ ३-२ ११५, पृ० २४१।

५. पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय।—१ ४ २३ पृ० १५७।

६. १ १-२२ पृ० ६१।

७. १ ४ २३, पृ० १५६।

८. १ ३-२४ पृ० १५६।

९. वही।

१० ५ ४ १०३ पृ० ४५४।

कहलाता था।[1] ये मिट्टी के बनते थे। कांस्यपात्री का प्रचार उच्च वर्ग में था। इस बात की कामना की जाती थी कि हमारे पुत्र कांस्यपात्र में दूध भात खायँ।[2]

जिस पात्र में ओदन पकाते थे उसे स्थाली कहते थे।[3] सामान्य पात्र के लिए 'अमत्र' शब्द का भी व्यवहार होता था। पकाने की क्रिया को 'रन्धन' भी कहते थे। इसका विकसित रूप 'राँधना' हिन्दी में प्रचलित है।[4] आकर बने हुए के लिए उद्धत शब्द का प्रयोग हुआ है।[5] गलन की क्रिया को विक्लित्ति[8] कहते थे। विक्लित्ति ही 'पच्' क्रिया का मुख्य अर्थ है। इसके लिए की जानेवाली समस्त क्रियाएँ (चावल धोने तथा उन्हें चूल्हे पर चढ़ाने से उतारने तक) तो पच् के अन्तर्गत मानी ही जाती थीं। प्रेषण (अपने अधीन काम करनेवाले व्यक्ति को आवश्यक सामग्री लाने के लिए आज्ञा देना) तथा अध्येषण (बड़े व्यक्ति से प्रार्थना-पूर्वक आवश्यक वस्तुएँ माँगना) आदि भी पच् में ही अन्तर्भूत थे। पके हुए ओदन या भोजन को 'सिद्ध' कहते[9] थे।

विशिष्ट ओदन—ओदन के गुण में तण्डुलों के गुण के अनुसार तो अन्तर होता ही था पकाने की क्रिया और शैली भी अन्तर उत्पन्न करती थी। भाष्यकार ने खाने में विशेषस्वाद युक्त ओदन के लिए 'मृदु' और 'विशद' विशेषणों का प्रयोग किया है। मृदु ओदन गुड़ या शक्कर डालकर पकाये जाते थे। आज भी 'मीठा भात' पकाने की प्रथा है। विशद ओदन पकाते समय उनमें थोड़ा दूध या घी डालते थे जिससे उनके पुलाक या दाने अलग-अलग छिटक जाते थे। मृदु और विशद भात एक बार भोजन कर लिये जाने के बाद भी आमन्त्रण स्वीकार कर लेने के लिए आमन्त्रित को उत्साहित करता था। भाष्य में उल्लेख है—'कोई किसी को भोजन के लिए बुलाता है। वह कहता है—'भोजन तैयार है, चलिए भोजन कीजिए'। इस पर आमन्त्र्यमाण व्यक्ति उत्तर देता है—'मैं तो काफी भोजन कर चुका हूँ'। निमन्त्रण देनेवाला कहता है—'चलिए, दही मिलेगा दूध मिलेगा'। तब आमन्त्र्यमाण उत्तर देता है—'दही से खा लूँगा दूध से खा लूँगा। यदि भात मृदु विशद हुआ तो खा लूँगा।'[10] इससे यह भी स्पष्ट है कि एक ही ओदन में मृदुता और विशदता दोनों पाई जाती थी। पाचक की क्रिया को लक्ष्य करके ही भाष्यकार ने 'अच्छा पकाता है, बुरा पकाता है' वाक्यों का प्रयोग किया है।[11]

---

१ ४ ४-१४ काशिका।
२ १ १-१ पृ० १४ तथा ८ २-३ पृ० ११७।
३ २-१ ३६, पृ० २८८।
४ ४-२ १४।
५ २ १ ३६, पृ० २८८।
६ ४-२ १४ काशिका।
७ २-४-२१ पृ० १५६।
८ अथ पचेः कः प्रधानार्थः ? यासौ तण्डुलानां विक्लित्तिः ।—३ १ २६ पृ० ७१।
९ भा० १, पृ० १४।
१० २-१ १, पृ० २४० तथा १ ४ ४९, पृ० १०३, ७४।
११ २ १ १ पृ० २४०।

ओदन जब मनुष्य का मुख्य भोजन था, तब देवता तथा उसके अन्य सहचर उससे क्यों वंचित रहते। यज्ञ में चरु तथा बलि-कार्यों के लिए भी ओदन का ही उपयोग होता था।[1]

यवागू—ओदन के बाद यवागू का व्यवहार सर्वाधिक था। कदाचित् सक्तु ही इसके सम कक्ष थे। यवागू स्वास्थ्यप्रद और सात्त्विक मानी जाती थी। इसीलिए, व्रतकाल में भी उसका व्यवहार विहित था। ब्राह्मण दुग्ध पीकर, क्षत्रिय यवागू पीकर और वैश्य आमिक्षा ग्रहण कर व्रत या उपवास रखते थे।[2] ओदन के समान यज्ञ में यवागू की आहुति दी जाती थी।[3] यह भी प्रसिद्ध था कि जौ का सेवन सुस्पष्ट उच्चारण की शक्ति प्रदान करता है और यवागू मूत्ररोगों को शान्त करती है।

सामान्यतया यवागू यव से बनाई जाती थी। धान के समान यव के खेत भी निश्चित रहते थे। इन्हें यव्य कहते थे।[4] उशीनर और मद्र जनपदों में जौ की पैदावार अधिक होती थी।[5] इस प्रकार पूर्वीय भाग का मुख्य भोजन चावल था और पश्चिम भारत का यव। कुछ लोगों के मत से प्राचीन साहित्य में यव का अर्थ जौ और गेहूँ दोनों था। यव के चूर्ण का एक भाग सोलहगुने पानी में घोलकर तबतक तपाते थे जबतक पकते-पकते पानी आधा रह जाता था। तब उसमें दूध और शक्कर मिला दी जाती थी। यवागू चावल के माँड में दूध और शक्कर मिलाकर भी बनाई जाती थी। यह लगभग उसी प्रकार का भोज्य था जैसे पंजाब में फिरनी बनाई जाती है। यवागू फिरनी की अपेक्षा पतली भी बनती थी। इसमें दूध की मात्रा अधिक होती थी। इसे भाष्यकार ने 'पयस्कल्पा' और 'बहुपया' कहा है।[6] यवागू नमकीन भी बनती थी।[7] सम्भवतः यह राजस्थानी राबड़ी-जैसी होती होगी। ठीक पकी हुई यवागू श्राणा या श्रपित[8] कही जाती थी जब कि पकाये हुए दुग्ध या हवि श्रृत कहलाते थे। श्राणा यवागू का दूसरा नाम हो गया था। जिस व्यक्ति को प्रतिदिन नियमित रूप से श्राणा दी जाती थी उसे श्राणिक[9] कहते थे। साल्व जनपद (सम्भवतः वर्तमान अलवर से बीकानेर रियासत तक) में यवागू का प्रचार अधिक था और साल्व लोग उसके बनाने में विशेष निपुण भी थे।[10] साल्वकी यवागू के लिए विशेष शब्द प्रचलित था 'साल्विका' जिसका व्यवहार वहाँ के बैलों और यवागू के लिए ही होता था। नमकीन और मीठी यवागू में

---

१ ५ १ २७ पृ० २९५।
२ भा० १, पृ० १९।
३ २ १-३, पृ० १०६।
४ २ १-२४ पृ० ४१७।
५ ५ २ ३।
६ ७-१-७३, पृ० ७०।
७ ५ १ १७ पृ० ४६२ तथा वही।
८ १ २-५१ पृ० ५४२।
९ ६ १-२७ पृ० ५६।
१० ४ ४-६७ काशिका।
११ ४-२-१३३, पृ० २१८ तथा ४ ९-१३६।

कुछ विशेष मसाले और मेवे मिलाकर उसे और भी अधिक स्वादु बना लिया जाता था। भाष्यकार ने यवागू का 'स्वाद्वी' करके खाने का उल्लेख किया है।[1] फिर भी स्वाद की दृष्टि से उसमें चाहे जो अन्तर कर लिया जाता हो, रहती वह पेय ही थी। भाष्यकार ने उसे भोज्या कहा है, भक्ष्या नहीं। भक्ष्य शब्द चबाई जाने योग्य वस्तु के लिए प्रयुक्त होता था।[2] अधिक पतली यवागू जिसे भाष्यकार ने यवस्वल्पा कहा है उष्णिका भी कहलाती थी। उष्णिका में अन्न का अंश बहुत कम होता था।[3] क्षीर में पकाई गई यवागू को 'क्षैरेयी' कहते थे।

यावक—यह यवक से तैयार किया हुआ भोज्य पदार्थ था। एतदर्थ यवक का पहले उलूखल में अवहनन किया जाता था। तुष निकालकर साफ किया हुआ यावक पानी में उबाला जाता था और उसमें दूध और शर्करा मिला दी जाती थी। भाष्यकार ने कहा है यावक को संस्कृत अन्न नहीं मान सकते। संस्कृत अन्न वह होता है, जो उठाकर तुरन्त खा लिया जाय। यवक का संस्कार उलूखल में होता है, किन्तु वह वहाँ से उठाकर खा नहीं लिया जाता। उसके बाद उसे राँधना पड़ता है। भाष्य में इसे औलूखल (उलूखल में साफ किया गया) कहा है।[4]

सक्तु—सक्तु का प्रचार पतंजलि-युग में विशेष जान पड़ता है। बड़ी उत्कंठा के साथ उन्होंने कहा है 'जानते हो देवदत्त हम कश्मीर जायेंगे वहाँ सक्तु पियेंगे।'[5] सक्तु का व्यवहार इतना अधिक था कि वे दुकानों पर बिका करते थे। सक्तु किसी भी भुने हुए अन्न से बनते थे। सामान्यतया व्रीहि यव और गोधूम सक्तु बनाने के काम आते थे। इनके दानों (धाना) को सक्तव्य कहते थे।[6] भूनने के बाद उन्हें चक्की (दृषद्) में पीसना पड़ता था इसीलिए भाष्यकार ने उन्हें दार्षद कहा है।[7] पिसे हुए सक्तु तितउ (चलनी) से छानकर साफ किये जाते थे। भाष्यकार ने व्याकरण द्वारा शुद्ध की गई वाणी की उपमा चालनी से छाने गये सक्तुओं से दी है।[8] सक्तु शब्द 'षच्' धातु (सचन) से तुन् प्रत्यय होकर बना है जिसका अर्थ है दुःखभोज्य। अथवा कस् (गतौ) धातु से वर्ण-व्यत्यय द्वारा 'विकसन' अर्थ में पृषोदरादित्वात् कर्म में तुन् प्रत्यय होकर सक्तु शब्द बनता है। इस प्रकार सक्तु शब्द का अर्थ कठिनता से साफ किया हुआ अथवा फैलने या फूलने वाला होता है और यह पूर्णतः सार्थक है।[11] सक्तु अधिकतर यव के बनते थे। यव के गुणों की चर्चा

---

१ ३-४ २६, पृ० १५५।
२ ७-३-६९ पृ० २०३।
३ ४-२-७१ काशिका।
४ ४-२-३०, पृ० १७२।
५ ४ ३-२५, पृ० ३१०।
६ ३ २ ११४ पृ० २८७।
७ २ १ १ पृष्ठ ३१०।
८ ४-१-२, पृ० २९५।
९ ४ ३-२५, पृ० ३१०।
१० सक्तुमिव तितउना पुनन्तः।—आ० १ पा० ८।
११ वही।

ऊपर हो चुकी है। उलूखल से कूटकर यव के तुष निकालना कठिन होता है और थोड़े भी तुष शेष रह जाने पर स्वाद में बाधा होती है। दूसरे यव के सक्तु पानी पड़ने पर फूलते भी खूब हैं। सक्तु छानने के लिए जिस तितउ का व्यवहार होता था उसकी संज्ञा भी सार्थक थी। भाष्यकार ने ततवत् (विस्तृत) तथा तुन्नवत् (छिद्रवत्) होने के कारण चालनी का उक्त नाम पड़ा हुआ बतलाया है। तन् (परिपवनार्थक) धातु से भी तितउ शब्द निष्पन्न हो सकता है, जिसका अर्थ 'परिपवन' अर्थात् परिशोधन करने का साधन' होता है।[1] सक्तु पेय तो थे ही दही मिलाकर भी खाये जाते थे।[2] साधारणतया वे पानी में घोलकर खाये या पिये जाते थे। इस प्रकार, उन्हें दधिसक्तु और उदकसक्तु या उदसक्तु[3] भी कहा जाता था। सक्तुओं का समूह साक्तुक कहलाता था।

उदमन्थ—पाणिनि-सूत्र (६ ३ ६०) में उदमन्थ या उदकमन्थ का उल्लेख मिलता है। जल के साथ खाये जानेवाले सक्तुओं को उदमन्थ कहते थे। भाष्यकार ने मन्थ या उदमन्थ का प्रयोग खाद्य अर्थ में नहीं किया है। दूध से खाये जानेवाले सक्तु मन्थ कहलाते थे। ऋग्वेद तथा श्राव० आर० में इसे पेय कहा है। सक्तु मधुमन्थ दधिमन्थ और उदमन्थ इन तीन रूपों में खाये जाते थे। मधुमन्थ मधु में सानकर, दधिमन्थ दही मिलाकर और उदमन्थ जल के साथ खाये जानवाले सक्तु थे।[4]

पिष्टक—पाणिनि ने पिष्ट के विकार को 'पिष्टक' कहा है।[5] पिष्टक संज्ञा शब्द था जो खाद्य-विशेष का वाचक था। पिष्ट किसी भी धान्य के चूर्ण अर्थात् आटे को कहते थे। पिष्ट या पिष्टि का ही विकसित रूप 'पिट्ठी' हिन्दी में पिसे हुए चावल के आटे या किसी भी पिसे हुए धान्य के चूर्ण के लिए प्रचलित है। भाष्यकार ने भी 'पिष्टपिण्डी'[6] का उल्लेख इसी अर्थ में किया है। संज्ञा (नामविशेष) से भिन्न अर्थ में पिष्ट से बनी हुई किसी भी सामान्य वस्तु को 'पिष्टमय'[7] कहते थे। हो सकता है कि पिष्टक 'रोटी' का सामान्य नाम हो।

पिष्टक शालि व्रीहि यव गोधूम अणु बाजरा (Panicum miliaceum) और गवेधुका (Coix barbata) आदि अन्नों से बनते थे। इनमें गोधूम और गवेधुका का उल्लेख विस्तारिगम (४ ३-१३६) में हुआ है।

पिण्डी—किसी सस्य के चूर्ण को भूनकर उसमें शर्करा या गुड़ और घी मिलाकर बनाई जाती थी। इसे भाष्य में पिण्डी और पिष्टपिण्डी कहा है।[8] यात्राकाल में जब भोजन बनाना कठिन

१ आ० १ पृ० ८।
२ १ १-५७, पृ० १६८।
३ ६-३-६०।
४ ४-२ १६, पृ० २७१।
५. कात्यायन सूत्रभाष्य १ ९-७ ८।
६. ४-३-१४७।
७. २-१-५७, पृ० ३१४।
८. ४ ३-१४६।
९. २ १-५७, पृ० ३१४।

होता था तब पिण्डी से काम चलाया जाता था। यों भी उपाहार के रूप में पिण्डी का प्रयोग होता था। भाष्य में पिण्डी के भक्षण का उल्लेख कई बार हुआ है।[1] श्रीवासुदेव शास्त्री अभ्यंकर ने भ्रान्तिवश पिण्डी को खजूर मान लिया है।[2] पिण्डी तिलों की भी बनती थी। एतदर्थ तिल पहले भून लिये जाते थे किन्तु यह क्रिया घर पर किसी अन्य पात्र में की जाती थी। वे चूल्हे पर यों ही नहीं भूने जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि 'तप्त-भ्राष्ट्र में डालने पर तिल उसमें मुहूर्त-भर भी नहीं ठहरते।'[3]

अपूप—अपूप मधुर पक्वान्न था जो गेहूँ या जौ के आटे से बनाया जाता था। आटे के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल जौ का ही उल्लेख भाष्य में होने का यह तात्पर्य नहीं कि जौ के अतिरिक्त अन्य अन्नों का प्रयोग नहीं होता था। वे सार सत्त्व जो पिसकर आटे के रूप में व्यवहृत होते थे यव कहलाते थे। अपूप इनमें से कई अन्नों के बनते थे। वे शर्करा या गुड़ डालकर घृत में पकाये जाते थे। ऋग्वेद[4] (१०.४५-९) में अपूप को घृतवत् कहा है। वे व्रीहि या यव के आटे से बनाये जाते थे। यज्ञ में भी अपूप की आहुति दी जाती थी। भाष्य ने यव को अपूपवान् और दधिवान् कहा है।[5] अपूप बड़े आकार के बनते थे। इसलिए, आधा अपूप भी खाने को दिया जाता था।[6] भाष्य में दो और छह अपूपों का उल्लेख मिलता है। जो कम-से-कम और अधिक-से-अधिक एक व्यक्ति का भोजन रहा होगा। अपूपों के ढेर को आपूपिक[8] कहते थे। चूर्ण अन्दर भरकर बनाये जाने के कारण अपूप 'चूर्णिन्' कहलाते थे।[9] यह अपूप का अन्य भेद था जिसे आजकल गुझिया कहते हैं और जो भीतर भुना मीठा चूर्ण भरकर बनाई जाती है। भाष्यकार ने भ्राष्ट्र में संस्कृत होने के कारण अपूपों को भ्राष्ट्र[10] कहा है। यह भ्राष्ट्र शब्द चूल्हे का बोधक है। अपूप गुड़ या तिल डालकर भी बनते थे। किसी पौर्णमासी को गुडापूप और किसी को तिलापूप ही विशेषतः खाये जाते थे।[11] सम्भवतः यह वैशाखी पूर्णिमा थी।

शष्कुली—शष्कुली एक अन्य मधुर पक्वान्न था जो चूर्णी होता था और घी या तेल में पकाया जाता था। शष्कुली के समूह को शाष्कुलिक[12] कहते थे। भाष्यकार ने धाना के साथ भी शष्कुली का उल्लेख किया है।[13]

---

१ १.१.७५, पृ० ४७८ तथा १.४.५२, पृ० १८१।
२ १.४.७५, पृ० २७८।
३ तप्ते भ्राष्ट्रे तिला क्षिप्ता मुहूर्तमपि नावतिष्ठन्ते।—१.१.५७ पृ० ३००।
४ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० ९५।
५ ८.२.१५, पृ० ३३९।
६ २.४.२६, पृ० ४७५।
७ १.४.२१ पृ० २०४ तथा १.१.१, पृ० ९४।
८ ४-१-८५, पृ० ९६ तथा ४-२.१६, पृ० १७९।
९ ४.४-२३।
१० ४-२.१६।
११ ६-२-८१ काशिका।
१२ ४.१-८५, पृ० ९६।
१३ १.१.५७ पृ० २९९।

मोदक—मोदक भी चूर्णान्न शर्करा और घृत से बनते थे। मोदकों के ढेर को मौदकिक कहते थे।[1] मोदक वास्तव में मोदप्रदायक थे और बड़े चाव से खाये जाते थे। भाष्यकार ने कहा है, देवदत्त का अभिप्राय मोदक खाने से है।[2] दो दो मोदकों को 'द्विमोदकिका'[3] कहते थे।

कृसर—कृसर तिल चावल मिलाकर बनाया जाता था। इसमें कुछ मटर और मसाले मिला दिये जाते थे। कृसर प्रातराशादि के काम आता था। सूत्र-ग्रन्थों तथा पंचविंश ब्राह्मण (५-२) में भी इसका उल्लेख मिलता है।

धाना और गुडधाना—भुने हुए अनाज के दानों को धाना कहते थे। भूनने का काम भ्राष्ट्र में होता[4] था। भूननेवाले या भ्राष्ट्र को प्रज्वलित करनेवाले को भ्राष्ट्रमिन्ध[5] कहते थे। भाष्यकार ने धाना और शष्कुली का साथ-साथ उल्लेख किया है। धाना गुड़ की चाशनी में पकाये जाते थे। वे गुडधाना कहलाते थे। गुडधाना का पूरा अर्थ था गुड़ में संसृष्ट[6] धाना।

वटक—पककर खाई जानेवाली वस्तुओं में वटक (बड़ा) का स्थान महत्त्वपूर्ण था। वटक किसी पौर्णमासी का मुख्य भोजन होता था। यह पौर्णमासी वटकिनी कहलाती[7] थी। वटकिनी संज्ञा थी। सम्भवतः कार्त्तिकी पूर्णिमा को 'वटकिनी' कहते थे।

कुल्माष—वटकिनी के समान एक पौर्णमासी का नाम कौल्माषी[8] भी था। कुल्माष घुघरी को कहते थे और सम्भवतः चैत्री पूर्णिमा को उसका मुख्यरूपेण आहार होता था।

कुल्माष का वास्तविक स्वरूप क्या था इस विषय में विभिन्न ग्रन्थों और विद्वानों में मतैक्य नहीं है। निरुक्त में कुल्माष को 'अवकुत्सित' आहार कहा है। छान्दोग्य उप० (१ १०-२) में भी उसे दरिद्र भोजन कहा है। अमरकोश में उसे यावक का पर्याय माना है। अन्य लोग काञ्जिक यावक को कुल्माष मानते हैं। काञ्जिक यावक जो चावल से तैयार होता है मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र के दरिद्र-वर्ग में बहुत प्रचलित है। आदिवासियों में भी इसका प्रचार है और इन स्थानों में यह स्वादु माना जाता है। कुल्माषपिण्ड जातक (सं० ४१५) में कुल्माष को 'अलोण अतक्कमिन' दरिद्र-भोजन बतलाया है। चरक के सूत्र-स्थान (२७-२६९) में उसे उष्णोदक-सिक्त ईषत्स्विन्न अपूपीकृत यव-पिष्ट कहा है, जो भार में भारी होता है और रूक्ष होता है। काशिका (४ ४ १०३) में मुद्ग (मूँग) को कौल्माषिक कहा है, जिससे स्पष्ट है कि कुल्माष मूँग से भी बनाया जाता था।

---

१ ४-२-३९, पृ० १७९।
२ ५ १ ११९, पृ० ३५३।
३ ५ ४ ३, पृ० ४८२।
४ ८ ३-५९, भा० ३, पृ० ४४१।
५ १ १-५० पृ० ३०७।
६ ७-३-७० पृ० ३४७।
७ १ १ ४७ पृ० २९२।
८ २ १ ३४ ३५, पृ० २९६।
९ ५-२-८२, पृ० ४००।
१० ५ २-८३।

होता था तब पिष्टी से काम चलाया जाता था। यों भी उपाहार के रूप में पिष्टी का प्रयोग होता था। भाष्य में पिष्टी के भक्षण का उल्लेख कई बार हुआ है।[1] श्रीवासुदेव शास्त्री अभ्यंकर ने भ्रान्तिवश पिष्टी को खजूर मान लिया है।[2] पिष्टी तिलों की भी बनती थी। एतदर्थ तिल पहले भून लिये जाते थे किन्तु यह क्रिया घर पर किसी अन्य पात्र में की जाती थी। वे चूल्हे पर यों ही नहीं भूने जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि 'तप्त भ्राष्ट्र में डालने पर तिल उसमें मुहूर्त भर भी नहीं ठहरते।'[3]

अपूप—अपूप मधुर पक्वान्न था जो गेहूँ या जौ के आटे से बनाया जाता था। आटे के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल जौ का ही उल्लेख भाष्य में होने का यह तात्पर्य नहीं कि जौ के अतिरिक्त अन्य अन्नों का प्रयोग नहीं होता था। वे सारे सस्य जो पिसकर आटे के रूप में व्यवहृत होते थे यव कहलाते थे।[4] अपूप इनमें से कई अन्नों के बनते थे। वे शर्करा या गुड़ डालकर घृत में पकाये जाते थे। ऋग्वेद (१० ४५-९) में अपूप को घृतवत् कहा है। वे व्रीहि या यव के आटे से बनाये जाते थे। यज्ञ में भी अपूप की आहुति दी जाती थी। भाष्य ने यज्ञ को अपूपवान् और दधिवान् कहा है।[5] अपूप बड़े आकार के बनते थे। इसलिए, आधा अपूप भी दान दे दिया जाता था।[6] भाष्य में दो और छह अपूपों का उल्लेख मिलता है।[7] जो कम-से-कम और अधिक-से-अधिक एक व्यक्ति का भोजन रहा होगा। अपूपों के ढेर को आपूपिक[8] कहते थे। चूर्ण अन्दर भरकर बनाये जाने के कारण अपूप 'चूर्णिन्' कहलाते थे।[9] यह अपूप का अन्य भेद था जिसे आजकल गुझिया कहते हैं और जो भीतर भुना मीठा चूर्ण भरकर बनाई जाती है। भाष्यकार ने भ्राष्ट्र में संस्कृत होने के कारण अपूपों को भ्राष्ट्र[10] कहा है। यह भ्राष्ट्र शब्द चूल्हे का बोधक है। अपूप गुड़ या तिल डालकर भी बनते थे। किसी पौर्णमासी को गुडापूप और किसी को तिलापूप ही विशेषतः खाये जाते थे।[11] सम्भवतः यह वैशाखी पूर्णिमा थी।

शष्कुली—शष्कुली एक अन्य मधुर पक्वान्न था जो चूर्णी होता था और घी या तेल में पकाया जाता था। शष्कुली के समूह को शाष्कुलिक[12] कहते थे। भाष्यकार ने धाना के साथ भी शष्कुली का उल्लेख किया है।[13]

---

१ १ १ ४५, पृ० ३७८ तथा १ ४-५१, पृ० १८३।
२ १ ४ ४५, पृ० २७८।
३ तप्ते भ्राष्ट्रे तिलाः क्षिप्ता मुहूर्तमपि नावतिष्ठन्ते।—१ १-५०, पृ० ३००।
४ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० २६।
५. ८-२-१५, पृ० ३३१।
६. २ ४-२६, पृ० ४७५।
७ १ ४ ११ पृ० ३०४ तथा १ १ १, पृ० ९४।
८ ४-१-८५, पृ० ९६ तथा ४ २-३६, पृ० १७९।
९. ४-४ २३।
१० ४ २ १६।
११ ९-२-८३ काशिका।
१२ ४ १-८५, पृ० ९६।
१३ १ १ ४७, पृ० २९२।

मोदक—मोदक भी चूर्ण, शक्कर और घृत से बनते थे। माण्डों के ढेर को 'सिंहकेसर' कहते थे।[1] मोदक वास्तव में मोददायक थे और बड़े चाव से खाये जाते थे। भाष्यकार ने कहा है, देवदत्त का अभिप्राय मोदक खाने से है।[2] खंडे या मोदकों को 'हिमपटलिका'[3] कहते थे।

कृसर—कृसर तिल चावल मिलाकर बनाया जाता था। इसमें गुड़ नमक और मसाले मिला दिये जाते थे। कृसर प्रातराशादि के काम आता था। सूत्र-ग्रन्थों तथा पंचविंश ब्राह्मण (५-२) में भी इसका उल्लेख मिलता है।

धाना और गुड़धाना—भुने हुए अनाज के दानों को धाना कहते थे। भूनने का काम भ्राष्ट्र में होता[4] था। भूननेवाले या भ्राष्ट्र को प्रज्वलित करनेवाले को भ्राष्ट्रमिन्ध[5] कहते थे। भाष्यकार ने धाना और शष्कुली का साथ-साथ उल्लेख किया है। धाना गुड़ की चाशनी में पकाये जाते थे। वे गुड़धाना कहलाते थे। गुड़धाना का पूरा अर्थ था गुड़ से संसृष्ट[6] धाना।

वटक—तलकर खाई जानेवाली वस्तुओं में वटक (बड़ा) का स्थान महत्त्वपूर्ण था। वटक किसी पौर्णमासी का मुख्य भोजन होता था। वह पौर्णमासी वाटकिनी कहलाती[7] थी। वटकिनी संज्ञा थी। सम्भवतः कार्तिकी पूर्णिमा को वटकिनी कहते थे।

कुल्माष—वटकिनी के समान एक पौर्णमासी का नाम कौल्मासी[8] भी था। कुल्माष घुघरी को कहते थे और सम्भवतः पौषी पूर्णिमा को उसका मुख्यरूपेण आहार होता था।

कुल्माष का वास्तविक स्वरूप क्या था इस विषय में विभिन्न ग्रन्थों और विद्वानों में मतैक्य नहीं है। निरुक्त में कुल्माष को 'अवकुत्सित' आहार कहा है। छान्दोग्य उप० (१ १०-२) में भी उसे दरिद्र भोजन कहा है। अमरकोश में उसे यवक का पर्याय माना है। अन्य कोश काञ्जिक यवक को कुल्माष मानते हैं। काञ्जिक यवक जो चावल से तैयार होता है मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र के दरिद्र-वर्ग में बहुत प्रचलित है। आदिवासियों में भी इसका प्रचार है और इन स्थानों में यह स्वादु माना जाता है। कुल्माषपिण्ड जातक (सं० ४१५) में कुल्माष को 'अलोण अस्नेहिक' दरिद्र-भोजन बतलाया है। चरक के सूत्र-स्थान (२७-२६९) में उसे उष्णोदक-स्विन्न ईषत्स्विन्न अपूपीकृत यव-पिष्ट कहा है, जो देर में पचता है और रूक्ष होता है। काशिका (४ ८-१०३) में मुद्ग (मूंग) को कौल्माषिक कहा है, जिससे स्पष्ट है कि कुल्माष मूंग से भी बनाया जाता था।

---

१ ४-२-१६, पृ० १०९।
२ ५ १ ११६, पृ० १५१।
३ ५ ४ १, पृ० ४८९।
४ ८ १-५६, भा० १, पृ० ४४१।
५ १ १-५० पृ० १०७।
६ ७-१-७० पृ० १४७।
७ १ १ ४७ पृ० २९२।
८ ९ १ १४, १५, पृ० २९६।
९ ५-२-८२, पृ० ४००।
१० ५-२-८३।

श्री पी० के० गोडे (भ० ओ० रि० इंस्टीट्यूट के अ० २२ २५६) ने उसे घुघरी बतलाया है, जिसे महाभाष्य के पूना-संस्करण ने स्वीकार किया है। डॉ॰ वा० श० अग्रवाल ने भी कुल्माष का हिन्दी पर्याय घुघरी ही स्वीकार किया है। हिन्दी में घुघरी देर तक भिगोये हुए चने को कहते हैं, जिसका मेल प्राचीन कोशों से नहीं बैठता। वास्तव में कुल्माष खटास लिया हुआ मांड होता था जो किसी पिष्ट या चावल से तैयार किया जाता था। देर तक बासी रखने के कारण उसमें खटास आ जाती थी।

आमिक्षा—भाष्य में आमिक्षा वैश्य का उदाहार बतलाया गया है। आमिक्षा पेय थी, जो कच्चे दूध में दही मिलाकर बनाई जाती थी।

चूर्ण—चूर्ण शब्द से वर्तमान चून शब्द बना है, जो आटे का पर्याय है। भाष्य में चूर्ण शब्द का प्रयोग भुने हुए तथा शर्करा या गुड़ मिले हुए आटे के लिए हुआ है। इस प्रकार का चूर्ण सत्य नारायण की कथा में प्रसाद के हेतु बनाने की प्रथा है। यह चूर्ण गेहूँ का या अनाज में शालि का बनाया जाता था। गुझिया के भीतर यह चूर्ण भरा जाता था। इसीलिए भाष्य में गुझिया (अपूप) को चूर्णी कहा है।[1] पाणिनि ने भी भोज्य वस्तु के रूप में चूर्ण का उल्लेख किया है।[2] काशिकाकार ने मुद्ग और मसूर के चूर्ण का भी उल्लेख किया है। मुद्ग चूर्ण के लड्डू तो सुपरिचित ही हैं।

पलल—भाष्य में पलल-पिण्ड का उल्लेख एकाधिक[3] बार हुआ है और इस प्रकार हुआ है, जिससे यह सुपरिचित खाद्य जान पड़ता है। पाणिनि में पलल का प्रयोग उसके साथ होनेवाले मिश्रवाची तत्पुरुष के प्रसंग में किया गया है। काशिकाकार ने इसका उदाहरण गुडपलल और घृतपलल दिया है। 'पद् च काण्डादीनि' (१ २ ३५) सूत्र में उपर्युक्त सूत्र के अभिप्रायक उदाहरणों में काशिकाकार ने तिलपललम्' का उल्लेख किया है।[5] इन उदाहरणों से पलल बनाने की प्रक्रिया का पता चल जाता है। तिलों को भून और कूटकर उनमें गुड़ और घी मिलाकर अथवा केवल तिलों से बनाई गई कतरी या तिलकूट को पलल कहते थे।

सूप—सूप का व्यवहार संसृष्टि के लिए होता था। यह ओदन के साथ मिलाकर खाया जाता था।[6] सूप में सर्वाधिक मुद्ग (मूँग) का उपयोग होता था। मूँग को मिलाकर बनाये हुए भात को मौद्ग ओदन (खिचड़ी) कहते थे। सूप बनाकर खाने की वस्तु नहीं थी वह पेयों के समान पतली बनती थी। 'शालिविकार (ओदन) को मुद्गविकार (मूँग की दाल) के साथ खाता है' ऐसा उल्लेख भाष्य में मिलता है।[8] मुद्ग के अतिरिक्त माष का व्यवहार दाल के लिए

१ ४ ४-२३।
२ वही।
३ १ १ १ पृ० ९३।
४ १ २-१२८ काशिका।
५ १ २-१३५ काशिका।
६ ४-४ २५।
७ वही।
८ ४ ३ ११५ पृ० ३१५।

होता था। माष, सूप और ओदन तीनों का एक साथ उल्लेख भाष्य में हुआ है।[1] माष पचक्लिम कहा गया है क्योंकि वह जल्दी ही पक जाता है।[2] दाल के रूप में मटर का भी व्यवहार होता था। अतिथियों को भी मटर की दाल और चावल खिलाए जाते थे।[3] माष का व्यवहार भात आदि के साथ ही होता था। इसीलिए, भाष्य[4] में कहा है 'माष न खाओ' यह कहने पर माष अन्य भी किसी वस्तु के साथ मिलाकर नहीं खाए जाते थे।

सूप लवण डालकर बनाया जाता था। लवणयुक्त सूप को लवणसूप कहते थे। संसृष्ट अर्थ में लवण के आगे होनेवाले प्रत्यय का लुक् हो जाता था। इसी को भाष्य में 'लवणाल्लुक्' या 'लवणाद्ठञ्' कहा है।[5] भाष्यकार ने इस प्रसंग में लवण शब्द का प्रयोग दो अर्थों में प्रचलित बतलाया है—रसवाची और संसृष्टनिमित्त। असंसृष्ट अर्थ में भी लवण शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यथा लवणक्षीर, लवणपानीय। क्षीर और पानीय में बिना लवण मिलाए ही उनका स्वाद लवण होता है। इसलिए यहाँ लवण शब्द रसवाची है। संसृष्टनिमित्त लवण वहाँ होता है, जहाँ वह अलग से मिलाया जाता है। संसृष्ट पदार्थ में भी जब वह अलग नहीं पाया जाता और घुलमिल कर एकाकार हो जाता है, तब कहते हैं 'अलवण सूप है या अलवण शाक है।'[6] 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५-१ ११९) सूत्र पर भाष्य करते हुए गुण शब्द के विवेचन के प्रसंग में भाष्यकार ने दाल में डाले जानेवाले लवण के परिमाण के विषय में भी चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि यदि कोई सेर भर मूँग में सेर भर नमक डाल दे तो वह उपयुक्त नहीं माना जायगा। यदि अद् (भक्षण करना) धातु से अन्न की व्युत्पत्ति मानें तो इस प्रकार तैयार किया हुआ अन्न सूप खाया ही नहीं जायगा और यदि अन (जीवित रहना) से अन्न का निष्पन्न मानें तो भी इस प्रकार से सूप को खाकर कोई जीवित नहीं रह सकता। इसलिए उसे अन्न कहना संभव नहीं होगा।

लवण के अतिरिक्त सूप को घी, कुस्तुम्बुरु, तित्तिडीक आदि से छौंकने की भी प्रथा थी।[8] दाल में अलग से भी घी मिलाया जाता था। मूली या दूसरे शाक भी पकाने के समय दाल में डाल दिए जाते थे। इस प्रकार पकाया हुआ सूप 'घृतसूप' और 'मूलकसूप' कहलाता था।[9]

[illegible]—अन्नों के कुछ उपसेचक द्रव्य भी हैं, जिनकी चर्चा अन्नों के साथ ही होनी चाहिए।

---

१ २-१-९, पृ० २७२।

२ ३-१-९६, पृ० १८०।

३ ५ १ १९, पृ० ३१०।

४ १ १-५१ पृ० ३१८।

५ १ ४-७४, पृ० १९६।

६ ४ ४-२४ पृ० २७६।

७ संसृष्टमर्थं यत्नवदित्युच्यते—यो हि मुद्गप्रस्थे लवणप्रस्थं प्रक्षिपेदसौ युक्तं स्यात्। यदि तावददेरन्नं नासावद्यं स्यात्। अथानितेरन्नं नासावन्नं प्राणान् ।—५ १ ११९, पृ० ३५५, ५६।

८ ४-४-४ काशिका।

९ ६-२ १२८ काशिका।

उदाहरणार्थ दधि ओदन के साथ मिलाकर खाया जाता था। इस प्रकार के ओदन को दध्योदन कहते थे।[1] भाष्य में दध्योदन की चर्चा अनेक रूपों में बार-बार आई है। इससे यह बहुप्रिय भोजन जान पड़ता है। दधि से संसृष्ट या संस्कृत वस्तु दाधिक कहलाती थी।[2] दही में पकाया हुआ अन्य खाद्य भी दाधिक कहलाता था।[3] दही में पकाई हुई और दही से संस्कृत की हुई वस्तु में अन्तर होता था। ओदन के अतिरिक्त पिष्टक आदि भी दधि के साथ खाये जाते थे। इन्हीं के लिए भाष्य में कहा गया है 'दही रहने दो। न सही दही तुम शाक से खा लो।'[4]

दधि का इतना आधिक्य था कि वह घड़े भर भर कर जमाया जाता था।[5] भाष्यकार ने दधि की तीन श्रेणियाँ बतलाई हैं—मन्द उत्तरक और निष्ठीनक। मन्द कुछ कम जमा हुआ उत्तरक पूर्णतया जमा हुआ और निष्ठीनक जमकर कुछ बिखरता हुआ दधि कहलाता था। ब्राह्मण भोजन में भी दही परोसा जाता था।[6] भाष्यकार ने बार-बार इस वाक्य की आवृत्ति की है 'सब ब्राह्मणों को दही परोसो किन्तु कौण्डिन्य को मट्ठा दो।'[7] दही परोसनेवाले को 'दधिसेच्' कहते थे।

ओदन दध्युदक (मट्ठे) में पकाये जाते थे।[8] सत्तू भी दही से खाये जाते थे।[9] भाष्य के उल्लेखों से दधि का प्रचार सूप से भी अधिक जान पड़ता है। भाष्यकार ने दधि-भोजन को अर्थसिद्धि का समीपी कहा है।[11]

पायस—दुग्ध का प्रयोग पान के रूप में तो होता ही था उसमें शालि व्रीहि तथा अन्य अन्न मिलाकर पकाये जाते थे। पयस् में पकाई वस्तु पायस कहलाती थी। जिस व्यक्ति को पायस अधिक प्रिय होता था उसे पायसिक कहते थे।[12] पायस पकाने का भी उल्लेख भाष्य में स्वतन्त्र रूप से मिलता है।[13] पायस खीर और कढ़ी दोनों को कहते थे।

औदश्वित्क—उदश्वित् शब्द भाष्य में अनेक बार आया है—उदश्वित्सुक[14] मथि

---

१ २-१ ३४ ३५, पृ० २८९।
२ ४ ४ १२ तथा ४ ४ ३।
३ ४-२-१८।
४ २ १ १ पृ० २५०।
५. २ १ ३४ पृ० २८०।
६. दधीत्युक्ते बहुशोऽर्था गम्यन्ते मन्दमुत्तरकं निष्ठीनकम्।—२-१ ३४ पृ० २८०।
७. सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं तु कौण्डिन्याय।—१ १ ४७ पृ० २८०।
८. १ १ ६३ पृ० ४१२।
९. १ १ ६७, पृ० ४२४।
१० १ १-५७ पृ० ३९८।
११ दधिभोजनमर्थसिद्धेरन्ति।—६-४ १६२, पृ० ४९६।
१२ ४-२ १०४ पृ० २०९।
१३ १ १-७२ पृ० ४५८।
१४ ६ १-८५, पृ० १९४।

ओदक' उम्मुक' तक्र' मथित' आदि। चावल तथा पिष्टक उदश्वित् में पकाये जाते थे। इन्हें औदश्वित्क या औदश्वित कहते थे।[1] इस प्रकार के द्रव्यों में तक्रौदन तथा कढ़ी का प्रचार आज भी है।

उदश्वित् दधि से बनाया जाता था। दधि को बिलोनेवाली रई को विशाख कहते थे। विशाख के मध्यदण्ड को वैशाख कहते थे।[2] रई की आकृति से मिलती होने के कारण चलने के सहारे के लिए बनाई गई लकड़ी वैशाखी कहलाती थी।

सर्पि—दधि से बिलोकर निकाले गये पदार्थ को हैयंगवीन[3] कहते थे जिसे तपाकर घृत या सर्पि बनाया जाता था।[4] सर्पि का व्यवहार खाद्य पदार्थों को तलने, संस्कृत करने एवं व्यंजन के रूप में होता था। व्यंजन रूप में सर्पि सूप एवं ओदन में मिलाकर खाया जाता था।[5] हैयंगवीन से घृत बनाने के लिए उसे पकाया जाता था। जमे हुए घृत को शीन[6] कहते थे। अभि या अव उपसर्ग पूर्व होने पर अभिशीन और अभिश्यान दोनों प्रयोग होते थे। घृत-भोजन को भाष्यकार ने आरोग्य का आदि कहा है।[11] इसीलिए 'घृत की कामना' करता है 'घृत की एक बूंद'[12] ही होती। ऐसे उदाहरण भाष्य में प्राप्त होते हैं। किन्तु, घृत और क्षीर सबके भाग्य में नहीं था। जो गाय पालता था वह उनका घी-दूध खाता था। जो नहीं पाल सकता था उसके लिए इनका दर्शन तक दुर्लभ था।[14]

तैल—घृत के समान तैल भी संस्कारक द्रव्य था जो तिल अथवा सर्षप से निकाला जाता था। खली से निकलनेवाले घी के साथ भाष्य में तिलों के तैल की भी चर्चा है।[15] एक अन्य स्थान

---

१ ५.१-८३, पृ० ४७४।
२ ४.२-११।
३ ११-६७ पृ० ४२४।
४ ११४७, पृ० २८७।
५ ६-१-८५ पृ० १२४ तथा ५.३-८३ पृ० ४७४।
६ ५.१.११०।
७ ५-२.२३ पृ० ३०३।
८ ११.११ पृ० ४६।
९ पुरा मे बहुघृतक्षीरमोदनं कांस्यपात्र्यां भुञ्जीरन्—६-२.३ पृ० ३१७ तथा ६.२.१२८ काशिका।
१० ६-१-२३ तथा २६।
११ ६-४-१६३, पृ० ४९६।
१२ १३-२५, पृ० ६३।
१३ वही।
१४ यस्य च ता गावः सन्ति स तासां क्षीरं घृतं चोपयुञ्जीतोऽर्थान्तरेणाप्युपयुञ्जानम्।—१-२-४५, पृ० ५२८।
१५ ११११, पृ० ४६।

पर भी तैलभोजन एवं घृतभोजन का उल्लेख है।[1] सर्षप और तिल के अतिरिक्त इंगुदी के तैल का भी प्रचार था।[2]

शाक—शाक का उपयोग दो प्रकार से होता था—पकाकर और कच्चे रूप में। मूलक आदि भोजन के साथ यों भी काटकर खाये जाते थे। मूलक खाने की इस क्रिया को 'उपदंशन' कहते थे।[3] मूल या मूलक का उत्पत्ति-क्षेत्र मूल-शाकट या[4] मूल-शाकिन कहलाता था। मूलक को सूप में मिलाकर भी पकाते थे अर्थात् मूलक का सूप (रसीला खाद्य)[5] बनाते थे। कपित्थ का रस निकालकर खाया जाता था।[6] आज भी कपित्थ की चटनी बनाई जाती है। इसके अतिरिक्त मसालू तितिडीक पनस वर्धक शृंगवेर (अदरक) का भी प्रयोग किया जाता था।[7] पलाण्डु खाने का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।[8]

पकाकर खाया जानेवाला शाक दो प्रकार का बनता था—लवण और अलवण। कुछ लोग लवण नहीं खाते थे।[10] वे अलवण शाक और सूप का व्यवहार करते थे।[11] 'शाक को ओदन आदि में मिलाता या सानता है' ऐसा उल्लेख भाष्य में मिलता है[12] जो उसके खाये जाने की प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। एक स्थान पर शाक का उपयोग दधि के समान उपसेचक के रूप में बतलाया गया है।[13] शाक के भेद या स्वल्पता के लिए 'शाक-प्रति' शब्द रूढ था।[14] इसी प्रकार 'माष-प्रति' 'सूप-प्रति' या 'ओदन-प्रति' शब्द प्रचलित थे। शाक घृत या तैल में बनाया जाता था। कोई-कोई मूंग की दाल में मिलाकर पकाया करते थे।[15]

फल—फलों में दाडिम द्राक्षा बिम्बा (Momordica monadelpha) मृद्वीका (लाल अंगूर) और बदर एवं कुवली (Qujubo) भोजन के अंग थे।[16]

---

१ भा० १ पृ २६।

२ ५-२-२९ पृ० ३७६।

३ ४ १ ४८ पृ० ६१।

४ ५ २-२९ पृ० ३७६।

५ ६-२ १२८, काशिका।

६ ४ ३-१५५, पृ० २६६।

७ २ १ १ पृ० २५३।

८ ५-२-३६ पृ० ३९२।

९ पचन्ति पनसम् ।—१ १-७०, पृ० १५४।

१० १-२-५१, पृ० ५५२ तथा ४-४-२४ पृ० ३०० ।

११ वही ।

१२ १-२-१४१, पृ० २०३।

१३ २-१ १ पृ० २५०।

१४ २ १-९, पृ० ३७२।

१५ ६-२ १२८ काशिका।

१६ १ १ १, पृ० १४ ४ ४ ११ ९-२-५, पृ० ३२६, १ १-५८, पृ० ३७६ तथा ६ १ ४२, पृ० ३२९।

मांस—शाक और सूप के समान ही मांस भी भोजन का सहायक आहार था। मांस का व्यवहार समाज में बहुत अधिक था। मालूम होता है कि यज्ञ में पशुवध इसके प्रचार में विशेष सहायक था। श्रोत्रिय लोग प्रसाद रूप में 'आग्नि-वारुणी स्थूल-पृषती अनड्वाही' का मांस ग्रहण करते थे।[1] विशिष्ट अतिथियों के लिए समांस मधुपर्क की प्रथा चल चुकी थी इसलिए उन्हें मांसौदनिक अतिथि कहते थे।[2] शशक और कपोत के भक्षण का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।[3] कपोत के रस या शोरबे को कापोत कहते थे। भाष्य में प्रश्न करते हुए कहा है कि कपोत तो सलोम और चपल प्राणी का नाम है। उसका रस बना लेने पर वह तो जीवित रहता नहीं। तब उस रस को कापोत कैसे कह सकते हैं? अण् प्रत्यय जिससे कापोत शब्द बनता है, प्राणिवाचक शब्द से ही होता है। कपोत का मांस उसका प्रथम विकार है और उस मांस का विकार रस होता है। इन दो अर्थों में दो विकारार्थक प्रत्यय न करके सीधे कपोत से ही एक अण् प्रत्यय किया जाता है। प्रश्नकर्ता का आशय यह है कि यदि कपोत से सीधे रस बनाया जाता तो प्राणिवाचक से अण् प्रत्यय होना उचित था किन्तु प्रत्यय होता है कपोत के मांस से और मांस प्राणी है नहीं। इसका उत्तर भाष्यकार एक वाक्य में देते हैं कि 'यह बात सर्वमान्य है कि विकार में प्रकृति का सम्बन्ध रहता है। इसलिए विकार के लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग हो सकता है। इस दृष्टि से कपोत के मांस के लिए कपोत शब्द का व्यवहार हो सकता है।'[4]

पक्षियों के अतिरिक्त मछलियाँ भी खाद्य थीं। खाने के लिए उनका शिकार करने की प्रथा थी। मत्स्य मीन अनिमिष इन पर्यायवाची तथा शफर शकुल आदि मीन-विशेषों का उल्लेख शिकार के लिए भाष्य में मिलता है।[5] मांसार्थी लोग कांटों-सहित पूरी-पूरी मछलियों को ले आते थे और फिर घर पर ग्राह्य अंश लेकर शेष फेंक देते थे।[6]

पशुओं में मृग का मांस मुख्यतः उच्चवर्ग में खाया जाता था। अज और अवि का मांस सामान्य समाज में खूब प्रचलित था। छाग की बलि यज्ञ में भी दी जाती थी और उसका मांस खाया जाता था। मांसौदन के लिए मृग के शिकार का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।[7] श्वपाकादि कुत्ते तक का मांस खाते थे।[8] पाँच-पाँच नखवाले प्राणी तो शास्त्र द्वारा भक्ष्य ठहराये गये थे।[9] वे थे—शशक शल्यक शल्की कूर्म और गोधा। आरण्य शूकर और कुक्कुट भी भक्ष्य थे।

---

१ भा० १ पृ० ३।

२ ४ ४ ६७।

३ २-२-३६, पृ० ३९२।

४ ४-३ १५५, पृ० ३१७।

५ १ १ ६८, पृ० ४३५।

६ १-२-६९, पृ० ५१६।

७ ४ ३-१११ पृ० २५५ तथा २ ३ ६१ पृ० ४४८।

८ ९-३-१३, पृ० ४१७।

९ भा० १ पृ० ११ तथा (अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्रामशूकर इत्युक्ते गम्यत एतदारण्यो भक्ष्य इति)—वही।

मांस सामान्यतया ओदन के साथ खाया जाता था।[1] भाष्य के उल्लेखों से ऐसा ज्ञात होता है कि मांस खाने का स्वभाव बहुत-से लोगों का बन गया था जो सदा मांस खाने की कामना किया करते थे।[2] मांस का लालच देकर लोग दूसरों को अपने पास रहने के लिए प्रलोभित करते थे।[3] भोक्ता मांसौदन की ओर सूप्यौदन की अपेक्षा अधिक तेजी से अग्रसर होता था।[4]

जिस पात्र में मांस पकाया जाता था उसे मांसपचनी कहते थे।[5] मांस को कूटकर शूल या शलाका पर भूनने की प्रथा थी। यह मांस 'शूलाकृत' कहलाता था।[6] यह प्रथा पाणिनि-काल में भी प्रचलित थी। शूल पर पकाये गये मांस को शूल्य कहते थे। इसी प्रकार उखा में संस्कृत की हुई वस्तु उख्य कहलाती थी। कभी-कभी भ्राष्ट्र आदि के द्वारा किसी पशु को पूरे का पूरा ही पका लेते थे और कभी खण्ड-खण्ड करके।[8] पशु को भूनकर खा लेने की प्रवृत्ति उस समय भी कुछ लोगों में थी।

शालि-मांस का व्यवहार जन-सामान्य में था किन्तु साधक व्रती आदि मांस का व्यवहार नहीं करते थे। भाष्य में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि के व्रत भोजन का विधान करते हुए कहा गया है कि शालि मांसादि खाकर भी व्रत किया जा सकता है।[9]

गुड़—गुड़ का प्रयोग अपूप या मोदक बनाने तथा धाना एवं सक्तु को पागने तथा अन्य मधुर खाद्यान्नों में किया जाता था। स्वतन्त्र रूप से भी गुड़ खाया जाता था।[10] गुड़ का स्वाद मधुरिमा का प्रतिमान था और अन्य मधुर पदार्थों की मिठास जानने के लिए मापदण्ड था। भाष्यकार ने द्राक्षा को गुडकल्पा अर्थात् गुड़ के समान मीठी कहा है।[11] गुड़ इक्षु से बनता था और जिस इक्षु में गुड़ का परिमाण अधिक प्राप्त होता था उसे गौडिक इक्षु कहते थे।[12] भाष्य में गुड़ और शृंगवेर (अदरक) का स्वाद परस्पर विरोधी बतलाया है।[13]

---

१ २-३-१६, पृ० ४१७ ।
२ ३-२-१ पृ० २०४ ।
३ ३-३-१३९ पृ० ३३० ।
४ १ ३-१, पृ० १४ ।
५ ३ १ ६३ पृ० ८६ ।
६ ५ ४-६५ ।
७ ४ २ १७ ।
८ पशुं विद्धं पचन्ति—भा० २, पृ० ५५ ।
९ भा० १, पृ० १९ ।
१० १ ४ ४९, पृ० १७४ ।
११ ५ ३-६७ पृ० ४६१ ।
१२ ४ ४-१०३ काशिका ।
१३ ४ ९-८४ ।

शर्करा—शर्करा का प्रत्यक्ष उल्लेख भाष्यकार ने मधुर खाद्य के अर्थ में नहीं किया है किन्तु पाणिनि ने 'शर्करायां वा' (४.२.८३) में न केवल शर्करा का नामोल्लेख किया है,[1] अपितु उससे बनाई जानेवाली वस्तुओं की ओर भी संकेत किया है। पाणिनि के अनुसार शर्करा से बने पदार्थ को शार्कर, शार्कर, शार्करिक शर्करिक या शर्करीय कहते थे।[2]

मधु—मक्षिकाओं द्वारा निर्मित होने के कारण माक्षिक या सारघ[3] कहा जाता था। भाष्यकार ने इसे द्रव्यपदार्थक और रसवाची कहा है।[4] मधु की लालसा करने के लिए विशेष क्रिया का प्रयोग होता था। मध्वस्यति या मधुस्यति।[5] मधु इतना प्रिय था कि लोग उसकी लालसा किया करते थे।[6]

द्राक्षा—द्राक्षा के माधुर्य को 'गुडकल्प' कहा गया है। कपिशा द्राक्षा की उत्पत्ति का प्रसिद्ध क्षेत्र था।[8] पेय पदार्थ दो प्रकार के थे—पौष्टिक स्वादु एवं मादक। पौष्टिक पदार्थों में मुख्य थे ये—

क्षीर—क्षीर का मुख्य साधन गो थी, यद्यपि अन्य प्राणियों के क्षीर का उल्लेख भी भाष्य में प्राप्त होता है।[9] गायों में कृष्णा बहुक्षीरा मानी जाती थी।[10] आपीनऊध्नी क्षीर के आतिशय्य का परिचायक माना जाता था। क्षीर अन्य खाद्य पदार्थों के बनाने में भी काम आता था। यवागू क्षैरेयी[11] या पयस्कल्पा होती थी।[12] आमिक्षा भी क्षीर से बनती थी। पायस भी क्षीर में पकाया जाता था। पायस के प्रेमी पायसिक[13] कहलाते थे और इनकी कमी न थी फिर भी, पान के रूप में क्षीर का महत्त्व सर्वाधिक था। ब्राह्मण पयोव्रत होते थे।[14] माणवकों का यह मुख्य भोजन था। वे उसकी लालसा करते ही रहते थे।[15] उशीनर के लोग क्षीर पान से सर्वाधिक प्रेमी थे।[16]

१ वही।
२ नहि गुड इत्युक्ते मधुरत्वं गम्यते गुडकल्पेयमिति वा द्राक्षाप्रत्ययम्।—२-१-१, पृ० २५३।
३ ४-३-११६ पृ० २४९।
४ ५-२-१०७, पृ० ४२६।
५ ७-१-५१, पृ० ४९।
६ १-३-२५, पृ० ६३।
७ ५-३-६७, पृ० ४६१।
८ ४-२-९९।
९ ६-३-४२, पृ० ३९८।
१० कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा।—२-३-४१, पृ० ४३३।
११ ६-१-२८, पृ० ५६।
१२ ४-२-२० पृ० १७२।
१३ ५-३-६७, पृ० ४६१।
१४ ४-२-१०४, पृ० २०९।
१५ भा० १, पृ० १९।
१६ ७-१, पृ० ४९।
१७ ८-४-९ काशिका।

मथित—मथित के लिए तक्र, मथितोदक उदश्वित् आदि शब्दों का प्रयोग प्रचलित था[1] जो वैसाखमन्थ से मथकर बनाया जाता था।[2] यह दधि से निम्न कोटि का भोजन था। इसीलिए, कौण्डिन्य का अपमान करने के उद्देश्य से कहा गया है सब ब्राह्मणों को दही दो किन्तु कौण्डिन्य को तक्र दो।[3] मथित का प्रयोग इतना अधिक था कि कुछ लोग केवल मथित बेचने का ही व्यवसाय करते थे।

गुडोदक—गुड़ का शर्बत गुडोदक कहलाता था। इसका प्रचार आज भी उत्तर भारत में अधिकता से पाया जाता है। भाष्य में बार-बार गुडोदक का उल्लेख होने से इसके प्रिय पेय होने का अनुमान होता है।[4]

सुरा—सुरा का प्रयोग सामान्य जनता में प्रचलित था। एतदर्थ पानागार थे जिनमें जाकर लोग सुरापान करते थे।[5] ऐसे लोगों के प्रति समाज-सम्मान का भाव कम था। नियमित पीनेवाले दुर्मदी कहलाते थे। ये कभी सुरा से तृप्त नहीं होते थे। सुरा का प्रचार प्राच्य लोगों में अधिक था। बाह्लीक और सौवीर लोग भी पान अधिक करते थे। गान्धार लोग कषाय[6]-पान को पसन्द करते थे। सुरा बनानेवालों को शौण्डिक या आसुतीवल कहते थे। पीनेवाले के लिए 'शौण्ड' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[7] आसुतीवल सुरा खींचने समय से उसे टपकाने (अभिषव) का काम करता था।

सुरा या सुण्डा के अनेक प्रकार थे। मैरेय एक प्रकार का मद्य था जो गुड़ या महुए से बनाया जाता था। इसे इसके उपभूत पदार्थों के अनुसार गुड़-मैरेय या मधु-मैरेय कहते थे। उच्चकोटि के मैरेय को परममैरेय कहते थे। काशिकाकार ने आसव और मैरेय में अन्तर बतलाया है।[8] प्रसन्ना सुरा का दूसरा भेद था। यह गुड़ से बनाई जाती थी। इसका रंग तेल के समान हल्का पीला होता था। भाष्यकार ने बार-बार इसे 'तैलकल्पा' कहा है।[9] कापिशायनी सुरा खजूरों के रस से बनाई जाती थी। इसीलिए उसे कापिशायन मधु कहते थे।[10] अंगूरों के रस के लिए मधु शब्द का व्यवहार होता था। यहाँ की द्राक्षा बहुत प्रसिद्ध थी। यहीं से द्राक्षा से बना हुआ

---

१ ५-१-८५ पृ० १२४ ।
२ ५-१-११० ।
३ १-१-४७, पृ० २८७ ।
४ ७-३-५०, पृ० ३६५ ।
५ १-४-२ पृ० ३२४ तथा ५-१-८५, पृ० १२४ ।
६ पिबति शौण्डः पानागारे ।—२-१-१ पृ० २२८ ।
७ २-२-२९, पृ० ३०९ ।
८ ८-४-९ काशिका ।
९ २-१-१ पृ० २२८ ।
१० ६-२-७० काशिका ।
११ ५-३-९७ पृ० ९८ तथा ५-४-१४, पृ० ४११ ।
१२ ४-२-९९ ।

मधु अन्यत्र भेजा जाता था। कषाय हल्के नशेवाला पेय था। सामान्य कषाय घी-मांड़ (सर्पिर्मण्ड) तथा उमापुष्पों (अलसी के फूल) से बनाया जाता था। एक प्रकार का कषाय दौवारिकों का पेय था जिससे यह निम्न कोटि का पेय मालूम होता है। सर्पिर्मण्डकषाय उमापुष्पकषाय और दौवारिककषाय ये कषाय के भेद थे और संज्ञा शब्द थे। इनमें उच्च कोटि के कषाय को परम कषाय कहते थे।[1]

सुरा बनाने के यन्त्र (भभका) को आसुति[2] कहते थे। सुरा के घटक पदार्थों का प्रथम किण्व बनाया जाता था। किण्व की प्रक्रिया पूर्ण होने पर वे आसव्य[3] स्थिति में होते थे। अभिषव (सुरा खींचने) के बाद बचा हुआ अंश[4] कल्कफिनीय कहलाता था जिसे फेंक दिया जाता है।[5]

ब्राह्मण लोग सामान्यतया सुरा नहीं पीते थे किन्तु सौत्रामणि आदि यज्ञों में स्वल्प सुरा का सेवन भी वे धार्मिक दृष्टि से करते थे। भाष्य में एक स्थान पर पूर्वपक्षी कहता है 'यदि ताम्रवर्णी सुरा से भरी हुई अनेक घटी पीकर कोई स्वर्ग नहीं पहुँच सकता तो यज्ञ में थोड़ी-सी पी लेने पर कैसे पहुँच जायगा ?'[6]

सोम—सोम का प्रचार ब्राह्मणों श्रोत्रियों और ऋत्विजों में था। भाष्य में सोमपान का[7] पौनःपुनिक उल्लेख प्राप्त होता है। सोम बनाने की प्रक्रिया बड़ी जटिल थी। सोमवल्ली मूजवन्त पर्वत या कीकटों के देश में होती थी। इस लता को त्वच पर फैलाकर फिर वेदी या अधिषवण पर रख कर कूटते थे अथवा मन्था (मूसली) से ऊखल में कूटते थे। फिर इसका रस चम या चमस (कलश) में भरते थे। कूटने या पीसने से पूर्व इसे पानी में भिगोया जाता था। भाष्य के उल्लेख से सोम के पाक (पकाये जाने) का अनुमान होता है। भाष्यकार ने सोम के सम्बन्ध में श्रात और श्रित शब्दों के प्रयोग को उचित ठहराया है। ये दोनों शब्द पाक अर्थ में प्रयुक्त होनेवाली श्री धातु में आगे क्त प्रत्यय लगाकर बनते हैं। साधारणतया क्त प्रत्यय लगाने पर श्रीत शब्द बनना चाहिए, किन्तु निपातन से श्री को श्रा और श्रि बना दिया जाता है। श्रात का प्रयोग कहाँ हो ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा है कि सोम के प्रसंग में श्री को श्रा भाव होता है अन्यत्र श्रिभाव। फिर 'श्रित' सोम' इत्यादि प्रयोग देखकर कह दिया है कि सोम का बहुत्व बतलाना हो तो श्रात और अन्यत्र श्रित प्रयोग होता है। इससे सोम का पकाया जाना भी होता है।[8]

भोजन-पान के विषय में प्रचलित कुछ पारिभाषिक शब्दों पर विचार कर लेना यहाँ

---

१ ४-२ १० काशिका।

२ ५-२ ११२ ।

३ ३-१ १२६ ।

४ ३ १ ११७ ।

५ वही।

६ यद्युदुम्बरवर्णानां घटानां मण्डलं महत्पीतं न गमयेत् स्वर्गं तत्किं क्रतुगतं नयेत्। —भा० १, पृ० ५, ६ ।

७ ३-१-२४, पृ० १७८ ।

८ ६ १ ३५, पृ० ६२ ।

समीचीन होगा। भाष्यकार के मत से भोज्य और पेय पदार्थों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—१ भोज्य २ भक्ष्य ३ व्यंजन और उपसिक्त ४ संस्कृत।

भोज्य और भक्ष्य—भोज्य शब्द भुज् धातु से बना है। सामान्यतया 'अभ्यवहार करने के योग्य' इस अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होकर 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (७-३-५२) सूत्र से कुत्व होकर भोग्य बनना चाहिए था, किन्तु पाणिनि ने 'भोज्यं भक्ष्ये' (७-३-६९) सूत्र से कुत्वभाव कर निपातन से भोज्य शब्द बना लिया है। इस प्रकार पाणिनि के मत से भोज्य और भक्ष्य पर्याय हैं। कात्यायन का मत है कि सूत्रकार को भक्ष्य शब्द के स्थान पर अभ्यवहार्य शब्द का प्रयोग कर 'भोज्यमभ्यवहार्ये' सूत्र बनाना चाहिए था क्योंकि भोज्य और भक्ष्य में अन्तर है। भक्षण केवल खर विशद अर्थात् कड़ी वस्तु का होता है जो चबाकर खाई जाती है। सूप और यवागू खर विशद नहीं हैं। वे द्रव होते हैं। यदि भोज्य और भक्ष्य को पर्याय मान लेंगे, तो सूप और यवागू भोज्य नहीं कहे जा सकेंगे।

पतंजलि ने कात्यायन के मत पर आपत्ति की है। उनका कथन है कि भक्ष् धातु का व्यवहार केवल खर विशद पदार्थ के ही लिए नहीं होता। लोक में अब्भक्ष वायुभक्ष शब्दों का व्यवहार देखा जाता है यद्यपि वायु और जल खर विशद पदार्थ नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि भक्ष्य खर विशद से भिन्न पदार्थ भी हो सकता है। इस प्रकार, पाणिनि और पतंजलि दोनों भक्ष्य और भोज्य को पर्याय मानते हैं।[1] इसीलिए, पाणिनि ने पलल (मांस) सूप और शाक को भक्ष्य माना है और 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' (२ १ ३५) के उदाहरण गुडपलल (गुड़ डालकर पकाया हुआ मांस), घृतपलल घृतसूप घृतशाक आदि शब्द मानकर उनमें 'पललसूपशाकं मिश्रे' (६ २ १२८) से आद्युदात्त स्वर का निर्देश किया है। उपर्युक्त शब्दों में सूप खर (कठिन या कड़ा) और विशद (अलग-अलग दानोंवाला) नहीं होता। दूसरी ओर पाणिनि ने अन्न और भक्ष्य में भी अन्तर किया है, इसीलिए उन्होंने 'अन्नेन व्यञ्जनम्' (२ १ ३४) और 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' (२ १ ३५) में अन्न और भक्ष्य का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। अन्न सामान्य खाद्य को कहते थे और भक्ष्य खर विशद अर्थात् चबाकर खाये जाने योग्य खाद्य को। यद्यपि भाष्य और काशिका ने इन दोनों के जो उदाहरण (दध्योदन और गुडधाना) दिये हैं उनसे यह अन्तर स्पष्ट नहीं होता। ओदन और धाना दोनों ही भक्ष्य हैं और अन्न भी।

वास्तव में भक्ष्य और भोज्य में शास्त्रीय दृष्टि से अन्तर था। शास्त्रीय दृष्टि से जहाँ प्रयोग होता था वहाँ भोज्य अभ्यवहार्य मात्र को कहते थे और भक्ष्य खर-विशद को किन्तु सामान्य तथा लोक में दोनों शब्दों का पर्याय रूप में ही प्रयोग होता था। पाणिनि ने भक्ष्य शब्द का प्रयोग दोनों दृष्टियों से किया है इसीलिए उसमें ऊपर से देखने पर विसंगति मालूम होती है।

मिश्रीकरण—भक्ष्य पदार्थों को अधिक स्वादु बनाने के लिए उनमें कभी-कभी दूसरे पदार्थ भी मिलाये जाते थे। इन दोनों में एक मुख्य खाद्य होता था और उसका सहायक। मुख्य खाद्यों में धाना पलल सूप शाक आदि थे और इनके मिश्रीकरण थे गुड़ घृत मूलक आदि। इनके संयोग से बने मिश्रीकृत पदार्थों को गुडधाना गुडपृथुक गुडपलल घृतसूप मूलकसूप घृतशाक और मुद्गशाक आदि कहते थे। इन उदाहरणों से भक्ष्य पदार्थों की पाक-विधि पर

---

१ ७-३ ६९, पृ० २०३।

भी प्रकाश पड़ता है।[1] यथा— मांस गुड़ मिलाकर भी पकाया जाता था। शाक मूली मिलाकर भी पकाई जाती थी और शाक जिस प्रकार आज दाल मिलाकर पकाया जाता है उसी प्रकार पतञ्जलि-काल में भी पकाया जाता था। इसमें शाक मुख्य भक्ष्य होता था और मूंग मिश्रीकरण अर्थात् सहायक। तिल भी मिश्रीकरण का काम देते थे।[2] मिश्रीकरण-युक्त भक्ष्यों में गुड़धाना का प्रचार सबसे अधिक था।[3]

व्यंजन—व्यंजन शब्द अंज धातु से बना है जिसका अर्थ है 'प्रकाशित करनेवाला'। जब किसी चिकने पदार्थ से अथवा मधुर पदार्थ से इन्द्रियों की स्थिति ऐसी जड़ीकृत हो जाती है कि उससे अन्य वस्तु के स्वाद का पता ही नहीं चलता या चलता है, तो ठीक नहीं चल पाता उस समय जो वस्तु इन्द्रियों को अपनी स्वाभाविक स्थिति वापस ला देती है, उसका नाम है राग। उसी को व्यंजन कहते हैं। यह नाम सार्थक भी है। चिक्कण अथवा मधुर पदार्थों से जिह्वा पर एक प्रकार का लेप-सा बैठ जाता है। उसका प्रतिबन्ध आ जाने पर जिह्वा को अन्नरस की वास्तविक प्रतीति नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में चटनी चनिया खट्टी या अन्य चटपटी वस्तु खाने से जिह्वा का वह लेप दूर हो जाता है और जिह्वा अन्नरस का ठीक अनुभव करने लगती है। इसीलिए चटनी आदि को व्यंजन कहते हैं। 'अञ्चोऽनपादाने (८ २ ४८) सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने व्यंजन की यह परिभाषा दी है और अन्नेन व्यञ्जनम्' (२ १ ३४) सूत्र के भाष्य में 'दध्योदन' उदाहरण देकर 'दधि' को व्यंजन स्वीकार किया है।[5] काशिकाकार ने 'व्यञ्जनैरुपसिक्ते' (४ ४-२६) में दधि के साथ सूप और शाक का भी उल्लेख किया है।[6] इन सबसे भाष्यकार की उक्त परिभाषा की पूर्ण संगति नहीं बैठती। प्रस्तुत उदाहरणों से भोज्य के स्वाद में वृद्धि करनेवाले उसके सहायक खाद्य के लिए व्यंजन शब्द का प्रयोग जान पड़ता है।

इस प्रकार मिश्रीकरण और व्यंजन तीन बातों में भिन्न थे। प्रथम मिश्रीकरण व्यक्तिगत रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न होते थे किन्तु व्यंजन सामान्य रुचि पर आश्रित थे। पलल को गुड़ के साथ मिलाकर खाना न खाना पूर्णतः व्यक्तिगत रुचि की बात थी किन्तु दधि और ओदन या दधि और सूप रुचिसामान्य से सम्बद्ध था। दूसरे मिश्रीकरण की क्रिया खाद्य तैयार करने की दशा में पाचन करता था और भोजन-क्रिया से पूर्व ही खाद्यान्न तथा मिश्रीकरण दोनों मिलकर एक हो जाते थे। व्यंजन की स्थिति भिन्न थी। व्यंजन और खाद्य दोनों अलग-अलग पकाये जाते थे

---

१ चरविशेषमभ्यवहार्यं भक्ष्यम्। तस्य संस्कारकं मिश्रीकरणम्।—२-१ ३५ काशिका तथा ६ २ १२८ काशिका।

२ ६ ३-१५४ काशिका।

३ २ १ ३५, पृ० २८६।

४ अञ्जेव्यंञ्जनाऽभ्यञ्जनं च प्रकाशनम्। घततस्नेहेन च मधुरेण च जडीकृतानामिन्द्रियाणां स्वस्मिन्नात्मनि व्यवस्थापनं स रागस्तद्व्यञ्जनम्। अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनम्। व्यज्यतेऽनेनेति व्यञ्जनमिति।—८-२ ४८ पृ० ३९७।

५ २ १ ३४ पृ० २९८।

६ ४ ४-२६ काशिका।

समीचीन होगा। भाष्यकार के मत से भोज्य और पेय पदार्थों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—१ भोज्य २ भक्ष्य ३ व्यञ्जन और उपसिक्त ४ संस्कृत।

भोज्य और भक्ष्य—भोज्य शब्द भुज् धातु से बना है। सामान्यतया 'अभ्यवहार करने के योग्य' इस अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होकर 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (७-३-५२) सूत्र से कुत्व होकर भोग्य बनना चाहिए था किन्तु पाणिनि ने 'भोज्यं भक्ष्ये' (७-३-६९) सूत्र से कुत्वाभाव कर निपातन से भोज्य शब्द बना लिया है। इस प्रकार पाणिनि के मत से भोज्य और भक्ष्य पर्याय हैं। कात्यायन का मत है कि सूत्रकार को भक्ष्य शब्द के स्थान पर अभ्यवहार्य शब्द का प्रयोग कर 'भोज्यमभ्यवहार्ये' सूत्र बनाना चाहिए था क्योंकि भोज्य और भक्ष्य में अन्तर है। भक्ष्य केवल खर विशद, अर्थात् कड़ी वस्तु का होता है जो चबाकर खाई जाती है। सूप और यवागू खर विशद नहीं हैं। वे द्रव होते हैं। यदि भोज्य और भक्ष्य को पर्याय मान लेंगे तो सूप और यवागू भोज्य नहीं कहे जा सकेंगे।

पतंजलि ने कात्यायन के मत पर आपत्ति की है। उनका कथन है कि भक्ष् धातु का व्यवहार केवल खर विशद पदार्थ के ही लिए नहीं होता। लोक में अब्भक्ष वायुभक्ष शब्दों का व्यवहार देखा जाता है यद्यपि वायु और जल खर विशद पदार्थ नहीं है। इससे स्पष्ट है कि भक्ष्य खर विशद से भिन्न पदार्थ भी हो सकता है। इस प्रकार, पाणिनि और पतंजलि दोनों भक्ष्य और भोज्य को पर्याय मानते हैं।[1] इसीलिए, पाणिनि ने पलल (मांस) सूप और शाक को भक्ष्य माना है और 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' (२ १ ३५) के उदाहरण गुडपलल (गुड डालकर पकाया हुआ मांस) घृतपलल घृतसूप घृतशाक आदि शब्द मानकर उनमें 'पललसूपशाकं मिश्रे' (६-२ १२८) से आद्युदात्त स्वर का निर्देश किया है। उपर्युक्त शब्दों में सूप खर (कठिन या कड़ा) और विशद (अलग-अलग दानोंवाला) नहीं होता। दूसरी ओर पाणिनि ने अन्न और भक्ष्य में भी अन्तर किया है इसीलिए उन्होंने 'अन्नेन व्यञ्जनम्' (२ १ ३४) और 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' (२-१ ३५) में अन्न और भक्ष्य का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। अन्न सामान्य खाद्य को कहते थे और भक्ष्य खर विशद, अर्थात् चबाकर खाये जाने योग्य खाद्य को। यद्यपि भाष्य और काशिका ने इन दोनों के जो उदाहरण (दध्योदन और गुडधाना) दिये हैं, उनसे यह अन्तर स्पष्ट नहीं होता। ओदन और धाना दोनों ही भक्ष्य हैं और अन्न भी।

वास्तव में भक्ष्य और भोज्य में शास्त्रीय दृष्टि से अन्तर था। शास्त्रीय दृष्टि से जहाँ प्रयोग होता था वहाँ भोज्य अभ्यवहार्य मात्र को कहते थे और भक्ष्य खर-विशद को किन्तु सामान्य तथा लोक में दोनों शब्दों का पर्याय रूप में ही प्रयोग होता था। पाणिनि ने भक्ष्य शब्द का प्रयोग दोनों दृष्टियों से किया है इसीलिए उसमें ऊपर से देखने पर विप्रतिपत्ति मालूम होती है।

मिश्रीकरण—भक्ष्य पदार्थों को अधिक स्वादु बनाने के लिए उनमें कभी-कभी दूसरे पदार्थ भी मिलाये जाते थे। इन दोनों में एक मुख्य खाद्य होता था और उसका सहायक। मुख्य खाद्यों में धाना पलल सूप शाक आदि थे और इनके मिश्रीकरण थे गुड़, घृत मूलक आदि। इनके संयोग से बने मिश्रीकृत पदार्थों को गुडधाना गुडपृथुक गुडपलल घृतसूप मूलकसूप घृतशाक और मुद्गशाक आदि कहते थे। इन उदाहरणों से भक्ष्य पदार्थों की पाक-विधि पर

१ ७-३ ६९ पृ० २०३।

भी प्रकाश पड़ता है।[1] यथा— माँस गुड़ मिलाकर भी पकाया जाता था। शाल मूली मिलाकर भी पकाई जाती थी और शाक जिस प्रकार आज दाल मिलाकर पकाया जाता है, उसी प्रकार पतंजलि-काल में भी पकाया जाता था। इसमें शाक मुख्य भक्ष्य होता था और मुद्ग मिश्रीकरण अर्थात् सहायक। तिल भी मिश्रीकरण का काम देते थे।[2] मिश्रीकरण-युक्त भक्ष्यों में मुद्गधाना का प्रचार सबसे अधिक था।[3]

व्यंजन—व्यंजन शब्द अंज धातु से बना है जिसका अर्थ है 'प्रकाशित करनेवाला'। जब किसी चिकने पदार्थ से अथवा मधुर पदार्थ से इन्द्रियों की स्थिति ऐसी जड़ीकृत हो जाती है कि उससे अन्य वस्तु के स्वाद का पता ही नहीं चलता या चलता है, तो ठीक नहीं चल पाता उस समय जो वस्तु इन्द्रियों को अपनी स्वाभाविक स्थिति वापस ला देती है उसका नाम है राग। उसी को व्यंजन कहते हैं। यह नाम सार्थक भी है। चिक्कण अथवा मधुर पदार्थों से जिह्वा पर एक प्रकार का लेप-सा बैठ जाता है। उसका प्रतिबन्ध आ जाने पर जिह्वा को अपरस की वास्तविक प्रतीति नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में चटनी चनिया कढ़ी या अन्य चटपटी वस्तु खाने से जिह्वा का वह लेप दूर हो जाता है और जिह्वा अपरस का ठीक अनुभव करने लगती है। इसीलिए चटनी आदि को व्यंजन कहते हैं। 'अञ्जेरजपादाने' (८ २ ४८) सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने व्यंजन की यह परिभाषा दी है और अन्नेन व्यञ्जनम् (२ १ ३४) सूत्र के भाष्य में 'दध्योदन' उदाहरण देकर 'दधि' को व्यंजन स्वीकार किया है।[4] काशिकाकार ने 'व्यञ्जनैरुपसिक्ते' (४ ४ २६) में दधि के साथ सूप और शाक का भी उल्लेख किया है।[5] इन सबसे भाष्यकार की उक्त परिभाषा की पूर्ण संगति नहीं बैठती। प्रस्तुत उदाहरणों से भोज्य के स्वाद में वृद्धि करनेवाले उसके सहायक खाद्य के लिए व्यंजन शब्द का प्रयोग जान पड़ता है।

इस प्रकार मिश्रीकरण और व्यंजन तीन बातों में भिन्न थे। प्रथम मिश्रीकरण व्यक्तिगत रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न होते थे किन्तु व्यंजन सामान्य रुचि पर आश्रित थे। पलल को गुड़ के साथ मिलाकर खाना न खाना पूर्णतः व्यक्तिगत रुचि की बात थी किन्तु दधि और ओदन या दधि और सूप रुचिसामान्य से सम्बद्ध था। दूसरे मिश्रीकरण की क्रिया खाद्य तैयार करने की दशा में पाचक करता था और भोजन-क्रिया से पूर्व ही खाद्यान्न तथा मिश्रीकरण दोनों मिलकर एक हो जाते थे। व्यंजन की स्थिति भिन्न थी। व्यंजन और खाद्य दोनों अलग-अलग पकाये जाते थे

---

१ खरविशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यम्। तस्य संस्कारकं मिश्रीकरणम्।—२ १ ३५ काशिका तथा ६-२ १२८ काशिका।

२ ६ ३-१५४ काशिका।

३ २ १ ३५ पृ० २८९।

४ अञ्जेर्व्यञ्जनं व्यञ्जनं च प्रकाशनम्। यतत्स्नेहेन च मधुरेण च जडीकृतानामिन्द्रियाणां स्वस्मिन्नात्मनि व्यवस्थापनं स रागस्तद्व्यञ्जनम्। अनर्थं तत्स्वपि निर्वचनम्। व्यज्यतेऽनेनेति व्यञ्जनमिति।—८-२ ४८, पृ० ३६७।

५ २ १ ३४ पृ० २९८।

६ ४ २-२६ काशिका।

और भोक्ता उनका मिश्रण करता था। इस प्रकार, मिश्रीकरण और व्यंजन-क्रिया के कर्त्ता भी भिन्न होते थे। तीसरे मिश्रीकरण आवश्यक न था। व्यंजन आवश्यक था। इस प्रकार स्वाद वृद्धि की दृष्टि से मिश्रीकरण व्यंजन से एक कोटि आगे की क्रिया थी।

उपसेचन—मुख्य अन्न में व्यंजन मिलाने की क्रिया को उपसेचन कहते थे और जिस मुख्य अन्न में व्यंजन मिलाया जाता था उसे उपसिक्त[1] कहते थे। जैसे दधि से उपसिक्त पदार्थ दाधिक कहलाता था। इसी प्रकार सूप से उपसिक्त ओदनसौपिक कहा जाता था।

संसृष्टि—मिश्रीकरण की क्रिया संसृष्टि कहलाती थी।[2] उपसेचन में दोनों वस्तुएँ अलग-अलग रहती थीं और पक्व अवस्था में परस्पर मिला दी जाती थीं। संसृष्टि वह प्रक्रिया कहलाती थी जिसमें किसी खाद्य के घटकभूत पदार्थ पकाने के पूर्व ही परस्पर मिला दिये जाते थे और वे सब मिलकर एक बन जाते थे। काशिकाकार ने भी संसृष्ट पदार्थों को एकीभूत अभिन्न[3] माना है। दधि में पकाई गई वस्तु, यथा कढ़ी आदि दाधिक कहलाती थी। इसी प्रकार, मरीचि से संसृष्ट दाल शाक आदि मारीचिक शृंगवेर से संसृष्ट शार्ङ्गवेरिक[4] पिप्पली से संसृष्ट पैप्पलिक कहलाते थे। चूर्ण से संसृष्ट अपूप या धानाचूर्णी कहे जाते थे। मुद्ग से संसृष्ट ओदन (खिचड़ी) तथा यवागू की मौद्ग संज्ञा थी।[6] लवण से संसृष्ट सूप शाक या यवागू को लवण ही कहते थे। लवणशाक नमकीन शाक का बोधक था। ये पदार्थ खाद्य पकने के पूर्व ही डाल दिये जाते थे।

कात्यायन ने लवण के संसृष्ट-निमित्त माने जाने पर आपत्ति की है। उनका कथन है कि लवण शब्द रसवाची है। वह छह रसों में एक है। लवणयुक्त (नमकीन) इस अर्थ में लवण शब्द का प्रयोग नहीं होता। वह खटास की तरह रस का बोध कराता है। अतः इस अर्थ का लवण शब्द स्वतन्त्र है और लवण पानी लवण दूध आदि प्रयोग नमक न मिलाये जाने पर भी होते ही हैं। कभी-कभी नमक डालने पर भी जब दाल शाक आदि नमकीन नहीं लगते तो लोग उन्हें अलोना कह देते हैं। इसलिए लवण शब्द से संसृष्ट अर्थ में प्रत्यय कर फिर उसका लुक करके लवण शब्द की लवण से संसृष्ट अर्थ में निष्पत्ति करना व्यर्थ का प्रयत्न है क्योंकि इस अर्थ में लवण स्वतन्त्र शब्द है ही।

---

१ ४-२ २६ काशिका।

२ ४४-२२।

३ ४४-२२ काशिका।

४ ४४-२२ काशिका।

५ ४४ २३।

६. ४४-२५।

७. ४४-२४।

८. रसवाच्येव लवणशब्दो नैव संसृष्टनिमित्तः। अतश्च रसवाची। असंसृष्टेऽपि हि लवणशब्दो वर्तते। तद्यथा लवणं क्षीरम्। लवणं पानीयम्। संसृष्टेऽपि च यदा नोपलभ्यते तदाऽऽह अलवणः सूपः, अलवणं शाकमिति।—४-४ २४ पृ० ९७६।

संस्कृत—विद्यमान वस्तु में उत्कर्ष की वृद्धि करने का नाम संस्कार है। खाद्य पदार्थों को दही मिर्च अदरक आदि के साथ मिलाकर पकाने की प्रथा उसे स्वादिष्ठ बनाने के लिए थी। कुलत्थ (कुलथी) तित्तिडीक (इमली) और दर्दमक भी संस्कार के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। इनके द्वारा संस्कृत खाद्यों को क्रमशः दाधिक मारिचिक शाङ्गवेरिक कौलत्थ तैत्तिडीक और दार्दमिक कहते थे।[1]

संस्कृत शब्द सामान्यतया पकाने के अर्थ में प्रयुक्त होता था। भ्राष्ट्र (चूल्हे) पर पकाई हुई भोज्य वस्तु भ्राष्ट्र कहलाती थी। इसी प्रकार शूल (सलाका) एवं उखा (कड़ाही) पर पकाये गये मांसादि शूल्य और उख्य कहे जाते थे। दही मट्ठे और दूध में डालकर पकाई हुई वस्तुएँ दाधिक औदश्वित्क या औदश्वित्क और क्षैरेय कहलाती थीं। दही तक्र आदि में संस्कृत और दही, तक्र आदि से संस्कृत वस्तुओं में भेद होता था। जो वस्तुएँ दधि आदि में संस्कृत होती थीं उनके लिए दधि केवल आधारभूत होता था किन्तु उसका संस्कार (स्वादोत्कर्ष) लवणादि से किया जाता था और जो दही आदि से संस्कृत होती थीं उनमें स्वाद-वृद्धि का साधन मात्र दधि आदि होता था[2] आधारभूत वस्तु अन्य कोई रहती थी।

भोजनार्थ निमन्त्रण—अपने घर पर दूसरों को भोजन के लिए बुलाने की प्रथा बहुत पुरानी है। लोग विशेष अवसरों पर मित्रों सम्बन्धियों और ब्राह्मणों को अपने घर पर भोजन के लिए बुलाते थे। निमन्त्रण के बुलावे दो प्रकार के होते थे। आमन्त्रण और निमन्त्रण। आमन्त्रण भोजनार्थ सामान्य बुलावे को कहते थे। यह आमन्त्रित व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर था कि वह आमन्त्रण स्वीकार करे या न करे किन्तु निमन्त्रण स्वीकार करना आवश्यक होता था। निमन्त्रण हव्य या कव्य के दिये जाते थे। यज्ञ या श्राद्ध-सम्बन्धी भोजन के लिए की जानेवाली प्रार्थना निमन्त्रण कहलाती थी। निमन्त्रण को अस्वीकार करना अधर्म माना जाता था। किसी-किसी के मत से भोजन की सामग्री पास होने पर समीपस्थ व्यक्ति को खाने के लिए कहना निमन्त्रण कहलाता था और भोजन तैयार होने से पहले दूर से किसी को बुलाना आमन्त्रण कहलाता था।[3] निमन्त्रण ब्राह्मणों को दिये जाते थे। और उन्हीं के लिए यह नियोग था। फिर भी बहुत-से ब्राह्मण श्राद्ध में भोजन नहीं करते थे वे अश्राद्धभोजी कहलाते थे। जो लोग श्राद्ध-भोजन स्वीकार करते थे, वे लोग सामान्य थे। श्राद्ध में न खानेवाले अश्राद्धभोजी कहे जाते थे। कुछ परिवार हव्य कव्य भोजनों में परस्पर एक दूसरे को ही न्योता देते थे। निमन्त्रण स्त्रियों को भी दिये जाते थे और यह परस्पर निमन्त्रण[4] की प्रथा उनमें भी थी। कभी-कभी एक ही ब्राह्मण को कई निमन्त्रण

---

१ ४-४-३, ४ काशिका।

२ ४-२-२६, ४-४-१७ १८, १९, २० तथा ४-४-१८ काशिका।

३ सन्निहितेन निमन्त्रणं भवत्यसन्निहितेनामन्त्रणम्। यन्नियोगतः कर्तव्यं तन्निमन्त्रणम्। किं पुनस्तत्? हव्यं कव्यं वा। ब्राह्मणेन सिद्धं भुज्यतामित्युक्तोऽधर्मं प्रत्याख्यातु। आमन्त्रणे कामचार।—३-३-१६१ पृ० ३३५।

४ ३-२-८० पृ० २२९।

५ ८ १ १२, पृ० २७७।

प्राप्त हो जाते थे। ऐसी दशा में वह एकाधिक स्थानों पर भी भोजन कर लेता था। मृदु विशद ओदन और दूध-दही का लालच देकर भोजन के लिए आग्रह करने का उल्लेख भाष्य में है और एक बार भोजन कर लेने पर भी निमन्त्रित व्यक्ति दधि दूध और मृदु विशद ओदन के लालच से आमन्त्रण स्वीकार कर लेता था।[1]

सहभोजन—सहभोजन को समाश कहते थे।[2] समाश में भी भोजन परोसा जाता था। समाश में शरावों (पात्र) का व्यवहार होता था। जिनको हीन दृष्टि से देखा जाता था वे पंक्ति से अलग या बाद में बिठाये जाते थे। 'माठर और कौण्डिन्य बैठे रहें। वे अभी (सब के साथ) भोजन नहीं करेंगे। 'सब ब्राह्मण भोजन करें। माठर और कौण्डिन्य बैठे रहें। वे अभी (सब के साथ) भोजन नहीं करेंगे। 'सब ब्राह्मणों को दही दो किन्तु कौण्डिन्य को मट्ठा दो' ये उल्लेख भाष्य में कई स्थानों पर मिलते हैं।[3]

उपवास—विशिष्ट अवसरों पर लोग व्रत या उपवास भी करते थे। ब्राह्मण दूध क्षत्रिय यवागू और वैश्य आमिक्षा पीकर उपवास करते थे। कभी-कभी लोग केवल जल पीकर और कभी निराहार एवं निर्जल रहकर व्रत रखते थे। ये लोग अब्भक्ष और वायुभक्ष कहलाते थे।[4] उपवास के दिन का भोजन निश्चित रहता था। उस दिन शालि-मांसादि खाना वर्जित था। वैदिक काल से यह प्रथा चली आती थी।

वर्जित भोजन—ब्राह्मण के लिए सुरापान वर्जित था। भूल से भी सुरापान करनेवाला पतित माना जाता था।[5] केवल यज्ञकर्म इसका अपवाद था। सुरापान सामान्य जनों के लिए भी अच्छा नहीं माना जाता था। मांस के विषय में कोई निषेध भाष्य में नहीं उपलब्ध होता। हाँ पाँच पंचनख प्राणियों का मांस खाया जा सकता है, यह कथन अवश्य प्राप्त होता है। ये पंचनख प्राणी ब्राह्मणों के भी भक्ष्य थे। ग्राम-कुक्कुट और ग्राम-शूकर अवश्य अभक्ष्य थे किन्तु आरण्य भक्ष्य थे। शार्ङ्ग पक्षी का मांस का भी अभक्ष्य जान पड़ता है। भाष्यकार ने पलाण्डु भक्षिती के साथ शार्ङ्गजग्धी का उल्लेख किया है।[6] शार्ङ्ग का पृथक नाम-ग्रहण ही उसके भक्षयिता के हीनत्व का द्योतक है। पलाण्डु स्वयं अभक्ष्य पदार्थों में था। केवल पलाण्डु भी अभक्ष्य माना जाता था। जो कोई उसके साथ सुरा भी पिये उसका तो कहना ही क्या। भाष्यकार ने ऐसे व्यक्ति

---

१ १४ ९२, पृ १७३।
२ ११-७२ पृ ४४०।
३ भा० २, पृ ७१ तथा १४-४० पृ० २८७।
४ भा० १ पृ० १९।
५ भा० १ पृ० १४।
६ भा० १ पृ० ५।
७ १-२-६४ पृ० ५८७।
८ भा० १ पृ० ११।
९ २-२-३६ पृ० १९२।

को वृषलरूप कहा है।[1] ब्राह्मणी के लिए तो सुरापान नितान्त गर्हित था। सुरापी ब्राह्मणी परलोक में पति का सहवास नहीं प्राप्त करती यह विश्वास था।[2]

सामान्यतः भूमि पर बैठकर भोजन करने की प्रथा[3] थी। बुभुक्षा और पिपासा होने पर खाने की इच्छा के लिए तथा बिना भूख-प्यास के भी लालचवश खाने की इच्छा के लिए पृथक् क्रियाओं का प्रयोग होता था।[4] इससे कुछ लोगों की भोजन-भट्टता पर प्रकाश पड़ता[5] है। बहुत खानेवालों को कुण्डोदर कहते थे।[6] ऐसे लोग प्रायः संभोजक और संभोजकी (स्त्री) कहे जाते थे। ऐसे लोग और किसी काम को तो आते नहीं बस भोजन के समय उपस्थित हो जाते हैं। इसीलिए इन्हें पात्रसमित कहते हैं। खाने के बाद पात्र में छोड़ा हुआ भोजन उद्धृत कहलाता था।

भिक्षुक—कुछ लोग भोजनार्थ केवल भिक्षा पर निर्भर करते थे। भिक्षा प्रचुर और व्यंजनवती भी मिल जाती थीं। इनके लालच से कुछ लोग एक स्थान पर स्थायी रूप से टिक जाते थे।[9] माँगनेवालों की संख्या बहुत थी। गृहस्थ उनसे तंग आ जाते थे। पर क्या करते! भिक्षुकों के डर से भोजन बनाना तो बन्द नहीं किया जा सकता था।[10] भिक्षा के समूह को भैक्ष[11] कहते थे। भिक्षा से ही सुभिक्ष (सम्पन्न) शब्द बना है। पैदावार अच्छी होने के कारण भिक्षा सरलता से मिल जाती थी।[12]

---

१ ५ ३-६६, पृ० ४६०।

२ ३-२-८, पृ० २१०।

३ ३ १ ९४, पृ० १७८।

४ ७-४ ३४।

५ ६-२ १०८ काशिका।

६ २ १-४८।

७ ४ २ १४ काशिका।

८ २ ४ ३७ तथा ५ २ ९४, पृ० ४१०।

९ भिक्षाश्चापि प्रचुरा व्यञ्जनवत्यो लभ्यमाना वासं प्रयोजयन्ति। भिक्षा वासयन्ति।—३-१-२६ पृ० ७२।

१० न च भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते।—१ १ १३ पृ० ४।

११ ४-२ ३४, पृ० ५७७।

१२ १-२-५२, पृ० ५५४।

अध्याय ११

परिवहन

वह्य या वाहन—यातायात के मुख्य साधन शकट और रथ थे। ये स्थल-पथ से व्यक्तियों एवं वस्तुओं को ले जाने के काम आते थे। सामान्यतया इन्हें 'वह्य'[1] कहते थे। वह्य का अर्थ था ले जाने के साधन शकट आदि। जहाँ करण या साधन अर्थ अभीष्ट नहीं था वहाँ 'वाह्य' शब्द का प्रयोग होता था। धीरे-धीरे 'वह्य' शब्द का प्रयोग कम हो गया और उसके स्थान पर 'वाहन' शब्द का प्रयोग होने लगा।[2] गाड़ी से ढोई जानेवाली वस्तु 'वाह्य' कहलाती थी।[3]

वाहनों के प्रकार—वाहन दो प्रकार के थे स्थलीय और जलीय। स्थल-वाहनों में शकट और रथ मुख्य थे और जल-वाहनों में नौ। जल के वाहनों को उदवाहन या उदकवाहन कहते थे। कभी-कभी ये परस्पर भी एक दूसरे के वाहन बन जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि स्थल में गाड़ी नाव को ढोती है और जल में नाव गाड़ी को।[4]

शकट—शकट सवारी के काम आते थे और बोझ ढोने के भी। ये मनुष्यों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के साधन थे।[5] कृषि आदि की पैदावार भी उन्हीं से ढोई जाती थी। भाष्यकार ने वस्तुविशेष से भरी हुई गाड़ी तथा वस्तुविशेष भरने के लिए उसके पास खड़ी की गई गाड़ी के लिए विशिष्ट शब्दों का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ ईख से भरी हुई या शर से भरी हुई गाड़ी को इक्षुवाहण और शरवाहण कहते थे। यदि गाड़ी में भरने के लिए इक्षु या शर उसके पास रखे होते थे तो भी उन गाड़ियों को इक्षुवाहण और शरवाहण ही कहते थे। किसी-किसी आचार्य के मत में जो भी वस्तु गाड़ी में भरी हो या जो व्यक्ति गाड़ी में सवार हो उसके नाम पर गाड़ी के लिए विशिष्ट शब्द का प्रयोग होता था—जैसे गर्गवाहन। किन्तु, यदि गर्ग की गाड़ी खुली हुई हो तो उसके लिए गर्गवाहन शब्द ही आता था।

---

१ वहति करणम् वहत्यनेनेति वह्यं शकटम् वाह्यमन्यत् ।—३।१।१०२ काशिका।

२ ८४४।

३ वाहनं वाह्यादिति वक्तव्यम् ।—वही।

४ ६।३।५८ काशिका।

५. १ १ १ पृ० १२०।

६. १-२-२४ पृ० १५०।

७. वाहनमाहितात् आहितोपस्थितयोरिति वक्तव्यम् इहापि यथा स्यात् इक्षुवाहणम् शरवाहणम् ।—८-४-८ पृ० ४०९।

८. अपर आह, वाहनं वाह्यादिति वक्तव्यम् यत्राहि गर्गाणां वाहनमपवाहं तत्र माभूत् गर्गवाहनम् ।—वही।

गाड़ियाँ आकार के अनुसार बड़ी और छोटी होती थीं। बड़ी गाड़ी शकट और छोटी शकटी कहलाती थी।[1] शकट और शकटी चलते हुए शब्द करते थे।[2] यदि धुरी में तेल न पड़ा हुआ तो गाड़ी कूजती हुई चलती थी। व्यापार-वस्तुएँ ढोने के लिए गाड़ियों के सार्थ (समूह)[3] एक साथ निकलते थे। शकट-सार्थ मेलों के अवसर पर भी चलते होंगे। भाष्यकार ने गाड़ियों के शब्द करने का उल्लेख करते हुए कहा है कि शाकटायन नामक वैयाकरण को रथ्य मार्ग पर बैठे हुए होने पर भी पास से जाते हुए शकट-सार्थ का पता नहीं चल पाया।

गाँव के तक्षा शकटी और शकट बनाते थे। शकटों में कुछ बहुत बड़े होते थे जिन्हें खींचने के लिए आठ बैल एक साथ जोते जाते थे।[4] मार्ग ठीक न हुआ तो कभी-कभी चलते हुए शकट टूट जाते थे इसलिए शकटवाहक को मार्ग के ऊँच-नीच होने का ध्यान रखना पड़ता था।[5] कभी कमजोर होने से गाड़ी के अक्ष टूट जाते थे। तब बढ़ई नये अक्ष बनाकर डालता था। एक स्थान पर भाष्य में कहा गया है कि इस अक्ष ने गाड़ी का वैसा साथ नहीं दिया जैसा पहले-वाले ने दिया था।

शकट से माल ढोना एक व्यवसाय था और आय का साधन था। कुछ लोग केवल यही कार्य करते थे और इसीलिए बैल पालते थे।

रथ—शकट सामान्य किसान का वाहन था। कृषि-कार्य में तथा बोझ ढोने में ही उसका विशेष उपयोग होता था। लम्बी यात्रा के लिए रथ का व्यवहार होता था। सम्पन्न लोग रथ रखते थे और उसी पर सवारी करते थे। भाष्यकार ने कुरु या वन तक जाने के लिए रथ के उपयोग का उल्लेख किया है।[9] उन्होंने पैदल घोड़े पर और रथ पर की गई यात्राओं को उत्तरोत्तर शीघ्रतर काल में सम्पन्न होनेवाली कहा है। रथिक बहुत शीघ्र चलता है घुड़सवार उससे धीरे और पदाति[10] उससे धीरे चल पाता है। एक अन्य स्थान पर भी उन्होंने इन तीनों साधनों का साथ-साथ निम्न क्रम से उल्लेख किया है—'भड़क हुए घोड़े से गिर पड़ा दौड़ते हुए

१ प्रकूजति शकटम् यतो कूजति शाकटी, अरथ्यं कूजति।—८ १ १० पृ० २८८।

२ १ ३-२१ पृ० ९२।

३ वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थं यान्तं नोपलम्भे।—३-२ ११५, पृ० २५०।

४ २ ३-५, पृ० ४०८।

५ ६ १-४६ पृ० ३३४।

६ अनेन वेदयास्यति न शकटं पर्यायिष्यति।—३ ३-१५६ पृ० ३३४।

७ ९ १ १०, पृ० २७९।

८ पौरवं शकटं वहति गीतरोऽयं यः शकटं वहति सीरं च।—५ ३-५५, पृ० ४३५।

९ भा० २, पृ० ६९।

१० १ १-७० पृ० ३३५।

३०

रथ से गिर पड़ा, जाते हुए मार्ग से भटक गया।[1] रथ की सवारी सुखद मानी जाती थी। रथ कहते ही उसे थे जिसमें विहार किया जाय।[2]

रथ के लिए विशिष्ट मार्ग बनाये जाते थे। ये मार्ग चौड़े और समतल होते थे। शकट सँकरे और ऊबड़-खाबड़ मार्ग में भी चले जाते थे किन्तु रथ के लिए प्रशस्त मार्ग अपेक्षित होता था। गति तीव्र होने से विषम मार्ग में उसके उलटने या टूट जाने का भय अधिक रहता था। तीव्र गति से चलता हुआ रथ नीचे उन पौधों की जड़ें तक उखाड़ देता था या टेढ़ी कर देता था। इसीलिए, उसे 'मूल-विभुज' कहते थे।[3] रथ के मार्ग को रथ्या कहते थे। रथ्या पर चलता हुआ रथ मृदु घोष करता चलता था।[5]

प्रवेता या प्राजिता — रथ के हाँकनेवाले को सारथि कहते थे। वह रथ में बाईं ओर बैठता था इसलिए वह सव्येष्ठा भी कहलाता था।[6] सारथि के लिए सूत शब्द भी प्रयुक्त होता था जिसका अर्थ था अच्छी प्रकार हाँकनेवाला। इसी अर्थ में प्रवेता और प्राजिता शब्द भी चलते थे। इनमें प्रवेता व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध था किन्तु लोक में विशेषतः सारथियों में प्राजिता का शब्द प्रचलित था। भाष्यकार ने गत्यर्थक 'अज्' को 'वी' आदेश करने के प्रसंग में 'प्राजिता' शब्द की निष्पत्ति पर एक मनोरंजक वार्ता दी है। उन्होंने 'प्राजिता' शब्द का उल्लेख कर प्रश्न किया है कि क्या यह प्रयोग उचित है? और उसका उत्तर 'हाँ' में देते हुए निम्नलिखित वाद उपस्थित किया है—

कोई वैयाकरण किसी रथ को देखकर बोला 'इस रथ का प्रवेता (सारथि) कौन है?' सूत ने उत्तर दिया आयुष्मन् इस रथ का प्राजिता मैं हूँ। वैयाकरण ने कहा 'प्राजिता तो अपशब्द (अशुद्ध) है। सूत बोला 'देवानांप्रिय (आप) व्याकरण से निष्पन्न होनेवाले शब्दों की ही जानकारी रखते हैं किन्तु व्यवहार में कौन-सा शब्द इष्ट है यह नहीं जानते। 'प्राजिता' प्रयोग शास्त्रकारों को मान्य है। इस पर वैयाकरण चिढ़कर बोला 'यह दुरुत (दुष्ट सारथि) तो मुझे पीड़ा पहुँचा रहा है। सूत ने शान्त भाव से कहा 'महोदय मैं सूत हूँ। सूत शब्द 'वेञ' धातु के आगे क्त प्रत्यय और पहले प्रशंसार्थक 'सु' उपसर्ग लगाकर नहीं बनता है, जो आपने प्रशंसार्थक 'सूत' निकालकर कुत्सार्थक 'दुर्' उपसर्ग लगाकर 'दुरुत' शब्द बना लिया। सूत 'सून् धातु' (प्रेरणार्थक) से बनता है और यदि आप मेरे लिए कुत्सार्थक प्रयोग करना चाहते हैं, तो आपको मुझे 'दुःसूत' कहना चाहिए 'दुरुत' नहीं।"[7]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि सारथि सूत और प्राजिता तीनों शब्दों का प्रचलन

---

१ १.४.२४ पृ० १६१ ।

२ रमन्तेऽस्मिन् रथ इति ।—१-२ २५, पृ० १६१ ।

३ ३.२-५ पृ० २१० ।

४ रथाय हिता रथ्या ।—५.१-१०, पृ० २९८ ।

५ ८.१.१० पृ० २८८ ।

६ ८.३-९७ पृ० ४६२ ।

७ २.४-५६, पृ० ४९९ ।

हाँकनेवाले के लिए था। व्याकरण की दृष्टि से प्रवेता शब्द शुद्ध माना जाता था। इसी प्रकार 'सूत' की व्युत्पत्ति के विषय में भी वैयाकरणों में मतभेद था।

परिवृत रथ—रथ वस्त्र से मढ़े जाते थे। उनकी टाप या छत वस्त्र से छाई हुई रहती थी। इसी प्रकार, चारों पार्श्व भाग वस्त्र से ढके रहते थे। ऐसे रथ वास्त्र कहलाते थे। जिस वस्त्र से वे परिवृत रहते थे वह भी रथ का ही एक भाग होता था।[1] रथों के बैठने के स्थान तथा अन्य भाग कम्बल से भी मढ़े जाते थे। चर्म का व्यवहार भी रथ को समन्ततः (चारों ओर से) मढ़ने के लिए होता था। ऐसे रथ काम्बल और चार्मण कहलाते थे।[2] वास्त्र काम्बल और चार्मण शब्दों का प्रयोग रथ के लिए ही होता था। वस्त्र से ढके हुए शरीर को वास्त्र नहीं कहा जा सकता था। अधिक धनवान् लोग अपने रथों को पाण्डुकम्बल से परिवृत करते थे। पाण्डुकम्बल अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान् होता था इसलिए इसे राजास्तरण कहते थे। यह रंगीन होता था या इसमें किनारे किनारे-रंगीन पट्टी रहती थी। इस कम्बल का स्वात घाटी से सारे भारत में निर्यात होता था। पाण्डुकम्बल से परिवृत रथ पाण्डुकम्बली[3] कहलाता था। यह शब्द भी रथ के लिए ही प्रयुक्त होता था। द्वीपी और व्याघ्र के चर्म भी रथों पर मढ़े जाते थे। इन चर्मों से मढ़े रथ द्वैप और वैयाघ्र कहलाते थे।

रथवाहक—रथों का समूह रथ्या या रथकट्या कहलाता था।[5] वाहक पशु या यान के अनुसार रथ के आकार में अन्तर होता था। रथ में जुतनेवाले पशुओं में अश्व उष्ट्र और गर्दभ के नाम भाष्य में आये हैं। इनके रथ क्रमशः आश्व औष्ट्र और गार्दभ होते थे।[6]

रथांग—यान या वाहन के अनुसार रथों के आकार तथा लकड़ी में अन्तर होता था और वाहनों के अनुसार ही रथ के अङ्ग बनाये जाते थे। रथ के अंगों को उपस्कर कहते थे। रथांग से भिन्न अर्थ में उपस्कर शब्द का प्रयोग होता था। रथांगों में चक्र मुख्य था। रथ के चक्र को रथ्य कहते थे।[7] रथ्य चक्रवाहक पशुओं के अनुसार भिन्न-भिन्न आकार के होते थे। इसी प्रकार युग का आकार भी भिन्न होता था। इसीलिए, भिन्न भिन्न वाहनों के रथों के चक्रादि अङ्गों के लिए अलग-अलग शब्द निश्चित थे यथा आश्वरथ औष्ट्ररथ या गार्दभरथ[9] चक्र। रथ्य शब्द रथ और शकट के चक्रों का अन्तर भी सूचित करता है। शकट के चक्र रथ्यों के समान पुष्ट और कलापूर्ण

---

१ ४-२ १०, पृ० १७१।

२ वही, काशिका।

३ ४ २ ११ काशिका।

४ ४ २ १२ काशिका।

५ ४-२-५० तथा ५१।

६ ४ ३-१२१ पृ० २५१।

७ ६ १ १४९ काशिका।

८ ४ ३-१२१।

९ पतन्ति येनेति पत्रमश्वादिकं वाहनमुच्यते—आश्वरथं चक्रम् औष्ट्ररथं गार्दभरथम्।—४ ३ १२२ काशिका।

नहीं होते थे। आस्तरण आदि का प्रयोग भी रथांगों के लिए ही होता था। वस्त्रास्तरणादि से सम्बद्ध अन्य बातों के लिए नहीं।[1] चक्र के भी अनेक अंग होते हैं, जिनमें नाभि, नभ्य, अर, अक्ष का उल्लेख भाष्य में हुआ है। जिस प्रकार नाभि सम्पूर्ण शरीर का केन्द्रबिन्दु होती है उसी प्रकार चक्र की नाभि भी पहिये का केन्द्र-स्थल होती है। पहिये की बीच की गोलाकार लकड़ी को नाभि कहते थे और पहिये के बाहर गोलाकार काष्ठों को नभ्य। नाभि और नभ्य को जोड़नेवाले थे अर। नाभि के मध्य छिद्र को जिसके भीतर अर डाला जाता था उसे अक्ष कहते थे। अक्ष में धुरा या धू रहती थी। अक्ष लोहे का होता था और धुरा लकड़ी की।

भाष्यकार ने नाभि और नभ के पारस्परिक अन्तर पर पर्याप्त विचार किया है। नाभि से नभ्य शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित करते हुए भाष्य में शंका की गई है कि नाभि को प्रकृति नभ्य की नहीं माना जा सकता और यत् प्रत्यय विकृतिवाचक शब्द से उसकी प्रकृति बतलाने के लिए ही होता है। गोलाकार पहिये के बाहरी मण्डलखण्ड का नाम नभ्य होता है। इसका उत्तर देते हुए भाष्य में कहा गया है कि नाभि शब्द को शाखादिगण (५ ३-१०३) में पढ़ना चाहिए और उसे ह्रस्व कर देना चाहिए। इस प्रकार 'नाभि के समान' इस अर्थ में 'य' प्रत्यय होकर नभ्य शब्द निष्पन्न हो जायगा। यदि पूछा जाय कि नाभि और नभ्य में कौन-सा ऐसा साम्य है जिसके कारण इस सूत्र से 'य' प्रत्यय होगा तो कहा जा सकता है कि अक्ष को धारण करना और घूमना दोनों समान है। दूसरे वैयाकरण के मत से तेल सोखना और उसे पास के रथांगों पर फैलाना दोनों में समान है। इसी प्रसंग में भाष्यकार ने अरोंवाले चक्रों तथा अर निकले हुए चक्रों का भी उल्लेख किया है जो यह सूचित करता है कि भाष्यकार रथ के समस्त अंगों और उपांगों की पूर्ण जानकारी रखते थे। इतना ही नहीं वे धुरा में तेल चुपड़ने तथा नभ्यादि के छिद्रों में तेल डालने की आवश्यकता और प्रक्रिया से भी अवगत थे।[2]

धुरा या धुर् शकट और रथ के मध्य में रहती थी। रथ या शकट का सारा बोझ धुरा को झेलना पड़ता था। इसलिए, इसका पुष्ट होना आवश्यक था। एतदर्थ रथकार पुष्ट काष्ठवाले वृक्षों को ही चुनते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि रथकार हाथ में आरी और कुल्हाड़ी लेकर मूल से ऊपर तक वृक्षों को काटते और लकड़ी छीलते हैं।[3] भाष्यकार धुरा की दृढ़ता का महत्त्व भली भाँति जानते थे इसीलिए उन्होंने 'दृढ धुरावाले अक्ष' की चर्चा की है। अक्ष लोहे के होते हैं फिर भी उनका पुष्ट होना या न होना लोहे की योग्यता पर निर्भर होता है। कमजोर अक्ष को 'कस्र'[4] कहते थे उपाधि नभ्य बनानेवाले काष्ठों को कहते थे जिन्हें लोकभाषा में 'पुट्ठी' कहते हैं। जिस काष्ठ से बनी उपधि होती थी उसे औपधेय कहते थे। इस प्रकार उपधि और औपधेय व्यावहारिक रूप में एक ही वस्तु थी। काष्ठ पर बल देना होता तो औपधेय

---

१ ४-१-१९० पृ० २५२।
२ ५ १-२ पृ० ११६
३ ४ १ ३ पृ० १८
४ बृहत्पूरस. १—५ ४-७४ पृ० ५०२।
५. ५ १ १०४।

। परिवहन

और रथांग पर बल देना होता था उपधि शब्द प्रयुक्त होता था। उपधि विकृति है और औप-
धेय प्रकृति इस विषय को लेकर भाष्यकार ने पर्याप्त विचार किया है। उन्होंने कहा कि उपधि
स औपधेय शब्द नहीं बनना चाहिए क्योंकि औपधेय उपधि विकृति की प्रकृति नहीं है वह तो
स्वयं रथांग है।[1] उपधियों को ही ऊबड़-खाबड़ मार्ग के धक्के झेलने होते हैं। इसलिए उनका
बहुत पुष्ट होना आवश्यक होता है। सम्भवतः 'औपधेय' शब्द पुष्ट काष्ट की ओर रथकार का
ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही व्यवहृत हो गया था। इसी प्रकार नाभि के लिए भी मजबूत लकड़ी
ढूँढी जाती थी अन्यथा गड्ढे में गिरने पर नाभि के बीच से फट पड़ने का भय था। साधारणतया
शिंशपा की लकड़ी नाभि के लिए उपयुक्त मानी जाती थी। उपधि या नभ्य के लिए भी उसी
लकड़ी का प्रयोग होता था।[2]

परमरथ—लकड़ी अच्छी और पुष्ट न हुई, या रथकार ने बनाने में कोई त्रुटि कर दी
तो रथ अच्छा नहीं बन पाता था। ऐसे रथ को कद्रथ[3] कहते थे। इसी प्रकार श्रेष्ठ सुन्दर बना
पूर्ण रथ परमरथ कहलाता था। परमरथ के चक्र, धुरा आदि अंग परमरथ्य कहलाते
थे। सम्भवतः परमरथ बड़े आकार के रथ को कहते थे। उसके अंग भी अपेक्षाकृत बड़े
होते थे।

प्राप्यकृत्य—शकट और रथ के अंगों का पृथक्-पृथक् निर्माण कर उन्हें यथास्थान
बिठाना भी कौशल की अपेक्षा रखता है क्योंकि रथांग या शकटांग कितना ही पुष्ट और सुन्दर
क्यों न हो अकेले यात्रा का साधन नहीं बन सकता। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है—'रथ के
अलग-अलग अंग या अवयव गमन के साधन नहीं बन सकते किन्तु उनका समुदाय-रूप रथ गमन
के काम आ सकता है।[4] रथकार द्वारा प्रत्येक अवयव के ठीक-ठीक बिठा देने पर भी कुछ काम शेष
रह जाता है और वह है धुरी तथा युग को रस्सियों से बाँधना। पहिए अक्ष में फँसे रहते थे।
धुरी के चलने से वे चलते थे। किन्तु धुरी पर जमा कर रखी हुई गाड़ी का ढाँचा धक्का लगते ही
उससे छूट सकता था। इसी प्रकार 'युग' (जुए) को शकटमुख या रथमुख से बाँधना आवश्यक
था। रथ में चारों ओर वस्त्र कम्बल या चर्म लगा दिया जाता था किन्तु शकट में लगे हुए डण्डों
का मध्य भाग रज्जु से पूरा जाता था। इस तरह रज्जु से यथास्थान बाँधने के बाद ही शकट या
रथ चलने योग्य होते थे। बन्धन द्वारा शकट या रथ को यात्रा-योग्य बनाकर जाने के लिए 'प्राप्य
कृत्य गतः' ऐसा वाक्य प्रयुक्त होता था। 'प्राप्यकृत्य' का अर्थ था 'बाँध-बूँधकर यात्रा के अनुकूल
बनाकर'। जहाँ बन्धन की आवश्यकता नहीं थी वहाँ 'प्राप्यकृत्वा गतः' ऐसा प्रयोग हो
सकता था।[5]

---

१ ५।३-११ पृ० ३०१।
२ ५।१-२, पृ० २९७।
३ ६।३-१०२।
४ १।१-७२, पृ० ४५४।
५ १।४-७८ काशिका।

रथ यात्रा के साधन तो थे ही, वे सेना के भी महत्त्वपूर्ण अंग थे।[१] सेना चार भागों में विभक्त होती थी—हस्ती, अश्व, रथ और पदाति।[२]

पत्र-वाहन—पशुओं को पत्र कहते थे। पत्र उसे कहते थे जिसके द्वारा जाया जाय। सवारी के पशुओं के लिए वाहन शब्द भी प्रयुक्त होता था। इस प्रकार, पत्र और वाहन पर्याय थे। जो पत्र गाड़ियों में जोते जाते थे, वे युग्य कहलाते थे। बैल, अश्व, हस्ती, उष्ट्र और गर्दभ युग्य पत्र थे।[३]

वाहनों के नाम—पशु जिस गाड़ी में जोते जाते थे उसके अनुसार उनका नाम पड़ जाता था। शकट में जुतनेवाले बैल को शाकट कहते थे। हल जोतनेवाले बैल हालिक या सैरिक कहे जाते थे।[४] इसी प्रकार रथ खींचनेवाला बैल रथ्य कहलाता था और बड़े रथ को खींचनेवाला परमरथ्य। पुष्ट बैल या अश्वादि कभी-कभी दो रथों को भी एक साथ खींच लेते थे। एक साथ दो रथों को खींचने की शक्ति रखनेवाले पशु को द्विरथ कहते थे, भले ही वह दो रथों में जुता हुआ न हो। दो रथों में जुते हुए और उन्हें वहन करते हुए पशु को द्विरथ्य कहते थे। भाष्यकार ने इन दोनों शब्दों का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'रथ को ढोता है' एक बात है और 'रथ को ढोनेवाला' दूसरी, भले ही एक ही पशु दोनों अर्थों का वाचक हो।[५] गाड़ी के दोनों ओर आवश्यकतानुसार जुतनेवाले युग्य सर्वधुरीण कहलाते थे और केवल एक ओर ही चलनेवाले एकधुरीण। दाईं या बाईं ओर चलने की दृष्टि से उत्तरधुरीण, दक्षिणधुरीण आदि शब्द भी प्रचलित थे। काशिकाकार द्वारा सूत्र का योग-विभाग कर इन शब्दों को निष्पन्न मानना उनके प्रचलन का द्योतक है।[६] सामान्यतया गाड़ी या रथ खींचनेवाले पशु धुर्य या धौरेय कहे जाते थे।[७] बैल सामान्यतया शकट में जोते जाते थे। यों रथ में भी उनका प्रयोग होता था। श्रेष्ठ बैल ही रथ में चलते थे। भाष्यकार ने अनड्वान् को बटरथ कहा है।[८] अश्व और गर्दभ भी वाहन खींचते थे। इसी प्रकार उष्ट्र और हस्ती भी। जिस वाहन को अश्व खींचता था उसे आश्व कहते थे। गार्दभ और औष्ट्र वाहनों का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।[११]

वाहक—बैल, उष्ट्र, अश्व और हस्ती स्वतन्त्र रूप से भी पत्र या वाहन माने जाते थे। शकट आदि में भी जब ये जुतते थे तब शकट इनका 'वाह्य' कहलाता था। सूत्रकार ने गोसादि के

---

१ १ १-७२, पृ० ४४७।
२ वही, तथा २-४-२ काशिका।
३ ३-१ १२१ काशिका।
४ ४ ४-८१ ८०।
५ वही।
६ ४ ४-७१, पृ० २८४।
७ ४ ४-७८, ४ ४-७९ काशिका।
८ ४-४-७७।
९ २-२-२४, पृ० ११६।
१० ४ ३-१२० पृ० २५१।
११ वही।

साथ गोसाद और गोसारथि शब्दों का भी उल्लेख किया है।[१] उष्ट्रसादी तो सामान्य बात है।[२] अश्ववार या अश्ववाल का उल्लेख भाष्य में मिलता है।[३] हाथी के साईस को हस्तिपक कहते थे। भाष्य में कहा है—'महावत हाथी पर बैठते हैं। लोग स्वतः में हाथी पर बैठते हैं और हाथी उन्हें अपने ऊपर बिठाता है।'[४] गोसाद उष्ट्रसाद आदि लोग गोसारथि या अन्य सारथियों से भिन्न होते थे। सूत्रकार ने युक्तारोही शब्द का भी उल्लेख किया है जो सम्भवतः 'घुड़सवार अधिकारी' के लिए है।[५] इसी प्रकार परिस्कन्द शब्द का प्रयोग प्राच्य तथा भरत लोगों में होता था। अन्य प्रदेशों में परिष्कन्द शब्द का प्रचलन था। परिष्कन्द रथ के दायें-बायें चलनेवाले रथको के लिए प्रयुक्त होता था।[६] सर्वपथी लोग सब वाहनों के हाँकने में निपुण होते थे[७]। अश्व के सवार को आश्विक कहते थे। रथ की गति अश्व से तीव्र होती थी।[८] साधारण अश्व एक दिन में चार योजन चलता था किन्तु अच्छा घोड़ा आठ योजन तक प्रतिदिन चल लेता था।[९] घोड़ा एक दिन में जितनी मंजिल तय करता था उतने को आश्वीन कहते थे[१०]। आश्वीन अच्छा साधारण और विशिष्ट घोड़ों के भेद से चार और आठ योजन दूरी को कहते थे।

जलवाहन—यह तो हुई स्थल के संवहन की बात। जल के वाहन की समस्या इससे भिन्न थी। भाष्यकार देश के चारों ओर के विस्तृत समुद्र से परिचित थे।[११] समुद्र का उल्लेख उन्होंने बार-बार तथा इस ढंग से किया है जैसे वे उसके महत्त्व से पूर्ण परिचित हों। एक स्थान पर उन्होंने पारियात्र पर्वत के समीपवर्ती समुद्र की भी चर्चा की है।[१२] देशव्यापी गम्भीर नदियों से वे परिचित थे ही। दोनों ओर जल से घिरे हुए द्वीप भीतरी प्रदेश तक जल से घिरे अन्य दीप प्रभूत जल से युक्त प्राप्त पुराण और जलप्राय अनूप से वे परिचित थे।[१३] उदधि की अगाधता से वे अभिज्ञ थे।[१४] ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि वे जल को पार करने के

---

१ ६-२-४१।

२ ६-२-४०।

३ ८-२-१८, पृ० ३४२।

४ १-३-६७ पृ० ८५।

५ ८-२-८१।

६ ८-३-७५।

७ ५-२-७।

८ १-१-७१ पृ० ४८५।

९. अश्वोऽयं चत्वारि योजनानि गच्छति अश्वतरोऽयं योऽष्टौ योजनानि गच्छति—५-१-५६, पृ० ४४६।

१० ५-२-१९।

११ १-४-२४ पृ० १६२।

१२ ८-१-४ पृ० २६४।

१३ १-३-५४ पृ० ३२९ तथा ६-३-९७ काशिका तथा ६-३-९८।

१४ ६-३-५८।

साधनों से भी परिचित होते। जल पार करने के साधनों को उदवाहन या उदकवाहन कहा गया है।[1]

नौ—उदवाहनों में नौ मुख्य थी। नौ से पार करने योग्य जल या नदी को नाव्य कहते थे।[2] नौ के लिए नौका शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[3] भाष्यकार ने कहा है कि एक दूसरे पर निर्भर रहनेवाले अर्थात् इतरेतराश्रय कार्य पूरे नहीं पड़ते। जैसे एक नाव में बँधी दूसरी नाव परस्पर एक दूसरी को पार नहीं लगा सकती। नावें अरित्र या डाँड़ के सहारे चलती थी।[4] नावों से पार करनेवाले या नाव चलानेवाले को नाविक कहते थे। नाव द्वारा पार होनेवाला भी नाविक कहा जाता था।[5] नदी को पार करने की क्रिया नदीतर कही जाती थी। नौकाएँ भार ढोने का काम भी करती थी और यात्रियों के ले जाने का भी। जल में इनकी स्थिति शकट के समान थी। राज्य की ओर से घाट पार करने के लिए जो नावें रहती थीं उन्हें 'राजनौ' कहते थे। राजनौ राजा की सर्वथा निजी व्यक्तिगत व्यवहार की नाव भी कही जाती थी। माल ले जानेवाली नावें शकटों के समान 'सार्थ' बनाकर भी चलती थी। दो या अधिक नौकाओं द्वारा ढोई हुई वस्तु द्विनाव्यमय या द्विनावरूप्य कहलाती थीं। इसी प्रकार तीन या अधिक नौकाओं से लाई हुई वस्तु के लिए त्रिनावरूप्य आदि शब्दों का प्रयोग होता था। एक-एक व्यापारी अनेक नावें चलाता था। उदाहरणार्थ पाँच नावें चलानेवाला, अर्थात् पाँच नावों पर माल लादकर लानेवाला पंच नावधन कहलाता था। कभी-कभी अन्यत्र माल ले जाते हुए व्यापारी मार्ग में उचित बाजार पाकर माल बेच देते थे और वहाँ प्राप्त होनेवाला माल दूसरी नाव में भर लेते थे। उदाहरणार्थ पाँच नावों में भरा हुआ माल बेचकर दूसरा खरीद लिया हुआ माल 'पंचनौ' कहलाता था[9]। संयोत्र (नाव पर माल लादनेवाले) की सम्पत्ति अर्थात् नाव पर लदे माल को 'सांयात्रिक' कहते थे।[10]

उडुप—उडुप छोटी नाव थी जो वर्तमान डोंगी के सदृश थी। उडुप से पार करनेवाले को औडुपिक कहते थे।[11] लकड़ी के तख्ते जोड़कर उनपर भी लोग साधारण गहरे जल को पार कर लेते थे। लकड़ी के तख्ते पानी में बहाकर भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक

---

१ ६ ३-५८ ।
२ ४-४ ९१ ।
३ आ २, पृ० ८६ ।
४ १ १ १ पृ० १०२ ।
५ ३-२ १८४ ।
६ ४ ४-७ ।
७ १ १-२९, पृ० २०५ ।
८ ५ ४ ९९ वार्तिक ।
९ वही ।
१० ४ ३-१२० पृ० २९२ ।
११ ४ ४-५

पहुँचाये जाते थे। भाष्य में पाँच सौ उडुपों और पाँच सौ फलकों के एक साथ तीर्ण होने का उल्लेख है।[1]

भस्त्रा—भस्त्रा फूले हुए चर्म को कहते थे। पशुओं के पूरे चमड़े को सीकर जिसके भीतर हवा भरी रहती थी पानी पर तैराया जाता था। भस्त्रा वनस्पति के घड़ों के समान पानी पर तैरती थी। भस्त्रा से पार करनेवाले को भास्त्रिक कहते थे।[2] भस्त्राविमण में उल्लिखित मरट घम्मवल' फलक वैसा ही होता था। उत्संगादि गण में उत्संग के अतिरिक्त पिटक उडुप और उत्पट का भी उल्लेख है।[3] उत्संग लकड़ी के बड़े पोले को भीतर से पोपला करके बनाते थे। पिटक बाँस की बनी छोटी नाव पनसुइया जैसी होती थी। उत्पट मछुओं की लम्बी नाव के सदृश थी।

घटिक—इनके अतिरिक्त घट भी तरण के काम आते थे। चार घटों को उलटकर उनमें लकड़ी बाँधकर उनकी घरनई, जिसे ब्रज भाषा के कवि ने 'घरनाव' कहा है बना लेते थे। तालाब या झील के बँधे पानी में इसका उपयोग होता था। साम और बेंत को भी भाष्यकार ने तरण का साधन माना है।[5] बैल की पूँछ पकड़कर धारा को पार करनेवाले 'गोपुच्छिक' कहे जाते थे।[6]

---

१ ५।१-५१, पृ० ३११
२ ४।४।१५।
३ ४।४।१५।
४ पटोल सरति वणिक्:—भा० २ पृ० ३१।
५ ४।१।१ पृ० ६।
६. ४।४।६।

अध्याय १२

मनोरञ्जन

मनोरंजन की दृष्टि से संगीत, वादित्र, नृत्य, नाट्य, चित्र और आख्यान का स्थान प्रमुख था। ये सार्वजनिक मनोरंजन के साधन थे। इनके विषय में अन्यत्र विशद रूप से चर्चा की गई है। आख्यान के अन्तर्गत प्रवचन, कथा, कहानी तथा वर्णन आते थे। आख्यान सारी रात चलते थे और लोग बड़े चाव से सुना करते थे।

मृगया—इनके अतिरिक्त मृगया, प्रहरण क्रीडा, पुष्पावचायिका, उद्यान-यात्रा, जलक्रीडा और आपानक-गोष्ठी का उल्लेख भाष्य में मिलता है। मृगया का प्रचार तो यहाँतक था कि उसका अपना पृथक् शास्त्र बन गया था। मृगया के अन्तर्गत न केवल मृगों का ही अन्वेषण, अपितु समस्त श्वापदों का वध आता है। इसीलिए, धीरे-धीरे शिकार के पशु मृग शब्द के वाच्य बन गये। वास्तव में वे सब पशु, जिनका शिकार अन्वेषणपूर्वक किया जाता था, मृग कहलाते थे। सामान्यतः शिकार धनुष-बाण द्वारा किया जाता था। मृगया मनोरंजन का भी साधन था और व्यवसाय भी। आखेटक लोग मृगया के लिए कुत्ते पालते थे और श्वापदों का पीछा करने के लिए उन्हें प्रशिक्षित करते थे। कुछ लोग बड़ी संख्या में कुत्ते पालते थे और उन्हें मृगया के लिए किराये पर देते थे। सम्भवतः ये लोग मृगया का एक अंश कर-शुल्क के रूप में ले लेते थे। ये लोग 'श्वगणी' या 'श्वागणिक' कहलाते थे। इसी प्रकार कुछ लोग जाल या आनाय रखते थे।[1] जाल को वागुरा भी कहते थे। ये कई प्रकार के होते थे और मृगादि पशु, पक्षी तथा मत्स्य पकड़ने के काम आते थे। जाल भी कुछ शुल्क लेकर मृगयार्थ उधार दिये जाते थे। जाल या वागुरा को किराये पर देनेवाले या मृगया के समय उनका प्रयोग करनेवाले पुरुष वागुरिक कहलाते थे। शिकार बहुत कुछ तुरग पर चढ़कर की जाती थी और उसके लिए निपानवती स्थिर (कर्दम विहीन) मृग, गवय तथा पक्षियों से भरी-पूरी अरण्य-भूमि चुनी जाती थी।[2]

मृगया को मृगरमण भी कहते थे। इस अर्थ में रमयति क्रिया प्रयुक्त होती थी। उदाहरणार्थ 'यह मृगों का रमण करता है (रंजन नहीं)' यह वाक्य प्रचलित था। मृगरमण के अनुभव इतने मनोरंजक होते थे कि वे वार्त्ता या गोष्ठी के स्वतन्त्र विषय माने जाते थे।

---

१ ४ १ ११ काशिका।

२ ३-३-२४ काशिका।

३ श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः—स्थिर तुरङ्गमभूमि निपानवन्मृगवयो गवयोपचितं वनम्—रघुवंश ९ ५३।

४ १ ४ २४ पृ० ४०७।

व्याकरण में मृगरमण का ऐसा वर्णन करने के लिए, जो श्रोता में उसे स्वयं देखने की आकांक्षा उत्पन्न करे, स्वतन्त्र वाक्य 'मृगान् रमयति' बनाने का नियम दिया गया है।[1] मृगरमण के विषय में व्याकरण के ये दोनों नियम मृगया की अत्यधिक लोकप्रियता के सूचक हैं। मृगया को लुब्ध-योग भी कहते थे।[2] मृग का शिकार करनेवाला 'मार्गिक' कहलाता था। इसी प्रकार, हारिणिक शौकरिक सारंगिक आदि शब्द प्रचलित थे।[3] बाण सपत्र होते थे। बाण से मृग को घायल करना 'सपत्राकरण' कहलाता था। इसी प्रकार बाण को शरीर के आर-पार निकाल देना 'निष्पत्रा-करण' कहा जाता था। सपत्र बाण बहुत पीड़ा पहुँचाते थे इसीलिए वे 'अतिव्यथन' कहे गये हैं। लुब्धकों की भाषा में दाहिनी ओर घायल किया हुआ मृग 'दक्षिणेर्मा' कहा जाता था।[4] दक्षिणांग का आघात उतना घातक नहीं होता जितना वाम अंग का। दक्षिणेर्मा मृग चोट खाकर भी भाग निकलता है। ऐसे मृग की यह विशेष संज्ञा थी। आखेटक लोग बोली से मृग की जाति पहचान लेते थे। कुछ मृग रात्रि में बोलते हैं कुछ प्रदोष के समय। इसी प्रकार विभिन्न मृगों के बोलने का समय निश्चित होता है। लुब्धक बोली के आधार पर मृगों की जाति पहचानकर उनका शिकार करते थे। निशा में बोलनेवाले मृग नैश या नैशिक और प्रदोष में बोलनेवाले प्रादोष या प्रादोषिक[5] कहलाते थे। इन कालों में बोलनेवाले अन्य पशुओं के लिए इन शब्दों का प्रयोग नहीं होता था।

मृगों के समान पक्षियों का शिकार भी मनोरंजन का साधन था। पक्षियों के आखेटक को पाक्षिक या शाकुनिक[6] कहते थे। विशेष पक्षियों के नाम पर भी उनके आखेटकों के नाम पड़ जाते थे। जैसे—मायूरिक तैत्तिरिक आदि। पक्षियों के शिकार के लिए आखेटक लोग श्येन पालते थे। श्येन छूटते ही पक्षियों को दबोच लेता है। कभी-कभी क्रीड़ा के रूप में अनेक पाक्षिक एकत्र होकर अपने-अपने बाज छोड़ते थे जो पक्षियों को दबोचने के लिए एक साथ उन पर टूटते थे। यह क्रीड़ा श्येनम्पाता कहलाती थी।[7] जाल या आनाय के सहारे अथवा अन्य साधनों से मछलियाँ पकड़ना भी मनोरंजन का साधन था। मछली का शिकार करनेवाले मैनिक धार्वरिक[8] या शाकुलिक कहे जाते थे।[9]

प्रहरण-क्रीड़ा—प्रहरण-क्रीड़ा भी मनोरंजन का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी। लाठी भाला

---

१ मृगरमणमाचष्टे मृगान् रमयतीति। वृत्त्यार्थायामिति किमर्थम्? यदा हि ग्रामे मृगरमणमाचष्टे मृगरमणमाचष्ट इत्येव तदा भवति।—३-१ २६, पृ० ७६।

२ ५ ४ १२६ काशिका।

३ ११९८ पृ० ४३५।

४ ५ ४ ११ काशिका।

५ ५ ४ १२६।

६ ४-३-५१ काशिका।

७ ११९८ पृ० ४३५।

८ ६-३-४७१ काशिका।

९ ११९८ पृ० ४३५।

तलवार आदि में निपुण व्यक्ति पर्वादि आनन्दोत्सवों पर एकत्र होकर अपने नैपुण्य का प्रदर्शन करते थे। इसमें पक्ष-प्रतिपक्ष अपनी-अपनी विजय का प्रयत्न करते थे। लाठी या दण्ड के प्रहरण जिस क्रीडा में दिखाये जाते थे उसे दाण्डा कहते[1] थे। इसी प्रकार मुष्टि-प्रहरण की क्रीडा मौष्टा कहलाती थी।

मल्लविद्या—मल्लविद्या का महत्त्व इससे भी अधिक था। मल्ल लोग नियमित अभ्यास व्यायाम और संयम द्वारा असाधारण शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। दो मल्लों की प्रतियोगिता जनसाधारण के मनोरंजन का विषय थी। भाष्यकार ने 'मल्ल मल्ल के लिए पर्याप्त है मल्ल दूसरे मल्ल के लिए समर्थ है'[2] आदि उदाहरण देकर मल्लविद्या के प्रदर्शनों की ओर संकेत किया है। मल्ल लोगों के दाँव-पेचों और पकड़ के लिए 'संग्राह' शब्द का प्रयोग होता था। मुष्टिक की पकड़ के लिए भी संग्राह शब्द ही आता था।[3] मल्लविद्या और मुष्टिक-विद्या बड़ी लोकप्रिय थी। काशिकार ने भी स्पर्धा अर्थ में आ+ह्वे धातु का उदाहरण 'मल्लो मल्लमाह्वयते' ही दिया है। स्पर्धा संघर्ष या पराभिभवेच्छा को कहते हैं। इस अर्थ में आह्वान करने पर 'ह्वे' धातु आत्मनेपदी हो जाती है।

पुष्पावचय—पुष्पावचय प्राचीन भारत की अत्यन्त प्रिय क्रीडा थी। इसमें उद्दालक पुष्पभञ्जिका[4] शालपुष्पप्रचायिका शालभञ्जिका तालभञ्जिका वीरणपुष्पप्रचायिका आदि प्रमुख थीं। विभिन्न ऋतुओं में सामूहिक रूप से विशिष्ट पर्व के अवसर पर इन क्रीडाओं का आयोजन होता था। इनमें अन्तिम उत्तरी भारत में प्रचलित थीं और शेष पूर्वी भारत में।[5] इनमें एक को छोड़कर शेष पुष्पचयन से सम्बन्ध रखती थीं। ऊँची डाल पर लगे हुए पुष्पों का अधिक परिमाण में चयन करना स्पर्धा का विषय था। भंजिका शब्द डाल में लगे हुए फूलों को तोड़ने और प्रचायिका शब्द भूमि पर गिरे हुए पुष्पों के चयन का बोधक है। कालिदास ने मेघदूत में विदिशा का वर्णन करते हुए पुष्पलावियों का उल्लेख किया है। ये क्रीडाएँ सम्पन्न वर्ग में प्रचलित थीं और गुप्त काल तक इनका प्रचार रहा।

उद्यान-यात्रा—उद्यान या उपवन नगर से बाहर होते थे। लोग सारा दिन वहाँ बिताते थे और मनोरंजन के लिए वहाँ अन्य क्रीडाओं का भी आयोजन करते थे। कामसूत्र में इन क्रीडाओं को समस्य क्रीडा या सम्भूय क्रीडा कहा है जिसमें अनेक लोग एक साथ भाग लेते थे। पुष्पावचय

---

१ ४ २-५७ काशिका।

२ २-३-१६ पृ० ४१८।

३ ३-३-३६, पृ० ३०३।

४ १ ३-३१।

५ २ २-१७ काशिका।

६. प्राचां क्रीडायाम्—उद्दालक पुष्पभञ्जिका । प्राचामिति किम् ? जीवपुत्र प्रचायिका। इयमुदीचां क्रीडा ६-२-७४ तथा जीविकार्थे इति किम् ? इक्षुभक्षिका मे धारयति — ६ ३-७१ काशिका।

क्रीड़ाएँ स्त्रियों में विशेष प्रचलित थीं किन्तु उद्यान-यात्राओं में पुरुष और स्त्री समान रूप से भाग लेते थे।

आपान-गोष्ठी—आपान-गोष्ठियों की प्रथा पतंजलि-काल में उतनी नहीं थी जितनी उसके उत्तर काल में मिलती है। पतंजलि के समय में भी पानागार थे जिनमें जाकर लोग मद्यादि का सेवन करते थे। उन्होंने पानागार में शौण्ड के पान करने का उल्लेख किया है।[1] पानों में मधु मद्य मैरेय कापिशायन आदि का प्रचार था जिनका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है।

द्यूत—पाश से निकट सम्बद्ध था द्यूत। द्यूत का प्रचार प्राचीन भारत में बहुत अधिक रहा है। भाष्य में जितनी बार द्यूत का उल्लेख हुआ है उतनी बार अन्य किसी क्रीड़ा का नहीं। द्यूत शब्द दिव् धातु से बना है। ऋग्वेद (२-२९-५) में द्यूत खेलनेवाले को कितव कहा है। वाजसनेयी संहिता (३०-१८) में अत्यधिक द्यूत खेलनेवाले को सभास्थाणु संज्ञा दी है। महीधर और सायण ने तैत्तिरीय ब्रा० (३ ४ १६ १) में सभा (द्यूतस्थान) में स्तम्भवत् स्थित अर्थात् सदा खेलनेवाला बतलाया है। द्यूत अक्ष से खेला जाता था। अक्ष विभीतक वृक्ष की लकड़ी से बनते थे और वे बभ्रु या भूरे रंग के होते थे।[2] अक्ष खेलनेवाला अक्षधू कहलाता था।[3] अक्ष फेंकना ग्लह या ग्रह कहा जाता था। इसमें लगाई जानेवाली बाजी विज् कहलाती थी।[4] कुछ लोग अक्षद्यूत में विशेष निपुणता प्राप्त कर लेते थे और प्रसिद्धि पा जाते थे। कुछ लोग छल और धूर्तता से खेल में विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। ये लोग अक्ष-धूर्त और अक्ष-कितव कहे जाते थे।[5] अक्षों से खेलनेवाले जीतनेवाले व्यक्ति और जीती हुई सम्पत्ति सब आक्षिक कहलाते थे। अक्षद्यूत प्रायः वैर का भी कारण होता था। खिलाड़ी के कैतव या धूर्तता का पता चल जाने पर अथवा जीता हुआ धन न देने पर द्यूत वैर में परिणत हो जाता था। यह वैर आक्षद्यूतिक कहलाता था।[6] विजिगीषा ही अक्षद्यूत का उद्देश्य थी। काशिकाकार ने कहा है कि पासे जीतने की इच्छा से ही फेंके जाते हैं। जीतने की इच्छा में द्यूतशब्द का प्रयोग होता था अन्यथा दिव् धातु के साथ क्त प्रत्यय लगाने पर द्यूत शब्द बनता था।[7]

द्यूत-शलाका—द्यूत शलाकाओं से भी खेला जाता था। अक्षों पर कुछ अंक या चिह्न बने रहते थे। यह चिह्न शलाकाओं पर भी होते थे पर अक्ष चमाकार बनते थे और शलाकाएँ आयताकार। अक्षों की लम्बाई चौड़ाई और ऊँचाई बराबर होती थी किन्तु शलाकाओं का आयाम

---

१ १-१ १ पृ० २२८ ।
२ ऋग्० ७-८६ ६ तथा अथर्व-पैप्पलादसंहिता २०-४-६ ।
३ १-४-२, पृ० १२३ ।
४ ऋग्० ८-८१ १ तथा १०-३४ २ ।
५ २-१ १ पृ० २२८ ।
६ २ १-४०, पृ० २९४ ।
७ ४-२-२ ।
८ ४ ४ १९ ।
९ ८-२-४९ काशिका ।

चौड़ाई और ऊँचाई से अधिक होता था। खेल में जिसका पर्याय या बार होता था वह अक्ष या शलाकाएँ 'पट्ट' पर फेंकता था और अंक ऊपर होने पर विजयी माना जाता था। यदि पहले फेंका गया पासा सीधा पड़ा और बाद में फेंका गया उलटा तो उलटे पासे और शलाका को अक्षपरि और शलाकापरि कहते थे। खेल में पाँच अक्ष या शलाकाएँ रहती थीं। पाँचों सीधी या पाँचों उलटी पड़ती थीं तो फेंकनेवाले की जय होती थी। एक बार जय के पश्चात् एक अक्ष या शलाका उलटी पड़ी तो 'एकपरि' शब्द का व्यवहार होता था। इसी प्रकार 'द्विपरि' 'त्रिपरि' और अधिक-से-अधिक 'चतुष्परि' खेल हो सकता था क्योंकि पाँचों के सीधे या उलटे पड़ने पर तो जय ही मानी जाती थी। पासों की संख्या पाँच होने के कारण इस द्यूत को 'पंचिका' कहते थे। शलाका और अक्ष के एकवचन होने पर ही अक्षपरि और शलाकापरि द्यूत कहलाता था। इस प्रकार अक्षपरि का अर्थ होता था 'अक्ष इस प्रकार ऐसे नहीं पड़े जैसे पहले पड़े थे।'[6] अक्षपरि आदि शब्द पारिभाषिक थे और कितव व्यवहार में ही प्रयुक्त होते थे। द्यूतक्रीडा का दूसरा नाम कितव-व्यवहार भी था। इसमें जीत के पासे को कृत और हार के पासे को कलि कहते थे। पासे सीधे पड़े तो कृत कहलाते थे और उलटे पड़े तो कलि। सीधे पासे फेंकने की क्रिया को 'कृतयति' और उलटे पासे फेंकने की क्रिया को 'कलयति' कहते थे।[1]

पण या ग्लह—अक्षद्यूत में आमोदी लोग जीत के लिए धन या अन्य वस्तुओं की बाजी लगाते थे जिसे पण या ग्लह कहते थे। अक्ष से भिन्न प्रसंग में यह शब्द प्रचलित था। धन का पणन या व्यवहार साधारण बात थी। पाणिनि ने द्यूत के प्रसंग में प्रयुक्त 'व्यवहृ' और 'पण्' धातु के साथ ग्लह वस्तु के लिए षष्ठी का विधान किया है।[3] इसी अर्थ में प्रयुक्त दिव् धातु के योग में भी षष्ठी होती है।[4] उपसर्ग पहले रहने पर दिव् धातु के योग में षष्ठी विकल्प से होती है।[5] धन के साथ लोग गाय बैल तक की बाजी लगा देते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों तक में इसका उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में दिव् धातु के योग में इसी अर्थ में ग्लह वस्तु के लिए द्वितीया विभक्ति का प्रमाण देखा जाता है।

---

१ ३ १ २१ पृ० ५९१।

२ ३ ३-७०।

३ २ ३-५७।

४ २ ३-५८।

५ २ ३-५९।

६. अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वमिति अक्षपरि, शलाकापरि—अक्षशलाकयोरेव एकवचनान्तयोरिति वक्तव्यम् इह मा भूत्, अक्षाभ्यां वृत्तम् अक्षैर्वृत्तम्।—२-१ १० पृ० २०२ तथा पञ्चिकानाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति तत्र यदा सर्वे उत्तानाः पतन्त्य-वाञ्चो वा तदा पातयिता जयति। तस्यैव विपातोऽन्यथा पाते सति जायते।—वही, काशि०।

७. २ १ १० पृ० १७२।

८. द्वितीया ब्राह्मणे २-३ ६० गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः।—१२-६०, पृ० ४४८।

'द्वितीया ब्राह्मणे' (२ ३ ६०) सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार द्वारा दिये गये ब्राह्मण-ग्रन्थ के उद्धरण 'सभा में उस दिन इसकी गाय का जुआ बने' से प्रकट होता है कि द्यूतक्रीडा सभा में होती थी। सम्भव यह कहा जा चुका है कि प्रायः ग्रामों और नगरों में सभागृह होते थे। ये सभागृह सर्वसाधारण से सम्बन्ध रखनेवाली सभाओं, गोष्ठियों, क्रीडाओं और उत्सवों के काम आते थे। भाष्य में अन्यत्र भी 'सभासन्नयन'[1] शब्द मिलता है। सभा में चतुर या योग्य व्यक्ति सभ्य कहा जाता था। वैदिक भाषा में सभ्य के लिए 'सभेय' शब्द का व्यवहार मिलता है।[2] इन सभाओं में स्त्रियाँ भाग नहीं लेती थीं। इसीलिए, भाष्यकार ने स्त्रियों को लक्ष्य कर कहा है कि 'भला स्त्री सभा में साधु कैसे हो सकती है?'[3]

स्त्रियों के मनोरंजन के कुछ अन्य साधन थे। तीज-त्योहारों का जहाँ धार्मिक महत्त्व था वहाँ सामाजिक भी। इन अवसरों पर घरों में विशेष चहल-पहल हो जाती थी। विविध पकवान बनाए जाते थे। गाँव भर की स्त्रियाँ एक स्थान पर पूजा के लिए एकत्र होती थीं। ऐसे उत्सवों में गुडपूपिका, तिलापूपिका, वटकिनी और कौल्माषी पौर्णमासियों का उल्लेख भाष्यकार ने किया है। इन पौर्णमासियों को गुड़ के पुए, तिल के पुए या तिल-मिले पुए, बड़े और कुल्माष या घुँघनी खाने का महत्त्व था।[4]

नारद्यूत—द्यूत के समान ही चौपड़ का भी प्रचार था। इसमें कलह नहीं होता था, अतः यह विशुद्ध मनोरंजन था। इसके लिए दो वस्तुएँ आवश्यक थीं। आकर्ष, जिसपर चौपड़ बिछाई जाती थी और 'नार' अर्थात् गोटियाँ। आकर्ष एक चौकोर खानेदार या काष्ठमय फलक होता था। आकर्ष में कुशल व्यक्ति आकर्षक कहलाता था।[5] गोटियाँ आकर्ष के कोष्ठों में इधर-उधर घूमती थीं। गोटियों का एक खाने से दूसरे खाने में ले जाना 'परिणाय' कहलाता था। परिणाय का अर्थ था चारों ओर ले जाना। पाणिनि नार के खेल को भी द्यूत मानते हैं। काशिकाकार ने कहा है 'परिणाय से नारों को मारता है'।[6] नियमित गति से चलती हुई गोटी यदि विरोधी गोटी पर पड़ी तो वह उसका हनन करती है। द्यूत से भिन्न अर्थ में परिणाय के बदले परिणय शब्द का प्रयोग होता था। भाष्यकार के मत से आकर्ष के उस भीतरी कोष्ठ को 'अयानय' कहते थे जिसमें गोटी के पहुँच जाने पर उसे कोई गोटी काट नहीं सकती थी। इस खाने में पहुँची हुई गोटी को अयानयीन कहते थे। अय का अर्थ था दाँया और अनय का अर्थ था बाँया। दाँये-बाँये चलनेवाली गोटियाँ जिसमें अन्य पाँव नहीं रख सकती थीं उसे अयानय कहते थे। अयानय का काम योग्य इस अर्थ में 'अयानयीन' नार का प्रयोग होता था।[7]

---

१ सभासन्नयने भाषः।—१ १-७३, पृ० ४६०।

२ ४ ४ १०५, १०६।

३ कथं नाम स्त्री सभायां साधुः स्यात्।—४ १ १५, पृ० ४०।

४ तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम्, गुडापूपिका पौर्णमासी, तिलापूपिका—प्राय संज्ञायां वटकेभ्य इनिर्वक्तव्यः—वटकिनी पौर्णमासी ५ २-८२ तथा कुल्माषादञ् ५ २-८३ पृ० ४००।

५ ५-२ ६४

६ द्यूते तावत् परिणायेन शारान् हन्ति समन्तान्नयनेन —३ ३ ३७ काशिका।

७ अयानयं नेय इत्युच्यते तत्र न जायते, कोष्ठः कोष्ठान्तर इति। अयः प्रदक्षिणम् अनयः

अक्षद्यूत और चारद्यूत का प्रचार कितना रहा होगा यह इस बात से समझा जा सकता है कि इन खेलों से सम्बन्ध रखनेवाले संज्ञा-शब्दों का उल्लेख भाष्य या अष्टाध्यायी में प्राप्त होता है।

समाज—मनोरंजन-क्रीडाएँ सामूहिक रूप से चलती थीं जिनमें भाग लेने के लिए बड़ी संख्या में लोग एकत्र होते थे। क्रीडार्थ एकत्र जन-समुदाय को 'समाज' कहते थे।[1] पशुओं का समुदाय 'समाज' कहलाता था। इस प्रकार, मनुष्यों और पशुओं के समुदाय का अन्तर स्पष्ट किया गया था। आवश्यक नहीं था कि समाज मनोरंजन के लिए ही हों किसी भी प्रकार के जन-समवाय समाज कहलाते थे। विचार-गोष्ठी के लिए भी समाज होते थे। समाज जहाँ एकत्र होता था उसे 'समज्या' कहते[2] थे। भाष्यकार ने भी उस स्थान को समज्या कहा है, जहाँ लोग इकट्ठे होते हैं। इस प्रकार समज्या सभा और समाज प्रायः समानार्थी जान पड़ते हैं। इस अर्थ में समवाय[3] शब्द का भी प्रचलन था। भाष्यकार ने कहा है कि समाज समाश और समवाय में 'बैठिए' कहने पर स्वयं प्रत्येक व्यक्ति बैठ जाता है, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति से बैठने को नहीं कहा जाता।[4] परिषद् इससे बड़ी संस्था थी जिसमें किसी विषय पर विचार-विमर्श के लिए ही लोग एकत्र होते थे।[5] भाष्यकार ने समवाय में समवेत होने, अर्थात् समवाय में जाकर उसका एक अंग बन जाने की चर्चा की है।[6] समवाय में समवेत होनेवाले सामवायिक समाज में जानेवाले सामाजिक और परिषद् के सदस्य 'पारिषद्य' कहे जाते थे। सभा के सदस्य के लिए 'सभ्य' शब्द प्रचलित था। समवाय और समाजादि के सदस्य दर्शकों से भिन्न होते थे। इनका काम इस प्रकार के संगठनों की व्यवस्था एवं दायित्व सँभालना था। ये लोग भी सामवायिक और सामाजिक ही कहे जाते थे।[8]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि कलाओं के अतिरिक्त सामूहिक या वैयक्तिक क्रीडाएँ मनोरंजन का मुख्य साधन थी। क्रीडाओं में प्राच्य उदीच्यादि देश भेद से अन्तर था। क्रीडा में भाग लेनेवाले को आक्रीडी कहते थे।[9] बालकों की क्रीडा का भाष्य में अलग उल्लेख किया है। क्रीडा के साथ सङ्क्रीडा परिक्रीडा आक्रीडा अनुक्रीडा आदि शब्दों का भी प्रचलन था।[10]

प्रतायनम्। प्रवर्तितप्रसव्यमाभिनी आरात्मा यस्मिन् परैः परतामसत्वादिस्मा सोऽप्रायन। अपायनं मैथोऽप्रायणीयं प्रारः।—वही।

१ ४-१ ६९ काशिका।

२ समजन्ति तस्यां समज्या, ३ ३-९९, पृ० ३११।

३ ३ ३ ६९ काशिका।

४ समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते न चोच्यते प्रत्ययात्मस्मिति प्रत्ययाश्च आसते, १ १-५० पृ० ३०९।

५ ३ ३ ९९, पृ० ३११।   ६ ४-४ ४३ का।

७ ४ ४ ४४

८ ४ ४ ४३ काशिका०।

९ ३ २ १४२।   १० १ ३-२१ पृ० ६९।

खण्ड ४

आर्थिक स्थिति

अध्याय १

कृषि

कृषि का अर्थ—पतंजलि के समय में कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय था। भाष्य में स्थान-स्थान पर जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें से अधिकांश कृषि-व्यवसाय और ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध हैं। कृषि शब्द 'कृष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है कूँड़ बनाना या जोतना। मराठी में इसके लिए बहुत उपयुक्त शब्द प्रयुक्त होता है 'नांगरणा'। पतंजलि के समय तक कृषि शब्द में उन सब क्रियाओं का अन्तर्निवेश हो चुका था, जो आज इस व्यवसाय के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। इनमें जोतना, बोना, सींचना, निराना, काटना, गाहना, ओसाना आदि सभी काम आ जाते हैं। 'हेतुमति च'[1] (३.१.२६) सूत्र का भाष्य करते हुए पतंजलि ने कहा है कि कृष् धातु के अर्थ के भीतर बहुत-सी क्रियाएँ आती हैं। कृष् केवल जोतने के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होता, उसका अर्थ प्रतिविधान भी है। जोतनेवाले को खिलाना-पिलाना, बीज तथा बैलों की व्यवस्था या प्रतिविधान करना भी कृषि के अर्थ के भीतर है। जिस दिन वह उक्त बातों का प्रबन्ध नहीं करता उस दिन कृषि का कार्य ही नहीं हो पाता। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषक केवल जोतनेवाला ही नहीं, बुआई करानेवाला भी माना जाता था। इसी सूत्र के भाष्य में आगे चलकर उन्होंने कहा है—'एकान्त'[2] में चुपचाप बैठे हुए पुरुष के लिए भी लोग कहते हैं कि यह पाँच हलों की खेती करता है। इस प्रसंग में कहना चाहिए कि पाँच हलों की खेती करवाता है। इस शंका का समाधान करते हुए वे कहते हैं कि कृष् धातु में अनेक क्रियाएँ सम्मिलित हैं। इसलिए, पाँच हल चलाता है, यह कहना भी उपयुक्त है, क्योंकि वह स्वयं हल न चलाकर हल चलाने के साधन प्रस्तुत करता है।

उपकरण—बैल और हल कृषि के मुख्य साधन थे। जहाँ तक कृषि-क्रियाओं का सम्बन्ध है, उन्हें किसान स्वयं करता था या वेतन देकर भृतकों से करवाता था। किसान के लिए 'कृषीवल'[3] शब्द का व्यवहार होता था। वर्तमान किसान शब्द या तो कृषाण (कृष्—आनच्) का अपभ्रंश है या ऋग्वेद के कीनाश[4] शब्द से कालान्तर में वर्ण-विपर्यय होकर विकसित हुआ है। अधिक

---

१ नानाक्रियाः कृषेरर्थः। नावश्यं कृषिर्विलेखने एव वर्तते। किं तर्हि? प्रतिविधानेऽपि वर्तते। यदसौ भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिविधानं करोति सोऽपि कृष्यर्थः। अतश्च प्रतिविधानेऽपि वर्तते।—३-१-२६, पृ० ७१।

२ वही, पृ० ७१।

३ ५-२-११२।

४ ऋग्० ४-५७-८।

सम्भावना यह है कि कृष् धातु का प्रयोग पहले आत्मनेपद में होता रहा है और वो आगे चलकर अन्य हो गया। आत्मनेपदी धातु मानकर उससे आगे एकबार जो शानच् प्रत्यय चल पड़ा सो चलता रहा। इसीलिए किसान के कर्म के लिए 'किसनई' शब्द जो कि 'किसान' से ही व्युत्पन्न हुआ है, आज भी कृषक-वर्ग में प्रचलित है। यदि कीनाश शब्द इसका मूल होता तो उससे बननेवाले अन्य शब्दों पर भी उसका प्रभाव पड़ता।

गो या अनड्वान्—बैल कृषि का मुख्य साधन रहा है। सारा कृषि-कार्य बैलों के ही कांधे था। बैल को गो अनड्वान् और बलीवर्द[1] कहते थे। वे हल चलाने के ही काम न आते थे। शकट और रथ भी खींचते थे। दोनों काम करनेवाले बैल केवल गाड़ी खींचनेवाले या हल चलानेवाले बैलों की अपेक्षा श्रेष्ठ[2] माने जाते थे। जब बैल को हल या गाड़ी में जोता जाना प्रारम्भ किया जाता था तो उसे 'दम्य' कहते थे।[3] दम्य जिस गाड़ी में जोतकर प्रशिक्षित किया जाता था उसे मराठी में आज भी 'दमणी' कहते हैं। दम्य बैल 'उक्षा' बन जाता है और फिर बली वर्द। उक्षा युवा बैल को कहते थे। उक्षा के तीन आयुकाल हैं—प्रथम जब उसके चार दाँत निकलते हैं। द्वितीय जब उसके आगे दाँत निकल आते हैं और तृतीय जब उन दाँतों का घिसना प्रारम्भ हो जाता है। इन आयु के बैलों को क्रमशः जातोक्ष महोक्ष और वृद्धोक्ष कहते थे। खेतों की जोत और बोनी इन्हीं के सहारे थी।[4] भाष्य में एक स्थान पर कहा है कि 'इस व्यक्ति ने बैलों के सहारे धन पाये' तथा 'बैल जौ ढो रहे हैं'। इससे स्पष्ट है कि कृषक न केवल जोत के लिए, अपितु फसल ढोने के लिए भी बैलों पर निर्भर था।[5]

हल या सीर—हल और सीर पर्यायवाची थे। हल कृषक का दूसरा साथी था। इसे चलाने-वाला किसान हालिक या सैरिक कहलाता था। हल का एक अन्य नाम लांगल भी था। भाष्य-कार ने लांगलधर[6] का उल्लेख किया है। बड़े हल को हलि कहते थे जिसका दूसरा नाम जित्य[7] भी था। इसी जित्य से ग्रामीण शब्द जीता (दूसरे का एक बैल मांगकर जोतना) बना है। हलि और जित्य कड़ी भूमि जोतने के काम आते थे। आज भी उत्तर भारत में दो प्रकार के हलों का व्यवहार होता है जिन्हें हल और हली कहते हैं। हलों में आठ दस और बारह तक बैल जोते जाते थे। अथर्ववेद (६ १ १) तथा काठक-संहिता (१५ २) में इसका उल्लेख है। ऋग्वेद (६ ९१ १) में भी छह से बारह तक बैलों को जोते जाने का उल्लेख मिलता है। घर में हल बैल और

---

१ १-२-७१ पृ० १०७।
२ गौरयं शकटं वहति योऽपरोऽयं यः शकटं वहति सीरं च।—५ १६६, पृ० ४२५।
३ १ १ १ पृ० १०५।
४ ५ ४-७८ पृ० ५०४।
५ २-१ १० पृ० २८३।
६ १ ४-५२ पृ० १८२।
७ ४ ४-८१।
८ ६-२-१ पृ० २१०।
९ ३ १ १७।

बच्चों का होना सौभाग्य का सूचक माना जाता था और तदर्थ गुरुजन आशीर्वाद भी देते थे।[1] जिसके पास हल न होता उसे अहल, अपहल, अपसीर या अपलांगल कहते थे। जिसका हल खराब होता उसे दुर्हल और जिसका हल अच्छा होता उसे सुहल कहते थे। मराठी का 'नांगर' संस्कृत लांगल का अपभ्रंश रूप जान पड़ता है। संस्कृत हलपति, अनहलम्,[2] आदि के समान मराठी में नांगर (हल) शब्द का व्यवहार क्रियारूपों में भी होता है।

भूमि—हल से जोती जानेवाली भूमि हल्या[3] कहलाती थी। जुता हुआ खेत सीत्य कहा जाता था। अहल्य भूमि ऊषर[4] (रेह या नमकीन मिट्टीवाली) होती थी। गोचर (चरागाह) व्रज (पशुशालाएँ) और गोष्ठ (बाड़े) ऊषर भूमि में होते थे।[5] खेतों को केदार भी कहते थे। केदारों का समूह कैदार्य, कैदारिक या कैदारक कहा जाता था। हल्य भूमि शुनासीरीय[6] भी कही जाती थी क्योंकि शुन (वायु) और सीर (आदित्य) उसके देवता माने जाते थे। एक हल से जोती जाने योग्य भूमि हल्या[7] और दो या तीन हलों से जोती जानेवाली द्विहल्या या त्रिहल्या कही जाती थी। मजबूत बैलोंवाले लोग सामान्य कृषकों की अपेक्षा एक हल से अधिक भूमि पर खेती कर लेते थे। यह भूमि परमहल्या या परमसीत्या कही जाती थी।[10] सामान्यतया जोतने योग्य भूमि को कर्ष्य कहते थे।[11] एक हल होना सामान्यतः परिवार की निर्धनता का सूचक था। प्रायः असहाय लोग एक हल चलाते थे। सम्पन्न परिवार कई-कई हलों की खेती करते थे।

खेतों के नाम—हल्य भूमि क्षेत्रों में विभक्त थी। क्षेत्रों के नाम दो प्रकार से निश्चित किये जाते थे—उनमें बोई जानेवाली फसल के आधार पर और खेत में पड़नेवाले बीज के परिमाण के अनुसार। जिस खेत में किसी धान्य का एक प्रस्थ बीज बोया जाता था, उसे प्रास्थिक कहते थे।[12] उसी प्रकार खारिक और द्रौणिक क्षेत्र होते थे। पात्र कुम्भ उदञ्चिका आदि माप थे जिनसे खेत में बीज डाला जाता था। इन सबके निश्चित परिमाण थे। पात्र कुम्भादि परिमाण ही थे। खेतों का नाम भी इनके आधार पर पात्रिक आदि पड़ जाता था।[13] भाष्य में मापकुम्भवाप तथा

---

१ ६ ३-८३ पृ० ३५३।
२ ३-१ २१ पृ० ५९, ६०।
३ ४ ४-९७।
४ ४ ४ ९१।
५ ५ २-१०७।
६ ४ २-११९ तथा ५ २-१८।
७ ४ २ ४०, पृ० १७०।
८ ४ २-३२।
९ ४-४-९७।
१० १ १-७९, पृ० ४५४।
११ ४-४-९७ तथा ६ १ १५९, पृ० ९०४।
१२ ५ १ ४५ का०।
१३ ५ १ ४६ काशिका।

उष्ट्रिका-मावपन के उल्लेख मिलते हैं। फसल के अनुसार खेतों के मौद्गीन (जिसमें मूंग बोई गई हो) व्रैहेय (व्रीहिवाला) शालेय (धान का खेत) यव्य (जिसमें जौ बोए जाएँ) यवक्य (यई का खेत) षष्टिक्य (साठी धानवाला) तिल्य या तैलीन (तिलवाला) माष्य या माषीण (उरद की फसलवाला) भांग्य या भांगीन (पटसन का खेत) उम्य या औमीन (अलसी का खेत) और अणव्य या आणवीन (ज्वार-बाजरा का खेत) आदि नाम होते थे।[1] जिस खेत में फसल बोई जाती थी उसे 'वाप' कहते थे।[2]

कर्ष या जोत—भूमि ही कृषि का आधार ही है। इसी की जुताई को पतंजलि ने 'कृष्यस्य कर्ष'[3] कहा है। हल चलने से भूमि में जो कूंड बनता है उसे सीता कहते थे। एक ही खेत में दो तीन बार या अनेक बार जुताई की जाती थी। जोत उल्टी भी होती थी। एक पुरुष हल की मूँठ पकड़े हुए बैलों के पीछे चलता था और दूसरा उसके पीछे-पीछे खेत में बीज छोड़ता जाता था। दोहरी तेहरी उल्टी जोत और वपन के साथ जोत की क्रिया को 'द्वितीया करोति' 'तृतीया करोति' 'शम्बा करोति' और 'बीजा करोति' कहते थे।[4] दोहरी गहरी या दुबारा जोत के द्वारा खेत की शक्ति बढ़ जाती है। ऐसी दोहरी जोत के लिए 'द्विगुणा करोति क्षेत्रम्' प्रयोग भी प्रचलित था।[5] जोतने के लिए विशेषत हल का व्यवहार होता था। जोतने के बाद खेत की आर्द्रता की रक्षा के लिए काष्ठ द्वारा खेत की मिट्टी बराबर कर दी जाती थी। अन्यथा खेत की भीतरी मिट्टी सूख जाने पर बीज के न उगने का भय रहता था। मिट्टी के समीकरण की यह क्रिया कृषक एक लम्बे भारी काष्ठ को रस्सी से बांधकर और उसमें बैल नाधकर स्वयं लकड़ी पर खड़ा होकर करता था।[6]

जोतने के लिए बैल युग या जुए में नाधे जाते थे इसीलिए बैलों को युग्य कहते थे। जुए में जुते हुए बैल गाँव से दो कोस तक की दूरी पर जाकर खेत जोतते थे क्योंकि प्राय गाँवों के क्षेत्रफल में इतनी दूर तक की कृष्य भूमि सम्मिलित रहती थी। कभी-कभी पड़ोस के कृषक के साथ खेती में साझा होने के कारण भी इतनी दूर जाकर जोतना-बोना पड़ता था। जुए में जुते बैल जितनी दूर तक जाकर खेत जोतते थे वह दूरी 'गव्यूति' कहलाती थी जो लगभग दो कोस होने के कारण पहले आनुमानिक और बाद में दो कोस की निश्चित संज्ञा बन गई।

खेतों के कोने जो हल से नहीं जोते जा सकते थे खोदे[7] दिए जाते थे। जिस औजार से कोने खोदे जाते थे उसे आखन आखान आखर, आखनिक या आखनिकबक कहते थे। नामों में यह अन्तर स्थान भेद के कारण आ गया था।

---

१ ५-२-१ से ५-२-४ पृ० ३६७-६८।
२ ५ १ ४५।
३ ६ १ १५६ पृ० २०४।
४ ५ ४ ४८।
५ ५-४-५९।
६ १ ४ ४६ पृ० २६८।
७ ३ ३-१२५ पृ० ३११।

वपन—भाष्यकार ने वपन का उल्लेख अनेक बार किया है तथा इस व्यक्ति ने बैलों के सहारे खेत बोये उरद बोनेवाली 'व्रीहि बोनेवाली बड़े भर उरद' या व्रीहि बोये जाते मान्य खेत उरद का वपन आदि।[1] दो धान्यों को एक साथ मिलाकर बोने की भी प्रथा थी। किसान लोग उरद और तिल मिलाकर बोते थे[2]। खेत उरद बोने के लिए तैयार किया जाता था। उसमें धान्य के रूप में उरद बोये जाते थे किन्तु गौण रूप से तिल भी बो दिये जाते थे।[3] यदि उरद के साथ तिल भी हो गये तो अच्छा अन्यथा कोई विशेष हानि नहीं। तिल का बीज ही कितना पड़ता है।

फसलों के नाम—खेतों के समान फसल के नाम भी उनके बोये या काटे जाने की ऋतु या काल के अनुसार निश्चित किये गये थे। तैत्तिरीयसंहिता (७-२ १० तथा ५ १-७) में फसलों का समय दिया हुआ है। यव गरमी में तथा धान बसन्त में बोये जाते थे और वर्ष में दो फसलें काटी जाती थीं। हेमन्त में बोये जाने के कारण जौ को हैमन्तिक कहते थे।[6] शरद् में पकने के कारण शालि शारद कहलाते थे। ग्रीष्म में पकने के कारण गेहूँ अरहर आदि ग्रैष्म या ग्रैष्मक अन्न कहे जाते थे। गरमी में बाय जानेवाले व्रीहि भी ग्रैष्म थे। वर्षा में मार्ग प्रायः अवरुद्ध रहते थे। शरद आते ही नदियों का जल स्वच्छ हो जाता है। मार्गों का कर्दम सूख जाता है। व्यापारी यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं। रथ और गाड़ियाँ जोती जाने लगती हैं। यह मुहूर्त्त शरत्पूर्णिमा को होता था। इस दिन घोड़े रथ में जोते जाते थे इसीलिए शरत्पूर्णिमा को आश्वयुजी भी कहते थे। आश्वयुजी को बोये जानेवाले उरद आदि अन्नों का नाम आश्वयुज था।

सिंचाई—भाष्य में कई स्थानों पर खेतों की सिंचाई का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उल्लेख है। बोने के बाद खेतों को सींचने की आवश्यकता होती थी। सींचने तथा खाद डालने की प्रथा वैदिक काल से ही चली आती थी। ऋग्वेद में खाद को करीष और सिंचाई को खनित्रिमा कहा है।[9] खाद गोमय की होती थी। भाष्य में करीष तथा आरण्य गोमय का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में वर्षा (७-१०१ ३ १०-१०५ १ आदि) के लिए तथा उर्वरता बढ़ाने के लिए अनेक स्थानों पर प्रार्थनाएँ मिलती हैं। बहुत-सी सिंचाई तो वर्षा से हो जाती थी। खेती के लिए वर्षा पर अधिक निर्भर रहना पड़ता था। मेघ कृषकों के देव थे। संस्कृत-साहित्य में उन्हें बार-बार देव

---

१ ४ १ ४८, पृ० १० तथा ८ ४ ११, पृ० ४८०।

२ ८-४ १३, पृ० ४८१।

३ ८ २ १ पृ० ३११ तथा १ ४-४७, पृ० २८९।

४ तिलैः सह माषान् वपति। तिलैर्मिश्रीकृत्य माषा उप्यन्ते।—२ ३-१९, पृ० ४२१।

५ यदा तु खलु कश्चिन्माषबीजावापं उपस्थितस्तदर्थं च क्षेत्रमुपार्जितं तदाप्यवपि किञ्चिदुप्यते यदि भविष्यति।—२-३ १९, पृ० ४२१।

६. ४-३-४४।

७. ४-३-४१।

८ ४ ३-४५।

९. वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० १८२।

कहा है।[1] धानों के लिए वर्षा ही मुख्य आधार थी इसलिए भाष्य में एक व्यक्ति कहता है कि यदि देव बरस गया तो धान हो जायेंगे। इस पर दूसरा कहता है कि इस वाक्य में सुधार की आवश्यकता है। यों कहो कि पानी बरसा तो समझो धान हो गये। बरसे हुए पानी की माप किसान अपने ढंग से करते थे। 'कपड़े भीगने भर को बरस गया',[2] 'गौ के खुर का गड्ढा भरने भर को बरसा'[3] 'चूहे के बिल भरने योग्य बरसा'[4] या 'हल के मुँह-भर बरसा'[5] इस तरह के उल्लेख भाष्य और काशिका में मिलते हैं।

नदियों से भी सिंचाई करने की प्रथा थी। हो सकता है कुल्या नदियों से निकाली जाती हों। तालाबों से तो निकाली ही जाती थीं। कुछ नदियों के तट खेती के योग्य होते थे। नदी तट पर बोई गई फसल धान के समान तब भी नदी से ही सींची जाती होगी इसीलिए, भाष्यकार ने शालि को देविका-कूल कहा है।[6] देविका (नदी) के तट पर बोये जाने से ही यह नाम पड़ा था।

सिंचाई का तीसरा साधन था छोटी-छोटी नहरें, जिन्हें कुल्या कहते थे। गहरे गड्ढे या कुएँ खोदकर, नालियाँ और नहरें बनाकर उनसे सिंचाई का काम लिया जाता था। भाष्यकार ने कहा है कि शालि (धान) के लिए नालियाँ बनाई जाती हैं। उनसे पानी पिया जाता है, स्नान किया जाता है और धान सींचे जाते हैं।[7] तालाबों को बाँधकर उनके पानी से सिंचाई की व्यवस्था शासन भी करता था। गिरनार के सुदर्शन तड़ाग का निर्माण तो मौर्यकाल में ही हो गया था।

कुएँ सिंचाई के प्रमुख साधन थे। सबसे अधिक सिंचाई कुओं से होती थी। वापी और कुएँ प्रत्येक गाँव में होते ही थे। सिंचाई के लिए छोटे-छोटे कुएँ भी आवश्यकतानुसार बना लिये जाते थे। शकन्धु और कर्कन्धु का उल्लेख भाष्य में हुआ है। विपाशा के दोनों ओर के किनारों के कुओं का उल्लेख पाणिनि ने किया है। प्रत्येक गाँव में कुछ लोग सिंचाई का काम करने में निपुण होते थे। ये लोग 'भृति' पर काम करते रहे होंगे। इनके कामों में कुल्याओं का प्रणयन और कूप-खनन भी था। भाष्य में एक ऐसे गाँव की ओर संकेत है जिसे छोड़कर सेवक लोग चले गये हैं। कूप-खनन को लेकर कूप-खानकन्याय ही बन गया था। कुआँ खोदता हुआ आदमी यद्यपि मिट्टी और धूल से ढक जाता है, किन्तु कुएँ में पानी निकल आने पर उसे वह सुविधा प्राप्त हो जाती है

---

१ देवश्चेद्वृष्टो सम्पत्स्यन्ते शालय इति। स वक्तव्यो मैवं वोचः। सम्पन्नाः शालय इत्येवं ब्रूहि।—१।१।३३ पृ० १२४।

२ चेलक्नोपं वृष्टो देवः।—३।४।३३ पृ० ३६०।

३ गोष्पदं वृष्टो देवः।—४।३।१२ पृ० ३६०।

४ ४।१।१२ काशिका।

५. वही।

६. ७-३-१ पृ० ३०१।

७. ८।१।६५ पृ० ४५०।

कि धूल-मिट्टी का दोष तो दूर ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत-सा कल्याण होता है।[1] इसी को धूलस्नानकल्याण कहते थे। इस कथन में अन्य 'बहुत-सा कल्याण' यह कथन सिंचाई की ओर ही संकेत करता है। ग्रामों के सींचे जाने का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।[2] बावड़ियों से सिंचाई का काम लिया जाता होगा।[3] उदकोदंचन वारिकम्[4] और मणिककारिकम् में पठित गुण-वरत्रा से पता चलता है कि भाष्य-काल में बैलों के सहारे रहट से पानी निकालकर सींचने की प्रथा थी। गुण-वरत्रा कुएं में बंधी हुई रस्सी या वरत को कहते हैं। उदकोदंचन बाल्टी का दूसरा नाम है। गोचर्म चर्मद्रोणि आदि का उपयोग पानी सींचने के लिए होना सम्भावित है। 'रस्सी कुएं से ऊपर खींचता है'[5] आदि कथन केवल रस्सी से पानी खींचने का बोध कराते हैं। दक्षिणापथ में तालाबों की अधिकता थी। वहाँ बड़े तालाबों को सरसी कहते थे।[6] ये सरसियाँ आज के समान तब भी सिंचाई का साधन थीं।

कभी-कभी वर्षा के बादल साथ नहीं देते थे। कुएं, बावड़ी, तडाग सब सूखने लगते थे। पर्जन्य[8] महोघ होते हुए भी करुणा-जल की वर्षा नहीं करते थे। भाष्य में एक स्थान पर केवल मिथिला छोड़कर शेष चारों ओर वर्षा होने की चर्चा है।[9] ऐसी स्थिति में लोग वर्षा के लिए पूजा-पाठ करते थे। भाष्य में जप के बाद[11] या शाकल्य की संहिता[12] के पाठ के बाद वर्षा का होना बतलाया गया है।

इस प्रकार सींचने से उपज कई गुनी बढ़ जाती है। भाष्य में कहा है कि धान का एक भी बीज फल-फूलकर अच्छी तरह पक गया तो कृषक को सम्पन्न बना देता है[13]।

---

१ भास्यन्तं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते उपस्पृश्यते चास्माच्च भाव्यन्ते।—१ १ १२ पृ० ५४ तथा १ १ २१ पृ० २१२, कूपं खनन् यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति सोऽप्सु सञ्जातासु तत एव तं गुणं समासादयति येन स दोषो निर्हण्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति।—आ० १ पृ० २४।

२ आ० १, पृ० ११।

३ आ० १ पृ० १९।

४ १ १ १२३ पृ० ३१८।

५ ५ १-२, पृ० २९४।

६ १ ३-२८ पृ० ९९।

७ १ १ १९ पृ० १९०।

८ ४-३-२५ पृ० २९१।

९ ५ ४ १३३ पृ० ४११।

१० ८ १-५ पृ० ३७०।

११ जपमनु प्रावर्षत्।—२ १-८ का० तथा शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्।—१ ४-८४ पृ० २००।

१२ वही।

१३ एको व्रीहिः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति।—१ २-५८ पृ० ५५८।

खेतों की रक्षा—खेतों की रखवाली कृषि का महत्त्वपूर्ण अंग है। भाष्य में कई स्थानों पर पशुओं द्वारा खेतों के खाये जाने की चर्चा है। शालि-क्षेत्रों में पशु अधिक नहीं जाते थे, किन्तु भी उरद और गेहूं के लहलहे खेत उनके लिए विशेष आकर्षक होते हैं। बैलगाड़ी या हल में जुते हुए बैल भी पास के खेत में मुंह मार देते हैं।[1] फसल को चार स्थानों से हानि का डर रहता था—चोर, पालतू पशु, वन्य पशु और पक्षी। *पक्षियों से खेत को बचाने के लिए खेतों में चंचा (घास का आदमी) खड़े किये जाते थे जिनके डर से पक्षी सियार, मृग आदि नहीं आते थे।*[2] जन-साधारण में यह विश्वास था कि वृक्षों में जीव होता है और हरी वनस्पति को हानि पहुंचाना जीव-हिंसा है। यह धारणा भी पालतू पशुओं से खेतों की रक्षा में सहायक थी। राज्य की ओर से भी कड़ाई बरती जाती थी और खेतों में पशु छोड़नेवालों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। पशुपालक उरद के खेतों से गाय-बैलों को दूर रखता था क्योंकि वह जानता था कि यदि चार्में खेत में गईं तो धान्य का नाश होगा। इसमें अधर्म भी है और राजदण्ड का भय भी।[3] फिर भी मृग नील गाय आदि आरण्यक प्राणी तो खेत खा ही जाते थे। चना का भय धीरे-धीरे कम हो जाता था किन्तु कोई कोई उनके डर से धान्य बोना बन्द नहीं करता था।[4] उनकी रक्षा के लिए रखवाले नियुक्त कर दिये जाते थे। भाष्य में यवपाल का नाम आया है।[5]

दैवी आपत्तियों से रक्षा के क्या साधन थे यह तो मालूम नहीं है, किन्तु अनुभव के आधार पर *कृषक भावी विपत्तियों का पूर्वानुमान अवश्य कर लेते थे और समय रहते उनके लिए तैयारी* कर लेते थे। उदाहरणार्थ वे जानते थे कि बादल उमड़ और कपिलवर्णा बिजली कौंधी तो तेज वायु चलेगी। यदि लाल कौंध हुई, तो तेज धूप निकलेगी। पीली कौंध फसल के लिए हितकर होती है। किन्तु यदि कौंधती बिजली का रंग सफेद हुआ तो दुर्भिक्ष पड़ता है।[6]

काटना—पकी फसल की कटनी को लवन लाव या अभिलाव कहते थे और काटनेवाले को लावक। जब फसल बहुत पक जाती थी तब उसे 'अवश्यलाव्य' कहते थे। काटने के लिए एक साथ में बहुत-से लोग जुटा दिये जाते थे जिससे सारा खेत एक ही दिन में कट जाय। काटने वाले कुछ तो भाग या अंश भृति के रूप में लेकर काटते थे और कुछ बदले में कटवाने के लिए

---

१ वहंतिहो गौः।—१ १ ७७ पृ० २९१।

२ १ १-५९ पृ० ५५५।

३ माषेभ्यो गा वारयति। यद्यसौ वारयति न ता माषेषु गच्छन्ति ध्रुवं सस्यविनाशः। सस्यविनाशोऽधर्मः राजभयं च।—१ ४ २७ पृ० १६४ तथा १ ४-५९, पृ० १८३।

४ न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते।—१ १ ३९, पृ० २५३।

५ ६ २-७८।

६. वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥—२-३-१३ पृ० ४१७।

७. १ १ १ पृ० ११७ तथा भा० २, भा० ७ तथा १ १-५० पृ० ३०५।

८ १ १ ३६, पृ० ६०।

काटते थे।[1] भाष्य में इन दोनों प्रकारों का कथन है। कुछ धान्य काटे जाते थे और कुछ जड़ से उखाड़े जाते थे।[2] जौ काटे जाते थे।[3] कभी बालें काटकर काण्ड बाद में भी काट लिये जाते थे।[4] उड़द-मूंग जड़ से उखाड़े जाते थे।[5] काटने का काम हँसिये से किया जाता था जिसे प्राच्य प्रदेश में दात्रि और उत्तरप्रदेश में दाम कहते थे।[6] बांस के समान शरकाण्ड[7] आदि भी काटे जाते थे जो छप्पर बनाने के काम आते थे। खेत काटने से जो बालें या दाने भूमि पर गिर जाते थे उन्हें सिल या कण कहते थे। इन कणों को बीनने का नाम उञ्छ था।[8] प्रदेशों के अपने लवन का ढंग भी भिन्न था। कोई सीधे काटता और लून धान्य को एक पंक्ति में रखता था। कहीं एक-एक क्यारी को काटने की प्रथा थी।[9] मद्र जनपद के लोग लून धान्य को अव्यवस्थित फेंकते जाते थे।[10] ईख अरहर या अन्य कड़ी फसल को 'स्तम्बघ्न' से काटते थे।[11] यह गड़ास या उसके जैसा औजार होता था। कभी-कभी लोहे की छड़ें मारकर भी ये खेत गिरा दिये जाते थे। हो सकता है, यह कुल्हाड़ी जैसा कोई औजार हो। इसे स्तम्बघ्ना स्तम्बहेति या स्तम्बहनी कहते थे। काटा हुआ धान्य पूलों में बांधकर एकत्र किया जाता था।[12] कटी हुई फसल बड़े-बड़े ढेरों में एकत्र कर दी जाती थी। एकत्र किये हुए धान्य की गो आदि की आकृतियां बना दी जाती थीं जिन्हें धान्यगव कहते थे। इसी प्रकार, तृणादि भी काटकर पहचानने के लिए सिंहादि की आकृति में एकत्र कर दिये जाते थे जो तृण-सिंह कहलाते थे।[13]

खल्य—कटने के बाद सारी फसल एक स्थान में एकत्र की जाती थी। कटी फसल को खल और उसके स्थान का खल्य कहते थे।[14] खल्य स्थान का अपभ्रंश रूप खलिहान आज भी प्रचलित है। खल्य का अर्थ खल के लिए उपयोगी होता है। खलों के समूह को खल्या या खलिनी कहते थे।[15] गाँव के सब या अधिकांश किसान अपनी सारी फसल एक ही खल्य में रखते थे। खल्य

---

१ १ ३-११ पृ० ३०।
२ २-३-७०, पृ० ४५७।
३ वही।
४ ३-२-१, पृ० २०४।
५ ४ ४-८८ का०।
६ भा० १ पृ० २१।
७ ३-२-१ पृ० २०४।
८ ४ ४ ३२ काशिका।
९ १ ४ ३ पृ० १३१।
१० उपस्कारं मद्रका लुनन्ति।—६-१ १४० पृ० १९०।
११ ३-३-८३, पृ० ३३०।
१२ २-४ ३० पृ० ४०६।
१३ ६-२-७२ काशिका।
१४ ४ २-५०।
१५ ४-२-७०, पृ० १८४।

स्थान प्रत्येक गाँव का निश्चित रहता था। सारी फसल एकत्र रखने में सुरक्षा की सुविधा रहती थी। कुछ धान्यों का अवहनन होता था। अवहनन के लिए उलूखल रहते थे।[1] शेष को बैलों द्वारा माहन किया जाता था। उत्तर भारत में आज भी इस क्रिया को गाहना ही कहते हैं। गाहते समय धान्य को बार-बार पलटना होता है जिससे नीचे दबा हुआ धान्य ऊपर आकर कट सके और छोटा-छोटा भुस बन सके। पलटने की यह क्रिया लकड़ी से बने एक विशेष साधन से की जाती है, जिसमें अंगुली की आकृति की तीन या पाँच लकड़ियाँ लगी रहती हैं। इसे त्र्यंगुल (यदि दो लकड़ियाँ हों) अंगुल या पंचांगुल दारु कहते थे।[2]

निष्पाव—गाही हुई फसल ओसायी जाती थी। ओसाने की क्रिया निष्पाव कहलाती थी। निष्पाव वायु अथवा बड़े शूर्पों के सहारे होता था।[3] राशि छोटी हुई, तो शूर्पों से काम चल जाता था अन्यथा वायु में भूसा उड़ाना पड़ता था। धान फटकने का काम भी शूर्प-निष्पाव ही कहलाता था। फटकने के बाद धानों एवं अन्य धान्यों की राशि लगा दी जाती थी। कभी-कभी धान्य-राशियों का परिमाण सौ-सौ हजार खारी तक होता था।[4] तिल और तन्दुलों के ढेर का भाष्य में उल्लेख है।[5] तन्दुल तो उलूखल में अवहनन द्वारा ही तैयार किये जाते होंगे। निष्पाव भी भृति पर आदमी नियुक्त करके अथवा बदले में करवा देने के आश्वासन पर कराया जाता था। देवदत्त का धान्य लोग ओसा रहे हैं, परस्पर एक दूसरे का निष्पाव कर रहे हैं—ये कथन भाष्य में आये हैं। इसी प्रकार खल में पड़े हुए भी भुस कटे हुए भी भुस नष्ट हुए तथा नष्ट होते हुए भी और भुस के लिए निपातन द्वारा निष्पन्न शब्द भाष्य में आये हैं।[6] संहृतयव संह्रियमाणयव संहृतबुस और संह्रियमाण बुस का भी भाष्यमें उल्लेख है।[7] ये समस्त शब्द खल की विभिन्न प्रक्रियाओं के सूचक हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि अन्न की राशि एकत्र कर लेने के बाद भूसा एकत्र किया जाता था। 'खले बुसम्' उस स्थिति की ओर इंगित करता है जिसमें भूसा खलिहान में ही पड़ा रह गया है।

कभी-कभी साधनहीन निर्धन के लिए यह कठिन हो जाता था कि वह सारी फसल के कट कर माड़े जाने और ओसाने तक प्रतीक्षा करे। घर में अन्न की कमी उसे बीच-बीच में खेत से थोड़ा-थोड़ा धान्य काट लाने को बाध्य करती थी। वह थोड़ा-बहुत अनाज काटकर घर ले आता और

---

१ २-१ ३६ पृ० २८८।
२ ५ ४ ११४ वार्तिक।
३ ३ ३ २० पृ० ३१०।
४ ३ ३-२० पृ० ३१८, ३१।
५ ५ १-५८ पृ० ३९७।
६ ३ ३-२० पृ० ३८१।
७ देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनते।—१ ३ १४ पृ० ५७।
८ १ ३ १६ पृ० ६०।
९ २ १ १७ पृ० २७५।
१० वही।

वहाँ पीट-पाटकर अनाज निकाल लेता और काष्ठ, पुआल आदि अलग डाल देता था।[1] गेहूँ जौ आदि के कान्दों के शुष्क अंश तुस कहलाते थे। शालि और पलाल के भुस को तुष कहते थे और उसके पुआल को पलाल।

इस प्रकार समस्त प्रक्रियाएँ ठीक-ठीक हो गईं तो खेत में मारी हुई एक कुदाली भी सैकड़ों खारी अन्न दे जाती थी।[2]

उपज—भाष्यकार ने दो प्रकार की फसलों की चर्चा की है—कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य। उन्होंने कहा है कि जुते खेत में स्वयं ही अन्न पकता है अर्थात् बिना बोये ही कुछ धान्य उग जाते हैं, वे कृष्टपच्य कहलाते हैं। बिना जुती भूमि पर अपने-आप उगने और पकनेवाले अन्न अकृष्टपच्य कहलाते हैं। जैसे नीवार, कुसनी सावाँ आदि। जिस अन्न के पैदा होने की सम्भावना जुती भूमि में हो अर्थात् जो बोकर उगाया जा सकता हो उसे कृष्टपाच्य कहते हैं।[3] इनमें मासाम वाले तस्तुबुस (इमली) तैलबुस मसाले और सुगन्धबुस (चम्पा भी) फल शिम्ब और शाखा—ये उपजें प्रमुख थीं।

व्रीहि—यह यहीं की भूमि का अन्न था। डी कैण्डोले का विचार है कि व्रीहि चीन में २००० बी० सी० में पैदा किया जाता था। लियाल (Lyall) के मत से अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में व्रीहि की खेती होती रही है। अन्य देशों में इसके नाम भारतीय नाम के आधार पर रखे गये थे। उदाहरणार्थ फारसी में विरिन्जी अरबी में अरज ग्रीक में ओरूजा। खेतों की उपज में व्रीहि का स्थान प्रमुख था। व्रीहि छोटा धान है, जो बरसात का अन्त होते-होते तक पक जाता था। इसके लिए बाहरी पानी की विशेष आवश्यकता नहीं होती थी। वर्षा का ही पानी व्रीहि के लिए पर्याप्त होता है। व्रीहि की उपज भी प्रति बीघे पर्याप्त होती थी। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि यदि व्रीहि ठीक प्रकार पक गए तो सुभिक्ष कर देता है। इसीलिए, व्रीहि जनसाधारण का अन्न था। घर में व्रीहि का होना सम्पन्नता का परिचायक था। व्रीहिमान् और बहुव्रीहि सम्पन्नता का तथा अव्रीहि निर्धनता का चिह्न था। व्रीहि के ही चावल धार्मिक कार्यों में व्यवहृत होते थे। व्रीहि के दो भेद हैं। एक में तुष या भूसी को अलग कर देने के बाद लाल चावल निकलता है और दूसरे में सफेद। आज भी ये भेद उत्तर भारत में पाये जाते हैं। व्रीहि का ही एक भेद षष्टिक होता है। यह साठ दिन में पक जाता है।[4] इस प्रकार यह नाम सार्थक है। यों मूंग भी साठ दिन में पक जाती है, पर उसे षष्टिक नहीं कहते।[5] वास्तव में षष्टिक शालि यहाँ विशेषण

---

१ अपरस्य कठिनतरायां शालिकलापं सतूषं सपलालमाहरति नान्तरीयकत्वात्। स यावदादेयं तावदादाय तुषपलालमुत्सृजति।—४-१-९२, पृ० ११५।

२ एकेन कुद्दालकेन खारीसहस्रम्।—२-१-१९, पृ० ३२५।

३ कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेवाकृष्टपच्या न ते अकृष्टपच्यास्ते। यो हि कृष्टे पक्तव्यः कृष्टपाच्य स भवति।—३-१-११४, पृ० १८२।

४ षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते।—५-१-९०।

५. यदि तथा षष्टिके लोकाद्यदूर्व कर्तव्यम्। मुद्गा अपि हि षष्टिरात्रेण पच्यन्ते तत्र मा भूत्।—५-१-९० पृ० ३४०।

के रूप में प्रयुक्त होता था। बाद में यह संज्ञा बन गया। मुद्‌ग का परिपाक षष्टिक के बाद होने के कारण धान के लिए यह शब्द पहले ही रूढ़ हो गया। भाष्य में व्रीहि को स्तम्बकरि कहा है, क्योंकि उनमें बड़ी-बड़ी बालों के गुच्छे (मंजरी) लटकते हैं।[1] व्रीहि की ही एक जाति महाव्रीहि होती थी।[2] काशिकाकार ने नीवार और हायन को व्रीहि का ही भेद माना है।[3] जल को छोड़कर बढ़ने के कारण व्रीहि को हायन कहते थे। ग्रीष्म में बोये जाने के कारण व्रीहि ग्रैष्म नाम कहलाता था।[4] व्रीहि पहले भारत के आग्नेय भाग में ही होता था इसीलिए ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं है। तैत्तिरीय संहिता में अवश्य सफेद और काले चावल की तुलना की है।

शालि—शालि बड़ी जाति का धान होता है। इसे रोपा जाता है। श्रावण में इसकी पौध लगाई जाती है और अगहन में यह काटा जाता है। इसलिए इन्हें शारद कहते थे।[5] पर्याप्त वर्षा न होने पर शालि को सींचने की आवश्यकता होती थी। इसीलिए, शालि नीची भूमि पर, तालाब या नदी के निचले किनारे पर, जहाँ पानी भरा रहता हो बोये जाते थे। इन्हीं के लिए भाष्यकार ने कुल्या बनाने की बात कही है। शालि की जड़ें मिट्टी में गहरी जाती थीं। पतंजलि ने इसीलिए इन्हें न्यग्रोध-मूल अर्थात् नीचे की ओर जड़ें फैलानेवाले कहा है। शालि में लाल छिलकेवाले की एक विशिष्ट जाति होती थी। किसी-किसी गाँव में लाल शालि की ही उपज विशेष होती थी। शालि की और भी बहुत-सी किस्में थीं। मगध में विशेष प्रकार के शालि उत्पन्न होते थे। एक स्थान पर भाष्य में कहा है 'हम वे ही शालि खा रहे हैं जो मगध में खाते थे।'[9] शालि का भात मांस के साथ भी खाया जाता था।[10] केवल व्रत-काल में शालि-मांस-भोजन अवश्य वर्जित था। मूँग के साथ खाने की प्रथा तो सामान्य थी।[11] सम्भव है लाल चावल को ही पाटलि कहते हों। डॉ० वा० श० अग्रवाल के अनुसार 'पाटलानि मूलानि का' पाटल इसी पाटलि से बना हुआ विशेषण है। पाटल-मूल गाजर के लिए प्रयुक्त हो सकता है। खूब भरी हुई बालों के शालि या धान्य को सस्यक कहते थे।[11]

---

१ स्तम्बकरि व्रीहिः—१ २ २४ पृ० ११४।
२ ६-२ ३८।
३ हायना नाम व्रीहयः जहत्युदकमिति हायना।—३-१ १४८ काशिका।
४ ४ ३ ४३ काशिका।
५ ३ ३-४८ काशिका।
६ ४ ३ ४३ का०।
७ ४-३ ४३।
८ ७-३ १ पृ० १७०।
९ २ १ ६९ पृ० ३९३।
१० भा० ९ पृ० ४४।
११ भा० १ पृ० १९।
१२ ४ ३ १५५ पृ० २६६।

शालि को कूटकर तण्डुल तैयार किये जाते थे। कूटने की यह क्रिया अवहनन कहलाती थी। भाष्यकार ने कहा है कि शालि कोठों में भरे हों, तो भी उनके लाभ के लिए पहले अवहनन की आवश्यकता होती है।[1] इससे यह भी पता चलता है कि सम्पन्न सस्य को भरने के लिए कृषक कोठियाँ और खत्तियाँ बनाते थे। कूटकर इकट्ठा किया हुआ चावल तण्डुल-निचाय कहलाता था।[2] निचाय बनाने के पहले शूर्प-निष्पाव द्वारा तुष अलग कर दिये जाते थे।[3] ये तुष आग जलाने के काम आते थे। तुष की अग्नि बहुत तेज होती है और टिकती भी है। जाड़े के दिनों में अलाव जलाने में इसका उत्तम उपयोग होता है। तुष की अग्नि को मुर्मुर कहते थे।

तण्डुल की राशि को वर्धितक कहते थे। भाष्य में कहा है कि 'एक चावल भूख मिटाने में असमर्थ होता है' किन्तु उनका समुदाय वर्धितक समर्थ होता है।[4] बड़ा धान्य राशि का साक्षात्कार वर्णन करते हुए एक स्थान पर उसकी तुलना विन्ध्य से की है। इसमें विन्ध्य की कम ऊँचाई और वर्धितक के महत्त्व दोनों की ओर लक्ष्य है।[5]

यव—यव अन्नों में शालि के बाद ही आता है। महत्त्व एवं व्याप की दृष्टि से भी उसका स्थान द्वितीय है। भाष्य ने सम्भवतः महत्त्व और उपज के क्षेत्र की व्यापकता के अनुसार ही व्रीहि, यव, माष, मुद्ग, तिल ये पाँच धान्य गिनाये हैं। इनमें पूर्व-पूर्व अन्न उत्तर की अपेक्षा अधिक महत्त्व के हैं। शालि व्रीहि में ही समाविष्ट है। इनमें यव रबी की और व्रीहि खरीफ की फसल है। यव यज्ञादि में आहुति के काम आते थे। यज्ञ में यवागू पान की प्रथा थी। यवागू जौ से तैयार की जाती थी। जौ के सत्तू बनते थे जो भोजन के महत्त्वपूर्ण घटक थे। सम्भव है, चावल के भी सत्तू बनाये जाते हों। इसीलिए बहुयवमत्क देश सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। यवक बहुलता का द्योतक था।[6] मद्र और उशीनर जनपदों में यव की उपज खूब होती थी।[7] भाष्यकार ने कहा है कि मद्र के समान यव हैं, अर्थात् हैं तो दोनों जगह हैं और नहीं हैं तो दोनों जगह नहीं हैं। इससे केवल तात्कालिक उपज के विषय में कोई निश्चित बात नहीं मालूम होती। हाँ यव दोनों स्थानों में खूब बोये जाते थे यह संकेत अवश्य मिलता है।

---

१ अवघ्नं त्वपि कोष्ठगतेष्वपि शालिष्ववहननमारभते प्रतीक्षापि।—१-१-११६, पृ० १२५।

२ १-१-२० पृ० १९९।

३ १-१-२० पृ० २११।

४ ८-२-७२, पृ० १८०।

५ १-२ ४५, पृ० ४१५।

६. विन्ध्यो वर्धितकम्।—१ ४-२४, पृ० ११२।

७. सक्तव्या धानाः।—५ १-२, पृ० ११५।

८ ४-१ १, पृ० १३।

९. ४ १-२५, पृ० ४७।

१० उशीनरमद्रेषु यवाः। सन्ति न सन्तीति।—४-१-९०, पृ० ११०।

खराब जौ को यवानी कहते थे।[1] बैल और मृग जौ का खेत खूब खाते थे।[2] बैलों को ही यह फसल ढोनी भी होती थी। यवक जौ का एक भेद था। सम्भवतः यह आकार में छोटा होता था।[3] इसी को आज जई कहते हैं। जौ का भुस तैयार होता था, जिसके खलिहान में पड़े रहने की चर्चा पीछे हो चुकी है। जौ रबी की अन्य सब फसलों को बोने के बाद अन्त में हेमन्त में बोये जाते थे।[4] रबी का बोना शरत्पूर्णिमा से आरम्भ हो जाता था। यव का वाप अन्त में होता था। ग्रीष्म में जौ पकते थे।[5] डॉ० वा० श० अग्रवाल के मत से जौ आग्रहायणी पूर्णिमा को बोये जाते थे। आग्रहायण और शिशिर में बोये तथा वसन्त के आरम्भ में काटे जाते हैं। इस दृष्टि से उक्त समय में लगभग दो मास का अन्तर पड़ता है।

भाष्य में अयव और सुयव शब्द आये हैं जो सम्भवतः उस प्रदेश के लिए हैं, जिसमें यव नहीं होता था या खूब होता था।[6] यव के लिए एक विशेष प्रकार की मिट्टी की आवश्यकता होती है, इस बात से भाष्यकार परिचित थे। नष्ट हुए यव के लिए 'पूनयव' शब्द का व्यवहार होता था।[7]

जौ को पुरानी फारसी में यवा (Yao) कहते थे। यव विश्व की प्राचीनतम उपजों में से है। ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वान् यव को सामान्य अन्न मानते हैं। जौ गेहूँ आदि का भी वाचक था।

गोधूम—गोधूम का उल्लेख भाष्य में प्रत्यक्षतः नहीं हुआ है। केवल गणपाठ में यह शब्द मिलता है। श्रीनारायणचन्द्र वन्द्योपाध्याय (एकानामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एनशियेण्ट इण्डिया पृ०५१) गेहूँ का इतिहास वैदिक काल तक पुराना मानते हैं। डे कैण्डोले (De Candolle) प्रागैतिहासिक काल के विश्व के सभी सभ्यता-केन्द्रों में गेहूँ की उपज स्वीकार करते हैं। हियर (Heer) को स्विटजरलैण्ड के झील-वासियों के खण्डहरों में गेहूँ मिले थे। १४०० ई० पूर्व के मिस्री पिरामिडों में भी गेहूँ मिले थे। भाषावैज्ञानिक खोज के आधार पर भी विश्व के सभी प्राचीन राष्ट्रों में गेहूँ का अस्तित्व सिद्ध होता है। भारत में गेहूँ का प्रचार, सम्भवतः, आर्यों के आगमन के साथ हुआ था। फिर यह आश्चर्य की बात है कि प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में गेहूँ का उल्लेख बहुत कम मिलता है। मैत्रायणी (१-२-८) तथा वाजसनेयी (१८ १२ १९ २२) संहिताओं में गोधूम शब्द प्रायः बहुवचन में आया है और वहाँ इसे शालि और यव से पृथक माना है। शतपथ (५-२ १ ६) ब्राह्मण में एक वचन में भी गोधूम का प्रयोग हुआ है।

---

१ ४ १ ३९, पृ० ११ ।
२ १ १ ३९, पृ० २५१ ।
३ ५-२ ३ ।
४ ४ ३ ४८, पृ० ३१५ ।
५ ४ ३ ४४ कर्षितव्य ।
६ ४ ३ ४१ कर्षितव्या ।
७ इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि पृ० २०७ ।
८ ५ ४-५० पृ० ३९५ तथा ६-२ १०८, पृ० ९०८ ।
९ ८-४ ३४, पृ० ११२

अणु—अणु का उल्लेख पाणिनि ने (५ २-४) किया है, जिसमें ज्वार और बाजरा दोनों सम्मिलित हैं ? इसके लिए व्रीहि की अपेक्षा कम पानी की आवश्यकता होती थी। भाष्यकार ने अलग से अणु की चर्चा नहीं की है, यद्यपि उसकी कृषि आदिम काल से होती आई है। अणु के अनेक भेद हैं, जिनमें कुछ के विषय में यह निश्चित नहीं है कि उनका मूल स्थान भारत ही है।[1]

माष—प्राचीन काल से ही अनेक प्रकार की दालें भारत में उत्पन्न की जा रही हैं, यद्यपि यह बलपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इनका मूल स्थान भारत ही था। इतना तो निर्विवाद है कि ऋग्वेद को छोड़कर शेष संहिताओं के समय इनकी पैदावार होती थी। पर्गीतर संहिताओं में मुद्ग, माष मसूर और कुलत्थ का उल्लेख मिलता है।

जौ के बाद माष का स्थान था।[2] माष शारदी पूर्णिमा या उसके आस-पास बोये जाते थे।[3] उन्हें तिलों के साथ मिलाकर भी बोते थे। पशुओं से उनकी रखवाली करनी पड़ती थी जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है। राजमाष भी माष का एक भेद था। इसके लिए विशेष उर्वर खेत की आवश्यकता होती थी।[4] वे हर खेत में नहीं पनपते थे। माषों का लाव नहीं उन्मूलन होता था। माष को विद्वान् 'शर्धजह' भी कहते थे क्योंकि वे शरीर में वायु उत्पन्न करते हैं।[5]

मूँग—मुद्ग मूँग का नाम था। मुद्ग भी माष के समान सूप के काम आते थे। इनके बोने और काटने का समय माष से कुछ पहले होता है, इसीलिए मुद्ग को शारदक कहा है। ये दोनों धान्य आजकल खरीफ की फसल के साथ श्रावण के प्रारम्भ में बो दिये जाते हैं और कार्तिक में काट लिये जाते हैं। मुद्ग जैसा पहले कहा जा चुका है, साठ दिन में पक जाते थे। शालि के मुद्ग के साथ खाये जाने का उल्लेख भी पीछे हो चुका है। मुद्ग भी मूल्य धान्य है क्योंकि यह भी जड़ से उखाड़ा जाता था काटा नहीं जाता था।[6]

तिल—भारत की अपनी उपज है। अति प्राचीन काल से इसकी खेती की जाती रही है। अथर्ववेद (२-८ ३ १८ ३ ६९) में बार-बार तिल का उल्लेख है। अन्य संहिताओं में भी तिल की चर्चा है। ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से इसका निर्यात होता रहा है।

तिल का स्थान उपर्युक्त धान्यों के बाद सर्वाधिक महत्त्व का था। तिल के दो भेद थे—कृष्ण और श्वेत।[7] कुछ खेत काले तिलों के लिए ही विशेष उपयुक्त होते हैं।[8] किसी-किसी

१ वाट एकानामिक प्रोडक्ट्स ऑफ इण्डिया पृ० १०१२।
२ ४-१ ४८, पृ० ९० ।
३ ४-३-४५ काशिका ।
४ ५-१ १९३ पृ० ४२१ ।
५ ५ १-२० पृ० ३३२ ।
६ ३-२ २८, पृ० २२५ ।
७ ४ ३-२७।
८ ४ ४-८८ काशिका।
९ २ १-५७ पृ० ३३३ ।
१० ५ १ २०, पृ० ३३२ ।

जिस के पेड़ मे फली नहीं लगती और लगी भी तो उसमें दाने नहीं पड़ते। दानों के स्थान पर काला मल रहता है। ऐसे तिलों को तिलपिञ्ज या तिलपेज कहते थे। वैदिक भाषा में ऐसे तिलों के लिए तिल्पिञ्ज शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] य शब्द ऐसे तिलों के लिए भी प्रयुक्त होते थे जिनमें तेल नहीं निकलता क्योंकि वे भीतर से सूने होते हैं। उच्छ्कृति और मृति परिमाणविशेष के द्योतक थे। भाष्य में एक तिलोच्छ्कृति तथा दो मृतियों का उल्लेख मिलता है।[2] उच्छ्कृति शब्द सामान्यतया राशि के लिए प्रयुक्त हुआ है। तिल से तेल निकाला जाता था।[3] तेल पेरनेवाले कोल्हू को तिलपीडनी कहते थे। तेल निकालने के बाद बची हुई खली या केप को तिलपूट कहते थे।[4] तेल पेरनेवाले तेली की संज्ञा तिलन्तुद थी।[5] प्रारम्भ मे तिल के ही विकार को तेल कहते थे। बाद में उपचारात् सर्षप इगुदी आदि के विकार को भी तेल कहने लगे। धीरे-धीरे तैल प्रत्यय मान लिया गया और तिल-तैल प्रयोग भी प्रचलित हो गया। भाष्यकार ने एक स्थान पर तिलों को काकस्पृह कहा है। कौओं से सँभालकर न रखा तो खेत में वे ही उसे समाप्त कर दें। वास्तव में अन्य तेलों के लिए तैल शब्द का प्रयोग औपचारिक ही है।[6] भाष्यकार ने कहा है कि तैल शब्द प्रत्यय है विकार अर्थ में प्रसिद्ध तैल शब्द उससे बिलकुल भिन्न है। इसलिए, 'तिल-तैल' प्रयोग भी ठीक है।

सर्षप—सर्षप की खेती संहिता-काल के अन्त में होने लगी थी। इसका सर्वप्रथम उल्लेख छान्दोग्य (३ १४ ३) षड्विंश ब्राह्मण (५ २) तथा शांखायन श्रौतसू० (४ १५-८) में मिलता है। सर्षप सरसों का नाम है। इसके राग लहटा राई आदि भेद आज भी प्रचलित हैं। भाष्यकार छोटी और बड़ी दो प्रकार की सरसों से परिचित थे।[7] पीत या गौर सर्षप का भी उन्हें ज्ञान था।

मधूक—इसके भैषज्य गुणों की चर्चा सुश्रुत चरक तथा अन्य ग्रन्थों में मिलती है। इससे तैयार की हुई सुरा को मध कहते थे।

गर्मुत—गर्मुत मटर का एक भेद था। जो बिना बोये ही उत्पन्न हो जाता था। तैत्तिरीय (२ ४ ४) तथा मैत्रायणीय (२ २ ४) संहिताओं में गर्मुत और गार्मुत का उल्लेख मिलता है। काठक-संहिता में भी गर्मुत से बनाई हुई वस्तु को गार्मुत कहा है। भाष्यकार ने शारद मधु

---

१ ४ २ १६ पृ० १७७।
२ ३ ३ १ पृ० २९८।
३ १ ३ ११ पृ० ४६।
४ ३-१ १२६।
५ ५-२-२९।
६ ३ २-२८।
७ ५ २ २९ पृ० ३७६।
८ ३-२-५ पृ० ११।
९ तैलशब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्यः। प्रत्ययस्तर्हि तैलशब्दो विकारे वर्तते। एवं च कृत्वा तिलतैलमित्यपि सिद्धं भवति।—५ २ २९ पृ० ३७६।
१० ५ ३-५५ पृ० ४४५।

के साथ माष मुद्ग और तिल का उल्लेख किया है[1], जिससे प्रतीत होता है कि ये तीनों प्रमुख भी थे।

उमा—उमा या अलसी की गणना भी तैल-बीजों के अन्तर्गत है। उमा के तेल का व्यवहार पतंजलि के समय में कितना और किस प्रकार होता था कहा नहीं जा सकता। भाष्य में उमा का उल्लेख है, किन्तु उमा-तैल का नहीं। फिर भी उमा का तेल निकाला जाता था यह अनुमान सरलता से किया जा सकता है क्योंकि उमा-कट (अलसी की खली) शब्द भाष्य में व्यवहृत हुआ है।[2]

अन्य उपजें—इनके अतिरिक्त अलाबु[3] (लौकी) कर्कन्धू (जंगली बेर) उपयोग में आते थे। एक स्थान पर अलाबुकट शब्द भी आया है। भाष्य में अलाबु[4] तिल उमा और भंगा के सार निकले हुए भाग के लिए इन शब्दों के आगे कटच् प्रत्यय का विधान मिलता है, जिससे इन चारों के सार निकाल जाने और उसमें बची हुई रेह के उपयोग और व्यवहार का ज्ञान होता है। इन चारों की रेह का स्वतंत्र महत्त्व रहा है। साथ ही भंगा का स्वतन्त्र वार्तिक में उल्लेख भी इस बात का द्योतक है कि भंगाकट शब्द का प्रचलन बाद में ही प्रारम्भ हुआ था।

सूत्र ६-३-१११ के भाष्य में विभाषाविषय के अन्तर्गत गवेधुका शब्द के पाठ पर भी विचार किया गया है।[5] गवेधुका जंगली धान (Coix barbata) को कहते थे। इसी विभाषाविषय में उपर्युक्त धान्यों के अतिरिक्त मसूर और मापूम का उल्लेख है।

सन—अन्नों के अतिरिक्त कृषि की उपजों में सन का महत्त्व बहुत अधिक था। सन को भाष्य में भंगा कहा है और उसे धान्यों में परिगणित किया है। भाष्य में इस बात पर विचार किया गया है कि उमा और भंगा को धान्य माना जाय या नहीं। तैत्तिरीयसंहिता (चमक ४-७-४) के 'ब्रीहयश्च मे' आदि प्रकरण में जो १२ धान्य गिनाये गए हैं उनमें उमा और भंगा सम्मिलित नहीं हैं। पतंजलि ने इस विषय पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि भले ही अन्यत्र इनकी गणना धान्यों में न की गई हो फिर भी ये धान्य हैं। धान्य शब्द 'धिवि' धातु से बना है, जिसका अर्थ है प्रसन्न करना। और धान्यों के समान उमा और भंगा भी कृषकों को आनन्दित करते हैं इसलिए इन्हें भी धान्य मानना चाहिए अथवा सन को सम्मिलित कर सत्रह धान्य होते हैं। इन सत्रह धान्यों में पाँच मुख्य छह उपस्कारक या सहायक तीन तृणधान्य और तीन अर्थकर हैं। वास्तव में धान्य और अर्थकर इन दोनों प्रकार के धान्यों में इन सब का समावेश हो जाता है। उमा और

---

१ ४-३-११६, पृ० २५०।

२ ५-२-२९ पृ० ३७५।

३ ४-१-६६ पृ० ७६ तथा ६-३-६१ पृ० ३३९।

४ वही।

५ ५-२-२९, पृ० ३७५।

६. ४१ १३६, पृ० २६१।

७. धिनोतेर्धान्यम्। एते चापि धिनुतः। अथवा सप्तदश धान्यानि धान्यानि।—५-२-४, पृ० ३६६।

भंगा अर्थकर धान्य है। भाष्यकार ने उमाकट के साथ ही भंगाकट की भी चर्चा की है। उन्होंने सन की फली का भी नामोल्लेख किया है। सन रस्सी (रज्जु) और कपड़ा दोनों के काम आता था।

कार्पास—यह भारत की अपनी मिट्टी का उपज है और यहीं से शेष विश्व में फैली है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि विश्व के सभी पुरातन राष्ट्रों ने कपास का नाम भारत से ही उधार लिया है। संस्कृत कार्पास से ही हिब्रू का कपास (Kapas) बना। बुक ऑफ् ईस्थर (esther) में इस शब्द का प्रयोग हरित रुई के लिए हुआ है। ग्रीक और लैटिन में इस शब्द का रूप कार्पासोस (carpasos) या कारबासोस (carbasos) हो गया। ग्रीक में सबसे पहले कपास का उल्लेख टेसियस (Ktesias) ने तथा बाद में थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) और हेरोडोटस (Herodotus) ने किया है। उन्होंने इसे वृक्षोर्णा (Wool of tree) कहा है जिससे उनकी एतद्विषयक अनभिज्ञता प्रकट होती है। विश्व में अन्यत्र कहीं इसकी खेती का प्रमाण नहीं मिलता। चीन में सर्वप्रथम १३वीं ईसवी शताब्दी में कपास बोई गई थी। मिस्र में भी कपास की खेती नहीं होती थी। लैसन ने (Lassen) एक बार ममी (Mummy) वस्त्रों के कार्पासीय होने की कल्पना की थी। किन्तु, इस विषय के विशेषज्ञ थोमसन (Thompson) ने उसका खण्डन कर दिया।[1]

भारत में कार्पास का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन श्रौतसूत्र (९ ४ १७) में मिलता है। वैदिक साहित्य में इस शब्द का अनुल्लेख इस बात का द्योतक है कि उस समय तक आर्य लोग दक्षिण या पूर्व कार्पासोत्पादक क्षेत्र तक नहीं पहुँच पाये थे।

भाष्यकार ने अनेक बार कार्पास का उल्लेख किया है। उन्होंने कार्पास की मृदुता की भी चर्चा की है।[2]

कपास की उपज पर्याप्त मात्रा में होती थी। भाष्य में न केवल कार्पास का अपितु वस्त्र बनाने तक की सारी प्रक्रियाओं का उल्लेख है। कपास पींजनी या ओटनी चाहिए, यह वे जानते थे।[4] कपास की मृदुता को उन्होंने उपमान भी बनाया है। 'हल्की होने के कारण वह तुला पर बहुत चढ़ती है। लोहे के बाट की तुलना में तुला पर उसकी ऊँचाई और विस्तार कहीं अधिक होते हैं' यह बात भाष्यकार ने बतलाई है।[5]

इक्षु—इक्षु की उपज भी काफी होती थी। इक्षु की प्रचुरता के स्थान[6] इक्षु बोने की

---

१ जर्नल ऑफ् रॉयल एशियाटिक सोसायटी।—१८९८, पृ० ५५० से।

२ ४ १-५५, पृ० ७०।

३ वही तथा २ ४-२ काशिका।

४ ७-२ ३४ पृ० १३१।

५ इह समाने वर्ष्मणि परिणाहे चान्यत्तुलायां भवति लौहस्यान्यत्कार्पासानाम्।—५ १ ११६ पृ० ३५४।

६ ४-२-७६, पृ० १९४।

शाड़ी[1] और इक्षु-शाकी[2] (इक्षु का खेत) का उल्लेख भाष्य में मिलता है। इसके अतिरिक्त गुड़ की चर्चा बार-बार आई है।[3] गुड़धाना जो इसका बहुत प्रिय और प्रचलित भोजन जान पड़ता है, बिना गुड़ के बन ही नहीं सकता था। गुड़ खाने की स्वतन्त्र चर्चा भी है। शर्करा का भी प्रचार था जो ईख की खेती व्यापक परिमाण में किये जाने का प्रमाण है।

मूलक—मूली[4] गाजर[5] आदि पदार्थ भी खाद्य के घटक में थे। इनकी उपज का भी पता भाष्य से चलता है।

कुस्तुम्बुरु—कुस्तुम्बुरु धनिये को कहते थे। इन सबकी गणना शाक के अन्तर्गत है। भाष्य में शाकिन् और पलाशिन् का उल्लेख हुआ है। ये बड़े शाक या बड़े पलाश के बोधक थे।

हरिद्रा—हरिद्रा की खेती भारत में बहुत प्राचीन काल से होती आई है।[6] और यहीं से यह अन्य देशों में फैली है। संस्कृत से फारसी में जाकर यह बलहर्द बन गई।

द्राक्षा—द्राक्षा ईसा-पूर्व सातवीं शती में भी उत्पन्न की जाती थी। कपिशा की द्राक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध थी। वाट (Walt) के अनुसार भारत के पाँच मधुर पौधों में इक्षु और द्राक्षा मुख्य थे। इक्षु का उल्लेख अथर्ववेद (१ ३४-५) तक में मिलता है। इक्षु से शर्करा बनाने की प्रथा बहुत पुरानी है। अरबी का शक्कर, लेटिन का सक्करम् (Saccharum) फ्रेंच का सुक्रे (Sucre) और इंगलिश का सुगर (Sugar) शर्करा से ही बना है।

शण—शण का उपयोग रस्सी बनाने के लिए होता था। यह भी भारत की अपनी उपज थी। अथर्ववेद (२ ४-५) में इसे आरण्य कहा है। शतपथ-ब्राह्मण (३-२-१-२) तथा अन्य सूत्र-ग्रन्थों में शण का उल्लेख है। शण और उमा (क्षौम) वैदिक काल से ही कृषि की उपज में सम्मिलित थे।[10] वाट (Walt) ने पृ० ७२०-२१ पर इसका उल्लेख किया है। सुश्रुतसंहिता में भी उमा या अलसी के तेल की भैषज्य उपयोगिता का प्रतिपादन है।

पिप्पली—भाष्य में पिप्पली और अर्धपिप्पली शब्द आये हैं।[11] लैसेन ने ग्रीक पेपेरी (peperi) और लैटिन पिपेर (piper) को संस्कृत पिप्पली का ही अपभ्रंश रूप माना है।

---

१ ८-४-८, पृ० ४७९।
२ ५-२-२९ पृ० ३७६।
३ १ ४-५०, पृ० ३७४।
४ ५-२ १०५, पृ० ४१६।
५ ४ १ ४८, पृ० ३१।
६ ४ ३-१३३ पृ० ३०२।
७ ५-१ १४३।
८ ४-२-९, पृ० ३११।
९ ५ ३-१०९, पृ० ४२४।
१० ५-२ ४ पृ० ३११
११ १ २-४४, पृ० ५२४ तथा पुंपिप्पल्या ओषधीत्वकृति।—३ १-८९, पृ० ३३३।

बहुत प्राचीन काल से दक्षिण भारत के पश्चिमी किनारे पर इसकी खेती की जाती रही है।[1] मिस्रियों तथा हिब्रू लोगों को पिप्पली का ज्ञान नहीं था। पाश्चात्य लोगों को द्रविड़ व्यापारियों द्वारा इसका पता चला। यह भारत से निर्यात होनेवाली महत्त्वपूर्ण वस्तु थी जिससे भारत को बड़ा आर्थिक लाभ होता था। प्लिनी के अनुसार एक पौण्ड पीपल के लिए १५ दीनार मिलते थे।[2] अलरिक (Alaric) ने रोम के घेरे को दूर करने के लिए सोने और चाँदी के साथ ३००० पौण्ड पीपल माँगी थी।[3]

शृंगवेर—शृंगवेर या अदरक भारत की मूल उपज थी। यहीं से इसका प्रचार अन्य देशों में हुआ। अरबी जंजबुल (Janjabul) तथा ग्रीक ज़िंजिबेर (Zingiber) को कुछ लोग शृंगवेर शब्द का मूल द्रविड़ रूप मानते हैं और कुछ लोग इसे संस्कृत शृंग तथा द्रविड़ बेर की खिचड़ी से बना हुआ ठहराते हैं। भाष्यकार ने शृंगवेर का स्वाद गुड़ का ठीक विरोधी और कटु बतलाया है।

केसर—पाणिनि के किसरादि गण में केसर, नलद, नरद आदि शब्द आये हैं। केसर का मूल स्थान कुछ लोग दक्षिण-पश्चिम यूरोप मानते हैं। भारत में इसका उत्पादन कश्मीर तक सीमित रहा है। सुश्रुतसंहिता तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में कुंकुम का उल्लेख मिलता है।

नलद—नलद या जटामांसी बारहों महीने रहनेवाला पर्वतीय तृण था। वहीं से यह देश के अन्य भागों में फैला। वैदिक साहित्य तक में इसका उल्लेख मिलता है। चिकित्सा-शास्त्र के ग्रन्थों में बार-बार इसका उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में आशुंमि, अराटकी और तीक्ष्णशृंगि (सुगंधित द्रव्य) के साथ नलद या नलदि नाम आया है। नरद भी नलद के समान ही सुगन्धित एक घास की जाति का तृण था जो भारत से रोम के बाजारों को भेजा जाता था और वहाँ प्रति पौण्ड ४ से ७५ दीनार (Denarie) तक के भाव बिकता था। नरद का प्लिनि के अवलेखों में प्रमुख स्थान था।

रामायण और चरकसंहिता तक में उल्लिखित लवंग शब्द भाष्य में नहीं मिलता और न एला की ही चर्चा भाष्य में हुई है।

तृण—सामान्य तृणों में शर, मूंज और काण्ड खेत की मेंड़ पर या परती भूमि में उत्पन्न कर लिये जाते थे। शरकाण्ड के दो नाम होते हैं—शर और काण्ड। शर (सर) पर छाने के काम में आते थे और काण्ड (डण्डी) का प्रयोग छप्पर में लकड़ी के स्थान पर किया जाता रहा है। शरकाण्ड की अपरिपक्व अवस्था में उससे मूंज निकाली जाती थी। इसी मूंज की मेखला बनती थी जिसे मौञ्ज-मेखला कहते थे। यज्ञोपवीत-संस्कार के समय ब्रह्मचारी को मूंज की मेखला पहनाई जाती थी। कार्पास-सूत्र के यज्ञोपवीत के प्रचलन से पूर्व मौञ्ज धारण की ही प्रथा थी। महाराष्ट्र में आज भी उपनयन को मुंज ही कहते हैं। कूटी हुई, अर्थात् काण्ड निकाली हुई मूंज

---

१ स्कार्फ़ : पैरिप्लस पृ० २१३ से।
२ प्लिनी, १२.१४।
३ गिबन डिक्लाइन एण्ड फॉल अध्याय ३१।
४ ८४-८ पृ० ४७९।

को विपुम कहते थे।[1] काष्ठों के लाने में परिश्रम और समय दोनों अधिक लगते थे। पतंजलि ने काष्ठलाव का पृथक् उल्लेख भी किया है।[2] काष्ठ और घास के बड़े-बड़े पूल बाँधे जाते थे। इनकी ढुलाई का उल्लेख ऊपर हुआ ही है।

घास और भुस आग सुलगाने के काम आते थे।[3] ये आग को शीघ्र पकड़ते हैं।

खाद—कृषि के लिए खाद अत्यावश्यक है। यह कृषि का खाद्य है। चिरकाल से गोबर का उपयोग खाद के लिए होता आया है। भाष्य में गोमय शब्द कई बार आया है। आरण्य गोमय आर्द्रगोमय और शुष्कगोमय का उल्लेख भाष्यकार ने किया है। उन्हें ज्ञात था कि गोलोम[4] और अविलोम मिट्टी में मिलाने से उससे दूर्वा उत्पन्न होती है[5] और गोबर (विशेषतः भैंस का गोबर) से बिच्छू पैदा होते हैं।

---

१ ३-१ १७।
२ १ २-१।
३ २-१ ११, पृ० २८४।
४ १ २-२४ पृ० २२४।
५ गोमयाद्वृश्चिको जायते।—१ ४ ३०, पृ० १११।
६ गोलोमाविलोमयोर्दूर्वा जायन्ते। अपक्रामन्ति तास्तेभ्यः।—वही।

अध्याय २

वन-सम्पत्ति

वन का अर्थ—भाष्य में विशिष्ट और सामान्य दोनों अर्थों में वन का उल्लेख हुआ है। सामान्य वन के विषय में यत्र-तत्र जो चर्चा है, उससे वनजीवन-सम्बन्धी बहुत-सी सामग्री प्राप्त होती है। यथा—आरण्यक मार्ग आरण्यक विहार (मठ या आमोद-प्रमोद) आरण्यक मनुष्य आरण्यक[1] हस्ती आरण्यक गोमय (गोबर) और आरण्यक पुष्प।[2] इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि अरण्य पूर्णतः निर्जन नहीं थे। उनमें मनुष्य रहते थे। वन सर्वथा अगम्य भी नहीं थे। लोग उनमें होकर जाते-आते थे। विहार, मनोविनोद आखेट आदि के लिए वनों का भ्रमण साधारण बात थी। वनों से पकड़कर हाथी नगरों में लाये जाते थे और वहाँ प्रशिक्षित किये जाते थे। बड़े अरण्य को अरण्यानी कहते थे।[3] अरण्यानी अगोष्पद कही जाती थी क्योंकि उसमें गौ के संचार की सम्भावना तक नहीं होती थी। वैदिक इण्डेक्स (१ ११) के अनुसार ऋग्वेद में अरण्य शब्द ग्राम और कृष्य भूमि के विरोध में आया है, जिसमें चोर छिपते थे और मुनि निवास करते थे। उसमें अरण्यानी का प्रयोग वन-देवता के लिए हुआ है। पुष्प भी दो प्रकार के होते हैं—ग्राम्य और आरण्य। भाष्यकार यह जानते थे। वन्य पुष्प अपेक्षाकृत छोटे आकार के एवं कम गन्धवाले होते हैं। पक्षी वन में ही आनन्दित रहते हैं। सघन हरीतिमा का उन्मुक्त मादक वातावरण उनके प्राणों में उल्लास और कण्ठ में मधुरिमा उड़ेल देता है। पंछी किसी कारण से वन छोड़कर बस्ती में आ भी गया तो भी उसका मन वन की ओर उड़ता रहता है। भाष्य में कहा है कि 'कोकिल वन-कुसुम का स्मरण करता है या वन-कुसुम स्वयं कोकिल का स्मरण करता है।[5] एक स्थान पर वनराजि को लक्ष्य कर उसे कोस भर तक रमणीय कहा है।[6] कोई प्रिय अतिथि जब वापस लौटता था या कोई आत्मीय जन परदेश जाता था तब लोग वन की सीमा प्रारम्भ होने तक उसे भेजने जाते थे या उदक-स्थान तक भेजकर लौट आते थे। अधिक-से-अधिक द्वितीय या तृतीय वन-श्रेणी तक साथ जाने की प्रथा थी। वन वृक्ष-समूह को कहते थे। वनगुल्म

---

१ ४-२-११६, पृ० २२१।

२ ४-२-१०४, पृ० २०४।

३ ४ १ ४९, पृ० ३३।

४ अगोष्पदान्यरण्यानि।—६-१ १४५, पृ० ११२।

५. १ १-६७ पृ० ८०।

६ २ ३-५, पृ० ४०९।

७. लोके भावनामातारोव्रजन्तम् प्रियं पाथ्यमनुव्रजेत्। द्वितीयं तृतीयं च वनान्तमुदकान्तं वाऽनुव्रजति।—१-४-७६, पृ० १८०।

अर्थ में भी केवल वन शब्द का प्रयोग होता था। यह आवश्यक नहीं था कि वन कोस-दो कोस तक फैला ही हो। बाग और बगीचे तक वन कहलाते थे। इसलिए बस्ती से बाहर की झाड़ियाँ और एकत्र वृक्ष-समूह सामान्यतया वन वाच्य था। वन का पर्यायवाची अरण्य शब्द जो अरणि (पारस्परिक रगड़ से आग उत्पन्न करनेवाली लकड़ी) से बना है इस बात का द्योतक है कि प्राचीन काल में वन एक वृक्ष के लिए भी प्रयुक्त होता था। 'वन-गुल्म' शब्द भी जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, इसी कथन की पुष्टि करता है। ऋग्वेद में भी वन शब्द का प्रयोग वृक्ष-अर्थ में मिलता है। आगे चलकर जब वन वृक्ष-समूह का बोधक बन गया तब धीरे-धीरे उसमें समूह अर्थ का प्राधान्य हो गया और वृक्ष अर्थ गौण पड़ गया। तब तृण, लता, औषध तथा सभी का समूह वन कहलाने लगा। इसीलिए 'तृणवन' प्रयोग भी ग्राह्य हो गया। बस्ती से दूर होने के कारण लाक्षणिक रूप से वन का अर्थ परदेश या दूर प्रदेश भी था।[1] गुल्म अर्थ में क्षुपाग्र शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[2]

अनेक वनों के समुदाय को कुण्ड कहते थे। भाष्य में कहा है—'कुण्डादि के उदात्त करने में उनके समुदाय का ग्रहण करना चाहिए। यदि कुण्ड शब्द वन-समुदाय का बोधक हो तभी उदात्तत्व होगा। यहाँ वनों से तात्पर्य है मन्म।

वन—पतञ्जलि ने वन शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है—(१) प्राकृतिक रूप से विकसित वृक्ष, लता-गुल्म आदि के समूह, यथा अमशिक वन, शिरीष-वन। इनकी वृद्धि और विस्तार में मानव प्रयत्न अपेक्षित नहीं था। (२) मनुष्य द्वारा रोपे और संरक्षित किये गये उपवन, यथा आम्रवन, कदलीवन। इन्हें रोपकर, नियमित सींचकर संरक्षित करना पड़ता था। भाष्य में चारों ओर से काँटों का घेरा बनाकर वृक्षों की रक्षा का उल्लेख किया गया है।[3] विस्तार की दृष्टि से गुल्म, वन, अरण्य और अरण्यानी उत्तरोत्तर बड़े थे।

वृक्षादि सम्पत्ति भी कई भागों में विभाजित थी। वृक्षों में पुष्प और फल दोनों होते हैं। वनस्पति शब्द उन बड़े-बड़े वृक्षों के लिए प्रयुक्त होता था जिनमें फल आते थे। ओषधि शब्द का प्रयोग छोटे पौधों और जड़ी-बूटियों के लिए होता था जिनमें फल नहीं होते। फैलने या पौढ़नेवाली छोटी-छोटी वनस्पति लता, वल्लरी, प्रतति या वीरुध कहलाती थी। इसके फैलाव या झुरमुट को प्रतान कहते थे।[4] दूर्वा, शर, दर, तिमिर आदि फल-फूल एवं विधी घास-जैसी तृणराशि इसमें थी।[5] 'विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः' (८।४।६) में पाणिनि ने भी ओषधि और वनस्पति में भेद किया है। काशिकाकार ने ओषधि का उदाहरण दूर्वावणम्, मूर्वावणम् तथा वनस्पति का शिरीष-वणम्, बदरीवणम् दिया है। इस सूत्र में उन्होंने देवदारु-वन, भद्रदारु-वन, इरिका-वन तथा तिमिरिका

१ ऋग्० ७-१ १९।
२ १ १-५० पृ० १०१।
३ परिवारकाणि कण्टकवेतिम्।—१-१-८७ पृ० २५५।
४ ३-१ १४० पृ० २२२
५ फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः।
ओषध्यः फलपाकान्ता लतागुल्माश्च वीरुधः॥—८ ४ ६ काशिका।

वन का भी नाम-ग्रहण प्रत्युदाहरण के रूप में किया है। पाणिनि ने भी 'पाककर्णपर्णपुष्पमूलफल बालोत्तरपदाच्च' (४ १ ६४) सूत्र वृक्ष के प्रायः सभी अंगों का परिगणन कर दिया है। वृक्षों की सूखी लकड़ी को सुषिर[1] कहते थे।

वृक्षों के नाम वैज्ञानिक आधार पर रखे गये थे। वृक्षों के नाम उनके मूल तनों पत्तों शाखाओं फूल एवं फल के आधार पर निश्चित किये गये थे। वे सब सार्थक होते थे। पुष्पों और फलों के नाम वृक्षों के आधार पर होते थे। जो नाम वृक्ष का होता था वही उसके फल और फूल का। उदाहरणार्थ वृक्ष भी कदली और फल भी कदली कहलाता था। फल नपुंसकलिंग होता था वृक्ष भले ही पुंल्लिंग हो। लिंग भेद द्वारा ही सामान्यतया फल और वृक्ष में भेद किया जाता था। यथा आम्र (वृक्ष) पुंल्लिंग है किन्तु आम्र (फल) नपुंसकलिंग। इसके अपवाद भी यदा-कदा मिलते थे यथा कदली। भाष्यकार ने फलार्थ में होनेवाले प्रत्यय के लुक की व्यर्थता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि वृक्ष का परिणाम फल में होता है। वृक्ष की ही चरम परिणति फल में है। वृक्ष और उसके अवयवों का भाष्यकार ने उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि चलनेवाला वृक्ष अपने अवयवों के साथ ही चलता है। वृक्ष कहने पर एक शब्द सुनाई देता है।[2] वृक्ष अकारान्त है और सकार प्रत्यय है। उससे एक अर्थ का भी बोध होता है और वह यह कि वह एक है और उसमें जड़ तने फल और पत्ते हैं। भाष्यकार ने वृक्षों के दो मुख्य भेद किये हैं—क्षीरी और कण्टकी।[3]

वृक्षों में निम्नलिखित के नाम महाभाष्य में आये हैं—

न्यग्रोध (Ficus indica)—यह बट का दूसरा नाम है। न्यग्रोध क्षीरीवृक्षों के अन्तर्गत है। इसकी जड़ें नीचे की ओर फैलती हैं और जटाएँ भी निम्नगा होती हैं। जटाएँ नीचे की ओर फैलकर वृक्ष का रूप ले लेती हैं, इसीलिए इसका नाम न्यग्रोध है अर्थात् नीचे की ओर फैलनेवाला। इसके पत्ते बड़े और मोटे होते हैं। इसे अवरोहवान् क्षीरी और पृथुपर्ण कहा है।[5]

प्लक्ष (Ficus infectoria)—प्लक्ष भी न्यग्रोध के समान क्षीरीवृक्ष है। इसकी भी प्रवृत्ति न्यग्रोध के समान नीचे की ओर फैलने की है। भाष्यकार ने प्लक्ष की व्युत्पत्ति पर शंका करते हुए कहा है कि यदि क्षरण (दुग्ध-स्राव) के कारण इसका नाम प्लक्ष माना जाय तो न्यग्रोध को भी प्लक्ष कहना चाहिए क्योंकि दूध तो न्यग्रोध से भी निकलता है और यदि नीचे की ओर फैलने के कारण बट का नाम न्यग्रोध हो तो प्लक्ष का भी नाम न्यग्रोध होना चाहिए क्योंकि प्लक्ष

---

१ ५-२ १०७।

२ वृक्ष इत्युक्ते कश्चिच्छब्दः श्रूयते वृक्षशब्दो अकारान्तः सकारश्च प्रत्ययः अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते मूलस्कन्धफलपलाशवानेकश्च।—१ २ ४५, पृ० ५११।

३ ५ २ ९४ पृ० ४०९।

४ २ २-२९, पृ० ३८३।

५ ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधाः।—१ १-५६, पृ० १४२।

भी नीचे की ओर फैलता है।[1] इसलिए, ये शब्द वृक्ष-विशेष के लिए रूढ़ मानने चाहिए। भाष्य में प्राय: प्लक्ष और न्यग्रोध का उल्लेख साथ-साथ ही हुआ है।[2] एक स्थान पर कहा है कि प्लक्ष भी द्वयर्थक है और न्यग्रोध भी। अर्थात्, इनका एक अर्थ रूढ़ है और एक व्युत्पत्ति-जन्य। प्लक्ष का फल भी न्यग्रोध के समान छोटा-सा होता है। इसे पाकर कहते हैं।

खदिर (*Acocia catechu*)—यह कत्थे का वृक्ष है। इसकी चर्चा भी प्राय: प्लक्ष और न्यग्रोध के साथ ही मिलती है।[3] इसके तनों की लकड़ी सफेद रंग की होती है और पत्ते छोटे-छोटे होते हैं। खदिर में काँटे होते हैं।[4] इसकी लकड़ी बहुत कड़ी होती है। जलाने पर इसके कोयले खूब दहकते हैं।[5] इसीलिए, भाष्यकार ने इनकी उपमा तुरन्त बने हुए सुवर्ण कुंडलों से दी है। खदिर से ही खैर या कत्था तैयार होता है जिसका उपयोग पान के साथ तथा औषध के रूप में होता है। इसे खदिरसार कहते हैं।[6] खदिर की लकड़ी यज्ञ-स्तम्भ या यज्ञयूप के ऊपर अँगूठी के आकार का चषाल बनाने के काम आती थी।

पलाश (*Butea frondosa*)—पलाश या टेसू प्राचीन काल से अति प्रसिद्ध तथा उपयोगी वृक्ष रहा है। उसके पत्ते तथा लकड़ी दोनों का उपयोग धार्मिक कृत्यों में होता है। यज्ञ में पलाश की समिधाएँ काम आती हैं। प्लक्ष-न्यग्रोध के साथ पलाश का उल्लेख भाष्य में अनेक बार हुआ है।[7] दण्ड माणव (विद्यार्थी) पलाश का ही दण्ड साथ रखते थे। यों पलाश शब्द का व्यवहार पर्ण अर्थ में भी होता था। भेड़-बकरी पालनेवाले पलाश-चयन करते थे।[9] पत्ते काटने के लिए एक औज़ार होता था जिसे पलाशशातन कहते थे।[10] यह हँसिया या इसके समान होता होगा। पलाश में पत्ते अधिक होते हैं और वे ही विशेष काम में आते हैं। इसलिए लाक्षणिक रूप से पलाश शब्द बाद में पलाश-पत्र के अतिरिक्त सामान्य पर्ण अर्थ में व्यवहृत होने लगा।[11] पलाश में फूल बहुत लाल होते हैं। मानों उन्हें स्रष्टा ने अपने हाथ से रँगा हो।[12]

---

१ २ २-२९, पृ० ३८३।

२ ५ ३-७२, पृ० ४००।

३ २ १ १ पृ० २५७।

४ खदिरबहुरी गौरकाण्डी सूक्ष्मपर्णा। ततः पाककाष्ठ कण्टकवान् खदिर इति — १ १ ४६, पृ० २८३

५ आ० १ पृ० १६

६ ३-१ १७, पृ० २९५

७ ५ ३-२, पृ० २९६।

८ ४ ३ १५५, पृ० २६६।

९ २-१ १ पृ० २५७।

१० ३-३-१२३, पृ० ३१९।

११ ९ ३-८, पृ० १४२।

१२ २-२-२४, पृ० ३५७।

[illegible] देवदत्तः किंशुकः।—३-१-७९, पृ० ११९।

भाष्यकार ने व्याकरण पढ़ने का फल पलाश का शुद्ध उच्चारण कर सकना भी माना है।[1]

बर्बुर—तने की सफेदी एवं पत्तों की छोटाई में बर्बुर खदिर के समान ही होता है। अन्तर इतना है कि खदिर में काँटे होते हैं किन्तु बर्बुर में नहीं।[2] बर्बुर ओषधि-वर्ग के वृक्षों में है।

शमी (Prosopios Spicigera Mimosa Suma)—शमी की लकड़ी बहुत कड़ी होती है। प्राचीन लोगों का विचार था कि शमी में अग्नि रहती है। शमी यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के काम आती थी। शमी का छोटा वृक्ष शमीर कहलाता था।[3] शमी से उत्पन्न हुई वस्तु शमील कही जाती थी[4] जिसे शामील या शामीली (स्त्री) भी कहते थे।[5]

वंश—काश और कुश के साथ भाष्यकार ने वंश का उल्लेख किया है।[6] बाँस के लम्बे लट्ठे को वंशस्तम्ब कहते थे। बड़ी-सी वस्तु से छोटा-सा काम लेने के अर्थ में एक-एक कहावत ही चल पड़ी थी—वंशस्तम्ब से लट्टा खींचना। वंश वृक्ष है और वेणु उसका काष्ठ।

शिरीष (Anacia Sirisa)—यह शीशम का एक भेद है, यद्यपि यह उससे बहुत बड़ा होता है। शिरीष के वृक्ष बड़ी संख्या में गाँवों के पास पाये जाते थे। आज भी गाँवों के किनारे खेतों और बागों की मेड़ों पर शिरीष रोपने की प्रथा है।[8] प्राचीन लोग वृक्षों में भी जीव मानते थे और उनमें सामान्य प्राणि-क्रियाओं का दर्शन करते थे। उन्होंने शिरीष को सोते हुए देखा था।[9]

शाल (Vatica Robusta)—शाल अपनी लकड़ी के लिए प्रसिद्ध है। यह बहुत मजबूत और टिकाऊ होती है। शाल के वृक्ष झुण्ड-के-झुण्ड एक साथ वन के रूप में उगते हैं।[10] भाष्यकार ने शालमार (Asa Foetida) का भी उल्लेख किया है।[11] शाल के आधार पर व्यक्तियों के शालपुष्प आदि नाम रखे जाने का पता भाष्य से चलता है।[12]

शिंशपा (Delbergia Sissoo)—शीशम का नाम है।[13] यह ऊँचा वृक्ष अपनी लकड़ी

---

१ आ० ९, पृ० ३१।

२ खदिरबर्बुरयोः खदिरबर्बुरौ गौरकायौ सूक्ष्मपत्रौ। ततः पश्चादाह। कण्टकवान् खदिर इति।—१ १ ४६ पृ० २८३।

३ ५ ३-८८, पृ० ४०६।

४ ४-२-८०, पृ० २०४।

५ ४ ३-१४२।

६ १ १ ११ पृ १८२।

७ सोऽयं महतो वंशस्तम्बाल्लट्वाकृष्यते।—आ० २ पृ० ५२।

८ १-२-५१ पृ० ५५०।

९ ३-१-७ पृ० ३०।

१० १ १ १ पृ० ९१।

११ ३ ३ १७ पृ० २९५।

१२ १ १ १ पृ० ९१।

१३ २-१-५७ पृ० ३३७।

की मजबूती के लिए प्रसिद्ध है। कभी-कभी शिंशपा इतना ऊँचा बढ़ जाता है कि आकाश चूमने लगता है।[1] वृक्ष से भिन्न अन्य किसी वस्तु का नाम शिंशपा नहीं होता।[2]

पीलु (Cereya Arborea or Salvadora Persica)—एक विशेष वृक्ष का नाम है। कुछ लोग खजूर को ही पीलु मानते हैं। पीलु का फल भी पीलु कहा जाता था।[3] यद्यपि वृक्ष पुंलिङ्ग, किन्तु फल नपुंसकलिङ्ग होता है। जिस मौसम में पीलु पकते थे। उसे पीलुकुण कहते थे।[4] पीलु के मूल के पास दी हुई वस्तु या किया हुआ काम पैलुमूल होता है।

सप्तपर्ण (Alstonia Scholaris)—इसमें सात-सात पत्तों के गुच्छे होते हैं।[5] यह भी क्षीरीवृक्ष है। इसका पुष्प बहुत सुगन्धित होता है।

कारस्कर—यह एक जहरीला पौधा होता है जो औषधि के रूप में काम आता है।[7]

देवदारु (Pinus Devadru)—देवदारु को सरल भी कहते हैं क्योंकि यह सीधा ऊपर की ओर बढ़ता है। देवदारु की लकड़ी यज्ञ-समिधाओं के काम आती थी। देवदारु चीड़ (Pinus Longifolia) का एक भेद है। यह बहुत लम्बा होता है। इसकी लकड़ी काटकर बहुत-से अन्य कामों में भी लाई जाती है। भाष्य में देवदारु-वन का उल्लेख है।[8] देवदारु देव-वृक्ष माना जाता था। मन्दार, पारिजात सन्तान, कल्प-वृक्ष और हरिचन्दन ये पाँच देववृक्ष गिने जाते थे। इसी प्रकार अश्वत्थ आदि सात ब्रह्मवृक्ष कहे जाते थे।[9] देवदारु की लकड़ी देवदारव कही जाती थी।[10]

बिभीतक—इसके [illegible] फलों का उपभोग होता था। इसकी लकड़ी का यज्ञयूप भी बनता है, जिसे वैभीतक कहते थे।[11]

गुग्गुल—गुग्गुल अपनी गन्ध के लिए प्रसिद्ध है।[12] पर यह गन्ध तीव्र नहीं होती।[13]

ऋषभ—यह एक विशिष्ट औषधीय वनस्पति है। यह नदी के किनारे अधिक होती है

---

१ ५ १ २, पृ० २९७ ।
२ ५ १-२, पृ० २९७ ।
३ ७-३-७४ पृ० ७२ ।
४ ५ १-९७, पृ० ३४४ ।
५ पर्णानि पर्णानि सप्तपर्णान्यस्य सप्तपर्ण ।—८ १ १ पृ० २१० ।
६ ५ १ १५७, पृ० १२४ ।
७ १ १ १७, पृ० १८० ।
८ ८-४ ३, पृ० ४७८ ।
९ सप्तैताः देववृक्षाः ।—५ १-५८, पृ० ३२६ ।
१० ४ ३-१३६ ।
११ ५ १-२ पृ० २९६ ।
१२ २-२-८, पृ० ३४३ ।
१३ २-२-८, पृ० ३४३ ।

और कगार के ढाहने में सहायक का काम करती है।[1] सम्भवतः इसकी जड़ें कूल में दरार पैदा कर देती हैं। भाष्य में प्रचुर न्यग्रोधवाले वन का उल्लेख मिलता है।[2]

कंक—आम का एक भेद है।

कुरर (Capparis Aphylla)—वृक्षविशेष। भाष्य में कहा है कि वृक्ष से पत्ता गिरता है।[3] पत्ता नहीं कंक या कुरर का पत्ता गिरता है। कंक और कुरर पक्षी भी होते हैं। उनके पंख को लेकर भी सन्देह होता है।

खद—एक फलवान वृक्ष है जिसकी लकड़ी की शम्या (एक यज्ञपात्र) बनाई जाती थी। इससे खूँटी या बैल के जुये में किनारे पर डाली हुई लकड़ी जो बैल को जुये से बाहर निकल जाने से रोकती है बनती थी।

आम्र—यह फलवृक्ष है। आम्र के फल को भी आम्र कहते हैं। सेवा-सिंचन द्वारा आम्र के पेड़ बड़े हो पाते हैं। फलों के लिए आम्र सेवा चाहते थे। भाष्य में 'एक पन्थ दो काज' के अर्थ में एक कहावत दी है[5] आम भी सिंच गये और पितर भी प्रसन्न हो गये। इसे द्विगत हेतु कहते हैं। इससे अनुमान होता है कि लोग दैनिक तर्पण आम्र के आलवाल में कर लेते थे। आम्र के बगीचे गाँवों के चारों ओर लगाने की प्रथा थी और आज भी है।[6] एक स्थान पर कहा है कि ग्राम के पेड़ गाँव के पूर्व की ओर हैं। 'पूछे खेत की कहे खलिहान की' इस अर्थ में आम्र को लेकर एक कहावत[7] चल पड़ी थी—'पूछी आम की कही कोविदार की'। आम्रफल से बनी हुई खाद्य पेय वस्तुओं को आम्रमय कहते थे। व्यक्तियों के नाम तक आम्र के आधार पर रखे जाते थे। यथा आम्रगुप्त शालगुप्त। इनकी सन्तान 'आम्रगुप्तायनि' कहलाती थी।[8]

कदली (Musa Sapientum)—कदली का फल तो उपयोगी है ही उसका स्तम्भ पुण्य कार्यों में काम आता था। कदलीस्तम्भ काटना दूषित नहीं माना जाता था।[9]

बदरी—बदरी का फल बदर कहलाता था।[10] बेर खाने का प्रचार प्राचीन भारत में अधिक मालूम होता है। द्रोण भर बदर एकत्र कर रखे जाने की चर्चा एक स्थान पर उदाहरण रूप में आई है।[11] इतना ही नहीं लोग बेरों को सुखाकर पेटियों और पिटारियों में रखते थे।

---

१ न्यग्रोधं कूलमुद्रुजम् न्यग्रोधं कूलमुद्रुहम।—१-४-८० पृ० १९९।
२ १-४-१० पृ० १९१।
३ १-४-२१ पृ० १५५।
४ २-१-१ पृ० २५८।
५. आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः।—८-२-३ पृ० ३१६।
६ १-१-५६, पृ० १४२।
७. आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे।—१-२-४५, पृ० ५३२।
८. ४-१-१५६, पृ० २६१।
९. १-१-१ पृ० ९२।
१० आ० २, पृ० ४८।
११ ५-२-५, पृ० ३१६।
१२ वही।

भाष्यकार ने तद्गुणता का उदाहरण देते हुए कहा है कि बेरों की पिटारी में कोई ताँबे की कटोरी या पात्र रख दिया जाय तो वह भी बेरों से भरा हुआ दिखने लगेगा।[1]

बदर का वृक्ष बदरी कहलाता था। इसमें नन्हें-नन्हें काँटे होते हैं। यह मधुर फलवाला वृक्ष है। भाष्यकार ने बदरी की परिभाषा उक्त प्रकार से दी है।[2] बदरी से बनी वस्तु बादर होती है।[3]

बिल्व—बिल्व की गणना फल और औषध दोनों प्रकार के वृक्षों में है। बिल्व का फल भी बिल्व (नपुं०) कहलाता है। बिल्व से बनी वस्तु या उसके अवयव को बैल्व या बिल्वमय कहते हैं। जिस भूमि में बिल्व के पेड़ लगाये जाते थे उसे बिल्वकीय कहते थे। बिल्वकीय से भावार्थ में बिल्वक शब्द बनता है। बैल्वक बिल्व-भूमि में उत्पन्न किसी भी वृक्षलता आदि को कह सकते हैं। बिल्व-वृक्षों का समूह बिल्व-वन होता है और उसमें रहनेवाले बैल्ववन।[4]

कपित्थ—यह ओषधि-वर्ग का वृक्ष है। कपित्थ का रस ओषधि के काम आता था।[5]

पिप्पल (Ficus religiosa)—यह प्लक्ष न्यग्रोध-वर्ग का क्षीरीवृक्ष है।[6]

कद्रुबदरी—एक पौधे का नाम है। भाष्य में एक ग्राम का उल्लेख है जिसका नाम कद्रुबदरी के समीप होने के कारण कद्रुबदरी हो गया था।[7]

हरीतकी—यह ओषधि-वर्ग की वनस्पति है। इसके फल भी हरीतकी कहलाते हैं।[8]

दाडिम—फलवृक्ष है। इसके फल भी दाडिम (नपुं०) कहलाते थे।[9]

आमलकी—आमलकी का फल आमलक होता है।[10] आमलकी आदि के (Embbia Myrabalan) के फल पकने पर लाल और पीले पड़ जाते हैं।[11] फिर भी वे आमलक और बदर ही रहते हैं। आमलकी से उत्पन्न फल या अन्य वस्तुओं के लिए आमलकीय शब्द आया है।[13] बदर और आमलक का उल्लेख कई बार साथ-साथ हुआ है।[14]

---

१ बदरपिटके रिक्तको लोहकंसस्तद्गुण उपलभ्यते।—१-२-१०, पृ० ५०३।

२ बदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वृक्ष इति।—१-२-५२, पृ० ४३५।

३ ६-४-१५३ पृ० ४९१ तथा ४-३-१३६, पृ० २६१ तथा ४-३-१४३, पृ० २६३।

४ ६-४-१५३, पृ० ४९१।

५ ४-२-५१, पृ० १९४।

६ ४-३-१३६, पृ० २६६।

७ आ० २, पृ० ११।

८ १-२-५१, पृ० ५५०।

९ १-२-५२ पृ० ५५५।

१० १-१-१ पृ० २४।

११ १-१-५८ तथा आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्त्यामलकं बदरमित्येव भवति।—५-१-११९, पृ० ३५५।

१२ वही।

१३ ६-२-८२, पृ० २७४।

१४ २-४-१२, पृ० ४११।

जम्बू—जामुन को कहते थे। इसका फल भी जम्बू कहा जाता था।[1]

पिप्पली (Peper Langum)—पीपल के वृक्ष और फली दोनों को पिप्पली कहते थे।[2] पिप्पली का आधा भाग अर्धपिप्पली कहलाता था।[3]

उदुम्बर—उदुम्बर या गूलर का फल लाल होता है। भाष्य में कहा है कि उदुम्बर में लाल फल पकता है। इसीलिए, तांबे के लोटे को भी उदुम्बरवर्ण कहा है।[4] यह साम्य उदुम्बर फल के रंग से ही है।[5]

शृंगवेर—अदरक का पुराना नाम शृंगवेर था। यही शब्द सोंठ के लिए भी प्रयुक्त होता था। इसका स्वाद तीखा कड़ुवा होता है।

कोषातकी (Trechosanthes diocca or Luffa ocutangulla or Luffa Pentendra)—धतूरे का दूसरा नाम है। इसके फल को भी कोषातकी या कोषातकिका कहते हैं।

गुग्गुलु—ओषधि-वृक्ष है।[7] इसका गोंद ओषधि-रूप में व्यवहृत होता है।

मधु—महुए का वृक्ष है। इसे मधूक भी कहते हैं।[8] इसके फल उपयोगी होते हैं।

मौली—यह भी ओषधि वनस्पति है।[10] इसकी खेती की प्रथा रही है।

कोविदार (Bohinia veregata)—एक स्वर्गिक वृक्ष।[11]

ताल—संस्कृत-साहित्य में ताल वृक्ष (ताड़) काकतालीय न्याय के कारण अमर हो गया है। काक आकर बैठा कि ताल अचानक गिर गया[12] और कारण न होते हुए भी उनमें कारण-कार्य-भाव दिखने लगा। वास्तव में दोनों क्रियाओं में कोई सम्बन्ध नहीं है।

पनस—कटहल को पनस कहते हैं, जो शाक के काम आता है। भाष्यकार ने पनस को पकाने की बात कही है।[13] पनस का फल भी पनस (नपुं०) होता है।

---

१ ४-१ ११६ पृ० १३८ ।
२ १-२ ४४ पृ० ५९४ ।
३ १ २-७२ पृ० ३०६ ।
४ तस्मादुदुम्बरः लोहितं फलं पच्यते ।—१ १-८७ पृ० १५४ ।
५ का० १ पृ० ५ ।
६ न हि गुड इत्युक्ते मधुरत्वं गम्यते शृङ्गवेरमिति वा कटुकत्वम् ।—२ १ १ पृ० २५३ ।
७ ५ ३-७२, पृ० ४६९ ।
८ ४ १-७१ पृ० ७७ ।
९ ४-१-७१, पृ० ७७ ।
१० ४ १ ४२, पृ० ५५ ।
११ १ २ ४५, पृ० ५३१ ।
१२ ५ ३-१०६, पृ० ४८० ।
१३ १ १-७ पृ० १५४ ।
१४ ५ १-२, पृ० ३३६ ।

तुम्बुरु—(Cariander or Dioshyros Embryopteris) धनियाँ को कहते हैं।[1] इसका फल भी तुम्बुरु कहलाता है।

त्रपुस—फलविशेष। दही और त्रपुस एक साथ खाने से ज्वर अवश्य बढ़ जाता है। भाष्यकार ने दधि और त्रपुस को प्रत्यक्ष ज्वर कहा है।[2]

कुवली—एक विशेष प्रकार की स्वादिष्ठ बेरी या मकोय होती है। कुवली से बनी वस्तु को कौवल कहते हैं।[3]

अलाबु—लौकी और कद्दू का पुराना नाम है। इसका फल अलाबू कहा जाता था।[4]

कर्कन्धु—जंगली बेरी (झरबेरी) के झाड़ को कहते थे। इसका फल भी कर्कन्धु (नपुं०) कहा जाता था।[5] काठक सं० (१२ १०) मैत्रा० सं० (३-११ २) के अनुसार कुवल और बदर भी इसी श्रेणी के हैं।

जम्बु—यह भी एक फलवृक्ष की संज्ञा थी।[6]

पीलु—फलवान् वृक्ष है। महाभारत के अनुसार कारकोट तथा पंजाब में पीलु-वृक्षों का आधिक्य था।

उपर्युक्त सूची के अन्तर्गत बिना फलवाले एवं फलवान् वृक्ष कुछ लताएँ, जो ओषधि के काम आती हैं, एवं कुछ वनस्पति भी आ गये हैं। इनमें दो प्रकार के वृक्ष आये हैं। एक वे जो काष्ठ द्वारा देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और अर्थ-व्यवस्था के स्थायी अंग हैं। इनकी लकड़ी भवन आदि के निर्माण का मुख्य साधन है। दूसरे प्रकार के वृक्ष वे हैं, जो फलों के द्वारा बहुत कुछ खाद्य पदार्थों की पूर्ति करते हैं और इस प्रकार देश की उपज में वृद्धि करते हैं। वे भी अप्रत्यक्षरूपेण राष्ट्र की अर्थ-सम्पत्ति के अंग हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लताएँ हैं, जो या तो वृक्षों के सहारे बढ़ती हैं या कभी-कभी स्वतन्त्र रूप से फैलती हैं। इनमें कुछ फलवाली हैं और कुछ केवल पुष्पमयी। कुछ उभयविहीन हो सकती हैं। नीचे भाष्य में वर्णित लताओं, वृक्षों एवं पुष्पों की सूची प्रस्तुत की जाती है।

द्राक्षा—यह लता-वर्ग के अन्तर्गत है। द्राक्षा मधुररसा होती है। भाष्यकार ने द्राक्षा को पुष्कल्पा कहा है।

बिम्ब—इसका फल लाल होता है। ओष्ठ की लाली का सुप्रसिद्ध उपमान बिम्ब है।[8]

---

१ १ १ ४७ पृ० २९० ।
२ दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः ।—१ १-५९, पृ० ३८५ ।
३ ४ ३-१४६, पृ० २६९ ।
४ १ १ ३१ पृ० ११९ ।
५ वही
६ वही ।
७ ५ १ ६७ पृ० ४६१ ।
८ १ १-२४, पृ० १५१ ।

सुवर्चला—सूर्यमुखी को कहते हैं। इसका पुष्प पूर्वाभिमुख ही रहता है। भाष्यकार ने कहा है कि सुवर्चला सदा सूर्य के पीछे-पीछे घूमती है।[1]

उत्पल—कमल का एक नाम है। इसके पुष्प माला के रूप में भी धारण किए जाते थे।[2] आज भी ग्राम-कन्याएँ पुष्करिणियों से उत्पल तोड़कर उनकी मालाएं बनाकर पहनती हैं। कमल के नाल को बिस कहते हैं।[3] बिस पानी में पड़ा-पड़ा अपने-आप बढ़ता रहता है। बिस बहुत कोमल होता है और बढ़ने पर उसके विकार नहीं दिखाई देते।[4] मृणाल और बिस के मूल की मृणाल और बिस ही आख्या थी।[5]

मल्लिका—मल्लिका जूही का प्राचीन नाम है। यह सुगन्धित पुष्पोंवाली लता है। भाष्य ने अधखिली मल्लिका की कलियों की चर्चा की है। मल्लिका के पुष्प को भी मल्लिका ही कहते थे।

चम्पक—चम्पक के पुष्प की गन्ध मल्लिका से भी तीव्र होती है। चम्पा लता है और चम्पक पुष्प। बिना खिली चम्पा की कली को चम्पक-मुट कहते हैं।[6]

सत्पुष्पा प्राक्पुष्पा काण्डपुष्पा प्रान्तपुष्पा शतपुष्पा (सौंफ) एकपुष्पा ये पुष्पवती लताओं के विशिष्ट नाम हैं या उनके वर्ग।[7] इनमें प्रत्येक नाम सार्थक है। सत्पुष्पा सुन्दर पुष्पोंवाली लता है। प्राक्पुष्पा में पुष्पों की सामान्य ऋतु में अन्य लताओं से पहले फूल आते हैं। काण्डपुष्पा की डालों पर ही फूल लगते हैं—पनस के फलों के समान। वृन्त पर फूल नहीं लगते। कुछ लताओं में ऊपरी किनारे पर भी पुष्प आते हैं। किसी की एक साथ शत-शत पुष्पों से गोद भर जाती है और किसी में केवल एक ही फूल खिलता है।

करवीर—करवीर पुष्पवान् होता है। इसके पुष्प को भी करवीर कहते थे।[11]

संफला—संफला भस्त्राफला अजिनफला पिण्डफला शणफला और त्रिफला में अंतिम को छोड़कर शेष विशिष्ट लताओं के नाम हैं। संफला श्रेष्ठ फलवाली भस्त्राफला बड़े धौंकनी जैसे फलवाली, अजिनफला सिमटे छिलके के फलवाली पिण्डफला सम्भवत पिण्डखजूर, शणफला सन और त्रिफला आंवले हरड़ और बहेड़े का नाम है।[12]

---

१ सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति।—१-१-७ पृ० २०।
२ १ १-७२ पृ० ४५५।
३ १ १-५० पृ० ३०७।
४ आसीनं वर्धते बिसम्।—३-२-१२६, पृ० ३६५।
५ ३ २ १२३ पृ० ५५७।
६ ४ ३ १६६ पृ० २७२।
७ ४ १ १ पृ० २४०।
८ ४ ३-१६६, पृ० २७२।
९ ४-१ १ पृ० २४०।
१० ४ १ ६४ पृ० ७४।
११ ४ ३-१६६, पृ० २७२।
१२ ४ १ ६४ पृ० ७४।

पलाण्डु—प्याज का संस्कृत नाम है। पलाण्डु का प्रचार उच्च वर्णों में नहीं था। तामस भोजन में इसकी गणना थी यद्यपि यह खाद्य माना जाता था।[1]

मूलक—मूली के लिए प्रयुक्त हुआ है। मूली काटकर खाई जाती थी। उसके साथ अन्य भोज्य पदार्थों का योग रहता था।[2] पाटल-मूल सम्भव है, गाजर को कहते हों।[3]

पाटलि—पाटलि के मूल का प्रयोग होता था। इसके मूल को पाटल कहते थे। पाटलि शब्द बिल्वादिगण (४ ३ १३६) में परिगणित है। पाटल-मूल साग भाज को भी कहते थे। भाष्य में पाटल-मूलों का उल्लेख है।

फैलनेवाली लताओं का वृक्ष से स्वतन्त्र अस्तित्व है। वृक्ष को काट दिया जाय, तो भी लता का कुछ बिगड़ता नहीं। हेमन्त में जब लताओं और वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं, तब उन्हें प्रपलाश कहते थे।[4]

तृणों में निम्नलिखित का उल्लेख भाष्य में मिलता है—

पूतीक—तृणों में पूतीक का प्रयोग सोम के अभाव में यज्ञादि कर्मकाण्डों में होता था।[5] इसे बिछाकर लोग सोते भी थे।

नड्वल—नड्वल के रस से पाँवों में महावर का काम लिया जाता था।[6]

इषीक—इषीक एक तृण जाति है, जिससे सींकें निकालकर झाड़ू बनती है।[7] शतपथ में इषीक से बने शूर्प का उल्लेख है।

मुञ्जेषीक—यह इषीक से बड़ी जाति की होती है।[9] इससे छप्पर छाये जाते हैं। बड़ी जाति की इषीक का प्रयोग पतली लकड़ी (शरकाण्ड) के रूप में होता है। कटी हुई मूंज को विपूय कहते थे।[11] इसी से मूंज निकालकर रस्सी बनाई जाती है। शरादिगण (४ ३ १४४) में शर, दर्भ सोम बल्वज का परिगणन किया है।[12] दर्भ और दर्भकाण्ड का उल्लेख कई बार मिलता है। दर्भ के वन पर्याप्त मात्रा में थे। इन वनों के समुदाय को कुण्ड कहते थे। भाष्य में दर्भकुण्ड का

---

१ २-२ १६, पृ० ३९२।
२ ४-१ ४८, पृ० ११।
३ ४ ३ १३६, पृ० २७२।
४ १ २-६४ पृ० ५९७।
५ १ ४ १, पृ० १०७।
६ १ १-५६, पृ० ३४१।
७ ३-२ ११० पृ० २४५।
८ १ १-५९, पृ० ३८५।
९ १ १-७२, पृ० ४५५।
१० वही।
११ ३ १ ११७।
१२ ४ ३ १४४।

उल्लेख आया है।[1] फूल आने पर इषीकों से रुई-जैसा भुआ निकलता है। मूँज निकालने पर सिरफ (सीकें) शेष रह जाती हैं।[2]

बल्वज—तृण जाति है, जिससे रस्सी बनती है। भाष्यकार ने कहा है कि एक बल्वज बाँधने में असमर्थ होता है, किन्तु उनके समूह से बनी हुई रस्सी बाँध सकती है।[3]

वीरण—यह तृण है जिससे चटाई बनाई जाती थी।

तृणोलपम्—पानी की घास होती है।[4] उलप घास को कहते हैं।[5]

दूर्वा—मंगल-पूजन आदि के काम आती है। दूर्वा पड़ी-पड़ी बढ़ती रहती है।

इनके अतिरिक्त कुश काश शर दर्भ धीर्म आदि का भी उल्लेख मिलता है, जिनसे सब परिचित हैं। दार्भी रज्जु दर्भ की बनी होती थी।[8]

---

१ १-२ १३५, पृ० ५८१ तथा १-२-१३६ पृ० ५८१।
२ ४ ३-१५१ का०।
३ १-२ ४५, पृ० ५३५।
४ १ ४-८० पृ १९८।
५ १ २-७५ पृ० १०८।
६. वही।
७. १-२-१३१ पृ० ३१५।
८ ४ ३ १५१ काशिका।

अध्याय ३

पशु-पक्षी

वर्गीकरण—महाभाष्य में उल्लिखित प्राणियों को वर्णन की सुविधा के लिए पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—ग्राम्य आरण्य जलीय शकुनि और क्षुद्र जन्तु। सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर सुविधानुसार भिन्न दृष्टिकोणों से उनका वर्गीकरण किया है। एक स्थान पर उन्होंने पंचनख प्राणियों की एक श्रेणी मानी है।[1] अन्यत्र सहज विरोध वाले जीवों के एक पृथक् वर्ग की ओर संकेत किया है।[2] एक स्थान पर गवाश्व अजाविक अश्वैडक प्रभृति पशु एक साथ परिगणित किये गये हैं।[3] मृग, शकुन्त और क्षुद्र जन्तु ये वर्ग भी देखने को मिलते हैं।[4] इनके अतिरिक्त पशु, शकुनि मृग जैसी श्रेणियाँ भी मिलती हैं।[5] किन्तु, भाष्यकार या सूत्रकार के ये वर्ग किसी विशेष वैज्ञानिक आधार पर नहीं प्रत्युत प्रयोग-सिद्धि की सुविधा पर आश्रित हैं।

ग्राम्य पशु—ग्राम्य पशुओं में गौ अश्व अज अवि उष्ट्र, कुक्कुट खर, महिष श्वा और सूकर पालतू थे। ग्रामों के कृषि-प्रधान होने के कारण इन पशुओं की उपयोगिता सर्वाधिक थी। इनमें कुछ तो कृषि के अविभाज्य अंग थे और शेष उसके सहायक। ग्राम्य पशुओं में भी गौ का महत्त्व सर्वाधिक था।

गो—गो शब्द का व्यवहार गाय और बैल दोनों के लिए होता था। गौ सम्पत्ति और समृद्धि की सूचक थी। भाष्य में कहा है कि देवदत्त धनी है क्योंकि उसके पास गौ, अश्व और हिरण्य है।[6] परिवारों में विशेषतः ब्राह्मण-परिवारों में न केवल गाय अपितु बैल भी पालने की प्रथा थी। उपाध्यायों एवं गुरुओं को श्रद्धा की प्रतीक गाय भेंट में दी जाती थी।[7] गाय पालनेवाले सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे।[8] गोमान् परिवार या व्यक्ति से प्रेम करने के लिए स्वतन्त्र क्रिया का प्रयोग

---

१ भा० १ पृ० ११।
२ २-४-९, पृ० ४६४।
३ २-४-११ पृ० ४६६।
४ २-४-१२, पृ० ४६६।
५ भा० १, पृ० १।
६ देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यं च। आढ्यो वैधवेय।—१-१-९, पृ० २८।
७ ७-१-७२, पृ० ६२, ६४।
८ १-४-३२, पृ० २६७।
९ ७-२-९८ पृ० १५२।

मिलता है।[1] किसी-किसी परिवार के पास सैकड़ों सहस्रों गायें होती थीं।[2] भाष्यकार ने उदाहरण के रूप में बार-बार और अनेक उदाहरणों के बीच सर्वप्रथम गाय का उल्लेख किया है।[3]

गाय के अंगों एवं वर्णों के विषय में प्रश्न करते हुए भाष्य में कहा गया है कि 'क्या सास्ना लांगूल ककुद और विषाण गो शब्द का अर्थ है अथवा शुक्ला नीला पीला काला कपिला या कपोती रंग गो शब्द का अर्थ है?[4] चित्र या चितकबरे रंग की गायों और बैलों का उल्लेख भी अनेक बार हुआ है।[5] गायों के स्तन भाग को ऊधस् कहते थे। ये ऊधस् खूब भरे-भरे, घट के समान होते थे।[6] एक स्थान पर कहा है कि जो व्यक्ति गाय को नहीं पहचानता उसे गाय की सींग या कान पकड़कर कोई बतलाता है कि यह गाय है। भाष्य में बड़े-बड़े और सामान्य चित्ते (पृषद्) वाली गौ का उल्लेख है।[7] स्थान भेद से पतंजलि के समय में गाय को गावी गोणी गोपोतलिका आदि अनेक नामों से पुकारा जाता था।[8]

गाय के विभिन्न नाम—आयु-भेद से गाय के अनेक भेद थे। बछिया को वत्सतरी गर्भवती होने योग्य गाय को उपसर्या[9] प्रथम-गर्भा को उपसर[10] पहली बार ब्याई हुई को गृष्टि[11] सुत-वर्षा को वेहद्[12] आजकल में ब्यानेवाली को अद्यश्वीना[13] दूध देती हुई को धेनु[14] छह मास पहले ब्याई हुई को बष्कयणी[15] तथा ऊँची जाति की गृष्टि को महागृष्टि कहते थे।[17] गिरवी रखी गई गाय धेनुष्या कही जाती थी।[18]

---

१ ७-१-७० पृ० ६०।

२ २ १-५१ पृ० १०५ तथा ५ २-११८, पृ० ४१९।

३ भा० १ पृ० १।

४ किं तर्हि सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः? नेत्याह। यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कृष्णः कपिलः कपोत इति स शब्दः।—भा० १ पृ० १।

५ १ १-५६, पृ० १५०।

६ ६ १-२८ पृ० ५६ तथा ४ १-२५, पृ० ४०।

७ १ १ १ पृ० १०१।

८ भा० १, पृ० ३।

९ भा० १ पृ ५।

१० ३ १ १०४।

११ ३-३-७१।

१२ २ १ ६५।

१३ ५-२-१३।

१४ २-१ ६५।

१५ वही।

१६ वही।

१७ ६-२ ३८, पृ० २५८।

१८ ४-४-८९, पृ० २५८।

कुछ गायें प्रतिवर्ष जननेवाली होती हैं और कुछ तीसरे वर्ष। प्रतिवर्ष जननेवाली गाय तीसरे वर्ष जननेवाली से अच्छी मानी जाती थी। प्रसूति में बछड़े की अपेक्षा बछिया का महत्त्व अधिक था। ऐसा मालूम होता है कि जितनी भूमि कृषि के उपयोग में आती थी, उसके लिए बैलों की संख्या पर्याप्त थी। वे मँहगे दामों पर नहीं बिकते थे। उसकी तुलना में गायों की संख्या कम रही होगी। यज्ञादि कर्मकाण्डों एवं दैनन्दिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए घी और दूध की आवश्यकता अधिक थी। विशेषतः उन परिवारों में जो कृषिजीवी नहीं थे। बैल की अपेक्षा गाय का मूल्य अधिक था, इसीलिए भाष्यकार ने बछड़ा जननेवाली गाय की अपेक्षा बछिया जननेवाली गाय को श्रेष्ठ माना है।[1]

गव्य—गायों से प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ गव्य कहलाती थीं। दूध को पिलाने के बाद बछड़ों को बाँध दिया जाता था। शेष दूध पालक अपने उपयोग के लिए निकाल लेता था। कालिदास ने 'पीतप्रतिबद्धवत्सा' तथा 'वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषम्' द्वारा इसे सूचित किया है। इन गायों के थन कुँडे और घड़े के समान होते थे। दूध दुहने के लिए उपयोग में आनेवाला पात्र 'गोदोहन' कहलाता था।[3] दूध को गोदोह कहते थे। दूध दुहने की क्रिया भी गोदोह कहलाती थी।

जिस समय दूध दुहा जाता था वह काल 'तिष्ठद्गु' कहलाता था[4] क्योंकि इस समय दूध दुहाने के लिए गायें स्थिर खड़ी रहती हैं। तैत्तिरीयसंहिता (७-५ ३ १) के अनुसार प्रातः, संगव और सायं ये तीन दोहन-काल हैं। तैत्तिरीयसंहिता (१ ४ १ २) के अनुसार वे तीन बार चरने जाती थीं। कुछ लोगों के मत से मध्य में वे संगविनी में ठहरती थीं। यह भ्रान्ति संगव का अर्थ न समझने के कारण हुई है। दूध के लिए गाय ही पाली जाती थी। दुग्ध का अर्थ ही गोदुग्ध होता था। माहिष पय का उल्लेख भाष्य में कहीं भी नहीं मिलता यद्यपि गोदुग्ध[5] गोक्षीर और गोरस की चर्चा पुनः-पुनः आई है। गायों में कृष्णा अधिक दुधार होती है, इस बात से भाष्यकार परिचित थे।[6]

दुग्ध से दधि एवं दधि से तक्र और मक्खन तैयार होता है। दधि का प्रयोग दैनन्दिन भोजन में बहुत होता था। भाष्य में दधि के साथ भात खाने की चर्चा बार बार आई है। तक्र के लिए भाष्यकार ने मथित और उदश्वित् शब्दों का प्रयोग अधिकतर किया है। मट्ठा बेचकर

---

१ गौरिव या समासमा विजायते। गोतरैव या समासमा विजायते स्त्री वत्सा च।—१ १-५५, पृ० ४७५।

२ रघुवंश, सर्ग २।

३ ३-२-१२३, पृ० ११८।

४ २ १ १७, पृ० ५७४।

५ १ ९-४८ पृ० ५३५।

६ गोषु कृष्णा बहुक्षीरा। कृष्णा सर्वा सम्पन्नक्षीरतमा।—४-३-४२, पृ० ४२१।

७ १ १ ४७, पृ० २८७।

कुछ लोग जीविका कमाते थे। इन लोगों को माथितिक कहते थे[1]। मक्खन के लिए हैयंगवीन शब्द का व्यवहार होता था।[2] उसी से घृत तैयार किया जाता था। घृत आयुर्वर्धक माना जाता है। इसीलिए घी आयु है[3] इस प्रकार का वाक्य प्रयुक्त होता था। इससे स्पष्ट है कि गाय भारतीय परिवार का विशिष्ट अंग बन गई थी। इसी कारण गृहस्थ भोजन में अग्रबलि गाय के लिए निकालते थे।

गोचारण—धेनुओं का समूह धैनुक कहलाता था।[4] ग्वाले धैनुक को चराने के लिए नियुक्त थे। ये गाँव-भर की गायों को एक साथ चराने ले जाते थे और सन्ध्या के समय गिनकर उन्हें वापस कर जाते थे।[5] इसके लिए उन्हें प्रत्येक घर से मासिक या षाण्मासिक वृत्ति मिलती थी। बछड़े घर पर रह जाते थे और संध्या के समय बाहर चरकर आने के बाद बछड़े तथा गाय इकट्ठे बाँध दिये जाते थे। गाय चरानेवाला ग्वाला गोपालक या आगवीन कहा जाता था। जो गायों या बैलों को चराने आदि के लिए उनके पीछे रहता या चलता था उस गोपालक को अनुगवीन कहते थे। आगवीन गायों के लिए उत्तरदायी होता था। उसे सावधान रहना पड़ता था क्योंकि लोग अर्जन क्रय भिक्षण या अपहरण द्वारा जैसे भी हो गायें प्राप्त करने का यत्न किया करते थे।[6] गाय सम्पत्ति का अंग थी इसलिए जिस गाँव या प्रदेश में अधिक गायें होती थीं वह भाग्यवान् माना जाता था।[10] जिस प्रदेश में गायें चरती-घूमती रहती थीं उसे गोष्पद कहते थे। जहाँ गायें नहीं जातीं या पहुँचती थीं उसे अगोष्पद कहते थे। अगोष्पद शब्द घने अरण्यों के लिए व्यवहृत होता था। प्रमाण अर्थ में भी गोष्पद शब्द का प्रयोग होता था जैसे गोष्पद क्षेत्र या गोष्पद भर वर्षा। यहाँ गोष्पद शब्द छोटाई या अल्पता का बोधक था।

गोष्ठ—गायों के बाँधने के स्थान को व्रज कहते थे। ये बाड़े थे। यों ४ १ ३५ सूत्र में इसके लिए गोस्थान और गोशाल[11] शब्द भी आये हैं। गोशाला के समान वत्सशाला भी पृथक होती थी। बछड़ों को बाँधने का स्थान अलग रहता था, जिसे वत्सशाला कहते थे।[12] जिस स्थान

---

१ ५ १-८३, पृ० ४७४।

२ ह्योगोदोहस्य विकारः हैयंगवीनं घृतम्।—५ २-२३, पृ० ३७३।

३ १ १-५९ पृ० १८५।

४ ४ १-८५ पृ० ९५।

५ ४ २-५५ पृ० १८२।

६ १ ३-६७ पृ० ८७।

७. गावो दिवसं चरितवत्यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते।—१ १-५० पृ० १०९

८ आ तस्य गोः प्रतिपालनात् कर्मकारी आगवीनः कर्मकरः।—५ २ १४ पृ० ३७१।

९. २ १-५१ पृ० २९८।

१० ५ १ ११९, पृ० ३५५।

११ ४ ३ ३५।

१२ ४ ३-३६।

पर पहले गायें बँधती रही हों किन्तु बाद में अन्य उपयोग में आने लगा हो उसे गोष्ठीन कहते थे।[1] चरकर लौटने के बाद गाय जहाँ बाँधी जाती है, उस स्थान को गोष्ठ कहते थे।[2] धीरे-धीरे यह स्थान साधारण पशु-शाला का बोधक बन गया और गोशाला को गोष्ठ एवं भेड़ बाँधने के स्थान को अविगोष्ठ कहने लगे। धीरे-धीरे कुछ स्वतन्त्र शब्द जब प्रत्यय बन गये तब स्थान-बोधन के लिए कटच्, पटच् और गोयुग प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे। और इस प्रकार, अविकट, उष्ट्रकट, अविपट, उष्ट्रगोयुग, खरगोयुग तत्तत्सम्बन्धी स्थानों के बोधक शब्द बन गये।[3]

भाष्यकार को ज्ञात था कि बछिया रूप रंग आकृति दुधारपन आदि अन्य गुणों में अपनी माता के समान होती है।[4] प्राय: देखा जाता है कि जो गायें प्रतिवर्ष जननेवाली होती हैं, उनकी सन्तान भी प्रतिवर्ष जनती है। वे जानते थे कि पुरोवात (पूर्वी हवा) गायों के गर्भ-धारण की प्रेरक होती है। इस काल में वे प्राय: गर्भिणी हो जाती हैं।[5] प्रतिवर्ष जननेवाली गाय को समांसमीना कहते थे।[6] मैथुनेच्छा के कारण जब गाय बैल के लिए रँभाती थी तब उसके लिए एक विशिष्ट क्रियापद का प्रयोग होता था 'वृषस्यति'। वही गाय यदि बिना मैथुनेच्छा के बैल की संगति चाहती तो उसके लिए 'वृषीयति' क्रियापद का प्रयोग होता था।

अंक या लक्षण—गायें जब चरने के लिए छोड़ी जाती हैं, तब बछड़े भी उनके साथ जाने के लिए आकुल हो उठते हैं। चरते समय खो जाने के डर से एवं अन्यथा चोरी आदि से बचाने के लिए पालक गायों के शरीर पर विशिष्ट चिह्न बना देते थे। गाय-बैल स्व या सम्पत्ति के अंग थे। हर व्यक्ति अधिक-से-अधिक परिमाण में उनके समाहार का इच्छुक रहता था और यह समाहार या स्व चार प्रकार से ही प्राप्त किया जा सकता था—क्रय, अपहरण, भिक्षण और विनिमय से। प्रथम और चतुर्थ के लिए नकद धन या अन्य वस्तु चाहिए थी और तृतीय के लिए याचना या अर्हता। द्वितीय ही सरल हो सकता था।[9] एतदर्थ वे उनके सींगों को रँग देते या छील देते थे। कभी किसी विशिष्ट स्थान को जलाकर दाग देते थे। कभी पूँछ के बाल काट देते थे। कभी गले में विशेष रंग की रस्सी या पट्टी बाँध देते थे। इस प्रकार दागी हुई गाय अन्यों के बीच में सरलता से पहचानी जा सकती थी। इस प्रकार दागी गई गायें अंकित कहलाती थीं।[10] अंकित शब्द

---

१ ५-२-१८।

२ ५-२-२९, पृ० १७५।

३ वही।

४ मातुर्वं गावोऽनुहरन्ती।—१-१-२१ पृ० ६२।

५ ६-१-५५, का०।

६ ५-२-१२ पृ० १७१।

७ ७-१-५१ पृ० ४९।

८ ३-४-२१, पृ० १८१।

९ समाहरणं समाहारः। कः पुनरसौ समाहारः? सत्त्वार्जनं क्रयणं भिक्षणमपहरणं वा।—२-१-५१ पृ० ३९८।

१० अङ्किता गाव इत्युच्यमानेऽस्याभ्यो गोभ्यः प्रकाश्यन्ते। अङ्कितैरेकोऽस्य प्रकाशनम्।—८-२-४८ पृ० १९७।

अंक् धातु से बना है, जिसका अर्थ है प्रकाशन। प्रकाशन के लिए कान या जंघा में विशेष चिह्न बनाने की प्रथा अधिक थी। एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि गाय की जंघा या कान पर बनाया हुआ चिह्न उस गाय का ही विशेषक होता है, सम्पूर्ण गोमण्डल का नहीं।[1] अंक या लक्षण का उल्लेख ऋग्वेद (६ २८ ३) तथा मैत्रायणीय संहिता (४-२-९) में भी मिलता है।

बैलों का क्रय-विक्रय भी चलता ही था। विक्रय के लिए उपस्थित बैल को 'पण्यगव' कहते थे।[2] बैलों के अच्छे-बुरे लक्षणों की पहचान करने में निपुण लोग जिन्हें 'गौलक्षणिक' कहते थे बैलों की परीक्षा कर उनका मूल्य निर्धारित करते थे।[3] शाल्व और रंकु जनपद के बैल प्रसिद्ध थे। बैलों को तथा बछड़ों को नियमित रूप से अंकित किया जाता था जिसका परिमाण निश्चित था। इस आधार पर गोलक्षण और अश्वलक्षण शब्द ही निश्चित परिमाण-बोध के लिए रूढ (संज्ञा) बन गये।[4]

बैल—गाय के बछड़े वत्स कहलाते थे। छोटे वत्स को वत्सतर कहते थे। युवा बैल को उक्ष और उससे बड़े अधेड़ उम्र के बैल को उक्षतर कहते थे। समस्त बैल को ऋषभ कहते थे किन्तु जब वह दुर्बल हो जाता था तब उसे ऋषभतर कहते थे।[5] जो बछड़ा आगे चलकर श्रेष्ठ बैल बननेवाला होता था उसे आर्षभ्य कहते थे।[6] वत्स पहले दम्य और फिर बलीवर्द बनता है। दम्य अवस्था को प्राप्त होने पर वत्स जुए में जोता जाता था। धीरे-धीरे उसे गाड़ी और हल खींचने में प्रशिक्षित किया जाता था। साधारण बैल केवल गाड़ी के काम आते थे। अच्छे बैल वे माने जाते थे जो गाड़ी और हल दोनों में काम आयें।[7] बैल रथ भी खींचते थे।[8] प्रदेशों में होने वाली विशेष नस्लों के आधार पर बैलों की योग्यता और मूल्य निर्धारित किये जाते थे। कच्छ रंकु और शाल्व के बैल विशेष प्रसिद्ध जान पड़ते हैं। काशिकाकार ने उनका पृथक उल्लेख किया है।[9] इन प्रदेशों के बैल प्रायः क्रमशः काच्छक राङ्कव या राङ्कवायण और शाल्वक कहे जाते थे। बड़ी जाति के बैल की संज्ञा महोक्ष थी और वृद्ध की वृद्धोक्ष।[11] वृषभ और अनड्वान् युवा वत्स के अन्य नाम थे। जो दो बैल एक साथ गाड़ी में या हल में जोते जाते हैं उन्हें सम्बद्ध कहते

---

१ यथैव तर्हि कर्णे वा कृतं लिङ्गं गोरेव विशेषकं भवति न तु गोमण्डलस्य।—१ १-६२ पृ० ८१।

२ ६ १-४२, पृ० २५९।

३ ४ २ १० पृ० १८७।

४ ६-२-४ का०।

५ ५ ३-९१ पृ० ४०६ तथा ५ ३ ९१ का०।

६ ५ १ १३ पृ० १०५ तथा ५ १ १४।

७ २ १ १ पृ० १०५।

८ यौगं शकटं वहति। गोतरोऽयं यः शकटं वहति सीरं च।—५ ३-५५, पृ० ४२५

९ २-२-२४ पृ० ३३६।

१० ४-२-१०० तथा ४-२-११४ तथा ४-२-११६।

११ ५ ४-७८, पृ० ५०४।

थे।[1] सम्बद्ध बैलों को 'संपुष्टक' भी कहते थे। संपुष्टकों में परस्पर बड़ा प्रेम होता है। वे एक दूसरों को देखकर रँभाते हैं और स्नेह-प्रदर्शनार्थ दाम्य करते हैं, इस बात की ओर भी भाष्यकार की दृष्टि गई थी।[2] गोयुक्त जुते बैलों की जोड़ी अर्थात् युग्म को कहते थे।

बड़े होने पर बैल बाँधकर रखे जाते थे। मारक या चंचल बैलों को प्रायः बधिया कर दिया जाता था।[3] बधिया बैल वध्रिका कहे जाते थे शेष बलीवर्द।[4] यह बात ग्राम्य बैलों पर ही लागू होती थी। आरण्य बैलों को पकड़ना सम्भव नहीं था। साँड़ भी नहीं पकड़े जा सकते थे। उनका बधिया बनाना कैसे होता? फिर सवारी या मिश्री की तो बात ही नहीं उठती।[5] उद्दण्ड बैल तीन तीन रस्सियों से बाँधे जाते थे और जोर से बहाड़ते थे। एक रस्सी उनके गले में और दो दाईं बाईं ओर नाथ में बाँधी जाती थीं। नये-नये उक्षा यौवन मद में उच्छृंखल हो जाते हैं और रस्सी तुड़ाकर इधर-उधर भागते फिरते हैं। जोतने पर गाड़ी इधर-उधर ले जाते हैं। ऐसे बैलों के गले में एक लम्बी भारी लकड़ी बाँधी जाती थी जो दौड़ते समय उनकी टाँगों में लगती थी। यह लकड़ी प्रासंग कहलाती थी और इसे संयुक्त बैल प्रासंग्य।

बैलों के बड़े-बड़े सींगों को विमुक्ट भी कहते थे और ऐसे सींगोंवाले बैल की भी विषाण या विमुक्ट संज्ञा थी।[9] आनन्द में मग्न बैल की दहाड़ को मपस्किरण कहते थे।[10] जाड़े के दिनों में ठण्ड से बचाने के लिए उनपर झूले या मोटे प्रवारक डाले जाते थे। जिन बैलों पर झूले नहीं पड़ती थीं वे मारे ठण्ड के ठिठुरकर दुबले हो जाते थे।[11] भाष्यकार का यह कथन विशेष ठण्डे प्रदेश यथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश या पंजाब के विषय में अधिक लागू होता है।

गोपालन—बैल भी गायों के समान एक साथ चराये जाते थे। गाँव का ग्वाला एक साथ सारे बैलों को चराने ले जाता था। बैल एक साथ ही एक डण्डे से हाँके जाते थे। भाष्यकार ने अधिकारसूत्र की उपमा एक-दण्ड प्रघट्टित गोयूथ से की है।[12] अरण्य में ग्वाले एक जगह बैठे

---

१ सम्बद्धाविमौ वत्सावितिपुच्येते यावन्योन्यं न जिहीत।—२-१ १ पृ० २४१।

२ यान्येतानि गोयुक्तकानि संपुष्टकानि भवन्ति तान्यन्योन्यं पश्यन्ति दाम्यं कुर्वन्ति।— १ १-५०, पृ० ३०९।

३ १-२-७२, पृ० ३०९।

४ १ १-५१ पृ० ५५५।

५ १-२-७२, पृ० ३०९।

६ १ २-७३ पृ० ३०९।

७ भा० १ पृ० ६।

८ ६ १ १६१ पृ० २०४।

९ ५ २-२८, पृ० ३७४।

१० ६-१ १४२, पृ० ११०।

११ यौरिवाप्रावृतमोदात् प्रत्येष शिशिरे कृशः।—१ १-२१, पृ० ३०२।

१२ गौर्यूथवदधिकारा। तद्यथा गोयूथमेकदण्डप्रघट्टितं सर्वं समं घोषं गच्छति।— ४-२-७० पृ० १९४।

गपशप किया करते थे और पशु स्वतन्त्र चरा करते थे। गाय बैल और बकरियाँ एक साथ चरा करती थीं।[1] सहसा किसी ग्वाले का ध्यान पशुओं की ओर जाता तो साथियों से पूछ बैठता कोई बैलों की भी रखवाली कर रहा है या नहीं।[2] कोई गायों को ढूँढनेवाली क्रिया अनुपदी कहलाती थी।[3] गाय-बैल स्वतन्त्र वातावरण में पूँछें उठाकर खेलते या भागते थे। कुछ लोग जलाने के लिए और कुछ खाद के लिए जंगल से गोबर बीन लाते थे। जंगल में गोबर (गोमय) पटा पड़ा रहता होगा।[4] गोबर जलाये जाने की चर्चा भाष्य में है।[5] आर्द्र और शुष्क गोमय की पृथक्-पृथक् चर्चा होने से गोबर के उपले बनाये जाने का भी संकेत मिलता है।

बैलों के विशेषण—बैल रथ खींचने जुए में जुतने आदि के काम आते थे इसका उल्लेख ऊपर हुआ है। कभी-कभी दो रथ एक दूसरे में जोड़ दिये जाते होंगे और बैलों की एक ही जोड़ी उसे खींच लेती होगी। भाष्यकार ने ऐसे बैल को जो दो रथ ढो रहा हो द्विरथ्य कहा है ? जो बैल दो रथों का एक साथ खींचने की शक्ति रखता था या खींचा करता था उसे द्विरथ कहते थे।[8] भाष्यकार रथ युग (जुआ) और प्रासंग का वहन करनेवाले बैल के लिए क्रमशः रथ्य युग्य और प्रासंग्य शब्दों की निष्पत्ति करने के बाद कहा है कि ढोने या खींचने के अर्थ में रथ शकट, हल और सीर से प्रत्यय करने के लिए अलग सूत्रोल्लेख की आवश्यकता नहीं क्योंकि 'तद्वहति' से ही काम चल जायगा। फिर इसका उत्तर देते हुए कहा है कि शब्दों में अन्तर है इसलिए पृथक् प्रत्यय-विधान की आवश्यकता हुई क्योंकि 'रथ खींचता है' और 'रथ को खींचनेवाला' दोनों एक ही बात नहीं है। जो दो रथ खींचता है उसे द्विरथ्य कहते हैं और जो दो रथ खींचने के योग्य होता है वह द्विरथ कहलाता है। शक्ति और कार्य के अनुसार बैलों के लिए पृथक्-पृथक् विशेषणों का व्यवहार होता था। जैसे धुर्य[9] धौरेय सर्वधुरीण एकधुरीण या एकधुर, शाकट, हालिक सैरिक रथ्य युग्य द्विरथ्य द्विरथ आदि। ये नाम जोड़ी के साथ या अकेले जुतनेवाले गाड़ी हल रथ आदि में चलनेवाले युग (जुए) में जोते जानेवाले दो रथों के खींचनेवाले आदि बैलों के लिए प्रयुक्त होते थे।

लाल बैल को लोहित काले को कृष्ण और सफेद बैल को श्वेत कहते थे। बिना बैल शब्द का प्रयोग किये केवल 'लोहितो धावति कृष्णो धावति' का अर्थ भी क्रमशः 'लाल बैल दौड़ता है,

---

१ १ २-७२, पृ० १७८।

२ १ २-४८ पृ० ५५९

३ ५-२-९०।

४ १ १ ६७ पृ० ८६।

५. ८ ४ १८ पृ० ४९४।

६. ४ १ १५५ पृ० २६६।

७. ४ २ १२९ पृ० २१६

८. अन्यो हि शब्दो रथं वहत्यन्यो रथस्य वोढेति। द्वौ रथौ वहति स द्विरथ्यः। यो द्वयो रथयोर्वोढा स द्विरथः।—४ ४ ६, पृ० २८४।

९. ४-४-७७ से ८१ तक तथा वहीं काशिका।

काला बैल दौड़ता है, यहीं होता था। भाष्यकार ने कहा है कि शब्द सर्वत्र नियत-विषय देखे जाते हैं। बैल लाल हो और घोड़ा भी तो बैल को लोहित कहते हैं और घोड़े को शोण। इसी प्रकार काले और सफेद बैल को क्रमशः कृष्ण और श्वेत कहते हैं, किन्तु घोड़े को हेम और कर्क।[1] कृष्ण वृषभ का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।[2]

रथ और हल में चलते बैल मार्ग के पास खड़ी फसल में मुँह मार देते ही हैं।[3] यह बात भी भाष्यकार की दृष्टि से छुपी न थी। बैलों को हाँकनेवाले या उन्हें बैठाने उठाने अर्थात् उनकी परिचर्या करनेवालों को क्रमशः गोसारथि और गोसाद या गोसादि कहते थे।[4]

अश्व—गौ और वृष के बाद सर्वाधिक उपयोगी पशु अश्व था। यह सवारी के काम तो आता ही था रथ भी खींचता था। अश्व और वृष दोनों रथ में जोते जाते थे। रथ में कई घोड़े एक साथ जुतते थे, इसलिए साधारण घोड़े की अपेक्षा उसकी गति तीव्र होती थी। साधारण अश्व दिन में चार योजन चलता[5] था और अच्छी नस्ल का अश्व आठ योजन। पदाति की अपेक्षा आश्विक कम समय में मार्ग तय कर लेता था[6] और आश्विक की अपेक्षा रथिक। जितना मार्ग सामान्य अश्व एक दिन में चल लेता था उसे आश्वीन अध्वा कहते थे। सामान्य अश्व चार योजन और अच्छा घोड़ा आठ योजन प्रतिदिन चलता था। घोड़े के सवार को अश्ववार या अश्वपाल कहते थे। अश्वों से युक्त (जुता हुआ) रथ अश्व-रथ कहलाता था।[9] अश्व युद्ध में भी काम आते थे।[10] शिक्षित अश्व हाथी को पराजित कर सकते थे। अश्वरथ तो संग्राम का अनिवार्य अंग था। बैलों द्वारा चलाया जानेवाला रथ गो-रथ कहलाता था। इसी प्रकार उष्ट्ररथ और गर्दभरथ भी होते थे।[11] अश्व का सवार अश्वारोह[12] और साईस अश्ववार[13] या अश्वपाल कहलाता था और रथ के सवार को रथिक कहते थे[14]। अश्वशाला को 'मन्दुरा' कहते थे।[15]

१ २-२ २९, पृ० ३८४।
२ १ १ ४ पृ० ११७।
३ ६ १ ७७, पृ० २९१।
४ १ ३ ४१ काशिका।
५ अश्वोऽयं चत्वारि योजनानि गच्छति। अश्वतरोऽयं योऽष्टौ योजनानि गच्छति।—५ १-१-५५, पृ० ७७६।
६ १ १-७० पृ० ४८५।
७ ५ २ १९।
८ ८ ३ १८, पृ० ३४२।
९ २ १ ३४, पृ० २८७।
१० १ १-७२, पृ० ४७७।
११ ४ ३-१२० पृ० २५१।
१२ १ १-२९, पृ० ९४।
१३ ८३ १८, पृ० ३४२।
१४ १ ३ २९, पृ० ९४।
१५ १ १ १, पृ० १०९।

घोड़ी को 'वडवा' कहते थे।[1] उसके लिए हयी शब्द भी प्रचलित था।[2] घोड़े बैल या गाय के ठीक विपरीत पिता के स्वगुणानुसारी होते हैं।[3] वे चंचल होते ही हैं। सरलता से उन पर बैठी सवारी गिर सकती है क्योंकि वे छोटी-छोटी बात से चौंक उठते हैं। बँधी घोड़ियाँ रस्सी तुड़ाकर भाग जाती होती हैं।[4] वडवा नीले रंग की भी पाई जाती थी।[5] वडवा जिससे गर्भिणी हुई थी वह (वडवा का पुंसहचर) वाडवेय कहा जाता था। वृष शब्द प्रायः सभी पशुओं के 'नर' के लिए रूढ़ हो गया था। लाल अश्व को शोण, काले अश्व को हेम और सफेद घोड़े को कर्क कहते थे। भाषा में अश्व पर आश्रित एक प्रयोग ही चल पड़ा था—'नष्टाश्वदग्धरथवत्' अर्थात् मेरे घोड़े खो गये और तुम्हारा रथ टूट गया। मेरा रथ और तुम्हारे अश्व मिलाकर काम चल सकता है। गर्भ धारण की इच्छा से जब घोड़ी घोड़े के लिए हींसती थी तब 'अश्वस्यति वडवा' प्रयोग होता था। कामेच्छा के अतिरिक्त यों ही साहचर्य के लिए इच्छा करने पर 'अश्वीयति' प्रयोग होता था।[9]

सिन्धु-प्रदेश के घोड़े प्रसिद्ध थे। इसलिए घोड़े का सामान्य नाम ही सैन्धव हो गया था।[10] मरखने घोड़ों के अण्डकोष कुटवाकर उन्हें भी बैलों के समान बधिया कर दिया जाता था। ऐसे घोड़े वध्री अश्व कहलाते थे।[11] अश्व को किशोर भी कहते थे।[12]

अश्वतर—घोड़ी (वडवा) और गर्दभ के संयोग से अश्वतर या अश्वतरी की उत्पत्ति होती है। अश्वतर भार ढोने के काम आते हैं।[13] अश्वतर का उल्लेख अथर्व में और उसके बाद सूत्र में है। वे शकट खींचते थे।[14]

गज—राजा तथा अन्य धनी-मानी लोग गज पालते थे। गज तो द्विप भी कहलाते थे[15] क्योंकि वह मुख तथा सूँड़ दो-दो स्थानों से पी सकता है। गज के अन्य नामों में 'स्तम्बेरम' भी[16]

---

१ २-४-१२ पृ० ४९८।
२ ४ १ १३ पृ० ७४।
३ पैतृकमश्वा अनुहरन्ते।—१ १-२१ पृ० ९२।
४ १ ४-२४ पृ० १६१।
५ ४ १-२७ पृ० ४०।
६ ४ १ ७२ पृ० ५५।
७ ४ १ १२० पृ० १४२।
८ १ ३-५० पृ० ३३३।
९ ७१-५१ पृ० ४९।
१० १ १ ८ २७४।
११ ६ २-९१ पृ० २७५।
१२ ५ ३-९१ पृ० ४७६।
१३ १-२-६५ पृ० ५९८।
१४ वैदिक इण्डेक्स १ ४३।
१५ ३-२ ४ पृ० २०९।
१६ ३-२ १३ पृ० २११।

एक था क्योंकि हाथी स्तम्ब (वृक्ष-गुल्म) में रमण का प्रेमी होता है। स्तम्ब खूंट या खम्भों को भी कहते थे जिसमें हाथी का पाँव जंजीर से बाँधा जाता था। हाथी का एक नाम मितंगम था क्योंकि उसकी चाल बड़ी नियमित और मन्थर होती है। गजों का समूह गजता और हस्तियों का समूह हास्तिक कहलाता था।[1] हाथी पालतू होते थे और जंगली भी। जंगली हाथी को आरण्य गज कहते थे। हिमालय की तलहटी हाथियों के लिए प्रसिद्ध थी। इसी उपत्यका से पालने के लिए हाथी पकड़कर लाये जाते थे।[2] हस्तिपक उन्हें प्रशिक्षण देकर कसमा सिखलाते थे।[3] सवारी के लिए हाथी बैठ जाता और आरोहक उसपर चढ़ लेते थे। युद्ध का तो वह अनिवार्य अंग था ही। एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि हाथी और मशक का सन्निकर्ष समान है, यद्यपि हाथी में प्राणित्व की मात्रा विशेष है। हाथी-दाँत सदा से ही लोगों के आकर्षण के विषय रहे हैं। दाँतों के लिए लोग हाथी का वध करते थे।[8]

हाथी को जो कुछ उड़द आदि अन्न खाने को दिया जाता था उसे हस्तिविधा कहते थे।[9] ऊँचाई या गहराई नापने (उन्मान) के लिए हस्ती प्रतिमान था। हाथी-बराबर गहराई की वस्तु हस्तिद्वयस या हस्तिमात्र कही जाती थी।[10] हाथी जब कभी स्तम्ब से छूट जाता तब नगर में हाहाकार मचा देता था। लोगों को खूंदता-कुचलता सड़कों पर घूमता था जैसा कि काशिका में वर्णित हुआ है।[11]

उष्ट्र—उष्ट्र माल ढोने और सवारी के काम आता था। वह गाड़ी में भी जोता जाता था।[12] रथ खींचता था। ऊँट बाँधने का स्थान उष्ट्रगोष्ठ कहा जाता था। पतंजलि ने कहा है कि उपमान या सादृश्य के कारण कभी-कभी वस्तुओं का कोई नाम प्रचलित हो जाता है। मूलतः गौ बाँधने के स्थान को गोष्ठ कहते थे। बाद में किसी भी पशु के रहने का स्थान गोष्ठ कहलाने लगा। इसी प्रकार, दो बैलों की जोड़ी को गोयुग कहते थे। बाद में उपचारात् ऊँटों की जोड़ी भी उष्ट्र-गोयुग कही जाने लगी। ऊँटों का समूह औष्ट्रक कहा जाता था।[13]

---

१ ३-२-१८ पृ० २१६।
२ ४-२-२१।
३ ४ १ १ पृ० १० ।
४ ५-२-१२६ पृ० २११ ।
५ ५ २-१४ पृ० ४०८ ।
६ १ ३-१७, पृ० १५ ।
७ हस्तिमशकयोस्तुल्यः सन्निकर्षः प्राणिभूयस्त्वं तु ।—१ ४-१०६, पृ० २१८ ।
८ २-३-३६ पृ० ४११ ।
९ २ १ ३६ पृ० २८९।
१० ४ ३ १, पृ० १०।
११ नगरघातो हस्ती ।—३ २-५३ पृ० २११।
१२ ४ ३-१२०, पृ० २५१।
१३ ५ २-२६ पृ० ३७५।

बैलों के समान ऊँटों को भी नमक दिया जाता था। नमक की इच्छा होने पर बैलों के समान ऊँट भी मिट्टी चाटने लगता है। ऊँट की इस कामना के लिए संस्कृत में एक विशिष्ट क्रियापद 'लवणस्यति' का प्रयोग होता है।[1] उष्ट्र-खर, उष्ट्र-गर्दभ, उष्ट्र-शरभ और 'गावो न गर्दभः' आदि प्रयोगों में उष्ट्र और गर्दभ का बार-बार साथ-साथ उल्लेख होने से अनुमान होता है कि इन दोनों पशुओं का उपयोग-साम्य या साहचर्य था। ऊँट के बालक को उष्ट्रप्रणाम कहते थे।[2] ऊँट के अंग उपमानों का काम देते रहे हैं। ऊँट के समान लम्बी गरदनवाले उष्ट्रग्रीव और उष्ट्र जैसे मुखवाले उष्ट्रमुख कहे जाते थे।[3] इसी प्रकार, खरमुख भी होते थे। ऊँटों का बैठना भी आसन का एक प्रकार था।[5] बैठने की यह मुद्रा उष्ट्रासिका कहलाती थी।[6] सम्भवतः सादृश्य के कारण ही ऊँची गरदनवाली घटी (माप) उष्ट्रिका कही जाती थी। व्याघ्र के समान ऊँट की खाल भी उपयोग में आती थी। कहा नहीं जा सकता कि किस प्रकार इसका उपयोग होता था। ऊँट को करभ भी कहते थे। उसे शृंखला में बाँधकर रखा जाता था।[9] वास्तव में यह शृंखलावती रस्सी ही होती थी जो नकेल के रूप में उसे पहनाई जाती है। ऊँट के सवार या सईस को उष्ट्रसादि कहते थे।[10] उष्ट्र या तो मरु-प्रदेश में मिलते थे या बहुत पहले ही बाहर से भारत में लाये गये थे। वैदिक काल तक से हम उन्हें बोझ ढोते और शकट खींचते पाते हैं।[11]

गर्दभ—उष्ट्र के समान खर भी भार-वहन एवं शकट-वहन के लिए पाला जाता था। उसका उल्लेख प्रायः उष्ट्र के साथ हुआ है। ४।१।१२ सूत्र के भाष्य में गदर्भ द्वारा खींचे जाने वाले शकट को गदर्भ नाम दिया है। रथ को भी गार्दभ कहा है। इससे अनुमान होता है कि खच्चर या गर्दभ रथ में भी जोते जाते थे। ऊँचे स्वर से चिल्लाने के कारण इसे (ख=छिद्र+र=वाला) खर कहने लगे थे। गर्दभ मुख्य रूप से भार ढोने के काम आते थे।[12] खर पालने की प्रथा के आधिक्य का पता गोस्थान, गोशाल और खरस्थान के समान (४।१।३५) सूत्र में खरशाल के उल्लेख से चलता है। गाँवों में प्रत्येक प्रकार के पशुओं के बाँधने के लिए शालाएँ रहती थीं जिसका अपभ्रंश रूप 'सार' आज भी प्रचलित है। घुड़सार का 'सार' भी इसी शाला का अपभ्रंश है। गधे पर सवारी

१ ७-१५१ पृ० ४९।
२ १-२-१ पृ० २०१।
३ १।१।६३ पृ० ४०७।
४ १।१-७० पृ० ४४२।
५ ६।१।६७ ० १२६।
६ वही।
७ ४।१।३ पृ० ५२।
८ ४।१।६० पृ० २१८।
९ ५-२-७९, पृ ११९।
१० ६।२।४०।
११ अथर्व० २०, १२७-१३२।
१२ ८।१।११, पृ० १५४।

भी की जाती थी।[1] गधों की जोड़ी को खरगामुग कहते थे।[2] एक स्थान पर भाष्य में गर्दभ के काषाय रंग के कानों का उल्लेख मिलता है।[3] भूरे रंग के गधों की स्वतन्त्र नस्ल की चर्चा एक स्थान पर है। खर आरण्यक भी होते थे।[4] यह तो निर्विवाद है कि खर आज के समान अस्पृश्य नहीं था। गर्दभ के पाँवों के काषाय (गेरुआ) रंग का उल्लेख भी मिलता है।

महिष—महिष और महिषी पतंजलि-युग में विशेष लोकप्रिय नहीं थे। सारे देश में उन्हें पालने की प्रथा नहीं पाई जाती। वे प्रायः अरण्यों में रहते थे। आज भी भारत के किसी भाग में उनका उपयोग होता है और किसी में नहीं। तरुण भैंसों को, जिनके सींग निकल रहे हों, कल्याह कहते थे।[5]

अजा और अवि—अजा को कृषक लोग धन मानते थे।[6] भाष्यकार ने कहा है कि देवदत्त के पास अजा और अवि-धन है। यह नहीं कह सकते कि किसके पास अजा-धन है और किसके पास अवि-धन। इन दोनों को धन में गिनने का कारण भी था। प्रारम्भ में अधिकांश भारतीय किसान भेड़-बकरियाँ पालते थे। वैदिक काल में ये सम्पत्ति मानी जाती थीं इसलिए इनके पालन पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। गान्धार और परुष्णी की ऊनवाली भेड़ों का उल्लेख ऋग्वेद में बार बार मिलता है। बाद में हिमालय-प्रदेश ऊर्णा का प्रमुख स्रोत बन गया। भेड़ों और बकरियों का प्रमुख उपयोग ऊन और मांस प्राप्त करना ही था।

गो के बाद जनसाधारण के सर्वाधिक उपयोग का प्राणी अजा थी। हाथी अश्व आदि को सब लोग नहीं पाल पाते थे। अजा दूध देती थी। वर्ष में बहुत सारे बच्चे देती थी। बकरे का मांस खाया जाता था। उसके चमड़े मशक आदि के काम आते थे। इसीलिए, अज और अवि को धन कहा है। अवि का ऊन और मांस दोनों काम में आते थे। जिस खेत में वे रात भर बैठ जातीं वह खाद पाने के कारण अधिक उपजाऊ हो जाता था। यज्ञों में भी बकरे की बलि दी जाती थी। गो और अज दोनों यज्ञ में बलि किए जाते थे।[8] अज को बर्कर भी कहते थे।[9] अज अनेक पदार्थ-भक्षी प्राणी है।[10] इस प्रकार भाष्यकार ने प्राणियों के हिंसक और अनक्षक ये वर्ग भी बतलाये हैं। अज छोटा पशु है। उसे आते-जाते लोग अपने साथ एक गाँव

---

१ ६-२-५०।

२ ५-२-२९, पृ० १७१।

३ काषायौ गर्दभस्य कर्णौ।—४-२-२, पृ० १९६।

४ ६-१-११, पृ० ११९।

५. १-१-२२, पृ० २०६ तथा ४-२-८७, पृ० १९६।

६. अजाविधनो देवदत्तः न ज्ञायते कस्याजाधनं कस्याविधनं इति —१-१-४६, पृ० २८०।

७. गोरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः।—४-१-९२, पृ० ११५।

८. वही।

९. १-२-१५, पृ० ५९८।

१०. १-२-७१, पृ० ६०९।

बैलों के समान ऊँटों को भी नमक दिया जाता था। नमक की इच्छा होने पर बैलों के समान ऊँट भी मिट्टी चाटने लगता है। ऊँट की इस कामना के लिए संस्कृत में एक विशिष्ट क्रियापद 'लवणस्यति' का प्रयोग होता है।[1] उष्ट्र-खर, उष्ट्र-गर्दभ, उष्ट्र-करभ और 'नाश्वो न गर्दभः' आदि प्रयोगों में उष्ट्र और गर्दभ का बार-बार साथ-साथ उल्लेख होने से अनुमान होता है कि इन दोनों पशुओं का उपयोग-साम्य या साहचर्य था। ऊँट के चालक को उष्ट्रप्रणाय कहते थे।[2] ऊँट के अंग उपमानों का काम देते रहे हैं। ऊँट के समान लम्बी गरदनवाले उष्ट्रग्रीव और उष्ट्र जैसे मुखवाले उष्ट्रमुख कहे जाते थे।[3] इसी प्रकार, खरमुख भी होते थे। ऊँटों का बैठना भी आसन का एक प्रकार था।[4] बैठने की यह मुद्रा उष्ट्रासिका कहलाती थी।[5] सम्भवतः सादृश्य के कारण ही ऊँची गरदनवाली घटी (नाप) उष्ट्रिका कही जाती थी। व्याघ्र के समान ऊँट की खाल भी उपयोग में आती थी। कहा नहीं जा सकता कि किस प्रकार इसका उपयोग होता था। ऊँट को करभ भी कहते थे। उसे शृंखला में बाँधकर रखा जाता था।[6] वास्तव में यह शृंखलावती रस्सी ही होती थी जो नकेल के रूप में उसे पहनाई जाती है। ऊँट के सवार या सईस को उष्ट्रसादि कहते थे।[7] उष्ट्र या तो मरु-प्रदेश में मिलते थे या बहुत पहले ही बाहर से भारत में लाये गये थे। वैदिक काल तक में हम उन्हें बोझ ढोते और शकट खींचते पाते हैं।[11]

गर्दभ—उष्ट्र के समान खर भी भार-वहन एवं शकट-वहन के लिए पाला जाता था। उसका उल्लेख प्रायः उष्ट्र के साथ हुआ है। ४।३।१२ सूत्र के भाष्य में गदर्भ द्वारा खींचे जाने-वाले शकट का गदर्भ नाम दिया है। रथ को भी गार्दभ कहा है। इससे अनुमान होता है कि खच्चर या गर्दभ रथ में भी जोते जाते थे। ऊँचे स्वर से चिल्लाने के कारण इसे (ख=छिद्र+र=वाला) खर कहने लगे थे। गर्दभ मुख्य रूप से भार ढोने के काम आते थे।[12] खर पालने की प्रथा के आस्तित्व का पता गोस्थान, घोड़ाल और अश्वस्थान के समान (४।३।३५) सूत्र में खरशाल के उल्लेख से चलता है। गाँवों में प्रत्येक प्रकार के पशुओं के बाँधने के लिए शालाएँ रहती थीं जिसका अपभ्रंश रूप 'सार' आज भी प्रचलित है। घुड़सार का 'सार' भी इसी शाला का अपभ्रंश है। गधे पर सवारी

---

१ ७।१।५१ पृ० ४९।
२ ३।२।१ पृ० २०१।
३ १।१।६३ पृ० ४०७।
४ ३।१।७० पृ० ४४२।
५ ३।१।१७ ० १२९।
६ वही।
७ ४।१।३ पृ० २२।
८ ४।१।६० पृ० २३८।
९ ५।२।७६ पृ० २९९।
१० ६।२।४०।
११ अथर्व० २०, १२७-१३२।
१२ ८।१।११, पृ० १५४।

भी की जाती थी।[1] गधों की जोड़ी को खरगोयुग कहते थे।[2] एक स्थान पर भाष्य में गर्दभ के कापाय रंग के कानों का उल्लेख मिलता है।[3] भूरे रंग के गधा की स्वतन्त्र नस्ल की चर्चा एक स्थान पर है। खर आरण्यक भी होते थे।[4] यह तो निर्विवाद है कि खर आज के समान अस्पृश्य नहीं था। गर्दभ के दो पाँवों के काषाय (गेरुआ) रंग का उल्लेख भी मिलता है।

महिष—महिष और महिषी पतंजलि-युग में विशेष लोकप्रिय नहीं थे। सारे देश में उन्हें पालने की प्रथा नहीं जान पड़ती। वे प्रायः अरण्यों में रहते थे। आज भी भारत के किसी भाग में उनका उपयोग होता है और किसी में नहीं। तरुण भैंसों को जिनके सींग निकल रहे हों कटाह कहते थे।[5]

अजा और अवि—अजा को कृषक लोग धन मानते थे।[6] भाष्यकार ने कहा है कि देवदत्त के पास अजा और अवि-धन है। यह नहीं कह सकते कि किसके पास अजा-धन है और किसके पास अवि-धन। इन दोनों को धन में गिनने का कारण भी था। प्रारम्भ से अधिकांश भारतीय किसान भेड़-बकरियाँ पालते थे। वैदिक काल में ये सम्पत्ति मानी जाती थीं इसलिए इनके पालन पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। गान्धार और परुष्णी की ऊनवाली भेड़ों का उल्लेख ऋग्वेद में बार बार मिलता है। बाद में हिमालय प्रदेश ऊर्णा का प्रमुख स्रोत बन गया। भेड़ों और बकरियों का प्रमुख उपयोग ऊन और मांस प्राप्त करना ही था।

गाय के बाद सर्वसाधारण के सर्वाधिक उपयोग का प्राणी अजा थी। हाथी अश्व आदि को सब लोग नहीं पाल पाते थे। अजा दूध देती थी। वर्ष में बहुत सारे बच्चे देती थी। बकरे का मांस खाया जाता था। उसके चमड़े मशक आदि के काम आते थे। इसीलिए, अज और अवि को धन कहा है। अवि का ऊन और मांस दोनों काम में आते थे। जिस खेत में वे रात भर बैठ जातीं वह खाद पाने के कारण अधिक उपजाऊ हो जाता था। यज्ञों में भी बकरे की बलि दी जाती थी। गौ और अज दोनों यज्ञ में बलि किये जाते थे।[7] अज को बर्कर भी कहते थे।[8] अज अनेक शफवाला प्राणी है।[9] इस प्रकार, भाष्यकार ने प्राणियों के द्विशफ और अनेकशफ ये वर्ग भी बतलाये हैं। अज छोटा पशु है। उसे आते-जाते लोग अपने साथ एक गाँव

---

१ ५-२-५०।

२ ५-२-२९, पृ० ३७६।

३ काषायौ गर्दभस्य कर्णौ।—४-२-२, पृ० २६६।

४ २-१ ६९, पृ० ३९१।

५ १ १ २२, पृ० २०६ तथा ४ २-८७, पृ० २९६।

६ अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ न ज्ञायते कस्याजाधनं कस्याविधनमिति —१ १ ४६, पृ० २८०।

७ गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः।—४-१ ९२, पृ० ११५।

८ वही।

९ १-२-६५, पृ० ५९८।

१० १-२-७३, पृ० ६०९।

से दूसरे गाँव ले जाया करते थे।[१] अज-अवि की चर्चा तो अनेक स्थानों पर है। एक स्थल पर इन्द्र और अग्नि को छाग की हवि देने का उल्लेख है।[२] अज और मेढ़े का साथ उल्लेख भी मिलता है।[३] महाजन बड़े बकरे का वाचक था और उरभ्र मेढ़े का। भाष्यकार ने अलोमिका एडका का उल्लेख किया है। ऊन काट लेने के बाद भेड़ अलोमिका हो जाती है। ऊन काटनेवाले व्यक्ति को अविलून कहते थे।[४] ऋग्वेद में अवि का बार-बार उल्लेख है। बाद में उसका उल्लेख अज के साथ समस्त पद में प्रायः मिलता है। वृक इसका सबसे बड़ा शत्रु था। सोमरस छानने की चालनी भेड़ की ऊन की बनी थी। गान्धार की भेड़ ऊन के लिए प्रसिद्ध थी। डॉ॰ पिशल के मत से परुष्णी (रावी या इरावती) नाम ही परुष् से बनी होने के कारण पड़ा था[५]।

अवि का मांस भी बकरे के समान खाया जाता था। अवि के मांस को आविक कहते थे। आविक शब्द की व्युत्पत्ति आविक शब्द से मानी है। अज ऊँची-नीची किसी भी जगह पर जा सकता है। इसलिए, मानव-दुर्गम सँकरे मार्ग को अजपथ कहते थे[६]। कुछ लोग भेड़-बकरी खरीदने-बेचने का व्यवसाय करते थे और उसी से गुजारा करते थे।[७] तौल्वलि इसी प्रकार के व्यवसायी थे इसलिए उनका नाम ही अजा-तौल्वलि पड़ गया था।

भाष्यकार ने 'अजाकृपाणीय' शब्द का उल्लेख किया है[८] जो अजा और कृपाण-सम्बन्धी किसी कहानी की ओर संकेत करता है। बकरे के चर्म का उपयोग अनेक प्रकार से होता था।[९] भेड़ का दूध भी व्यवहार में आता था। भेड़ के दूध को अविसोढ अविदूस या अविमरीस कहते थे।[१०] भेड़ें जब एक दूसरी से सटी हुई सहस्रों की संख्या में खेत में बैठ जाती थीं तब ऐसा लगता था जैसे खेत में सफेद वस्त्र बिछा हुआ हो। इसीलिए भेड़ों के इस प्रकार बैठने को अविपट और भेड़ों के समूह को अविपट कहते थे।[११] भेड़ों के बैठने या

---

१ १ ४-५१ पृ० १०९।

२ इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य ।—२ १-६१, पृ० ४४८।

३ २ ४ १२ पृ० ४६७।

४ २ १-५० पृ० ४४२।

५ ३-३-१२६।

६ वै० इन्डे० १ ४१।

७ अवेर्मांसमिति विगृह्याविकशब्दात्पुत्पत्तिर्भविष्यत्याविकमिति ।—४ १-८८, पृ० १०२।

८ ३-१ १४ पृ० ५४।

९ २ १ ६९, पृ० ३३०।

१० २ १ ३ पृ० २६७।

११ १ १ १ पृ० ९४।

१२ ४-२ ३६, पृ० १७७।

१३ यथा नानाद्रव्याणां संघातः पट एवमवयः संहता अविपटः। यथा पटः प्रस्तीर्ण एवमवयः प्रस्तीर्णा अविपटः ।—५ २-२९ पृ० ३७६।

रहने का स्थान अविगोष्ठ कहलाता था।[1] प्रजा के लिए हितकर पशु को अजय्या कहते थे।[2]

रोमन्थ—ये सब पशु रोमन्थकारी हैं। एक साथ भोजन निगलकर बाद में धीरे-धीरे उसे चबाने की क्रिया रोमन्थ कहलाती है। भाष्यकार ने ३ १ १५ सूत्र के भाष्य में रोमन्थ की व्याख्या की है। उद्गीर्ण या अवगीर्ण का मन्थ करना रोमन्थ कहलाता है, किन्तु उसमें हनु भी चलना चाहिए। पशु के लिए 'रोमन्थायते' ऐसा प्रयोग होता है, किन्तु कीट के लिए नहीं। कीट के लिए 'रोमन्थं वर्तयति' ऐसा ही प्रयोग इष्ट है। यदि अवगीर्ण (अपानमार्ग से बाहर निकला हुआ पदार्थ) का मन्थ भी रोमन्थ माना जाता है, तो कीट की अवगीर्ण-मन्थक्रिया भी रोमन्थ मानी जायगी और उसके लिए भी 'रोमन्थायते' प्रयोग होने लगेगा। 'हनु चलने' पद देने पर कीट की मन्थ-क्रिया रोमन्थ में नहीं आती, क्योंकि उसमें हनु चलन नहीं होता।[3] काशिका में पशुभाग के लिए अष्टम शब्द का प्रयोग किया गया है। 'मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च' (५ ३-५१) की व्याख्या में 'अष्टम पशुसमा भाग' कहा है।

श्वा—कुत्ता मानव का बड़ा पुराना मित्र है। कुर्-कुर् करने के कारण इसे कुक्कुर भी कहते थे।[4] ऊँची नस्ल के कुत्ते को कौलेयक कहते थे।[5] वह खेतों में फसल की रक्षा करता था। इक्षु के खेतों को शृगाल के खाने से बचाता था क्योंकि कुत्ते और शृगाल का स्वाभाविक विरोध है।[6] भाष्यकार कुत्ते की प्रकृति से परिचित थे। उन्होंने कहा है कि जब कुत्ता आत्मम्-स्थान की तलाश में होता है, तब वह हूँ-हूँ करता है।[7] वे इस बात से भी अवगत थे कि श्वा और वराह की शत्रुता जन्मजात होती है। इस शत्रुता को श्वावराहिका कहते थे। कुत्तों के रहने के लिए भी कुछ घरों में पृथक् घर बना दिये जाते थे यह संकेत गोष्ठश्व से प्राप्त होता है।[8] ये श्वगोष्ठ के स्वामी कहलाते थे जो व्यवसाय के रूप में कुत्ते पालने का काम करते थे। ये लोग श्वागणिक कहलाते थे।[10] श्वागणिक लोग निश्चित धन लेकर उपभोग के लिए कुत्ते देते थे। मृगया के लिए आखेटक लोग श्वगणिकों को साथ ले जाते थे। राजाओं के अपने निजी श्वागणिक होते थे। पागल या अवाञ्छित कुत्ते मरवा दिये जाते थे।[11] कुत्ता तड़प-तड़पकर बड़ी बेचैनी से मरता है, इसलिए श्वपान या 'कुत्ते

---

१ ५-२-२९, पृ० १७५।

२ ६ ३ १६, पृ० १९९।

३ उद्गीर्णस्य चावगीर्णस्य मन्थो, रोमन्थः। यद्यपि हनुचलन इति वक्तव्यमिह मा भूत् कीटो रोमन्थं वर्तयति।—३-१-१५, पृ० ५५।

४ ८-२ १ पृ० ११२ तथा ८-२-७८, पृ० १८०।

५ ४-२ ९६, पृ० २०२।

६ २ ४-१२, पृ० ४६७।

७ १ ३-२१ पृ० ९२ तथा ६-१ ४२, पृ० १६०।

८ ४-२ १०४ पृ० ३१०।

९ ४ २-७७ पृ० ५०४।

१० ७-३-८, पृ० १७७।

११ १ १ १०८ पृ० १८५।

की मौत' एक मुहावरा भी बन गया था। मरने के बाद कुत्ते सड़क पर घसीटते हुए ले जाये जाते थे। यह उपेक्षा और अपमान की भावना भी 'कुत्ते की मौत' में सन्निविष्ट है। भाष्यकार ने श्वपच को श्वपाक कहा है।[1] कुत्ते अपराधियों के वध करने के काम में भी लाये जाते थे। कभी-कभी नगर या गाँव की किसी गली में बहुत-से कुत्ते एकत्र होकर भूँकते[2] थे जिससे वहाँ से निकलना कठिन हो जाता था। कुछ लोग कुत्ते का मांस भी खाते थे।[3] ये लोग निम्नतम श्रेणी के थे। कुत्ते को लोग प्यार से रखते थे पुचकारते थे। एक स्थान पर 'कुत्ते को काटनेवाला चूक रहा है' ऐसा उल्लेख है। कुत्ते जब मरने को होते हैं तब एकान्त में जाकर पड़ जाते हैं। उनकी आँखें सूनी और ऊपर चढ़ी हो जाती हैं।[5] श्वा को लेकर व्याकरण में एक न्याय भी चल पड़ा था कि जैसे पूँछ काट देने पर भी कुत्ता अश्व या गधा नहीं बन जाता अपितु कुत्ता ही रहता है, वैसे ही एक भाग के नष्ट हो जाने पर भी पदार्थ वही रहता है, दूसरा नहीं बन जाता।[6] कुत्तों का मारने या वश्यता करनेवाली लेही को श्वाविध् कहते थे और उसके मांस आदि को श्वाविध। भाष्यकार ने श्व-भस्त्रिका का उल्लेख किया है। सम्भवतः यह सुहार की धौंकनी रही होगी जो चमड़े की बनती थी।[8]

मार्जार—मार्जार ग्राम्य प्राणी है। जो पाला भी जाता था और अपालित भी बस्ती में रहता था। भाष्यकार ने इसका मुख्यकार्य चूहे मारना बतलाया है।[9] मोटा बिलाव स्थूलौतु कहलाता था।[10] बिलाव काले और धब्बेदार भी होते हैं। इन्हें क्रमशः कालक और पृष्पक कहते थे।[11]

कुक्कुट—कुक्कुट पालने की प्रथा भी बड़ी प्राचीन है। पाणिनि ने स्वरों में ह्रस्व दीर्घ और प्लुत की पहचान के लिए कुक्कुट के स्वर का ही आश्रय लिया गया है।[12] मुर्गे का मांस भी खाया जाता था यद्यपि ग्राम्य कुक्कुट अभक्ष्य था।[13] कुक्कुट के अण्डों का बार-बार उल्लेख होने से अनुमान होता है कि कुक्कुट के अण्डे खाये जाते होंगे।[14] मुर्गा भूख लगने पर कुट-कुट् करता है,

---

१ ३ १ १०७ पृ० १८४।

२ ४ १ १३, पृ० ३४।

३ ३-१ १३४ पृ० १९०।

४ ६ १ १४ पृ० ८८।

५ श्वानः स्वल्पापि मुमूर्षव एकान्तशीलाः शूनाक्षाश्च भवन्ति ।—३-१-७ पृ० २९ ।

६. श्वा कर्णे वा पुच्छे वा छिन्ने श्वैव भवति नाश्वो न गर्दभः ।—१ १-५६ पृ० ३३९।

७. ४ ३-१५६, पृ० ३००।

८. ७-३-८ आ० ३।

९. ३-२-८४ पृ० २३४।

१० ६ १-९४ पृ० १५१।

११ ६ १ १५८, पृ० १९५।

१२ १ ९-२७।

१३ आ० १, पृ० ११।

१४ ६-३ ४९, पृ० ३२७।

इस ओर भी भाष्यकार की दृष्टि गई थी।[1] न जाने कितने सहस्र वर्षों से कुक्कुट प्रातर्जागरण में लोगों की सहायता करता रहा है। भाष्यकार ने एक चरण उद्धृत किया है—'सुन्दरि, मुर्गे बोलने लगे। सवेरा हो चला।'[2] कुक्कुट के पाँव हारिद्र (पीले) रंग के होते हैं।[3]

शूकर—शूकर पालित भी होते थे और आरण्यक भी। पालित शूकर मांस तथा बालों के लिए उपयोग में आते थे। शूकर के मांस में चर्बी विशेष होती है। ग्राम्य शूकर का मांस अभक्ष्य माना जाता था। बाल निकालने के लिए शूकर को बाँध देते थे फिर उसका एक-एक बाल खींचकर उखाड़ते थे।[5]

आरण्य पशु

मृग—आरण्यक पशुओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—तृणाद्यभोजी तथा मांसभक्षी। अमांसभक्षियों में मृग मुख्य है। भाष्यकार ने उसे वातमज[6] अर्थात् वायु के समान शीघ्रगामी कहा है। मृगों की अनेक जातियाँ थीं। ऋष्य भी एक भेद था जिसकी मादा को रोहित कहते थे। चमड़ी पर दागवाले पशु जिन में हिरन भी सम्मिलित हैं, चर्मतिल कहलाते थे।[8] चर्मतिल मृग की पीठ पर चकत्ते रहते हैं। काले मृग को कृष्ण सारंग कहते थे।[9] और, मृग भी मृग की एक जाति थी।[10] इसकी पीठ पर श्वेत चकत्ते रहते थे। चमरी उस मृग को कहते थे जिसकी पूँछ का चमर बनाया जाता था। चमर के लिए चमरी का शिकार किया जाता था।[11] इसी प्रकार पुष्कलक गन्धमृग था।[12] इसकी नाभि में कस्तूरी मानी जाती थी। कस्तूरी एवं अंगलेप के लिए पुष्कलक का वध किया जाता था। द्वीपी भी मृग का भेद था जिसका चर्म अति सुन्दर होता था। द्वीपी का आखेट चर्म के लिए किया जाता था।[13] मृग का मांस खाया जाता था। मृगया का विषय होने के कारण ही इसका नाम मृग पड़ा। रुरु और पृषत् आदि के मृगों का उल्लेख भी भाष्यकार ने किया है।[14]

---

१ अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी।—१ १ १४२, पृ० १९०।
२ वदतनु, सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः।—१ १ ४८, पृ० ६७।
३ हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादौ।—४ २ २, पृ० १६६।
४ भा० १ पृ० ११।
५ शिखा पाशेन शूकरी।—८-२ ४४, पृ० ११२।
६ ३-२-२८ पृ० २१५।
७ ६ ३-३४ पृ० ११८।
८ ८ २-८, पृ० ११४।
९ २ १ ६९ पृ० १२०।
१० ९-१-६९ पृ० १२५।
११ केशेषु चमरीं हन्ति।—२ ३ ३६, पृ० ४११।
१२ सीम्नि पुष्कलको हतः।—वही।
१३ चर्मणि द्वीपिनं हन्ति।—२-३-३६, पृ० ४११।
१४ ९-४-१९, पृ० ४६६।

पृषत धब्बेदार मृग थे। हरित और हरिण जाति की स्त्री हरिणी, रोहित की रोहिणी कही जाती थी।[1] मृगी के दूध से भाष्यकार परिचित जान पड़ते हैं। मृगी का क्षीर 'मृगक्षीर' कहलाता था। मृगी की जाति का पुमान् मार्गार कहा गया है।[3] मृगतृष्णा शब्द के निर्माण में मृग ही कारण रहा है। प्यासे मृग बालू में भागते हुए सूर्य की तेज किरणों को पानी की धारा मान लेते हैं यद्यपि वह वहाँ नहीं होती।[4] भाष्य में हरिण की एक जाति न्यङ्कु भी बतलाई गई है।[5]

मृग खेतों को चर जाते थे। इसलिए, खेतों की रक्षा के लिए कृषकों को सदा सजग रहना पड़ता था। फिर भी यह नहीं होता था कि मृगों के डर से जौ ही न बोये जायें।[6]

गवय—अन्य शाकभोजी वन्य पशुओं में गवय का उल्लेख भाष्य में हुआ है। गवय गाय के समान होता है और गाय को देखकर गवय को सरलता से पहचाना जा सकता है।

नीली गाय—नीली गौ गाय के समान ही होती है। यह आरण्य होती है और हिरन के समान भागती है। नीले रंग की सामान्य गाय 'नीला गौ' कहलाती थी।

सिंह—मांसाहारी वन्य जीवों में सिंह, शृगाल, वृक, तरक्षु आदि प्रमुख हैं। सिंह हिंस् धातु से वर्ण-विपर्यय होकर बना है।[9] व्याघ्र, सिंह आदि से परिपूर्ण वन का उल्लेख भाष्य में है।[10] सिंह का चर्म अनेक कामों में आता था। घर की शोभा तो वह था ही, वस्त्ररूप में भी धारण किया जाता था। व्याघ्र-जैसे पैर होने के कारण ऋग्वेद के एक ऋषि भी व्याघ्रपाद हुए हैं, जिनकी कृति 'वैयाघ्रपद्य' कही जाती है।[11] व्याघ्री का उल्लेख भी एक स्थान पर मिलता है।[12]

शृगाल—शृगाल को क्रोष्टु भी कहते थे। इसका स्त्रीलिंग रूप क्रोष्ट्री होता है। भाष्य[13] में शृगाल के 'हुआ-हुआ' करने का उल्लेख है।[14] शृगाल का कुत्ते से सहज वैर होता है।[15] शृगाल

---

१ १-२ ६४ पृ० ५७३।

२ ६ १ ४२, पृ० १२७।

३ ४ १ १२० पृ० १४२।

४ मृगतृष्णावत्। यथा हि मृगास्तृषिता भ्रान्ता धारा पश्यन्ति न च ताः सन्ति।—४ १ ३ पृ० १७।

५ १-२-७ पृ० ५८।

६ न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते।—१ १ १९, पृ० २५१।

७ गौरिव गवयः। यस्य गवयो निर्ज्ञातः स्याद्गौरनिर्ज्ञातः तेन कर्तव्यं स्यात् गवय इह गौरिति।—२ १-५५, पृ० ३०८।

८ ४ १ ४२, पृ० ५५।

९ ३-१ १२३ पृ० १९१।

१० ५ २ ११५, पृ० ४१८।

११ १ १-७७, पृ० ३५२।

१२ ४ १ ४८, पृ० ६०।

१३ ७-१-९६ पृ० ९२।

१४ १ ३ २१ पृ० ६२।

१५ २-४ १२, पृ० ४६७।

को मरुव भी कहते थे।[1] शृगालों का वासस्थान वन में ही है।[2] बस्ती में लोग उन्हें मार डालते हैं किन्तु यदि वन में उचित आहार न मिला, तो वे कृश हो जाते हैं।

वृक—पतंजलि ने वृक का उल्लेख बार-बार किया है।[3] वृक से लोग बहुत डरा करते थे। वृक गाँवों की झाड़ियों में रहते थे और भेड़-बकरियाँ उठा ले जाते थे। वे प्रायः आदमी पर भी चोट करते थे। यह भाष्य में बिखरे अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है। 'तुम्हें पापधी वृक न पकड़ सकें'[5] यह आशीर्वचन भी इस ओर संकेत करता है। वृक का भय वन में होकर यात्रा करनेवालों को विशेष रहता था। जो चतुर होते थे वे पहले ही सोच लेते थे कि यदि वृक ने मुझे देख लिया तो मृत्यु निश्चित है, अतः वे उस ओर जाते ही नहीं थे।[6] वृक का स्त्रीलिंग वृकी होता है। श्रेष्ठ जाति की वृकी को वृकति कहते थे।[7] वृक बहुत चालाक प्राणी होता है। वह छिपकर तिरछा देखता है और चुपके-चुपके पीछे से आकर आक्रमण करता है। इसी कारण 'वृक के समान देखनेवाला' 'वृक के समान वंचक' ये विशेषण भी व्यवहार में थे।[9]

शल्यक—शल्यक आरण्यक पशु है, जिसके शरीर पर रोमों के स्थान पर काँटे रहते हैं। पंच पंचनखों में भी इसकी गणना है। शल्यक के काँटे इतने तीक्ष्ण होते हैं कि कुत्ता उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता उल्टे वही कुत्ते को बींध डालती है। कुत्ते को घायल करनेवाली होने के कारण ही उसे श्वाविध् कहते हैं।[10] श्वाविध् का मांस श्वाविधिक कहलाता है।

शश—आरण्यक वराह, महिष और कुक्कुट का उल्लेख ऊपर हो चुका है। लोम और नख वाले ये शल्यक, शृगाल, सिंह, कुत्ता आदि पशु अपवित्र माने जाते थे और इनका स्पर्श कर शुद्ध होने का विधान था।[11] आखेट-पशुओं में शश महत्त्वपूर्ण था।[12] उसका उल्लेख भी एक स्थान पर हुआ है।

ऋक्ष—ऋक्ष हिंसक पशु है। इसे भालुक भी कहते हैं।[13] भाष्यकार ने भल्लूक शब्द का भी व्यवहार किया है जिसका अर्थ स्पष्ट है।[14]

---

१ १.१.४७, पृ० १८८।
२ ७-१.९६, पृ० ९२।
३ १.४-२, पृ० १२७।
४ वही।
५ मा त्वा वृका अघायवो विदन्।—३.१-८, पृ० १४।
६. स एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति य पश्यति यदि मां वृका पश्यन्ति ध्रुवं मे मृत्युरिति। तं वृकं सम्प्राप्य निवर्तते।—१.४-२७, पृ० ११२।
७ १.१.३५, पृ० १२२।
८ वही।
९. वृकवञ्ची, वृकप्रेक्षी।—१-२-८०, पृ० २७३।
१० आ० १ पृ० ४० तथा ४.१.१५१, पृ० २७०।
११ लोमनखं स्पृष्ट्वा शौचं कर्तव्यम्।—आ० २, पृ० ६२।
१२ आ० १ पृ० ३२।
१३. ७-३.४५, पृ० १८९।
१४ १.४.६०, पृ० १११।

जल-जीव—नक्र[1] और ग्राह[2] जल के भयंकर मांसाहारी जीव हैं।

गोधा—जलीय जीवों में मकर और नक्र के साथ गोधा का स्थान है। गोधा के पुमान् को गौधेर कहते थे।[3] एक स्थान पर कहा है कि गोधा सर्प जाति की नहीं होती। केवल सरक-सरककर चलने के कारण ही उसे अहि नहीं कह सकते।

कच्छप—कच्छ (जलतट) से पीने के कारण इसे कच्छप कहते हैं।[5] कच्छप के स्त्री लिंग को कच्छपी या कूर्मी कहते थे।[6]

मण्डूक—मण्डूक उछल-उछलकर चलते हैं। व्याकरण में 'अधिकार' भी इसी प्रकार चलते हैं। बीच में सूत्रों को छोड़कर वे मण्डूक की तरह अगले सूत्र में अनुवृत्त होते हैं।

मत्स्य—मत्स्य भोजन के काम आते थे और आते हैं। तालाब से जो कोई मछली पकड़ कर लाता था वह काँटों-सहित पूरा-पूरा ले आता था और घर में लाकर उनके काँटे साफ करता था और उन्हें टुकड़े-टुकड़े करता था। मत्स्य का एक भेद 'विसार' भी होता है। तिमिंगिल भी मत्स्य को कहते हैं जो तिमि (बड़े आकार की मछली) को निगल लेती है। तिमिंगिलगिल तिमिंगिल को भी निगल लेती है।[8] मछली जलजीव है। जब वह चलती है, तब पानी और वह दोनों साथ-साथ चलते दिखते हैं। मत्स्य का स्त्रीलिंग रूप मत्सी होता है। मत्स्य का शिकार करनेवाला मात्स्यिक कहलाता था। इसी प्रकार मत्स्य के विशेष प्रकार, शफर और शकुल का शिकार करनेवाले को शाफरिक और शाकुलिक कहते हैं। मीन का शिकारी मैनिक कहा जाता था।[9]

पक्षी—पक्षी को शकुनि भी कहते हैं और शकुन्त भी। भाष्यकार ने कहा है कि पक्षी तेज चलन के कारण आगे से उड़ते ही दूर पीछे दिखाई देते हैं।[12]

काक—पक्षियों में काक सबसे धूर्त होता है। काक की सन्तान भी काक कही जाती है।[13]

---

१ ६ ३-७५।

२ ७-४ ४१ पृ० २३५।

३ ४ १ १२० पृ० १४२।

४ नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति।—१ १ २४, पृ० ११२।

५ ३-२-४ पृ० २०९।

६ ६ ३-१४ पृ० ३१७।

७ मण्डूकप्लुतयोऽधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः।—१ १ ३ पृ० ११२।

८ १ १ १९, पृ० ५११।

९ ६ ३-७० पृ० ३४०।

१० ८ ३-७९, पृ० ३५१।

११ ४ १-६३ पृ० ७४ तथा १ १ ६८, पृ० ४३५।

१२ अनुलय मानुपातित्वात् पुरस्तादुत्पतिता पश्चाद्दृश्यते।—आ० ९, पृ० ४२।

१३ १ १ ४५, पृ० २७८।

काक का स्त्रीलिंग रूप काकी होता है।[1] काक का कार्ष्ण्य प्रसिद्ध है।[2] काक और उलूक का सहज वैर है।[3] इसको आधार मानकर पंचतन्त्र के 'काकोलूकीय' तन्त्र की रचना हुई है। भाष्य में काकोलूकम् को शाश्वतिक विरोध के उदाहरण के रूप में ग्रहण किया है। कौए की बोली को वाश्र कहते थे। एक स्थान पर भाष्यकार ने विरोधी पर कटाक्ष करते हुए कहा है कि कौआ बोल गया इसलिए अधिकार की निवृत्ति नहीं हो जाया करती। काक कभी-कभी बाज के समान झुककर चोट करता है। इसलिए, 'कौआ श्येन के समान आचरण करता है'[5] यह उदाहरण भाष्यकार ने दिया है। काकतालीयन्याय (काकस्यागमनं तालस्य च पतनम्) काक को आधार मानकर ही संस्कृत में चल पड़ा था।[6]

श्येन—श्येन का उल्लेख भाष्यकार ने प्रायः काक के साथ ही किया है। श्येन की सन्तान भी श्येन ही कही जाती थी।[7] श्येन के समान पैरवाले को श्येनपाद् कहते थे। श्येन छोटी छोटी चिड़ियों का शिकार करता है। वह बटेर को मार डालता है।[8]

कपोत—कपोत प्रवत् को प्यार करता है और उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा[9] करता है। यह मांसाहारियों के भोजन का अंग रहा होगा या औषध-रूप में उसका शोरबा दिया जाता होगा जो 'कापोत रस' इस कथन से स्पष्ट है।[10] कपोतों के समूह को कापोत कहते थे।[11] कपोत की सन्तान कापोति कहलाती थी।[12]

मयूर—मयूर को भाष्यकार ने व्यंसक (धूर्त) कहा है।[13] मयूर का नृत्त तो सुविदित ही है।[14] मयूर और मयूरी साथ-साथ नृत्य करते हैं।[15] मयूर अपनी प्रिया को प्रसन्न करने के लिए नाचता है। मयूरी को इक्ष्वाकु भी कहते थे।[16] जिस ऋतु में मयूर विशेष नाचते हैं, उसे कलापी काल कहते थे।[17] मयूरी की पूंछ कबर होती है।[18]

कोकिल—वनगुल्म के भीतर विहार करनेवाली कोयल यदि वन से बिछुड़ जाय तो उसका स्मरण करेगी ही।[19] वसन्त ऋतु को अन्यकोकिल कहते थे, क्योंकि उसमें कोयल विशेष रूप

---

१ १ ३-४२, पृ० १२८।
२ २ २-८ पृ० १४३।
३ २-४ १२ पृ० ४६७।
४ ३-१-८, पृ० ३६।
५ २ १ ३ पृ० २६७।
६ १ १ ७५, पृ० २०८।
७ १ १-५७ पृ० १५३।
८ ६-१ ४८, पृ० ७९।
९ कपोत सारवं कम्पमानो।—७-३-८७, पृ० २१२।
१० ४ १ १५६ पृ० १६७।
११ ४-२-३६ पृ० १७८।
१२ ४ १ ९० पृ० १०९।
१३ २-१-७२, पृ० ३३०।
१४ ५-३ १७,
१५ प्रियां मयूरः प्रतिनर्तीति—पृ० ५१४, ७-१-८७, पृ० २१२।
१६ ४ १ ११, पृ० ७६।
१७ ४ ३-४८, पृ० २३५।
१८ ४ १-५५, पृ० ६६।
१९ २ ३ १७, पृ० ८७।

से बोलती थी।[1] कोकिल की बोली को अव्यक्त कहा है। उसे व्याहृत भी कहते थे।[2] स्त्री-कोकिल को पिकी कहते थे।[3]

हंस—हंस संस्कृत के साहित्यकारों एवं तार्किकों का प्रिय और आदर्श रहा है। भाष्य में स्त्री-हंस को वरटा कहा है।[4] हंस शब्द हन् धातु से बना है, जिसका अर्थ है मार्ग का हनन (गमन) करनेवाला।[5] भाष्यकार ने जल के समीपवासी होने की दृष्टि से हंस चक्रवाक को एक साथ द्वन्द्वैकत्व के उदाहरण के रूप में रखा है।[6]

शशघ्नी—भाष्य में शशघ्नी नामक शकुनि का भी उल्लेख मिलता है।[7]

उलूक—उलूक का उल्लेख केवल काक के शाश्वतिक विरोधी के रूप में हुआ है।[8] उलूक की बोली भयंकर होती है।[9] शाला की आकृति उलूक के पंख के समान और सेना की व्यूह रचना उलूक की पूँछ के समान की जाती थी।[10]

बक—बक-समूह को बलाका कहते थे। बलाका जब आकाश में उड़ती है तब उसकी शुक्लता दर्शनीय होती है।[11] बलाका सूर्य को उद्देश्य कर उड़ती है।[12]

चक्रवाक—यह जलीय पक्षी नदी के किनारे रहता है।[13] चक्रवाकी को कोकी भी कहते हैं।[14]

दार्वाघाट—कठफोड़ को दार्वाघाट कहते थे। यह लकड़ी में छेद करता है।[15]

शुक—शुकी का उल्लेख केवल एक स्थान पर हुआ है।[16] शुक की चर्चा खञ्जन और उलूक के साथ आई है।[17]

---

१ अवकूजः कोकिलयाऽवकोकिलो वसन्तः ।—२-२ १८, पृ० १५० ।
२ २-१ १७, पृ० ४५१ ।
३ ४ १ ११ पृ० ७४ ।
४ हंसस्य वरटा योषित् ।—४ १-१४ पृ० ११८ ।
५ हन्तेर्हंसः हन्त्यध्वानमिति ।—१ १ ११ पृ० ४३ ।
६ २-४ १२, पृ० ४६१ ।
७ ३-२-५१, पृ० २१६ ।
८ २-४ १२, पृ० ४६७ ।
९ ४-२-४५, पृ० १८१ ।
१० ४ १-५६, पृ० १९१ ।
११ २-२-८ पृ० ३४१ ।
१२ १ १-५८ पृ० ३७६ ।
१३ २ ४ १२ पृ० ४६६ ।
१४ ४-१ ११ पृ० ७४ ।
१५ ३-२ ४९ पृ० २१८ ।
१६ ४ १ ११ पृ० ७४ ।
१७ ४ २ ४५ पृ० १८१ ।

चटका—छोटी चिड़िया गौरैया को कहते हैं।[1] चटका के अपत्य को चाटकैर कहते थे।[2]

सुपर्ण—गरुड़ का दूसरा नाम सुपर्ण है जो पंखों की सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है।[3]

क्रौंच—क्रौंच का उल्लेख कोकिल के साथ हुआ है।[4] यह रामायण का प्रेरक पक्षी हंस भारतीय है।

अंगारक—अंगारक विशेष पक्षी का नाम है।[5] सम्भवतः यह नाम उनके लाल या काले रंग के कारण पड़ा है। इनकी स्त्रियों को कालिका कहते थे।

कृकवाकु—मुर्गे का दूसरा नाम है।[6]

कपिंजल—चकोर को कपिंजल भी कहते थे। चकोर का अपत्य कापिंजलि कहलाता था।

कुररी—बाज की जाति का मत्स्यभोजी पक्षी है।

किकिदीवि—यह नीलकण्ठ है, जिसे चाष भी कहते थे।[9] किकि नारिकेल वृक्ष का नाम है। उसपर विशेष रहने या क्रीडा करने के कारण किकिदीवि नाम पड़ा जान पड़ता है।

गृध्र—गृध्र मांसाहारी पक्षी है। गृध्र-सम्बन्धी वस्तु को गार्ध्र कहते हैं।[10]

कंक—सारस पक्षी का नाम था।[11] इसके पंख बाण के अग्रभाग में लगाये जाते थे।

वर्तिका—छोटा-सा पक्षी बटेर, जिसे श्येन झपट लेता है।[12]

विष्किर और विकिर पक्षी का सामान्य नाम है।[13] पत्रों के कारण ही पक्षी संज्ञा बनी है। पंखों के मूल को पक्षति कहते थे।[14]

क्षुद्र जन्तु—इनके अतिरिक्त अनेक क्षुद्र जन्तुओं के नाम यत्र-तत्र भाष्य में आये हैं। उनके मत से जो प्राणी कुचल देने पर भी न मरें वे क्षुद्र माने जाने चाहिए। किन्तु, क्षुद्र जन्तु की यह परिभाषा मान लेने पर मच्छर, जूं आदि क्षुद्र जन्तुओं की परिधि में न आ सकेंगे। इसलिए, उन्होंने अस्थिविहीन जन्तुओं को क्षुद्र माना। जिनमें अपना रक्त नहीं होता एवं सहस्रों की संख्या

---

१ ४.१.१२८ पृ० १४२।
२ ४-१.६१ पृ० ७४।
३ ४-१.१४, पृ० ३८।
४ ४.१.१२०, पृ० १४२।
५ अङ्गारका नाम शकुनयः। तेषां कालिकाः स्त्रियः।—६.१.१४, पृ० ११८।
६ ४.१.६६ पृ० ७९।
७ ४-१-९०, पृ० १०९।
८ ४-१-९१ पृ० १२५।
९ ४-२-३९, पृ० १८१।
१० ४.३.१५६, पृ० २६९।
११ १.४.२३ पृ० १५५।
१२ ६.१.४८, पृ० ७९।
१३ विष्किरः शकुनौ विकिरो वेति वक्तव्यम्।—६.१.१५० पृ० १९२।
१४ ५.२.२५, पृ० १०२

में मारने पर भी मनुष्य पाप का भागी न बने वे क्षुद्र जन्तु माने जाने चाहिए। सबसे सीधी परिभाषा यह है कि नकुल (नेवले) के आकार तक के प्राणी क्षुद्र जन्तु होते हैं।[1] भाष्य में निम्नलिखित क्षुद्र जन्तुओं के नाम आये हैं—

नकुल—नकुल का उल्लेख सर्प के स्वाभाविक विरोधी के रूप में हुआ है।[2] नकुल गरम स्थान पर एक क्षण भी नहीं टिकता। काक-उलूक, श्वा-वराह और सर्प-नकुल जन्मजात शत्रु होते हैं। इसी बात को लेकर अस्थिर व्यक्ति के व्यवहार के लिए 'अवतप्ते नकुलस्थितम्' कहावत चल पड़ी थी।[3]

सर्प—सर्प चिरकाल से मनुष्यों का घातक रहा है। प्रतिवर्ष हजारों मृत्युएँ सर्प के काटने से होती थीं। 'सर्प द्वारा मारा हुआ' कहकर भाष्यकार ने इस ओर संकेत किया है।[4] सर्प वल्मीक में रहता है।[5] काले साँप को कृष्णसर्प कहते थे। काले रंग का हर साँप कृष्णसर्प नहीं कहलाता था। जहाँ जाति न बतलानी हो केवल काले रंग का कोई भी साँप हो वहाँ समास न होकर 'कृष्ण सर्प' ऐसा प्रयोग होता था। इसीलिए, काले साँप (जाति) वाला वल्मीक इस अर्थ में 'कृष्णसर्पवान् वल्मीकः' प्रयोग होता था और साधारण सर्प अर्थ में 'कृष्णसर्पो वल्मीकः' प्रयोग होगा।[6]

साँप सरकता चलता है, इसीलिए उसका नाम 'सर्प' पड़ा है। उसकी चाल को सृप्त कहते थे। गाँव के पास या बीच में सर्पण के चिह्न देखकर लोग साँप निकलने का अनुमान करते थे। साँप जब क्रोध में होता है, तब फन उठाकर फुफकारता है। इस अवस्था में सर्प को 'ओवायमान' कहते थे। साँप को मारना बुरा नहीं माना जाता था। साँप के फन को दर्वि कहते थे।

वृश्चिक—वृश्चिक को शाड भी कहते थे। शाड का अर्थ है शड (डंक)-सहित।[7] वृश्चिक को मणिपुच्छी और विषपुच्छी भी कहते थे।[8]

---

१ क्षुद्रजन्तवः (क्षुद्रजन्तवः)। यद्येवं पूर्वाग्निमम् कीटपिपीलिकमिति न सिध्यति। एवं तर्ह्यनस्थिकाः क्षुद्रजन्तवः अथवा येषां स्वं शोणितं नास्ति ते क्षुद्रजन्तवः अथवा येषामाञ्जलिसहस्रेण न पूर्यते ते क्षुद्रजन्तवः। अथवा नकुलपर्यन्ता क्षुद्रजन्तवः।—२ ४-८, पृ० ४६४।

२ ४ २ १०४ पृ० २१०।

३ अवतप्ते नकुलस्थितं त एतत्।—१ ४-११ पृ० १४३।

४ २ १ १२ पृ० २८५।

५ २ १ ६९, पृ० ३२३।

६ जात्याख्यायामभिसम्बन्धः क्रियते। कृष्णसर्पो नाम सर्पजातिः साऽस्मिन् वल्मीकेऽस्ति। यदा ह्यन्तरेण जातिप्रत्यभिसम्बन्धः क्रियते कृष्णसर्पो वल्मीक इत्येवं तदा भविष्यति।—२ १ ६९, पृ० ३२६।

७ २ ३-६७ पृ० ४५४।

८ ३ १ ११ पृ० ४५।

९ ७-३ १०९ पृ० २१७।

१० ८ ३-५६ पृ० ४३६।

११ ४ १-५५, पृ० ६९।

मूषिक—नकुल सर्प का और सर्प मूषिक का शत्रु है। मूषिक को आखु और मार्जार को आखुहा कहते थे। मूषिका का पुमान् मौषिकार कहलाता था।[1]

दंश—दंश को पतंग कहते थे।[2] चींटियाँ इन्हें खींचकर बिल में ले जाती और भक्ष्य बनाती हैं।

मकड़ी—इसे तन्तुवाय भी कहते थे क्योंकि यह तन्तुओं से जाल बनाती है।[3]

पिपीलिका—चींटी पतंग का मुख खा जाती है, ऐसा एक स्थान पर उल्लेख है।[4]

मक्षिका—मक्षिका से भाष्यकार का तात्पर्य मधुमक्खी से है।[5] माक्षिक मधु की संज्ञा है। इसे मामुत भी कहते थे।

यूका—यूँ बहुत छोटा कीड़ा है। केशों से निकली यूका का उल्लेख भाष्य में है।[6]

लिक्षा—यह यूका के अण्डे के समान होती है। इसकी चर्चा क्षुद्रजन्तु के विवेचन में आ ही गई है। भाष्य में उल्लिखित जन्तुओं में यह क्षुद्रतम है।

ऊपर वर्णित जीवों में पालतू प्राणी तो निश्चित ही भारत के आर्थिक जीवन के अंग थे। आरण्यक पशुओं ने कुछ फसल को चरकर, कुछ आहार का अंग बनकर और कुछ पालतू पशुओं के भक्षक के रूप में आर्थिक जीवन को प्रभावित करते थे। पक्षियों में कुछ मांस द्वारा आहार के अंग थे या जन-जीवन में सहचर या मित्र का काम देते थे। जलीय जन्तुओं में मत्स्य भोजन का अंग था। इनमें अनेक जन्तुओं का चर्म उपयोग में आता था। क्षुद्र जन्तुओं में भी उन्हीं का उल्लेख हुआ है जो या तो मारक या पीड़क थे या घनिष्ठ सम्पर्क में आते थे।

पञ्चनख—पाँच नखवाले पशुओं में पाँच को शास्त्र में भक्ष्य माना था। वे थे—शशक शल्यक शल्की कूर्म और गोधा। ग्रामशूकर और ग्रामकुक्कुट अभक्ष्य थे। आरण्य शूकर और कुक्कुट भक्ष्य माने जाते थे।[7]

---

१ ४ १ १२० पृ० १४२ ।

२ १-२-४, पृ० २०९ ।

३ १-२-७७ का० ।

४ व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गमुखम् ।—१ ३ २० पृ० ११ ।

५ ४ १ ११६, पृ० २४९ ।

६ निष्केशी यूका ।—४ १-५४ पृ० ६९ ।

७. पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः। अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्रामशूकरः ।—का० १ पृ० ११ ।

अध्याय ४

शिल्प

क्षेत्र और उद्देश्य—भाष्यकार ने पाणिनि के समान कला और कौशल दोनों के लिए शिल्प शब्द का प्रयोग किया है। उनके शिल्पी की श्रेणी में एक ओर गायक, वादक आदि आते हैं[1] तो दूसरी ओर वाद्यों में निपुण ताल देनेवाले वादक।[2] मार्दङ्गिक, पैठरिक, माड्डुकिक, झार्झरिक और दार्दुरिक भी शिल्पी हैं[3] और पाणिघ, ताडघ भी। रजक, रञ्जक, कुम्भकार, तन्तुवाय[4] और नापित[5] भी शिल्पी हैं। जिनका शिल्प मृदंग है उनके लिए प्रयुक्त होनेवाले मार्दंगिक शब्द की निष्पत्ति पर शंका करते हुए उन्होंने कहा है कि शिल्प के कारण वादक को मार्दंगिक कहा जाय, तो कुम्हार को पहले मार्दंगिक कहना चाहिए, क्योंकि मृदंग का मुख्य शिल्पी वही है। इस शंका के समाधान के लिए उन्होंने शिल्प का अर्थ 'शिल्प के समान शिल्प' माना है, जिससे कुम्हार के समान ही मृदंग का जो अन्य शिल्पी (वादक) है, उसके लिए भी मार्दंगिक शब्द का व्यवहार हो सकता है। जो बात मार्दंगिक के विषय में है, वही बात पैठरिक, वैणिक, पाणविक, झार्झरिक आदि के विषय में कही जा सकती है। इसी प्रकार, एक जुलाहे की अपेक्षा अधिक अच्छे मसाले से बोकर अधिक मुलायम वस्त्र उत्पन्न करनेवाले जुलाहे के शिल्प की प्रशंसा की गई है।[8] एक बार दाढ़ी-मूँछ बनवाकर और बाल कटवाकर कभी-कभी लोग फिर से क्षौर कराने बैठ जाते थे। इसका कारण उनके आर्थिक सामर्थ्य की विशेषता या शिल्पी (नाई) की अधिक योग्यता ही थी।[9] इस प्रकार, पतंजलि के शिल्प का क्षेत्र हाथ से काम करने में चतुर नाई से लेकर वादक, नर्तक और गायक तक है। शिल्पियों की अपने कार्य में प्रवृत्ति शिल्प की उपासना के लिए नहीं थी। वे अपनी उन्नति के लिए

---

१ १ १ १३५, १३६, १३७ तथा ४ ४ ३५, ३६।

२ १ २-५५ ।

३ ४ ४ ३५ ।

४ ३-१ १४५ ।

५ ६ ३-७६ ।

६ ६ २ ६९ ।

७. किं यस्य मृदङ्गः शिल्पं स मार्दङ्गिकः? किं चातः? कुम्भकारे प्राप्नोति। एवं तर्हि उत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः। शिल्पमिव शिल्पम्। मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः, पैठरिकः।—४ ४-५५, पृ० २८०।

८. ५ ३-५५, पृ० ४२६।

९. ६ १ १२७ पृ० १८०।

कार्य करते थे। अच्छी कृति से उनका उद्देश्य होता था पारिश्रमिक और नये प्रशंसक ग्राहक पाना।[1]

गायक, वादक पाणिघ और तालव के अतिरिक्त भाष्य में निम्नलिखित शिल्पियों का उल्लेख है—

कुलाल—भारतीय ग्रामों में मिट्टी के पात्रों का चलन बहुत अधिक रहा है। घट तो प्रायः सभी मिट्टी के होते थे। घट बनाने के कारण कुलाल को कुम्भकार कहते थे। कुलाल के लिए कुम्भकार नाम का ही प्रचलन अधिक था।[2] जिसे घट की आवश्यकता होती वह कुम्हार के घर जाकर घट बनाने का आदेश देता।[3] कुम्हार गीली मिट्टी का पिण्ड लेता। पिण्ड को तोड़-मोड़ कर छोटे-बड़े घट बनाना चाहता तो गीली मिट्टी से छोटी बड़ी कुण्डियाँ या नादें तैयार करता था।[4] बड़े-बड़े मटके चतुर कुलाल ही बना सकता था जिसे महाकुम्भकार कहते थे।[5] वह मिट्टी के खिलौने बनाता था[6] धातुओं के साँचे और धातुओं का मिट्टी से बना भाग तैयार करता था।[7] खाने के लिए कटोरियाँ (शराव) जो यज्ञ के भी काम आती थीं[8] कुम्हार बनाता था। यज्ञार्थ छोटी घटियाँ उसी से प्राप्त होती थीं।[9] घट और घटी मिट्टी के दो पृथक् पिण्डों से बनाई जाती थीं जो कपाल कहलाती थीं।[10] कुलाल के बनाये पात्रों को कौलालक कहते थे।[11]

तक्षा—तक्षा ग्राम-जीवन का अति महत्त्वपूर्ण अंग था। वह हल की मूठें तथा अन्य काष्ठ-भाग बनाता था।[12] लकड़ी छीलता और उससे कपाट तथा छत में डालने की कड़ी तैयार करता था।[13] कृषि की उपज ढोनेवाली तथा सवारी के काम आनेवाली गाड़ियों का निर्माण तक्षा के भरोसे था।[14] यज्ञ के लिए आवश्यक यूप भी वही छीलता था।[15] छीलने तराशने का काम करने के

---

१ ३-१ २६, पृ० ७७ ।

२ १ १ ३, पृ० ३१ ।

३ आ० १, पृ० १७ ।

४ मृत् क्याविशतहस्त्या युक्ता पिण्डो भवति। पिण्डाहृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते। घटिकाहृतिमुपमृद्य कुण्डिका क्रियन्ते।—आ० १, पृ० १६ ।

५ ३-१-९९, पृ० १६७ ।

६ ४ ४ १४ ।

७ ४ ४-५५, पृ० २८० ।

८ १ १-७९, पृ० ४६७ ।

९ ६ ४ १००, पृ० ५५४ ।

१० १ १ ४४, पृ० २५१ ।

११ आ० १ पृ० १९ ।

१२ ४-३ ११६, पृ० ९५० ।

१३ ८-२-१, पृ० ३२७ ।

१४ ७-१-७३, पृ० ६४ ।

१५ २ ३-५, पृ० ४०८ ।

१६ ७-१ १९, पृ० ४४ ।

कारण ही उसे तक्षा कहते थे।[1] तक्षा के साधनों में भाष्यकार ने वासी (बसूला) का उल्लेख किया है।[2] काशिकाकार ने भिन्नार्थक में शस्त्री के रूप में आरा का उल्लेख किया है। शस्त्री से भिन्न अर्थ में आरा के स्थान पर आरि शब्द प्रचलित था। यह आरा बढ़ई का प्रचलित आरा था।[3] तक्षा यूप और शकटादि के लिए अलग-अलग काष्ठ-खण्ड तैयार कर लेता था।[4] शकट के अनेक अंग होते हैं—चक्र,[5] नेमि,[6] आर, नाभि[6] व अक्ष। तक्षा सबको अलग-अलग बनाकर उनका संयोजन करता था।[7]

रथकार—रथकार का काम और कठिन था। रथकार तक्षा से अलग होते थे जो मुख्यतः रथ बनाने का ही काम करते थे। रथ दोनों प्रकार के बनते थे—चलते समय शब्द करनेवाले और निःशब्द चलनेवाले।[8] शब्द करनेवालों (रथों) में श्रोताभिराम ध्वनि की व्यवस्था की जाती थी। बैठनेवालों के आराम के लिए कपड़े, चमड़े या सफेद कम्बल रथों पर मढ़ दिये जाते थे।[9] रथकारता स्वतन्त्र व्यवसाय था। रथकार साधारण तक्षा से ऊँची कोटि का होता था। उसे कुल्हाड़ी हाथ में लेकर ऐसे बड़े वृक्ष की लकड़ी काटनी होती थी[10] जो रथ के योग्य हो क्योंकि रथ के पहिये बहुत मजबूत होते थे।[11] शिंशपा का वृक्ष इसके लिए विशेष उपयुक्त माना जाता था। चतुर रथकार को नागरक रथकार कहते थे।[12] नागरक शब्द प्रावीण्य का बोधक था।

तक्षा चाहे साधारण हो या रथकार, दो प्रकार के होते थे—ग्रामतक्ष और कौटतक्ष।[13] ग्रामतक्ष गाँव के सभी निवासियों का काम करता था। वह उनके घर पर जाकर भी टूट-फूट ठीक करता था। इसके लिए उसे वर्ष में एक या दो बार फसल तैयार होने पर एक निश्चित अन्न

---

१ ३-१-७१ तथा ३-१-३६ पृ० २९२ ।
२ ४-१-३ पृ० १८ ।
३ ३ ३ १०४ का० ।
४ ५ १ ३६ पृ० २९२ ।
५ ३ २ १७१ पृ० २७८ ।
६ वही।
७ यदेव हि तक्ष्णतक्षकाणां अवतक्षणं तत्सम्यग्विनियुज्यते—नाभिनेमिरथमिति ।—५ १-२, पृ० २९९ ।
८ ५-४-७८ पृ० ५०१ ।
९ १ २ ७५ पृ० ५३५ ।
१० ८ १ ३० पृ० ९८० ।
११ ४-२-१० ।
१२ ४ १ ३ पृ० १८ ।
१३ ५ ४-७४ पृ० ५०२ ।
१४ ५ १ २ पृ० २९७ ।
१५ ४-२-१२८ काशिका।
१६ ५ ४-९५ ।

राशि मिलती थी। कौटतक्ष स्वतन्त्र व्यवसाय करता था। वह अपने घर बैठकर काम करता था और किये काम के लिए उचित मूल्य लेता था। राजतक्ष अपना स्वतन्त्र व्यवसाय नहीं कर पाता था। राजकर्म में प्रवृत्त होने पर उसे न अपने व्यवसाय के लिए अवकाश था और न अधिकार।[1] राजतक्ष होना गौरव की बात मानी जाती थी। प्रत्येक गाँव में तक्षा का एक घर होता ही था। किसी किसी ग्राम में दस-पाँच घर भी होते थे।[2]

लकड़ी छीलते समय बढ़ई जिस काष्ठ पर रखकर अन्य काष्ठ छीलता है, उसे उद्धन कहते थे।[3] तक्षा की सन्तान को ताक्ष्ण्य या ताक्षण्य कहते थे।[4] ताक्षण प्रयोग उत्तर में ही प्रचलित था।

धनुष्कार—धनुर्युद्ध का प्रचलन होने के कारण धनुर्विद्या शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग थी। गाँवों में लोग बाण चलाने का अभ्यास करते थे।[5] एतदर्थ कुछ लोग धनुष बनाने का ही काम करते थे जो धनुष्कार कहलाते थे।[6]

अयस्कार—भाष्य में तक्षा के साथ ही अयस्कार का उल्लेख मिलता है। वास्तव में एक दूसरे के पूरक होने के कारण आज भी लोहार-बढ़ई साथ-साथ याद किये जाते हैं। राजस्थान से निकली हुई मायावर जाति 'लुहार-बढ़ई' आज भी दोनों साथ काम करती हैं। अयस्कार को अयस्कृत् भी कहा है। कुण्टिलिका (संड़सी) से पकड़कर लोहे का पीटने के कारण उसे कौटिलिक भी कहते थे।[7]

तक्षा के समान अयस्कार भी कृषि के लिए आवश्यक औजार बनाता हल के फाल पीटकर नुकीले करता एवं कील-कांटे बनाता था। 'रज्जु या अयस् (लोहे) के तार से बंधा हुआ काष्ठ खींचा जाता है'[8] ऐसा उल्लेख भाष्य में हुआ है। 'लोहे के तार या शृंखला से कील में जुड़ा हुआ अर्थात् शृंखला से खूंटे में बंधा हुआ पशु उससे सम्बद्ध माना जायगा'[9] यह कथन भी एक स्थान पर मिलता है। इससे स्पष्ट है कि लोहे के तारों शृंखलाओं (लम्बी जंजीरों) और कीलों तथा पशुओं के बाँधने के काम आनेवाले खूंटों का प्रचलन गाँवों में था यद्यपि रज्जु और शङ्कु का भी प्रयोग होता

---

१ पुरयोऽयं परकमपि प्रवर्तमानः स्वयं कर्म जहाति। तद्यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वयं कर्म जहाति।—२ १ १ पृ० २१९।

२ २ ४ १० पृ० ४०६।

३ ३-३-८०।

४ ४ १ १५३, पृ० १४९।

५ १ ३ १२, पृ० ६२।

६ ३-२-२१।

७. २ ४ १०।

८. ६ ३ ६१, पृ० ३५५।

९. ४ ४ १८।

१० ८ ३-३७, पृ० ४२२।

११ २ १ १ पृ० २४३।

था।[1] परन्तु लकड़ी काटने के काम आता था।[2] यह प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तु थी। संकुसा (सरौता)[3] कुल्हाड़ी (इध्म प्रव्रश्चन) हँसिया (पलाश-शातन) परशु[4] तथा अन्य इसी प्रकार की साधारण व्यवहार की वस्तुएँ अयस्कार् बनाता था। कीलों की चर्चा तो अनेक स्थानों पर मिलती है।[5]

लुहार का मुख्य साधन था भस्त्रा (धौंकनी) जो चम की रहती थी। इसी से हवा करके वह अग्नि प्रज्वलित रखता था। लोहे को तपाकर वह अयोघन[7] से पीटता था।[8] दुर्घन और कुटिलिका[9] उसके दूसरे सहायक औजार थे।

कर्मार—कर्मार शब्द का व्यवहार लुहार और ठठेरा दोनों के लिए होता था।[10] इसका काम गृहोपयोगी धातु-पात्र बनाना था। छोटी-बड़ी सब नाप की स्थालियाँ (बटलोइयाँ) भगोने कटोरियाँ छोटे और बड़े कर्मार बनाता था।[11] यह लोहे के भी बनते थे।[12] बटी ताँबे की भी बनती थी।[13] पूजा-पात्र प्राय: ताँबे के बनते थे। लौह शब्द का प्रयोग ताँबे के लिए होता था। लौह कंसकों का व्यवहार खूब था।[14] लौहपात्र काँसे के पात्रों से श्रेष्ठ माने जाते थे।

कर्मार की सन्तान कार्मारायणि कहलाती थी।[15]

मूर्तिकार—मूर्तिकार की गणना भी कर्मारों में होनी चाहिए। मूर्तिकार धातु को पिघलाकर साँचों द्वारा मूर्तियाँ ढालते थे। ये मूर्तियाँ भीतर से पोली रहती थीं और अग्नि द्वारा भीतर से गरमकर साफ की जा सकती थी।[17] मूर्तियाँ प्राय: पशुओं की होती थीं। अश्व की प्रतिकृति

---

१ ५ १-२, पृ० ११४।
२ १ ४-२१ पृ० १५६।
३ २-१ १ पृ० २२७।
४ २-१-८, पृ० ३२४।
५ २ १ ३२, पृ० २८५।
६ २ २ ६, पृ० ३३९।।
७. ७-१ ४७ पृ० १९१।
८. ३ ३-८२।
९. ४ ४ १८।
१० ३-१-८९।
११ ४ १ १५५, पृ० १५०।
१२ १ ४-२१ पृ० १५६।
१३ ४ १ १ पृ० ११।
१४ भा० १ पृ० ५।
१५ १ १ १ पृ० १४।
१६. ४ १ १५५, पृ० १५०।
१७. धोमन्तां मूर्ति सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति।—भा० १, पृ० १०।

मूर्ति को अरचक कहते थे।[1] देव-पूजा के लिए भी मूर्तियाँ ढाली जाती थीं। इन्हें बेचने की प्रथा नहीं थी। ये पुजारियों की जीविका का साधन थीं। बाद में मौर्य शासकों ने मूर्तियाँ बनाकर उनका पण्य (विक्रय) प्रारम्भ किया। पण्यार्थ बनाई जानेवाली मूर्तियाँ जिस देवता की होती थीं उसके साथ 'क' प्रत्यय का प्रयोग होता था। जैसे शिवक, स्कन्दक। बिना विक्रय की मूर्तियाँ सम्बद्ध देवताओं के नाम से ही पुकारी जाती थीं। हो सकता है मौर्यों द्वारा निर्मित मूर्तियाँ पत्थर की हों। इस विषय में निर्विवाद रूप से कुछ कहना कठिन है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि मूर्तियाँ और खिलौने धातु, प्रस्तर एवं मिट्टी तीनों के बनते थे। धातु की मूर्तियाँ कर्मारों का ही एक वर्ग ढालता था। मिट्टी की मूर्तियाँ और खिलौने मुख्य रूप से कुम्भकार बनाते रहे होंगे। प्रस्तर की मूर्तियों के निर्माताओं का पृथक् शिल्पिवर्ग था।

सुवर्णकार—महाभाष्य में सुवर्ण और सुवर्णकारों का बार-बार उल्लेख हुआ है। इससे पता चलता है कि सिक्कों तथा आभूषणों के रूप में सुवर्ण का खूब प्रयोग होता था। सुवर्ण के आभूषणादि सुवर्णकार बनाता था। सुनार की छोटी-सी भट्ठी होती थी। वह कुटिलिका (संड़सी) से पकड़कर भट्ठी में सोने को तपाता और पीटता था। आवश्यकतानुसार वह सुवर्ण को एक या अधिक बार तपाता था। एक बार तपाने की क्रिया के लिए कहा जाता था निष्टपति सुवर्णं सुवर्णकारः किन्तु बार-बार तपाने के लिए 'निस्तपति' प्रयोग होता था। अधिक तपाने के लिए 'उत्तपति' क्रिया का व्यवहार होता था। भाष्य में कटक, किरीट, कुण्डल, रुचक, स्वस्तिक आदि अनेक आभरणों के नाम आये हैं।[5] एक स्थान पर कहा है कि पिण्ड-रूप में सुवर्ण की एक आकृति होती है। पिण्ड रूप को मिटाकर उससे रुचक बनाये जाते हैं। रुचकों को गलाकर उनसे कटक बना लिये जाते हैं। कटकों को बदलकर उनके स्वस्तिक बनाये जाते हैं। फिर, उसी सुवर्ण-पिण्ड को दूसरी आकृति में बदल दें तो उससे खदिर के दहकते कोयलों के समान कुण्डल बन जाते हैं।[6]

आकर—पाणिनि के शिल्पिनि ष्वुन् (३ १ १४५) सूत्र पर कात्यायन का वार्तिक है—'नृतिखनिरञ्जिभ्यश्चेति वक्तव्यम्'। इस वार्तिक के अनुसार निष्पन्न होनेवाला 'खनक' शब्द शिल्पी का बोधक था। यह बात इससे और भी स्पष्ट है कि काशिकाकार ने 'ठगायस्थानेभ्यः' (४ ३-७५) सूत्र के उदाहरणों में 'आकरिकम्' को भी संगृहीत किया है और आकर को आय-स्थान अर्थात् राज्य को कर देनेवाला स्थान माना है। अवक्रय (४ ४-५०) की व्याख्या में यह बात और स्पष्ट हुई है। अवक्रय उस कर को कहते थे जिसे चुकाने के बाद वस्तु बाजार में ले जाकर

---

१ ८-३ १०२।

२ वही।

३ ८-३ १०२।

४ १ १ २७, पृ० ९४।

५ कटकी, कुण्डली, किरीटी—विविधाभरणभूषितो देवदत्त इति।—१ १-२, पृ० १८।

६ सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते। रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते। कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः।—आ० १ पृ० १६।

बेचने की छूट प्राप्त हो सके। यहाँ भी आकरिक का उल्लेख है। इससे यह निर्विवाद है कि खदानों से धातु और रत्न खोद निकालने का काम पर्याप्त मात्रा में होता था और आकर राज्य की आय के अच्छे स्रोत थे।

आकर से खोदकर निकाली हुई धातुओं में हिरण्य का उल्लेख अनेक बार मिलता है।[1] बिना साफ किये हुए जातरूप हाटक का भी बार-बार उल्लेख हुआ है।[2] रजत सीसा लोहा और अयस भी साधारण व्यवहार में आते थे।[3] त्रपु (टीन) को तो भाष्यकार ने जतु के साथ बार-बार स्मरण किया है।[4] कांस का उल्लेख कर्मार के प्रसंग में हो चुका है।[5] इन कच्ची धातुओं का शोधन कर अयस्कार, कर्मार और सुवर्णकार उपयोग करते थे।

उनके धातुओं के अतिरिक्त रत्न भी निकालते थे। भाष्य में मणियों का उल्लेख कई प्रसंगों पर हुआ है।[6] लोहितक लाल को कहते थे। मणि अर्थ में लोहित (रक्त) शब्द से कन् प्रत्यय होकर यह शब्द निष्पन्न हुआ है। पन्ना या मरकत मणि के लिए शस्यक शब्द का व्यवहार होता था। भाष्यकार ने मणि को शतधार कहा है।[8] यह नाम सैकड़ों किरणों से प्रकाशित होने के कारण पड़ा होगा। चौबारेन्द्र भी एक विशिष्ट मणि का नाम था।[10] वैदूर्य नाम तो संस्कृत साहित्य में सुपरिचित है। यह विदूर पर्वत से प्राप्त होती थी। विदूर का दूसरा नाम बालवाय था। वैयाकरण लोग बालवाय को विदूर कहते थे। कुछ लोगों के मत से बालवाय और विदूर दो अलग स्थानों के नाम थे। वैदूर्य मणि बालवाय में उत्पन्न होती थी और विदूर में साफ की जाती थी।[11] मणियाँ प्रस्तर से निकलती हैं, इसलिए उन्हें आश्म भी कहा जाता था।[12]

रजक—ऊपर कहा जा चुका है कि शिल्पिनि ष्वुन् (३ १ १४५) सूत्र के वार्तिक नृति खनिरञ्जिभ्य इति वक्तव्यम् में रजक की गणना भी शिल्पियों में की गई है। अन्यत्र भी भाष्यकार ने कपड़ा रँगने का स्पष्ट उल्लेख किया है।[13] एक अन्य स्थान पर रजक रजन और रज शब्दों की निष्पत्ति उन्होंने बतलाई है।[14] इससे यह तो साफ ही मालूम होता है कि भाष्यकार के समय में

१ ५ २-६६ पृ० ३९९ ।
२ ४ ४ १५१ ।
३ ४-३-१०४ ।
४ १ १ ७० पृ० २९० ।
५ ८-२ ३, पृ० ३१७ ।
६ १ १-२७, पृ० २२८ ।
७ ५ ४-३० ।
८ ५-२ ९८ ।
९ ६ १ ११५, पृ० १७४ ।
१० ७-३-८, पृ० १७७ ।
११ बालवायात् प्रभवति विदूरे संस्क्रियते ।—४ ३-८४ पृ० २४९ ।
१२ ६ ४ ११४ पृ० ४८९ ।
१३ ६ ४ २४ पृ० ४०७ ।
१४ ६ ४ २४ पृ० ४०८ ।

कपड़े रँगनेवालों का एक स्वतन्त्र शिल्प था और कुछ लोगों की जीविका इसी पर निर्भर थी।

वस्त्र जिस रंग से रँगा जाता था उसी के नाम से पुकारा जाता था।[1] उदाहरणार्थ—कषाय से रँगे वस्त्र को काषाय कहते थे। लाख, रोचना, शकल, कर्दम, नीली, पीत, हरिद्रा और महारंजन[2] से वस्त्रों के रँगे जाने का वर्णन भाष्यकार ने किया है। इन रंगों से रँगे गये वस्त्र क्रमशः लाक्षिक, रौचनिक, शाकलिक, कार्दमिक, नीलक, पीतक, हारिद्र और माहारंजन कहे जाते थे। लाक्षा को जतु भी कहते थे। जतु से रँगे वस्त्र की संज्ञा थी जातुष। रोचना हरताल का दूसरा नाम था। शकल टूटे हुए मिट्टी के पात्रों के टुकड़े होते थे। कर्दम (तालाब के नीचे की मिट्टी) से वस्त्र रँगने की प्रथा आज भी उत्तरप्रदेश में उत्तर-पश्चिमी ग्रामों में पाई जाती है। इसका रंग नीला काला मिश्रित-सा आता है। डॉ० वा० श० अग्रवाल का यह अनुमान है कि कर्दम मोटे कपड़े की पहली धुलाई के उपयोग में आती रही होगी। लाल रंग का भी प्रचार काफी था। ऋत्विक लोग लाल रंग की पगड़ी बाँधते थे।[9] महाराष्ट्र और निमाड़ में आज भी लाल पगड़ी बाँधने की प्रथा है। लाल रंग से रँगे वस्त्र को लोहितक[10] और काले रँगे वस्त्र को कालक कहते थे।[11] जतु का व्यवहार वस्त्र रँगने के अतिरिक्त वार्निश में भी होता था। कोई-कोई रंग सरलता से ही वस्त्र पर चटकीला उतरता है। ऐसे ही वस्त्र को लक्ष्य कर एक स्थान पर कहा गया है कि वस्त्र अपने-आप ही रँग गया।[12] कभी-कभी एक वस्त्र के भिन्न-भिन्न भागों को अलग-अलग रंगों से रँगते थे। ये वस्त्र चित्रवासस् कहलाते थे।[13]

तन्तुवाय—तन्तुवाय का उल्लेख भाष्य में रजक के साथ मिलता है।[14] तन्तुवाय वस्त्र बनाते थे। घर-घर में सूत कातने की प्रथा थी। काता हुआ सूत तन्तुवाय को दे दिया जाता था। तन्तुवाय स्वयं भी सूत तैयार करते होंगे किन्तु भाष्य में तन्तुवाय के घर जाकर उसे सूत देकर

---

१ ४-२-१।

२ ४-२-२।

३ वही, पृ० १६६।

४ वही।

५ वही।

६ वही पृ० १६६।

७ ३ १ १ पृ० ५।

८. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० १३१।

९. लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति।—१ १ २७ पृ० २२०।

१० ५ ४-३२।

११ ५ ४ ३३।

१२ ३ १ ९०, पृ० १५७।

१३ १ १ २७ पृ० २२०।

१४ २-४-१० पृ० ४५५।

वस्त्र बुनवाने की चर्चा है। कोई तन्तुवाय को सूत देकर कहता है कि इसकी धोती बुन दो। तन्तुवाय सोचता है कि यदि धोती है, तो बुनने की क्या आवश्यकता? और यदि बुनना है, तो धोती नहीं हो सकती। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मुझे सूत को इस प्रकार बुनना है कि बुनने पर इसका नाम शाटक हो जाय। इसकी शाटक संज्ञा अभी होनेवाली है, है नहीं।[1]

बुनाई के साधन—तन्तुवाय के तुरी-वेमा को जिसपर वह वस्त्र बुनता था आवाय कहते थे।[2] इसका वेमा तन्त्र कहलाता था।[3] जिससे वह बुने हुए सूत को सघन करता जाता था उस (Shuttle) की संज्ञा थी प्रवाणि अर्थात् जिससे बुना जाय। यह तन्तुवाय की शलाका थी ऐसा काशिका में कहा है। तन्तुवाय पहले सूत को उतना लम्बा चौड़ा फैला लेता था जितना लम्बा चौड़ा वस्त्र उसे बुनना हो। इस तन्त्र को आस्तीर्ण कहते थे।[5] बाद में वह चौड़ाई में सूत पिरोता जाता था। प्रवाणि से बुनकर तुरन्त हटाया गया वस्त्र निष्प्रवाणि कहलाता था। कम्बल की बुनाई का प्रकार भी यही था। इसलिए कम्बल को निष्प्रवाणि कहा जा सकता था। तन्त्र पर से हटाया हुआ अर्थात् तुरन्त बुनकर उतारा हुआ वस्त्र तन्त्रक कहा जाता था।[8] तन्त्रक और निष्प्रवाणि दोनों शब्दों का अर्थ होता था तुरन्त बुने हुए वस्त्र।

धुलाई के मसाले—बुनने के बाद तन्तुवाय वस्त्रों को मसाले से धोते थे जिससे मटमैले सूत के वस्त्र भी शुक्ल हो जाते थे।[9] शुक्लता में भी अन्तर होता था। भाष्यकार ने वस्त्र के शुक्ल और शुक्लतर ये भेद किये हैं। शुक्लता और सूत के अन्तर से वस्त्रों के मूल्य में भी अन्तर रहता था।[10] बराबर लम्बाई और चौड़ाई होने पर भी काशी में बने वस्त्र का मूल्य मथुरा में बने वस्त्र से भिन्न रहता था। इसका कारण वस्त्रों का गुण-भेद था। बनानेवाले जुलाहे धौत को दूसरे मसाले से धोते थे चैकालिक को दूसरे से और माध्यमिक को तीसरे से। इस प्रकार वे किसी वस्त्र चैकालिक को दूसरे से और माध्यमिक को तीसरे से। इस प्रकार वे किसी वस्त्र को शुद्ध धौत बना देते थे किसी को चैमासिक और किसी को माध्यमिक। वस्त्रों के मूल्य भेद का यही कारण न था। उनकी सूक्ष्मता की तरतमता भी मूल्य के

---

१ १ १ १७५, पृ० २८०।

२ ३ ३-१२२।

३ ५ २-७०।

४ ५ ४ १६०।

५ आस्तीर्णं तन्त्रम् प्रोतितन्त्रम्।—१ ४-५४, पृ० १८४।

६ वही।

७ ५ ४ १६० काशिका।

८ तन्त्रादचिरापहृतः तन्त्रकः पटः तन्त्रकः प्रावारः। प्रत्ययो नव उच्यते।—५-२-७०, काशिका।

९ १ १ ११ पृ० १०६।

१० ५ ३-५५, पृ० ३५२।

अपकर्षोत्कर्ष का कारण होती थी। सूक्ष्मता का दायित्व सूत्र या तन्तु कातनेवाले पर निर्भर रहता था।[1]

रेशम के वस्त्र—कार्पास-वस्त्र के अतिरिक्त तन्तुवाय रेशम के भी वस्त्र बनाते थे। भाष्यकार ने इन्हें क्षौम वस्त्र कहा है।[2] ये क्षुमा से बनते थे। वस्त्र कौशेय भी होते थे। भाष्यकार ने बतलाया है कि कोश से उत्पन्न होने के कारण इन्हें कौशेय कहते हैं। यों ये कोश में नहीं उत्पन्न होते अपितु कोश के विकार होते हैं। यों तो धूल भी कौशेय से होती है। कोश को जला दो तो उसकी धूल भी कोश का ही विकार मानी जायगी। कोश में उत्पन्न मानें तो रेशम का कीड़ा भी तो कोश में ही रहता है फिर भी कीड़े या धूल या भस्म के लिए लोक में कौशेय का प्रयोग न होकर वस्त्र के लिए ही होता है।[3]

भारत में क्षौम के प्रारम्भ का पता लगाना कठिन है। चीन में रेशम के कीड़े २७वीं बी० सी० शती में पाले जाते थे। कुछ इतिहासविदों के अनुसार खोटन के राजकुमार के साथ एक चीनी राजकुमारी का विवाह हुआ था और वह चीन से चोरी-चोरी रेशम के कीड़े तथा शहतूत का पौधा ले आई थी। कुछ विद्वानों के मत से भारत में रेशम का आगमन छठी बी० सी० में भारत-चीन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप हुआ यद्यपि यह इस बात का प्रमाण है कि भारत के पूर्वीय भाग में रेशम के कीड़ों के अनेक भेद पहले से ही विद्यमान थे।

भारत में ७वीं बी० सी से रेशम का पर्याप्त प्रचार था। अर्थशास्त्र में भारतीय रेशम के साथ चीनपट्ट और चीनभूमिज रेशम का भी उल्लेख है।

ऊर्ण वस्त्र—कम्बल या ऊर्णा के वस्त्र बनानेवालों को भी तन्तुवाय ही कहना चाहिए, यद्यपि कम्बल या ऊनी वस्त्र बनानेवालों का एक स्वतन्त्र वर्ग था। सूती वस्त्र सूत्र से बनते थे। बटी हुए ऊन के तागे के लिए तन्तु का व्यवहार होता था। इस प्रकार, शुद्ध अभिप्राय की दृष्टि से तन्तुवाय इन्हीं को कहना चाहिए। भाष्यकार ने कहा भी है—'एक तन्तु त्वचा की रक्षा नहीं कर सकता किन्तु उनका समुदाय रूप कम्बल कर सकता है।'[4]

कम्बल—कम्बल सफेद रंग के बनते थे।[5] काले या पाटल भी बनते होंगे। शुक्ल कम्बल का उल्लेख भाष्यकार ने कई बार किया है। यों तो कम्बल भिन्न-भिन्न आयाम और विस्तार के बनते थे तथा उनकी मोटाई और वजन में अन्तर रहता था किन्तु एक विशेष प्रकार के कम्बलों का प्रचलन अधिक था, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई और वजन निश्चित था। ये निश्चित परिमाण के कम्बल बाजार में अधिक मिलते थे। सामान्य कम्बल कहने से इन्हीं का बोध होता था। यद्यपि

---

१ महतस्यापि सूक्ष्माणि वस्त्राण्यस्यापि सूक्ष्माणि वस्त्राणीति परस्परसातिशयिक-प्राप्नोति—सूक्ष्म वस्त्रतरादयं—५ ३-५५, पृ० ४५२।

२ ८ ३ ३७ पृ० ४२२।

३ कोशस्य विकारः कौशेयम्। न ह्यसौ कोशे सम्भवति। किं तर्हि कोशस्यासौ विकारः—वस्त्रमपि कोशस्य विकारः।—४ ३ ४२, पृ० ३३४।

४ १-२-४५, पृ० ५३५।

५ १-२-१८ पृ० १०३।

सामान्य परिमाण के तथा दूसरे विक्रय-योग्य कम्बलों को पण्यकम्बल ही कहते थे फिर भी दोनों अर्थों में प्रयुक्त इस शब्द के उच्चारण में अन्तर था। सामान्य कम्बल जिसका औसत वजन १०० पल या ५ सेर रहता था उच्चारण में पूर्वपद प्रकृति-स्वर रहता था किन्तु अन्य पण्यकम्बलों के उच्चारण में समासान्तोदात्त बोला जाता था। पूर्व-पद प्रकृति-स्वरवाला 'पण्यकम्बल' शब्द संज्ञा बन गया था। निश्चित परिमाण के इस कम्बल में लगनेवाली ऊन का वजन भी संज्ञा बन गया था। इसे कम्बल्य ऊर्णा कहते थे। कम्बल्य शब्द १०० पल ऊन का पर्यायवाची बन गया था। उससे भिन्न परिमाण के कम्बल में काम आनेवाली ऊर्णा को कम्बलीय कहा जाता था।[1] कम्बल्य शब्द परिमाण की संज्ञा बन गया था। कम्बल्य से क्रय-विक्रय का काम चलता था। यथा दो कम्बल्यों से खरीदी वस्तु द्विकम्बल्य कही जाती थी।

पाण्डुकम्बल—कभी-कभी देशविशेष में बनने एवं प्रसिद्धि पा जाने के कारण वहाँ के कम्बलों का नाम उस प्रदेश के नाम पर चल पड़ता था। उदाहरणार्थ रंकु-प्रदेश में बने कम्बल रांकव कहलाते थे[2]। इसी प्रकार, पाण्डुकम्बल भी विशिष्ट कम्बलों का नाम पड़ गया था जो पाण्डु रंग के तो होते ही थे किन्तु पाण्डु रंग के साधारण कम्बल न थे। डॉ॰ वा॰ श॰ अग्रवाल के अनुसार ये उड्डीयान या स्वात घाटी में बनाये जाते थे और वहाँ से देश भर में निर्यात होते थे। ये बहुमूल्य थे और काशिका के अनुसार राजास्तरण के काम आते थे। रथों के आसनास्तरणों के रूप में इनका प्रयोग होता था। रथों का अन्तर्भाग सामान्यतया तीन वस्तुओं से मढ़ा जाता था—वस्त्र, चर्म और कम्बल।[3] सामान्य कम्बल से मढ़ा हुआ रथ 'काम्बल रथ' कहलाता था किन्तु पाण्डु कम्बल से मढ़े हुए रथ का वैशिष्ट्य-सूचन के लिए उसे पाण्डुकम्बली कहते थे।[4] सामान्य कम्बल के ऊपर इसका महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए ही इसे राजास्तरण कहा जाता था। इसकी किनारी रंगीन होती थी।

डॉ॰ अग्रवाल ने कम्बल की प्रावार और वर्णक नामक दो जातियाँ और मानी हैं पर वास्तव में ये कम्बल के भेद नहीं थे। प्रावार या प्रवर ऊनी सूती या रेशमी किसी भी प्रकार की चादर को कहते थे जो उसके निष्पादक सूत्र 'वृणोतेराच्छादने' (३.३-५४) से स्पष्ट है। यदि यह शब्द संज्ञा होता तो इसी अर्थ में द्वितीय शब्द प्रवर न बनता क्योंकि संज्ञा शब्द रूढ होते हैं। तन्त्रादचिरापहृते (५.२-७०) सूत्र के काशिकोदाहरण 'तान्त्रक' पट' तान्त्रक प्रावार:

---

१ पण्यकम्बलः संज्ञायामिति वक्तव्यं यो हि पणितव्यः कम्बलः पण्यकम्बलः एवासौ भवति। ६.२-४२, पृ॰ २५९।

२ ५.१.३ पृ॰ २९७।

३ ४.२-१०० काशिका।

४ ४.२-११, पृ॰ १७१।

५. ४.२-१० पृ॰ १७०।

६. ४.२.११ पृ॰ १७१।

७. पाण्डुकम्बले शब्दो राजास्तरणस्य वर्णकम्बलस्य वाचकः—४-२-११ का॰।

८. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि पृ॰ २१२।

में पट से पृथक प्रावार का उल्लेख उसके तान्तव होने में प्रमाण नहीं माना जा सकता। वर्णका किसी भी ऊनी कपड़े को कह सकते हैं। उसका कम्बल होना आवश्यक नहीं है विशिष्ट जाति का कम्बल होना तो दूर की बात है। केवल तान्तव (तन्तु से बना हुआ) अर्थ में वर्णका शब्द प्रयुक्त होता था।[1] ऊर्णा से बने वस्त्र को साधारणतया और्ण या और्णिक कहते थे।[2]

इस प्रकार, तन्तुवाय भारतीय आर्थिक जीवन का अनिवार्य और प्रमुख अंग था। वह अपने तन्त्रों का स्वामी होता था और आर्थिक दृष्टि से उन्नत था। तन्तुवाय के शिल्प में प्रतियोगिता के कारण पतञ्जलि-काल में पर्याप्त प्रगति हुई जान पड़ती है। यहाँतक कि काशी मथुरा माध्यमिका (चित्तौड़) के वस्त्र अपने शिल्प-वैशिष्ट्य के कारण अलग-अलग पहचाने जा सकते थे। इस प्रतियोगिता के कारण ही वस्त्रों के रूप रंग और सूक्ष्मतादि गुणों में पर्याप्त उन्नति परिलक्षित होती है।

तन्तुवाय की सन्तान तान्तुवाय्य कहलाती थी। उत्तर में तान्तुवायि शब्द का प्रचलन था।[3] इसी प्रकार अयस्कार के अपत्य को आयस्कारि, लोहकार के पुत्र को लौहकारि और नापित की सन्तान को नापितायनि कहकर पुकारा जाता था।

चर्मकार—चर्मकार मरे पशुओं का चर्म उधेड़ता उसे कमाकर मुलायम बनाता और उससे आवश्यक वस्तुएँ तैयार करता था। आर्द्र चर्म तथा रक्तमिश्रित चर्म को वह व्यवहार में लाता था।[4] शिकार में मारे हुए पशुओं का ताजा चमड़ा प्रचुरता से प्राप्त हो जाता था क्योंकि शिकार की प्रथा पतञ्जलि-काल तक खूब थी। चर्मकार वार्ध्रा (बद्धी) नध्री (नद्धी) वरत्रा (बरत) कोश (तलवार आदि के म्यान) सनम् (चर्म-वस्तु) छदि (आवरण) और उपानह् (जूते) बनाता था। इनके लिए प्रयुक्त होनेवाले चर्म की संज्ञा भाष्यकार ने वार्ध्र (वार्ध्रा)[5] वारत्र[6] (वरत्रा) सामनार्थ्य[7] (समनु) छादिषेय (छदि)[8] और औपानह्य[9] (उपानह्) बतलाई है। चमड़े के तलवार के म्यान या रथ को चार्मकोश कहते थे।[11] रथकार के बैठने का भाग चमड़े से मढ़ा जाता था। ऐसे रथ को चार्मण कहते थे।[12] उपानह् चमड़े और लकड़ी दोनों के

---

१ ७-३ ४५, पृ० ३१०।
२ ४ १ १५८।
३ ४ १ १५२ पृ० १५३।
४ ४ १ १५८, पृ० १५३।
५ ७-१ ३६, पृ० ४४।
६ ५ १ १५।
७ वही।
८ ५ १-२, पृ० २९४, २९५।
९ वही।
१० वही।
११ ६ ४ १५४, पृ० ४८३।
१२ ४-२-१० का०।

बनते थे।[1] चर्मकार पैर की नाप लेकर जूता तैयार करता था जिसे अनुपदीन कहते थे।[2] कुछ चर्मकार जूते की तली में मत्ता लकड़ी या अन्य ऐसी वस्तु भर देते थे। कुछ जूते केवल चर्म के बनते थे जो सर्वचर्मीण कहे जाते थे।[3] सर्वचर्म का अर्थ यहाँ पूरा या समूचा चमड़ा नहीं है। इसलिए, सर्वचर्मीण का अर्थ बिना काटे हुए समूचे चमड़े से बनी हुई वस्तु नहीं है। यह काशिकाकार ने स्पष्ट किया है। सर्वचर्मीण के स्थान पर सार्वचर्मीण पद का भी व्यवहार हो सकता था।

नगरकार—भाष्य में एकाधिक बार नगरकार शब्द का प्रयोग हुआ है, जो सम्भवतः मिस्त्री के अर्थ में आया है। जिस प्रकार भाष्य में वास्तु-कला के अंगों की चर्चा है उससे यह तो संकेत मिलता ही है कि वास्तु-विद्या के विचारकों की संख्या देश में पर्याप्त रही होगी। उन्होंने वास्तुकर्म के अंगों को वास्तव्य[4] कहा है और वास्तु का स्वतन्त्र उल्लेख भी किया है। एक स्थान पर सूत्रग्रह की भी चर्चा है, जो राज या मिस्त्री का बोधक है।[5] यथा-कथा सूत्र पकड़नेवाले के लिए सूत्रग्राह शब्द का प्रयोग होता था। सूत्रग्रह ऐसा शब्द है। नगरकार का उल्लेख हर बार कुम्भकार के साथ होने से यह अनुमान होता है[6] कि नगरकार शब्द का प्रयोग मिस्त्री या राज (mason) के लिए ही हुआ है।

कटकार—कट और कटकार शब्दों का प्रयोग महाभाष्य में जिस प्रचुरता से हुआ है उससे स्पष्ट मालूम होता है कि कटकारों की एक स्वतन्त्र श्रेणी चटाइयाँ बुनने का ही व्यवसाय करती थी। लोग काश तृण या पुलाक के पूल इन्हें देते थे और कट बुनवा लेते थे।[7] वीरण की चटाइयाँ अच्छी बनती थीं।[8] इसके साधन थे रज्जु, कील और पूल।[9] इससे काटकर मोटी पतली छोटी बड़ी सघन हल्की साधारण और विस्मय दर्शनीय चटाइयाँ बनाते थे।[10] इससे प्रतीत होता है कि कट का व्यवसाय शिल्प का स्वरूप ग्रहण कर चुका था। भाष्यकार ने एक स्थान पर कट को वेणी-सा सुन्दर कहा है[11] जिसका तात्पर्य मुलायम चिकने और सरलता से मुड़कर तह बन जानेवाले कट से है। यह नाम सनम् (पहले) पृ(पो)—ओचर्म से बने होने के कारण पड़ा था।

---

१ ५ १ १४।

२ ५-२-९ काशिका।

३ ५ २-५ काशिका।

४ १ १ १९, पृ० २४७।

५ १ १ ५६ पृ० १८०।

६ सूत्रे च धार्ये वे ग्रहेरुपसंख्यानम् सूत्रग्रहः। धार्येऽर्थे इति किमर्थम्? यो हि सूत्रं गृह्णाति सूत्रग्राहः स भवति।—३-२ ९, पृ० २११।

७ १ ३ १ पृ० २३ तथा १ १ १९, पृ० २४७।

८ १ १-५५, पृ० १८।

९ पुरुषकराणि वीरणानि।—१ ४-८०, पृ० १९८।

१० समर्थं रज्जुकीलकपूलमार्गि दृष्ट्वा तु इच्छा जायते।—३-१-७ पृ० २१।

११ २ ३ १ पृ० ३९८।

१२ ३-२ १०२ पृ २१९।

एक स्थान पर कहा है कि जो कट बनाना चाहता है वह कहता नहीं फिरता कि मैं कट बनाने जा रहा हूँ। उसे रस्सी खींचें और पूल लिये कुछ करने को उद्यत देखकर उसकी इच्छा का पता चल जाता है।[1] छोटी चटाई को कटी कहते थे। साधारण चटाई के लिए तृणों के दो पूलों की आवश्यकता होती थी।[2]

रज्जुकार—रज्जु बनाना भी शिल्प था। मूँज को मोटा-पतला बटना, घास आदि को मोटा या सूक्ष्म कातना, ऐंठना और दोहरा तेहरा या चौलड़ मिलाना कौशल की अपेक्षा करता था।[3] भाष्य में इसके संकेत यत्र-तत्र मिलते हैं।

आकर्षिक—आकर्षिक लोग भी स्वतन्त्र व्यवसायी जान पड़ते हैं। आकर्षक लोग सुवर्ण परीक्षा में निपुण होते थे। गाँव में बन्धक रखे जानेवाले आभूषणार्थ काम में आनेवाले तथा क्रय-विक्रय में व्यवहृत होनेवाले सुवर्ण की परीक्षा के लिए आकर्षिक को बुलाया जाता था जो कुछ पारिश्रमिक लेकर सुवर्ण की परीक्षा करता था।[5] आकर्षक और आकर्षिक के भेद को स्पष्ट जानना आवश्यक है। डॉ० वा० श० अग्रवाल ने दोनों को एक मान लिया है।[6] आकर्षक साधारण सुवर्णकार है जो अपने व्यवसाय के अंग के रूप में सुवर्ण परीक्षा में भी निपुण होता था किन्तु आकर्षिक की जीविका का सहारा यही था। वह लोगों के घर जाकर काम करता था।

राजशिल्पी—आजकल राजवैद्यों के समान पतंजलि-काल में भी कुशलता व्यक्त करने के लिए शिल्पी लोग अपने नाम के पूर्व राज शब्द का व्यवहार करते थे। जैसे राजनापित राज कुलाल। यह कर्मधारय समास-युक्त पद था। इसका अर्थ राजा का नापित नहीं समझना चाहिए। राज शब्द श्रेष्ठ वाची है। इसका ठीक विरोधी शब्द ग्राम-नापित या ग्राम-कुलाल था।

जीविका के अन्य साधन—जीविका के कुछ अन्य भी महत्त्वपूर्ण साधन थे यद्यपि वे शिल्प की कोटि में नहीं आते। आसुतीवल भभके से शराब खींचता और बेचता था।[9] यही उसकी जीविका का साधन था। कुछ लोग शिकार खेलकर और बेचकर जीविकार्जन करते थे। इनमें मैनिक मुख्य थे। ये लोग जाल रखते थे और उससे मछलियाँ पकड़ते थे। पक्षी फाँसने के लिए भी जाल का प्रयोग होता था। जाल को आनाय भी कहते थे।[11] पक्षी पकड़कर उन्हें बेचनेवाले व्याध

---

१ ३ १-७, पृ० २९।
२ ३-१-९१, पृ० १६८ तथा ६-१-८४ पृ० ११५।
३ १ १ ४४, पृ० २७५।
४ ५ २-६४।
५ ४ २-९।
६ इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २३५।
७. ६-२ ६३।
८ ६-२-६२।
९. ५-२ ११२।
१० १ १ ५८, पृ० ४३५।
११ ३ ३-१२४, पृ० ३१९।

होते थे। मौर्यों की विशेष जातियों के नाम पर भी इनके नाम रख दिये जाते थे जैसे शाकरिक माद्रुमिक। सामान्यतया ये मासिक्य नैमिक पाक्षिक या मार्गिक आदि कहलाते थे।[1] अर्थ व्यवस्था को प्रभावित करने के कारण ही इनका यहाँ उल्लेख किया गया है यद्यपि ये शिल्पी की कोटि में नहीं आते।

शिल्पियों की संख्या देश में अधिक थी। ऐसा शायद ही कोई गाँव होगा जिसमें चर्मकार, तक्षक (बढ़ई) कुलाल नापित और रजक न रहते हों।[2] भाष्य में इनका परिगणन किया है।

सामान्य शिल्पी को कारु कहते थे।[3] उसके लिए 'कारि' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[4]

---

१ ४।४।१५।

२ ब्राह्मण ग्राम आनीयतामित्युच्यते तत्र चातुर्वर्ण्यं पञ्चकारुकी भवति।—१।१।४८, पृ० २६५।

३ ४।१।१५२।

४ वही।

अध्याय ५

व्यापार और वाणिज्य

व्यवहार और वाणिज्य—महाभाष्य में व्यापार, वाणिज्य तथा लेन-देन के लिए व्यवहार शब्द का प्रयोग हुआ है। सौ या हजार रुपये का लेन-देन करने के अर्थ में 'शतस्य व्यवहरति' या 'सहस्रस्य व्यवहरति' का प्रयोग होता था। यों पण् धातु भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होती थी किन्तु उसका अर्थ अपेक्षाकृत संकुचित था और 'शतस्य पणते' से यही समझा जाता था कि व्यक्ति सौ रुपये की वस्तु खरीदता या बेचता है।[1] खरीदने के अर्थ में क्रय बेचने के अर्थ में विक्रय और दोनों के संयुक्त अर्थ में क्रय-विक्रय शब्द प्रचलित था और व्यापारी क्रय-विक्रयिक कहलाते थे।[2] व्यवहार का जो व्यापक अर्थ था उसके लिए वाणिज्य शब्द था और वाणिज्य करनेवाले के लिए वाणिज।[3] इससे कुछ संकुचित अर्थ में वणिक शब्द प्रचलित था जिसका साधारण अर्थ था व्यापारी। वणिक और तुला का संबंध अविच्छेद-सा माना जाता था। इसीलिए, एक स्थान पर वणिज् शब्द से तत्सम्बन्धी तुला-सूत्र का ग्रहण किया गया है। जिस रस्सी को पकड़कर तराजू उठाई जाती है उसे तुला-प्रग्राह कहते थे। तुला प्रग्राह को लेकर घूमनेवाले या उससे जीविका कमानेवाले सामान्यतया वणिक और यदा-कदा कोई दूसरे भी होते थे। इससे यह भी पता चलता है कि व्यापार या वाणिज्य अनिवार्य रूप से वणिक (जाति) के ही हाथ में नहीं था।[4] हाँ ब्राह्मण लोग वणिग्व्यवसाय में कम प्रवृत्त होते थे। एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि उड़द के समान काले आदमी को दूकान में बैठा देखकर कोई नहीं समझेगा कि यह ब्राह्मण है।[5]

वणिजों की श्रेणियाँ—वणिजों के नाम या श्रेणियाँ दो आधारों पर थी—एक उनके वाणिज्य के स्थान के नाम पर और दूसरे वाणिज्य की वस्तु के नाम पर। अन्तःप्रान्तीय (और तत्कालीन भाषा का प्रयोग करें, तो अन्तरराष्ट्रीय) वाणिज्य के प्रमाण भाष्य में मिलते हैं, यद्यपि भारत से बाहर माल के आने-जाने का पता हमें नहीं चलता। पश्चिमी तट पर वाणिज्य की सीमा

---

१ २-३-५७ काशिका।

२ ४ ४ १३ काशिका।

३ ६ २ १३।

४ — वणिजाम् वणिक्सम्बन्धेन च तुलासूत्रं लक्ष्यते न तु वणिजस्तत्त्वम्। तुला प्रगृह्यते येन सूत्रेण स प्रग्राहः। तुलाप्रग्राहेण चरति तुलाप्रग्राहिकः चरति वणिग्भ्यो वा।—४-४-५२ काशिका।

५ नहि कालं माषराशिवर्णमापणे आसीनं दृष्ट्वाऽध्यवस्यति ब्राह्मण इति।—२-२ ६, पृ० १४१।

भृगुकच्छ जान पड़ती है। मद्र, कश्मीर, गान्धार आदि में जाकर व्यापार करने का उल्लेख काशिका में स्पष्ट है। सम्भवतः पाणिनि-सूत्र भी अन्य प्रदेश में जाकर वाणिज्य करने की बात कहता है और इस आधार पर वाणिजों की श्रेणियाँ निश्चित करता है। यथा—मद्रवाणिजं काश्मीरवाणिजं।[1] वस्तुओं के आधार पर अश्ववाणिज, गोवाणिज आदि नाम उनका वाणिज्य करनेवालों के पड़ जाते थे। वंशकठिन (धन-सम्पत्ति या बाँस) का व्यवहार (व्यापार) करनेवाले को वांशकठिनिक कहते या तृण-विशेष का व्यवहार करनेवाले को वार्ध्रकठिनिक और वस्तिव द्रव्यों के व्यापारी को प्रास्तरिक कहते थे।[2] पाणिनि ने संस्थान शब्द का भी प्रयोग किया है। संस्थान व्यापार-संघों को कहते थे। उनके सदस्य के रूप में व्यापार करनेवाले की संज्ञा सांस्थानिक थी।[3]

सार्थ—भाष्य में सार्थिक का भी उल्लेख है। काशिकाकार 'तद्गच्छति पथि दूतयोः' (४ १-८५) के प्रत्युदाहरण के रूप में स्रुघ्न जानेवाले सार्थ का उल्लेख किया है। सार्थ बनाकर चलनेवाले सार्थिक होते थे। यात्रा में विशेषतः व्यापार-सम्बन्धी यात्रा में सार्थवहन का बहुत महत्त्व था। यदि कोई अकेला भी चल पड़ा तो कान्तार आने पर रुक जाता था और किसी सार्थ में सम्मिलित हो जाता था। कान्तार निकल जाने पर वह फिर सार्थ छोड़कर स्वतन्त्र चलने लगता था। चोर और बटमार मार्गों के किनारे छिपकर बैठ जाते थे और अकेले-दुकेले निकलनेवाले वणिकों को लूट लेते थे। इसीलिए, चोर को पारिपन्थिक कहते थे।[4] इससे कान्तारों में लूट-पाट का भय बना रहता था यह बात स्पष्ट है। सार्थ का उद्देश्य ही लूट-पाट से बचना था। कभी कोई सार्थ से बिछुड़ जाता था।[5] क्योंकि सार्थवाह रात्रि के विश्राम-काल को छोड़कर अन्यदा चलते रहते थे। उन्हें लम्बी यात्रा तय करनी पड़ती थी। इस प्रकार सतत और साथ चलनेवाले वणिकों को अपरस्पर सार्थ कहते थे। केवल सार्थ बनाकर चलनेवाले सातत्य-विरहित साथ के लिए अपरस्पर विशेषण का प्रयोग होता था। कभी-कभी कई सार्थ एक स्थान पर ही आकर ठहर जाते और रात बिताते थे। कभी-कभी किसी विशेष संकट-स्थल में अनायास ही अनेक अपरिचित व्यापारियों का सार्थ बन जाता था। सार्थों के पड़ाव के स्थान प्रायः निश्चित रहते थे। 'भाष्यकार ने कहा है कि एक प्रतिश्रय में टिकनेवाले अनेक सार्थ सबेरे उठकर अपने-अपने गन्तव्य स्थान को चल पड़ते हैं और उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता।

---

१ ६ २ १३ का०।

२ ४ ४-७२ का०।

३ ४ ४ २।

४ कश्चित्कान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते। स यदा निष्कान्तारीभूतो भवति तदा सार्थं जहाति।—१ १-७४ पृ० ४६३।

५ ४ ४ ३६।

६ १ १-२४ पृ० १६१।

७ ६ १ १४४।

८ सार्थिकानामेकप्रतिश्रये उषितानां प्रातरुत्थाय प्रतिष्ठमानानां न कश्चित् परस्परं सम्बन्धो भवति।—१-२ २४ पृ० १७०।

पण्य—ऊपर कहा जा चुका है कि व्यापार के लिए व्यवहृत (वि+अव+हृ) तथा पण् दोनों धातुओं का प्रयोग होता था। यद्यपि पण् का क्षेत्र संकुचित था। पण् का प्रयोग साधारण दूकानदारी के लिए होता था। बेची जाने योग्य वस्तु पण्य कहलाती थी।[1] जो व्यक्ति पण्य का काम करता था उसके नाम अनेक बार पण्य वस्तुओं के आधार पर निर्दिष्ट किये जाते थे। यथा अपूप बेचनेवाले को आपूपिक शष्कुली बेचनेवाले को शाष्कुलिक और मोदक बेचनेवाले को मौदकिक कहकर पुकारते थे।[2] जिन लोगों का पण्य अश्व था वे अश्ववाणिज और जिनका पण्य गौ था वे गोवाणिज कहे जाते थे।[3] जिस स्थान पर खरीद-बिक्री की जाती थी उसका नाम आपण होता था। जो वस्तु दूकान पर प्रदर्शनार्थ रखी जाती थी उसे क्रय्य कहते थे।[4] विक्रयार्थ रखी हुई वस्तु को ही क्रय्य कहते थे। क्रय्य (क्रेतव्य) अर्थ में क्रेय शब्द का व्यवहार होता था।[5] दूकान पर बैठा हुआ वणिक् एक वस्तु को तोलकर उसका हिसाब कर लेता था तब प्रथम ग्राहक से निवृत्त हो जाने के बाद दूसरे के लिए कोई वस्तु तोलता था। खरीदी हुई वस्तु क्रीत होती थी और मूल्य के आधार पर उसके विशेषण प्रयुक्त होते थे। यथा—दो सौ से खरीदी हुई द्विशता निष्क से खरीदी हुई नैष्किक दो शूर्प अन्न से खरीदी हुई द्विशूर्प और उससे खरीदी हुई वस्तु द्विशौर्पिक[8] अर्ध कार्षापण अध्यर्ध सुवर्ण और त्रिशतमान से क्रय की हुई वस्तुएँ क्रमशः आर्धिक[9] कार्षापणिक[10] अध्यर्ध सौवर्णिक[11] और त्रिशतमान[12] कही जाती थीं।

सत्याकरण—मूल्यवान् वस्तुएँ यथा पशु आदि खरीदने के लिए पहले बयाना या साई देने की प्रथा थी। ग्राहक आपणिक को स्वेच्छा का प्रमाण देने के लिए दो-एक रुपये पहले देता था तब मोल-भाव करता था। वह निश्चित मूल्य पर सौदा तय करके अपने वचन की विश्वास्यता के प्रतीक-रूप थोड़ी-सी राशि जो प्रायः दो एक कार्षापण होती थी देता था। शेष धन बाद में दिया जाता था। साई दे देने के बाद आपणिक या वणिक उस वस्तु को अन्य किसी के हाथ नहीं बेच सकता था भले ही बाद में उसे वस्तु का मूल्य अधिक मिलता हो। इस क्रिया को 'सत्यापयति' कहते

---

१ ३।१।१०१।
२ ४।४।५१ का०।
३ ६।२।१३ का०।
४ ३।१।११९ वही।
५ ६।१।८२, पृ० ११२।
६ वही।
७ ३।१।११ काशिका।
८ ५।१।१९, पृ० १०७।
९ ५।१।२०, पृ० ११२।
१० ५।१।२५, पृ० ११६।
११ वही।
१२ ५।१।२९, पृ० ११९।
१३ वही।

थे जिससे मन या बात पक्की करता।[1] साई लेने की क्रिया को 'सत्याकरोति' कहते थे।[2] काशिकाकार ने भाण्ड के सत्याकरण का उल्लेख किया है।[3] सत्यंकार[4] की यह प्रथा क्रय-विक्रय के अतिरिक्त श्रमिकादि को नियुक्त करने में भी प्रचलित थी और आज भी प्रचलित है। जो श्रमिक एक मालिक के लिए साई ले लेता है, वह उसके लिए पक्का हो जाता है।

पण्य वस्तुएँ—पण्य वस्तुओं की संख्या बहुत अधिक है फिर भी जिनका उल्लेख भाष्य में प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है, वे ये हैं—

खाद्यान्न—गुड़[5] मूँग जौ सब प्रकार के अन्न[6] सक्तु[7] हैयंगवीन (घी) दही उदश्वित् कुल्माष अपूप शष्कुली मोदक कार्ष्य[8] सर्षप[9] लवण[10] मांस[11]।

फल—आम्र[12] तथा दाडिम[13] द्राक्षा[14] बिल्व (४-३-१३६) बदर आदि फल।

पेय—मदिरा[15] मद्य[16] सुरा मैरेय[17] गुड़ या महुए से बनाई हुई एक प्रकार की शराब। सुरा[18] जौ से भी तैयार की जाती थी। आसुत[19] (भभके से खींची या चुआई हुई शराब) कापिशायन[20] (अंगूर से बनी शराब जो उत्तरी अफगानिस्तान के कापिशी प्रदेश से आती थी)।

---

१ ३-१-२५, पृ० ६५।
२ ५ ४ ६६।
३ ५ ४ ६६ का०।
४ ६-३-७० पृ० ३४६।
५ ४-४ १०३
६ ३-२ ६३ पृ० २३६।
७ ५ २-२३ पृ० ३७३।
८ ४ ४-५१ का०।
९ भा० २ पृ० ६२।
१० ४ ४-५२।
११ ६ २ १२८।
१२ वही।
१३ १ २-४५ पृ० ५२०।
१४ ४ २ ९८ पृ० २०३।
१५ ५ ३-८३ पृ० ४०४।
१६ ३-१ १०।
१७ २ २-२९ पृ० ३७९ तथा ६-२-७० का०।
१८ ४-२ २५।
१९ ५-२ ११२।
२० ४ २-९८ पृ० २०३।

वस्त्र—कौशेय[1] क्षौम या औमक[2] (Linen) और्ण या और्णक[3] भंगा (पटसन) से बने वस्त्र कार्पासिक[4] (सूती) इनके विशेष प्रकार यथा उपसंव्यान[5] आच्छादन[6] बृहतिका[7] प्रावार, शाटी[8], शाटक[9] कम्बल पाण्डुकम्बल[10] पद्मकम्बल[11] तथा कौशेय ऊर्णा भंगा कार्पास[12] तूल[13] आदि।

सुगन्ध—किशर[14] नरद, नलद सुमंगल तगर, गुग्गुलु, उशीर, हरिद्रा सलालु[15] चन्दन[16] इन वस्तुओं को बेचनेवाला आपणिक भी सुगन्ध कहलाता था।[17]

अलंकार—सोने-चाँदी के आभूषण तथा कांचन ललाटिका[18] रुक्म कुण्डल स्वस्तिक कटक[19] मकर[20] किरीट आदि तथा मौक्तिक[21] मन्थक[22] वैदूर्य[23] आदि मणियाँ।

संगीत-सामग्री—वाद्य यथा मड्डुक[24] झर्झर (क्रमशः मृदंग तथा मँजीरा) वीणा[25] मुरज पणव पिठर (मँजली) भेरी[26] आदि।

मूर्तियाँ—प्रतिकृतियाँ मिट्टी अथवा धातु की बनी यथा अश्वकादि[27] तथा शिवक स्कन्दक, विशाखक आदि[28] मूर्तियाँ।[29]

माल्य—मालाएँ तथा पुष्प उत्पलादि।[30]

राग—सब प्रकार के रंग यथा नीली[31] लाक्षा रोचना पीता हरिद्रा महारजन[32] कषाय आदि।

पशु—सब प्रकार के अजिन[33] तथा द्वीपी (चीता) व्याघ्र[34] (बाघ) उद्र[35] सिंह आदि

---

१ ४-१.४२, पृ० २१४।
२ ४-३.१५८।
३ वही।
४ ७-४.४६, पृ० ३३३।
५. १.१.३६ का०।
६. ४.३.१४३।
७. ५.४.३।
८ १.१.३६ पृ० २१८।
९. वही।
१० ४-२-११ तथा ४.१-२२ का०।
११ वही।
१२ ३-२-४२, पृ० २५१।
१३ ४.३-१३६।
१४ ३.१-२५।
१५. ४-४-५३।
१६. ४.४-५४।
१७. २-२-८, पृ० ३४३।
१८. ५.४.११५ पृ० ५३३।
१९. ४.३.६५।
२० भा० १ पृ० १६।
२१ १.३-२, पृ० १८।
२२ ५.४-३०, पृ० ४६०।
२३ ५.२-९८।
२४ ४-१-८४, पृ० २४२।
२५. ४.४-५६।
२६. ३-३.६५।
२७ ४-४-५५, पृ० २८०।
२८ १.१-७० पृ० ४४५।
२९. ५.३-९९।
३० ५.३.९९, पृ० ४७१।
३१ ६.३.६५।
३२ ४-१.४२ पृ० ५५।
३३ ४-२-२, पृ० ३१६, ३१७।
३४ ५-२-११४।
३५. ४-२-१२।
३६. ४.३.३० पृ० २३८।

के चर्म, जो रथादि पर मढ़ने के काम भी आते थे चमड़े की बनी कुप्पियाँ या कुतुप[1] चमड़े से बने जूते[2], वध्री[3] वाध्री, वरत्रा चर्मांगु, छदि आदि वस्तुएँ तथा तलवार के म्यान आदि[4]।

पात्र—मिट्टी तथा धातु के पात्र—अमत्र[5], घट, घटी[6] शराव[7] कपाल[8] तथा कांस्यपात्र-पात्रियाँ[9] स्थाली[10] पिठर आदि तथा अन्न तेल आदि वस्तुएँ भरने के पात्र—बोरे, भाजन तथा दोणी[11] कुतुप, उष्ट्रिका आदि।

पशु—बैल (गो[12]) अश्व हाथी साल्व[13] के प्रसिद्ध बैल काम्बुक के घोड़े[14], भेड़ बकरियाँ[15] ऊँट[16] आदि।

औजार—दात्र[17] कुशी[18] युग[19] अक्ष[20] खनित्र[21] वहित्र[22] तन्त्र[23] प्रवाणि[24] हल[25] बध्री।[26]

धातु और धातु-निर्मित वस्तुएँ—लोहे की शृंखला[27] जो पशु बाँधने के काम आती थी अयःशूल[28] (कील-कांटे) लोहे के तार[29] शंकुका[30] छोटी कीलियाँ[31] इध्म-प्रव्रश्चन[32] (कुल्हाड़ी) पलाशशातन आदि लोहे की चीजें तथा सोना-चाँदी लोहा[33] तांबा[34] रांगा सीसा टीन आदि धातुएँ चुम्बक[35] तथा अन्य पदार्थ यथा जतु (लाख) जिसका व्यापार काफी विस्तृत था। लाक्षा का प्रचार भारत में बहुत था। लाक्षा का उल्लेख सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलता है। सूत्र साहित्य में तो लाक्षा की बार-बार चर्चा है। धातुओं से बने अस्त्र—शक्ति[36] यष्टि और उसकी मूँठ,

---

१ ५ ३-८९।
२ ५ १ १४।
३ ३-२ १८२।
४ ५ १-२ पृ० २९४।
५ ६ ४ १४४, पृ० ४८३।
६ ४ २ १४।
७ ३-२ ६ पृ० २११।
८ १ १-७२ पृ० ४४७।
९ ४ १-८८ पृ० १०१।
१० ४ २ ३ पृ० ३१७।
११ १ ४ १०१, पृ० २०८।
१२ ४ १-८२।
१३ ६ २-१३ का०।
१४ ४ २ १३६।
१५ ६ ३-४२ पृ० २५८।
१६ २-१ ६९ पृ० ३३०।
१७ ४ २ ३० पृ० २३८।
१८ ३-२-१८२।
१९ ४-१ ४२ का०।
२० ४ ४-७६।
२१ ५-३-१०४।
२२ ३-२ १८४।
२३ वही।
२४ ५-२-७०।
२५ ६ ४ १३०।
२६ २-१ २६ पृ० ३।
२७ ४ ४-२।
२८ ५ २ ७९, पृ० ३९९।
२९ ५-२-७६ पृ० ३९९।
३० १ १ ४५, पृ० २९८।
३१ २-१ १ पृ० २२७।
३२ २ २-६ पृ० ३३९
३३ २-२-८ पृ० ३४२
३४ ३-१-७ पृ० ३०
३५ ४ ३-१३८।
३६ ३-१-७ पृ० ३०।
३७ ४ ४-३५, पृ० २८१।

फामस (हल का फाल) अंकुश, तोमर, धनुष-बाण (लोहे की फाल वाले[1]) असि[2], परशु[3], आदि, लोहे के घड़े[4] तथा अन्य पात्र।

तुला—तराजू, तौलने के बाट, परिमाण आदि जिनका उल्लेख सम्बद्ध प्रकरण में किया गया है।[5]

वाहन—शकट[6] शकटी[7] रथ[8] नौका[9]। तेल बेचना बुरा माना जाता था।[10] मांस बेचना भी वर्जित[11] था किन्तु तेल के बीज सरसों तिल तथा मांस के साधनभूत पशु बेचने पर प्रतिबन्ध न था। सोम का विक्रय भी शास्त्र-वर्जित मानता था।[12] धान्य-विक्रय पर प्रतिबन्ध न था। मथित बेचना कुछ लोगों का नियमित व्यवसाय था।[13] ये लोग माथितिक कहे जाते थे।

इनके अतिरिक्त दैनन्दिन आवश्यकता की और बहुत-सी वस्तुएँ थीं जैसे दृषद्[14] (चक्की) सूची[15] (सूई)। इस प्रकार की वस्तुएँ उदाहरण-रूप में भाष्य में यत्र-तत्र बिखरी हैं।

क्रय-विक्रय—पण्य-व्यवहार दो प्रकार से होता था—वस्तुओं का मूल्य सिक्कों के रूप में देकर या बदले में दूसरी वस्तु देकर। प्रथम विधि को क्रय और द्वितीय को अपमित्य कहते थे।[16] अपमित्य द्वारा ली हुई वस्तु आपमित्यक कहलाती थी। भाष्यकार ने माष (ताम्रमुद्रा), कार्षापण (रजतमुद्रा) और निष्क एवं सुवर्ण से खरीदी हुई वस्तुओं के अनेक उदाहरण दिये हैं। छोटी-छोटी चीजें जैसे सक्तु, मथित आदि माष से खरीदी जाती थीं। भाष्यकार ने एक स्थान पर आपणीय वस्तुओं के ग्राहक का उल्लेख किया है।[17] उन्होंने द्रोणार्ध ग्रन्थ से धान्य, पंच पञ्चार्ष हिरण्य से पशु और सहस्र हिरण्यों से अश्वों के क्रय का उल्लेख किया है। धान्य पशुओं और अश्वों का क्रय सुवर्ण-मुद्रा से भी होता था।[18] निष्क से क्रीत वस्तु को नैष्किक कहते थे।[19] सौ निष्क या कार्षापण द्वारा खरीदे हुए अश्व को शतिक या शत्य कहते थे।[20] सौ कार्षापण की सौ धोतियाँ बिकती थीं। इस भाव से खरीदी हुई धोतियों को शत्य कहते थे[21]। पाँच (कार्षापण) से खरीदी वस्तु की पंचक संज्ञा होती थी।[22] बीस और तीस (कार्षापण) से ली हुई वस्तु विंशक

---

१ ३-२-९, पृ० ९१०।
२ १ ४ १, पृ० १०९।
३ १ ४ २३, पृ० १५६।
४ ४ १ १, पृ० ११।
५ ४ ४-११।
६ १ १ १, पृ० १०२।
७ ८ १ १०, पृ० २८८।
८ वही।
९ १ १ १, पृ० १०२।
१० तैलं न विक्रेतव्यम् मांसं न विक्रेतव्यम् इति व्यपवृक्तं च न विक्रीयतेऽव्यपवृक्तं च गावश्च सर्षपाश्च विक्रीयन्ते।—भा० २, पृ० ६२।
११ वही।
१२ ५-२ ९६, पृ० ३६६।
१३ ६ १-१५, पृ० १२४।
१४ २ १-१०, पृ० २५४।
१५ ३-१-२, पृ० २६४।
१६ ४ ४-२१।
१७ २ १ १, पृ० २३०।
१८ ५-१ १८, पृ० ४२०।
१९ ५-१-२०, पृ० ३११।
२० ५ १-२१, पृ० ३१३।
२१ वही।
२२ ५ १ २२।

और त्रिंशक कही जाती थी किन्तु यदि वह तीस की हुई, तो उसे त्रिंशतिक, त्रिंशत्क कहते थे।[1] इसी प्रकार अर्ध (कार्षापण) कार्षापण शतमान विंशतिक सहस्र सुवर्ण, काकिणी माष पण पाद माष आदि मुद्राओं से नकद क्रय-विक्रय के उदाहरण भाष्यकार ने प्रचुर संख्या में दिये हैं।[2]

विनिमय—विनिमय में अन्न का प्रयोग ही मुख्यतः होता था। दो सूप तीन सूप या अधिक अन्न देकर वस्तुएँ खरीदने की प्रथा साधारण थी।[3] मुद्ग और माष देकर वस्तुएँ खरीदी जाती थीं। कंस (कटोरा) भर अनाज से क्रीत वस्तु कांसिक कही जाती थी।[4] इसी प्रकार, बदले में वट्वा[5] बैल अश्व कार्ष्टी[6] वस्त्र[7] आदि देकर एक शिल्पी या कृषक दूसरे शिल्पी या कृषक से वस्तुएँ बदल लेता था। पाँच-दस वट्वा देकर खरीदी वस्तु, पाँच कोड़ियों को देकर क्रीत रथ एक मूल्य देकर एक बैल अन्य (अधिक या दूसरा) देकर दो बैल और अन्य देकर तीन बैल खरीदने की चर्चा भाष्य में मिलती है।[8] पाँच गाय या बैल देकर बदले में खरीदी हुई वस्तु (बड़ा बैल भूमि भाग) आदि को पचगु कहते थे।[9]

परमगोपुच्छ—भाष्यकार ने परमगोपुच्छ देकर खरीदी हुई वस्तु को पारमगोपुच्छिक कहा है।[10] गोपुच्छ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ० भण्डारकर ने इसे गोपुच्छ का ही और डॉ० वा० श० अग्रवाल ने गौ का बोधक माना है। मुझे डॉ० भण्डारकर का मत उचित जान पड़ता है। तैत्तिरीय संहिता (७-५ ९) में भूमिदुन्दुभि का वर्णन है, जो आग्नीध्र-मण्डप में एक गड्ढे पर आर्द्रचर्म फैलाकर गोपुच्छ से बजाई जाती थी।[11] ये बजानेवाले गोपुच्छ जिस व्यक्ति से खरीदे जाते थे, उसे बदले में जो वस्तु दी जाती थी वह गोपुच्छिक कहलाती थी और परम-गोपुच्छ देकर खरीदी हुई वस्तु को पारमगोपुच्छिक कहते थे। भाष्यकार के समय में जबकि यज्ञों का प्रचार बढ़ गया था इस प्रकार के लेन-देन की संभावना की जा सकती है। गोघ्न अतिथि भी होते थे जिनके मधुपर्क के लिए गाय या बछिया मारी जाती थी। इन गोपुच्छों का कमाने

---

१ ५ १ २६ पृ०, ३१५।

२ ५ १ २९, पृ० ३१९ तथा ५ १ ३१ तथा वही। पृ० ३२० तथा ५ १ ३४, ३५।

३ ५ १ ३७ पृ० ३२१।

४ वही।

५. ५ १ २५।

६. ४ १ ३ पृ० २६।

७ ४ १-५० पृ० ६४।

८. १ १९ पृ० ८६।

९. असमस्तायिका अध्येन हि वस्नेनैकाक्ष्णौ क्रीयमाणयोरेन द्वाभ्यां येन क्रोम्।—१ १ ३९, पृ० २४२।

१० वही।

११ १-२ ३४ पृ० ५२५।

१२ ५ १ २०, पृ० ३११।

१३ इस सूचना के लिए मैं संगीताचार्य पं० ओंकारनाथ ठाकुर का कृतज्ञ हूँ।—लै०

व्यवहार संभव है। ५ १ २७ सूत्र में पाणिनि ने वसन से भी वस्तु खरीदने का उल्लेख किया है। वसन से खरीदी वस्तु को वासन कहते थे। आजकल हिन्दीभाषी ग्रामों में जहाँ पुराने कपड़ों से बरतन खरीदने की प्रथा है वासन शब्द का व्यवहार बरतनों के लिए होता है। सम्भवतः, प्रारम्भ में पुराने वस्त्र देकर खरीदे गये पात्रों के लिए ही वासन शब्द का प्रयोग होता था। धीरे-धीरे इसका प्रयोग सामान्य रूप से हर बरतन के लिए होने लगा।

जिस वस्तु का मूल्य सौ (कार्षापण) होता था उसे शत्य या शतिक कहते थे। इसी प्रकार सहस्र (कार्षापण) मूल्यवाली वस्तु साहस्र कही जाती थी। जो वस्तु सौ की होती थी सौ कार्षापण उसका वस्न कहा जाता था।[1] काशिकाकार ने तो १ २ ४९ और १ २ ५० सूत्रों में सूपी और शष्कुली लेकर वस्तु खरीदने का उल्लेख किया है।

इनके अतिरिक्त अञ्जलि प्रस्थ गोणि खारी और आचित (धान्य-परिमाण) से वस्तुएँ खरीदने का उल्लेख भी भाष्य में प्राप्त होता है। पञ्चनौ और दशनौ पाँच तथा दस नावों से विनिमय की ओर संकेत करते हैं। पुरानी नावें (जो काम में नहीं आतीं) को बेचकर बदले में किसी वस्तु के खरीदने से आशय हो सकता है या इतनी ही नावों में भरी हुई विक्रेय वस्तुओं के बदले दूसरा माल खरीदा जाता होगा। विदेशी माल का इस प्रकार विनिमय द्वारा खरीदा जाना अधिक संभावित है। यह भी हो सकता है कि तक्षा नावें बनाकर बेच देते हों और बदले में कोई मूल्यवान् वस्तु ले लेते हों।

निमान—वस्तु-विनिमय का बहुत सुन्दर उदाहरण 'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्' (५ २ ४७) सूत्र के भाष्य में मिलता है।[2] यदि कोई प्रथमान्त पद गुण (भाग या वस्तु का अंश) के निमान (मूल्य) के रूप में वर्तमान हो और संख्यावाची भी हो तो उससे 'इसका' इस षष्ठ्यर्थ में मयट् प्रत्यय होता है। उदाहरणार्थ जौ के दो भाग जिस उदश्वित् के निमान या मूल्य होते उस उदश्वित् (मट्ठे) को द्विमय उदश्वित् कहते थे। इस प्रत्यय के लिए आवश्यक था कि जिस वस्तु का मूल्य बताना हो उसका भाग एक हो और उसके मूल्य-स्वरूप जो वस्तु दी जाय वह एक से अधिक भाग हो। इसलिए, यव के दो भाग यदि तीन भाग उदश्वित् का मूल्य हो तो मयट् प्रत्यय नहीं होता और 'द्वौ भागौ यवानां त्रय उदश्वितः' ऐसा वाक्य ही रहता है। इस सूत्र में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—प्रथम तो निमान शब्द मूल्य का वाचक था और जिससे गुण (वस्तु) के भाग या अंश का मूल्य आँका जाय उसे निमान कहते थे। जिसको देने पर कोई वस्तु मिले वह निमान और जो वस्तु मिले वह निमेय। दूसरे विनिमय-योग्य वस्तुओं में कौन किससे कितने गुना मूल्य की है यह निर्धारित कर ड्योढ़े, दूने तिगुने के हिसाब से वस्तु-रूप मूल्य लेकर वस्तुएँ बेचने की प्रथा थी। घर के काम की छोटी-मोटी वस्तुएँ इसी प्रकार तोलकर बेची जाती थीं। यह प्रथा आज भी गाँवों में चली आती है।

---

१ शतमर्हति शत्यः शतिकः साहस्रः। यः शतमर्हति शतं तस्य वस्नो भवति—५ १ १९, पृ० १०९।

२ येनाविनिमयते तन्निमानं यदविनिमयते।—तन्निमेयम् आदि—५-२ ४७, पृ० ३८५ ८०।

मूल्य और लाभ—किसी वस्तु की वास्तविक लागत को मूल कहते[1] थे अर्थात् मूल वह व्यय था, जो किसी वस्तु को विक्रय के योग्य तैयार करने या उसके प्राप्त करने पर आता था। व्यापारी उस पर लाभ मिलाकर जो (धन) प्राप्त करना चाहता था उसे मूल्य कहते थे। इस प्रकार मूल+लाभ का नाम मूल्य था और मूल्य—मूल का नाम लाभ था। अथवा मूल्य-लाभ=मूल (वस्तु की लागत) होता था। लागत के अतिरिक्त प्राप्त राशि को लाभ कहते थे।[2] जिस वस्तु से जितना लाभ प्राप्त होता उसी नाम पर वस्तु को पुकारने की भी प्रथा थी। उदाहरणार्थ जिस वस्तु पर पाँच रुपया लाभ मिलता उसे पंचक कहते थे। इसी प्रकार सप्तक अष्टक, नवक दशक आदि विशेषण बनते थे। भागिक वर्षिक का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।[3] पंचक आदि विशेषण संभवतः प्रतिशत लाभ को दृष्टि में रखकर निश्चित किये जाते थे। सम्भव है, प्रतिवस्तु लाभ की ओर भाष्यकार की दृष्टि हो। अर्ध और भाग लाभविशेष के लिए पर्याय शब्द प्रयुक्त हुआ है। मूल से आनाम्य या अभिभवनीय को मूल्य कहते थे। पदार्थों की उत्पत्ति का कारण मूल होता है। मूल्य के द्वारा उसे अभिभूत किया जाता है। मूल्य मूल को सगुण बनाता है। इस प्रकार पटमूल के बराबर या मूल्य कहलाता था जिसका अर्थ था उपादान के बराबर परिमाण[4] वाला।

वस्निक—लाभ के लिए क्रय-विक्रय करनेवाले और जीविका के लिए उनपर निर्भर रहनेवाले जिस प्रकार वणिक्, क्रयविक या क्रयविक्रयिक कहलाते थे उसी प्रकार वस्न के सहारे जीविका उपार्जित करनेवालों को वस्निक[5] कहते थे। वस्न का अर्थ है बिक्री का मूल्य और वस्निक का अर्थ हुआ—बिक्री से प्राप्त होनेवाले लाभ से जीनेवाला। इस प्रकार, क्रय-विक्रयिक और वस्निक पर्यायवाची होने चाहिए थे किन्तु उनमें अन्तर था। वस्निक बिक्री के लिए किसी को नियुक्त कर देता था अथवा रुपया लगाकर किसी का दुकान या व्यापार करा देता था। दुकान पर विक्रय करनेवाला एक निश्चित रकम पाता था। उसका खर्च निकालकर शेष लाभ वस्निक लेता था। इस प्रकार धन जमा देने के बाद क्रय-विक्रय स्वयं न करके केवल 'लाभ का उपभोग करनेवाले वस्निक कहलाते थे। कभी-कभी वस्निक व्यापार के लिए एक निश्चित धनराशि किसी को देकर लाभ में अपना भाग तय कर लेते थे। यह धन कभी साझेदारी के रूप में दस पाँच व्यापारियों के साथ के व्यापार में लगा दिया जाता था और कभी किसी एक ही व्यापारी को वैतिक (Financer) के रूप में दे दिया जाता था और उस पर होनेवाले लाभ में अपना अंश तय [illegible] जाता था। [illegible] वर्तमान कम्पनियों के शेयरों के समान थी जो शेयर खरीदने

१।

[illegible] प्रयोक्तिर्म्यते।

[illegible] उपादान [illegible] १—४-४ ९१

वालों को लाभ का अंश वितरित कर देती है। उदाहरणार्थ—लाभ में से पाँच वस्न या भाग पानेवाला वस्निकपंचक कहलाता था।[1] ग्रामीण वसनी शब्द जो कपड़े की सिली हुई और लम्बी कमर में बाँधी जानेवाली रुपयों की थैली के लिए व्यवहार में आता है, वस्न से सम्बद्ध है। व्यापारी माल की बिक्री का धन उसमें रखते हैं और सुरक्षा की दृष्टि से कमर में बाँध लेते हैं।

द्रव्यक—पाणिनि ने द्रव्यक का भी उल्लेख किया है।[2] द्रव्य को एक स्थान से देशान्तर को ले जानेवाला उठाकर रखने या ढोनेवाला और उत्पन्न करनेवाला द्रव्यक कहलाता था। पाणिनि ने इन क्रियाओं के लिए क्रमशः हरति वहति आवहति का प्रयोग किया है और काशिकाकार ने इनका अर्थ स्पष्ट किया है।[3] काशिका के अनुसार परदेश को द्रव्य के ले जानेवाले की द्रव्यक संज्ञा होती है। पाणिनि के 'तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः' सूत्र से यह भी पता चलता है कि द्रव्यक वंश (बाँस) कुटज (Holarrhena antidysenterica) बल्वज (Eleusine indica) (बँबई) मूल अक्ष (धुरी) स्थूणा (खूंटे) अश्मन् (पत्थर) मत्स्य इक्षु और खट्वादि ले जाते थे। इनमें कुछ द्रव्य अवश्य ही बिक्री के लिए ले जाये जाते होंगे। काशिकाकार ने हरति का अर्थ चुराना भी स्वीकार किया है। क्रमांश लेकर दूसरे देश को जानेवाला उसे चुरानेवाला, लेकर धारण करनेवाला और उत्पन्न करने या कमानेवाला वस्निक था। द्रव्य बेचकर लाभ कमानेवाला और उसे लेकर घर लौटनेवाला द्रव्यक भी वस्निक कहा जाता था। वस्निक और द्रव्यक का यह अन्तर स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है। डॉ० अग्रवाल ने एक स्थान से रवाना होने की स्थिति को हरति मध्य स्थिति को वहति और पहुँचने की स्थिति को आवहति मानते हुए व्यापारार्थ वस्त्रादि को परदेश ले जानेवाले को द्रव्यक और उन्हीं स्थितियों से गुजरते हुए मूल्य (लाभ-सहित) लेकर लौटनेवाले उसी व्यक्ति को वस्निक माना है।[4] किन्तु इस कल्पना का आधार उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। हरति प्रतिक्रियाओं से तो यह ध्वनि नहीं निकलती।

व्यापार-मार्ग—मद्र कश्मीर और गान्धारादि देशों में जाकर व्यापार करने की चर्चा पीछे हो चुकी है। द्रव्यक लोग दूर-दूर देशों में माल ले जाते थे और वस्निक के रूप में थैली भर कर लौटते थे। यह तभी सम्भव था, जब यात्रा के सरल साधन उपलब्ध हों। महाभाष्य दूर-दूर प्रदेशों को जानेवाले लम्बे मार्गों का उल्लेख करता है। पाणिनि ने पथिक और पथक में अन्तर किया है। पथिक साधारण यात्री को कहते थे[5] किन्तु पथक कुशल यात्री की संज्ञा थी।[6] कुछ लोग अपथ पर यात्रा किया करते थे। उनका व्यवसाय यही रहता था। ये लोग पान्थ होते थे। पान्थ

१ ५।१।६।

२ ५।१-५१।

३ हरति देशान्तरं प्रापयति चोरयति वा। वहत्युत्क्षिप्य धारयति। आवहति उत्पादयति।—५।१-५० काशिका।

४ इण्डिया एज नोन टू पाणिनि, पृ० २४१।

५ ५।१-७५।

६ ५-२-६१।

७ ५।१-७६।

मूल्य और लाभ—किसी वस्तु की वास्तविक लागत को मूल कहते[1] थे, अर्थात् मूल वह व्यय था, जो किसी वस्तु को विक्रय के योग्य तैयार करने या उसे प्राप्त करने पर आता था। व्यापारी उस पर लाभ मिलाकर जो (धन) प्राप्त करना चाहता था उसे मूल्य कहते थे। इस प्रकार मूल+लाभ का नाम मूल्य था और मूल्य—मूल का नाम लाभ था। अथवा मूल्य-लाभ= मूल (वस्तु की लागत) होता था। लागत के अतिरिक्त प्राप्त राशि को लाभ कहते थे।[2] जिस वस्तु से जितना लाभ प्राप्त होता उसी नाम पर वस्तु को पुकारने की भी प्रथा थी। उदाहरणार्थ जिस वस्तु पर पाँच रुपया लाभ मिलता उसे पंचक कहते थे। इसी प्रकार सप्तक अष्टक नवक दशक आदि विशेषण बनते थे। शातिक शतिक का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।[3] पंचक आदि विशेषण संभवतः प्रतिशत लाभ को दृष्टि में रखकर निश्चित किये जाते थे। सम्भव है प्रतिवस्तु लाभ की ओर भाष्यकार की दृष्टि हो। अर्थ और भाव कार्षापण के लिए अर्थात् शब्द प्रयुक्त हुआ है। मूल से आनाम्य या अभिभवनीय को मूल्य कहते थे। पदार्थों की उत्पत्ति का कारण मूल होता है। मूल्य के द्वारा उसे अभिभूत किया जाता है। मूल्य मूल को सगुण बनाता है। इस प्रकार पटमूल के बराबर या मूल्य कहलाता था जिसका अर्थ था उपादान के बराबर परिमाण[4] वाला।

वणिक—लाभ के लिए क्रय-विक्रय करनेवाले और जीविका के लिए उनपर निर्भर रहनेवाले जिस प्रकार क्रयिक विक्रयिक या क्रयविक्रयिक कहलाते थे उसी प्रकार वस्न के सहारे जीविका उपार्जित करनेवालों को वस्निक[5] कहते थे। वस्न का अर्थ है बिक्री का मूल्य और वस्निक का अर्थ हुआ—बिक्री से प्राप्त होनेवाले लाभ से जीनेवाला। इस प्रकार, क्रय-विक्रयिक और वस्निक पर्यायवाची होने चाहिए थे किन्तु उनमें अन्तर था। वस्निक बिक्री के लिए किसी को नियुक्त कर देता था अथवा रुपया लगाकर किसी को दूकान या व्यापार करा देता था। दूकान पर विक्रय करनेवाला एक निश्चित रकम पाता था। उसका खर्च निकालकर शेष लाभ वस्निक लेता था। इस प्रकार धन लगा देने के बाद क्रय विक्रय स्वयं न करके केवल 'लाभ का उपभोग करनेवाले वस्निक कहलाते थे। कभी-कभी वस्निक व्यापार के लिए एक निश्चित धनराशि किसी को देकर लाभ में अपना भाग तय कर लेते थे। यह धन कभी साझेदारी के रूप में दस पाँच व्यापारियों के साझे के व्यापार में लगा दिया जाता था और कभी किसी एक ही व्यापारी को वैत्तिक (Financer) के रूप में दे दिया जाता था और उस पर होनेवाले लाभ में अपना अंश तय कर लिया जाता था। यह प्रथा वर्तमान कम्पनियों के शेयरों के समान थी जो शेयर खरीदने

१ ४४-९१।

२ ५ १ ४७, ४८, ४९।

३ वही।

४. मूलेनानाम्यमभिभवनीयमवस्थानामुत्पत्तिकारणं मूलं तेन तदभिभवते सेनीक्रियते। मूल्यं हि सगुणं मूलं करोति। मूलेन समो मूल्यः पटः। उपादानेन समानफल इत्यर्थः।—४ ४ ९१ काशिका।

५ ४ ४ १३।

भागों को लाभ का अंश वितरित कर देती है। उदाहरणार्थ—लाभ में से पाँच वस्न या भाग पाने वाला वस्निकपंचक कहलाता था।[1] ग्रामीण बसनी शब्द जो कपड़े की सिली हुई और लम्बी कमर में बाँधी जानेवाली रुपयों की थैली के लिए व्यवहार में आता है, वस्न से सम्बद्ध है। व्यापारी माल की बिक्री का धन उसमें रखते हैं और सुरक्षा की दृष्टि से कमर में बाँध लेते हैं।

द्रव्यक—पाणिनि ने द्रव्यक का भी उल्लेख किया है।[2] द्रव्य को एक स्थान से देशान्तर को ले जानेवाला उठाकर रखने या ढोनेवाला और उत्पन्न करनेवाला द्रव्यक कहलाता था। पाणिनि ने इन क्रियाओं के लिए क्रमशः हरति वहति आवहति का प्रयोग किया है और काशिकाकार ने इनका अर्थ स्पष्ट किया है।[3] काशिका के अनुसार परदेश को द्रव्य ले जानेवाले की द्रव्यक संज्ञा होती है। पाणिनि के 'तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः' सूत्र से यह भी पता चलता है कि द्रव्यक वंश (बाँस) कुटज (Holarrhena antidysenterica) बल्वज (Eleusine indica) (बैंबई) मूल अक्ष (धुरी) स्थूणा (लट्ठे) अश्मन् (पत्थर) वस्त्र इक्षु और खट्वादि ले जाते थे। इनमें कुछ द्रव्य अवश्य ही बिक्री के लिए ले जाये जाते होंगे। काशिकाकार ने हरति का अर्थ चुराना भी स्वीकार किया है। सामान लेकर दूसरे देश को जानेवाला उसे चुरानेवाला लेकर धारण करनेवाला और उत्पन्न करने या कमानेवाला वस्निक था। द्रव्य बेचकर लाभ कमानेवाला और उसे लेकर घर लौटनेवाला द्रव्यक भी वस्निक कहा जाता था। वस्निक और द्रव्यक का यह अन्तर स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है। डॉ० अग्रवाल ने एक स्थान से रवाना होने की स्थिति को हरति मध्य स्थिति को वहति और पहुँचने की स्थिति को आवहति मानते हुए व्यापारार्थ संभारादि को परदेश ले जानेवाले को द्रव्यक और उन्हीं स्थितियों से गुजरते हुए मूल्य (लाभ-सहित) लेकर लौटनेवाले उसी व्यक्ति को वस्निक माना है।[4] किन्तु इस कल्पना का आधार उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। हरति प्रतिक्रियाओं से तो यह ध्वनि नहीं निकलती।

व्यापार-मार्ग—मद्र कश्मीर और गान्धारादि देशों में जाकर व्यापार करने की चर्चा पीछे हो चुकी है। द्रव्यक लोग दूर-दूर देश में माल ले जाते थे और वास्निक के रूप में थैली भर कर लौटते थे। यह तभी सम्भव था जब यात्रा के सरल साधन उपलब्ध हों। महाभाष्य दूर-दूर प्रदेशों को जानेवाले लम्बे मार्गों का उल्लेख करता है। पाणिनि ने पथिक और पथक में अन्तर किया है। पथिक साधारण यात्री को कहते थे[5] किन्तु पथक कुशल यात्री की संज्ञा थी।[6] कुछ लोग बराबर यात्रा किया करते थे। उनका व्यवसाय यही रहता था। वे लोग पान्थ होते थे। पान्थ

---

१ ५ १ ६।

२ ५ १-५१।

३ हरति देशान्तरं प्रापयति चोरयति वा। वहत्युत्क्षिप्य धारयति। आवहति उत्पादयति।—५ १-५० काशिका।

४ इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २४१।

५. ५ १-७५।

६. ५-२-११।

७. ५ १-७६।

और पथिक सैकड़ों कोसों और योजनों तक धावा मारते थे। लम्बी यात्रा ही व्यापार में लाभदायक हो सकती थी। क्रोशशतिक या योजनशतिक पथिक बिना सुपथ के यात्रा नहीं कर सकते थे।[1] पाणिनि ने सीधे सरल मार्ग के लिए[2] 'दण्डमाथ' शब्द का प्रयोग किया है।[3] रथ बैलगाड़ियाँ घोड़े तथा सार्थ इन मार्गों पर दौड़ा करते थे। रास्ते एक देश (प्रदेश) को दूसरे से जोड़ते थे। इन मार्गों का नाम उन प्रदेशों के नाम पर होता था जहाँतक वे जाते थे। जैसे स्रुघ्न जानेवाला मार्ग स्रौघ्न कहा जाता था।[4] इस मार्ग से द्रव्य तथा पशु आदि स्रुघ्न से ले जाते और ले आते थे। साकेत तथा स्रुघ्न के लिए प्रसिद्ध मार्ग थे।[5] ये मार्ग मथुरा से बताये गये हैं। इन मार्गों के किनारे किनारे कूप बनाये गये थे। एक स्थान पर पाटलिपुत्र जानेवाला कोई बतलाता है कि यह जो मार्ग पाटलिपुत्र तक जाता है इसमें बीच-बीच में कुएँ मिलेंगे।[6] मथुरा से पाटलिपुत्र जानेवाला मार्ग कौशाम्बी और साकेत होता हुआ जाता था। इसमें बीच-बीच में पड़ाव थे और लोग निश्चित स्थानों पर रुकते एवं विश्राम करते थे। कौशाम्बी और साकेत इस मार्ग के ऐसे ही पड़ाव थे। 'भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन्' (३-३ १३६) में काशिकाकार ने उदाहरण दिया है कि यह जो मार्ग पाटलिपुत्र तक जायगा उसमें कौशाम्बी के बाद दो बार भोजन करेंगे अर्थात् दो बार पूरा विश्राम करेंगे। यात्री लोग यात्रा पर निकलते समय तैयार खाद्य वस्तुएँ साथ ले जाते थे और उन्हें ही खाकर दिन काट लेते थे। कई दिन बाद ही कहीं रुककर वे भोजन बनाते-खाते थे। कौशाम्बी के बाद दो बार रुकने का उल्लेख मार्गों में यात्रा-विराम का ही द्योतक है। भाष्यकार ने इसी उदाहरण में कौशाम्बी के स्थान पर साकेत का प्रयोग किया था।[7] उत्तरपथ भारत का सबसे बड़ा व्यापार-मार्ग था जो उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त से पाटलिपुत्र तक जाता था।[8] यह मार्ग वर्तमान ग्रांड ट्रंक रोड के समान था और देश की प्रायः बड़ी-बड़ी नदियों को पार करता एवं बड़े-बड़े नगरों से गुजरता था। राउलिन्सन के अनुसार यह अनेक भागों में विभक्त था—सीमाप्रान्त के पुष्कलावती (Peukelaotis) नगर से तक्षशिला तक्षशिला से सिन्धु पार करता हुआ झेलम तक झेलम से व्यास और सतलज तक सतलज से यमुना और यमुना से हस्तिनापुर होता हुआ गंगा तक गंगा से राडाफा (Rhodopha) नगर और वहाँ से कलिनिपेक्स (सम्भवतः कान्यकुब्ज) एवं कन्नौज से प्रयाग और प्रयाग से पाटलिपुत्र।[10] इस प्रकार यह मार्ग देश के प्रमुख जनपदों तथा

---

१ ५ १-७४ पृ० ३३७।
२ ४-४-३७ काशिका।
३ ४ ३-८५।
४ १ ४-५१ पृ० १८१।
५ १ ३-९५ पृ० ६४।
६. ३-३ १३३ पृ० ३९६।
७ ३ ३ १३६ पृ० ३२८।
८ वही।
९. ५ १-७७।
१० रालिन्सन: इण्टर कोर्स बिटवीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ४२ तथा दि डिस्टेन्स बिटवीन दि स्टेजेज आन दि रॉयल रोड, पर्शियन्स, पृ० ६४।

नगरों में होकर निकलता था। देश के सभी प्रसिद्ध नगर मार्गों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे।

पथ-भेद—सब मार्ग एक-से नहीं थे। कोई अधिक चौड़े थे कोई कम। कोई सीधे थे और कोई चक्करदार। कोई मैदान से होकर जाते थे और कोई कान्तार से होकर। भाष्यकार ने इनके भिन्न भिन्न नाम दिये हैं। उदाहरणार्थ[1] वारिपथ (जलमार्ग) जिसमें नौका द्वारा व्यापार होता था जंगलपथ स्थलपथ कान्तारपथ और अजपथ। अजपथ इतने सँकरे तथा चढ़ाव उतार के होते थे कि उनपर अज ही चल सकते थे। बकरे-बकरियाँ दुर्गम-से-दुर्गम स्थलों पर जा सकते हैं। अजपथ नाम सँकरेपन तथा दुर्गमता को दृष्टि में रखकर दिया गया था। इसमें एक साथ दो व्यक्ति नहीं चल सकते थे। शंकुपथ ढलवें होते थे। इन मार्गों से जानेवाले व्यक्ति का तथा लाई गई वस्तु का नाम इन्हीं के आधार पर होता था। यथा वारिपथिक जांगलपथिक स्थालपथिक कान्तारपथिक आजपथिक और शांकुपथिक। कान्तार-पथ सम्भवतः साकेत से कौशाम्बी उज्जैन विदिशा मण्डपुर होते हुए भृगुकच्छ तक जानेवाले प्रसिद्ध व्यापार मार्ग का नाम होगा। हो सकता है, वन में होकर जानेवाले मार्ग की यह सामान्य संज्ञा हो। सिन्ध और मद्रुए स्थल-पथ से लाये जाते थे इसलिए इन्हें स्थालपथ कहते थे।[2]

'देवपथादिभ्यश्च' (५।३।१००) सूत्र में सूत्रकार ने देवपथ का भी उल्लेख किया है और आदि में पूर्वोक्त पथों के अतिरिक्त रथपथ करिपथ राजपथ सिंहपथ और हंसपथ को भी परिगणित किया है। रथपथ का ही दूसरा नाम रथ्या था।[3] करिपथ खुले मार्ग होते थे जिनके ऊपर वृक्षों की डालें झुकी नहीं रहती थीं। राजपथ शासन द्वारा निर्मित पक्के मार्ग थे। हंसपथ शब्द आकाश के लिए व्यवहृत होता था। देवपथ का अर्थ ऊँचा आकाशीय मार्ग था। बाद में लाक्षणिक रूप से उसका प्रयोग रक्षा-दुर्ग के सबसे ऊँचे भाग या प्राकार के ऊपर के मार्ग के लिए होने लगा।

मार्ग-व्यवस्था मौर्यों के समय में ही उन्नत हो चुकी थी। कौटिल्य (अनु० पृ० ५०) के अनुसार सड़कें बनवाना राजा के प्रमुख कर्तव्यों में एक था। मेगास्थनीज के अनुसार हर दस स्टेडियमों (stages) के बाद सड़कों के किनारे दूरी-दर्शक तथा मार्ग-निर्देशक पत्थर लगे थे। प्लिनी के अनुसार इस मार्ग की दूरी तथा पड़ाव इस प्रकार थे—

१ बेटो (Boeto) और डियोग्नेटस (Diognetus) नामक सिकन्दर के सर्वे अधिकारियों द्वारा पुष्करावती (Peukeloatis) से व्यास (Hyphasis) तक नापी गई दूरी (क) पुष्करावती से तक्षशिला—६० मील (ख) पुष्करावती से वितस्ता या झेलम तक—१२० मील (ग) पुष्करावती से व्यास तक—३२० मील थी।[5]

---

१ ५।१।७७ पृ० ११८।

२ वही।

३ ५।१।९, पृ० २९८।

४ अर्थशास्त्र अधि० २, अ० ३।

५ प्लिनी ६।२१।

२ व्यास से गंगा के मुहाने तक सेल्यूकस निकेटर (Seleukos Nikator) द्वारा मापी गई दूरी—(क) व्यास से हेसीद्रुस (Hesydrus) तक १६८ मील (ख) हेसीद्रुस से यमुना तक १६० मील, (ग) यमुना से गंगा तक ११२ मील, और (घ) गंगा से रोदफा (Rhodaphe) तक ११९ मील थी।[1]

इस समय नौ-वाणिज्य खूब उन्नत था। 'नावो द्विगोः' (५।४।९९) सूत्र अनेक नावों के समाहार (समूह) का सूचक है। उक्त सूत्र पर काशिकाकार ने द्विनावधनः, पञ्चनावप्रियः, पञ्चभिर्नौभिः और पञ्चनौः दशनौः आदि जो उदाहरण दिये हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि स्थल-व्यापार के समान वारिपथ से होनेवाला व्यापार भी दूर-दूर प्रदेशों तक बड़ी मात्रा में चलता था। बड़े व्यापारी पाँच-पाँच सौ तक नावें रखते थे जिन्हें वे या तो वाहन-शुल्क लेकर माल ढोने के लिए देते थे या स्वयं उनसे माल का यातायात करते थे। भाष्यकार ने जो पाँच सौ वहनों और पाँच सौ फलकों के तीर्ण होने का उल्लेख किया है वह भी इस बात का पोषक है।[2]

शुल्क—राज्य व्यापार पर कर लेता था जिसे शुल्क कहते थे।[3] फलतः राज्य की ओर से शुल्क-शालाएँ बनी थीं जो वर्तमान तटकर गृहों और चुंगी-नाकों के समान रही होंगी।[4] इनका अधिकारी शौल्कशालिक होता था जो निश्चित वस्तुओं पर नियत परिमाण में शुल्क वसूल करता था। कर देने के बाद ही कोई वस्तु विक्रय के लिए अर्हता-प्राप्त मानी जाती थी। अर्हता प्राप्त करने की इस क्रिया को अवक्रय कहते थे।[5] अवक्रय राज्य की आय का साधन था। इसीलिए, शुल्क-शालाएँ आय-स्थानों में गिनी जाती थीं।[6] वे नगर में बिक्री के लिए आनेवाली वस्तुओं पर कर वसूल करती थीं। इसके अतिरिक्त आपण-कर, आकर-कर तथा गुल्म-कर लेने की भी व्यवस्था थी। ये कर धर्म्य माने जाते थे। शुल्क जबतक व्यापारी पर भार न बन जाय तबतक धर्म्य माना जाता था। केवल दो शर्तें थीं। एक यह कि वह लोकपीडक न हो और दूसरे शास्त्र द्वारा निश्चित सीमा का अतिक्रमण न करे। वस्तुओं के विशेषण कई बार उन पर लगनेवाले कर के अनुसार भी प्रयुक्त होते थे।[9]

लोक में शुल्क को भार भी कहते थे।[10] भार और देय में अन्तर था।[11] देय ऐच्छिक कर्तव्य

---

१ एच० जी० रालिन्सन : इण्टरकोर्स बिटवीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ६४।

२ ५।१।५९ पृ० ३३३।

३ ५।१।४७, पृ० १२१।

४ ४।३।७५ काशिका।

५. अवक्रीयतेऽनेनेत्यवक्रयः पिण्डक उच्यते। शुल्कशालायाः अवक्रयः शौल्कशालिकः, आकरस्योऽपि धर्म्यमेव ? नैतदस्ति लोकपीडया धर्मातिक्रमेणाप्यवक्रयो भवति—४।४।५० काशिका।

६ ४।३।७५ काशिका।

७. ४।४।५० काशिका।

८ वही।

९. ५।१।४७, पृ० १२१।

१० ६।३।१० पृ० ३०३।

११ ६।३।१० काशिका।

था और कार अनिवार्य। भारत के पूर्वीय प्रदेश में लगनेवाले कुछ विशिष्ट करों का संकेत कार शाम्नि च प्राचां हलादौ (६ ३-१०) सूत्र से मिलता है। भाष्यकार ने इस प्रकार के करों में एक व्यापारिक कर 'अविकटोरण' का उल्लेख किया है।[1] भेड़ों के समूह पर एक उरण या भेड़ा कर-स्वरूप देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त अव्यापारिक प्राप्यकरों में 'शूप धाण' (प्रत्येक चूल्हे पर एक धाण) 'वृषदि मापक' (प्रति बस्ती एक माष) 'हल द्विपदिका' (प्रति हल दो पाद कार्षापण) 'नदी दोहनी' (प्रतिनाव एक कुम्भी दूध भाण्ड कर) 'मुकुटे कार्षापण' (प्रति व्यक्ति या प्रति सिर एक कार्षापण) का उल्लेख काशिकाकार ने किया है। यूथ-पशु अप्राप्य कर था जिसमें प्रति पशुयूथ एक पशु कर-स्वरूप लिया जाता था।[2] ये कर नियमित नहीं थे। मुकुटे कार्षापण वृषदि मापक एवं हले द्विपदिका या हले त्रिपदिका आकस्मिक आवश्यकताओं के अवसर पर लगाये जाते थे। आजतक गाँव में आवश्यक अवसरों पर इसी प्रकार सामाजिक या स्थानीय शासकीय कर लगाये जाने की प्रथा रही है।

स्पष्ट है कि चुंगी या उत्पादन-शुल्क प्रायः वस्तु या पदार्थ के रूप में लिया जाता था मुद्रा के रूप में नहीं। हाँ बड़े उत्पादनों पर या तो प्रतिशत निश्चित था या मुद्राएँ नियत थीं।

---

१ ६-३ १०, पृ० ३०३।

२ वहीं, काशिका।

अध्याय ६

तौल, माप और नाप

परिमाण और संख्या—तौल माप और नाप की परिभाषा करते हुए भाष्यकार ने किन्हीं प्रचलित श्लोकों की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं —

> ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।
> आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥१॥
> भेदमात्रं ब्रवीत्येषा नैषा मानं कुतश्चन ।—५-१-१९ पृ० १०८

और इसपर टीका करते हुए बतलाया है कि ऊर्ध्व या ऊपर उठाकर जिससे इयत्ता मालूम की जाती है, उसे उन्मान कहते हैं।[1] चारों ओर से जिससे नाप मालूम किया जाय उसे परिमाण कहते हैं क्योंकि परिमाण में परि का अर्थ है 'सब ओर से'।[2] लम्बाई, विस्तार या फैलाव मालूम करने का नाम प्रमाण है।[3] संख्या इन तीनों से भिन्न है। यह केवल दो वस्तुओं का अन्तर बतलाती है मान नहीं। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि सींक जैसी छोटी-से-छोटी वस्तु से लेकर अपरिमाण पदार्थ तक के भेद-भाव का ज्ञान संख्या से होता है। उदाहरण के लिए दो जगह सेर-सेर भर अन्न रखिए। उनका अन्तर न तो उन्मान से मालूम होगा न परिमाण से, क्योंकि प्रस्थ के पात्र में भरने से उनकी ऊँचाई, लम्बाई और चौड़ाई बराबर ही आयेगी। प्रमाण भी उनका अन्तर नहीं बता सकता। केवल संख्या से उनका अन्तर मालूम होगा क्योंकि दोनों प्रस्थों के दानों की संख्या में अन्तर होगा। भाष्य की इस परिभाषा के अनुसार तुला से तोलना उन्मान, सब ओर से अर्थात् किसी पात्रादि में भर कर नाप मालूम करना परिमाण और गहराई लम्बाई आदि की नाप का नाम प्रमाण था।

शब्दों के अर्थ दो प्रकार के होते थे—रूढ़ और लोक-प्रचलित।[5] शास्त्रज्ञ लोग प्रकरणानुसार शब्दों का प्रयोग रूढ़ अर्थ में करते थे। सामान्य लोगों में उनका प्रयोग व्यापक अर्थ में होता था। परिमाण शब्द की भी यही स्थिति थी। इसीलिए पाणिनि-सूत्रों में उसका प्रयोग दोनों प्रकार से देखा जा सकता है। कहीं तो परिमाण के अर्थ में संख्या अन्तर्भूत है[6] और कालवाचक भी और कहीं

---

१ ऊर्ध्वं मीयते तदुन्मानम्।—५ १ १९, पृ० १०८।
२ वही।
३ आयामविस्तारयोः प्रमाणमित्येतद् भवति। —वही।
४ वही।
५ १ १-२०।
६ ५ १ १९, पृ० ३३८।

दोनों उसकी सीमा से बाहर हैं। उदाहरणार्थ सब धातुओं से घञ् प्रत्यय करनेवाले 'परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः' (३ ३-२०) तथा विकारादि अर्थों में ठक् प्रत्यय करनेवाले 'क्रीतवत् परिमाणात्' (४ ३ १५६) आदि सूत्रों में परिमाण से संख्या का भी ग्रहण होता है किन्तु 'तदर्हति' अर्थ में ठक् प्रत्यय का विधान करनेवाले 'आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्' (५ १ १९) सूत्र में परिमाण से संख्या का बोध नहीं होता। इसीलिए, इस सूत्र में संख्या का पृथक् उल्लेख किया गया है। इस सूत्र का भाष्य करते हुए पतंजलि ने कहा है—'संख्या का उल्लेख पृथक् क्यों किया है? संख्या भी तो परिमाण है। परिमाण का निराकरण करने से संख्या का निराकरण स्वतः हो जायगा। यदि यह बात है तो संख्या का पृथक् उल्लेख इस बात को ज्ञापित करता है कि संख्या अन्य वस्तु है तथा परिमाण अन्य वस्तु। इसका फल 'अपरिमाणबिस्ताचितकम्बलेभ्यो न तद्धितलुकि' (५ १ १९) सूत्र में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसमें अपरिमाण कहने से अन्य परिमाणबोधक शब्दों का तो बहिष्कार होता है किन्तु संख्या का नहीं। फलतः दो सौ से क्रीत (स्त्री०) वस्तु द्विशता या त्रिशता ही कहलाती है। नहीं तो इनमें भी ङीप् प्रत्यय का निषेध न होता और द्व्याढकी आदि के समान द्विशती त्रिशती रूप होने लगते।' यह सिद्धान्त स्थिर करने के बाद भाष्यकार ने उन सब कठिनाइयों का समाधान किया है, जो संख्या को परिमाण से भिन्न मानने के कारण उत्पन्न होती हैं।[1] 'ज्ञापक न हो तो भी यह बात न्यायसिद्ध है कि संख्या केवल दो वस्तुओं में अन्तर बतलाती है।'[2]

परिमाण शब्द तथा संख्या शब्द पदार्थ की निश्चित इयत्ता का बोध कराते हैं। उदाहरणार्थ जब हम पाँच या सात कहते हैं तब उनसे पाँच या सात संख्यावाले पदार्थ या पदार्थों का बोध होता है, न उससे कुछ कम और न कुछ अधिक का। इसी प्रकार द्रोण खारी या आढक न अपने से कम और न अधिक के बोधक होते हैं। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनसे यथेच्छ वस्तु का बोध किया जा सकता है। जाति शब्द तथा गुण शब्द इसी प्रकार के हैं। तैल घृत कहने से खारी भर तैल या घृत का ग्रहण हो सकता है और द्रोण भर का भी। इसी प्रकार शुक्ल नील पीत हिमालय जैसे महान् पदार्थ के लिए भी व्यवहृत हो सकता है और वटबीज के लिए भी। परिमाण और संख्या निश्चित इयत्ता के ज्ञापन के लिए हैं।

इयत्ता ज्ञापन के दो प्रकार थे। एक तराजू पर तौलकर और दूसरे किसी खाली पात्र में भरकर। लम्बाई की माप दण्ड आदि लम्बी वस्तुओं से की जाती थी। जिनसे इयत्ता मापी जाती थी उन्हें मान कहते थे। मान का काम अनिर्ज्ञात वस्तु का निर्ज्ञान कराना था।[5]

---

१ ५ १ १९, पृ० ३०७।

२ वही।

३ न्याय्यसिद्धमेवैतत्। भेदमात्रं संख्याऽऽह।—५ १ १९, पृ० ३०८।

४ इह केचिच्छब्दा उक्तपरिमाणानामर्थानां वाचका भवन्ति च एते संख्याशब्दाः परिमाणशब्दाश्च। पञ्च सप्तेत्येकेनाप्यपायेन न भवन्ति। द्रोणः खारी आढकमिति नैवाधिके भवन्ति न न्यूने। केचित् यावदेव तत् भवति तावदेवाहुर्यं एते जातिशब्दा गुणशब्दाश्च।—१ १-७२, पृ० ४५१

५ मानं हि नामानिर्ज्ञातार्थमुपादीयते निर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति।—२-१-५५, पृ० ३०८।

उन्मान—तुला या तराजू पर तोलने को उन्मान कहते थे, क्योंकि इसमें वस्तु को ऊर्ध्व उठाकर उसका भार मालूम किया जाता था। तुला से समित वस्तु तुल्य कही जाती थी।[1] जिस रस्सी को पकड़कर तुला ऊपर उठाई जाती थी उसे प्रग्रह या प्रग्राह कहते थे।[2] कुछ लोग तोलने मापने का व्यवसाय करते थे जिन्हें माता कहते थे।[3] तुला मान का अनिवार्य साधन थी, क्योंकि अन्न तो निश्चित मान के पात्रों में भरकर मापा जा सकता था। कपास और लोहे का मापना सम्भव नहीं था। समान वजन के होने पर भी दोनों पदार्थों की आकृति या आकार में बड़ा अन्तर होता है। समान आकृति के इन पदार्थों के भार में अन्तर होता है। काशिका के उल्लेख से पता चलता है कि नन्द राजाओं में से किसी ने सारे देश में समान मानों का प्रचलन किया था।[5] इसके पूर्व भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न मान प्रचलित रहे होंगे।

पतञ्जलि ने मान को द्रौवय अर्थात् काष्ठ का बना कहा है। यह कथन आयाम नापनेवाले दण्डादि तथा अन्न की माप करनेवाले प्रस्थ द्रोण आदि के विषय में सत्य है। तोलने के बाट काष्ठ के नहीं होते थे क्योंकि वे पानी से भीगकर अधिक भारी हो सकते थे फट सकते थे या सरलता से खण्डित हो सकते थे। अर्थशास्त्र ने इसीलिए अयोमय (लोहे के) तथा मागध-मेकलादि पर्वतों के पत्थरों (कच्चे पत्थर के नहीं) से बने प्रतिमानों (बाटों) का निर्देश किया है। लोहे और पत्थर के मान न तो पानी में फूलकर भारी हो सकते हैं और न सूखकर हल्के। इस प्रकार के न फूलने और न सूखनेवाले मान और भी किसी पदार्थ के बनाये जा सकते थे।[6] सूत्रकार ने द्रु (काष्ठ) से बननेवाले दो शब्दों द्रव्य और द्रुवय का अन्तर स्पष्ट किया है। प्रथम द्रु के सामान्य अवयव या विकार के लिए प्रयुक्त होता है और द्वितीय विकार-विशेष में मान के लिए। उन्मानों में निम्नलिखित का उल्लेख भाष्य में मिलता है—

माष—यह तौल का छोटा बाट था। कृष्णल इससे भी छोटा होता था, जिसका वजन एक ग्रेन से कुछ अधिक था। माष का वजन कार्षापण का १/१६ भाग होता था। उरद की साधारण फली में १६ दाने होते थे और १६ माष का कार्षापण होता था। इसलिए, उरद को भी माष कहने लगे। कार्षापण के भार में स्थान-भेद से अन्तर अवश्य होता था, किन्तु माष का वजन सर्वत्र

---

१ १ १-९, पृ० १५८।

२ ३ ३-५२ का०।

३ १-२ ६४ पृ० ३७२।

४ ५-१ ११९ पृ० ३५४।

५ ५ २-१४ तथा २ ४-२१ काशिका।

६ प्रतिमानान्ययोमयानि मागधमेकलशैलमयानि यानि वा नोदकप्रदेहाभ्यां वृद्धिम् गच्छेयुरुष्णेन वा ह्रासम्।—अर्थशास्त्र अधि० २, अ० १८।

७ ३ ४ १६१ तथा १७।

८ मुद्गरस्य पुतवातीन् षोडशमाषाः कार्षापणं षोडशपणकाश्च माषसंज्ञाः। १ २ ६४, पृ० ५९८।

समान था। माष मीङ् माने' धातु से बना है, जिसका अर्थ है वजन मालूम करना।[1] माष सोना तोलने के काम आता था और पाँच कृष्णल के बराबर होता था। चाँदी का माष २ रत्ती के बराबर था।

धाण—धाण का भार महाभारत में ½ शतमान या १२½ रत्ती बतलाया है। पतंजलि-काल में धाण ४ माषे का मान था। माष के समान यह सिक्का भी था। इतने ही वजन का ढला हुआ सुवर्ण सिक्के के रूप में व्यवहृत होता था। भाष्यकार के समय में सिक्कों में अन्य धातुओं का मिश्रण नहीं होता था और प्रत्येक सिक्का शुद्ध धातु रहता था। इसलिए, तोल मान और सिक्के बराबर रहते थे। धाण का अर्धभाग भी सिक्के के रूप में व्यवहृत था जिसे धाणार्ध कहते थे। भाष्य के अध्यर्धधाण से निष्पन्न रूप इस कथन की पुष्टि करते हैं।[2]

बिस्त—सुवर्ण तोलने का मान था जो अस्सी रत्ती के बराबर था। ऐसा लगता है कि कार्षापण और निष्क के समान बिस्त भी कहीं-कहीं सामान्य से बड़ा व्यवहृत होता था। भाष्य में बिस्त के साथ परमबिस्त का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।[3] बिस्त को विद्वानों ने सुवर्ण कर्ष और अक्ष का पर्याय माना है। इसलिए, इसका वजन भी उन्हीं के बराबर रहा होगा। निम्नलिखित मान उन्मान और परिमाण दोनों थे। ये तराजू से तोलने के बाट भी थे और मापने के पात्र भी। मापने के पात्र लकड़ी के भी बनाये जाते थे और समचतुर्भाग जिस होते थे अर्थात् इनकी ऊँचाई सब ओर से समान होती थी[4] और इनकी गहराई इतनी होती थी कि निश्चित उमान भर अन्न समा सके। महाराष्ट्र तथा बम्बई में अभी तक पाव सेर, पायली (५ सेर) पात्र-रूप में भी प्रचलित हैं। ये लोहे के होते हैं।

कुडव—कुडव[5] अनादि तोलने और मापने का बाट तथा पात्र था। यह प्रस्थ का चतुर्थांश होता था। पात्र कुडव चार अंगुल चौड़ा और इतना ही गहरा होता था। इसमें १२ तोला या मुट्ठी-भर अन्न समाता था। कहीं-कहीं इसे १३॥ घन अंगुल गहरा और कहीं ६४ घन अंगुल गहरा बतलाया है। कहीं-कहीं इसकी गहराई १॥ अंगुल और लम्बाई चौड़ाई तीन-तीन अंगुल मिलती है, जिसमें ३२ तोला या २ प्रसृति भर अन्न समाता था। सामान्यतया कुडव अञ्जलि के बराबर होता था और उसका पर्यायवाची थी।

मुष्टि—मुष्टि भी परिमाण-बोधक थी। शार्ङ्गधरसंहिता के अनुसार इसका वजन एक पल था। अर्थशास्त्र में पल का परिमाण १० धरण माना है।[6] भाष्यकार ने मुष्टि का उल्लेख परिमाण के रूप में किया है। उन्होंने 'समि मुष्टौ' (३ ३ ३६) सूत्र के भाष्य में कहा है, यह सूत्र व्यर्थ है क्योंकि मुष्टि के परिमाणवाचक होने के कारण 'परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः' (३ ३ २०)

---

१ १-२-६४ पृ० ५६७।

२ ५ १ ३६, पृ० ३२०।

३ ६ १-७२ पृ० ७५२।

४ शुष्कसारदारुमयं समं चतुर्भागशिखं मानं कारयेत्।—अर्थ०, अधि० २, अ० १९।

५ ५-२-३७ पृ० ३७९।

६ दशधारणिकं पलम्—अर्थ०, अधि० २, अ० १९।

मूल से ही यत् प्रत्यय हो सकता है।[1] मुष्टि नाम मुट्ठी में समाने भर अन्न-परिमाण के आधार पर लिया गया जान पड़ता है। अंजलि पूर्ण आदि परिमाणों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। मुष्टि नाम का कोई स्वतन्त्र मान या पात्र था इसमें सन्देह है।

प्रस्थ—यह निश्चय ही मान भी था और परिमाण-पात्र भी। यह चार कुडव या अंजलि (लगभग ५ छटाँक) के बराबर होता था। भाष्यकार ने प्रस्थ की परिभाषा देते हुए कहा है कि इसमें धान्य समाते हैं।[2] इससे इसके मापक पात्र होने की पुष्टि होती है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि प्रस्थ समानाकृति होता है। प्रस्थ भर अन्न यदि दो जगह रख दिया जाय तो समानाकार होने के कारण उन्मान परिमाण या प्रमाण इनमें किसी भी प्रकार से अन्तर नहीं मालूम होगा।[3]

द्रोण—चार प्रस्थ का एक आढक होता था। भाष्यकार ने अन्न-परिमाण के रूप में आढक का उल्लेख किया है[4]। इसे पायली (५ सेर) कहते हैं।

द्रोण—चार आढक या पसेरी का एक द्रोण होता था। इस प्रकार, इसका वजन वर्तमान बीस सेर के बराबर था। कौटिल्य ने दशधरण का एक पल और १८७॥ पल (अन्नमाप) का एक द्रोण माना है।[5] सामान्यतया १०२४ मुष्टि=२०० पल=१६ पुष्कल=४ आढक=१ द्रोण प्रचलित परिमाण थे। सम्भवतः द्रोण पात्र या द्रोण मान के कम छिछलेपन को लेकर ही नाटी स्त्री के लिए द्रोणी शब्द विशेषण के रूप में चल पड़ा। भाष्यकार ने इसी अर्थ में द्रोणीभार्य (नाटी पत्नीवाला) शब्द का प्रयोग किया है।[6] अन्न के अतिरिक्त अन्य भी कई वस्तुओं का मान इन पात्रों से मालूम किया जाता था। बेरों की तोल भी परिमाण-पात्रों से की जाती थी।[7] आज भी दक्षिण भारत में बेरों की बिक्री ऐसी मापक पात्रों में भरकर होती है।

खारी—खारी का परिमाण १ द्रोण या १॥ सूर्प से १८ द्रोण तक मिलता है। यह भेद स्थान कृत है। जैसे १२० तोले के ४० सेर से ८० तोले के सेर के १४ सेर तक के मन आज भी देश में प्रचलित हैं। कहीं-कहीं खारी ८६ बोरी की बतलाई गई है। अर्थशास्त्र में खारी का परिमाण[8] १६ द्रोण और चरकसंहिता में ४ द्रोण बतलाया है। अन्न की बड़ी-बड़ी राशियाँ खारी से मापी जाती थीं। भाष्यकार ने शत और सहस्र खारी की अन्नराशियों की चर्चा

---

१ ३-१.१६ पृ० ३०६।

२ प्रतिष्ठन्ते अस्मिन्निति धान्यानि प्रस्थः—१-१-५८, पृ० ३०८।

३ प्रस्थस्य च समानाकृतेर्न कुत्रचित् विरोधो यत्रस्थो न चोन्मानतो न परिमाणतो न प्रमाणतः—५ १ १९, पृ० ३०८।

४ १ १-७२, पृ० ४५१।

५. विंशतितौलिको भारः, दशधारणिकं पलम्, सप्ताशीतिपलं सतमर्धपलं च व्यावहारिकम् (द्रोणः) षोडश द्रोणाः खारी विंशति द्रोणिकः कुम्भः, कुम्भैर्दशभिर्वहः—अर्थ० अधि० २ अ० १९।

६. ६-१ पृ० ११९।

७. २ २-५, पृ० ३३६।

८. अर्थ० शा० अधि० २, अ० १९।

है।[1] खारी से क्रीत वस्तु खारीक कहलाती थी। इसी प्रकार, अध्यर्ध खारीक द्विखारीक [...]। उन वस्तुओं को कहते थे जो डेढ़ या दो खारी परिमाण से क्रीत की गई हों।[2] प्राच्य [...]तों के लोग दो खारियों को द्विखार और अर्धखारी को अर्धखार भी बोलते थे।[3] इससे पता [...]ता है कि प्राच्य लोगों में खारी को खार बोलने की प्रथा थी।

अन्नराशि प्रायः खारी से तौली जाती थी। भाष्यकार ने कहा है कि एक कुदालक से [...]ों खारी अन्न उपजाया जाता है। यह कथन भूमि की उर्वरता की ओर भी संकेत करता [...]। खारी को मष्टिका भी कहते थे।[5]

भाष्य में द्रोण आढक और खारी का उल्लेख अनेक बार साथ-साथ हुआ है। खारी [परिमाण]विशेष या मानपात्र सम्भवतः नहीं था। द्रोण खारी आढक तीनों को भाष्यकार ने [प]रिमाण कहा है। इससे इतना स्पष्ट है कि ये तीनों निश्चित परिमाण थे।[6] ऐसा नहीं कि थोड़ा-बहुत कम-अधिक होने पर भी उनके विशिष्ट परिमाण होने में बाधा न आये। एक स्थान पर द्रोण और आढक का साथ उल्लेख करते हुए भाष्य में कहा है कि अर्ध है तृतीय जिसमें (दो में) ऐसे २॥ द्रोणों को 'अर्धतृतीय द्रोण' कह सकते हैं क्योंकि जिस शब्द का प्रयोग समुदाय के लिए हो सकता है, उसका उस समुदाय के अवयव के लिए भी हो सकता है। इसीलिए, ½ द्रोण को भी द्रोण कहना उचित है। किन्तु, यह बात उसी अवयव के लिए है जो उस समुदाय का अवश्य घटक हो। दो द्रोण और आधे आढक को 'अर्धतृतीय द्रोण' नहीं कहते, क्योंकि आढक द्रोण का आवश्यक घटक नहीं है, उलटे आढक द्रोण का घटक है। द्रोण खारी का एक अवयव था इसीलिए खारी में एक द्रोण अधिक है या खारी में द्रोण अध्यावप है, इस प्रकार के कथन संगत माने जाते थे।[7]

परिमाण के आधार पर पात्रों के नाम—इन परिमाणों के आधार पर भोजन पकाने के पात्रों तथा खेतों के नाम पड़ जाते थे। उदाहरणार्थ—जिस पात्र में एक द्रोण चावल पक सकते थे उस स्थाली को द्रोणी या द्रोणिकी[8] कहते थे। इसी प्रकार, आढक से आढकीना द्व्याढकीना आचितीना (आचित=परिमाणविशेष) पात्रीणा (पात्र=परिमाणविशेष) या द्व्याढकिकी आढकिकी आचितिकी पात्रिकी अथवा द्व्याढकी द्व्याचिता द्विपात्री द्विपात्रीणा द्व्याचितीना[9] आदि। दो कुलिज (परिमाणविशेष) भर चावल या कोई अन्न जिसमें पक सके उसे द्विकुलिजिकी

१ ५ १-५८ पृ० १२७।
२ ५ १ ३१, पृ० १२०।
३ ५ ४ १०१।
४ एकेन कुदालकेन खारीसहस्रम्—२ १ ६९ पृ० १२५।
५ ७-३-४५, पृ० ११०।
६ १ १-७२, पृ० ४५१।
७ ९-२-२४, पृ० ३०१।
८ ५ १-५२, पृ० ३२५।
९ ५ १-५३।
१० ५ १-५५, पृ० ३२५।

द्विकुलिजीना द्विकुलिजा द्वैकुलिजिकी कहते थे।[1] प्रस्थ कुडव खारी-भर अन्न जिनमें पक सके उन्हें क्रमशः प्रास्थिक कौडविक एवं खारीक[2] कहते थे। ये ही शब्द उन पात्रों के लिए भी प्रयुक्त होते थे जिनमें उक्त परिमाणों का अन्न या अन्य चीजें समा सकें। जिन खेतों में प्रस्थ द्रोण खारी या पात्र भर बीज बोया जाता था, उन्हें क्रमशः प्रास्थिक द्रौणिक खारीक और पात्रिक कहते थे।[3]

कंस—घरेलू व्यवहार का पात्र था। छोटे और कटोरी कांसे के बनते थे और कांस्य-पात्र कहलाते थे। कंस व्यवहार का पात्र जान पड़ता है, जिसका आकार निश्चित होगा किन्तु चरक में कंस का जो परिमाण दिया है, उससे यह साधारण पात्र नहीं परिमाणविशेष मालूम होता है। ८ प्रस्थ या २ आढक का एक कंस होता था। कंस से क्रीत वस्तु को कांसिक कहते थे।

मन्थ—मन्थ का उल्लेख पाणिनि ने 'कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डद्विगौ' (६ २ १२२) सूत्र में किया है। यह परिमाणवाचक है, किन्तु इसका निश्चित परिमाण बतलाना कठिन है। कंस और शूर्प के बीच उल्लेख होने से सम्भव है इन दोनों के बीच का हो। मन्थ मटके के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है, जिसका आकार मझला बिलोने के मटके के बराबर हो।

शूर्प—शूर्प दो द्रोण के बराबर होता था। दो शूर्प अन्न से क्रीत वस्तु द्विशूर्प और तीन से क्रीत त्रिशूर्प कही जाती थी।[4] भाष्य के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि शूर्प का प्रचलन लेन-देन में बहुत अधिक था। अर्धशूर्प का भी निश्चित परिमाण था और वह भी क्रय-विक्रय में प्रयुक्त होता था। डेढ़ शूर्प से क्रीत वस्तु अध्यर्ध[5] शूर्प और साढ़े चार शूर्प से क्रीत वस्तु अर्धपंचम शूर्प कही जाती थी। द्विशूर्प (दो शूर्पों से क्रीत) वस्तु से खरीदी हुई वस्तु को द्विशौर्पिक इसी प्रकार त्रिशौर्पिक[6] कहते थे।

कुम्भ—कुम्भ और उष्ट्रिका[7] परिमाण थे और प्रतिकाण्ड या प्रतिखण्ड वापबीज निश्चित करने में सहायक थे। भाष्यकार ने माष-कुम्भ-वाप[8] और व्रीहि-कुम्भ-वाप खेतों का उल्लेख किया है। इन खेतों में कुम्भ भर माष या व्रीहि का बीज पड़ता था। उष्ट्रिका नाम ऊँट के समान ऊँची या लम्बी गरदन होने के कारण रखा गया था। दस कुम्भों को वाह भी कहते थे।[10] कुम्भ २० द्रोण के बराबर होता था। कुम्भी इससे बहुत छोटी सम्भवतः घड़े के बराबर होती थी[11]

---

१ ५ १-५२ तथा ५४।
२ ५ १ ४५ तथा ४६।
३ ५-१ १ पृ० १८।
४ अध्यर्धको द्रोणः खार्याम् अधिको द्रोणः खार्याम्—५-२-७३ पृ० ३९८।
५ ५ १-२०, पृ० ११२।
६ १ २-२३ पृ० २११।
७ ५ १-२०, पृ० ११२।
८ ४ १ ३, पृ० २२।
९ ८ ४ १३ पृ० ४८१।
१० अर्थशा० अधि० २, अ० १९।
११ १ ३-७ पृ० २७।

धान्य की निर्भरता प्रकट करने के लिए भाष्यकार ने उसे कुम्भीधान्य कहा है। पाँच उद्रकामों का एक घट होता था।[2] घट, कुम्भ, कलश पर्यायवाची थे। कुम्भ और कुम्भी मिट्टी के बरतन थे।[3]

गोणी—चरक के अनुसार गोणी और बोरी पर्यायवाची हैं। गोणी छोटी बोरी को कहते हैं। मामूली टट्टू पर दो गोणी भार लादकर बनिये अनाज बेचने निकलते हैं। गोणी अन्न परिमाण होता है। इनकी माप आज भी बराबर होती है। सम्भवतः एक टट्टू पर लदी दो गोणियों के बोझ की गोणी भर अन्न को गोणी कहते हों। गोणी भर अन्न को गौणिक कहते थे।[4] इसी प्रकार पाँच या दस गोणी भर अन्न पञ्चगोणि या दशगोणि कहा जाता था।

भार—एक बार में स्वस्थ मनुष्य जितना बोझ ले जा सकता था उसे भार कहते थे। भार ८००० कर्ष या २॥ मन का होता था। अर्थशास्त्र में २० तुला=१ भार बतलाया गया है।[5] तुला १०० पल की होती थी। यह परिमाण तराजू से एक बार में तोले गये वजन (५ सेर) के लिए था। इस प्रकार भी भार २॥ मन का ही सिद्ध होता है। भार एक व्यक्ति द्वारा ले जाये जाने योग्य (कांवर द्वारा) वजन को कहते थे। यह बात भाष्य में उल्लिखित भारवाह[6] तथा भारहार शब्दों से भी पुष्ट होती है। भारवाह को व्यावसायिक लोग वंशभार या वासवभार के जानेवाले वांशभारिक या वासवभारिक कहते थे।[7] ये कर्मकर श्रेणी के होते थे जिनका काम भार को एक ग्राम से दूसरे ग्राम पहुँचाना होता था। महाभार भार से बहुत बड़ा था यद्यपि इसका वजन निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। पाणिनि-सूत्र ६ २ ३८ में महाभार का उल्लेख है।

आचित—आचित एक गाड़ी भार को कहते थे जो १० भार या २५ मन के बराबर होता था। सम्भवतः इसी का नाम महाभार था। आचित भार भी सामान्य और विशेष भेद से दो प्रकार का होता था। विशेष भार को परमाचित कहते थे।[8] यह अन्तर छोटी-बड़ी गाड़ी के भेद के कारण था। दो आचितों से क्रीत वस्तु को द्व्याचित द्व्याचिता (स्त्री०) कहते थे। इसी प्रकार द्विपरमाचिता भी प्रयोग होता था। जिसमें आचित भर वस्तु समा जाये उसे आचितीन कहते थे।[9]

पात्र कुलिज पाय्य षट्क कम्बल्य पंचलोहित और पञ्चकपाल भी परिमाण थे। पात्र भर बीज बोने योग्य खेत या पात्र भर अन्न समाने या पका सकने योग्य स्थाली या पात्र को क्रमशः

---

१ पञ्चाढकानुद्रिकाणां पूरणो घटः—५-२-४८, पृ० ३८७।

२ ४ १ १, पृ० १०।

३ १ २-५० पृ० ५३९।

४ वही।

५ अर्थ०, भा०, अधि० २, अ० १९।

६ ३-२-१, पृ० २०१।

७ ५ १-५०।

८ १ १-७२, पृ० ४५२।

९ ५ १-५३।

पात्रिक[1] एवं पात्रीण[2] कहते थे। इसी प्रकार, जो कुलिज अन्न रखने या पकाने योग्य पात्र द्विकुलि-जिकी[3] त्रिकुलिजिकी द्विकुलिजिकीना या द्विकुलिजा कहलाता था।[4] चरक ने पात्र को आढक का पर्याय माना है।[5] पाय्य वर्तमान पायली (बम्बई) पाई (पंजाब), प्या (पश्चिमोत्तर-प्रदेश) का प्राचीन नाम जान पड़ता है। पण्ठक[6] अन्न के षष्ठांश राज-कर मापने का पात्र जान पड़ता है जो द्रोणादि में से कोई हो सकता है। कम्बल्य सर्वाधिक प्रचलित परिमाण के कम्बल में लगनेवाली ऊन का परिमाण (पाँच सेर) था। पंचलोहित से क्रीत वस्तु पांचलोहितिक और पंचकपाल से क्रीत वस्तु पांचकपालिक कही जाती थी। इनका वास्तविक परिमाण क्या था निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

प्रमाण—भाष्यकार के अनुसार आयाम अर्थात् लम्बाई की माप को प्रमाण कहते हैं। यद्यपि अष्टाध्यायी में एकाध स्थानों पर इसके अपवाद मिलते हैं[7] जिनमें प्रमाण में वजन या संख्या को भी सम्मिलित कर लिया गया है, फिर भी सामान्यतः प्रमाण का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ में ही हुआ है।

लम्बाई की माप लकड़ी से बने मापकों से की जाती थी जिन्हें युग कहते थे[8] किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य साधनों द्वारा भी लम्बाई मापी जाती थी। भाष्य में आयाम के निम्न लिखित प्रमाणों का उल्लेख मिलता है।

अंगुलि—यह निम्नतम प्रमाण-बोधक थी। अंगुलि से भी छोटा मापक यव था तो भी उसका प्रयोग व्यवहार में कम होता था। पाणिनि ने प्रमाण-रूप में अंगुलि का उल्लेख किया है।[10] अंगुलि ¾ इंच के बराबर थी। प्राचीन ग्रन्थकार ८ यव=एक अंगुलि मानते थे। इस प्रकार यव सबसे छोटा प्रमाण था और अंगुलि उसके बाद।

दिष्टि—अंगूठ और तर्जनी को फैलाकर मापने से उनके मध्य की जो लम्बाई होती है उसे दिष्टि कहते थे।[11] इसे मराठी में टीच कहते हैं जो परिमाण का ही बोधक है। दिष्टि को प्रादेश भी कहते थे। भाष्यकार ने कहा है कि सत्रह शामिधेनी ऋचाएँ पढ़कर समिधाएँ रखी जाती हैं किन्तु एक ही बार सत्रह प्रादेश भर लम्बी समिधाएँ नहीं रख दी जातीं।[12]

---

१ ५ १-५२ तथा ५४।
२ ५ १ ५५ तथा ५६।
३ ५ १-५५, पृ० ३५५।
४ ३ १ १२६, पृ० १९४।
५ ५ १-५१।
६ ५ १ १ पृ० ९९७।
७ ५ १ ३८, पृ० ३१८।
८ ६ २ ४० तथा ६-२ १२।
९ ४-२-१६२।
१० ५ ४-८६।
११ ६ २ १ पृ० २५०।
१२ सप्तदश प्रादेशमात्रीः शामित्रीः समिधोऽभ्यादधीतेति न सप्तदश प्रादेशमात्रं काष्ठमभ्याधीयते—आ० २ पृ० ६१।

वितस्ति—वितस्ति[1] का प्रमाण बारह अंगुल था। इसी से बीत या बीता बना है। अंगुष्ठ और छिगुनी को फैलाने से मध्य की लम्बाई वितस्ति या बालिश्त होती है। एक श्लोक-वार्तिक में तथा अन्य सूत्रों के भाष्य में उदाहरण रूप से दिष्टि[2] और वितस्ति[3] का उल्लेख हुआ है। दो या तीन वितस्ति लम्बी वस्तु को द्विवितस्ति या त्रिवितस्ति कहते थे। इसी प्रकार आयाम के प्रमाण के लिए ही भाष्य में त्रिदिष्टि द्विदिष्टि[4] और दिष्टि-मात्र शब्दों का उल्लेख मिलता है। स्वयं सूत्रकार ने 'दिष्टिवितस्त्योश्च' (६-२-३१) में इन प्रमाणबोधक शब्दों का ग्रहण किया है। दिष्टि और वितस्ति के लगभग प्रमाणवाली वस्तु को दिष्टि-मात्र और वितस्ति-मात्र कहते थे।[5]

अरत्नि—कुछ लोगों के मत से मुठ्ठी बन्द हस्त को अरत्नि कहते थे। यह २४ अंगुल की होती थी। भाष्य में पंचारत्नि दशारत्नि[6] का उल्लेख है। एक स्थान पर कहा है कि सत्रह मन्त्र पढ़कर सत्रह समिधाएँ यज्ञकुण्ड में रखी जाती हैं। पर, सत्रह अरत्नि लम्बी एक ही समिधा उनके बदले नहीं रख दी जाती। इससे यह स्पष्ट है समिधा की लम्बाई एक अरत्नि होती थी। अरत्नि का मूल अर्थ कोहनी था। ऋग्वेद (८-८०-८) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (८-५) में भी इसका उल्लेख है। कोहनी से अंगुल्यग्रभाग तक का प्रमाण अरत्नि था।

शम या हस्त—दो वितस्ति को शम या हस्त कहते थे।[7] दो और तीन शम लम्बी वस्तु द्विशम और त्रिशम कही जाती थी। लगभग एक शम लम्बी वस्तु को शम-मात्र कहते थे।[8]

दण्ड—चार शम या हस्त का एक दण्ड होता था।

काण्ड—एक दण्ड लम्बा और एक दण्ड चौड़ा अर्थात् १६ हाथ समक्षेत्र की भूमि काण्ड कहलाती थी। यदि क्षेत्र न हो तो १६ हाथ लम्बी रज्जु या अन्य वस्तु काण्ड प्रमाण मानी जाती थी। यदि दो-तीन काण्ड की क्षेत्र-मर्यादा होती तो उसे द्विकाण्डा या त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्ति कहते थे, किन्तु यदि इसी प्रमाण की रस्सी होती तो उसे द्विकाण्डी रज्जु कहते थे। क्षेत्रभक्ति शब्द खेत की लम्बाई चौड़ाई—क्षेत्रफलवाली भूमि के लिए प्रयुक्त होता था।[11] इस प्रकार, यदि लम्बाई की दृष्टि से देखें तो दण्ड और काण्ड दोनों बराबर (४ हाथ) थे। इसीलिए, बालमनोरमा ने उन्हें पर्यायवाची मान लिया है यद्यपि दोनों में अन्तर है। इस पर्यायवाचिता के ही कारण

---

१ ६-२-१, पृ० २५०।
२ वही।
३ ५-२-३७ पृ० ३७८, ७९।
४ वही।
५ वही।
६ वही
७ २-१-५, पृ० ३०१।
८ भा० २, पृ० ६२।
९ ५-२-३७, पृ० ३७८।
१० वही।
११ ४-१-२३ काशिका।

कुछ विद्वानों ने धनु को सोलह हाथ माना है। वास्तव में दण्ड केवल आयाम का बोधक है और काण्ड आयाम × विस्तार का।

रज्जु—खेतों को मापने के लिए रज्जु प्रमाण का व्यवहार होता था। रज्जु की लम्बाई दस दण्ड के बराबर मानी जाती थी।[1] दण्ड रज्जु का अवयव था।

किष्कु—'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्' (६ १ १५७) सूत्र के भाष्य में किष्कु का भी उल्लेख है। काशिका ने इसे प्रमाण कहा है। किष्कु २४ अंगुष्ठों की चौड़ाई-भर का प्रमाण था। अर्थशास्त्र के अनुसार इसका साधारण प्रमाण ३२ अंगुल था। किष्कु कर या हस्त के लिए भी व्यवहृत होता था।

नल्व—४०० किष्कु का एक नल्व होता था जिसका प्रमाण लगभग एक फर्लांग था। महाभाष्य में नल्व का उल्लेख नहीं है।

क्रोश—क्रोश की चर्चा भाष्य में कई बार आई है। लम्बी दूरी की माप क्रोशों से की जाती थी। क्रोश बहुत प्रचलित प्रमाण था। भाष्यकार ने 'क्रोश भर सोता है, वनराजि क्रोश भर रमणीय है, नदी क्रोश भर टेढ़ी है'[2] ऐसे दूर या दैर्घ्य-दर्शक प्रसंगों में क्रोश शब्द का ही उपयोग किया है। यात्री लोग क्रोशों के द्वारा ही यात्रा की लम्बाई का अनुमान करते थे। सौ क्रोश चलने वाला क्रौशशतिक कहलाता था। जिस व्यक्ति का अभिनन्दन सौ क्रोश से पहले से करना चाहिए, ऐसे भिक्षु या महात्मा को क्रौशशतिक कहते थे।[3] सैनिक एक क्रोश की दूरी से बाण का निशाना मारने का अभ्यास करते थे।[4]

गव्यूति—दो क्रोश की लम्बाई को गव्यूति कहते थे।[5] परिमाण अर्थ में ही गव्यूति शब्द का प्रयोग होता था अन्यथा गोयूति शब्द का व्यवहार होता था। रॉथ के अनुसार ऋग्वेद में गव्यूति (१-२५ १६ ३-६२ १६) पशु को चराने के लिए छोड़ी हुई घास की भूमि का नाम है। वहीं से इसका व्यवहार दूरी मापने के लिए प्रारम्भ हुआ। पंचविंशब्राह्मण (१६ १३ १२) में यह शब्द दूरी की माप के लिए प्रयुक्त है।

योजन—दो गव्यूति या चार क्रोश का योजन कहते थे। योजन ४ गोरुत का होता था।[6] इस प्रकार क्रोश और गोरुत का परिमाण बराबर था। अर्थशास्त्र में ४ अरत्नि = १ दण्ड या धनु (बढ़ई की माप) जो १०८ अंगुल का होता था माना है और १ ०० धनु का एक गोरुत बतलाया है तथा चार गोरुत का एक योजन। भाष्य में योजनशत की यात्रा करनेवाले को

---

१ वही।

२ १ ४-५१ पृ० १८० तथा ९-३-५, पृ० ४०८।

३ ५ १-७४ पृ० ३३७।

४ २-३-७ पृ० ४१०।

५. ६ १-७९ पृ० ११२।

६. चतस्रो रत्नयो दण्डो धनुः गार्हपत्यमष्टशताङ्गुलं धनुःसहस्रं गोरुतम् चतुर्गोरुतं।—अर्थ० शा०।

७ वही।

योजनपर्यन्तिक कहा है। जिसका अभिगमन सहस्र योजन पहले से होना चाहिए, ऐसे गुरु आदि के भी योजनसाहस्रिक विशेषण प्रयुक्त होता था।[1] साधारण घोड़ा एक बार जुतकर ४ योजन चलता है, किन्तु अच्छा घोड़ा आठ योजन।[2] यह कथन भी भाष्य में मिलता है। एक शहर से दूसरे शहर की दूरी भी योजनों में मापी जाती थी। जैसे गवीधुमत् से सांकाश्य चार योजन था।[3]

ये वस्तु की लम्बाई और चौड़ाई मापने के प्रमाण थे। गहराई या ऊँचाई प्रमाण के लिए व्यवहृत होनेवाले कुछ शब्द भी भाष्य में मिलते हैं। भाष्यकार ने प्रमाण और ऊर्ध्वमान में भेद किया है और 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (५-२ ३७) सूत्र से प्रमाण अर्थ में होनेवाले द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् में प्रथम दो का ही प्रयोग ऊर्ध्वमान में माना है। इस सूत्र के श्लोक-वार्तिक में तथा 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्'[5] (५ २ ३९) के भाष्य में जहाँ उन्होंने प्रमाण, परिमाण और संख्या के पृथक्त्व एवं भेद को दुहराया है, वहाँ प्रमाण और ऊर्ध्वमान का भेद भी दिखलाने की चेष्टा की है। उन्होंने कहा है कि इन प्रमाणवाचक प्रत्ययों में से मैं दो को ही ऊर्ध्वमान में स्वीकार करता हूँ।[6] ऊर्ध्वमान के तीन माप-द्रव्य भाष्य में मिलते हैं—

ऊरु—गहराई मापने के लिए ऊरु सबसे छोटा प्रमाण था। ऊरु बराबर गहरी परिखा या जल आदि को ऊरुद्वयस, ऊरुदघ्न या ऊरुमात्र कहते थे।

पुरुष—पुरुष प्रमाण[7] साधारण मनुष्य की हाथ ऊपर उठाने पर जो ऊँचाई होती है उसका बोधक था। पुरुष भर गहरी परिखा को द्विपुरुषी या द्विपुरुषा कहते थे।[8] एक पुरुष गहराई का जल पौरुष, पुरुषद्वयस, पुरुषदघ्न या पुरुषमात्र कहा जा सकता था।[9]

हस्ती—ऊर्ध्वमान का सबसे बड़ा प्रमाण हस्ती था। हस्ती भर गहराई (ऊँचाई के आधार पर) के जल आदि को हास्तिन, हस्तिद्वयस, हस्तिदघ्न या हस्तिमात्र कहते थे। दो हस्तियों के लिये द्विहस्ति इसी प्रकार त्रिहस्ति, द्विहस्तिनी, त्रिहस्तिनी आदि शब्दों का व्यवहार होता था।[11]

---

१ ५ १-७४ पृ० ३५७।
२ ५ १-५६, पृ० ३४१।
३ २-१ १८ पृ० ४२५।
४ ५ २ ३७ पृ० ३७९।
५ ५ २ ३९, पृ० ३७९।
६ प्रथमयोश्च द्वितीयस्य ऊर्ध्वमाने मतौ मम।—५-२ ३७, पृ० ३७८।
७. वही
८. ४ १ २४।
९. वही
१० ५-२-३८ काशिका।
११ वही।

सूत्र 'हिरण्यपरिमाणधने' (५ २-५५) तथा भाष्य के 'अभिनवाः राजानो हिरण्यान् भवन्ति न च प्रत्येकं दण्डयन्ति' (१ १ १ आ० १२ पृ० १०२) से स्पष्ट होती है। यहाँ 'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्' (वही) के 'शतं' में मुद्रा तथा हिरण्य से सामान्य सोने का भाव स्पष्ट ही है। इसी प्रकार एक स्थान पर कहा है कि जितने हिरण्य से दो द्रोण धान्य मिल सकता है उतने धान्य और जितने हिरण्य से एक हजार घोड़े मिलते हैं उतने हिरण्य से घोड़े खरीदता है।[1] यहाँ तो स्पष्ट ही हिरण्य शब्द का प्रयोग किसी निश्चित मुद्रा के लिए न होकर सामान्य सुवर्ण के लिए ही है। इसी अर्थ में भाष्य में अष्टापद शब्द भी मिलता है।

राजत मुद्राएं

शतमान—राजत मुद्राओं में शतमान सबसे बड़ा था जो १०० रत्ती के बराबर होता था। यह बात इसके नाम से ही सिद्ध है। वैदिक साहित्य में 'मान' कृष्णल या रत्ती के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। वैदिक साहित्य से शतमान के सुवर्ण-मुद्रा होने का भी पता चलता है[2] किन्तु शतपथ ब्राह्मण से ही उसका राजत तथा १०० कृष्णल भर होना भी मालूम होता है।[3] कुछ विद्वान् तक्षशिला के भिड़ टीलों पर मार्शल द्वारा पाये गये टेढ़े शलाका-खण्डों को राजत शतमान मानते हैं। मनु ने शतमान का वजन १० धरण या ३२० रत्ती माना है।[4] पतंजलि ने डेढ़ शतमान से क्रीत वस्तु को अध्यर्ध शतमान तथा अध्यर्ध शातमान कहा है।[5] इसी प्रकार दो शतमानों से क्रीत पदार्थ को द्विशतमान या द्विशातमान बतलाया है।

शाण—शाण चाँदी का सिक्का था जिसका वजन महाभारत के आरण्यक पर्व के अनुसार[6] शतमान होता था। इस प्रकार, शाण १२॥ रत्ती या २२॥ ग्रेन का प्रचलित जान पड़ता है। चरकसंहिता में शाण को सुवर्ण या कर्ष के बराबर बतलाया है।[7] इस प्रकार, इसका वजन २० रत्ती के बराबर ठहरता है। चरक के इस कथन से शाण सोने का सिक्का मालूम होता है। पाणिनि ने 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' (७-३ १७) सूत्र में शाणको परिमाण मानते हुए उसके यहिर्भाग के लिए 'असंज्ञा शाणयोः' कहा है। काशिका ने इस सूत्र में प्रत्युदाहरण के रूप में 'द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतं द्वैशाणम् त्रैशाणम्' कहा है। नयन सिक्कों से ही सम्भव था। तब शाण सिक्का भी था और परिमाण भी ? और क्या एक ही वस्तु सिक्के और परिमाण दोनों का काम देती थी ? पाणिनि और काशिका वृत्ति दोनों को मिलाकर देखने से तो यही पता चलता है। बात यह है कि मुद्रा के रूप में प्रचलित ये सारे सिक्के तोल के आधार पर बने थे। प्रत्येक सिक्के का एक निश्चित

---

१ द्रोणेन हिरण्येन धान्यं क्रीणाति साहस्रेण हिरण्येनाश्वान् क्रीणाति।—२ १-१८, पृ० ४२०।

२ तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा।—शत० ब्रा० ५-५-५ १६।

३ ५ १ २९, पृ० ३३९।

४ शत० ब्रा० १३ ४ २ १०।

५ मनु० ८ १३७।

६ महाभारत आ० पर्व १३४ १४।

वजन था। सिक्कों के साथ-साथ लाक्षणिक रूप में उनके निश्चित वजन की भी यही संज्ञा बन गई। शाण यदि १२॥ रत्ती का होता था तो उसे तौलनेवाला १२॥ रत्ती का बाट (भार) भी मान का एक घटक बन गया और वह तथा उतने ही वजन का सोना या चाँदी भी शाण कहलाने लगा। कभी-कभी ये सिक्के स्वयं मानों के रूप में व्यवहृत होते थे जिस प्रकार आज रुपया और उसके अंश मान का काम देते हैं। पाणिनि ने उसी अर्थ में शाण को परिमाण कहा है, जिस अर्थ में रुपये को एक तोला परिमाण कहते हैं। मुख्य रूप से शाण सिक्का ही था। भाष्यकार ने इसी रूप में उसका उल्लेख किया है। सुवर्ण के विषय में यही बात कही जा सकती है।[1] यथा डेढ़ शाण से क्रीत वस्तु अध्यर्धशाण या अध्यर्धशाण्य, पाँच शाणों से क्रीत पंचशाण या पंचशाण्य, दो शाणों से क्रीत द्विशाण, द्वैशाण या द्वैशाण्य एवं तीन शाणों से क्रीत वस्तु त्रिशाण, त्रैशाण या त्रैशाण्य[2]। प्राच्य प्रदेश में हर चूल्हे पर शाण कर-स्वरूप लिया जाता था। जिसे धूमशाण कहते थे। यदि किसी परिवार की भूमि या परिवार संयुक्त भी होता किन्तु भीतरी बँटवारा हो गया होता और भोजन अलग-अलग बनता होता तो प्रत्येक विभक्त परिवार को कर देना होता था।[3]

कार्षापण—पाणिनि-काल में पण् धातु का अर्थ क्रय-विक्रय तथा व्यवहार करना था। लेन-देन की क्रिया पणन कहलाती थी और क्रय-विक्रय की वस्तु पण्य। जिस वस्तु से दूसरी वस्तु खरीदी जाती थी उसे पण कहते थे। पण या लेन-देन क्रय-विक्रय या व्यवहार का माध्यम। पहले वस्तुएँ फिर सोना चाँदी-ताँबा आदि धातुएँ और बाद में इनसे बने सिक्के पण का काम देते थे। जो सिक्का सबसे अधिक प्रचलित था वही धीरे-धीरे पण रह गया और शेष ने विशिष्ट नाम प्राप्त कर लिए। कार्षापण का पण मुद्रा के इसी विकास की ओर संकेत करता है।

कार्षापण विवेच्य काल की सर्वाधिक व्यवहृत मुद्रा थी। कार्षापण सुवर्ण का भी चलता रहा। बाद में इसी परिमाण का सिक्का सुवर्ण कहलाने लगा। ताँबे का भी कार्षापण बनता था। यद्यपि प्रचलन राजत कार्षापण का ही विशेष था। कौटिल्य ने इसके लिए 'पण' शब्द का प्रयोग किया है। कार्षापण यदि चाँदी का होता तो उसका वजन सोलह माष के बराबर होता था। यही बात सुवर्ण कार्षापण के संबंध में रही थी, किन्तु पतंजलि के समय में या तो सुवर्णमाष का चलन बन्द हो गया था या सुवर्ण कार्षापण का अथवा दोनों का। यह भी संभव है कि इनके आनुपातिक मूल्य में अन्तर हो गया हो। भाष्यकार ने माष (उरद) नाम पड़ने के विषय में एक आचार्य का कथन उद्धृत किया है कि 'पुराने समय में सोलह माष का एक कार्षापण होता था और सोलह ही दाने उरद की फली में होते थे। इस सादृश्य से उरद का नाम माष पड़ गया। उक्त कथन में 'प्राचीन काल' शब्द भाष्यकार के समय में बदले हुए माष और कार्षापण के आनुपातिक मूल्य की ओर इंगित करता है। फिर भी माष कार्षापण का घटक था। भाष्य में माष और कार्षापण के

---

१ ६-२-५५।

२ ५-१-१० काशिका।

३ ५-१-३५, पृ० ३२०।

४ अपर आह—पुराणस्य एतदासीत् षोडशमाषाः कार्षापणम्। पौरुष समानाद् माषशब्दस्य। तत्र सैव साम्यात् सिद्धम्।—१-२-६४, पृ० ५१८।

अवयवावयविसम्बन्ध का कथन बार-बार हुआ है यद्यपि वे समानजातीय नहीं थे। इसलिए सौ से ग्यारह अधिक होने पर 'एकादशशतं माषाणाम्' प्रयोग तो होता था किन्तु यदि सौ कार्षापणों में ग्यारह माष अधिक हुए, तो उनके लिए उक्त प्रयोग तो होता था किन्तु यदि सौ कार्षापणों में ग्यारह माष अधिक हुए, तो उनके लिए उक्त प्रयोग नहीं हो सकता था। 'अजन' के आगे 'ड' प्रत्यय होने के लिए दोनों का समानजातीय होना आवश्यक था।[1] एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है—'इस कार्षापण से इन दोनों को एक-एक माष दो। देनेवाला एक-एक माष देकर पूछता है कि शेष का क्या करूँ ? यदि उससे फिर कहा जाय कि यह कार्षापण इन्हें माष-माष करके दो तो वह माष माष करके उन्हें देकर चुप बैठ जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि माष और कार्षापण का निकट सम्बन्ध वर्तमान आने और रुपये जैसा था। एक-एक माष करके या एक-एक कार्षापण करके देने का उल्लेख भाष्य में अन्यत्र भी मिलता है।[3] जो कार्षापण के अन्य अवयवों की अपेक्षा माष से उसका अधिक निकट व्यावहारिक सम्बन्ध सूचित करता है।

कार्षापण शब्द का प्रयोग पुल्लिंग और नपुंसकलिंग दोनों में होता था।[4] उसका व्यवहार व्यापक था। भाष्यकार ने प्रसंगवश कहा है कि 'यह वही कार्षापण है, जो मथुरा में लिया था।'[5] संभवतः यह बात पाटलिपुत्र में कही गई है जो इस मुद्रा के व्यापक प्रचार का द्योतक है। वास्तव में यही इस काल की सर्वाधिक प्रचलित मुद्रा थी। कार्षापण से क्रीत वस्तु कार्षापणिक या कार्षापणि (स्त्री॰) कही जाती थी।[6] प्रति का प्रयोग भी कार्षापण के अर्थ में होता था और प्रति से क्रीत वस्तु की प्रतिक या प्रतिकी (स्त्री॰) संज्ञा थी[7] किन्तु यदि एक से अधिक कार्षापण से वस्तु का क्रय किया जाता तो उस वस्तु के दो विशेषण हो सकते थे। उदाहरणार्थ डेढ़ कार्षापण से क्रीत वस्तु अध्यर्धकार्षापण या अध्यर्धकार्षापणिक कही जा सकती थी।

काशिकाकार ने कार्षापण को ही प्रति आदेश का विधान कर अध्यर्ध कार्षापणिक द्विकार्षापणिक और त्रिकार्षापणिक के स्थान पर अध्यर्धप्रतिक द्विप्रतिक और त्रिप्रतिक रूप मान लिए हैं। यह इस बात का द्योतक है कि काशिका काल तक आते-आते कार्षापण के अर्थ में प्रति शब्द का प्रचलन बन्द हो गया था और विद्वान् इसे स्वतन्त्र शब्द न समझकर आदिष्ट शब्द मानने लग गये थे।

---

१ तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः इह कस्मान्न भवति एकादश माषा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते समानजाता अधिक इष्यते।—५-२ ४५, पृ॰ १८२।

२ अस्मात् कार्षापणादिह भवद्भ्यां माषं देहि। भवद्भ्यां माषं माषं देहि। माषं माषमसौ दत्त्वा शेषं पृच्छति किमनेन क्रियतामिति। स पुनरुच्यते इदं कार्षापणमिह भवद्भ्यां माषं माषं देहीति माषं माषमसौ दत्त्वा तूष्णीमास्ते।—८ १ १२, पृ॰ २७५।

३ ८ १ १ पृ॰ २५८।

४ २ ४ ३१ पृ॰ ४७७।

५ ५ ३ ५७, पृ॰ ३१६।

६ २ १ ६७ पृ॰ ४८७।

७ वही।

पाणिनि और पतंजलि ने अनेकशः शतसहस्रादिसंख्यक मुद्राओं का उल्लेख किया है किन्तु मुद्रा का नाम नहीं दिया है। यथा 'शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण्' (५ १ २७) में सहस्र से क्रीत वस्तु साहस्र 'विंशति त्रिंशद्भ्यां ड्वुन् संज्ञायाम्' (५ १ २४) में विंशति से क्रीत विंशक, त्रिंशद् से क्रीत त्रिंशक (भाष्य पृ० ३१५) के उदाहरण 'शताच्च ठन् यतावशते' (५ १ २१) में शत से क्रीत शत्य शातकशत (भा० पृ० ३११) पञ्चभि क्रीत पञ्चकम् (भाष्य ५ १ ३७ पृ० ३२१) तथा 'द्विगोः कार्षापणसहस्राभ्याम्' (५ १ २९) के अध्यर्ध साहस्र द्विसाहस्र, त्रिसाहस्र आदि प्रयोगों में मुद्रा के नामोल्लेख से विरहित संख्याएँ कार्षापण (रजत) की बोधक हैं। संस्कृत साहित्य में कार्षापण का उल्लेख किए बिना 'देवदत्त के सौ उधार हैं'[1] आदि प्रयोग चल पड़े थे जो इस बात के प्रमाण हैं कि इनका प्रयोग सर्वाधिक होता था। स्वयं भाष्यकार ने बिना मुद्रा का नामोल्लेख किये साधारण चर्चा-प्रसंग में प्रायः संख्या-मात्र का उल्लेख कर दिया है। धन-प्रसंग में उल्लिखित संख्या में कार्षापण अन्तर्निहित-सा माना जाता था। चाँदी के कार्षापण में सोलह पण होते थे जिनके बदले १२८० कौड़ियाँ मिलती थीं। ताँबे का कार्षापण ८० रत्ती या १७६ ग्रेन का होता था।

विंशतिक और त्रिंशत्क—षोडश माष के कार्षापण के अतिरिक्त दो प्रकार के अन्य कार्षापण भी प्रचलित थे जिनका वजन क्रमशः बीस और तीस माष के बराबर था। प्राचीन कार्षापण सोलह माष के ही होते थे किन्तु बाद में किसी-किसी प्रदेश में सम्भवतः मगध और पांचाल में तत्कालीन राजाओं ने उनसे बड़े परिमाण के कार्षापण प्रचलित किये। भाष्य का उपर्युक्त कथन कि 'किसी विद्वान् का कहना है कि प्राचीन काल में सोलह माषक का कार्षापण होता था'[2] इस बात की पुष्टि करता है। 'विंशति त्रिंशद्भ्यां ड्वुन् संज्ञायाम्' (५ १-२४) में भाष्यकार ने त्रिंशत्क और विंशतिक को संज्ञा माना है और इनकी निष्पत्ति पर विचार किया है। पाणिनि ने भी 'शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण्' (५ १ २७) में विंशतिक का उल्लेख किया है। विंशतिक से क्रीत वस्तु वैंशतिक और अध्यर्ध द्वि तथा त्रिविंशतिक से क्रय की हुई वस्तु अध्यर्ध विंशतिकीन, द्विविंशतिकीन तथा त्रिविंशतिकीन कही जाती थी। बाद में इन मुद्राओं का प्रचलन बन्द हो गया।

अर्ध और भाग—ये दोनों कार्षापण के अर्ध भाग के बराबर सिक्के परस्पर पर्यायवाची थे। आज भी हिन्दी में रुपये के अर्ध भाग को अधेली कहते हैं। अर्ध और भाग का उल्लेख क्रमशः 'पूरणार्धाट्ठन्' (५ १-४८) तथा 'भागाद्यच्च' (५ १ ४९) सूत्रों में हुआ है। जिसके लिए अर्ध और भाग मुद्राएँ शुल्क वृद्धि लाभ या उपदा में दी जाती हों, उस धनराशि को अर्धिक तथा भाग्य या भागिक कहते थे। अर्धिक शब्द का प्रयोग स्वतन्त्र होता है। अर्ध के पूर्व और कोई शब्द नहीं जोड़ा जा सकता। जिस वस्तु का मूल्य अर्ध (कार्षापण) हो उसे अर्धिक या अर्धिकी (स्त्री०) कहते थे।[3] काशिकाकार ने भी अर्ध का रूप्यकार्षापण

---

१ देवदत्ताय शतं धारयति।—१ ४-३५।

२ १ २-६४, पृ० ५९८।

३ ५ १ २६ पृ० ३१६।

के अर्ध भाग के लिए रूढ़ बतलाया[1] है, जिसका अर्थ स्पष्ट ही १/२ कार्षापण सिक्का हुआ।

पाद—कार्षापण का १/४ भाग पाद भी स्वतन्त्र सिक्के के रूप में प्रचलित था। कर्मकर लोगों को एक पाद प्रतिदिन वेतन मिलता था। वे इसी लालच से काम करते थे।[2] दो-दो पाद को 'द्विपदिकां ददाति' तथा दो पाद दण्डित होने या दान करने के लिए द्विपदिका दण्डितः या 'द्विपदिका ददाति' प्रयोग होता था। दो पाद का बार बार प्रयोग यह सिद्ध करता है कि पाद का सिक्का स्वतन्त्र था। अध्यर्ध पाद या द्वि-त्रिपाद से क्रीत वस्तु को अध्यर्धपाद, द्विपाद और त्रिपाद कहते थे।

कौटिल्य से भी उक्त कथन की भी पुष्टि होती है। अर्थशास्त्र के अनुसार पण अर्धपण पाद और अष्ट भाग के सिक्के ढाले जाते थे। नीचे की ओर उतरते हुए माषक अर्धमाषक काकणी और अर्धकाकणी के सिक्के तांबे के बनाये जाते थे जिनमें उचित परिमाण में अन्य धातुओं का भी मिश्रण रहता था। मिश्रण की विधि के सम्बन्ध में भी अर्थशास्त्र में स्पष्ट आदेश है—मुद्राध्यक्ष जिसे लक्षणाध्यक्ष कहा है, रजत सिक्कों का निर्माण चार माषक तांबा तथा एक-एक माष त्रपु, सीसादि धातु मिलाकर मुद्रा बनवाता था।[5]

अष्टभाग—अष्टभाग के स्वतन्त्र सिक्के का संकेत महाभाष्य या अष्टाध्यायी में नहीं मिलता। 'पणपादमाषशताद्यत्' (५ १ ३४) केवल अध्यर्ध तथा संख्यावाची शब्द पूर्व रहने पर माष शब्द से आर्हीय अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करता है। इस प्रकार, अध्यर्धमाष्यम् द्विमाष्यम् त्रिमाष्यम् आदि रूप बनते हैं। इससे द्विमाषक सिक्के की कल्पना करना दुरूह है। हाँ माष का सिक्के के रूप में प्रचलन इस सूत्र से अवश्य सिद्ध होता है।

माष—कार्षापण का सर्वाधिक प्रचलित भाग माष या माषक था। 'पणपादमाषशताद्यत्' (५ १ ३४)सूत्र में क्रमशः तीनों अधिकतम प्रचलित सिक्कों का उनके मूल्य के अनुसार उल्लेख किया गया है। माष सुवर्ण चांदी और तांबा तीनों का बनता रहा। सुवर्ण माषक का उल्लेख तो महाभाष्य में पृथक नहीं मिलता। हाँ यह सुवर्ण-कार्षापण का १।१६ भाग होता था जो सुवर्ण का रहता था। सुवर्ण माष का वजन ५ रत्तियाँ या १७ ग्रेन सुवर्ण के बराबर था। चांदी का माषक राजत कार्षापण का १६ भाग होता था। जो २ रत्ती या ३ ६ ग्रेन के बराबर होता था। रूप्यमाष सिक्के प्रचुर परिमाण में प्राप्त हो चुके हैं। ताम्रमाषक ताम्रकार्षापण का १/१६

---

१ अर्धशब्दो रूप्यकार्षस्य रूढिः ५ १ ४८ काशिका तथा भागशब्दोऽपि रूप्यकार्षस्य वाचकः।—५ १ ४९, वही।

२ कर्मकराः कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामहे।—१ ३-७२ पृ० ९०।

३ ५ ४ २१, पृ० ४८२।

४ ५ १ ३४ काशिका।

५ पणमर्धपणं पादमष्टभागमिति। पादाजीवं ताम्ररूप्यं माषकमर्धमाषकं काकणी-मर्धकाकणीमिति। लक्षणाध्यक्षः चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमं माष बीजयुक्तं कारयेत्।—अर्थशास्त्र अधि० २, अ० १२।

भाग होता था जिसका वजन ५ रत्ती रहता था। रूप्यमाषक का ही प्रचलन विशेष था। भाष्यकार ने कहा है कि 'एक माष से बढ़ते-बढ़ते सौ सहस्र कार्षापण हो जाते हैं।' अर्थशास्त्र के तुलामान अधिकरण के अनुसार ये माप इस प्रकार थे—५ गुंजा या १० माषबीज = १ सुवर्णमाषक। १६ सुवर्णमाषक = १ सुवर्ण या कर्ष। ४ कर्ष = १ पल। ८८ गौर सर्षप १ रूप्यमाषक। १६ रूप्यमाषक या २० शैम्य बीज = १ धरण। २० चावल = १ वज्रधरण।[2] अर्धमाषक माषक दो माषक चार माषक और आठ माषक की मुद्राएँ प्रचलित थीं।

ताम्र सिक्के

अर्धमाष—ऊपर कहा जा चुका है कि ताम्र कार्षापण का १/१६ माष ताम्रमाषक था जिसका वजन ५ रत्ती होता था। पीछे यह भी कहा जा चुका है कि अर्थशास्त्र में मिलते सिक्कों के भार अर्धमाष काकिणी और अर्धकाकिणी नाम मिलते हैं। उपर्युक्त सूत्र 'पणपादमाषशताद्यत्' (५।१।३४) में अध्यर्धमाष से आर्हीय अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान है, जिससे अध्यर्धमाष्य शब्द निष्पन्न होता है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि अर्धमाष का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी था।

काकिणी—भाष्यकार ने एक काकिणी से क्रीत वस्तु के लिए काकिणीक[3] तथा डेढ़ काकिणी से क्रीत वस्तु के लिए अध्यर्धकाकिणीक शब्द का व्यवहार बतलाया है। इसी प्रकार दो काकिणियों से क्रीत वस्तु को द्विकाकिणीक कहते थे। काकिणी और अर्धकाकिणी का चलन पाणिनि-काल में नहीं था। काकिणी १/४ माष या बीस कौड़ी के बराबर होती थी।

रूप्य और रूप्यतर्क—कार्षापण के जो सिक्के राज्य की ओर से ढाले जाते थे उनपर आहति (Punch) द्वारा लक्षण (गौ अश्व आदि) अंकित करने की प्रथा थी। राजाओं के अपने-अपने लक्षण निश्चित थे। राजप्रचारित मुद्राओं पर ये लक्षण या चिह्न बना दिये जाते थे। केवल आहत या लक्षणयुक्त मुद्राएँ ही प्रामाणिक मानी जाती थीं। 'रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्' (५।२।१२०) सूत्र आहत और प्रशंसा अर्थ में रूप शब्द के आगे यप् प्रत्यय का विधान करता है। इस प्रकार रूप्य पुरुष का अर्थ रूपवान् या सुन्दर पुरुष होता था और रूप्य कार्षापण का अर्थ आहत या ताडित अर्थात् राजलक्षण युक्त कार्षापण। लाक्षणिक रूप से इसका दूसरा अर्थ प्रमाणित कार्षापण भी होने लगा। धीरे धीरे कार्षापण पीछे पड़ गया और रूप्य (छोटे सरल शब्द) का ही प्रयोग अवशिष्ट रह गया। कार्षापण ही आहत होता था शेष सिक्के केवल ढाले जाते थे। वे आहत नहीं होते थे। यह कार्षापण चाँदी की मुद्रा थी। इसीलिए जब रूप्यकार्षापण का उत्तर पद अप्रयुक्त रहने लगा और केवल

---

१ एकेन माषेण शतसहस्रम्।—२-१ ६९, पृ० ३२५।

२ धान्यमाषा दश सुवर्णमाषकः पञ्च वा गुञ्जाः। ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा। चतुःकर्षं पलम्। अष्टाशीतिर्गौरसर्षपा रूप्यमाषकः। ते षोडश धरणम्, शैम्यानि वा विंशतिः। विंशतितण्डुलं वज्रधरणम्। अर्धमाषकः द्वौ, चत्वारः अष्टौ माषकाः। अर्थ० शा०, तुलामान-प्रकरणम्।

३ ५।१।३३ पृ० ३२०।

४ वही।

रूप बन गया तो रूप्य का ही अर्थ कार्षापण हो गया और रजत भी। आगे चल कर संस्कृत-साहित्य में रूप्य शब्द चाँदी का भी पर्याय बन गया। हमारे वर्तमान रुपये (रूप्य) का भी यही इतिहास है। कार्षापण के अवयव (अर्ध पाद द्विमाष माष अर्धमाष आदि) भी रुपये के वर्तमान भागों के रूप में अभी तक वर्तमान हैं।

कार्षापण या पण (अर्थशास्त्र) में आकृति भार, धातु आदि की सम्यक परीक्षा के लिए राज्य की ओर से एक अधिकारी रहता था जिसे 'अर्थशास्त्र ने रूपदर्शक कहा है। कौटिल्य ने कहा है कि रूपदर्शक कार्षापण के टकसाल से बाहर जाते समय तथा बाहर से कोश में आते समय उसकी शुद्धता की परीक्षा करे। वह व्यवहार में आनेवाले रूप (मुद्राओं) तथा कोश में वापिस लौटने वाली मुद्राओं का निरीक्षण करे।[1] इसी बात को लक्ष्य में रखकर भाष्यकार ने कहा है—'पश्यति रूपतर्क: कार्षापणम्—दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम् अर्थात् रूपतर्क कार्षापण को देखता है। रूपतर्क को कार्षापण दिखलाता है।'[2] रूपतर्क वही अधिकारी है जिसे अर्थशास्त्र ने रूपदर्शक कहा है।

---

१ रूपदर्शकः पणयात्रां व्यावहारिकीं कोशप्रवेश्यां च स्थापयेत्।—अर्थ० शा०, अधि० २ अध्याय १२।

२ १।४।५२, पृ० १८२।

अध्याय ८

धन और व्यवहार

धन—भाष्यकार ने सम्पत्ति या धन के अर्थ में स्व, धन और अर्थ शब्द का व्यवहार किया है। स्व शब्द के अनेक अर्थ थे—ज्ञाति, आत्मा, आत्मीय और धन। धन अर्थ में 'स्वे गावः' और 'स्वा गावः' जैसे पदों का व्यवहार होता था।[1] रै शब्द भी इसी अर्थ में आता था।[2] रै चाहने के लिए 'रैयति' क्रिया[3] प्रयुक्त होती थी। धनवान् व्यक्ति को साधारणतया आढ्य कहते थे। किसी ग्राम या नगर में कुछ परिवार आढ्य हुए, तो वह ग्राम या नगर भी आढ्य माना जाता था।[4] आढ्यता कई बातों से आँकी जाती थी। गो, अश्व और हिरण्य सामान्यतया आढ्यता के परिचायक थे।[5] धान्य भी धनवत्ता का ज्ञापक था। गो का अधिक होना ही अकेला धनवत्ता का प्रमाण था, क्योंकि धन की व्युत्पत्ति है—'धिनोतीति धनम्' प्रीणन (प्रसन्न) करनेवाली वस्तु धन कहलाती थी। इस अर्थ में बैल, घोड़े और धान्य भी न थे।[6] जिस देश में पशु, धन और धान्य विशेष होता था वह प्रदेश गुणवान् और धनवान् समझा जाता था।[7] यों स्वशब्द सब प्रकार की सम्पत्ति के लिए व्यवहृत होता था। किसी के लिए एक कम्बल भी 'स्व' हो सकता था।[8]

धनवत्ता—धनिकता रुपयों-पैसों से भी मापी जाती थी। एक सौ कार्षापण या निष्क बनाकर रखनेवाला ऐकशतिक कहलाता था।[11] कुछ लोग नैष्कशतिक या नैष्कसहस्रिक[11]

---

१ १ २-३५, पृ० २१७।

२ १ १-५० पृ० ३०१।

३ वही।

४ १ २ २९, पृ० २३४।

५ १ २ ४५, पृ० ५२७।

६ देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यं च। आढ्यो वैधवेयः।—१ १-९, पृ० २८।

७ इह तावद् गावो धनमिति धिनोतेर्धनम्। एको गुणः स च प्राधान्येन विवक्षितः।—५ १-५९, पृ० ३३३।

८ २ १ ३० पृ० २८१।

९ ५ १ ११९, पृ० ३३५ तथा अर्थवानयं देश इत्युच्यते यस्मिन् गावः सस्यानि च वर्तन्ते।—५-२-११५, पृ० ४२१।

१० ८ १-२६, पृ० २८६।

११ ५-२-११८, पृ० ४१९।

१२ ५-२-११९।

कहे जाते थे। इस प्रकार हर तरह की सम्पत्ति—जैसा गाय बैल अश्व चाँदी (कार्षापण) और सुवर्ण आदि धन माने जाते थे।[1] राजा लोग अधिकाधिक सोना बटोरने की चिन्ता में रहते थे।[2] धनवत्ता या आढ्यता कितने पशुधन से मानी जाय इसकी कोई निश्चित मर्यादा न थी। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक पशु-धन मनुष्य को आढ्यता की ओर ले जाता था। आवश्यकता की पूर्ति किसी परिवार की चार गायों से भी हो जाती थी। उनसे उसकी जोत के लिए पर्याप्त बैल पीने के दूध और आगे के लिए बछड़े मिलते रहते थे और किसी परिवार का यह काम सौ गायों से भी पूरा नहीं पड़ता था।[3] 'स्व' की प्राप्ति चार प्रकार से हो सकती थी—खरीदकर, चुराकर, माँगकर या बदलकर। इन्हीं उपायों से परधन अपना धन बनता था।

सामाजिक सम्बन्ध और अर्थ—व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध भी चार बातों पर निर्भर थे जिनमें भाष्यकार ने अर्थ को प्रथम स्थान दिया है। आर्थिक सम्बन्ध के अतिरिक्त यौन (पिता पुत्रादि) मौख (गुरुशिष्यादि) तथा स्रौव (पुरोहितयजमानादि) सम्बन्ध माने जाते थे।[5] आर्थिक अर्थात् लेन-देन स्वामिसेवक उत्तमर्ण-अधमर्ण के सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण थे। इसीलिए, लोग धन कमाने के लिए चिन्तित रहते थे। धन और हिरण्य की प्रबल इच्छा को धनक और हिरण्यक कहते थे।[6] साधारणतया धन चाहना और बात है और उसके लिए पागल रहना भिन्न बात। साधारण इच्छा के लिए 'धनीयति' क्रिया का प्रयोग होता था और गर्व या लालच के लिए 'धनायति' का। धन के लिए कुप्य शब्द का भी व्यवहार होता था। रक्षणीय होने के कारण गोप्य से भिन्न संज्ञा अर्थ में इस शब्द की निष्पत्ति बताई गई है। स्वापतेय[7] शब्द भी इसी अर्थ में आता था। धनिकों में परस्पर स्पर्धा चलती थी किन्तु यह स्पर्धा तभी होती थी जब उनका अन्तर 'अदूर' का हो। एक निष्कवाला सौ निष्कवाले से स्पर्धा नहीं करता था।[8]

ऋण—पीछे कहा जा चुका है कि आर्थ सम्बन्ध का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था। आर्थ सम्बन्ध स्वामी और भृत्य का हो सकता था क्रेता-विक्रेता का हो सकता था और उत्तमर्ण अधमर्ण का भी होता था। आवश्यकता पड़ने पर सहायतार्थ लाभ की आशा से किसी को उधार देने

---

१ १ १ ६८, पृ० ३३४।

२ ६ १-५, पृ० २१।

३ ५-२-१४ पृ० ४१०।

४ यदेतत् स्वं नाम चतुर्भिरेतत्प्रकारैर्भवति। क्रयणादपहरणाद्याच्ञया विनिमयादिति। २ ३-५० पृ० ४४२।

५ लोके बहुधाऽभिसम्बन्धाः आर्था यौना मौखाः स्रौवाश्च।—१ १ ४६, पृ० १००।

६ ५-२-६५, पृ० ३९६।

७ ७-३-१४।

८ १ १ ११४ पृ० १८८।

९ ४ ४ १०४।

१० ५ ३-५५, पृ० ४४६।

वाले को वे उत्तमर्ण[1] कहते थे और लेनेवाले को अधमर्ण।[2] ये शब्द सम्बद्ध व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति के बोधक थे। उधार दी गई रकम ऋण कहलाती थी। ऋणवान् होना धारयति[3] क्रिया द्वारा व्यक्त किया जाता था। किसी पर सौ रुपये ऋण होते तो कहा जाता शत धारयति। अधमर्ण होने की स्थिति 'आधमर्ण्य'[4] होती थी। 'उधार का वाचक ऋण' था[5] जो देय भी कहा जाता था। ली हुई वस्तु को लौटाने की क्रिया का नाम प्रतिदान था।[6] कभी-कभी ऋण देनेवाले अपना रुपया डूब जाने का भय रखते थे। ऐसी स्थिति में अधमर्ण के अतिरिक्त एक से अधिक व्यक्तियों को और बीच में डाल लेता, जो उसकी जमानत देते थे और रुपये के लिए उत्तरदायी भी माने जाते थे। ये लोग प्रतिभू कहलाते थे। ऋण देते समय कभी-कभी साक्षी[7] की भी आवश्यकता होती थी।

ब्याज—ऋण कभी-कभी जितना लिया जाता था उतना ही लौटा दिया जाता था। कभी-कभी उससे अधिक भी देना पड़ता था। आधिक्य की राशि 'वृद्धि' गिनी जाती थी। भाष्य में पाँच सात आठ नौ दस रुपये (कार्षापण) वृद्धि-स्वरूप पाने की चर्चा है। जिस ऋण पर ये राशियाँ अधिक मिलती थीं उन्हें क्रमशः पंचक सप्तक अष्टक नवक और दशक[8] कहते थे। ये संख्याएँ उपलक्षणमात्र हैं। इसी प्रकार अर्ध (कार्षा०) जिस राशि पर वृद्धि-रूप मिलता था उसे अर्धिक[9] तथा भाग (आधा कार्षा०) जिस राशि पर मिलता था उसे भाग्य या भागिक[10] कहते थे। यह अर्ध या भाग सौ कार्षापण का मासिक ब्याज है या अन्य अवधि का निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि काशिकाकार ने 'भागिकशतम्' के साथ ही 'भागिकाविंशति' भी उदाहरण में दिया है। एक ही काल में पाँचगुने अन्तर की कल्पना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। वास्तव में ये उदाहरण-मात्र हैं और चाहे जितने समय में हो शत और विंशति पर प्राप्त कुल ब्याज को सूचित करते हैं। हो सकता है आज शत उधार लेनेवाला कल १००½ लौटा जाय ऐसी स्थिति में इन उदाहरणों के आधार पर ब्याज की किसी दर का अनुमान लगाना तर्क-संगत नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार 'पंचक' राशि पर प्राप्त पाँच (कार्षा०) ब्याज के आधार पर श्रावण से आग्रहायण तक

---

१ १ ४ ३५।

२ १ ३ १७०।

३ १ ४-३५।

४ ३ ३-१७०।

५ ४ ३ ४७।

६ १ ४ ९२।

७ ३-२ १७९।

८ २ ३-३९।

९. पञ्चवृद्धिर्वाऽऽयोलाभो वा शुल्को वोपदा वा दीयतेऽस्मै पञ्चकः सप्तकः अष्टकः नवकः दशकः।—५ १ ४७, पृ० २३३।

१० ५ १ ४८।

११ ५ १ ४९।

की अवधि तथा इस पर प्रतिमास एक ब्याज की डॉ॰वा॰श॰अग्रवाल द्वारा की गई कल्पना भी ठीक नहीं जान पड़ती क्योंकि प्रथम तो श्रावण में ऋण लेने का औचित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। ग्रामीण जीवन से परिचित प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि नये वर्ष के लिए बैल ज्येष्ठ दशहरे से पूर्व खरीद लिए जाते हैं। आषाढ़ के प्रारम्भ से तो जुताई होने लगती है। इसके लिये जिस ऋण लेना होता है वह आधे ज्येष्ठ तक ले लेता है। श्रावण में केवल धान रोपा जाता है जिसके लिए ऋण की आवश्यकता नहीं होती। यह रोप मँहगी नहीं बिकती और कृषक इसे स्वयं बो भी लेते हैं। खरीफ की शेष फसलें आषाढ़ में ही बोई जाती हैं और उनमें बीज बहुत ही कम पड़ता है। अतः पंचक 'दशैकादश' पद्धति से श्रावण से आग्रहायणी पौर्णमासी तक का ब्याज है यह धारणा भी युक्ति-संगत नहीं मानी जा सकती। और, यदि इसे ठीक मान भी लिया जाय तो भी सप्तक से दशक तक के महाभाष्य के उदाहरणों का क्या होगा जो काशिका से बहुत पुराने हैं। फिर, ये उदाहरण केवल ब्याज (वृद्धि) के नहीं हैं—लाभ शुल्क लाभ और उपदा के भी हैं।

दशैकादश—कुछ लोग आवश्यकता पड़ने पर परिचित व्यक्ति को ऋण दे देते थे और साधारण ब्याज भी ले लेते थे। उनका यह काम आकस्मिक था किन्तु कुछ लोगों का व्यवसाय ही रुपया उधार देना और उसपर ब्याज लेना था। ये लोग कुसीदक और स्त्री हुई, तो कुसीदकी कहलाती थी।[1] दस रुपये देकर ग्यारह लेने की भी प्रथा थी।[2] जो लोग इस प्रकार ऋण देते थे वे दशैकादशिक (ग्यारह लेने के लिए १० देनेवाले) और दशैकादशिकी (स्त्री) कहे जाते थे। वृद्धि के लिए धन देनेवाले को वार्धुषिक कहते थे।[3] वार्धुषिक कभी-कभी दुगना और तिगुना[4] तक ले लेते थे। समाज इस प्रकार के ब्याज-व्यवसाय को नहीं मानता था।[5] यदि देर तक ऋण न चुका सकने के कारण वह बढ़ता-बढ़ता दूना हो जाता तो उस दूनी राशि को लेनेवाला निन्द्य नहीं होता था। देर तक प्रतिदान न कर सकने के कारण कभी-कभी मूल ऋण बढ़कर दुगुना हो जाता था। उस ऋण को प्रवृद्ध कहते थे। जब यह प्रवृद्धि (चक्रब्याज) अपनी सीमा पार कर मूल के दुगुने से भी अधिक हो जाती थी तो उस ऋण को महा-प्रवृद्धि[6] कहते थे किन्तु इसमें गर्हा का भाव न था। निन्द्य वह होता था जो इस उद्देश्य से थोड़ा उधार देकर बहुत ले। इसलिए, त्रैगुणिक (तीनगुना लेनेवाला) द्वैगुणिक (दुगुना लेनेवाला) आदि शब्द निन्दा के द्योतक थे। कुसीदक की निन्दना का प्रभाव परिवार पर नहीं पड़ता था। इसलिए, कुसीद लेनेवाली स्त्री कुसीदकी किन्तु कुसीद लेनेवाले (कुसिद) की पत्नी कुसिदायी कही[7] जाती थी। प्रथम मे निन्दा या गर्हा गम्यमान

---

१ ४४-३१।
२ एकादशार्थाता दशैकादश सप्तेनोप्यन्ते।—वही, काशिका।
३ ४४।३० पृ० २७७ ७८।
४ द्विगुणं मे स्यादिति प्रयच्छति द्वैगुणिकः।—वही।
५ गर्हायाम् इत्या बहु गृह्णाति तद् गार्ह्यम्।—वही।
६. ४४।३० काशिका।
७. १२।३८ पृ० २५८।
८. ४१।३७।

रहती थी, द्वितीय में नहीं। यह भेद दोनों में अन्तर बतलाने के लिए किया गया था और फिर कुसिदायी कुसीदक की पत्नी होती थी किन्तु स्वयं सूदखोर नहीं।

'दशैकादश' में ब्याज की दर प्रतिशत पर निर्भर न रहकर निश्चित अवधि के लिए निश्चित ब्याज के सिद्धान्त पर अवलम्बित थी। दशैकादशिक अपना धन एक साथ नहीं लेता था। उसका प्रतिदान देने के तुरन्त बाद ही मासिक रूप में प्रारम्भ हो जाता था और प्रतिमास मूल कम होता जाता था। इसलिए, 'दशैकादशिक' में एक ओर तो ब्याज की दर कम रहती थी और दूसरी ओर देनेवाले पर भार भी नहीं पड़ता था।

'दशैकादश' में एक की वृद्धि मासिक नहीं थी। लगभग यही प्रथा आज उत्तर भारत में 'दसग्यारह' के रूप में वर्तमान है। दस रुपये लेकर प्रतिमास एक रुपया देता हुआ पूरे वर्ष में बारह रुपये देकर अधमर्ण ऋण-मुक्त हो जाता है। पंचक आदि संख्या का अर्थ भी इस भूमिका में स्पष्ट हो जाता है। दस रुपये ऋण का एक घटक होता है। यदि किसी ने इस प्रकार पचास रुपये उधार लिये तो वह पाँच ऋणघटकों का दायी होगा और वर्ष में दस रुपये ब्याज में देगा। जब दशैकादश की प्रथा रही होगी तब पचास रुपये पर वर्ष में पाँच रुपये वृद्धि होती होगी। सत्तर पर सात अस्सी पर आठ आदि। इस प्रकार पंचाशत की पंचक सप्तति को सप्तक अशीति को अष्टक नवति को नवक और शतक को दशक कहते थे। दशक तक उदाहरण देने का आशय ऋण को शत पर समाप्त करना था। यह प्रथा ठीक इसी रूप में आज भी चली आती है। हाँ अब ब्याज की दर अवश्य दुनी हो गई है। उत्तर भारत में जहाँ सौर मास का प्रचलन है मासिक किस्त अमावस को चुकाई जाती है। अन्तर इतना ही है कि पतंजलि-काल में कार्तिक की अमावस को दिया गया इस प्रकार का ऋण क्वार की अमावस को चुकता हो जाता था। अब वह कार्तिक की उसी अमावस को चुकता होता है और जितने ऋण-घटक अधमर्ण पर देय होते हैं उतने ही रुपये प्रतिमास वह चुकाता जाता है।

ऋणों के नाम—ऋण चुकाने की अवधि के अनुसार ऋणों के नाम रख दिये जाते थे। मासभर में चुकाया जानेवाला ऋण 'मासिक'[1] कहा जाता था और संवत्सर में अदा किया जाने वाला 'सांवत्सरिक'।[2] कुछ ऋण छै मास में चुकायेजाते थे। ये फसल बोने के समय लिए जाते रहे होंगे। आज भी कार्तिक में ऋण लेकर वैशाख में लौटाने की प्रथा है। यह ऋण रुपयों के रूप में भी हो सकता है और अन्न के रूप में भी। पाणिनि ने इस ऋण को ग्रैष्मक[3] कहा है। ग्रैष्मक ग्रीष्म के अन्त में सवाये या ड्योढ़े परिमाण में लौटाया जाता था। यह प्रथा अब भी विद्यमान है। कृषक कार्तिक में बोनी के अवसर पर अन्न लेकर वैशाख में लौटाते हैं। तरबूज, खरबूज आदि की फसलें पैदा करने में भी ग्रैष्मक ऋण की प्रथा बहुत व्यापक है। ज्येष्ठान्त में लेकर आग्रहायणी पौर्णमासी को प्रतिदिन खरीफ का ऋण आग्रहायणिक[4] कहलाता था।

---

१ ४४-४७।
२ ४-३-५०।
३ ४३४९।
४ ४-३-५०।

पैत्यक' और आग्रहायणिक दोनों ऋण षाण्मासिक थे। इस वर्ष लेकर अगले वर्ष लौटाया जानेवाला ऋण सांवत्सरिक कहलाता था।[1]

ऋण लेने के कारण—कुछ ऋणों को कलापी-काल अश्वत्थ-काल और यवबुस-काल में चुकाये जाने का उल्लेख मिलता है।[2] कलापी-काल उस काल को कहते थे जब मोर कलाप धारण करते हैं या मग्न होकर नाचते हैं, अर्थात् वर्षाकाल। अश्वत्थ काल उस-काल को कहते हैं, जब उसमें फलियाँ आती हैं और यवबुस-काल जौ का भुस तैयार होने का समय माना जाता है। ये कृषकों के अपने शब्द थे। इन कालों में जिन ऋणों का प्रतिदान होता था उन्हें क्रमशः कलापक अश्वत्थक और यवबुसक कहते थे।

सूत्र ६ १-८९ के वा० ७ के उदाहरणों में भाष्यकार ने वत्सतरार्ण कम्बलार्ण और वसनार्ण तथा वा० ८ में ऋणार्ण तथा दशार्ण का उल्लेख किया है। ये शब्द इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि सामान्य ग्रामीण किन-किन बातों के लिए प्रायः ऋण लेता था। खेती के लिए बैल खरीदना सबसे आवश्यक बात थी। इसके बाद अपना शरीर ढकने की बात उठती थी। शीत में एक कम्बल चाहिए। घर में बसन चाहिए। स्वयं के लिए बसन आवश्यक है। यदि किसी साल उपज न हुई तो वस्तुएँ भी ऋण लेकर खरीदनी पड़ती थीं। पुराना ऋण चुकता न हो सका तो दूसरे साहूकार से उधार लेकर पहले का ऋण चुकाने का प्रबन्ध किया जाता था अन्यथा अवधि पूरी होने पर ब्याज के मूलधन में जुड़ जाने से चक्रवृद्धि भी देनी पड़ती और साख भी मारी जाती। दशार्ण का सम्बन्ध दशैकादश ऋण से मालूम होता है। दशैकादश की किस्त अदा न कर सकने की स्थिति में उसे चुकाने के लिए किसी अन्य से उधार लिया हुआ दूसरा दशार्ण हो सकता है। प्रार्ण बड़े ऋण को कहते थे जो विवाहादि बड़े अवसरों पर लिया जाता था। प्रार्ण को छोड़कर य शेष ऋण पैत्यक या आग्रहायणिक ही होते थे।

आपमित्यक—डॉ० वा० स० अग्रवाल ने अन्न ऋण को आपमित्यक प्रथा कहा है जिसका प्रचलन अर्थशास्त्र-काल में भी मालूम होता है। कौटिल्य ने प्रामित्यक का भी उल्लेख किया है। आमित्यक' ऋण में प्राप्त अन्न को उसी परिमाण में लौटाये जाने को कहते थे। सम्भव है, पाणिनि काल में यह प्रथा रही हो किन्तु पाणिनीय सूत्रों से इस बात का समर्थन नहीं होता। 'अपमित्य याचिताभ्यां कक्कनौ' (४ ४ २१) और 'उदीचामाङो व्यतीहारे' (३ ४ १९) ये दोनों सूत्र जिनके सहारे उक्त मत का प्रतिपादन किया गया है केवल इतना बतलाते हैं कि उत्तर के विद्वानों के मत से 'मांगकर बदलता है' के बदले 'बदलकर मांगता है' प्रयोग भी ठीक है। व्यतीहार वस्तु या क्रिया की दो व्यक्तियों में अदला-बदली को कहते हैं। मेङ् धातु का प्रयोग भी विनिमय अर्थ में होता है। विनिमय तात्कालिक अदला-बदली की ओर संकेत करता है। प्रतिदान की ध्वनि इनमें से नहीं निकलती।

---

१ ४ १ ४९।

२ वही।

३ कालादिति वर्तते य च कलापी नामकालोऽस्ति। नैव योगः साहचर्यात्तात्कालं भविष्यति। कलापि सहचरितः कालः कलापीकाल इति।—४–१ ४८, पृ० २३५।

परिक्रयण—जब कोई अधमर्ण धन के बदले में धन का प्रतिदान नहीं कर सकता था तब वह एक निश्चित समय के लिए अपना या अपने परिवार का श्रम उत्तमर्ण को सौंप देता था। यह पद्धति परिक्रयण[1] या बन्ध कहलाती थी जैसे सौ से बाँधा हुआ। अधमर्ण उत्तमर्ण के पास कर्मकर बनकर रहता था और ऋण के भर-पाई हो जाने पर मुक्त हो जाता था।

किसी किसी ऋण के बदले में किसान अपनी दूध देती गाय का दूध उत्तमर्ण को दे देता था। गाय को खिलाना-पिलाना स्वयं था किन्तु दूध दुहाने के लिए उसे उत्तमर्ण के पास भेज देता था। ऐसी गाय धेनुष्या[2] कहलाती थी।

---

१ परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् १-४-४४ तथा अकर्तर्यृणे पञ्चमी। २-३-२४ शताद्बद्धः।

२ संज्ञायां धेनुष्या या धेनुरुत्तमर्णाय ऋणप्रदानाद्दोहार्थं दीयते सा धेनुष्या। ४-४-८९।

अध्याय ९

श्रम और श्रमिक

श्रमिक—भाष्य के अनुसार शारीरिक श्रम से जीविका चलानेवालों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—शिल्पी और श्रमिक। शिल्पी-वर्ग पर पीछे चर्चा हो चुकी है। श्रमिक वे कहे जाते थे जिनमें किसी व्यवसाय या कौशल की योग्यता नहीं होती थी। इसलिए, वे निर्वाहार्थ किसी धनी व्यवसायी कृषक या शिल्पी आदि को अपना शारीरिक श्रम देकर उसके बदले में द्रव्य अन्न वस्त्र या इसी प्रकार के उदर-पूर्ति के साधन प्राप्त करते थे। श्रम को खरीदनेवाले स्वामी को अर्य कहते थे।[1] निश्चित धन-राशि देकर निश्चित अवधि के लिए व्यक्ति का श्रम खरीद लेनेवाला व्यक्ति 'परिक्रेता' कहलाता था और श्रम की इस प्रकार की क्रिया 'परिक्रयण' कही जाती थी। सौ पाँच सौ या हजार कार्षापण पर साल दो साल या अधिक के लिए श्रमिक नियुक्त कर लिए जाते थे।[2] यह एक प्रकार से ठीके की पद्धति थी क्रय नहीं।

श्रमिकों के भेद—सेवा और पारिश्रमिक की दृष्टि से श्रमिकों के भेद किए जा सकते हैं। भाष्य में उनके अनेक नाम मिलते हैं। उदाहरणार्थ—कर्मकर, भृतक, परिक्रीत, भृत्य, प्रसाधक, दास और मासिक। श्रमिक को नियुक्त करना भी 'उपनयनकर्म' कहलाता था जिसका अर्थ था 'वेतन देकर पास लाना'।[3] वेतन का दूसरा नाम 'भृति' भी था।

वेतन की दर—कर्मकर निश्चित[4] वेतन पाते थे। दूसरों के घर काम करने जानेवाले शिल्पी का दैनिक पारिश्रमिक भी वेतन कहलाता था। वेतन पर नियुक्त कर्मकर 'वैतनिक' कहे जाते थे। वेतन के रूप में ¼ कार्षापण देने की प्रथा थी।[5] इस प्रकार सामान्यतया कर्मकर को ७½ कार्षापण मासिक वेतन मिलता था। भृतक और भृत्य प्रायः समानार्थी थे। भृतकों के भी पादिक (¼ कार्षापण[6]) का उल्लेख भाष्य में कई बार मिलता है। स्वामी का कर्तव्य माना जाता था कि वह कर्मकर के भरण-पोषण की व्यवस्था करे। इसलिए, भृत्य को भरणीय भी कहते थे।

---

१ ३।१।१०३ पृ० १८२।

२ परिक्रयणं नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणं नात्यन्तिकः क्रय एव।—१।४।४४ काशिका।

३ १।३।३६ काशिका।

४ ४।४।१२।

५ कर्मकराः कुर्वन्ति पादिकमहर्देयमाह इति।—१।३।७२ पृ० ९०।

६ पादकम् अन्तरेणापि यदि पालयसौ भृतकाय पादिकम्।—वही।

७ ३।२।१ पृ० ९५४।

परिक्रयण के द्वारा नियुक्त कर्मकर को परिक्रीत कहते थे। पारिवारिक आवश्यकता होने पर निर्धन परिवार धनी से जो ऋण लेते थे उसमें बदले वे स्वयं या परिवार के किसी सदस्य को धनी का कर्मकर बनाकर ऋण चुकाते थे। ऋण राशि की भरपाई हो जाने पर कर्मकर स्वतन्त्र हो जाता था। भारत के अनेक भागों में यह प्रथा अभी तक प्रचलित रही है और 'कर्मकर' शब्द ने 'कमकर' रूप ग्रहण कर लिया है।

वेतन की साधारण दैनिक दर 'पादिक' थी किन्तु कार्य के अनुसार उसमें अन्तर भी रहता था। मासिक दर दैनिक की दृष्टि से कुछ भिन्न रहती थी। कभी-कभी मासिक वेतन पाँच कार्षापण दिया जाता था कभी छह और कभी दस तक। कर्मकरों के नाम भी उनके मासिक वेतन के अनुसार पड़ जाते थे। जैसे पाँच कार्षापण मासिक पानेवाले कर्मकर पञ्चक कहे जाते थे इसी प्रकार सप्तक या अष्टक नाम होते थे।[1] दास रात-दिन स्वामी की सेवा में उपस्थित माने जाते थे। उनके दैनिक वेतन निश्चित नहीं किये जाते थे। इनपर स्वामी का पूरा अधिकार रहता था और यह पद प्रायः कुत्सा का बोधक बन गया था। इसीलिए, 'दास्याः पुत्र' शब्द व्यक्ति की निम्नता प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त होता था। स्त्रियाँ भी दासी होती थीं और उनकी सन्तानें 'दासेर' कहलाती थीं।[2] दासेर शब्द भी निन्दा का बोधक था क्योंकि रात-दिन परिवार में रहने के कारण वे कभी कभी स्वामी की कामुकता की पात्र बन बैठती थीं। भाष्य में दो स्थानों पर दासी के प्रति कामुकता का उल्लेख है यद्यपि इसे अशिष्ट व्यवहार माना है। दास-दासियों को भोजन-वस्त्र मिलते थे और सदा-कदा डाँट-फटकार। ये ही तीन बातें उनके कार्य की प्रेरक थीं। उनकी स्वभृति की परिभाषा में भक्त, चेल और डाँट से बचाव ही सम्मिलित थे।[3] दास और कमकर की स्थिति एक दूसरे से बहुत भिन्न थी। यह बात इससे स्पष्ट है। भाक्तिक लोग केवल नियमित भोजन पाते थे।[4] सम्भवतः ये निम्न श्रेणी के कर्मचारी थे जो हल जोतते थे और दिन में कुछ घण्टे काम करते थे। भाक्तिक हल जोतनेवालों का उल्लेख सूत्र ३ १ २६ के भाष्य में मिलता है जिसमें कहा गया है कि चुपचाप बैठे हुए व्यक्ति के लिए भी कहा जाता है कि वह पाँच हल की खेती करता है क्योंकि खेती करने का अर्थ हल चलाना ही नहीं है जो भक्त, बीज और बैलों की व्यवस्था करता है वह भी कृषक माना जाता है। इससे हल जोतने के लिए भाक्तिक श्रमिकों को नियुक्त करने की प्रथा का पता चलता है।[5] आज भी इस प्रकार के कर्मचारी गाँवों में पाये जाते हैं। ये काम प्रायः पारिवारिक (घर के भीतरी) काम करते हैं।

भाष्य में श्रमिकों के कुछ कार्यों की ओर भी संकेत है। अध्यापक स्वामी की टहल-टहल

---

१ ५ १-५६।

२ १ ३-५५, पृ० ६९ तथा २ १ ६८, पृ० ४५६ तथा ४ ६.१४४ पृ० ११८।

३ यदेतद्दासकर्मकरं नामतोऽपि स्वभृत्यर्थमेव प्रवर्तन्ते भक्तं चेलं च लप्स्यामहे परि भाषाश्च न नो भविष्यन्ति।—१ १ २६ पृ० ७७।

४ ४ १ १६८, पृ० १६२।

५ ४ ४ ६८ तथा भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिविधानं करोति।—३ १-२६, पृ० ७१।

६ वही।

करते थे? तेल मालिश करना नहलाना हाथ-पाँव दबाना जैसे कार्य इनके थे। स्वामी के शारीरिक[1] सुख के लिए इनकी नियुक्ति होती थी और ये धनी परिवारों की शोभा थे। 'छत्रधार' राजाओं या धनियों का छत्र लेकर चलते थे।[2] 'उदहार या 'उदकहार'[3] पानी भरने के लिए नियुक्त होते थे। काँवर से वस्तु को ढोनेवाला, 'वीवधिक'[4] भारतीय ग्रामों के लिए बहुत पुराना है। काँवर के सहारे श्रमिक दूना बोझ ले जा सकता है। कन्या के घर से दहेज की सामग्री भेजने में आज भी वीवधिक से ही काम लिया जाता है। 'भक्तकर'[5] भोजन पकाने का काम करते थे। 'ग्रामीण'[6] गाँव के पशुओं को प्रातःकाल चराने ले जाते थे और सायंकाल को लौटा लाते थे। 'भारभारिक'[7] बोझ ढोने का काम करते थे। भारभार शब्द भारी बोझ के लिए, जिसका वजन लगभग निश्चित था व्यवहृत होता था। 'प्रेष्य' एक गाँव से दूसरे गाँव सन्देश ले जाते निमन्त्रण या आमन्त्रण पहुँचाते और एक ही गाँव के भीतर वस्तुएँ, सन्देश के लाने-ले जाने और कादाचित्क काम करने के लिए होते थे। एक प्रेष्य कई स्वामियों का काम करता था। आज भी नाई, माली धीवर आदि इस प्रकार के कामों के लिए नियुक्त किये जाते हैं। कई स्वामियों के बीच नियुक्त एक प्रेष्य बारी बारी से उनका काम करता था। कभी-कभी दो स्वामी एक साथ दो भिन्न दिशाओं में कार्य के लिए जाने की आज्ञा देते थे। ऐसी स्थिति में यदि वह एक से विरोध मोल नहीं लेना चाहता था तो वह दोनों के काम को टाल देता था। ऐसा न करने से उन दोनों स्वामियों के आपस में झगड़ जाने का भय होता था या किसी एक के कोप-भाजन बनने की आशंका रहती थी।

श्रमिकों के नाम—ऊपर कहा जा चुका है कि श्रमिकों का उनके वेतन के आधार पर वर्गीकरण किया जाता था। पाँच छह या दस कार्षापण पानेवाले पंचक सप्तक दशक अथवा पंचक मासिक सप्तक मासिक या दशक मासिक[8] कहे जाते थे किन्तु इसके अतिरिक्त वे जितने समय के लिए नियुक्त किये जाते थे उसके आधार पर भी उनके नाम पड़ जाते थे। उदाहरणार्थ जिस अध्यापक को घण्टे-दो घण्टे प्रतिदिन पढ़ाने के लिए नियुक्त किया जाता था उसे मासिक अध्यापक कहते थे। इसी प्रकार जिस कर्मकर को प्रतिदिन कुछ घण्टे काम करने के लिए नियुक्त किया जाता था उसे मासिक कर्मकर कहते थे। कर्मकरों की नियुक्ति मासिक आधार पर होती थी। फुटकर

---

१ मुखं वैदग्ध्ये प्रसाधको वैयाकरणस्य १-३-१ १८, पृ० २५४।
२ ६ २-७१।
३ ६ ३ ६०।
४ ४ ४ १७, पृ० ३७५।
५ १ ३-७१ पृ० ९०।
६ ५ २-१४ पृ० ३७१।
७ ५ १-५०।
८ ६ १-८५, पृ० १२१।
९ १९, पृ० ५०९।
१० मूलो आवी महासी आसमजीति। किं तर्हि? मुहूर्तमासवीव्यो-
मुहूर्ती मासः १-५ ३९९।

कर्मकर दैनिक पारिश्रमिक पर खुला काम भी करते थे। कर्मकर का मास पर्वांग मास से भिन्न भी हो सकता था। जिस तिथि से उसे नियुक्त किया जाता था उससे लेकर अगले मास की उसी तिथि तक का मास उसके वेतन के लिए गिना जाता था जो संवत्सर मास से भिन्न होता था। यह मास भृतकमास कहलाता था।[1] मास के अतिरिक्त दो तीन या अधिक दिनों के लिए, वर्ष भर या दो तीन या अधिक वर्षों के लिए या संवत्सर (भृतक वर्ष से भिन्न) या अधिक संवत्सरों के लिए करार द्वारा नौकर रखे जाते थे।[2] कृषि के कर्मकरों पर यह बात विशेष रूप से लागू होती थी। किसान का वर्ष वर्षा से प्रारम्भ होता है इसलिए वार्षिक कर्मकर आषाढ से ज्येष्ठान्त तक काम करता था। सांवत्सरिक चैत्र से फाल्गुन तक के लिए नियुक्त किया जाता था। समीन वर्ष के किसी महीने से नियुक्त किया जाता था और नियुक्ति के मास तथा तिथि के बाद वर्ष-भर काम करता था। जितने समय के लिए ये लोग नियुक्त किये जाते थे उसी के आधार पर इनके भेद किये जाते थे। उदाहरणार्थ—समीन द्विसमीन या द्वैसमिक। द्विरात्रीण या द्वैरात्रिक द्वयहीन या द्वैयह्निक द्विसंवत्सरीण या द्विसंवत्सरिक द्विवर्षीण द्विवर्ष या द्विवार्षिक आदि। इस प्रकार, वेतन और नियुक्ति की अवधि के आधार पर कर्मकरों का वर्गीकरण भाष्य में पाया जाता है।

भृति पर काम करनेवालों के अतिरिक्त कुछ और लोग थे जो अपने पारिभाषिक अर्थ में न तो शिल्पियों में परिगृहीत होते हैं और न श्रमिकों की श्रेणी में आते हैं। इनमें दन्त-लेखक (दाँतों को रँगनेवाले) नख-लेखक (नाखून रँगनेवाले) अवस्कर-शोधक आदि का संकेत अष्टाध्यायी में और नामोल्लेख काशिका में मिलता है।[3] इस प्रकार के अन्य जीविकार्थी भी रहे होंगे यह सुनिश्चित है। खेतिहर मजदूरों का उल्लेख कृषि के प्रकरण में हो चुका है।

शीतक-उष्णक—कर्मकर यद्यपि काम के लिए ही भृति या वेतन पाते थे तथापि वे सदा ईमानदारी से काम करते हों ऐसी बात नहीं थी। कुछ कर्मकर काम में ध्यान नहीं देते थे और देखते रहते थे कि कहीं स्वामी तो नहीं आ रहा है। उनका ध्यान दूर से स्वामी के ललाट की ओर रहता था और उसे देखते ही वे दिखावे के लिए काम में व्यस्त होने का अभिनय करने लगते थे। इस प्रकार, के कर्मकरों को 'लालाटिक'[4] कहते थे। उसी प्रकार कुछ लोग बहुत धीरे-धीरे काम करते थे और एक दिन का काम दो दिन में समाप्त कर पाते थे। ऐसे श्रमिकों को 'शीतक'[5] संज्ञा दी गई थी। साधारण से अधिक फुरती से काम करनेवाले चतुर श्रमिकों को उष्णक[6] कहते थे जो शीघ्र करने योग्य कामों को शीघ्र ही कर डालते थे।

---

१ संवत्सरपर्वणीति वक्तव्यं स्यात्, भृतकमासे मा भूत्।—४ ४-२१, पृ० १७१।

२ ५ १-८५, ८६, ८७, ८८।

३ ६ ३-७१।

४ ४-२-२२।

५ ४-४ ६६ काशिका।

६ य आशु कर्तव्यानर्थांश्चिरेण करोति स उच्यते शीतक इति। य पुनराशु कर्तव्यानर्थानाश्वेव करोति स उच्यते उष्णक इति।—५ २-७२, पृ० ३९७।

७ वही।

राजकर्मी मनुष्यों का भाष्यकार ने एकाधिक बार स्वतन्त्र उल्लेख किया है। इन नौकरों में परस्पर ईर्ष्या रहती थी और वे केवल दिखावे के लिए काम करते थे। एक काम कर लिया तो दूसरा करने में आनाकानी करते थे। यदि उनसे किसी ने कहा कि लो यह कट तो बनाओ, तो तुरन्त उत्तर मिलेगा—'अब मैं कट नहीं बनाऊँगा। मैंने अभी घड़ा बना दिया है।' उन्हें तो काम का बहाना चाहिए।[1] एक स्थान पर राजकर्म करनेवाले तक्षा के विषय में कहा है कि राजा का काम करके फिर वह अपना काम नहीं कर सकता। उसे सारा समय वहीं लगाना पड़ता है।[2] राजपुरुष कहने का आशय ही यह है कि वह पुरुष राजा को छोड़कर और किसी का नहीं है। अन्य स्वामियों की निवृत्ति उसके नाम से ही हो जाती है।[3]

अधिक नियमित परिश्रम द्वारा जीविकार्जन करते थे किन्तु ऐसे लोगों की संख्या कम न थी जिन्हें परिश्रम स्वीकार्य न था। वे लोग या तो माँगकर खा लेते थे या चुरा लेते थे। माँगनेवालों की संख्या अधिक जान पड़ती है। भोजन तैयार हुआ कि वे आ गये। फिर भी भोजन तो चढ़ाना ही पड़ता है। भिक्षुकों के कारण बटलोई चढ़ाना तो बन्द नहीं किया जा सकता। यह बात तत्कालीन याचकाधिक्य की ओर संकेत करती है। फिर, पेट भर जाने पर भी इन भिक्षुकों को संतोष नहीं होता। दूसरे घर पर्याप्त मिल गया तो भी वे पहला घर नहीं छोड़ सकते। संचय[4] में लग जाते हैं।

जो लोग बिना परिश्रम किये सेंध लगाकर मालमत्ता निकाल ले जाते थे, वे थे व्रात। ये लोग झुण्ड-के-झुण्ड साथ रहते थे। इनके रहने का न तो निश्चित स्थान था और न जीविका के लिए निश्चित वृत्ति। अवसर पाकर ये लोग चोरी करते थे। व्रातों की अनेक जातियाँ थीं—जैसे कपोतपाक[5] या कपोतपाक्य कौञ्जायन आदि। इनके अपने संघ थे। ये लोग प्रारम्भ में आयुध जीवी थे और धीरे-धीरे इस रूप को प्राप्त हो गये। सम्भवतः, इनकी स्थिति वही रही होगी जो कुछ समय पूर्व तक कंजरों बनजारों पासियों आदि की रही है। व्रात-कर्म से जीनेवाले को व्रातीन कहते थे।

---

१ १४-५० पृ० १७४।

२ पुरुषोऽयं परकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं कर्म जहाति। तद्यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं कर्म जहाति।—२ १ १ पृ० २१९।

३ ९-९-१ पृ० २४०।

४ १ १ ३९ पृ० २५३।

५ २ १ १ पृ० २४१।

६ ५ ३-११३।

७. व्रातेन जीवति व्रातीन जीवतीत्युच्यते किंनिदं व्रातं नाम? नानाजातीया अनियतवृत्तयः उत्सेधजीविनः संघाः व्राताः। तेषां कर्म व्रातम्। व्रातकर्मणा जीवतीति व्रातीनः।—५-२-२१, पृ० ३७२।

खण्ड ५

राजनीतिक स्थिति

अध्याय १

राजतन्त्र शासन

राजाओं की श्रेणियाँ—ऐतरेय ब्राह्मण (८ १४) में राज्य वैराज्य स्वाराज्य, भौज्य और साम्राज्य य राज्य के क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्वरूप बतलाये हैं। इनके शासकों की उपाधियाँ राजा विराट् स्वराट् भोज और सम्राट थी। राजा सामान्य नाम था और विशिष्ट ऐश्वर्य की ओर संकेत न करना होता तो राजा शब्द इन सबके लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त हो सकता था। चाहे इस कारण से हो या इसलिए कि पतंजलि के समय में शेष सब का अस्तित्व समाप्त हो चुका था भाष्य में केवल राज्य के अधीश्वर का ही उल्लेख किया गया है। सम्राट और साम्राज्यादि शब्द भाष्य में नहीं आये हैं। भोज भोजपुत्री भोजदुहिता शब्द जहाँतक अनुमान है, जनपद विशेष के शासक के सम्बन्ध में ही व्यवहृत हुए हैं। वे शासक जनपद-भूमि व भौज्य के अधीश्वर नहीं।[1]

राजा के गुण—राजा नृपति कहा गया है। यह शब्द ही राजा के मुख्य कर्तव्य और महत्त्व का परिचायक है। भाष्यकार ने उससे सम्बद्ध ऋग्वेद का जो वाक्य उद्धृत किया है, वह भी यह स्पष्ट करता है कि राजा शुचि तथा नृपालक होने से ही उस पद का अधिकारी माना जाता था।[2] यही उसका मार्यत्य था जिसका उल्लेख भाष्यकार ने अनेक बार किया है।[3] नृप शब्द भाष्य में केवल एक बार आया है।[4] पृथ्वी का ईश्वर होने के कारण वह पार्थिव कहलाता था। पाणिनि के सार्वभौम के दर्शन भाष्य में नहीं होते।[5] इन और ईश्वर शब्दों को भी भाष्यकार ने राजा का पर्यायवाची माना है।[6] इनमें ईश्वर शब्द सामान्यतया स्वामी के अर्थ में व्यवहृत होता था। ऐश्वर्य ईश्वरत्व या ईश्वरभाव ईश्वर का गुण है। उसका यह ईश्वरत्व उसी 'स्व' या सम्पत्ति पर लागू होता था जो उसके अधीन थी। पाणिनि द्वारा स्वामी ईश्वर और अधिपति का एक साथ उल्लेख जिन्हें भाष्यकार ने पर्याय माना है, इस कथन का पोषक है। इसी अर्थ में पतंजलि ने

---

१ ६ १-७०, पृ० ३४।

२ सर्व नृणां नृपते श्रापते शुचि।—ऋ० २ १ १—६ १ १७७ पृ० २२०।

३ ८ ३ १५ पृ० ४०८।

४ ५ १ ७५, पृ० ३५२।

५ ५ १ ४१ ४२।

६. तथाराजाजमनुष्यपूर्वा पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवति। किं प्रयोजनम्? राजापर्यायम् इनसभम् ईश्वरसभम्। तस्यैव न भवति—राजसभा। तद्विशेषणानां च न भवति—पुष्यमित्र सभा। चन्द्रगुप्तसभा।—१ १ ६८, पृ० ४३४।

ब्रह्मदत्त को पंचाल का ईश्वर या अधि (पति) कहा है और पंचाल की वेशवस्त में आपृत (अधि)[1]। अर्यशब्द भी इसी कोटि का है और इन सबका प्रयोग यदि राजा अर्थ में मिलता है, तो औपचारिक रीति से। पाणिनि-सूत्र १ ४ ४७ तथा २ ३ ९ तथा उनसे सम्बद्ध भाष्य में ईश्वर राजा का पर्याय नहीं है। ईश्वर शब्द भाष्य में वैश्य के लिए भी आया है।[3] यह भी औपचारिक अर्थ में ही है।

राजन्वान देश—राजाओं को उनके गुणों के अनुसार पूजित या क्षेप का विषय माना जाता था। सुराजा और किराज शब्द क्रमशः उक्त अर्थों में प्रयुक्त होते थे।[4] अतिराजा शब्द भी राजा की महत्ता का द्योतक था। जिस देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था होती थी तथा राजा अच्छा होता था उस देश को राजन्वान कहते थे।

राजन्य—राजा सामान्यतया क्षत्रिय होते थे इसीलिए राजा के अपत्य के लिए प्रयुक्त होनेवाला राजन्य शब्द कात्यायन-काल में आते-आते क्षत्रियवाचक बन गया था। पतंजलि ने राजन्य को जातिवाचक माना है यद्यपि पाणिनि-काल में वह केवल राजपुत्र का बोधक था।[5] क्षत्रियभिन्न राजपुत्र को राजन कहते थे। भाष्यकार ने राजन्य शब्द का प्रयोग सर्वत्र क्षत्रिय अर्थ में किया है।[6] वास्तव में क्षत्रिय अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी पहले यह शब्द मूर्धाभिषिक्त क्षत्रियों के वंश्यों के लिए ही प्रयुक्त होता था सामान्य क्षत्रिय के लिए नहीं। पंचाल आदि जनपदों के प्रतिष्ठापक और शासक सब क्षत्रिय थे। इसीलिए, जनपदों और उनके निवासी क्षत्रियों तथा उनके राजा के लिए एक ही शब्द काम में आता था। पंचाल जनपद के निवासी क्षत्रिय और उनका राजा दोनों पांचाल कहलाते थे।

राज-परिवार—महाभाष्य में राजा के पारिवारिक सदस्यों तथा उनकी पद-प्रतिष्ठा के विषय में भी संकेत हैं। राजाओं का समूह राजक राजन्यों का राजन्यक तथा राजपुत्रों का राजपुत्र कहलाता था।[7] पांच, दस तथा अनेक राजाओं के समूह को व्यक्त करने के लिए 'पंचराजम्,

---

१ यस्य चैश्वर्यमीश्वरतेश्वरभावस्तस्मात् कर्मप्रवचनीयसंज्ञत्वात् अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः आपृतास्ते तस्मिन् भवन्ति अधिब्रह्मदत्तः पञ्चालेषु। आपृतः स्तेषु भवति—१-४-९ पृ० ४१-२।

२ १ १ ४७ पृ० २८७।

३ २-१ १ पृ० २५६।

४ ८-२-१४।

५ राज्ञां पत्ये जातिग्रहणं कर्तव्यम् राजन्यो नाम जातिः। क्व माभूत् राजन इति।—४-१ १३७ पृ० २४४।

६ ८-२-८३ पृ० ३८८।

७ ६-२-३४ काशि०।

८ ४-१ १६८, पृ २६३।

९ ४ २-३९ पृ० २७८।

दशराजम् आदि शब्द भाष्य में आये हैं।[1] पाटलिपुत्र, मगध तथा कश्मीर आदि के राजाओं का पतंजलि ने विशेषतः उल्लेख किया है।[2] राजमहिषी अपनी शान तथा सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध होती थी। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि दूर पर अव्यक्त मनुष्याकार सौन्दर्य देखकर लोग अनुमान करते हैं कि यह महिषी का या ब्राह्मणी का रूप है।[3] राजा की महिषी से भिन्न पत्नियाँ राजदारा कहलाती थीं। इन्हें राजप्रासाद से बाहर जाने का अवकाश प्राप्त नहीं होता था इसलिए वे असूर्यम्पश्या होती थीं।[4] राजदारा के लिए राजपत्नी शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[5] राजन या राजन्य के अतिरिक्त राजपुत्री का भी विशेष स्थान था।[6] उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य में राजपुत्रियों के पालन-पोषण एवं शिक्षण-संस्कार के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं। कथासरित्सागर एवं राजतरंगिणी में राजकन्यका के महत्त्वपूर्ण स्थान का वर्णन है। राजा का उत्तराधिकारी उसका पुत्र राजकुमार होता था। उसकी वयस्कता-कवच-धारण काल से मानी जाती थी। वयस्क राजकुमार कवचहर कहलाता था। राजकुमारी और राजकुमार राजा की विवाहिता पत्नी की ही सन्तान होते थे।[8] इनमें राजा का प्रथम उत्तराधिकारी 'राजप्रत्येनाः' कहलाता था।

राज-परिवार—पारिवारिक सदस्यों के अतिरिक्त राजा के प्रासाद में तथा बाहर कर्मचारियों की बड़ी संख्या रहती थी। ये राजपुरुष कहलाते थे और इन्हें राजा की ओर से विशेष सम्मान प्राप्त रहता था। यहाँतक कि राजपुरुष-पुत्र तक इस सम्मान के भागी होते थे। भाष्य में तो राजपुरुष-पुत्रों के भी कर्मचारियों का सादर उल्लेख मिलता है। राजा मानवों में श्रेष्ठ या मौलिस्थ था। इसलिए, किसी वर्ग या वस्तु की श्रेष्ठता व्यक्त करने के लिए उसके पूर्व राज शब्द का प्रयोग विशेषण रूप में किया जाता था। राजाश्व ऊँची जाति के राजा के अश्वों के लिए प्रयुक्त होता था। यहाँतक कि राजमाष, राजदन्त (अगला बड़ा दाँत) आदि शब्दों में राज शब्द केवल श्रेष्ठता के द्योतन के लिए जोड़ा जाता था।

राजपुरुषों में द्वारपाल, छत्रधार और चामरग्राह प्रमुख थे।[9] धावन् या सन्देशहर का स्थान भी अवश्य ही महत्त्वपूर्ण रहा होगा। अश्वों में वह शीघ्र जानेवाला होता था।[10] ये कर्मचारी 'नियुक्त' श्रेणी के थे। चमर चमरी जाति की मृगी के बालों से बनाया जाता था। भाष्य में सेवा के लिए चमरी के मारे जाने का उल्लेख है। राजा के व्यक्तिगत सेवकों में परिचारक

१ ६-२-११ पृ० १४६ तथा २ १ २, पृ० २६१।
२ ४ १ १, पृ० ११।
३ ३-२ ६, पृ० १०४।
४ असूर्यम्पश्यानि मुखानि।—३-२-३६, पृ० २२९।
५ ४ १-३९, पृ० ४५७।
६ ३ १७०, पृ० ३६७।
७ ३-२ १०।
८ ४-१ १ पृ० १२।
९ ३-२-१ पृ० २०१।
१० धावत्स्वमानो शीघ्रतम।—२-४-१० काशि०।

परिषेचक स्नापक उत्सादक और उद्वर्तक ये नाम याजकादिगण में मिलते हैं।[1] इसी प्रकार महिष्यादिगण में प्रलेपिका विलेपिका अनुलेपिका मणिपाली अनुचारक और भृत्यों का परिगणन है।[2] अन्तःपुर में स्त्रियाँ ही परिचारिकाएँ रहती थीं। रैवत्यादिगण (४ १ १४६) में अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली और दण्डग्राह नाम आये हैं। राजा के अन्य सामान्य कर्मचारी राजकर्मी कहलाते थे जिनमें तक्षा से लेकर कुलाल और कटकार तक सम्मिलित थे। इन लोगों को सम्मान विशेष के प्रदर्शन के लिए राजतक्षा और राजनापित आदि कहा जाता था।[3] विलेपिका के कार्य और उसे प्राप्त होनेवाले वेतन को वैलेपिक कहते थे। राजा की स्नान-सामग्री तथा स्नान-व्यवस्था की देखरेख के लिए भी एक निरीक्षक अधिकारी होता था जो सौस्नातिक कहलाता था। इसी प्रकार शय्यागृह का निरीक्षक अधिकारी सौखशायिक होता था। रात्रि में राजा की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी अधिकारी को सौखरात्रिक कहते थे। राजा के पशुओं की रक्षा करने के लिए गोवल्लव अश्ववल्लव आदि अधिकारी रहते थे। उनकी संख्यादि की लिखा-पढ़ी और गणना के लिए नियुक्त कर्मचारी गोसंख्य अश्वसंख्य और पशुसंख्य आदि कहलाते थे।[4]

राज्याभिषेक—राजा अभिषेकपूर्वक सिंहासनारूढ़ किया जाता था। इस अवसर पर उसे राजसूय यज्ञ करना पड़ता था। इस यज्ञ के पश्चात् ही राजा के रूप में उसका प्रादुर्भाव होता था इसीलिए इस यज्ञ का नाम राजसूय था।[5] शतपथ ब्राह्मण (५ १ १ १२) में भी इसका उल्लेख है। राजसूय सामान्य राजा का यज्ञ था। सम्राट् को राज्याभिषेक के समय वाजपेय यज्ञ करना पड़ता था। भाष्य में राजसूय वाजपेय और अश्वमेध का नाम आया है यद्यपि पुनरभिषेक और ऐन्द्र महाभिषेक की चर्चा उसमें नहीं है।

रत्निगण—राजा के रत्नियों में सेनानी का स्थान प्रथम था। न केवल सेनानी अपितु, सेनानिकुल प्रतिष्ठा का पात्र था। सेनानिपुत्र[6] सेनानीकुमारी सेनानीकुमारी-पुत्र सब विशेष सम्मान के अधिकारी माने जाते थे। इससे यह भी अनुमान होता है कि राजा के समान सेनानी का पद भी यथासम्भव पैतृक होता था। पुरोहित के विषय में विशेष जानकारी भाष्य में नहीं मिलती।[11]

---

१ केशेषु चमरी हन्ति।—२-३-३६, पृ० ४११।
२ ४ ४ ४८।
३ १ ४ ४९, पृ० १७४ तथा २ १ १ पृ० २११।
४ ४-४ १ पृ० २७१।
५ ३-२-४२, पृ० २७०।
६ राजा सोमस्य राजा वा इह सूयते इति राजसूय क्रतुः।—३-१ ४४ काशिका।
७ १ १ ६० पृ० १६२।
८ १ १ ३६६।
९ ६ १-७७।
१० १ २ ४८, पृ० ५४४, ४५।
११ ५ १ १२८।

सूत सूतपुत्री सूतदुहिता[1] सूतपुत्र ग्रामणी ग्रामणिपुत्र ग्रामणिकुल[2] आदि का उल्लेख भाष्य में अनेक बार हुआ है। ग्रामणी सामान्यतया वैश्य होता था।[3] यद्यपि मुख्य ग्रामरक्षक के रूप में उसका सैनिक होना भी सम्भावित है। वह गाँव के मुखिया के रूप में ग्राम तथा राजा के बीच की कड़ी था। भाष्य में सेनानी और ग्रामणी तथा सूत और ग्रामणी का बार-बार साथ उल्लेख आने से सहज अनुमान होता है कि ये तीन पद राज्य में बहुत अधिक महत्त्व के तथा परस्पर निकट रूप से सम्बद्ध थे। रत्नी लोग राजकृता कहलाते थे क्योंकि अभिषेक-काल में इन सबकी स्वीकृति से ही राजा सिंहासन पर बैठता था।[4]

मन्त्रिपरिषद्—राजा की सलाहकार-परिषद् में अमात्य रहते थे। महामात्र परिषद् का प्रमुख होता था। वह प्रधान मन्त्री के नाते सब मंत्रियों के ऊपर था। महाभारत में सुमन्त्र और संजय महामात्र कहे गये हैं यद्यपि वे सूत थे।[5] राजा अमात्यों से परामर्श अवश्य करता था किन्तु निर्णय करने में स्वतन्त्र था। विशेष परिस्थितियों में राजा परिषद् के स्थान पर केवल महामात्र से परामर्श करता था। ऐसे परामर्श अत्यन्त गुप्त होते थे और उपह्वरीय[6] कहलाते थे। अमात्य राजा के अधीन काम करते थे। वे राजा की उपस्थिति में परतन्त्र होते थे किन्तु किसी विषय में राजा द्वारा निर्णय ले लिये जाने पर उसे कार्यान्वित करने में स्वतन्त्र रहते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने अमात्यों को राजा के समवाय में परतन्त्र और व्यवसाय में स्वतन्त्र कहा है।[8] प्रजा के बीच अमात्यों की स्थिति राजा के बाद सबसे ऊँची थी। वह केवल राजा की ही अपेक्षा अधिकार में न्यून थी।[9] अमात्य का अर्थ है समीपस्थ। यह शब्द यथार्थ था।[7] प्रधान मंत्री या महामात्र प्रायः ब्राह्मण होता था। भाष्यकार का राजब्राह्मण संभवतः प्रधान मंत्री ही है। राजब्राह्मण के साथ भाष्यकार ने राजब्राह्मणी का भी उल्लेख किया है। राजब्राह्मण के कारण इसे भी विशेष सम्मान होता था। आर्यब्राह्मण और राजब्राह्मण पर्याय जान पड़ते हैं।[10] सम्भवतः जिस समय पुरोहित और ... के पद संयुक्त थे उस युग में राजब्राह्मण और आर्यब्राह्मण दोनों शब्द एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते थे। बाद में जब दोनों पद अलग-अलग हो गये तब राजब्राह्मण शब्द केवल पुरोहित

---

१ ७-१-५१ पृ० ४४ तथा ६ १-७१ पृ० १०३।

२ वही।

३ वै० इण्डेक्स १ २४७ तथा २ ३३४, शत० ब्रा० ५ ३-१ ६।

४ ७-३-५६, पृ० ५४।

५ महाभारत १५ १६-४।

६ ३-२ ३५।

७ ५ ४-७।

८ अमात्यादीनां राज्ञा सह समवाये पारतन्त्र्यं व्यवसाये स्वातन्त्र्यम् पृ० १५८।

९ परस्मिन्नूनतामेति यथामात्यः स्थिते नृपे।—५ ३-५५, पृ० ८३

१० ४ २-१०४ पृ० २०४।

११ ४ १ ६, पृ० १२।

के लिए रूढ़ हो गया और राजब्राह्मणी का स्थान अन्तःपुर में पुरोहित के समान सम्मान्य बना रहा। राजकुमार और राजकुमारी के साथ ही राजब्राह्मण और राजब्राह्मणी का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि राजब्राह्मण का पद मंत्री के समकक्ष था। राजसख भी मंत्री के समकक्ष था। यह राजा का मर्मसचिव तथा व्यक्तिगत सलाहकार होता था। परवर्ती संस्कृत नाटकों का विदूषक राजसख ही है।[1]

मंत्रियों का समूह विचार-विमर्श-काल में परिषद्[2] कहलाता था। परिषद्-युक्त राजा को परिषद्वल[3] कहते थे। परिषद् में किये गये निर्णय परिषत्तीर्ण कहलाते थे।[4] भाष्य से विदित होता है कि राजकीय परिषद् के अतिरिक्त धार्मिक परिषदें भी होती थीं जिनमें स्वीकृत मत या सिद्धान्त मान्य समझे जाते थे। कुछ सिद्धान्त किसी विशेष परिषद् द्वारा स्वीकृत होते थे और उसके विशेष क्षेत्र में ही प्रमाण माने जाते थे। कुछ सिद्धान्त सर्वमान्य होते थे जिन्हें सब परिषद् स्वीकार करती थीं। उदाहरणार्थ-पाणिनीय व्याकरण सर्ववेद-पारिषद् शास्त्र था। सामाजिक परिषदें भी इस युग में थीं। सम्भव है, इनका स्वरूप जातिविशेष की पंचायतों-जैसा हो। परिषद्-सम्बन्धी विषयों या बातों को पारिषद् कहते थे। परिषदों में भाग लेनेवाले पारिषद्य कहलाते थे।[5]

सभा—प्रत्येक राज्य में एक सामान्य सभा होती थी जो राजसभा कहलाती थी।[6] चन्द्रगुप्त मौर्य और पुष्यमित्र की भी अपनी राजसभा थी। इसे इनसभ और ईश्वरसभ भी कहते थे।[7] सभा शब्द दो अर्थों में प्रचलित था—व्यक्तियों का संघात या समूह और गृह या शाला। ग्रामसभा जो ग्राम या नगर की सामान्य सम्पत्ति होती थी द्यूत खेलने तथा अन्य मनोरंजनों के काम आती थी। इसी में ग्रामणी के नेतृत्व में सामान्य हित की बातों पर विचार-विमर्श होता था।[9] राजसभा में राज्य-भर के प्रतिष्ठित जन भाग लेते थे। ये लोग सभासद कहलाते थे। सभासद का पद सम्मान का माना जाता था। सभासद लोग सामान्य प्रजा से उपहार भी प्राप्त करते थे।[10] इन सभाओं में स्त्रियाँ नहीं भाग लेती थीं।[11] सभा में भाग लेने का अधिकारी या उनमें श्रेष्ठ वक्ता सभ्य कहलाते थे।[12] सभा का संचालन या नेतृत्व सभासन्नयन कहलाता था। सभासन्नयन से

१ २ १-२४, पृ० २८०।
२ ३-३ १०८, पृ० ३१७।
३ ५ २-११२।
४ ३ ३-४९, पृ० ४५८।
५ ४ ४ ४४।
६ १ १ ६८, पृ० ४६५।
७ ४-२-२१ ९४।
८ १ १ ६८, पृ० ४६५।
९ ग्रामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः।—२-३-९ पृ० ४४८।
१० यां घ्नन्ति, दीव्यन्ति, सभासद्भ्यः उपहरन्ति।—२ ३-६० पृ० ४४८।
११ कथं नाम स्त्री सभायां साधुः स्यात्।—४ १ १५, पृ० १४०।
१२ ४-१ ११५।

सम्बद्ध व्यक्ति को सामाससमय कहते थे।[1] वेद में सभ्य के लिए सभेय शब्द व्यवहृत हुआ है और संतान के वीर होने के साथ-साथ उसके सभेय होने की भी कामना की गई है।[2]

दुर्ग—राजा का एक दुर्ग होता था जिसके लिए राज्य के केन्द्रीय स्थान में भूमि का चयन किया जाता था और उसमें दृढ़ दुर्ग का निर्माण होता था।[3] दुर्ग शब्द ही उसकी अप्रवेश्यता का सूचक है। भाष्य में दुर्ग के विषय में अधिक विवरण तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसके प्राकार और परिखा आदि का बार-बार उल्लेख हुआ है। काशिकाकार के अनुसार परिखा दो या तीन पुरुष गहरी होती थी।[4] दुर्ग बनाने के लिए ऐसी भूमि ढूंढ़ी जाती थी जिसमें परिखा बन सके। इस भूमि को पारिखेयी कहते थे।[5]

कोष—कोष की वृद्धि के अनेक साधन थे। कुछ धन उपदा और उपहार से प्राप्त होता था। कुछ दण्ड से आता था और कुछ कर से। पतञ्जलि ने राजाओं को हिरण्यार्थी कहा है जो येन केन प्रकारेण द्रव्य की राशि वसूल करना चाहते थे।[6] कर को शुल्क कहते थे। राजा उन नगरों और ग्रामों से बहुत प्रसन्न रहता था जिनमें सब प्रकार शान्ति रहती थी और अच्छी पैदावार होती थी। इनके लोग कुछ बचाकर भी रख लेते थे। इन्हीं पुरों से राज्यकोष को भी उचित आय की आशा रहती थी।[7] भाष्यकार ने आयस्थानों का उल्लेख किया है। जिन स्थानों से राजा को कर द्वारा धन की प्राप्ति होती थी वे आय-स्थान कहलाते थे। नगर में बिकने के लिए आनेवाले माल पर शुल्क लिया जाता था। आपण गुल्म (धनसम्पत्ति) खनि तथा नदीतर आय के साधन थे। नदी-शुल्क को तरपण्य कहते थे।[10] भाष्यकार ने शुल्क के अनुसार उसे वसूल करनेवाले अधिकारियों के नाम दिये हैं। ये अधिकारी शुल्क के आधार पर पंचक सप्तक अष्टक नवक दशक आदि कहे जाते थे।

राजा के कर्तव्य—राजा का मुख्य कार्य था—आक्रमण एवं अन्य संकटों से प्रजा की रक्षा।[11] अपनी भूमि की रक्षा तो अपने अस्तित्व के लिए ही आवश्यक थी। इसी कार्य के कारण राजा को महीपाल[12] नृपति और नृप कहते थे। इसके लिए उसे दुर्ग कोष और सेना की आवश्यकता होती थी।

---

१ १ १-७३, पृ० ४६०।
२ वीरो सभेयो यजमानस्य पुत्रो जायताम्।—४ ४-१०६।
३ ३-२ ४८, पृ० २१७।
४ ३-२-१०१ पृ० २३६।
५ ४-१ २४, काशिका०।
६ ५ १ १७।
७ ५ १ ४७, पृ० ३९३।
८ १ १ १ पृ० १०३।
९ क्षेमे सुभिक्षे कृतसञ्चयानि पुराणि राज्ञामभिवर्धयन्ति कोषम्।—५ ४ १८, पृ० ४९९।
१० १ १ २२, पृ० २०५।
११ प्रजाभ्यो रक्षत्पूर्वमिका।—१ १-२४, पृ० २१६।
१२ ७-२-२३ पृ० ११७।

मन्त्रिपरिषद् सभा तथा दुर्ग और कोषादि से सम्बद्ध राजा के ऐश्वर्य को राजवर्चस् कहते थे।[1] प्रतिरक्षा के लिए राजा सेना रखता था। सेना में स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकार के योद्धा होते थे। भाष्य में राजा को दृढसेन कहा है।[2] राजा की बड़ी संख्या में गज और अश्व पालते थे।[3] सेना की उत्तमता और विशालता उनपर निर्भर करती थी। भाष्यकार ने कहा है कि केवल बातें करने या 'न न' कह देने से विपत्ति नहीं टल जाती अन्यथा राजा लोग हाथी-घोड़े न पालते केवल 'न न' ही कह देते।[4]

अधिकारी—पाणिनि ने आयुक्त युक्त नियुक्त अधिकारियों विभागाध्यक्षों एवं आम्रामात्यिक आदि विशिष्ट उच्चाधिकारियों का उल्लेख किया है।[5] भाष्यकार ने सम्पूर्ण राज्याधिकारियों के दो विभाग किये हैं—ग्रामीण और नागरिक। ये कर्मचारी अधिकृत कहलाते थे और इनकी नियुक्ति राजा के निर्देश से होती थी और वे उसी से निर्दिश्यमान कार्य करते थे।

राज्य के उच्चाधिकारियों में राष्ट्रिय का पद बहुत महत्त्वपूर्ण था यदि राज्य बड़ा होता तो राजा अपने युवराज या किसी अन्यपुत्र अथवा विश्वस्त जन को राज्य के एक भाग का राष्ट्रिय नियुक्त कर उसके हाथ में वहाँ का सारा आन्तरिक प्रबन्ध सौंप देता था। मौर्य राजाओं, रुद्रदामा एवं पुष्यमित्र सभी ने अपने राज्य में राष्ट्रिय नियुक्त किये थे। अशोक स्वयं विदिशा में राष्ट्रिय रहा था। इसी प्रदेश में पुष्यमित्र ने भी विदिशा में अपने पुत्र अग्निमित्र को राष्ट्रिय पद पर नियुक्त किया था। गिरनारस्थ रुद्रदामा के शिलालेख में भी चन्द्रगुप्त मौर्य के राष्ट्रिय वैश्य पुष्यगुप्त का उल्लेख है। पाणिनि और पतञ्जलि दोनों राष्ट्रिय पद से परिचित थे।

दूत राजा का अत्यन्त विश्वासपात्र अधिकारी था। वह अन्य राज्यों से साथ सम्बन्ध का माध्यम था। दूतों के नाम उस देश के आधार पर रखे जाते थे जिसके लिए उनकी नियुक्ति की जाती थी। उदाहरणार्थ—स्रुघ्न को भेजे गये दूत को स्रौघ्न कहते थे।[6] दूत का कार्य दूत्य कहलाता था। दूत के द्वारा भेजा जानेवाला सन्देश 'वाचिक' कहलाता था। उस सन्देश के अनुसार किया

---

१ ५-४-७८, पृ० ५०४।

२ २ ४-१९, पृ० ४०१।

३ १-२-६, पृ० ३३९।

४ वही।

५ यदेतन्मनोमाहात्म्यं स्यात् नातु विद्राजानो हस्त्यश्वं बिभृयुर्नन्नेव राजानो ब्रूयुः।—१-१-६, पृ० ३३९।

६ २-३-४०, ८ ४-७०, ६-२ ६६, ६-१-६७।

७. लोकेऽधिकृतोऽसौ ग्रामेऽधिकृतोऽसौ नगर इत्युच्यते यो यत्र व्यापारं गच्छति। निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते।—१ १-११ पृ० ४२।

८. ४ २-३१ पृ० २०२।

९. १ १-१०, पृ० ४०।

गया काम 'कार्मण' कहा जाता था।[1] राजा लोग नगर एवं राज्य के समाचार लाने के लिए गुप्तचर रखते थे। ये लोग कर्णेजप या सूचक कहलाते थे।[2]

राज्य के कार्य अनेक दृष्टियों से किये जाते थे। राजा के हित की दृष्टि से किये जानेवाले कार्य राजभोगीन मन्त्री के होते थे। सेनानिभोगीन और ग्रामणिभोगीन कार्य सेनानी और ग्रामणी हित की दृष्टि से होते थे। बड़े-बड़े आदमियों के अनुकूल कार्य माहाजनिक कहलाते थे। ग्राम सभा या पंचायत के हित के कार्यों को पंचजनीन कहते थे। सार्वजनिक हित की बातें सार्वजनिक सर्वजनीन विश्वजनीन सार्वीय या सार्व होती थी।[3]

---

१ वाचो व्याहृतार्थायाम् तद्युक्तात् कर्मणोऽण् तदित्यनेन किं प्रतिनिर्दिश्यते ? वाचमेव वाचा व्याहृतार्थे तत्कर्मणा क्रियते।—५ ४ ३५, ३६ पृ० ४९२।

२ ३-२ १३, पृ० २११।

३ ५ १ १० पृ० ३०९।

अध्याय २

संघ-शासन

गणतन्त्र

संघों के प्रकार—दूसरे प्रकार के जनपद गणतन्त्र थे। वे संघ कहलाते थे। भाष्यकार ने संघ शब्द का प्रयोग समुदाय या समूह के अर्थ में किया है।[1] पाणिनि ने पशुओं के समूह को संघ कहा है।[2] मानव-संघ या समूह तीन प्रकार के होते थे—छात्रों के संघ जो बौद्धों के श्रमण-संघों या भिक्षु-संघों के समान थे। पता नहीं इनका अपना कोई विधान था या नहीं। भाष्य ने केवल औदमेघ्य बाभ्रव आदि छात्रसंघों के लिए इन शब्दों के नाम दिये हैं जिनसे इतना ही पता चलता है कि उनके समय में एक गुरु की समस्त शिष्य-प्रशिष्य-मण्डली संघ के रूप में संगठित होती थी।[3] दूसरे प्रकार के संघ सामाजिक थे जो किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित होते थे। वादीनों के संघ इसी प्रकार के थे। तीसरे प्रकार के संघ राजनीतिक थे जो शासन-पद्धति की दृष्टि से एकराज-पद्धति के ठीक उलटे थे।[5] इस प्रकार के संघों में शासन की डोर एक राजा के हाथ में न रहकर जनपद के मूल निवासी क्षत्रिय जाति के अनेक प्रभावशाली लोगों के हाथ में रहती थी। ये प्रभावशाली जन क्षत्रियवंशीय होते थे और राजन्य कहलाते थे। डॉ॰ जायसवाल (हि॰ पा॰ पृ॰ २८) के मत से धार्मिक संघ राजनीतिक संघों का अनुकरण-मात्र थे। उनकी धारणा है कि पाणिनि ने संघ शब्द का प्रयोग सदा राजनीतिक संघ के अर्थ में ही किया है। इस बात की पुष्टि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाणिनि-सूत्रों से नहीं होती।

अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय—संघ-शासन में शक्ति एक राजा के हाथ में केन्द्रित न होकर समग्र क्षत्रिय जाति में विभक्त रहती थी। क्षत्रिय राजा के क्षत्रिय अपत्यों को राजन्य कहते थे। राजन्य शब्द भाष्यकार के अनुसार जातिवाचक था। ये राजन्य लोग ही संघ के वास्तविक शासक होते थे।[6] प्रत्येक परिवार का मुखिया संघ-सभा का सदस्य होता था। लौकिक बोल के स्थविर,

---

१ मानुषाणां संघः ४ १ १२१ पृ १२१; स्त्रीणां संघः—४ १-८१, पृ० ९७।

२ ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री।—१-२-७३।

३ औदमेघ्यानां संघः औदमेघः ४ १-७८, पृ० ८१ बाभ्रवाणां संघः ४ १ १५१, पृ० १४८।

४ उत्सेधजीविनः संघा व्राताः।—५ २-२१, पृ० १७२।

५ क्षत्रियादेकराजादिति वक्तव्यं संघप्रतिषेधार्थम् ४ १ १६८।—पृ० १६२; संख्यापा संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु।—५ १-५८

६ राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणं कर्तव्यम्। राजन्यो नाम जातिः क्व मा भूत्? राजन इति।—४ १ १३७, पृ० १४४।

व्याख्यान् सूत्र में वर्ग इस बात की ओर संकेत करते हैं कि महत्त्वपूर्ण विषयों में परिवार का स्थविरतर सदस्य ही परिवार का प्रतिनिधित्व करता था।[1] इस प्रकार संघ के अनेक शासक होते थे और वे सब राजा कहलाते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने जनपद के राजा के लिए एकवचन का और संघ के राजाओं के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है।[2] सम्भवतः, इसीलिए पाणिनि ने अन्धक-वृष्णि-कुलों के राजन्यों के बहुवचन द्वन्द्व का ही उल्लेख किया है।[3] इस सूत्र की काशिकाकृत व्याख्या से यह भी पता चलता है कि एक क्षत्रिय जाति में सारे परिवार या उप-जातियाँ राजन्य नहीं होते थे। राजन्य केवल अभिषिक्त वंश्य कहलाते थे। उदाहरणार्थ अन्धकों और वृष्णियों में श्वाफल्क चैत्रक, शैनक शिनि और वासुदेव राजन्य थे किन्तु द्वैप्य और हैमायन राजन्य नहीं थे।[4] इस प्रकार अन्धक-वृष्णियों में राजन्यता कुछ विशिष्ट कुलों तक ही सीमित थी। अन्धक और वृष्णि पुराणों में सात्वत कहे गये हैं। ऐतरेय (८ १४) में सात्वतों ने इन्हें भोज कहा है। महाभारत (सभा० पर्व १७-५) के अनुसार दशार्ण (वृष्णि) राजहीन थे। कौटिल्य (११ १) ने इन्हें संघ माना है। द्वैपायन को अपमान करने के कारण ये अवसाद को प्राप्त हुए। इनके ईसा-पूर्व प्रथम शती के गण के नाम के सिक्के मिले हैं। इनपर राजा का नाम नहीं है। कनिंघम के मत से बिना राजा के नामवाले सिक्के गण के नाम पर हैं। यथा—'आर्जुनायनानां जय' (कनिंघम क्वाइन्स आफ एन० इण्डिया, पृ० ७० ७७ ७९ प्लेट-संख्या ४ ९ ८)। यौधेयों के सिक्के मन्त्रधरों और गण दोनों के नाम पर हैं। वृष्णियों के सिक्के सबसे भिन्न हैं, जो गण और राजन्य दोनों के नाम पर हैं। अमरकोष (अ० १०) के अनुसार राजाओं की सामान्य सभा (काउंसिल) को राजक और गण (सिनेट) को राजन्य कहते थे। प्राच्य देश में लिच्छवि-संघ में राजन्यों की संख्या बहुत अधिक थी। वहाँ लिच्छवियों का प्रत्येक कुल-वृद्ध राजन्य माना जाता था और संघ का सदस्य था।

आयुधजीविसंघ—संघ-शासित जनपदों के शासन-विधान एक-से नहीं थे। इनमें कुछ विकास की प्रारम्भिक अवस्था में थे और कुछ सुसंगठित। भाष्यकार के विभिन्न उद्धरणों से अनुमान होता है कि अन्धक वृष्णि, क्षुद्रक मालव यौधेय पञ्चाल और विदेह (?) समुन्नत संघ थे।[5] अविकसित संघ आयुधजीवी थे। पाणिनि ने ग्रामणियों, वेतनजीवियों, व्रातकों और [illegible] कों के साथ आयुधीयों या आयुधिकों का उल्लेख किया है। इन आयुधीय या आयुधिक लोगों की जीविका के साधन उनके आयुध थे।[6] पतंजलि ने आयुध शब्द की जो व्याख्या की है उसके अनुसार ये आयुधिक भाड़े के योद्धा क्षत्रिय जातियों के थे और सैनिक का कार्य करते थे। कौटिल्य ने आयुधजीवियों को शस्त्रोपजीवी कहा है जो राजशब्दोपजीवी के ठीक विपरीत है। डॉ० जायसवाल

---

१ ४ १ १६३, १६५ पृ० १५५ से १६१।

२ ४ १ १६८ पृ० १६२।

३ ६-२ ३४।

४ द्वैप्य हैमायनः राजन्य बहुवचनद्वन्द्वेऽभिषिक्तवंश्यानां क्षत्रियाणां बहुवचनम्। एते च आभिषिक्तवंश्याः।—वही काशि०।

५ ४ ४ ११ से १४ तक।

६ आयुधमस्मै तेनायुधम्।—१ १-५८, पृ० १०८।

के मत से जिनके शासन-विधान में युद्धकला का सर्वोपरि महत्त्व था वे शस्त्रोपजीवी तथा जिनके विधान में 'राजा' उपाधि धारण करने का अधिकार साधारण जनों को था वे जनपद राजशब्दोपजीवी कहे जाते थे। बौद्ध साहित्य में वर्णित प्रजातंत्र में निर्वाचित सभापति को राजा का पद मिलता था। यों नागरिक भी साधारण तौर पर राजा कहे गये हैं क्योंकि वे ही सर्वोच्च सत्ता का निर्माण करते थे और उनमें प्रत्येक राजा चुना जाने का अधिकारी भी था (हिन्दू पालिटी पृ० ६४)। रीज डविड्स (बुद्ध इण्डिया पृ० १९) के अनुसार गणराज्यों में एक सभापति चुना जाता था। वह सभा का सत्र न रहने पर राज्य का सभापति होता था। उसे राजा की उपाधि प्राप्त रहती थी। पाणिनि के अनुसार आयुधिकों के संघ आयुधजीविसंघ कहलाते थे। इनमें ब्राह्मण क्षत्रिय तथा अन्य लोग भी थे। क्षत्रियों में भी राजन्य तथा सामान्य क्षत्रिय ये दो भेद थे। इससे स्पष्ट होता है कि ये संघ राजनीतिक थे और इनका अपना शासन-विधान था। सत्ता राजन्यों के हाथ में थी। इन संघों में रहनेवाले ब्राह्मण भी आयुधजीवी थे या नहीं यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है किन्तु अधिक संकेत इस बात के हैं कि वे भी आयुधजीवी थे। वैसे आयुधजीविसंघ से इतना ही स्पष्ट होता है कि इन संघों की शासन-सत्ता आयुधजीवियों के हाथ में थी। ये संघ वाहीक प्रदेश में थे और उसके बाहर भी। वाहीक में इनका बाहुल्य था।[1] भाष्यकार कौण्डीवृस क्षुद्रक और मालव इन आयुधजीवी संघों से परिचित थे। गोपालव ब्राह्मण और शालंकायन राजन्य वाहीकस्थ आयुधजीवी संघ थे। मल्ल और मद्र संघ वाहीक के अन्तर्गत थे किन्तु आयुधजीवी नहीं। काशिकाकार ने शबर और पुलिन्द ये वाहीक-बाह्य आयुधजीवी संघ बतलाये हैं। काशिकाकार ने कौण्डीवृस क्षुद्रक और मालवों को वाहीकस्थ कहा है।[2] भाष्य में कौण्डीवृस और मद्रों का उल्लेख सम्मान के साथ हुआ है। कौण्डीवृसी वृन्दारिका कौण्डीवृस्य वृन्दारिका मद्री वृन्दारिका और मात्स्य वृन्दारिका शब्द इन लोगों की स्त्रियों के प्रति आदर के परिचायक हैं। केवल एक स्थान पर मद्र स्त्री की निन्दा की गई है और उसके कारण उसकी सन्तान को भी निन्दित कहा है किन्तु उसमें मद्र का महत्त्व नहीं है। वह 'ञ' प्रत्यय के विधान की सार्थकता के प्रमाण के लिए उदाहरण बनाया गया है। फिर भी कौण्डीवृसों और मद्रों का उल्लेख उनकी स्त्रियों के सन्दर्भ में ही सर्वत्र हुआ है, यह बात ध्यान देने योग्य है। क्या आजकल की कस्तोची स्त्रियों के समान ये स्त्रियाँ भी दूर-दूर तक आती-जाती थीं और इसीलिए दूर प्रान्तों के लोग भी उनसे परिचित थे? ऐसा ही तो मद्र स्त्री के कुत्सित होने के कारण उसकी सन्तान का 'वात्स्य जाल्म' कहा जाना और अधिक सार्थक हो जाता है। जो हो मद्रों से लोग सुपरिचित थे। मद्र आंगिरस थे और उनसे भिन्न भी। आंगिरसों के अपत्य मात्स्य्य कहलाते थे और अन्य लोग वात्स्य।[5] भाष्यकार ने उनके आंगिरस गोत्र का जोर देकर उल्लेख किया है।

---

१ आयुधजीवी संघाञ्ञ्यड् वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात्।—५ ३ ११४।

२ वही काशिका।

३ ६ २ ३४ पृ० ३९५।

४ गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च वात्स्यो जाल्मः।—४ १ १४७, पृ० १६५।

५ ४ १ १०८, पृ० १३४।

वृक दामन्यादि (दामनी औलपि आकिदन्ती काकरन्दि काकदन्ति शत्रुन्तपि सार्वसेनि बिन्दु मौञ्जायन उलभ और सावित्रीपुत्र) त्रिगर्तषष्ठ (कौण्डोपरथ दाण्डकि क्रौष्टकि जालमानि ब्रह्मगुप्तीय जानकि या जालकि) पर्श्वादि (पर्शु असुर, रक्षस् बाह्लीक वयस् मरुत् दशार्ह पिशाच विशाल अशनि कार्षापण सत्वत् और वसु) तथा यौधेयादि (यौधेय कौधेय शौभ्रेय शौक्रेय ज्याबानेय धार्तेय वार्तेय जाबालेय त्रिगर्त भरत और उशीनर) ये वाहीक प्रदेश में बाहर के आयुधजीवी गण थे।[1] यह भी मनोरंजक बात है कि वाहीक-संघों के समान पर्श्वादि और यौधेयादि संघों की स्त्रियों के भी संघमूलक नामों के लिए पृथक नियम थे। उदाहरणार्थ—क्षत्रिय गणों तथा उनके जनपदों में स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध की चरमोत्कृष्टता बतलाने के लिए उनका रूप एक ही होता था। आङ्ग या पर्शव यह बहुवचनान्त प्रयोग अंग या पर्शु क्षत्रियों और जनपदों के लिए समान होता था किन्तु स्त्रियाँ आङ्गय या पार्शव्य कहलाती थीं।[2] पुन वसन तथा समस्त आयुधजीवि-संघों में स्त्री-पुरुषों के बीच यह अन्तर किया जाता था। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि जनपदों का स्वतन्त्र अस्तित्व उनके योद्धा पुरुषों के कारण माना जाता था स्त्रियों के कारण नहीं। पर्शु रक्षस और असुर जनपदों की पर्शू रक्षा और असुरी स्त्रियों का उल्लेख भाष्यकार ने किया है एवं यौधेयादि संघों की स्त्रियों का सामान्यत नाम-ग्रहण किया है।[3]

वृक या वार्केण्य तथा यौधेयादि गणों में त्रिगर्तषष्ठ[4] भरत[5] और उशीनर से भाष्यकार[6] भली भाँति परिचित थे। उत्कृष्ट और उग्रत यौधेय संघ के विषय में कोई जानकारी भाष्य से नहीं प्राप्त होती। पाणिनि ने पर्वताभिजनीय आयुधजीवियों के लिए विशेष प्रत्यय का विधान किया है। काशिकाकार ने हृद्गोल अन्धकवर्त्त और रोहितगिरि पर्वत को आयुधजीवियों का अभिजन बतलाया है। उन्होंने शाकल्य को इनका निवास कहा है। इससे पता चलता है कि आयुधजीवी क्षत्रिय पहले इन पर्वतों के ही निवासी थे। वहाँ से वे धीरे-धीरे उत्तर और मध्य देश में फैल गये।[7] डॉ॰ वा॰ श॰ अग्रवाल के मत से (पा॰ पृ॰ ४१९) आयुधजीवियों का प्रदेश कश्मीर से अफगानिस्तान (रोहितगिरि)तक फैला हुआ था। हृद्गोल अफगानिस्तान के वर्तमान हिंद और अन्धकवर्त्त अफगानिस्तान का उत्तर पूर्वी जिला अन्दराब है। आयुधजीवी संघ उत्तर भारत में सिन्धु के पश्चिम हिन्दुकुश के चारों ओर, सीमान्त-क्षेत्र एवं अफगानिस्तान के एक भू-भाग में थे। इनमें वर्तमान की जातियाँ भी शामिल थीं। भाष्यकार वाहव संघों

---

१ ५ ३ ११५ से ११७।
२ ५ ३ ११९ तथा २-४ ६२।
३ ४ १ १७७, पृ॰ २६५।
४ ४ १ १११ पृ॰ १५४।
५ ८ १-९, पृ॰ २७०।
६ २-४-६६ पृ॰ ५०४।
७ २ ४-१९, पृ॰ ४७०।
८ ४ ३ ९१ काशिका।

से सुपरिचित थे। उन्होंने इनका उल्लेख तो किया ही है। वार्तिका वरद बृन्दारिका या वारद बृन्दारिका की भी चर्चा की है।[1]

व्रातीन—इनके अतिरिक्त भाष्यकार ने व्रातसंघों का वर्णन किया है। ये संघ संभवतः राजनीतिक न होकर जीविकामूलक थे जिनमें अनेक जातियों के लोग सम्मिलित रहते थे। इनकी कोई निश्चित जीविका न थी। ये लोग उत्सेध द्वारा निर्वाह करते थे। इनके कारण इनके जीविका-कर्म का नाम भी व्रात पड़ गया था और जो लोग व्रात-कर्म द्वारा जीविकार्जन करते थे वे व्रातीन कहे जाते थे। पाणिनि ने भी व्रात-कर्म को जीविका का साधन बतलाया है।[2] काशिकाकार ने उत्सेध शब्द का अर्थ शरीर माना है और उत्सेधजीवी का अर्थ शरीरायास से जीनेवाला। उन्होंने व्रात-संघ के सदस्यों की ही व्रातीन संज्ञा मानी है। संघ से बाहर के उत्सेधजीवी व्रातीन नहीं कहलाते थे।[3] काशिकाकार ने ऐसे संघों में कपोतपाक व्रीहिमत् कौंजायन और ब्राध्नायन का नामोल्लेख भी किया है। व्रात्य वैदिककालीन संघ हैं। शतपथ ब्रा० (४ १ ५) में गाँव-गाँव घूमने वाले धर्मरहित मानव का वर्णन है। सम्भवतः वर्तमान कंजड़ तथा अन्य घुमक्कड़ जातियाँ जो आज भी शारीरिक श्रम और उत्सेध दोनों से निर्वाह करती हैं व्रातीनों के ही अवशेष रूप हैं। इनके नाम प्रायः काशिका में उल्लिखित नामों से मिलते-जुलते हैं। इन जातियों में प्रायः जरायमपेशा हैं। डॉ० वा० श० अग्रवाल व्रातों को राजनीतिक संघ मानते हैं। उनके मत से वे एक नायक के नीचे जिसकी स्थिति ग्रामणी के समान ही थी और जो नायक के चिह्न के रूप में राजतनिष्क (आभूषण) पहनता था संगठित थीं। ये लोग राजनीतिक विकास की पहली सीढ़ी पर थे।[5] पंचविंश ब्राह्मण (९ १८) भी व्रात्यों से परिचित है। तैत्तिरीय संहिता (२ ३-१०१) तथा मैत्रायणीय सं० (२-२-१) के अनुसार व्रात आत्मावलम्बी कार्पोरेशन था और ग्रामणी सम्भवतः उसका निर्वाचित अधिकारी होता था। वह ग्रामवासी भी था।

पूग—पाणिनि ने पूगों का उल्लेख किया है। काशिका के अनुसार ये भिन्न-भिन्न जातियों के संघ थे। ये लोग भी व्रातों के समान अनियतवृत्ति लोग थे और द्रव्य-प्राप्ति के लिए संगठित थे। अर्थकाम प्रधान होने से अनुमान होता है कि ये लोग उत्सेध का आश्रय न लेकर व्यापारादि को जीविका का साधन बनाते थे। ये व्रातों की अपेक्षा अधिक सभ्य एवं संस्कृत थे। ग्रामणी इनका नेता होता था जो सामान्यतया वैश्य होता था। काशिका ने पूगों को गण कहा है और उन गणों के नाम गिनाये हैं। उनके ये संगठन राजनीतिक मालूम होते हैं। सम्भवतः पूग राजनीतिक एवं व्यापारिक दोनों प्रकार के संगठन थे। राजनीतिकों का ग्रामणी योद्धा और व्यापारियों का

---

१ ४-१ १९० पृ० १४१ तथा ६ ३ ३४ पृ० ३२०।

२ व्रातेन जीवतीत्युच्यते किं व्रातं नाम। नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः संघा व्राताः। तेषां कर्म व्रातं। व्रातकर्मणा जीवतीति व्रातीनः।—५ २-२१ पृ ३७२।

३ तेषामेव व्रातानामन्यतम उच्यते। यस्त्वन्यस्तदीयेन जीवति तत्र नेष्यते।—वही काशिका

४ ५ ३-११३।

५ इण्डिया एज नोन टु पाणिनि पृ० ४४०।

वैश्य होता था। पूगों में कुमारों के अपने अलग संगठन थे। राजतन्त्र के कुमारव्यवस्था के समान पूगों की कुमार-संस्थाओं का अपने गणों के भीतर स्वतन्त्र अस्तित्व एवं महत्त्व था। काशिका में कुमारचातक, कुमारकोहडजव, कुमारबलाहक और कुमारजीमूत नामक कुमारपूगों का उल्लेख मिलता है।[1] कुछ संघों के नाम ग्रामणी के नाम पर होते थे और कुछ के स्वतन्त्र। ग्रामणी यदि देवदत्त या यज्ञदत्त हुआ तो संघ का नाम देवदत्तक या यज्ञदत्तक (बहुवचनान्त) होता था। अन्य संघों के लोहध्वज, बलाहक, जीमूत, शिबि, चातक आदि के नाम थे।[2]

श्रेणि—श्रेणि सबसे क्षीण जनतन्त्रात्मक संगठन था। ये श्रेणियाँ भिन्न-भिन्न जीविका या व्यापारवालों के छोटे-छोटे संगठन थे। भाष्यकार ने असंगठित वर्गों को समष्टि कर उनके श्रेणीकरण का कथन किया है। पाणिनि के श्रेण्यादि गण में पूग का भी उल्लेख है। पूगकृत शब्द का अर्थ है—अपूग वर्गों का पूग बनाना। पूग कई श्रेणियों को मिलाकर बनाये जाते थे। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि विद्यमान श्रेणियों के विषय में कुछ करने को श्रेणीकरण नहीं कहते। अविद्यमान श्रेणियों का श्रेणिरूप में संगठन ही श्रेणीकरण कहलाता है। श्रेणि व्यापारिक संगठन था राजनीतिक संस्था नहीं। सम्भव है, इनका विधान राजनीतिक विधानों के समान रहा हो। पाणिनि ने गण और संघ के साथ पूगों का स्मरण किया है।[3]

श्रेणि, पूग, गण और संघ क्रमशः उत्तरोत्तर विकसित संगठन थे जिनकी रचना जनतन्त्रात्मक आधार पर थी भले ही जनतन्त्रात्मकता का वर्तमान रूप उनमें न मिले किन्तु यदि उनके विकास में बाधा उपस्थित न हुई होती तो बहुत सम्भव था कि आज उनका स्वरूप इसी प्रकार होता। अपनी तत्कालीन सीमा में ये गण और संघ अभिजात क्षत्रियों के कुल पर आधृत प्रतिनिधित्व से आगे नहीं बढ़ पाए। श्रेणि और पूग की रचना के सिद्धान्तों की विस्तृत जानकारी उपलब्ध न होने से उनके विषय में कोई निश्चित मत प्रकट करना न्याय्य न होगा।

संघों के घटक—भाष्यकार ने संघ की परिभाषा करते हुए उसे समूह और समुदाय का पर्यायवाची माना है[4] तथा ५, १० और २० के संघों का उल्लेख किया है।[5] ये संघ गणों के समूह थे। अनेक जनपद अवयवों में विभक्त थे। इनमें प्रत्येक अवयव का पृथक् शासन होता था। भले ही वह अन्य अवयवों के साथ एक ही पूर्वज की सन्तान रहा हो। इस प्रकार के अवान्तर विभाग शाल्व, त्रिगर्त, यौधेय, शालंकायन आदि संघों में विद्यमान थे। आयुधजीवी गण तो अनेक गोत्रों के समवाय से ही बने थे। इन छोटे-छोटे गणों के संघों की ओर ही पतंजलि ने पंचक संघ आदि से संकेत किया है। डॉ॰ जायसवाल के मत में पतंजलि के पंचक, दशक और विंशक शब्द संघों की कार्यकारिणी के सदस्यों के बोधक हैं।[6] यह इसी अर्थ में सम्भावित हो सकता है कि महत्त्व

---

१ ६ २ २८ काशिका
२ ५ ३ ११२ काशिका।
३ ५ २-५८
४ संघः समूहः समुदाय इत्यनर्थान्तरम्।—५ १-५९, पृ० ३३१।
५ ५ १-५८, पृ० ३२६ तथा ५ १-५९, पृ० ३३०।
६. पाणिनि, पृ० ४३१।

पूर्ण विषयों के सम्बन्ध में निर्णय करते समय संघ अपने घटकों से परामर्श करते हों और परामर्श काल में प्रत्येक घटक गण कार्यकारिणी में एक सदस्य के समान माना जाता हो।[1] इस प्रकार ये संघ पाँच दस या बीस गणों के समूह थे। वर्तमान प्रजातन्त्र देशों में से कुछ के संविधान में जिनमें दो व्यवस्थापिका सभाएँ होती हैं प्रत्येक राज्य को एक इकाई मानकर राज्यसभा में उन्हें समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। त्रिशक संघ भी बीस इकाइयों का एक राजनीतिक संगठन रहा होगा भले ही ये इकाइयाँ छोटी-छोटी रही हों। भिन्न-भिन्न क्षत्रिय जातियों के अपने गण एक संघ के अन्तर्गत संगठित थे। गण संघ राजनीतिक संस्था थी। गणों की सदस्यता को प्राप्त जन गण्य कहलाते थे। गण्य संभवतः संघों की सामान्य सभा के सदस्य होते थे।[2] गण्य होना गौरव की बात थी। आज भी यह शब्द सम्मान का द्योतक माना जाता है।

वर्ग्य और गृह्य—संघों के घटक या इकाइयाँ कभी-कभी वर्गों में विभक्त हो जाते थे। किसी इकाई का प्रधान यदि अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली हुआ तो वह स्वयं नेता बन कुछ घटकों को अपना अनुयायी बना लेता था। संघ में यदि उसका कोई प्रतिस्पर्धी निकल आया तो सारा संघ दो या अधिक पर अधिकतर दो वर्गों या पक्षों में बँट जाता था। ये वर्ग किसी स्थायी सैद्धान्तिक आधार पर नहीं बनते थे अपितु वैयक्तिक प्रभाव पर आश्रित थे। पाणिनि ने पंचत् और दशत् वर्गों का उल्लेख किया है।[3] संघों और वर्गों की संख्याएँ उपलक्षण-मात्र नहीं हैं। भाष्यकार और पाणिनि की दृष्टि में ऐसे संघ थे जिनके पाँच दस और बीस घटक थे। इसी प्रकार पाँच और दस के वर्ग भी उस समय प्रसिद्ध रहे होंगे। भाष्यकार ने एक ही संघ के अन्तर्गत अक्रूर और वासुदेव के दो वर्गों की चर्चा की है। इन वर्गों के सदस्य क्रमशः अक्रूरवर्ग्य या अक्रूरवर्गीण और वासुदेव वर्ग्य या वासुदेववर्गीण कहलाते थे। काशिकाकार ने भी (३-१ ११९) वासुदेव और अर्जुन के गृह्यों (पक्ष्यों) का उल्लेख किया है। इन वर्गों को आधुनिक अर्थ में पार्टी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनके पीछे न तो कोई सैद्धान्तिक आधार था और न हर संघ में सदा इनका अस्तित्व ही रहता था।

पूरणी संख्या—पतंजलि ने पूग गण और संघ की पूरणी संख्या पर विचार किया है, जिससे स्पष्ट है कि इन तीनों संस्थाओं की अपनी सभाएँ या परिषदें थीं। यह भी अनुमान होता है कि ये संगठन क्रमशः बृहत्तर थे। इनकी सभाओं में कम-से-कम जितने सदस्यों की उपस्थिति कार्य संचालन के लिए आवश्यक थी वही उनकी पूरणी संख्या मानी जाती थी। ऐसी पूरणी संख्या को क्रमशः पूगतिथ गणतिथ और संघतिथ कहते थे। विशाखादिगण में भी वर्ग पूग और गण का एक साथ ग्रहण है। इससे भी इनकी उत्तरोत्तर विशालता के अनुमान की पुष्टि होती है।[4]

---

१ अपेक्षय एकमत्यः कृताः एकीभूताः। यथा हि ओदनम् एवं किञ्चित् क्रियते तथा मा भूदिति।—२-१-५९, पृ० ११६।

२ ४-४-८४।

३ ५ १ ६०।

४. ४-२-१०४ पृ० २०८।

५ ४ १-५४।

अंक और लक्षण—भाष्यकार ने अंक और लक्षण का उल्लेख किया है।[1] लक्षण लक्षित व्यक्ति का अपना निजी चिह्न होता है जो उसे अन्यों से पृथक् करता है। यह लक्षित व्यक्ति या वस्तु में ही रहता है। उदाहरणार्थ, किसी में विद्या की उत्कृष्टता उसकी परम्परागत विशेषता होती है। यह उसका लक्षण माना जायगा। अंक बाहर से आरोपित चिह्न होता है। गायों बैलों आदि पर पहचान के लिए बनाये गये चिह्न अंक कहलाते हैं।[2] शासन में प्रत्येक राज्य अपने लक्षण रखता था जिनका उपयोग अन्य राज्यों के साथ व्यवहार में होता था। मुद्राओं पर भी ये लक्षण अंकित रहते थे। इसीलिए, कौटिल्य ने मुद्रा बनानेवाले अधिकारी को लक्षणाध्यक्ष कहा है। डॉ० जायसवाल के मत से अंक विशिष्ट निर्वाचित अधिकारी की निजी मुहर था।

न्याय-व्यवस्था

धर्म और न्याय—भाष्यकार के समय तक धर्मसूत्रों की रचना हो चुकी थी और उनके आदेश आप्तवाक्यवत् मान्य थे। ईश्वर के बाद धर्मशास्त्रों के ही नियमों का स्थान था।[3] धर्मसूत्रकारों ने दो प्रकार के धर्मनियमों का निरूपण किया था। एक वे थे जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के अपने निजी आचार-व्यवहार से था और दूसरे वे थे जो प्रत्यक्ष रूप से समाज से सम्बद्ध थे।[4] परम्परा से चली आती हुई प्रथाएँ भी धर्म के अन्तर्गत मानी जाती थीं।[5] स्थूल रूप में समाज द्वारा स्वीकृत उचित कर्म धर्म्य थे। उनके अनुकूल आचरण करनेवाला धार्मिक और उनके विरुद्ध व्यवहार करनेवाला अधार्मिक माना जाता था। धर्म के अनुकूल काम धर्म्य था।[6] न्याय्य और धर्म्य प्रायः समानार्थी थे। न्याय्य कृत्य वह हो सकता था जो हर काल और देश में उचित ठहराया जा सकता है।[7] यदि कभी किसी बात की न्याय्यता के विषय में सन्देह उठ खड़ा होता तो उसका निर्णय किसी विशेष दक्ष पुरुष द्वारा करा लिया जाता था। इस निर्णेता को स्थेय कहते थे।[8] स्थेय का निर्वाचन विवाद से सम्बद्ध पक्ष करते थे।[9]

विवादों की श्रेणियाँ—कुछ विवाद राजकीय स्तर पर भी होते हैं। ये दो प्रकार के

---

१ ४ १-१२७, पृ० २५४।

२ लक्षणं लक्षणभूतस्यैव चिह्नभूतं स्वं यथा विद्याविद्यानाम्। अङ्कस्तु पदार्थस्योपि पदार्थानां स्वं न भवति।—वही काशि०।

३ नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति।—५ १ ११९, पृ० ३५२।

४ ४-२-४६।

५ ४ ४ ४७।

६ ६ २ ६५।

७. धर्मञ्चरति अधर्मञ्चेति धर्मतथ्यम्।—४ ४ ४१ पृ० २७८।

८. ४-४ ९२।

९. ३-१ १७।

१० विवादपदनिर्णेता लोके स्थेय इत्युच्यते।—१ ३-२३ काशि०।

होते हैं—साम्पत्तिक और आपराधिक। सम्पत्ति-सम्बन्धी मामले व्यवहार कहलाते थे।[1] इनके पक्षों को परिवादी[2] या परिवादक[3] कहते थे और निर्णेता को धर्मपति।[4] निर्णयों पर पहुँचने में कभी-कभी शपथ का भी आश्रय लिया जाता था[5] पर सामान्यतया साक्ष्य के आधार पर निर्णय किये जाते थे। साक्षी पारिभाषिक शब्द था और वह साक्षात् द्रष्टा ही हो सकता था। यों साक्षात् द्रष्टा धनिक या उत्तमर्ण और अधमर्ण भी होते हैं किन्तु भाष्यकार के अनुसार इन दोनों से भिन्न तीसरा उपद्रष्टा ही साक्षी माना जा सकता था।[6] जमानतदार को प्रतिभू कहते थे। सम्पत्ति में भागीदार दायाद अंशक या अंशहारी और उनकी सम्पत्ति दायाद कहलाती थी।[7] पाणिनि ने सम्पत्ति के उत्तरोत्तर प्रकृष्ट अधिकारियों को स्वामी ईश्वर और अधिपति नाम दिये हैं[8] और साक्षी दायाद तथा प्रतिभू का भी उनके साथ ही उल्लेख किया है।

व्यवहार-न्यायालय में ऐसे मामले आते थे जिनमें एक पक्ष अपह्नव से काम लेता था।[9] पाणिनि ने धन लेकर या बिना धन दिये न लेने या देने के अपलाप के विषय में प्रयोगों के नियमन के लिए सूत्र बनाया है। काशिकाकार ने शत और सहस्र रुपयों के अपलाप के उदाहरण दिये हैं।[10] ऐसे विषयों में धर्म्य और न्याय्य की जाँच के लिए शपथ का भी आश्रय लिया जाता था।[11] परीक्षा के बाद जिस अभियोग में सचाई प्राप्त नहीं होती थी उसे असार कहते थे।[12] झूठे मुकदमे के विषय में प्रयुक्त सार शब्द पारिभाषिक था और वह नपुंसकलिंग में ही प्रयुक्त होता था। सामान्य सार शब्द जो कि उत्कर्ष-बोधक है पुंल्लिङ्ग था।[13]

आदर्श न्याय—न्याय में समस्त धनी निर्धन या सशक्त और शक्तिहीन का भेद नहीं था।

---

१ २ ३-५७।

२ ३-४-१४२।

३ ३-२-१४८।

४ धर्मपत्यादि मम।—४-१-८४।

५ सत्यापशपथे सत्येन शापयेद् विप्रम (मनु०)। इति तस्यार्थ निर्देशः।—५ ४-६६ का०।

६. साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् संज्ञायामिति किमर्थम्? त्रिभिः साक्षाद्दृष्टं भवति। *यश्च ददाति यश्च हीयते यश्चोपद्रष्टा। तत्र सर्वत्र प्रत्ययः प्राप्नोति। संज्ञाग्रहणसामर्थ्याद्* धनिकान्तेवासिनोर्न भवति।—५ २ ९१ पृ ४०२।

७ २-३-३९।

८ १ ४-५०, पृ० १७५ तथा २ १ १, पृ० २२८।

९ १ ३-४४।

१० वही।

११ ऐकागारिकट्चौरे इत्युक्तं तर्हि प्रयोजनं चौर इति वक्ष्यामि।—५ १ ११३ पृ० ३४।

१२ १ १ ९५, पृ ६५।

१३ सारशब्द उत्कर्षे पुंल्लिङ्गो न्यायादनपेते नपुंसकं तत्सारमिति।—२-४ ३१ काशि०।

इसके विपरीत स्थिति अरण्यों की थी जहाँ बलवान् कमजोर को निगल जाता है। इस स्थिति का भाष्यकार ने 'आरण्यक न्याय'[१] कहा है, जिसके निराकरण के लिए न्याय विभाग की स्थापना की गई थी।

स्तैन्यापराध—आपराधिक मामलों में जिनके लिए राजदण्ड दिया जाता था स्तैन्य दस्युकार्य और हत्या प्रमुख माने जाते थे। स्तैन्य के अनेक प्रकार थे। अकेले घर में किसी को न देखकर घुस जाना[२] और द्वार बन्द हुए तो किवाड़ तोड़कर आक्रमण करके आना इस युग में सामान्य बात थी।[३] मूष, चोर और दस्यु इन तीन के भयों का भाष्य में पुनः-पुनः उल्लेख इस बात का प्रमाण है। चोरों के नाम उनके चौर्य प्रकार पर रखे गये थे। यथा, ऐकागारिक पाटच्चर आदि। सामान्य चोर के लिए तस्कर,[५] 'प्रणाय्य'[६] आदि तथा डकैत के लिए दस्यु शब्द का प्रयोग भाष्य में मिलता है। दस्यु-कर्म साहसिक्य या साहस-कर्म भी कहलाता था। भाष्यकार ने कहा है कि अधम चोर आँखों से काजल तक चुरा सकता है और अच्छा डकैत जागते हुए का भी रक्त पी सकता है। उन्होंने इन्हें चोरकल्प और दस्यु-कल्प की संज्ञा दी है।[७] इन दोनों के बीच की श्रेणी लुण्टकों की थी।[८] ये लोग रास्ते के किनारे छिपे रहते थे और राहगीरों पर अचानक छापा मारकर उन्हें लूट लेते थे। ये लोग पारिपन्थिक कहलाते थे।[९] कभी-कभी वे यात्रियों को मार डालते थे या बाँधकर डाल देते थे। एक गाँव से दूसरे गाँव को जाने में चोरों और लुटेरों का भय अधिक रहता था।[१०] राज्य चोरों और दस्युओं से लोगों की रक्षा करने में समर्थ नहीं थे, यह स्पष्ट है। इसीलिए, भाष्यकार ने प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष को चारों ओर से दस्युओं से बच-बचकर रहने का परामर्श दिया है।[११]

हत्यापराध—इनके अतिरिक्त हत्याओं का प्रचार पतंजलि के समय में बहुत अधिक था।

---

१ ४-२ १२६, पृ० २१६।

२ ३ ३-४४ काशि०।

३ ३-२-४४।

४ १ ४-५०, पृ० ३७५ तथा २-१ १, पृ० ३३८।

५ तद्बृहती न्यपतोश्चोरदेवतयोः सुट तलोपश्च—तस्करः।—६ १ १५७, पृ० १९४।

६ ३-१ १२८।

७ चोरकपोयम्। अप्यवमन्नो राज्यानं हरेत्। दस्युकपोयम्। अप्ययं जाग्रतो लोहितं पिबेत्।—५ २ ६६, पृ० ४६०।

८ ३-२ १५५।

९ ४-४ ३६।

१० चोरेभ्यस्त्रायते, दस्युभ्यस्त्रायते इति।—२ ३-२६, पृ० ४३०।

११ य एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति यदीमे चोराः पश्यन्ति ध्रुवमस्य वध बन्धन परिक्लेशा इति स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तयति।—१ ४ २४, पृ० ३६२, तथा २-३ २६, पृ० ४३०।

मातृहा पितृहा भ्रातृहा[1] भ्रूणहा[2] कुमारघाती राजघ[3] और सिर फोड़ डालनेवाले शीर्षघाती[4] लोगों का इस युग में बाहुल्य था। पुरुष की हत्या के लिए भाष्य में 'पौरुषेयवध' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[5] आत्महत्या अपराध मानी जाती थी या नहीं यह भाष्य में स्पष्ट नहीं है किन्तु कष्टों से ऊबकर लोग आत्मघात अवश्य करते थे।[6] आत्मघात का सरल उपाय था विष-भक्षण। ब्राह्मणों में पत्नियों को और वृषलों में पति को मार डालना सामान्य बात थी। ब्राह्मणों और वृषलों का यह एक व्यसन ही बन गया था। ब्रह्महत्या यद्यपि बहुत बड़ा अपराध माना जाता था फिर भी ब्रह्महत्याएँ होती थीं। यही बात भ्रूणहत्या के विषय में कही जा सकती है। भाष्य में भ्रूण हत्या का बार-बार उल्लेख मिलता है।[8]

दण्ड—यह तो स्पष्ट नहीं है कि किस अपराध के लिए राज्य की ओर से कौन-सा दण्ड दिया जाता था फिर भी दण्ड के प्रकारों के विषय में भाष्य से कई सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। आर्थिक दण्ड वैयक्तिक भी होते थे और सामूहिक भी। सामूहिक दण्ड कुटुम्ब-विशेष के लिए दिये जाते थे। राज्य इस बात की चिन्ता नहीं करता था कि दण्डित कुल के किस सदस्य ने दण्ड का रुपया चुकाया और किसने नहीं। जुरमाने की पूरी रकम का वसूल हो जाना उसके लिए पर्याप्त था। राजा कोश धन के लोभी थे।[9] भाष्य में द्विपाद और द्विशत कार्षापण के दण्ड का उल्लेख है।[10]

शारीरिक दण्ड भी कई प्रकार के थे। यथा—सामान्य मारपीट कोड़े लगाना मूसल से मारना[11] अंगविशेष काट लेना सिर काट लेना कुत्तों से चिथवाकर मार डालना विष देकर मार डालना[12] तथा सूली-फाँसी द्वारा जिसे वध्य की सामान्य संज्ञा दी गई थी मार देना।

---

१ ३-२-८७, पृ० २१५।

२ वही।

३ ३-२-५५, पृ० २१९।

४ ३-२-८४ पृ० २१३।

५ ५ १ १०, पृ० ३२०।

६ १ ४-५० पृ० १७५।

७ ३-२-५२, पृ० २१८।

८ ३-२-८५, पृ० २१५।

९ ३ १ १०८, पृ० १८५।

१० धर्मः शतं दण्ड्यताम्। अचिरकाल राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं दण्डयन्ति।—१ १ १ पृ० १०३।

११ ५ ४ २, पृ० ४८२।

१२ ५ १ ६४, ६५, ६६, तथा दण्डादि गण में दण्ड मूसल, कशा, वध।

१३ ४ ४-९१।

जिसका अपराध सिर काट लेने योग्य माना जाता था उसे शीर्षच्छेद्य या शीर्षच्छेदिक कहते थे।[1] इसी प्रकार, दण्ड्य मुण्ड्य कश्य बध्य आदि विशेषण अपराधानुसार निश्चित किये गये थे। अंगच्छेद के योग्य अपराधी छेद्य कहलाता था।[2] अपराधी वृषल को कुत्तों से भी मरवा डाला जाता था।[3] यही हाल दस्युओं का किया जाता था।[4]

---

१ शीर्षच्छेदात्यच ५ १ ६५।
२ ५ १-७६, पृ० १३५।
३ श्वपचस्यो बधम् ३ १ १०७, पृ० १८५।
४ बाध्यते दस्युहत्यायदस्युहत्या श्वहत्या वर्तते।—३-१ १०८, पृ० १८५।

अध्याय ३

सेना

युद्ध-कला—भाष्य में व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों प्रकार के युद्धों का उल्लेख मिलता है। व्यक्तिगत शक्ति एवं युद्ध-कला-नैपुण्य शोभा की वस्तु थे। मल्लविद्या मुष्टिक-विद्या तथा नानाप्रकार की प्रहरण क्रीडाएँ[1] जिनमें लाठी तथा आत्मरक्षा के अन्य साधनों का अभ्यास किया जाता था इस समय खूब प्रचलित थीं। मल्ल और मुष्टिक की पकड़ के लिए एक विशिष्ट शब्द 'संग्राह'[2] प्रचलित था। पुरुष व्याघ्रवत् शूर बनने में गौरव का अनुभव करते थे।[3] जिन गाँवों में वीर पुरुष रहते थे उनका विशेष सम्मान होता था। वीरों की इन कलाओं में प्रतियोगिताएँ भी होती थीं। स्पर्धा में प्रतिपक्षी को ललकारने में 'आह्वयते' आदि ह्वे धातु के आत्मनेपदीय रूप व्यवहृत होते थे।[5]

दूसरे प्रकार के युद्ध सामान्यतया राजाओं के बीच होते थे।[6] शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए तथा प्रतिपक्षी पर प्रहार करने के लिए राजा लोग दृढ़ सेनाओं का संगठन करते थे। ये युद्ध सेना के बल पर लड़े जाते थे। परिमाण तथा गुण के आधार पर सामान्य परम और उत्तम सेनाएँ थीं। जय-पराजय इन्हीं के सुसंगठन पर निर्भर थी।[9]

सेना के अंग—सेना के चार अंग थे—हाथी घोड़े रथ और पैदल। भाष्यकार ने इन्हीं के द्वारा संग्राम का प्रतिविधान बतलाया है।[10] संग्राम शब्द से अनुमान होता है कि प्रारम्भ में ग्राम रक्षा के लिए एकत्र जन-समूह और बाद में युद्धार्थ एकत्र समूह संग्राम का अंग रहा। भाष्य से यह स्पष्ट नहीं होता कि सेना में किस वर्ण के लोग रहते थे और जो लोग रहते थे वे स्थायी होते थे

---

१ ४-२-५७।

२ मल्लस्य संघाटः मुष्टिकस्य संग्राहः।—३-३-३६, पृ० १०३।

३ पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः पुरुषोऽयं व्याघ्र इव बलवान्।—२ १-५६, पृ० ११२।

४ ५-१ ६९, पृ० १२३।

५ १ ३-३१।

६ सम्प्रहरन्ते राजानः।—१ ३-१५, पृ० ६०।

७ वृद्ध सेनो राजा—२ ४-१९, पृ० ४००।

८ वही।

९ पराजयति सेना।—१ ३-१९, पृ० ६०।

१० देवदत्तस्य समाप्तौ सरार्थरोचनेन च यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते तथा संग्रामे हस्त्यश्वरथपदातिभिः।—१ १-७२, पृ० ४४७।

या केवल युद्ध प्रसंगों पर भरती कर लिये जाते थे। डॉ० जायसवाल के अनुसार ईसा-पूर्व छठी शताब्दी तक राजाओं के पास स्थायी सेना नहीं रहती थी।[1] इस समय तक संगठित सेना के पत्ति और रथी ये दो ही अंग थे। चतुरंगबल महाभारत में ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। भाष्यकार के समय में सेनाओं के स्पष्ट विभाग हो चुके थे एवं हस्ती और अश्व उसके महत्त्वपूर्ण अंग थे।[2] वैदिक काल में भी सेना के दो ही अंग मिलते हैं—पत्ति और रथी। महाभारत (शान्ति पर्व, १०३ ३८) में सेना के चतुरंगों का वर्णन है। मुख्य चतुरंगों के अतिरिक्त भारवाहक, शिल्पी, गुप्तचर और स्थानीय निर्देष्टा इन्हें मिलाकर सेना के कुल आठ अंग हो जाते हैं।[3]

सेना-संगठन—सेना का संगठन सामान्यतया क्षत्रियों से होता था किन्तु ब्राह्मण भी सेना में काम करते थे। काशिकाकार ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है। सेनापति पुष्यमित्र शुंग स्वयं ब्राह्मण थे किन्तु व अपवाद-मात्र थे इसीलिए युद्धविद्या और धनुर्विद्या क्षत्रविद्या मानी जाती थी। भाष्य में भी इसे क्षत्र-विद्या ही कहा है।[4] वैदिक काल में अवश्य विश् युद्ध में बराबर भाग लेते थे।[5] ग्रामणी जिसपर ग्राम रक्षा का भार रहता था वैश्य ही होता था। फिर भी पी० सी० चक्रवर्ती के मत से यह धारणा सैनिक का कार्य केवल क्षत्रियों का एकाधिकार था भ्रान्त है। ह्वीलर (हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया भाग १ पृ० ७७) का कथन है कि कुछ अतिप्राकृत कहानियों को छोड़कर अन्यत्र कहीं ब्राह्मण सैनिक के रूप में चित्रित नहीं हुए हैं, ठीक नहीं जान पड़ता।

सेनापति—सेनापति सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। भाष्यकार ने इसे सेनानी कहा है।[6] सेनानी और सूत शतपथ (५ ३ १)-काल में ही राजा के रत्नियों में गिने जाते थे। सेनानी के साथ बार-बार उल्लिखित ग्रामणी भी ग्राम में सैनिक-मुख्य का काम करता था। भाष्यकार के समय में ग्रामणी और सेनानी दोनों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सैनिक-पद थे।[10] इसके कारण इनके परिवार का कुल भी सम्मानित माने जाते थे। सेनानिपुत्र और सेनानिकुमारीपुत्र का राजकुमारी और राजकुमारीपुत्र के साथ उल्लेख उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा का परिचायक है।[11]

---

१ हिन्दू पालिटी, पृ० १८८, ९०।

२ ५-४-२, पृ० ४६१ तथा २ ४ १२, पृ० ४६६।

३ शान्तिपर्व, १ ३ १८ तथा वी० के० मजूमदार मिलिटरी सिस्टम इन एन० इण्डिया।

४ ब्राह्मणसेनम्।—१ ४-२५।

५ ४-९-१०, पृ० १८७।

६ ऋग्० १ ११ ३ तथा १ १२६-५।

७ वै० इण्डेक्स १-२०४।

८ दि आर्ट ऑफ वार इन० इण्डिया।

९ १ १ ६० पृ० १६२

१० ६ १-२, पृ० २९७।

११ १-२-४८ पृ० ५४५ तथा ६ १-७१।

ग्रामणिभोगीन और सेनानिभोगीन शब्द उन्हें दी जानेवाली शारीरिक सुख-सुविधाओं के सूचक हैं। इनके साथ राजभोगीन और आचार्यभोगीन शब्द भी आये हैं जो इन पदों को आचार्य और राजा के लगभग समान सूचित करते हैं।[1] अधिक अधिकार-सम्पन्न ग्रामणी और सेनानी ग्रामणीतर तथा सेनानीतर कहे जाते थे।[2] इनके अतिरिक्त अश्वपति रथपति[3] अनुशतिक[4] रथगणक, पत्ति-गणक[5] पुत्तनापाद,[6] सेनाचर[7] आदि कुछ सेनाधिकारियों के नाम गणपाठों में मिलते हैं।

सैन्य—सेना के सामान्य सिपाही को सैन्य कहते थे। यह सेना में समवेत अर्थात् बाहर से आकर उसमें मिलकर एक बन गया व्यक्ति माना जाता था। सैन्यों में हस्तिपक[8] तथा हस्त्यारोही के अतिरिक्त रथिक आश्विक और पदाति का भाष्य में उल्लेख है।[9] रथिक अन्तिम तीनों में शीघ्रगामी और आश्विक शीघ्रतरगामी था।[10] अश्ववार या अश्वपाल का स्थान रथी के बाद था।[11] सेनानीतर के समान रथीतर भी विशिष्ट रथी का वाचक था।[12] उष्ट्रसादि[13] भी सेना के अंग रहे होंगे यद्यपि उष्ट्र सेना का अंग बतलाया नहीं गया है। पदाति पदाजि और पदिक[14] एवं पत्काषी[15] या पत्ति (पादकारि) ये पैदल-सेना के नाम थे। पाणिनि ने शाल्व-प्रदेश के पदाति-वर्ग का विशेषतः उल्लेख किया है। सम्भवतः, यहाँ की पदाति-सेना विशेषतः प्रशिक्षित होती थी।[16] सेना के ये चारों प्रकार के सैनिक राजयुध्वा कहलाते थे।[17]

प्राचीन सैन्य-मूर्तियाँ—इस काल के सिक्कों तथा प्रस्तर-मूर्तियों से प्राप्त विवरणों से भी पतंजलि के एतद्विषयक उल्लेखों का समर्थन होता है। इस समय के ग्रीक सीथियन और पार्थियन मूर्ति-चित्रों में यवन आक्रमणकारी राजाओं को कवचधारी दिखाया गया है। उनके सिर पर

---

१ ५ १ ९ पृ० १००।
२ ६ ३-४३।
३ ४-१-८४।
४ ७-३-२०।
५ ५ १ १९९।
६ ८ ३-१०९।
७ ३-२ १७।
८ ४ ४-४५।
९ ३ ३ ७०, पृ० ८५।
१० रथिक आशुगन्तृत्वाविशेषादश्विकेन पदातिविशेषेणतरेण।—१ १-७० पृ० ४८५।
११ ८-२-१८, पृ० ३४८।
१२ ८-२ १७ पृ० ३४१।
१३ ६-२ ४०।
१४ ६-३-५२, ५३, पृ० ३१८।
१५ वही।
१६ ४-२-१३५।
१७ ३-२ ९५।

टोप तथा हाथों में असि और शक्ति (भाले) हैं। कुछ सायक हाथी या घोड़े पर सवार हैं। इनमें कुन्त यष्टि आदि आयुधों के भी दर्शन होते हैं।[1] भारत की ईसा-पूर्व दूसरी और पहली सदी की मूर्तिकला से भी इस बात की पुष्टि होती है। भरहुत के स्तूप पर चार घोड़ों से खींचे जाते हुए रथ मार्गे बैलगाड़ियाँ, भाव पुरानी शैली की तलवारें तथा पदातियों का जुलूस अंकित है।[2] साँची के स्तूप सं० १ में भी जहाँ बुद्ध के अस्थि-अवशेषों के लिए कुशीनारा के मल्लों पर अन्य क्षत्रिय संघों का आक्रमण और घेरा दिखलाया गया है वहाँ भी रथ और गज जुटे हुए हैं। विजेतागण रथों पर सवार हैं और गजमस्तक पर अवशेष रखे हुए हैं। इसी स्तूप में प्राकार खुदे हैं। दक्षिण और पश्चिम के पिछले तोरणों पर यह संघर्ष विशद रूप से अंकित है।[3] पत्ति सेना का विस्तृत रूप साँची और भरहुत दोनों स्थानों में उपलब्ध है। इन प्राकारों के अंकन के विषय में रीज डेविड्स ने लिखा है कि सम्भवतः पुरातनतर काल से प्राकार एक ही प्रकार के बनाये जाते हैं।[4] इस प्रकार महाभारत और पतंजलि के अनुरूप बल का कलात्मक अंकन भरहुत और साँची की कला में उपलब्ध है।

सेना की रचना—परिमाण की दृष्टि से पत्ति सेनामुख गुल्म गण वाहिनी पृतना चमू अनीकिनी और अक्षौहिणी क्रमशः उत्तरोत्तर विशाल संघटन थे। इनमें पत्ति और सेना का उल्लेख ऊपर हो चुका है। पृतना और अनीक वैदिक शब्द हैं। भाष्यकार ने इनका उल्लेख किया है।[5] गुल्म के नायक को गौल्मिक कहते थे।[6] अक्षौहिणी का उल्लेख पाणिनि ने नहीं वार्त्तिककार एवं भाष्यकार ने किया है।[7] महाभारत के आदिपर्व (२-१९) के अनुसार इन घटकों की सैनिक संख्या इस प्रकार होती थी—

घटक	रथ	हस्ती	अश्व	पदाति
पत्ति	१	१	३	५
सेनामुख	३	३	९	१५
गुल्म	९	९	२७	४५
गण	२७	२७	८१	१३५
वाहिनी	८१	८१	२४३	४०५
पृतना	२४३	२४३	७२९	१२१५
चमू	७२९	७२९	२१८७	३६४५
अनीकिनी	२१८७	२१८७	६५६१	१०९३५
अक्षौहिणी	२१८७०	२१८७०	६५६१०	१०९३५०

१ कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द १, भाग ७ पृ० ३८९।
२ कनिंघम दि स्तूप ऑफ भरहुत, प्लेट-सं० ३२।
३ मार्शल : ए गाइड टु साँची, प्लेट-सं० ४, ५ तथा २६, ५०।
४ बुद्धिस्ट इण्डिया, भारतीय सं०, पृ० ४७।
५ ६-१ ६३, पृ० ८६ तथा ५-४ ३०, पृ० ४९१।
६ ४ २-१०४, पृ० २०८।
७ ६ १-८९, पृ० ११८।

शान्ति-पर्व (१०० ३१) में वर्णित पटकों का निर्माण १०-२० १० ४ के ढंग पर है। व्यूह की दृष्टि से अनेक प्रकार की सेनाओं में उलूक-पुच्छी रचना से भी भाष्यकार परिचित थे।[1] काशिकाकार ने 'दन्तायक' भी सेना का प्रकार बतलाया गया है।[2] सेना का अग्रभाग सेनामुख और पश्चभाग सेना-जघन कहलाता था। दिगादिगण (४ ३-५४) में इसी अर्थ में मुख और जघन शब्द परिगणित हैं।[3]

क्षौद्रक मालवी सेना—भाष्यकार के समय में सर्वाधिक प्रख्यात सेना जिसका उन्होंने विशेषत: उल्लेख किया है क्षौद्रकमालवी थी। यह शब्द सेना के लिए रूढ था। क्षुद्रक-मालवों से सम्बद्ध अन्य बातों के लिए 'क्षौद्रकमालवक' शब्द व्यवहृत होता था। यह बात इस सेना की प्रसिद्धि की द्योतक है। सिकन्दर के आक्रमण के लगभग डेढ़ सौ वर्षों के बाद भी इस सेना का यश स्थिर बना रहा। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार मेसिडोनियन आक्रमण के समय इस सेना में १३० हाथी १००० रथ ५० ० घोड़े और १७० ० (८००० क्षुद्रक ९०००० मालव) पदाति सैनिक थे। अकेले क्षुद्रकों ने भी ग्रीक आक्रमणकारियों को परास्त किया था। भाष्यकार ने बार-बार असहाय (अकेले) क्षुद्रकों की विजय का उल्लेख किया है।[5] स्वयं पुष्यमित्र की सेना भी इस समय अत्यन्त सबल थी जिसके बल पर पुष्यमित्र ने युथिडेमस के पुत्र बैक्ट्रिया के राजा डेमेट्रियस के आक्रमण को विफल कर दिया था।[6] यद्यपि भाष्य में पुष्यमित्र की सेनाशक्ति का विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता फिर भी यवनों द्वारा साकेत और मध्यमिका (चित्तौड़ की नागरी) पर घेरा डालने के विषय में महाभाष्यीय उल्लेख[7] तथा कालिदास के मालविकाग्निमित्र में वर्णित वसुमित्र द्वारा सिन्धु (मालवा की कालीसिन्ध) के तट पर यवनराज की पराजय से उसके बल का अनुमान किया जा सकता है। ग्रीक आक्रमणों की शृंखला में डेमेट्रियस का आक्रमण अन्तिम था। पुष्यमित्र ने राज्य की प्रतिरक्षा के लिए अन्तपालों को नियुक्त कर उन पर सीमा की सुरक्षा का दायित्व सौंप दिया था। कालिदास के अनुसार नर्मदा-तट पर वीरसेन उसका अन्तपाल था।

संग्राम—संग्राम को आहव भी कहते थे[9]। पाणिनि ने संग्रामों के नामकरण के दो आधार बतलाये हैं—प्रयोजन और योद्धा। यदि संग्राम का प्रयोजन सुभद्रा की प्राप्ति हुई, तो उस संग्राम

---

१ ४-१-५६, पृ० ९१।

२ ५ १ ११६ काशि०।

३ ४-३-५४ काशि०।

४ मैक्रिण्डिल इण्डिया एण्ड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेण्डर, पृ० २७८।

५ ५ ३-५२ पृ० ४४३।

६. स्मिथ: अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया चतुर्थ संस्करण पृ० २११ तथा रायचौधरी: पालि० हिस्ट्री ऑफ ऐन इण्डिया, पृ० २६७ तथा गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टी० जर्नल जिल्द ४, भाग १ नव० १९४०।

७. भण्डारकर डेट ऑफ् पतंजलि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, १८७२, पृ० ३००।

८. मालविकाग्निमित्र प्रथम अंक।

९. ३-३-७३।

का सौमद्र कहते थे। इसी प्रकार, यदि किसी युद्ध में लड़नेवाले लोग भरत हुए, तो उस युद्ध का नाम भारत पड़ जाता था। इसी आधार पर कौरव-पाण्डव-युद्ध का नाम भारत-युद्ध पड़ गया था जो आगे चलकर महाभारत बन गया।[1] महाभारत का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है।[2]

सेना-संचालन—शत्रु के प्रति सेना-संचालन के लिए 'अभिषेणयति' और कवच-धारण की क्रिया को 'संवर्मयति' ये विशिष्ट प्रयोग व्यक्त करते थे।[3] सभी सैनिक कवच धारण करते थे। इस क्रिया के लिए पतञ्जलि ने 'युद्धाय सन्नह्यते' इस विशेष वाक्य का प्रयोग किया है। सन्नद्ध शब्द का मूल अर्थ युद्ध के लिए तैयार होना था जो बाद में 'किसी भी काम की तैयारी' हो गया। सैनिक जीवन में प्रवेश की आयु निश्चित थी। उस आयु को प्राप्त योद्धा कवचहर कहलाता था।[4] कवचहर अवस्था तारुण्य का प्रवेश-काल था। कवच धारण करनेवाले कवची और उनका समूह कावचिक कहा जाता था।[6] युद्ध-जय के पश्चात् लूट या भेंट में धन की प्रचुर प्राप्ति होती थी। भाष्य में प्रत्येक युद्ध में धन जीतकर लाने का उल्लेख है।

सैनिकों के वर्ग—सैनिक का परिचय उसके द्वारा प्रयुक्त किये जानेवाले अस्त्र या शस्त्र से दिया जाता था। शक्ति चलानेवाला शाक्तिक और परश्वध चलानेवाला पारश्वधिक कहलाता था। इसी प्रकार शाक्तीक और याष्टीक सैनिक इन अस्त्रों के प्रयोग में निपुण होते थे।[8] भाष्य में शाक्तीकी और याष्टीकी स्त्री-सैनिकों का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः ये राजप्रासादों की रक्षा करनेवाली अन्तःपुर में नियुक्त सैनिकाएँ थीं।[9] रथ से युद्ध करनेवाला रथी होता था और श्रेष्ठ रथी रथीतर कहलाता था।[11]

युद्ध के नियम—युद्ध के कुछ नियम थे। योद्धा अपनी श्रेणी के ही सैनिक से युद्ध करते थे। रथी रथियों से और आश्विक आश्विकों से भिड़ते थे।[12] इसी प्रकार, दो सैनिक एक ही अस्त्र लेकर परस्पर प्रहार करते थे। असिपाणि के साथ दूसरा सैनिक असि से ही लड़ता था।[13] एक दूसरे के

---

१ ४-२-५६।
२ ६-२-३८।
३ ३-१-२५।
४ १-४-१२ पृ० १९८।
५ ३-२-१०।
६ ४-२-४१।
७ यत्नम्नयो रथे रथे।—३ २-५८, पृ० ३०८।
८ ४-४-५७, ५८, ५९, पृ० २८१।
९ ४-४-५९ पृ० २८१।
१० ४-१-१५, पृ० ४१।
११ ८-२-१७ पृ० ३४१।
१२ रथी रथिनमपलापयते।—१-१-४८, पृ० ७९।
१३ आर्वयुद्धम् असिभिर्युद्धम्।—५-१-५९ पृ० ३३३।

केश पकड़-पकड़कर या परस्पर लाठी मार-मारकर किये जानेवाले युद्ध केशाकेशि और दण्डा दण्डि आदि कहलाते थे।[1]

प्रहरण—युद्ध में प्रयुक्त होनेवाले प्रहरणों को आयुध कहते थे।[2] ये दो प्रकार के थे—संरक्षात्मक और प्रहरणात्मक। संरक्षात्मक आयुधों में चर्म या कवच का उल्लेख ऊपर हो चुका है। आवरण चर्म या ढाल को कहते थे जो गैंडे के चमड़े का होता था। इसी चर्म के लिए ढीपी को मारने का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[3] शिरस्त्राण शिरोरक्षा के लिए पहने जाते थे क्योंकि शीर्षघात युद्ध के नैतिक नियमों के अनुकूल था। भाष्यकार ने एकाधिक बार सिर पर प्रहार करने की चर्चा की है।[4]

प्रहरणात्मक आयुधों में असि धनुष बाण कुन्त शक्ति यष्टि परशु, मारायसनी मूसल लांगल अंकुश दण्ड आदि के नाम भाष्य में मिलते हैं। धनुष दारु के भी बनते थे।[5] इन्हें कार्मुक भी कहते थे। क्रमुक नामक वृक्ष की लकड़ी से बनाये जाने के कारण यह नाम पड़ा था।[6] बाद में अन्य वृक्षों की लकड़ी का भी व्यवहार होने लगा और कार्मुक का मूल अर्थ विस्मृत कर दिया गया। क्रमुक का उल्लेख काठक (१९ १०) शतपथ (६ ६ २ ११) और कौषीतकी (२८) ब्राह्मण में मिलता है। बाद में कार्मुक की व्याख्या करते हुए क्रिया में समर्थ होने के कारण वैयाकरणों ने उसका यह नाम माना है।[7] बाण धारण करने के कारण कार्मुक को इष्वास नाम दिया गया था। बड़े आकार के धनुष महेष्वास कहे जाते थे। भाष्य में गाण्डीव अजगव और शार्ङ्ग ये विशिष्ट प्रसिद्ध धनुषों के नाम आये हैं।[8] धनुष में दृढ़ता का ध्यान सर्वाधिक रखा जाता था। इष्वास एक कोस की दूरी से भी लक्ष्य वेध कर सकता था।[9] युद्ध का अधिकांश धनुष से लड़ा जाता था। धनुष को भाष्य में नखमुच अर्थात् नखों को छील देनेवाला कहा है।[10] धनुष के बाद असि का प्रयोग सर्वाधिक होता था। असियुद्ध ''अस्युद्यत''असि के सहारे''युद्ध अस्त्रों के सहारे युद्ध जैसे कथनों की पौनःपुनिक आवृत्ति इसका प्रमाण है। साधारणतया लोग असि या दण्ड हाथ में लेकर चलते थे।

---

१ ९-२-२७ पृ० १७०।
२ आयुधमस्ते सेनायुधम्।—४-१-५८, पृ० १०८।
३ चर्मणि द्वीपिनं हन्ति।—२-३ ३६, पृ० ३९२।
४ इदं ते शिरो भिनद्मि।—१-१ १० पृ० ८४ तथा शीर्षघातो।—३-२-८४ पृ० २११।
५ ४-३-१४२।
६ वाज० सं० ११-७० महीधर भाष्य
७ ५ १ १०३।
८ ३ २ ३८।
९ इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशात्लक्ष्यं विध्यति।—२-३-७, पृ० ४१०।
१० ३-२-५, पृ० २१०।
११ ३-१ ९७ पृ० १८२।
१२ ९-२ ३६ पृ० ३९२।
१३ ५ १-५९, पृ० ३३३।
१४ असिपाणिः दण्डपाणिः।—२-२-३६, पृ० ३९२।

असि कुक्षि में लटकाई जाती थी इसीलिए इसे कौक्षेयक भी कहते थे।[1] इसका म्यान चमड़े का बनाया जाता था।[2] रक्त बरसाने के कारण इसका एक विशेषण लेलिह भी प्रचलित था।[3] कृपाण शब्द भी भाष्य में आया है। धनुष के प्रहार को वेध और असि के प्रहार को छेद कहते थे।[4] कुन्त या भाला फेंककर मारा जाता था। यष्टि भी फेंककर मारते थे। यष्टि और दण्ड में अन्तर था। दण्ड बड़ा मोटा लट्ठ होता था।[5] कुन्त भी हाथ में लेकर चलने की प्रथा थी। शक्ति या सांगा भाले का ही एक प्रकार था। यह फेंककर मारी जाती थी। लांगल केवल ध्वज-चिह्न ही नहीं था अस्त्र के रूप में भी व्यवहृत होता था। अंकुश और तोमर (एक प्रकार की बरछी) भी युद्ध में प्रयुक्त होते थे। भाष्यकार ने शक्ति-ग्रह लांगल-ग्रह अंकुश-ग्रह यष्टि-ग्रह, तोमर-ग्रह और धनुर्ग्रह का एक साथ उल्लेख किया है। मूसल शस्त्र था। उसे चलाने का नियमित अभ्यास किया जाता था। प्राणदण्ड पाये हुए अपराधी भी असि और मूसल से मारे जाते थे।[9] शस्त्री या छुरी लोहे की बनती थी। उसका रंग श्याम बतलाया गया है। यह तीक्ष्ण पतली और लम्बी होती थी।[11] आरा भी शस्त्री का एक भेद था।[12] परशु फरसा प्रसिद्ध ही है। दूसरों या शत्रुओं के काटने का काम करने के कारण यह परशु कहलाता था।[13] शक्ति की ही श्रेणी का एक आयुध भिन्दिपाल भी था।[14] भाष्य ने प्रहरणों के आयुध और आक्षिप्त ये भेद किये हैं। शक्ति भिन्दिपाल कुन्त आदि प्रक्षेपास्त्र आक्षिप्त कहलाते थे।[15]

अवहार—दो पक्षों में सम्पन्न होनेवाले युद्धोत्तर समझौते या संधि को अवहार कहते थे।[16] अवहार के पश्चात् दोनों पक्ष अपने-अपने अस्त्र समेटकर मैत्री भाव प्राप्त कर लेते थे।

---

१ ४ २-९६ पृ० २०२।
२ चर्म कोश।—६ ४ १४४, पृ० ४८३।
३ ४ ४-२० पृ० २७६।
४ ८ २ २८ पृ० ३४२।
५ १ ४ १, पृ० १०९।
६ ४ १ ४८ पृ० ५९।
७ ३ २-९। पृ० २१०, ११।
८ २ २-१६ पृ० ३९२।
९ १ १ ९७ पृ० १८९।
१० शस्त्री श्यामा।—१ ४ १ पृ० १०६।
११ बहुच शस्त्र्यां गुणास्तीक्ष्णा सूक्ष्मा मृदुरिति।—२ १-५५, पृ० ३०९।
१२ ३ ३ १०४ पृ० ३३४।
१३ परान् पृणातीति परशुः।—१ १ ६१ पृ० ३९४।
१४ १ ४ १०१ पृ० २०८।
१५ आक्षिप्यन्तेऽनेनाक्षिप्तम् आयुध्यन्ते तेनायुधम्।—३-३-५८ पृ० ३०८।
१६ अवहृयन्तेऽस्मिन् (शस्त्राणि) इत्यवहारः।—३ ३ १२१ पृ० ३१८।

'संज्ञाप्रमाणत्व' (१ २-५३) की व्याख्या करते हुए कहा है कि बिना ही वैयाकरणों की सहायता के जन-सामान्य को इस बात का संज्ञान या बोध हो जाता है।[1] पाणिनि ने इस विषय में एक तर्क यह भी दिया था कि यदि इन जनपदों को यौगिक शब्द मानें तो एक कठिनाई यह भी उपस्थित होगी कि जिस जनपद में आज उसके मूलजन नहीं रहते उसका वह नाम असंगत हो जायगा।[2]

इससे दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथम यह कि भाष्यकार के काल में मूल क्षत्रियों से पृथक् जनपदों का स्वतन्त्र अस्तित्व था और दूसरे कुछ जनपद ऐसे भी थे जिनमें उनके मूलनिवासी क्षत्रिय शेष नहीं रह गये थे।

जन और शासक—इतना होने पर भी इन जनपदों में उनके शासक प्राय मूल क्षत्रिय जन ही थे। शासन दो प्रकार का था—एकराज-शासन और संघशासन। पाणिनि और पतंजलि द्वारा उल्लिखित एकराज-शासन के जनपदों उनके राजाओं तथा उनके मूल क्षत्रिय-जनों की सन्तान की संज्ञाऐं निम्नलिखित थी—

मूल क्षत्रिय जन	जनपद	राजा	क्षत्रियापत्य
	१ पाणिनि द्वारा उल्लिखित[3]		
साल्वेय	साल्वेय	साल्वेय	साल्वेय
गान्धारि	गान्धारि	गान्धार	गान्धार
मगध	मगध	मागध	मागध मागधी (स्त्री)
कलिंग	कलिंग	कालिंग	कालिंग
सूरमस	सूरमस	सौरमस	सौरमस
कोसल	कोसल	कौसल्य	कौसल्य
अजाद	अजाद	आजाद्य	आजाद्य
कुरु	कुरु	कौरव्य	कौरव्य कुरू (स्त्री)
प्रत्यग्रथ	प्रत्यग्रथ	प्रात्यग्रथि	प्रात्यग्रथि
कलकूट	कलकूट	कालकूटि	कालकूटि
अश्मक	अश्मक	आश्मकि	आश्मकि
कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज
अवन्ति	अवन्ति	आवन्त्य	आवन्त्य अवन्ती (स्त्री)
कुन्ति	कुन्ति	कौन्त्य	कौन्त्य कुन्ती (स्त्री)

१ किं या एताः कृत्रिमाष्टिघुभादि संज्ञास्तत्प्रामाण्यादविष्यम्? नेत्याह। संज्ञानं संज्ञा।—१-२-५३ पृ० ५५६।

२ योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्।—१ २-५५।

३ ४ १ १६८ से ४ १ १७८ तक।

२ पाणिनि-सूत्रों में उल्लिखित और काशिका द्वारा व्याख्यात[1]

अंग	अंग	आंग	आंग
वंग	वग	वांग	वांग
पुण्ड्र	पुण्ड्र	पौण्ड्र	पौण्ड्र
सुह्म	सुह्म	सौह्म	सौह्म
आम्बष्ठ	आम्बष्ठ	आम्बष्ठ्य	आम्बष्ठ्य आम्बष्ठ्या (स्त्री)
सौवीर	सौवीर	सौवीर्य	सौवीर्य सौवीर्या (स्त्री)
निषध	निषध	नैषध्य	नैषध्य
निषध	निषध	नैषध्य	नैषध्य
उदुम्बर	उदुम्बर	औदुम्बरि	औदुम्बरि
तिलखल	तिलखल	तैलखलि	तैलखलि
मद्रकार	मद्रकार	माद्रकारि	माद्रकारि
युगन्धर	युगन्धर	यौगन्धरि	यौगन्धरि
भुलिंग	भुलिंग	भौलिंगि	भौलिंगि
शारदण्ड	शरदण्ड	शारदण्डि	शारदण्डि

३ पतंजलि द्वारा उल्लिखित[2]

पंचाल	पंचाल	पांचाल	पांचाल
विदेह	विदेह	वैदेह	वैदेह वैदेही (स्त्री)
पुरु	पुरु	पौरव	पौरव
पाण्डु	पाण्डु	पाण्ड्य	पाण्ड्य
अंग	अंग	आंग	आंग आंगी (स्त्री)
वंग	वंग	वांग	वांग वांगी (स्त्री)
आम्बष्ठ	आम्बष्ठ	आम्बष्ठ्य	आम्बष्ठ्य आम्बष्ठ्या (स्त्री)
सौवीर्य	सौवीर्य	सौवीर्य	सौवीर्य सौवीर्या (स्त्री)
दार्व	दार्व	दार्व्य	दार्व्य
निषध	निषध	नैषध्य	नैषध्य
नीप	नीप	नैप्य	नैप्य
अवन्ति	अवन्ति	आवन्त्य	आवन्त्य अवन्ती (स्त्री)

---

१ ४ । १६८ से १७८ तक।
२ वही।

कुन्ति	कुन्ति	कौन्त्य	कौन्त्य कुन्ती (स्त्री)
नीप	नीप	नैप्य	नैप्य
अजमीढ	अजमीढ	आजमीढि	आजमीढि
अजक्रन्द	अजक्रन्द	आजक्रन्दि	आजक्रन्दि
बुध	बुध	बौधि	बौधि
कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज
चोल	चोल	चोल	चोल
कडेर	कडेर	कडेर	कडेर
केरल	केरल	केरल	केरल

इनमें पंचाल विदेह अंग वंग और मगध प्राच्य कहे गये हैं। भर्ग करूष केकय कश्मीर, साल्व सुस्थाल उरस् और कौरव्य ये भर्गादि तथा यौधेय शौभ्रेय शौक्रेय ग्रावाणय धार्तेय वार्तेय त्रिगर्त भरत और उशीनर ये यौधेयादि थे। पाणिनि ने इन सब प्रदेशों अवन्ति कुन्ति कुरु तथा शूरसेन मद्र आदि अकारांत जनपदों के स्त्री-अभिधायकों के लिए पृथक नियम दिये हैं। भाष्यकार ने पर्शु रक्षस् और असुर जनपदों की स्त्री-अभिधायकों को पर्शू रक्षा और असुरी कहा है।[1] ऊपर कहा जा चुका है कि ये जनपद शासन-व्यवस्था की दृष्टि से दो भागों में विभक्त थे—एकराज या राजतन्त्र और अपराज्य। भाष्यकार ने पंचाल विदेह क्षौद्रक और मालव जनपदों को संघ कहा है यद्यपि अन्यत्र उन्होंने पंचाल के एक राजा का भी उल्लेख किया है।[2]

जनपदावयव—कुछ जनपद अनेक अवयवों या प्रान्तों में विभक्त थे। साल्व के अवयवों की चर्चा तो पाणिनि ने भी की है।[3] इसकी व्याख्या के लिए काशिकाकार ने कहीं से एक प्रसिद्ध कारिका उद्धृत की है जिससे पता चलता है कि साल्व जनपद छह अवयवों में विभक्त था। भाष्यकार ने पंचाल और मगध के पूर्व और अपर दो-दो भाग बतलाये हैं। उन्होंने अर्ध पंचाल अर्ध मगध और सर्व पंचाल तथा सर्व मगध का उल्लेख किया है।[4] यही स्थिति त्रिगर्त की थी। वह स्वयं जनपद था और उसके छह भाग भी स्वतन्त्र जनपद माने जाते थे। सम्भवतः मूलजनों के कई भाग हो जाने पर जनपद भी कई भागों में बँट गये थे। उनका केन्द्रीय स्थान एक रहता था किन्तु आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र प्रान्त विभक्त-सम्पत्तिक भाइयों के समान एकवंशीय शासकों के अधीन स्वतन्त्र होते थे। 'जनपदावधि जनपद' शब्द भी इस बात का प्रमाण है कि जनपदों का अस्तित्व इस काल में था। गतान्त जनपद अनेक थे और वे सब एक ही विभाग

---

१ ४-१ १७६ से १७८, पृ० १६५।

२ ४ १ १६८, पृ० १६३।

३ ४ १ १७३।

४ उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगन्धराः।
भुलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वावयवसंज्ञिताः॥

—काशि०, ४ १-७३, पृ० ४५४।

जनपद के अन्तर्गत थे।[1] जनपदों का 'स्व' अर्थात् वस्तु उनके नाम के अनुसार ही माना जाता था। उदाहरणार्थ अंग या वंग के ग्राम या अन्य वस्तुएँ जो उसकी अपनी होतीं आंगक या वांगक कही जाती थीं।[2] अवयवों को छोड़कर अन्य जनपद स्वतन्त्र इकाई थे। जनपद कहने से एक ही जनपद का बोध होता था जनपद-समुदाय का नहीं। काशी और कोसल दो स्वतन्त्र जनपद थे। यद्यपि वे पड़ोसी थे और परस्पर सम्बद्ध भी फिर भी जनपदों के प्रसंग में उनका अलग-अलग उल्लेख किया जाता था इकट्ठा नहीं।[3]

विषय—भाष्यकार ने विषय और जनपद का अन्तर स्पष्ट किया है। जनपद क्षत्रिय जातियों के निवास थे। बहुत-से जनपदों के शासक वे ही क्षत्रिय थे जिनका उनमें निवास था और जिनके कारण उन जनपदों का नाम पड़ा था। किन्तु, कुछ जनपद ऐसे भी थे जिनमें निवास अन्य क्षत्रियों का था और शासन दूसरों का। इसी प्रकार कुछ क्षत्रिय जन ऐसे थे जिनका शासन अपने निवास से भिन्न प्रदेश पर भी था। वे वहाँ के शासक तो थे किन्तु निवासी नहीं। ऐसी स्थिति में वह उनका देश या विषय-मात्र माना जाता था जनपद नहीं। जब किसी क्षत्रिय जन द्वारा केवल अधिकृत प्रदेश बतलाना होता तो उसे उनका विषय या देश कहते थे और उस देश का प्रयोग एकवचन में होता था। उदाहरणार्थ शिबियों का देश या शासित विषय शैब और उष्ट्रों का औष्ट्र कहलाता था किन्तु शिबियों के जनपद को शिबय (बहु०) और उष्ट्रों का उष्ट्रा (बहु०) ही कहा जाता था। इस आधार पर भाष्य में निम्नलिखित विषयों और जनपदों का अन्तर स्पष्ट मिलता है[4]

क्षत्रिय	देश या विषय	जनपद	
अंग	आंग	अंग	(बहुवचन)
वंग	वांग	वंग	" "
सुह्म	सौह्म	सुह्म	" "
पुण्ड्र	पौण्ड्र	पुण्ड्र	" "
गान्धारि	गान्धार, गान्धारि	गान्धारि	" "
वसाति	वासात वसाति	वसाति	"
शिबि	शैब शिबि	शिबि	"
राजन्य	राजन्यक राजन्य	राजन्य	" "
दैवयातव	दैवयातवक दैवयातव	दैवयातव	" "
वैल्वन	वैल्वनक	वैल्वन	" "
अम्बरीषपुत्र	आम्बरीषपुत्रक	अम्बरीषपुत्र	" "
आत्मकामेय	आत्मकामेयक	आत्मकामेय	" "

१. ४.२.१२४, पृ० २१५, १६।
२. ४.१.१२०, पृ० २५१।
३. ४.२-४५, पृ० १८१।
४. ४-२-५२, पृ० १८४, १८५।

राजन्यादिक विषयों में शालङ्कायन जालन्धरायण शैलूष उदुम्बर, बैल्वज आर्जुनायन सम्प्रिय दाक्षि ऊर्णनाभ तथा भक्ति से भाष्यकार परिचित थे यद्यपि उन्होंने इनमें से केवल दो का ही उल्लेख किया है। राजन्यादि आकृति-गण है, जिससे पता चलता है कि विषयों (देशों) पर क्षत्रियों का अधिकार बदलता रहता था और जो विषय कल एक क्षत्रिय-जाति के अधीन था वह आज दूसरी क्षत्रिय-जाति के हाथ में चला जा सकता था।[1] इस दृष्टि से भाष्यकार का निवास और अभिजन का अन्तर भी महत्त्वपूर्ण है। कुछ क्षत्रिय-जातियाँ प्रारम्भ में किसी एक प्रदेश में रहती थीं किन्तु बाद में वे अन्यत्र चली गईं। पूर्व प्रदेश उनका अभिजन और नवीन प्रदेश निवास कहा जाता था। उदाहरणार्थ जब मालवों ने अवन्ति और उसके समीपवर्ती प्रदेश को अपना निवास बना लिया तब उनका पुराना जनपद केवल अभिजन रह गया जनपद नहीं। जनपद और अभिजन का यह अन्तर ध्यान देने योग्य है।[2]

जनपदी और जानपद—जनपदों के राजा जनपदी तथा अन्य जन जानपद कहलाते थे। पुर या राजधानी के लोगों का समूह या संघ पौर कहा जाता था।[3] यदि जनपद में संघ-शासन हुआ तो जनपदियों की संख्या अधिक रहती थी। एक ही जनपद में रहनेवाले परस्पर सजनपद कहलाते थे। यह बात इस तथ्य की द्योतक है कि तत्कालीन जनता में नागरिकता के भाव विद्यमान थे और वह अपने जनपद के प्रति आत्मीयता का अनुभव करती थी। जनपद के प्रति भक्ति की अपेक्षा नागरिक से की जाती थी। जनपद और जनपदी दोनों के प्रति भक्ति के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त होता था। मद्र जनपद और मद्र राजा दोनों के प्रति भक्ति रखनेवाले को मद्रक और इसी प्रकार वृजि-जनपद और वार्ज्य जनपदी के प्रति भक्ति (सेव्य भाव) रखनेवाले को वृजिक[5] कहते थे। जनपद और जनपदी दोनों में से किसी के प्रति भी विश्वासघात दूसरे के प्रति भी विश्वासघात माना जाता था। जनपदी जनपद का संरक्षक था इसलिए नागरिक को जनपद के साथ ही जनपदी के प्रति भी भक्त (लॉयल) होना आवश्यक था। यह बात उन्हीं जनपदियों के विषय में थी जो उस जनपद के मूल अभिजन तथा शासक दोनों थे।

---

१ ४-१-५९, पृ० १८४।

२ निवासाभिजनयोः को विशेषः? निवासो नाम यत्र सम्प्रत्युष्यते। अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्।—४-३-९०, पृ० २६४।

३ जायसवाल: हिन्दू पॉलिटी पृ० २३६।

४ जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने।—४-३-१००, पृ० २४६।

५ ४-३-८५।

खण्ड ६

साहित्य और कला

अध्याय १

शिक्षा

शिक्षा की पृष्ठभूमि—महाभाष्य का काल ब्राह्मणों के चरम उत्कर्ष का काल था और पतंजलि तत्कालीन ब्राह्मण-समाज के वास्तविक प्रतिनिधि थे। इस समय देश का बौद्धिक और आध्यात्मिक ही नहीं राजनीतिक नेतृत्व भी ब्राह्मणों के हाथ में था। इस सत्ता और शक्ति के भीतर बौद्धधर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी निहित थी। फलतः चातुर्वर्ण्य चातुराश्रम्य चक्रवर्तित्व और यज्ञादि कर्मकाण्डों की पुनः प्रतिष्ठा के साथ कुछ शताब्दियों से अभिभूत वैदिक संस्कृति और साहित्य का पुनः प्रचार और प्रसार प्रारम्भ हो गया था। यह युग संस्कृत-साहित्य के भी उत्थान का था। व्याकरण की उपेक्षा का परिणाम प्रादेशिक प्राकृतों के विकास और संस्कृत के प्रति जन-सामान्य की विरक्ति के रूप में सामने आ चुका था। संस्कृत शिष्ट लोगों तक सीमित रह गई थी। वैदिक संस्कृति और संस्कृत के अविच्छिन्न संबंध को विद्वान् लोग मानते थे। बौद्धधर्म ने सबसे कड़ा विरोध वेदों की आप्तता और यज्ञादि कर्मकाण्ड का किया था। इसलिए, शुंगकाल में विकसित वैदिक पुनरुत्थान की धारा प्रधानतः याज्ञिक संस्कृति के रूप में ही सामने आई। पतंजलि आस्तिकशील थे और वैदिक संस्कृति के अनन्य उपासक। वे जानते थे कि प्राकृतों की बढ़ती आँधी को रोकने के दो ही उपाय हैं—प्राकृतों के प्रति घृणा-भावना की उत्पत्ति और संस्कृत का व्यापक प्रचार। प्राकृत बहुजन-समाज की भाषा बन चुकी थी। सहसा इतने बड़े समाज को बदलना उनके वश का न था। निम्न वर्ग से उनका सम्पर्क भी न था। वे स्वयं पुष्यमित्र के याजक थे। अश्वमेध-याजक पुष्यमित्र के प्रोत्साहन ने देश में सहस्रों ब्राह्मणों को याजक-वृत्ति की ओर प्रोत्साहित किया था। पतंजलि जैसे विद्वान् के लिए यह सोचना कठिन न था कि यदि इन याज्ञिकों को व्याकरण की ओर उन्मुख कर लिया जाय तो संस्कृत की उन्नति में बड़ी सहायता मिल सकती है। वे स्वयं अध्यापक थे। उन्होंने प्रत्यक्ष शिक्षण तथा उपदेश द्वारा उन्हें व्याकरण की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया। इस कारण महाभाष्य में प्राप्त होनेवाले शिक्षा सिद्धान्त तथा शिक्षा-विषयक उल्लेख ब्राह्मणों की शिक्षा तथा समाज से ही सम्बद्ध हैं। वेदों वेदांगों और वैदिक शिक्षा-पद्धति के विषय में ही उनसे जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अतः जो कुछ कहा जा रहा है उसे इसी सन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिए।

शिक्षा के उद्देश्य—पतंजलि ने कहा है कि ब्राह्मण को निष्कारण या निष्काम भाव से षडंग सहित वेद का अध्ययन करना चाहिए और उनका अर्थतत्त्व समझना चाहिए क्योंकि वेद-वेदांग साक्षात् धर्म हैं। यह उनकी दृष्टि में ब्राह्मण का सहज कर्तव्य था। वे व्याकरण को षडंगों में मुख्य मानते थे इसलिए उनकी दृष्टि में व्याकरण का अध्ययन परमावश्यक था। वेदों की रक्षा बिना व्याकरण के असम्भव है। जो व्याकरण नहीं जानता, वह वेद नहीं समझ सकता, इसलिए व्याकरण

का ज्ञान वेदाध्ययन के पहले आवश्यक है यह उनका मत था।[1] प्राचीन काल में ऐसा होता भी था। उपनयन-संस्कार के बाद ब्राह्मण व्याकरण पढ़ते थे। जब वे उच्चारण-सम्बन्धी आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों तथा उच्चारण के कारणों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेते थे, तब उन्हें वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था। पतंजलि के समय में स्थिति उलट गई थी।[2] विद्यार्थी सीधे वेद प्रारम्भ कर देते थे और कहने लगे कि वैदिक शब्दों का वेद से और लौकिक शब्दों का ज्ञान लोक से ही हो जायगा तब व्याकरण की क्या आवश्यकता? इस स्थिति के प्रतीकार के लिए पतंजलि ने व्याकरण के अध्ययन पर जोर दिया और कहा कि वेद की रक्षा के बिना व्याकरण के सम्भव नहीं है। जो लोप आगम और वर्णविकार नहीं समझता है वह भली भाँति वेदों का पालन नहीं कर सकता।[3] यज्ञ करने-करानेवालों को तो व्याकरण जानने की और भी आवश्यकता है। वेदों के जिन मन्त्रों का यज्ञ में उपयोग होता है उनमें लिंग विभक्ति-सम्बन्धी कुछ परिवर्तन आवश्यकतानुसार यत्र तत्र करने पड़ते हैं। यह काम भी व्याकरण-ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। यह बात तो सब जानते हैं कि ब्राह्मण को शब्दों (शुद्ध शब्दों) का ज्ञान होना चाहिए। यह भी बिना व्याकरण के नहीं हो सकता।[5] याज्ञिकों के शास्त्र में बहुत-से ऐसे प्रसंग आते हैं जिनका अर्थ बिना व्याकरण ज्ञान के स्पष्ट नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ अग्नि-वरुण के निमित्त स्थूलपृषती अनड्वाही के आलम्भन का विधान है। स्थूलपृषती के दो अर्थ हो सकते हैं—बड़े-बड़े पृषतों (धब्बों) वाली तथा स्थूल और पृषतवाली। ऐसे स्थलों पर व्याकरण जाननेवाला व्यक्ति ठीक अर्थ को समझ सकता है। यदि पूर्वपद प्रकृति स्वर हो तो बहुव्रीहि और यदि अन्तोदात्त हो तो तत्पुरुष पद होगा।[6]

---

१ ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम्।—भा० १ पृ० ३।

२ पुराकल्प एतदासीत् संस्कारोत्तरं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्र स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति—वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणम्।—भा० १, पृ० १०।

३ रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यति।—भा० १ पृ० २।

४ न च सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिः विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्।—वही।

५ ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्।—भा० १ पृ० ३।

६. असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेत। तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषतीति। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति।—वही।

इनके अतिरिक्त व्याकरण पढ़ने से और भी अनेक लाभ हैं। व्याकरण से असमर्थित प्राकृत जन-व्यवहृत भाषा को म्लेच्छ कहते हैं। ब्राह्मण को अपशब्द बोलकर म्लेच्छ नहीं बनना चाहिए।[1] स्वर या वर्ण की दृष्टि से अशुद्ध बोला गया शब्द वांछित अर्थ का बोधक नहीं होता। यज्ञ में बोला गया दुष्ट या अशुद्ध शब्द वज्र बनकर यजमान का नाश कर डालता है।[2] वृत्रासुर का नाश इसी प्रकार हुआ था। इसके ठीक विरुद्ध जो व्यक्ति व्यवहार-काल में शब्दों का यथार्थ उच्चारण करता है वह इस लोक तथा परलोक में उत्कर्ष और प्रतिष्ठा का भागी बनता है और जो ऐसा नहीं कर सकता वह अपशब्दों का उच्चारण कर भ्रष्ट बनता है।[3] एक-एक शुद्ध शब्द के अनेक अपभ्रंश-रूप समाज में व्यवहृत होते हैं। उनके उच्चारण जन्य दोष से कोई यह कहकर छुटकारा नहीं पा सकता[4] कि मैंने अज्ञानवश अशुद्ध उच्चारण किया है क्योंकि ब्रह्महत्या और सुरा पान के समान अज्ञान भी अशुद्ध शब्द का व्यवहार दोष उत्पन्न करता है। व्याकरण न जानने से ह्रस्व दीर्घ प्लुत का भी ज्ञान नहीं होता। ऐसे व्यक्ति प्लुतत्व नियम न जानने के कारण अभिवादन का ठीक उत्तर नहीं दे सकते।[5] उनकी स्थिति स्त्रियों जैसी हो जाती है। याज्ञिकों को सविभक्तिक प्रयाज करने पड़ते हैं। उसके लिए भी व्याकरण जानना आवश्यक है।[6] ब्राह्मणों को आर्त्विजीन होना चाहिए और आर्त्विजीन वह हो सकता है जो प्रतिपद प्रतिस्वर और प्रत्यक्षर साफ-साफ उच्चारण कर सके। यह बिना व्याकरण जाने नहीं हो सकता[7]। शब्द महान् देव के रूप में प्राणियों में निवास करता है। हमें भी महान् देव से अपना साम्य करने के लिए व्याकरण जानना चाहिए।[8] मनीषी ब्राह्मण नामाख्यातोपसर्गनिपात इन चार अर्थोंवाली वाणी को ठीक जानते हैं।[9] वाणी

---

१ ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।—भा० १, पृ० ४।

२ दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह—स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।—वही।

३ यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥—वही।

४ एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः—नात्यन्तायाज्ञानं कारणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् मन्ये सोऽपि पतितः स्यात्।—वही।

५ अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥—भा० १ पृ० ६।

६ प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्।—वही।

७ यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनः। आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।—वही।

८ महादेवो मर्त्यां आविवेश महता देवेन नः साम्यं स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।—भा० १ पृ० ७।

९ चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।—वही।

व्याकरणज्ञ के सामने अपने सम्पूर्ण अप्रच्छन्न सौन्दर्य रहस्य के साथ इस प्रकार उपस्थित रहती है, जिस प्रकार सुवासा अलंकृत पत्नी अपने पति के सम्मुख।[1] जो लोग छने हुए सत्तू के समान विकार रहित वाणी बोलते हैं उनकी जिह्वा पर मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।[2] अपशब्द बोलने के बाद प्रायश्चित्त-स्वरूप सारस्वती इष्टि करनी चाहिए, ऐसा याज्ञिक लोग कहते हैं।[3] जन्म के दस दिन बाद पुत्र का नामकरण करना चाहिए। नामकरण के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों ने जो नियम स्थिर किये हैं, उनका पालन बिना व्याकरण जाने नहीं हो सकता। सप्त विभक्तियों के ठीक उच्चारण से जिसका नाम् सदा अनुक्षरित होता रहता है, वह वरुण के समान सत्यदेव बनता है। व्याकरण ज्ञान से ही शुद्ध विभक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार, भाष्यकार की दृष्टि में अध्ययन का मुख्य उद्देश्य वेदरक्षा था, क्योंकि वे वेद को साक्षात् धर्म मानते थे। व्याकरण वेद-रक्षा में सर्वाधिक सहायक था। इसलिए, वे उसके अध्ययन को आवश्यक समझते थे। वेद-रक्षा का सर्वाधिक उत्तरदायित्व ब्राह्मणों पर था अतः उन्होंने ब्राह्मणों शिक्षा-संस्थाओं और शिक्षा-पद्धति का ही विशेषतः उल्लेख किया है।

शिक्षा का दूसरा लक्ष्य था बालक को शिष्ट बनाना। भाष्यकार की दृष्टि में शिष्टों का बड़ा ऊँचा स्थान था। वास्तव में शिष्ट ही समाज की धुरी थे। शिष्ट दो प्रकार के बनते थे—शिक्षा से और चरित्र से। शिक्षा का मूल व्याकरण ज्ञान था इसलिए वैयाकरण शिष्ट माने जाते थे। शिष्टि शास्त्र द्वारा ही होती है और वैयाकरण शास्त्रज्ञ होते हैं,।[6] इसलिए, उन्हें शिष्ट कहना चाहिए, यह पतंजलि का विचार था। शिक्षा के अतिरिक्त निवास और आचार भी शिष्टत्व के चिह्न थे। आर्यावर्त के निवासी ब्राह्मणों में जो अपरिग्रही अलोलुप जितेन्द्रिय और किसी विशेष शास्त्र में पारंगत होते थे, वे शिष्ट माने जाते थे। इनकी कही हुई बात प्रमाणित मानी जाती थी। भाष्यकार ने अष्टाध्यायी का प्रयोजन शिष्ट-ज्ञान माना है। अष्टाध्यायी के अध्ययन से व्यक्ति में यह योग्यता आती है कि वह शिष्टों और अशिष्टों की पहचान कर सके।

---

१ उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।—भा० १, पृ० ८।

२ सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत—अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।—वही।

३ आहिताग्निरपशब्दं, प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्।—भा० १, पृ० ९।

४ दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्यात् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वाकृतं नाम कुर्यान्न तद्धितम्।—वही।

५ सुदेवोऽसि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव, सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।—भा० १, पृ० १०।

६ के पुनः शिष्टाः? वैयाकरणाः। कुत एतत्? शास्त्रपूर्विका हि शिष्टिः शिष्टिपूर्वकं च शास्त्रम्।—एवं तर्हि निवासत आचारतश्च। एतस्मिन् आर्यनिवासे ये ब्राह्मणा कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणा। किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः शिष्टज्ञानार्था।—अष्टाध्यायी ६ ३-१०९, पृ० ३५९।

भाष्यकार के इन समस्त वक्तव्यों को यदि हम एक साथ मिलाकर देखें तो स्पष्ट होगा कि वे शिक्षा के दो फल मानते थे—बौद्धिक विकास और नैतिक उन्नति और इन दोनों का उद्देश्य था प्राचीन संस्कृति एवं साहित्य की सुरक्षा। प्रथम आह्निक में उनके द्वारा गिनाये गये व्याकरण पढ़ने के सारे उपयोगों का भी समावेश इनमें हो जाता है। नैतिक विकास पर इतना जोर देने के कारण ही उन्होंने इस बात को बार-बार दुहराया है कि तप (सुकृत के लिए कष्ट-सहन तथा संयम) अध्ययन और ब्राह्मण माता-पिता से उत्पत्ति ये तीन बातें मिलकर किसी को ब्राह्मण बनाती हैं। जिनमें प्रथम दो बातें नहीं होतीं वह केवल जाति-ब्राह्मण होता है। जाति के कारण वह गौर, पिंगलकेश होता है और तप के कारण शुच्याचार।[1] विद्या और आचार-शुचिता इन दोनों पर पतंजलि ने समान बल दिया है और विद्या कर्म और योनि तीनों की दृष्टि से अवदात व्यक्ति को ही ब्राह्मण माना है।[2]

उपनयन—योनि-शुद्धि के लिए धर्मशास्त्रों ने अनेक नियमों की सृष्टि की थी जिनका उल्लेख अन्यत्र हुआ है। विद्या और कर्म की प्रगति और शुचिता का दायित्व शिक्षकों तथा शिक्षा-संस्थाओं पर था। सामान्य विश्वास था कि बालक जन्मतः शूद्र उत्पन्न होता है और संस्कार से द्विज बनता है। संस्कार का सामान्य अर्थ उपनयन था।[3] उपनयन का अर्थ है आचार्य के पास ले जाना। पाणिनि ने इस क्रिया को आचार्यकरण संज्ञा दी है,[4] जिसकी व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने कहा है कि उपनयन करनेवाला माणवक को इस ढंग से अपने पास ले आता है, जिससे वह (उपनेता) स्वयं आचार्य हो जाता है।[5] उपनयन के बाद बालक गुरु के साथ ही रहता था इसलिए उसे अन्तेवासी कहते थे।[6] अन्तेवासी त्रैवर्णिक होते थे और वर्णी कहलाते थे।[7] वर्णी शूद्र नहीं हो सकते थे यह बात इस शब्द से ही स्पष्ट है। गुरु का स्थान जहाँ रहकर बालक विद्या ग्रहण करता था गुरुकुल[8] या तीर्थ[9] कहलाता था। एक ही तीर्थ में रहकर विद्याभ्यास करनेवालों को सतीर्थ्य कहते थे[10]। ये सब भाई भाई की तरह हिल-मिलकर रहते थे। पाणिनि ने सोदर और सोदर्य के साथ ही सतीर्थ्य का भी स्मरण किया है।[11]

---

१ तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां हीनो यो जातिब्राह्मण एव सः॥
गौरः शुच्याचारः कपिलकेश इत्येतानप्यभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति।—२-२-६, पृ० ३४०।

२ त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छिवं विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्॥—४ १ ४८, वा० १, पृ० १२।

३ संस्कारोत्तरं ब्राह्मणाः व्याकरणं स्माधीयते।—आ० १ पृ० १०।

४ १ ३ ३६।

५ माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः सम्पद्यते।—वही (काशि०)।

६ ४-२ १०४ वा० १९, पृ० २०९। ७ ५-२ १३४।

८ २ १ १, पृ० २११।

९ ६ ३-८७ पृ० ३५४। १० ४ ४ १०७। ११ ४ ४ १०८।

माणव—भाष्य में माणव, दण्डमाणव, वर्णी, ब्रह्मचारी और छात्र शब्द विद्यार्थी के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। माणव छोटे बालक को कहते थे। जब ये प्रारम्भिक अध्ययन के लिए शाला में प्रविष्ट होते थे तब इनका मुण्डन करा दिया जाता था।[1] उपनयन के समय मुण्डन की प्रथा थी। दण्ड, कमण्डलु और मृगचर्म साथ लेकर ये गुरु के आश्रम में प्रवेश करते थे। वहाँ भैक्षचर्या करते थे और नियमपूर्वक अध्ययन करते थे। नियमपूर्वक अध्ययन करनेवाले माणवकों को 'उपयुक्त' कहते थे। ये ग्रन्थ और अर्थ दोनों का अभ्यास करते थे। भाष्य में नियमित और 'यदा-कदा' पढ़ने वालों में अन्तर किया है। 'उपाध्याय से पढ़ता है' इस वाक्य में 'पंचमी' का प्रयोग नियमित अध्ययन के प्रसंग में ही होता था। नट या ग्रन्थिक के पास जाकर यदा-कदा उनकी बातें सुनने के प्रसंग में 'नट की सुनता है' ऐसा षष्ठी विभक्ति-युक्त वाक्य प्रचलित था 'नट से सुनता है' नहीं।[2]

माणवक नीची कक्षाओं के छात्र होते थे और ब्रह्मचारी विशिष्ट अध्ययन के व्रती छात्र। आश्रमों व गुरुकुलों में रहनेवाले माणव दण्ड साथ लेकर चलते थे। इसीलिए, वे दण्ड-माणव कहलाते थे। दण्ड-माणवों का परिचय उनके गुरु के नाम से दिया जाता था यथा दाक्ष दण्ड-माणव या काण्व (कण्व के शिष्य) दण्ड-माणव।[3] काशिकाकार ने गौकक्ष और माहक दण्ड-माणवों का भी उल्लेख किया है।[4] ये दण्ड-माणव अनूच होते थे। वेद का सार्थ अध्ययन इस अवस्था के बाद प्रारम्भ होता था।[5] पाणिनि ने दण्ड-माणव और अन्तेवासी में अन्तर किया है, जिससे अनुमान होता है कि सब दण्ड-माणव अन्तेवासी नहीं होते थे।[6] कुछ छात्र दिन में अध्ययन कर सन्ध्या समय घर चले जाते थे। ये गुरुकुल के पास-पड़ोस गाँवों के रहनेवाले छात्र होते थे। माणवों के दण्ड को आषाढ भी कहते थे।

अन्तेवासी छात्र—अन्तेवासी आश्रम में गुरु के साथ उसके परिवार के अंग बनकर रहते थे। इनमें श्रेष्ठ या उच्च कक्षा के अन्तेवासी को 'प्रान्तेवासी' कहते थे। 'गुरुकुल' शब्द में

---

१ ३-१-८, पृ० ९१।

२ आख्यातोपयोगे उपयोग इति किमर्थम्? नटस्य शृणोति, ग्रन्थिकस्य शृणोति। एवं तर्ह्युपयोग इत्युच्यते सर्वश्चोपयोगस्तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते। साधीयोऽयं उपयोग इति। कश्च साधीयः? य ग्रन्थार्थयोः। अथयोपयोगं को वक्तुमर्हति? यो नियमपूर्वकः। तद्यथा, उपयुक्ता माणवका इत्युच्यन्ते य एते नियमपूर्वकमधीयन्ते भवन्ति।—१ ४-२९, पृ० ३३५।

३ ४-२ १०४, वा २१ पृ० २९०।

४ गौकक्षा दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा छात्रा माहका।—४ ३-१२०।

५. अनूचो माणवे बहुवचनमाख्यायामिति विशेषणम् वक्तव्यम्।—५-४ १५४, पृ० ५१४।

६ न दण्डमाणवान्तेवासिषु।—वही।

७. विभाषाषाढमण्वकयोः।—५ १ ११०।

८. ९-२-१८, पृ० १६५।

पारिवारिकता का भाव छिपा हुआ है। छात्र उसे अपना गुरुकुल मानते थे और कष्ट उठाकर भी वहाँ रहना पसन्द करते थे।[1]

शिष्य और छात्र शब्द सामान्यतया प्रत्येक विद्यार्थी के वाचक थे। गुरु अपने कुल में रहने वाले छात्र को छत्र के समान वर्षा आतप जैसे कष्टों से बचाता था। इस प्रकार, यह शिष्य पर छत्र के समान छाया रखता था। शिष्य भी छत्र के समान गुरु का परिपालन करता था। इसी दृष्टि से शिष्य छात्र और गुरु छत्र कहलाता था।[2] गुरु-शिष्य का यह सम्बन्ध अत्यन्त मधुर था। यदि हम इसी प्रसंग की काशिकावृत्ति पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जायगा कि परवर्त्ती कुछ शताब्दियों में गुरुकुल-संस्था का नैतिक स्तर काफी नीचे उतर आया था। इस समय गुरु की सेवा टहल में जागरूकता और उसके दोषों को छिपाकर रखना छात्र की परिभाषा मानी जाने लगी थी क्योंकि छादन या आवरण के कारण छत्र कहे जानेवाले छत्र के समान व्यवहार छात्र का होना चाहिए था।[3] निश्चित ही यह परिभाषा उन गुरुओं के द्वारा निश्चित की गई होगी जो छात्रों को अपनी सेवा का साधनमात्र समझते होंगे और समाज तक अपनी दुर्बलताओं के पहुँचने से भयभीत रहते होंगे।

ब्रह्मचारी—ब्रह्मचारी वेदाध्यायी को कहते थे। काशिकाकार ने कहा है कि ब्रह्म वेद को कहते हैं और उससे सहचरित अध्ययन को भी। उसके लिए किया हुआ व्रत ब्रह्मचर्य कहलाता है और ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करनेवाला ब्रह्मचारी[4]। तीन वर्ण ही वेद पढ़ते थे। इसलिए, ब्रह्मचारी भी त्रैवर्णिक होते थे। काशिका में उसे विद्याग्रहणार्थ उपनीत तथा नियम का आसेवन करनेवाला कहा गया है।[5] जिस प्रकार एक गुरु के पास अध्ययन करनेवाले सतीर्थ्य होते थे उसी प्रकार समान ब्रह्मचर्य का आचरण करनेवाले या एक ही वेद का अध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारी कहलाते थे।[6]

ब्राह्मण के लिए उपनयन के पश्चात् अड़तालीस वर्ष तक अध्ययन की मर्यादा थी। ये ब्रह्मचारी अष्टाचत्वारिंशक या अष्टाचत्वारिंशी होते थे। प्रत्येक वेद के अध्ययन में बारह वर्ष लगते थे। किन्तु लोग सुविधानुसार कम समय तक के लिए भी ब्रह्मचर्य व्रत लेते थे। ये लोग 'भवान्तरदीक्षी' होते थे। लोग आवश्यकतानुसार किसी विशिष्ट वेदांग के अध्ययन के लिए भी

---

१ वेववतस्य गुरुकुलम्—२-१ १, पृ० २११ तथा यस्य वेववत वर्च्यौपितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम्।—वही पृ० २२७।

२ गुरुश्छत्रम्। गुरुणा शिष्यश्छत्रवच्छाद्य। शिष्येण च गुरुश्छत्रवत् परिपाल्य।—४ ४ ६२ पृ० २८२।

३ छत्रादिभ्यो णः—छत्रं शीलं यस्य छात्रः। छादनादावरणाच्छत्रम्। गुरुकार्येष्वव-हितस्तच्छिद्रावरणप्रवृत्तश्छत्रशील: शिष्यश्छात्रः।—४ ४ ६२ काशि०।

४ ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म तच्चरतीति ब्रह्मचारी।—६ २-८६ काशिका।

५ ब्रह्मचारी त्रैवर्णिकोऽभिप्रेत:। स हि विद्याग्रहणार्थमुपनीतो ब्रह्म चरति। नियममासेवत इत्यर्थ:। ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा वर्णिन इत्युच्यन्ते।—५-२ १३४।

६ समाने ब्रह्मणि व्रतं चरतीति स ब्रह्मचारी।—६ ३-८६ पृ० ३८७।

गुरुकुल में प्रवेश पा सकते थे। उदाहरणार्थ महानाम्नी ऋचाओं के लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करनेवाले माहानाम्निक और आदित्यव्रत (कृत्यविशेष) का अध्ययन करनेवाले आदित्यव्रतिक कहलाते थे। भाष्यकार ने तिस्रवती चातुर्मासिक या चातुर्मासी ब्रह्मचारी का उल्लेख किया है। चातुर्मासी लोग चातुर्मास्य यज्ञ के व्रती होते थे।[1]

स्नातक—धर्मसूत्रों में वसन्त में उपनयन-संस्कार का विधान है। इससे अनुमान होता है कि इस समय मकर-संक्रान्ति के बाद नवीन सत्र का प्रारम्भ होता था। अध्ययन की समाप्ति गोदान-संस्कार के बाद होती थी। भाष्य में संस्कार के रूप में तो गोदान का उल्लेख नहीं है, किन्तु उपाध्याय को भी देने का निर्देश अवश्य है।[2] अध्ययन की समाप्ति के बाद गुरु की अनुज्ञा लेकर विशिष्ट स्नान के बाद विद्यार्थी गुरुकुल छोड़ता था।[3] तब उसे स्नातक कहते थे। पाणिनिगण में स्नान शब्द का परिगणन वेद-समाप्ति के अर्थ में मिलता है और उससे स्वार्थ में क प्रत्यय होकर स्नातक शब्द निष्पन्न हुआ है (५ ४ २९)। व्रती शब्द भी स्नातक का वाचक था। उत्तरोत्तर श्रेष्ठता की दृष्टि से भाष्यकार ने व्रतितर और व्रतितम तथा व्रतीयान और व्रतिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया है।[4] व्रतिन् में इन् प्रत्यय के निर्देशक पाणिनि-सूत्र में स्वयं इस बात की ध्वनि है कि व्रती शब्द सामान्य ब्रह्मचारी के लिए व्यवहृत नहीं होता था।[5]

छात्र के उपलक्षण—छात्रों की अपनी वेशभूषा थी जिससे वे सरलता से पहचाने जा सकते थे। आश्चर्य की ही बात है कि सम्पूर्ण महाभाष्य में यज्ञोपवीत का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। दण्ड विशेषतः पालाशदण्ड मृगचर्म[6] और कमण्डलु विद्यार्थी के ये सामान्य उपलक्षण थे। भाष्यकार ने छात्र को अनेक बार कमण्डलुपाणि कहा है।[7] उनके मत से एक बार छात्र को देखकर कोई भी सरलता से समझ सकता था कि कमण्डलु छात्र का लक्षण (पहचान) है।[8] दण्ड सम्भवतः बड़ी आयु के छात्रों के लिए आवश्यक नहीं था।

---

१ तदस्य ब्रह्मचर्यम् महानाम्नीश्चरति माहानाम्निकः, आदित्यव्रतिकः, महानाम्नीसहचरितं व्रतं महानाम्न्यो व्रतमिति। अवान्तरदीक्षादिभ्यो डिनिर्वक्तव्यः अवान्तरदीक्षी तिलव्रती। अष्टाचत्वारिंशतो ड्वुंश्च डिनिश्च वक्तव्यः—अष्टाचत्वारिंशक अष्टाचत्वारिंशी चातुर्मास्यानां यलोपश्च डिनिश्च वक्तव्यः, चातुर्मासिकः चातुर्मासी महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यं माहानाम्निकम् आदित्यव्रतिकम्।—५ १ ९४, वा० १ से ६, पृ० ३४१ ४२।

२ उपाध्यायाय गौर्दीयते।—२ ३ १४ वा० १, पृ० ४११।

३ अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वाऽऽरोढव्या।—२-१-२६, पृ० २८१।

४ ६ ४ १६३ वा० २ पृ० ५००।

५ ५ २-२१।

६ ३-१ २५।

७ कमण्डलुपाणिश्छात्रः।—१-४-८४ पृ० ३०१ तथा २-३-२१, पृ० ४२३।

८ अपि भवान् कमण्डलुपाणिं छात्रमद्राक्षीत्। सकृदसौ कमण्डलुपाणिश्छात्रो दृष्टस्तस्य तदेव लक्षणं भवति।—१ ४-८४ वा० २, पृ० २०१।

आचरणविषयक नियम तथा नैतिक मर्यादा—छात्रों के लिए आचरण—सम्बन्धी नियम निश्चित थे। प्रत्येक छात्र गुरु का सादर अभिवादन करता था।[1] यह शिक्षा पुत्र को माता-पिता ही दे देते थे। यह बात भी भाष्य में स्पष्ट है। छात्र भूमि पर सोते थे।[2] खट्वा पर शयन वर्जित था। स्नातक बनने के बाद ही खट्वा पर सोया जा सकता था। जो इस नियम का उल्लंघन करता था वह धृष्ट माना जाता था। स्थण्डिल-शयन का व्रत उपनयन के साथ ही लिया जाता था। गुरुकुल में खट्वारोहण सम्भव न था। इसलिए, खट्वारोहण का सामान्य अर्थ विद्या बिना पूर्ण किये घर वापस चला जाना या विवाह कर लेना माना जाता था।[3] खट्वारूढ़ आक्षेप या निन्दा का द्योतक था। काशिका-काल तक आते-आते यह विमार्ग पर चलन का उपलक्षण बन गया और सभी अविनीत छात्रों को खट्वारूढ़ कहा जाने लगा।[4] ब्रह्मचारी स्थाण्डिल या स्थण्डिलशायी कहा जाता था।[5] गुरु-शुश्रूषा छात्र का आवश्यक धर्म था। छात्र इसमें मानसिक सुख का अनुभव करते थे। गुरु को स्नान कराना, उसके पाँव दबाना, उच्छिष्ट भोजन करना आदि बातें शुश्रूषा में सम्मिलित थीं। उच्छिष्ट भोजन और पादोपसंग्रहण को छोड़कर शेष परिचर्या गुरु-पुत्र की भी करनी होती थी और यदि गुरुपुत्र भी गुरु हुआ तो उसका उच्छिष्ट भोजन और पाद-संवाहन भी उचित माना जाता था।[6] भाष्यकार ने गुरु का स्नापन गुरु के सुख का कारण बतलाया है, शिष्य के सुख का जनक नहीं। इससे अनुमान होता है कि शिष्य गुरु-शुश्रूषा में आत्मसन्तोष का अनुभव नहीं करते थे।[7] बहुत-से कार्य वे विवशता तथा काम से करते थे। वे जानते थे कि गुरु-शुश्रूषा से पारलौकिक सुख प्राप्त होता है और यदि गुरु प्रसन्न रहे तो अध्यापन भी अच्छा करेंगे।[8] इस प्रकार आत्म-कल्याण की भावना ही शुश्रूषा के पीछे काम करती थी। काम में भूल हुई कि डाँट-फटकार। बहुत-से गुरु औचित्य की चिन्ता किये बिना छात्रों को काम में लगाये रहते थे। इसलिए, चतुर छात्र कार्य और डाँट से बचने के लिए उपाध्याय की दृष्टि से कतराकर रहते थे।[9]

१ १ ४ ५३, पृ० १८४ तथा १-४-५१ पृ० १७७।

२ ४ २-१५।

३ अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वाऽऽरोढव्या। य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढो जाल्म। नातिव्रतवान्—२-१ २६, पृ० ९८१।

४ खट्वारोहणं चेह विमार्गप्रस्थानस्योपलक्षणम्। सर्व एवाविनीतः खट्वारूढ इत्युच्यते।—(वही) काशि०।

५ ४ २-२५।

६. गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रेऽपि वर्तितव्यमन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् पादोपसंग्रहणाच्च। यदि च गुरुपुत्रोऽपि, गुरुर्भवति तदपि कर्तव्यं भवति।—१ १-५६ आ० ८, पृ०, ०११८।

७ तमपि च येन संस्नापनं कर्तुः शारीरसुखम् सुखं मानसी प्रीतिः। कस्तु किम् ? गुरोः स्नापनं सुखम्—१ १-११६ काशिका।

८. ये तावदेते गुरुशुश्रूषवो नामतोऽपि स्वभूयर्थमेव प्रयतन्ते पारलौकिकं च नो भविष्यति। इह च नः प्रीतो न धरध्यापयिष्यतीति।—३ १ २६, आ० १४, पृ० ७७।

९ उपाध्यायादन्तर्धत्ते। यन्नतत्र यदि मामुपाध्यायः पश्यति ध्रुवं प्रेषणमुपालम्भो वा। स बुद्ध्वा सम्प्राप्य निवर्तते।—१ ४-२८, पृ० १६४।

छात्रों को विशेषतः छोटे छात्रों को भिक्षा माँगकर निर्वाह करना पड़ता था। यद्यपि भाष्य में विद्यार्थियों द्वारा भिक्षा माँगे जाने का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, फिर भी अनेक पंक्तियों से इसका अनुमान होता है।[1]

गुरुकुल-वास निश्चय ही कष्टकर था।[2] एक तो यम नियमों और व्रतों का पालन उसपर अनिश्चित मौसम और तदुपरि यदा-कदा गुरुओं का दुर्व्यवहार। अध्ययन के लिए छात्रों को कड़ा परिश्रम करना पड़ता था और बहुत-से छात्र उससे डरकर ही अध्ययन छोड़ बैठते थे।[3] बहुत-से बालक गुरुओं की कठोरता के भय से गुरुकुलों में जाने से ही डरते थे। अध्ययन से इस प्रकार डरनेवाले छात्र के लिए भाष्य में 'पर्यध्ययन' शब्द का प्रयोग हुआ है। फिर भी शिष्य का कर्त्तव्य था कि वह 'आचार्यभोगीन' रहे। शिष्य और उसकी वे सारी क्रियाएँ जिनसे आचार्य को शारीरिक सुख प्राप्त हो आचार्यभोगीन कही गई हैं।[5] इसलिए कष्ट सहकर भी आश्रम में रहना छात्र का कर्त्तव्य था। बार बार गुरुकुल-परिवर्तन करनेवाले या प्रविष्ट होकर शीघ्र ही गुरुकुल छोड़कर चले जानेवाले छात्र 'तीर्थकाक' या 'तीर्थध्वांक्ष' कहे जाते थे।[6]

शिक्षक—भाष्य में शिक्षा प्रदान करनेवालों के लिए शिक्षक उपाध्याय प्रवक्ता श्रोत्रिय अध्यापक गुरु और आचार्य शब्द मिलते हैं। इनमें श्रोत्रिय शब्द वेदाध्यायी का पर्याय है। 'वेद का अध्ययन करता है' इस अर्थ में श्रोत्रिय शब्द प्रयुक्त होता था।[7] इसका शिक्षण से सीधा सम्बन्ध नहीं था। कोई शिक्षक श्रोत्रिय भी हो यह दूसरी बात है। छात्र भी श्रोत्रिय कहे जा सकते थे। इसी प्रकार, प्रवक्ता प्रवचनकार या व्याख्याता होता था। वह शिक्षक भी हो सकता था यद्यपि उसका शिक्षक होना आवश्यक नहीं था। आचार्य किसी विषय के उच्च कोटि के अधिकारी विद्वान् और मौलिक चिन्तक को कहते थे। ये लोग किसी सिद्धान्तविशेष के प्रवर्तक या मौलिक कृति के प्रणेता होते थे। विशिष्ट आचार्य को प्राचार्य कहते थे।[8] चरणों के प्रमुख प्राय प्राचार्य तथा उनके सहयोगी आचार्य होते थे। पतंजलि ने पाणिनि को आचार्य कहा है कात्यायन को नहीं। आचार्यों के प्रति बड़ी सम्मान भावना थी। उनकी शैली उनका आचार, उपचार सभी

---

१ भिक्षां वासयति।—३ १-२६, वा० २, पृ० ७१।

२ ९-१ १ पृ० ११७।

३ अध्ययनात् पराजयते। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखमध्ययनं दुर्धरं च गुरवश्च दुरुपचारा इति। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते।—१ ४-२६, पृ० ३६१।

४ ९-२ १८, पृ० ३५०।

५ ५-१ ९, वा० ३ पृ० ३००।

६ यथा तीर्थे काका न चिरं स्थातारो भवन्त्येवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति।—२-१ ४२, वा० १, पृ० ३९४।

७ ५-२-८४ पृ० ४०१।

८ ९-१ ६५।

९. २ ९-१८, पृ० ३५०।

कुछ प्रामाणिक माना जाता था।[1] ये लोग अध्यापन भी करते थे किन्तु यह आवश्यक नहीं था। पाणिनि ने भी आचार्य का उपर्युक्त अर्थ ही मानकर उनके प्रणीत ग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले अन्तेवासियों का उल्लेख किया है आचार्यों के अन्तेवासियों का नहीं।[2] और पतंजलि ने इस सूत्र का जो उदाहरण दिया है वह भी उक्त कथन की पुष्टि करता है। 'आपिशलपाणिनीयव्याडीय गौतमीया' में उपसर्जन चारों आचार्य ग्रन्थकार हैं शिक्षक नहीं।[3] पतंजलि ने आचार्य को प्रमाणभूत कहा है। उसके भी अन्तेवासी हो सकते थे और प्रायः होते भी थे फिर भी सामान्यतया आचार्य से जिस अर्थ का बोध आज होता है, उस अर्थ में गुरु शब्द का प्रचार था। अन्तेवासी के सन्दर्भ में ही इस शब्द का व्यवहार होता था। वह उपाध्याय से अधिक सम्मान का बोधक था। उपाध्याय सामान्यतया हर शिक्षक को कहते थे।[4] पतंजलि-काल में यही शब्द शिक्षक के अर्थ में प्रचलित था। गुरुकुल से भिन्न शालाओं के शिक्षक भी जिनमें विद्यार्थी पढ़ने मात्र के लिए आते थे और पढ़कर अपने घर चले जाते थे उपाध्याय कहलाते थे। उपाध्याय और शिष्य सहचर शब्द थे।[5] आचार्य निःशुल्क पढ़ाते थे और उपाध्याय शुल्क लेकर यह पतंजलि के किसी उल्लेख से स्पष्ट नहीं होता। पतंजलि के अनुसार गुरु भी उपाध्याय होता था। विद्यार्थी जिसके पास जाकर पढ़े उसे उपाध्याय कहते थे। भाष्य से उसके शुल्क लेने का पता नहीं चलता। केवल उपाध्याय को गाय दी जाती है, यही उल्लेख बार-बार मिलता है।[6] गोदान विद्या-समाप्ति पर भी होता था। गुरु और उपाध्याय में अधिक-से-अधिक इतना अन्तर कहा जा सकता है कि गुरु के पास सौ-सौ योजन की दूरी से छात्र विद्या प्राप्त करने आते थे[7] और उपाध्याय के निकट पास-पड़ोस के विद्यार्थी। इस प्रकार, गुरु उच्च विद्याओं का शिक्षक था और उपाध्याय उससे नीची कोटि का। यह कहना भी सर्वथा ठीक नहीं है कि उपाध्याय सामान्य लौकिक विषयों और प्रारम्भिक वर्गों के शिक्षक होते थे और गुरु तथा आचार्य वेद-वेदांगों के। महाभाष्य में अनेक बार उपाध्याय को वेद का शिक्षक कहा है।[8]

शिक्षक और उपाध्याय में एक अन्तर अवश्य मालूम होता है। उपाध्याय वेद तथा अन्य बौद्धिक विषय ही पढ़ाते थे[10] और शिक्षक प्रायोगिक विषय भी पढ़ाते थे। धनुर्विद्या सिखानेवाले

---

१ प्रमाणभूत आचार्य ।—१ १ १ भा० ७, पृ० ९७ एवा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते ।—भा० २, पृ० ८१ तथा किमिदमाचाराविति आचार्याणामुपचारात् ।—भा० २, पृ० ८१।

२ ४-२ ६६।

३ वही, पृ० २५७।

४ २ १ १ पृ० २११।

५ १ ४-२९, भा० २, पृ० १६६।

६. १ १-५६, भा० १ पृ० ३३४।

७. उपेत्याधीयतेऽस्मादुपाध्यायः ।—३-३-२० भा० १, पृ० ३००।

८. १ ४ ३२, पृ० १६७ तथा ५-३-२४, भा० १ पृ० ४१६।

९ योजनशतादभिगमनमर्हतीति योजनशतिको गुरुः।—५ १-७४, भा० २, पृ० ३३७।

१० १ १ १ भा० ११ पृ० १०४।

११ धनुर्वेद शिक्षते ।—१ ३-२१ भा० ३, पृ० ६२।

शिक्षक होते थे उपाध्याय नहीं। अध्यापक सामान्य शिक्षक होते थे। ये भी तान्त्रिक या प्रायोगिक विषय नहीं पढ़ाते थे। गुरु सभी प्रकार की बौद्धिक शारीरिक और नैतिक या धार्मिक शिक्षा देते थे। शिक्षकवाची सभी शब्दों में गुरु प्रतिष्ठिततम पद था। भाष्य में वेद-वेदांगों के लिए अध्ययन और धनुर्विद्यादि के लिए शिक्षण शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी उपर्युक्त कथन का पोषक है। भाष्य की उद्योत टीका में आचार्य को उपनयन करनेवाला तथा तत्पश्चात् सम्पूर्ण वेद पढ़ानेवाला बतलाया है और उपाध्याय को वेद के अंशविशेष का शिक्षक।[1]

पतंजलि ने खण्डिकोपाध्याय[2] का उल्लेख किया है। खण्डिक प्रारम्भिक कक्षाओं के शिक्षक होते थे जो छात्रों को वेदांश कण्ठस्थ करा देते थे तथा अन्य विषय भी पढ़ाते थे। अध्यापकों में काष्ठाध्यापक[3] का अर्थ स्पष्ट नहीं है। काष्ठाध्यापक का सम्बन्ध काष्ठा (समय-विभाग) से नहीं था इतना तो स्पष्ट है क्योंकि काष्ठादिगण में काष्ठ शब्द परिगणित है काष्ठा नहीं। काष्ठ भूमि की माप थी और मापक के लिए भी इसका प्रयोग होता था। सम्भव है दारुणाध्यापक (बिना थके दुबारा पढ़ाये जानेवाला) के समान काष्ठाध्यापक शुष्क पाठक का बोधक रहा हो। भाष्य में घोमन[4] और कटिकक[5] अध्यापक का भी उल्लेख है।

अध्यापक लोग वैतनिक भी होते थे और विशिष्ट जन अपने बालकों को घर पर पढ़ाने के लिए भी उन्हें नियुक्त कर लेते थे। भाष्यकार ने महीने-भर प्रतिदिन कुछ समय पढ़ाने के लिए वेतन पर नियुक्त अध्यापक को मासिक अध्यापक कहा है।[6] इसी प्रकार षाण्मासिक वार्षिक या सांवत्सरिक अध्यापक होते थे।

अध्ययन की कष्टसाध्यता—शिष्य और गुरु का मिलन शिष्य के लिए ब्रह्मतेज की वृद्धि के निमित्त माना जाता था। भाष्यकार ने इसे ब्रह्मवर्चस्य कहा है। काशिकाकार ने गुरु-शिष्य-संयोग को ब्रह्मवर्चस्य माना है। शिष्य को विश्वास रहता था कि यदि उपाध्याय आ गये तो उसका नियमित अध्ययन निश्चित है और वह अध्ययन जल्दी जल्दी भी चलेगा। अध्ययन की साधना योग कहलाती थी। ब्रह्मचारी योगसाधक माना जाता था।[9] अनेक कष्टों के बीच वह विद्याध्ययन करता था। ठंड में वह उपले (कारीष) जलाकर पढ़ता था। सम्भव है रात्रि में

---

१ उपनीय सर्ववेदाध्यापकआचार्यः तथा वेदैकदेशाध्यापक उपाध्यायः।—उद्योतटीका १ १-५६।

२ १ १ १ आ० १६, पृ० १०४।

३ ८ १-६८, पृ० ३०१।

४ ८ १ ६७ आ० १ २, पृ० ३००।

५ १-२ ३२, आ ४ पृ० ५११।

६ ५ १-८० आ० १, २ पृ० ३३९।

७ ब्रह्मवर्चस्य निमित्तं संयोगो ब्रह्मवर्चस्य।—५-१ १६, आ० १ पृ० ३२३ तथा का०।

८ उपाध्यायश्चेदागतः निश्रममध्येष्यामहे। उपाध्यायश्चेदागतः आशंसे युक्तोऽधीयीय।—३-३-१३३ आ १ पृ० ३९४।

९ युज्यते ब्रह्मचारी योगम्।—१ १-८७ आ० १५, पृ० १५५।

जलती करीष-अग्नि के प्रकाश में वह पुस्तकों में मूल ग्रंथ भी देखता जाता हो।[1] गुरुओं का प्रेषण और उपालम्भ भी कम कष्टकारी न था।[2] बहुत-से गुरु दुराचार भी होते थे।[3] फिर भी सौ-सौ योजन चलकर विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे[4] और अध्ययन में श्रम करते थे। भाष्य में ऐसे दो छात्रों का उल्लेख है जो पूरी रात और पूरे दिन पढ़ते रहे थे।[5] शीत और रात्रि में वे अग्नि के पास बैठकर पढ़ते थे।[6] कभी ऊँचे स्वर से बोल-बोलकर पढ़ते थे और कभी धीरे-धीरे। वाक्यों को कण्ठस्थ कर लेना होता था। कण्ठस्थ वाक्य को अघुष्ट या संघुषित कहते थे। शिक्षक भी उच्च स्वर में बोलकर पढ़ाते होंगे। भाष्य में एक ऐसे शिक्षक का उल्लेख है जिसकी आवाज बैठ गई है।[9] किन्हीं छात्रों में बहुत शीघ्र पढ़ लेने की कामना होना स्वाभाविक है।[10] एक छात्र को गोप्रभा न करने का भी निर्देश एक स्थान पर मिलता है। इच्छा के समान होने पर भी कुछ विद्यार्थियों का पढ़ना सार्थक होता और कुछ निष्फल हो जाते थे।[11] यद्यपि प्रत्येक शिक्षक यह स्वीकार करता था कि प्रयत्न सफल हो, किन्तु यह सम्भव नहीं हो पाता था। कुछ विद्यार्थी प्रयत्न करने पर भी अप्रवीण रह जाते थे और कुछ बिना विशेष श्रम किए भी प्रवीण हो जाते थे।[12] फिर भी शिक्षा का उद्देश्य था कि प्रयत्न फलहीन न हो। जो छात्र अध्ययन में समर्थतर होता था उसे आनुतरपथ्य कहते थे।[13] उसका सम्मान भी अधिक होता था। उदाहरणार्थ, देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों आढ्य, अभिरूप, दर्शनीय और पटु हों, किन्तु देवदत्त यदि स्वाध्याय में यज्ञदत्त से विशिष्ट हो, तो देवदत्त अधिक सम्मान का भागी होता था।[14] बुद्धि की कमी या अध्यापक की त्रुटि से पढ़ाया हुआ पाठ समझ में नहीं

---

१ कारीषोऽग्निरध्यापयति ।—१ १-२६, वा० ९, पृ० ७१।

२ १ ४-२८, पृ० १६४।

३ १ ४-२६, पृ० १६३।

४ ५ १-७४, वा० २, पृ० ३३७।

५ इमकाभ्यां रात्रिरधीता अथो आभ्यामहरप्यधीतम् ।—२-४ ३२, वा० ४ पृ० ४७८।

६ १ १ ४२, पृ० २५४।

७ उच्चैरधीयान नीचैरधीयान ।—वही।

८ १ १ ४४, वा० २२—४, पृ० २७५।

९ उपांशुतास्य स्वरः शिक्षकस्य ।—१ १-२०, वा० ६, पृ० १९६।

१० १ ३-२१, वा० २, पृ० ६२११।

११ समानमीहमानानां केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न ।—वा० २ पृ० ७९।

१२ फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम् न च प्रयत्नः फलाद्व्यतिरेच्यः। व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते। दृश्यन्ते हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणा अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः।—आ० १, वा० ८, पृ० २९।

१३ समर्थतरोऽयं माणवकोऽध्ययनायेत्युच्यते आनुतरपथ्य इति मन्यते।—२ १ १ वा० ७ पृ० २४५।

१४ देवदत्तयज्ञदत्तावाढ्यावभिरूपौ दर्शनीयौ पटू। देवदत्तस्तु यज्ञदत्तात्स्वाध्यायेन विशिष्टः।—२ १ ६० वा० २, पृ० ३३७।

जाता। कभी-कभी पूरे मास पढ़ने पर भी अनुवाक छात्र की समझ में नहीं आता था।[1] रात्रि के समय छात्रों में पढ़ने की होड़ लगती थी। औरों के पढ़ने पर अकेले एक का सोना कैसा?[2] सामान्यतया प्रदोष और रात्रि में अध्ययन नहीं होता था। वेदाध्ययन तो इन कालों में वर्जित ही था। अतः, निशा और प्रदोष में पढ़नेवाले छात्र नैश या नैशिक और प्रदोष या प्रादोषिक कहे जाते थे।[3]

अनध्याय—चतुर्दशी और अमावास्या के दिन अनध्याय रहता था। इसके अतिरिक्त अनध्याय के दिनों के विषय में भाष्य से कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। हाँ काशिका से इतना अवश्य पता चलता है कि अनध्याय छात्रों को बहुत प्रिय था और उसकी उत्सुकता से प्रतीक्षा किया करते थे। भाष्यकार के समय में भी स्थिति इससे भिन्न नहीं रही होगी यह हम अन्य अनेक उदाहरणों से अनुमान कर सकते हैं।[4]

अध्ययन के विषय—अध्ययन के विषयों में वेद का स्थान प्रमुख था। पतंजलि ने कहा है कि नियमपूर्वक पढ़े गये वेद शब्द फलवान् होते हैं।[5] वेदाध्ययन की दो श्रेणियाँ थीं—पारायण और अर्थग्रहण। ऋक् कहने से संपाठ-मात्र का ही बोध होता था उसके अर्थ का नहीं। इसलिए, ऋगध्ययन का अर्थ ऋचा का पाठमात्र था अर्थग्रहण नहीं। पारायण या पाठ पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था। 'तदधीते तद्वेद' (४ २ ५९) सूत्र की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने 'अध्येता' और 'विद्' का अन्तर स्पष्ट किया है। कोई केवल संपाठ पढ़ता है, किन्तु उसका तत्त्व नहीं समझता और कोई समझता है, किन्तु संपाठ नहीं करता। संपाठ या पारायण करनेवाले को पारायणिक कहते थे।[6] दो बार या तीन बार पारायण करनेवाले द्वैपारायणिक और त्रैपारायणिक कहलाते थे।[7] वेद का अध्ययन करनेवाले छात्र श्रोत्रिय होते थे और उनका कर्म श्रौत।[8] भाष्य में वैदिक छात्र के लिए वेदाध्याय शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[9]

---

१ मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः।—२ ३-६, पृ० ४०९।

२ ३-१ १०८, वा० १ पृ० १०२।

३ निशा सहचरितमध्ययनं निशा तत्साहचर्यात्तदध्येता नैशिकः, प्रदोषः प्रादोषिकः।—४-३-५२ काशिका।

४ छात्रप्रियोऽनध्यायः।—६ २ १६ काशि०।

५ १ ४ २६, पृ० १६६।

६ वेदशब्दा नियमपूर्वकमधीताः फलवन्तो भवन्ति।—आ १ वा० ९, पृ० २१।

७ ऋगित्युक्ते सम्पाठमात्रं गम्यते। नास्या अर्थो गम्यते।—१ १ ६६, वा० ३ पृ ४१८।

८ भवति हि कश्चित् सम्पाठं पठति न च वेत्ति कश्चिच्च वेत्ति न च सम्पाठं पठति।—४-२-२९, पृ० २८६।

९ यः पारायणमधीते पारायणिकः स उच्यते।—५ १-७२, पृ० ३३६।

१० ५ १ २० वा० २ पृ ३१२।

११ ५ १ १३० पृ० ३२६।

१२ ३-१ १११ वा० ३, पृ० १९७।

वेद का सपाठ त्रैस्वर्यपूर्वक होता था। स्वयं भाष्यकार त्रैस्वर्य पाठ कराते थे।[1] त्रैस्वर्य का अर्थ है तीन प्रकार के स्वर। इनमें कुछ उदात्त गुणवाले, कुछ अनुदात्त गुणवाले और कुछ उभय-गुणविशिष्ट। इस तृतीय स्वर को भाष्यकार ने शुक्ल और कृष्ण को मिलाकर बननेवाले कल्माष या सारंग वर्ण की उपमा दी है।[2] वेद का मूल पाठ अनुदात्त रहे और स्वर-सम्बन्धी किसी प्रकार व्यतिक्रम न होने पाये, इस बात की ओर प्रारम्भ से ही ध्यान रखा जाता था। जो बालक उदात्त के स्थान पर अनुदात्त उच्चारण करता, उसके गाल पर तमाचा पड़ता था।[3] सामपाठ माणवकों को कण्ठस्थ करा दिया जाता था और वे यथावसर उसका गान करते थे।[4] महाभाष्य काल में पारायण-अध्ययन का ही प्रचार अधिक था।[5]

वेदपाठ के कुछ नियम थे। साम पूर्वाह्ण में गाया जाता था। अनुवाक का अध्ययन प्रातःकाल में ही होता था।[6] भाष्यकार ने इसे ऋण-कृत्य कहा है। ऋण-कृत्य नियोगतः कर्तव्य होते थे। कुछ स्थान अध्ययन के लिए वर्जित थे। श्मशान और चतुष्पथ में पढ़ना शास्त्रतः निषिद्ध था। इसी प्रकार चतुर्दशी और अमावास्या को अध्ययन निषिद्ध था। यह बात यद्यपि प्रसंगवश 'अस्यवाम' सूक्त के सम्बन्ध में कही गई है, किन्तु सभी वैदिक अध्ययन के विषय में लागू होती थी।[7] स्वयं पाणिनि ने कुछ वेदों और कालों का अध्ययन के अयोग्य बतलाया है। काशिकाकार ने पाणिनि के अदेश-काल को शास्त्र द्वारा अध्ययन के निषिद्ध देश-काल मानकर उनके उपर्युक्त उदाहरण ही दिये हैं। जो इन नियमों का उल्लंघन करता था, उसे अन्य छात्रों से अलग प्रदर्शित करने के लिए उनके क्रमशः श्माशानिक, चातुष्पथिक, चातुर्दशिक और आमावास्यिक विशेषण नियत किये गये थे।[8] इसलिए, भाष्यकार ने कहा है कि वेद सम्प्रदाय-विहित नियमों के पालन के साथ पढ़े जाने पर ही फल देते हैं।[9]

पारायण या संपाठ ही पर्याप्त न था। वेद का अर्थ जानना-समझना भी आवश्यक था। जिसने केवल अध्ययन कर लिया, किन्तु अर्थ न समझा, उसे वाणी से बोझा ढोनेवाला ही कहा जा सकता है।

---

१ त्रैस्वर्येणाधीमहे।—१-२ ३१ पृ० ५०७।

२ त्रिभिः प्रकारैरज्भिरधीमहे, कश्चिदुदात्तगुणः कश्चिदनुदात्तगुणः केचिदुभयगुणः।—१-२-३१, पृ० ५०७।

३ य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति।—१ १ १, वा० १३, पृ० १०४।

४ गेयानि माणवकेन सामानि।—३-४ ६७ वा० ४ पृ० ३६७।

५ २-१ १९, वा० ५, पृ० ३५६।

६ पूर्वाह्णे गेयं साम। प्रातरध्येयोऽनुवाकः—ऋणकृत्यनियोगे यदुपहरणम्। ऋणस्य नियोगतः कर्तव्यं भवति ततस्य ऋणं भवति।—२-१ ४३ पृ० २९५।

७ देशः खल्वप्याम्नाये नियतः। श्मशाने नाध्येयं चतुष्पथे नाध्येयम्। कालः खल्वप्याम्नाये नियतः नामावास्यायां न चतुर्दश्याम्।—५-२-५९, वा० ४ पृ० ३९५।

८ ४४-७१ का०।

९ वेदशब्दा नियमपूर्वकमधीताः फलवन्तो भवन्ति।—आ० १, वा० ९, पृ० २३।

उससे बुद्धि प्रकाशित नहीं होती। वह तो सूखे ईंधन के समान होता है, जो बिना अग्नि के नहीं जल सकता।[1] इसलिए, पारायण में तो पदपाठ, क्रमपाठ, संहितापाठ आदि के कारण संहिताओं का अनेक बार अध्ययन करना ही पड़ता था। अर्थज्ञान के लिए भी कई बार ग्रन्थ पढ़ना होता था। कभी-कभी पाँच-छह बार पढ़ाये जाने पर बात समझ में आ पाती थी। शिक्षाशास्त्रियों में इन विविध प्रकार के अध्ययनों को व्यक्त करने के लिए विशिष्ट शब्दावली प्रचलित थी। उदाहरणार्थ, एक ही संहिता का सामान्य रूप से अध्ययन करके फिर उसी का पदों की दृष्टि से अध्ययन द्विगुण अध्ययन और फिर उसी का क्रम की दृष्टि से अध्ययन त्रिगुण अध्ययन कहा जाता था।[2] पाणिनि ने अनेक बार या अनेक रूपों में अध्ययन का उल्लेख किया है। पाणिनि के अनुसार पाँच बार या पाँच रूपों में किया गया अध्ययन पंचक कहलाता था। इसी प्रकार सप्तक, अष्टक, नवक, दशक अध्ययन होते थे। पाणिनि के इस सूत्र पर भाष्यकार ने विस्तृत प्रकाश डाला है।[3] इसी प्रकार जो जितनी बार में ग्रन्थ पर अधिकार कर पाता था छात्रों में उसी के अनुसार उसका स्थान होता था। छह बार में ग्रन्थ का रहस्य समझ पानेवाला षट्क कहलाता था।[4] द्वितीय रूप से ग्रन्थ का समझना या ग्रहण करना द्विक ग्रहण कहा जाता था। तीसरा या चौथा अध्ययन या इसी प्रकार त्रिक चतुष्क कहा जाता था।[5] पतंजलि के समय वेदों की विभिन्न शाखाओं के अनुयायी अपनी शाखा में प्रचलित पाठों को कण्ठस्थ कर जाते थे। कठ कौथुम कालाप और पैप्पलाद आदि वेद मार्गों के ज्ञान का प्रचार बहुत अधिक था।[6] पदपाठ और क्रमपाठ के पाठक पदक और क्रमक कहलाते थे।[7] ये लोग अध्ययन की दृष्टि से अविप्रकृष्ट माने जाते थे क्योंकि इनके विषय परस्पर सम्बद्ध थे।[8]

---

१ यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥
—भा० १, पृ० ४।

२ द्विगुणमध्ययनं द्विगुणमध्ययनमित्युच्यते। पदापेक्षया क्रमपाठस्यापेक्ष्य भवति न संहितापाठान्तरस्वर्यापेक्षया।—५ २ ११९, पृ० ३५५-५६।

३ पञ्चकोऽधीतः सप्तकोऽधीतः—तस्य संख्यापरिमाणं वायुषमः पञ्चवाराः पञ्चकमस्य स्याध्ययनस्य पञ्चकमध्ययनम्।—५ १-५८ का०।

४ पृ० ३३५ से ३३८।

५ तावतिथेन गृहीतमिति लुग्वासंख्यायां कर्तव्यम्—षष्ठेन गृह्णातीति षट्कः—५ २-७७ वा० १ २ पृ० ३९९ पञ्चमेन गृह्णाति पञ्चकः।—४-१-८८, वा० ८, पृ० ५२ तथा षष्ठेन गृह्णाति षट्कः।—वही १—५१।

६ वही।

७ अनुवादे चरणानाम्, अन्वगु कठकालापाः अर्वान्ता कठकौथुमाः उदगात्मौद पैप्पलादम्।—२-४-३, पृ० २६२।

८ अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्।—२-४-५ का०।

इसी प्रकार कल्पक और वार्तिक थे (वृत्ति—संहिता)। कभी-कभी विभिन्न विषयों के छात्रों और पंडितों में परस्पर विवाद भी छिड़ जाता था। ज्योतिषी लोग प्रायः विरोधी होते थे और एक दूसरे का खण्डन करते थे। कठ, कालाप आदि जो यजुः आदि वेदों की शाखामात्र थे परस्पर बहुत कम मतभेद रखते थे। पाणिनि ने इन दोनों स्थितियों को 'अनुवाद' और 'विप्रलाप' संज्ञा दी है।[1] चारों वेदों और वेदांगों का अध्ययन ब्राह्मण विद्यार्थी निष्काम भाव से करते थे। वेदांगों में व्याकरण का महत्त्व भाष्यकार के समय में बहुत माना जाने लगा था। उन्होंने व्याकरण को उत्तरा विद्या कहा है। मुण्डकोपनिषद् ने ब्रह्मविद्या को छोड़कर शेष सब विषयों को अपर विद्या कहा है।[2] पहले शिक्षा प्रातिशाख्य और छन्दःशास्त्र पढ़ा दिया जाता था और तत्पश्चात् व्याकरण का प्रारम्भ होता था।[3] व्याकरणों में पाणिनीय सर्वाधिक समादृत था। इसीलिए, पतंजलि ने पाणिनि का यश आकुमार विस्तृत बतलाया है।[4] पाणिनि ने व्याकरण पढ़ाने की जो पद्धति दी थी उसने शिक्षक और छात्र का काम अत्यन्त सरल कर दिया था। पहले भाषा ज्ञान के लिए एक-एक शब्द कण्ठस्थ कराया जाता था। यह पद्धति कोष कण्ठस्थ करने जैसी और सफल न हो सकी। पतंजलि ने कहा है कि बृहस्पति ने इन्द्र को प्रतिपद पारायण कराया किन्तु शब्दों का अन्त न मिला। ऐसी जनश्रुति चली आती है। बृहस्पति जैसा वक्ता इन्द्र जैसा अध्येता और दिव्य सहस्र वर्षों की आयु। तो भी शब्दों का अन्त नहीं मिला।[5] फिर आज की तो बात ही क्या? जो बहुत जीता है वह सौ वर्ष जी लेता है। ऐसी स्थिति में व्याकरण-ज्ञान के सरल उपाय की तलाश थी और वह उपाय पाणिनि ने किया। उन्होंने लक्ष्य और लक्षण का प्रवचन कर काम को सुकर बना दिया। इनके अतिरिक्त वाकोवाक्य इतिहास पुराण और वैद्यक मुख्य पठनीय विषय थे।[6] धनुर्विद्या भी सिखाई जाती थी किन्तु सामान्य पाठ्यक्रम में उसको स्थान नहीं रहा होगा। वायसविद्या गोलक्षण अश्वलक्षण[7] आदि लौकिक विद्याएँ, जिनका उल्लेख पतंजलि ने किया है पाठ्य-क्रम में थे या नहीं निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मांत्रिक शास्त्र तो

---

१ अनोरकर्मकात्।—१ ३ ४९; विभाषा विप्रलापे।—१ ३-५० तथा का०।

२ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।—मुण्डकोप०, १ १-५।

३ व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या। सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहेत।—१ १ १२, पृ० ५०८।

४ आकुमारं यशः पाणिनेः।—१ ४-८९, पृ० २०२।

५ एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्तेन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे? यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति।—भा० १ पृ० १२।

६ भा० १, पा० ५, पृ० २१।

७ १ ३-२१, भा० १, पृ० ५२।

८ ४ २ ६०, पृ० १८७।

अवश्य ही पाठ्य क्रम में सम्मिलित था। अंगविद्या, क्षत्रविद्या, धर्मविद्या तथा त्रिविद्या पाठ्य विषयों की श्रेणी में आ चुकी थीं।[1] सूत्र-ग्रन्थ तो वेदांगों के ही अन्तर्गत थे।

दण्ड—अध्ययन में दण्ड का स्थान था। शिक्षा-जगत् में यह विश्वास था कि लालन या प्यार से बालकों में बहुत-से दोष आ जाते हैं और ताडन से गुण की वृद्धि होती है। इसीलिए उपाध्याय लोग वेदपाठ के समय अशुद्ध स्वर बोलनेवालों के तमाचे लगा देते थे।[2] किन्तु गुरु जिन हाथों से मारते थे वे 'सामृत' होते थे 'विषोक्षित' नहीं।[3] गुरु दोषों के लिए बालकों की भर्त्सना करते थे। वे इस प्रकार की आकृति भी बना लेते थे जैसी कुपितों की होती है यद्यपि वास्तव में वे कुपित नहीं होते थे।[4] ऐसे समय छात्र गुरुओं से दूर रहते थे और जब उनका क्रोध शान्त हो जाता था तब उनके सामने आते थे।[5]

अध्ययन-साफल्य एवं परीक्षा—स्वाध्याय में पाणिनि ने वृत्ति (अप्रतिबन्ध) सर्ग (उत्साह) और तायन (स्फीतता) यह क्रम स्वीकार किया है। 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रम' (१ ३-३८) सूत्र की काशिका वृत्ति भी इस कथन की समर्थक है कि तीक्ष्ण बुद्धि और उत्साह दोनों मिलकर अध्ययन को विशदीकृत बनाते हैं। भाष्यकार ने ज्ञान को ज्योति कहा है। ज्योति का मुख्य गुण है सन्ततत्व।[6] एक ज्योति से दूसरी ज्योति जल जाती है, किन्तु पहली कम नहीं होती। इसी प्रकार, अध्ययन शिक्षक से अपक्रान्त होता है बाहर निकलता है किन्तु सदा के लिए या पूर्णतः नहीं। उसे ग्रहण करनेवाले छात्रों को उनकी योग्यता के अनुसार लाभ पहुँचाता है। इसीलिए, कुछ प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो पाते और कुछ बिना प्रयत्न ही सफल हो जाते हैं। कुछ छात्र साध्वध्यायी होते हैं और कुछ विलम्बिताध्यायी। समान इच्छा और प्रयत्न होने पर भी कुछ छात्र अर्थ (साफल्य) से युक्त होते हैं और कुछ नहीं। इस प्रकार के पातंजल वक्तव्यों से इस बात का पता चलता है कि अध्ययन के अन्त में विद्यार्थी की सफलता-असफलता का अंकन किया जाता था। शिक्षक भी इस बात को लक्ष्य में रखकर पढ़ाता था कि उसका प्रयत्न फलवान् हो। फिर भी वह कभी-कभी फल से व्यतिरिक्त हो ही जाता था। साफल्यांकन के लिए आचार्य या गुरु

---

१ वही।

२ न उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति।—१ १ १, भा० १३ पृ० १०४।

३ सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥—८ १-८, पृ० २७१।

४ अकुपिता अपि कुपयन्ते बालकान् भर्त्सयमानाः। अन्ततस्ते तां शरीराकृतिं कुर्वन्ति या कुपितस्य भवति।—वही।

५ दूरात्त्व कुपिताद् गुरोः।—२ ३ ३५, भा० २, पृ० ४३०।

६ भवत्यल्पमति [illegible] नाल्पतामापद्यन्ते। सन्ततत्वात्। अथवा ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति।—२ ३-२१, पृ० ४२१।

७ भा० १, भा० ८, पृ० २३।

८ ६-२-८० पृ० २०३।

छात्र की परीक्षा लेता था। अध्ययन-सम्बन्धी परीक्षा का स्पष्ट उल्लेख पाणिनि और पतञ्जलि दोनों में मिलता है। परीक्षा-काल में उच्चारण-सम्बन्धी एक भूल करनेवाले को ऐकान्यिक कहते थे। इसी प्रकार द्वैयन्यिक, त्रैयन्यिक से लेकर द्वादशान्यिक, त्रयोदशान्यिक, चतुर्दशान्यिक[1] आदि संज्ञाएँ छात्रों को उनकी भूलों के अनुसार दी जातीं। कहा नहीं जा सकता कि यह परीक्षा प्रतिदिन होती थी या निश्चित अवधि के पश्चात् या अध्ययन की समाप्ति पर। अध्ययन (पढ़ना) से भिन्न वक्तृत्व की परीक्षा किस प्रकार होती थी यह भी भाष्य में स्पष्ट नहीं है। पढ़ाई प्रायः मौखिक थी, यह बात भाष्य से स्पष्ट है, इसलिए परीक्षा भी मौखिक ही होती होगी। मौखिक पढ़ाई का यहाँ तक प्रचार था कि सूत्रकार को 'मूर्त पारायणम्' जैसे प्रयोगों के लिए पृथक् सूत्र का निर्माण करना पड़ा, जिसपर भाष्यकार ने भी विस्तृत विवेचन किया है।[2]

स्नातकों की कोटियाँ—अध्ययन के पश्चात् गुरुकुल से निष्क्रमणमात्र विद्वान् वाग्मी होते थे। वे किसी विषय की अधिकारपूर्वक व्याख्या कर सकते थे। अनावश्यक बहुत बकवास करनेवाले वाचाल या वाचाट कहलाते थे।[3] विशिष्ट विषयों के छात्रों और विद्वानों का उनके विषयों के आधार पर सम्बोधित किया जाता था। यजुष् का अध्येता याजुष्क कहलाता था। इसी प्रकार याज्ञिक, वैयाकरण, कठ, बह्वृच, औक्थिक, मीमांसक आदि नाम सम्बद्ध विषयों के छात्रों और अध्यापकों के लिए प्रचलित थे।[4] भाष्य ने व्याकरण के विद्वान् को धर्मार्थी, याज्ञिक्य में दक्ष को परिमितिनी और छन्दस् में निष्णात व्यक्ति को आम्नायी कहा है।[5] अपरिपक्व नाम मात्र के वैयाकरण खसूचि कहलाते थे, जो कठिन प्रसंग उपस्थित होने पर आकाश की ओर देखने लगते थे। किन्तु, खसूचि विशेषण विषय की निम्नता का द्योतक नहीं था। वह व्यक्ति से सम्बद्ध था।[6] व्याकरण, याज्ञिक्य आदि के अनियमित अध्यायी को उपहास में प्रायः वैयाकरण या प्रायः याज्ञिक कहते थे। यह व्यंग्य उनकी विषय-सम्बन्धी अस्थिरता का व्यञ्जक था। व्याकरणादि में निष्णात वैयाकरणरूप, याज्ञिकरूप आदि विशेषणों से विभूषित होते थे।[8] इसके उलट अपने विषय में दुर्बल वैयाकरण, याज्ञिक, वार्तिक आदि वैयाकरणपाश, याज्ञिकपाश, वार्तिक-

---

१ कर्माध्ययने वृत्तम्।—४-४-६३; बह्वच्पूर्वपदाट्ठच्—४-४-६४ तथा द्वादशान्यिकः त्रयोदशान्यिकः।—६-१-८५, भा० ४, पृ० १२२।

२ चेरण्यस्ते वृत्तम्।—७-२-२६ पृ० ११७-१८।

३ आलजाटचौ बहुभाषिणि कुत्सित इति वक्तव्यम्, यो हि सम्यग् बहु भाषते वाग्मीत्येव स भवति।—५-२-१२५, पृ० ४२२।

४ १ ४ १, भा० १ पृ० ९८।

५ २-२ २९ पृ० १७८।

६ २-४ १६ भा० १ पृ० ४११।

७ वैयाकरणखसूचिः। किम् व्याकरणं कुत्सितमाहोस्विद् वैयाकरणः। वैयाकरण कुत्सितः यस्मिन् पृष्टे तत्स्थमपि कुत्सितं भवति।—२-१-५३ पृ० ४०७।

८ २ १ १८, भा० १ पृ० ४२०।

९ ५ ३-६६, पृ० ४५८ तथा भा०।

पाश आदि कहे जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि व्याकरण में शोभन और शरीर में कृश वैयाकरण पाश नहीं होता क्योंकि जिस अर्थ में शब्दविशेष की प्रवृत्ति होती है उसमें दुर्बलता उसकी निन्दा का कारण बनती है। इसलिए, व्याकरण में दुर्बल विद्वान् वैयाकरणपाश कहलाता है।[1]

स्वाध्याय और व्यवहार-काल—गुरुकुल छोड़ने के बाद भी अध्ययन क्रम जारी रहता था। विद्याभ्यास की चार कोटियाँ भाष्यकार ने मानी हैं—आगम-काल, स्वाध्याय-काल, प्रवचन-काल और व्यवहार-काल।[2] आगम-काल गुरुकुलों में गुरुमुख से विद्या-ग्रहण द्वारा व्यतीत किया जाता था। स्वाध्याय स्वयं अध्ययन करने, भली भाँति अध्ययन करने और सुन्दर अध्ययन करने को कहते थे।[3] स्वाध्याय जीवन भर जारी रहता था। प्रवचन का—अध्यापन का अवसर ब्राह्मणों को ही प्राप्त होता होगा। वास्तव में सबसे बड़ी परीक्षा व्यवहार-काल में होती थी। यही शिक्षा की सफलता का मापदण्ड था। जो शिक्षक व्यवहार-काल पर दृष्टि रखते थे वे निश्चय कोरे किताबी न होकर लोकदृष्टिवादी रहे होंगे। भाष्यकार का उपर्युक्त कथन इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन शिक्षा भावी जीवन के लिए तैयारी मात्र तथा व्यावहारिक होती थी।

पार्षद संस्थाएँ और अनुसन्धान—स्वाध्याय के सुफल परिणाम तत्कालीन बहुमुखी चिन्तनाभिमुख कृतियों के रूप में सामने आये। विद्वानों की एक बड़ी संख्या नवीन अनुसन्धानों में रत थी। इन लोगों ने वेद, व्याकरण, ज्योतिष तथा अन्यान्य लौकिक विषयों पर इस काल में नवीन ग्रन्थ लिखे गये जिनका उल्लेख अन्यत्र हुआ है। उच्चारण के विषय में एक बड़ा काम छन्दोग आम्नाय की राणायनीय और सात्यमुग्रि शाखा ने किया था। वे लोग अर्ध एकार और अर्ध ओकार भी पढ़ते थे। सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्यद्यजतं ते ए अन्यत्। इन साम-मन्त्रों के गान में वे अर्ध एकार और अर्ध ओकार का भी उच्चारण करते थे। यह इन लोगों की पार्षद कृति थी अन्यथा लोक और वेद में अर्ध एकार या ओकार प्रचलित नहीं था। प्रातिशाख्यकारों का यह काम उनकी मौलिक कल्पना थी। भाष्यकार ने इसे पार्षद कृति कहा है। इससे स्पष्ट है कि विद्वानों की परिषदें आजीवन स्वाध्याय में रत रहती थीं।

---

१ वैयाकरणपाशः याज्ञिकपाशः। यत्र वैयाकरणः शरीरेण कृशो व्याकरणेन च शोभनः कर्तव्यो व्याकरणपाश इति। न कर्तव्यः। कथम्? यस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने तद्गुणवस्तव्ये प्रत्ययेन भवितव्यं न कार्श्यस्य भावाद् द्रव्ये वैयाकरणशब्दः।—५ ३ ४७ भा० १ पृ० ४४१।

२ चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति।—भा० १ पृ० १२।

३ स्वयमध्ययनं स्वाध्यायः सुष्ठु वाध्ययनं स्वाध्यायः शोभनं वाध्ययनं स्वाध्यायः।—७-१-४, पृ० १७६।

४ छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते—पार्षदकृतिरेषा तत्र भवतां नैव हि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकार अर्ध ओकारो वास्ति।—भा० १, पृ० ५४।

मौख सम्बन्ध—आर्य यौन, मौख और स्रौव ये चार प्रकार के सम्बन्ध[1] भाष्यकार ने बतलाये हैं। इनमें मौख सम्बन्ध गुरु-शिष्य-सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध उतना ही दृढ़ था जितना यौन अर्थात् पिता-पुत्रका सम्बन्ध होता है। एक चरण अर्थात् एक शाखा से सम्बन्ध रखनेवाले सारे छात्रों और विद्वानों की इसी प्रकार एक जाति मानी जाती थी जिस प्रकार एक माता में उत्पन्न भाइयों की।[2] कठ बह्वृच आदि शब्द इसी प्रकार जातिवाचक थे जिस प्रकार औपगव (उपगु के अपत्य) आदि। पाणिनि और पतंजलि दोनों ने विद्या और योनि इन दो सम्बन्धों को समान रूप से दृढ़ स्वीकार किया है। कभी-कभी इनका व्यतिकर भी हो जाता था। एक ही व्यक्ति पिता भी होता था और गुरु भी।[3] भाष्यकार ने पिता के अन्तेवासी भी बतलाये हैं। पुत्र पिता के अन्तेवासी दो स्थितियों में होते थे। एक तो गुरुकुल में जाने से पूर्व प्रत्येक पिता अपने पुत्र को प्रारम्भिक शिक्षा देता था। साथ ही यदि वह स्वयं विद्वान् और शिक्षक हुआ तो अन्य बालकों के समान उसके अपने पुत्र भी शिष्य के रूप में उसके पास रहकर अध्ययन करते थे। इन ही शिष्यों को भाष्यकार ने 'पिता के अन्तेवासी' कहा है। और इसी दृष्टि से पुत्र को धर्म पढ़ाने और धर्म का अनुशासन देने की बात कही गई है।[4] इस प्रकार, अन्य विद्यार्थी तो परस्पर सतीर्थ्य सम्बन्ध में आबद्ध होते ही थे गुरु-पुत्र भी सतीर्थ्य बन जाता था। ब्रह्मचारी और सतीर्थ्य शब्द तो स्पष्ट ही थे। वे विद्या-सम्बन्ध की दृढ़ता के ही सूचक हैं।[5] गुरु-पुत्र के सम्बन्ध में शास्त्रों ने व्यवहार सम्बन्धी नियम भी निश्चित किये थे। उसका सम्मान पिता के कारण अन्य छात्रों से अधिक था। कभी कभी गुरु-पुत्र भी यदि वह विद्वान् हुआ तो अध्यापन-कार्य करता था और गुरु के समान ही अपने शिष्य को सम्मान-श्रद्धा का अधिकारी होता था किन्तु यदि वह अध्यापन न भी करता तो भी उच्छिष्ट-भोजन और चरण-स्पर्श को छोड़कर अन्य सेवाएँ वह अपने पिता के शिष्यों से ले सकता था।[6] इससे यह भी स्पष्ट है कि शिक्षण का कार्य अपने परिवारों में परम्परागत चलता था और पिता के सामने ही उनके पुत्र अध्यापन का अभ्यास करने लगते थे। अनेक छात्रों के मामा ही उनके गुरु होते थे और पिता के समान मातुल भी अध्यापक होते थे। जिसका मातुल उपाध्याय होता वह अन्य गुरुओं की अपेक्षा उसके पास पढ़ना अधिक पसन्द करता होगा। भागिनेय शिष्य को गुरुकुल में गुरुपुत्र के समान कोई विशेषाधिकार नहीं प्राप्त था।

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध जीवन भर चलता था। शिष्य गुरु के नाम से पुकारे जाते थे। महाभाष्य

---

१ १ १ ४९, वा० ४, पृ० १००।

२ यौनं च चरणे सह तथा यौनं च चरणानि च।—४ १ ६३ प० ७२, ७३।

३ होतु पुत्रः पितुरन्तेवासी।—६-३-२३, पृ० ३०८।

४ पुत्रं ब्रूते धर्मम् पुत्रमनुशास्ति धर्मम्।—१ ४-५१ पृ० १७७।

५ ६ ३-८६, वा० १००, ८७, पृ० १५४।

६ गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रेऽपि वर्तितव्यमन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् पादोपसंग्रहणाच्च। यदि च गुरुपुत्रोऽपि गुरुर्भवति तदपि कर्तव्यं भवति।—१ १-५६, वा० ८, पृ० १३८।

७. उपाध्यायस्य शिष्यो मातुलस्य भागिनेयं पश्यतु—उपाध्यायं भवानभिवादयतामिति। स पश्यन् मातुलमभिवादयते।—३ १-१८, पृ० २९७।

में अनेक गुरुओं और उनके शिष्यों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ कुछ नामों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा —

गुरु	शिष्य	गुरु	शिष्य
शाकल्य	शाकल[1]	गर्ग (गर्गगोत्रापत्य)	गार्गीय[1]
शौवमेध्या	शौवमेध[1]	वत्स ( )	वात्सीय[1]
काष्टाहृत (काष्टा-काष्टाहृति का पुत्र)	काष्टाहृत[1]	भागवित्तिक (भागवित्ति का पुत्र)	भागवित्त[1]
तैकायनीय (तैकायनि का पुत्र)	तैकायनीय	औपगवि (उपगु-औपगव-औपगवि)	औपगवीय[1]
स्वासुरि (स्वसुर स्वसुर्य स्वासुरि)	स्वासुर[1]	कौसीनि (कुसू-कसीन कौसीनि)	कसीन[1]
स्वासोपि (स्वसा स्वसोप-स्वासोपि)	स्वासोप[1]	म्लौचुकायन (म्लुचु कायनि-पुत्र)	म्लौचुकायन[1]
कापिञ्जलादि (कापिञ्जलादि पुत्र)	कापिञ्जलाद[1]	काम्यायन	काम्यायनीय[1]
वामरथ्य	वामरथ[1]	आर्कनि	आर्चक
पैल	पैलीय[1]	कण्व	काण्व[1]
दाक्षि	दाक्ष[1]	पाराशर्य	पाराशर्मीय
पाणिनि	पाणिनीय[10]	रौढि	रौढीय[10]
काश्यप	काश्यपीय[10]	जिह्वाकात्य	जैह्वाकात[11]
हरितकात्य	हारितकात[11]	पिङ्गलकाण्व	पैङ्गलकाण्व[11]

१ ४-१ १८, भा० १, पृ० ४१।
२ ४ १-८९, भा २, पृ० १०२।
३ ४ १-७८, भा १, पृ० ८१।
४ ४ १ ९० भा १, ४, पृ० १०८।
५ ४ १ ९० भा० ४, पृ० १ ९।
६ ४ १ १६५, भा० १, पृ० १५९।
७ ४ १ १५१ पृ० १४८।
८ ४ १ १६५, भा ९, पृ० १६०।
९ ४-२-१०४ भा० २१, पृ० ९१०।
१० १ १-७३ भा० ६, पृ० ४६१।
११ वही, भा० ८ पृ० ४६१ ६२।

निर्दिष्ट सूची में कुछ गुरु-शिष्यों के सम्बन्धी हैं, कुछ आचार्य हैं और कुछ आचार्यगोत्रीय। कुछ ऐसे भी हैं, जिनके पूर्वजों के शिक्षक होने के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। शिष्य भी गोत्रापत्यों के समान ही गुरु नाम से जाने जाते थे। उनकी प्रतिष्ठा उनके गुरुकुल की प्रतिष्ठा के कारण होती थी। वे गुरु आचार्य या उपाध्याय की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे।[1] इस प्रकार ये गुरु संस्था के पर्याय बन गये थे।

चरण—चरण वेदों की शाखा को कहते थे। उसका अध्ययन करनेवाले पुरुष भी चरण कहलाते थे।[2] चरण या उच्च कोटि की वैदिक अनुसन्धानकर्त्री संस्थाएँ देश के कोने-कोने में फैली थीं। भाष्यकार के समय में सात विख्यात चरण देश के पूर्वी भाग में, तीन उत्तर में और तीन मध्य भाग में अवस्थित थे।[3] ये चरण सम्पूर्ण देश भर थे। उन्होंने चरण-व्यवस्था या चरणाम्नाय का उल्लेख किया है।[4] बह्वृच, कठ, कालाप, मौद और पैप्पलाद चरण का अध्ययन करते थे। भाष्यकार ने कहा है कि गाँव गाँव में काठक और कालापक ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं।[5] यह कथन एक ओर वैदिक अध्ययन की लोकप्रियता पर प्रकाश डालता है और दूसरी ओर शिक्षा की व्यापकता पर। प्रत्येक चरण की अपनी अध्ययन-पद्धति अपने नियम सिद्धान्त और आम्नाय होते थे। उपर्युक्त चरणों के धर्म और आम्नाय क्रमशः बाह्वृच्य, काठक, कालापक, मौदक और पैप्पलादक कहलाते थे।[6] इसी प्रकार, छन्दोगों, औक्थिकों, याज्ञिकों, नटों आदि के अलग अलग आम्नाय थे।

पाणिनि में चरक का उल्लेख है। चरकों का हितकर वस्तु चारकीण कहलाती थी। चरक वैदिक विद्यार्थी थे जो ज्ञान-शिक्षा तथा ज्ञान-सञ्चय के लिए, समाज में विचरण करते थे। बृहदारण्यक में इस शब्द का प्रयोग मूलतः ब्रह्मचारी के लिए हुआ है। चरक पतञ्जलि के समय में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। वे प्रवचन, प्रश्नोत्तर तथा शास्त्रार्थ द्वारा लोगों का ज्ञान-वृद्धि करते थे।

कुछ चरण इतने प्रसिद्ध थे कि उनमें दाखिल होकर विद्यार्थी गर्व का अनुभव करते थे। कभी-कभी वे इस कारण औरों को तुच्छ समझते थे। इस विषय में 'गोत्रचरणाच्छ्लाघात्याकार-तदवेतेषु' (५ १ १ ४) विशेष ध्यान देने योग्य है। काशिकाकार ने गार्ग्य और कठ

---

१ ४ २ १०४ वा० १४ पृ० २०८।

२ चरणशब्दः शाखानिमित्तः पुरुषे वर्तते।—२-४ ३ वा०।

३ चरणसम्बन्धेन निवासलक्षणोऽण् वक्तव्यः। अतः प्राच्यसप्त उदीच्यास्त्रयो मध्यमाः। सर्वे निवासलक्षणाः।—४-२ १३८, वा० २, पृ० ३१८।

४ बह्वृचश्चरणाख्यायाम्।—५ ४ १५४ पृ० ५१४।

५ ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते—४ ३ १०१ वा० १ पृ० २४६।

६ चरणाद् धर्माम्नाययोः कठानां धर्म आम्नायो वा काठकम् कालापकम् मौदकम् पैप्पलादकमिति—४ ३ १२० वा० ११, पृ० २५२।

७ छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः।—४ ३ १२९।

८ माणवचरकाभ्यां खञ्।—५ १ ११।

चरणों में प्रवेत (प्रविष्ट) होकर प्राप्त गार्गिका और काठिका (गार्ग्यत्व और कठत्व) के कारण गर्व अनुभव करने एवं दूसरों को छोटा समझनेवालों का उल्लेख किया है, जो इस बात का द्योतक है कि गार्ग्य और कठ चरणों की प्रतिष्ठा पितरों में बहुत अधिक थी।

स्त्रियों की शिक्षा—पतंजलि-काल में स्त्रियों में भी शिक्षा का प्रसार था। सामान्य जनता के विषय में तो निर्विवाद रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु ब्राह्मण-स्त्रियों में अध्ययन की प्रथा अवश्य थी। पतंजलि ने आचार्या और उपाध्यायी का उल्लेख किया है। उपाध्यायी या उपाध्याया वे स्त्री-अध्यापिकाएँ कहलाती थीं जिनके पास पढ़ने के लिए बाहर से छात्र आते थे।[1] लोकायत-सम्प्रदाय की व्याख्याती वर्णिका या वर्तिका नामक आचार्या का भी भाष्य में उल्लेख मिलता है।[2] आपिशल और काशकृत्स्न के बनाये हुए शास्त्रों का अध्ययन करनेवाली आपिशला और काशकृत्स्ना ब्राह्मणियों[3] कठ और बह्वृच शाखा की अध्येत्री कठी और बह्वृची स्त्रियों के दर्शन भाष्य में होते हैं। उदमेघ गोत्र की अध्यापिका औदमेध्या का उल्लेख जिसके शिष्य औदमेध कहलाते थे ऊपर हुआ ही है। फिर भी 'छात्र्यादयः शालायाम्' (६-२-८६) सूत्र के आधार पर कुछ विद्वानों ने पाणिनि-काल में जो स्त्रियों के छात्रा-आवासों का अनुमान किया है वह समीचीन नहीं है, क्योंकि छात्र्यादिगण में पठित शब्द छात्रि है, छात्री नहीं। यदि यह शब्द ईकारान्त होता तो भी स्त्री छात्र का बोध नहीं हो सकता था क्योंकि छात्र का स्त्रीलिंग रूप छात्रा होता है छात्री नहीं। तथापि कुमारी श्रमणाएँ प्रव्रजिताएँ और तापसियाँ तथा कुमारी अध्यापिकाएँ और पण्डिताएँ समाज में विद्यमान थीं इसमें सन्देह नहीं।[4]

शिक्षा-संस्थाएँ और नैतिक स्खलन—वैदिक अध्ययन के पुनरुत्थान के इस युग की शिक्षा-संस्थाओं में प्रायः वे दोष आ गये थे जो शिक्षा को अर्थ के साथ संयुक्त कर देने से आ जाते हैं। यज्ञ ब्राह्मणों की आय के बड़े साधन हो गये थे। याज्ञिकुलों में उपाध्याय के शिष्यों को यथासमाधि प्राप्त होते थे।[6] शिक्षा-संस्थाओं से श्रद्धालु यजमानों से अच्छे दान प्राप्त होते थे। सम्भव है स्थायी सम्पत्ति भी उनके पास आ गई हो। फलतः गुरुकुलों में विद्यार्थियों को खाने-पीने की पर्याप्त सुविधा प्राप्त थी। पाणिनीय विद्यापीठों में ओदन की बहुतायत थी। काशकृत्स्नीय गुरुकुलों में कम्बल खूब प्राप्त होते थे। रौढीय संघातों में घृत अधिक मिलता था। कुछ छात्र इसी लोभ से इन संस्थाओं में प्रवेश लेते थे।[7] शिक्षा-संस्थाओं

---

१ उपेत्याधीयतेऽस्या उपाध्यायी उपाध्याया।—३ ३ २१ भा० ६, पृ० १०२।

२ वर्णिका-भागुरी लोकायतस्य-वर्तिका०।—७-३-४५, भा० ७ ८, पृ० १९०।

३ आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी, काशकृत्स्नमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी।—४ १ १४, भा ३, ४ पृ ३६, ३७।

४ ६ १ १५, भा १०, पृ० ३३१।

५ कुमारः श्रमणादिभिः।—२-१-७०।

६ उपाध्यायस्य शिष्या याज्ञिककुलानि प्रत्याऽऽसादयतीति लभते।—१ १-५६, भा० १, पृ० ३३४।

७ १ १-७३, भा० ६, पृ० ४६१।

में इस प्रकार के दोष पाणिनि-काल में ही प्रविष्ट होने लगे थे। 'गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु क्षेपे' (६ २ ६९) सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने क्षेप के कुछ नवीन कारण भी दिये हैं। काशिका काल तक आते-आते सामाजिक स्थिति ऐसी हो गई थी कि बिना व्याकरण पढ़े हुए विद्यार्थी का शीघ्र विवाह नहीं होता था। इसलिए, कुछ छात्रों को कुमारी-लोभ से दाक्षादि की कृतियों का अध्ययन करना पड़ता था। इन लोगों की निन्दा के लिए ओदनपाणिनीय कम्बलचारायणीय घृतरौढीय कुमारीदाक्ष आदि नाम दिये गये थे। जो लोग अधिक भिक्षा पाने के लिए माणव बन जाते थे, वे भिक्षामाणव कहलाते थे।[1] स्वाभाविक था कि ये विद्यार्थी अध्ययन को महत्त्व न देकर जिस गुरुकुल में अधिक सुख-सुविधा प्राप्त होती, वहाँ चले जाते और इस प्रकार बार बार गुरुकुल बदलते रहते थे। ऐसे छात्रों के लिए तीर्थकाक तीर्थध्वांक्ष आदि निन्दासूचक शब्द गढ़े गये थे।[2] ये लोग आमन्त्र में बाधा आती देखकर अध्ययन-व्रत छोड़ देते और विवाह कर लेते थे। इस बढ़ती प्रवृत्ति को रोकने के लिए खट्वारूढ़ जैसे निन्दक शब्दों का उपयोग चल पड़ा था।[3] इस प्रकार के छात्र गुरुकुल में रहकर भी चरित्रहीनता का परिचय देते थे। भाष्यकार का यह कथन कि गुरुतल्पगामी का विनाश हो जाता है[4] और धर्मशास्त्रों द्वारा गुर्वङ्गना-समागम को महापातकों में सम्मिलित किया जाना इस बात का साक्षी है कि शिक्षा-संस्थाओं में इस प्रकार के घृणित कृत्य भी यत्र-तत्र पाये जाते थे। दण्ड और अजिन लेकर विद्यार्थी का ढोंग करनेवाले लोग इतने बढ़ गये कि दाण्डाजिनिक शब्द ही ढोंगी का पर्याय बन गया था।[5]

विद्यार्थी-वर्ग की इन दुर्बलताओं का मूल शिक्षकों-सम्बन्धी पातंजल वक्तव्यों में ढूँढ़ा जा सकता है। छात्र गुरुओं के प्रेषण और उपालम्भ से तंग आ जाते थे।[6] इसलिए वे उनसे मुँह छिपाते घूमते थे। अध्ययन भी शुष्क और क्लिष्ट था तथा गुरु लोग दुर्व्यवहार करते थे। दास्याध्यापक का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।[7] गुरु की सेवा के अतिरिक्त छात्रों को गुरु के अपत्यों की भी सेवा-टहल करनी पड़ती थी। गुरुपुत्र स्वयं को गुरु से कुछ कम नहीं मानते थे।[9] इसलिए बहुत-से छात्र अध्ययन से परिक्लान्त हो जाते थे।[10] इसी कारण गुरुकुल का जीवन कष्टकर हो चला था।[11]

---

१ ६ २-६९ का०।

२ २ १ ४२, भा० १, पृ० ३९४।

३ २ १-२६, पृ० ३८१।

४ व्यसते गुरुतल्पगः।—१ १-४८ भा० ४, पृ० २१७।

५ अयः शूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ, दण्डो दण्डाजिनं तेनान्विच्छति दाण्डाजिनिकः।—५ २-७६ काशिका।

६ १ ४ २८, पृ० ३६४।

७ १ ४ २६, पृ० ३६३।

८ २ १ ६७, भा० २, पृ० ३००।

९ १ १-५६, भा० ८, पृ० ३३८।

१० २-२-१८ पृ० ३५०।

११ १-१ १, पृ० २७७।

अध्याय २

वेद-संहिता और उनकी शाखाएँ

वाङ्मय—*भाष्यकार ने वाङ्मय के निम्नलिखित विभाग कहे हैं।*[1] (१) चार वेद जिनमें ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेद की एक सौ एक सामवेद की एक सहस्र तथा अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं (२) वेदांग जिनमें शिक्षा कल्प निरुक्त व्याकरण और छन्दस् एवं ज्योतिष सम्मिलित हैं (३) वेद के रहस्य प्रतिपादक ग्रन्थ (४) वाकोवाक्य (५) इतिहास (६) पुराण और (७) वैद्यक। उन्होंने चारों वेद के प्रथम मंत्रों को भाष्य के प्रारम्भ में ही उद्धृत किया है और जिनमें 'अग्निमीळे पुरोहितम्' ऋग्वेद की शाकल-संहिता का 'इषेत्वोर्जेत्वा' यजुर्वेद का 'अग्न आ याहि वीतये' सामवेद का और 'शन्नो देवीरभिष्टये' अथर्ववेद का मंत्र है।

ऋग्वेद

बह्वृच्य—वाजसनेयी संहिता-भाष्य में महीधर ने कहा है वेद पहले अविभक्त था। बाद में व्यास ने मनुष्यों को मन्दमति देखकर ब्रह्म-परम्परा से प्राप्त वेद को ऋक् यजु साम और *अथर्व इन चार भागों में विभक्त कर उन्हें क्रमशः पैल वैशम्पायन जैमिनि और सुमन्तु को पढ़ाया।*[2] भाष्यकार ने ऋग्वेद को बाह्वृच कहा है। यह बह्वृचों का आम्नाय था[3] ऋग्वेद को बह्वृच भी कहते थे। सर्वाधिक ऋचाओं का वेद होने के कारण ऋग्वेद का यह नाम पड़ा था। ऋग्वेदियों की एक शाखा भी बाह्वृच थी। ऋक् सामान्यतया ऋग्वेद को और विशेषतः छन्दोविशेष को

---

१ चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। —अ० १ पा० ५, पृ० २१।

२ तथादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश। (वाज सं० शु० यजु०) पर महीधर भाष्य के प्रारम्भ में।

३ ४ ३ १२९।

४ ५ १ १५४, पृ० ५१४।

कहते थे।[1] ऋक् कहने से संपाठ-मात्र का बोध होता था अर्थ का नहीं।[2] ऋक् का प्रयोग सम्भवतः सभी वेदों के लिए होता था। काठक, कालापक मौदक और पैप्पलादक सब ऋक् कहलाते थे। भाष्य में इन्हें छन्दस् भी कहा है।[3]

भाष्य में बाह्वृच्य को इक्कीस प्रकार का बतलाया है।[4] प्रपञ्चहृदय भी इसका समर्थन करता है। उसके अनुसार किसी कारण से शतक्रतु ने वज्राघात से अनेक शाखाओं को नष्ट कर दिया और तब ऋक् और साम की केवल बारह बारह-शाखाएँ शेष रह गईं। आथर्वण-परिशिष्ट चरणव्यूह में ऋग्वेद की सब शाखाओं का सात चरणों में अन्तर्भाव कर दिया है।

ऋग्वेदीय शाखाओं में से निम्नलिखित का नाम भाष्य में मिलता है—१ पैल, २ औदुम्बरि ३ शाकल्य ४ मुद्गल, ५ गालव ६ शालीय ७ वात्सीय ८ धौलक ९. पैंगी, १० औप्य ११ पराशर १२ माठर १३ माण्डूक्य १४ आसरीय १५ बह्वृच १६ वास्की १७ सौलभ और १८ वासिष्ठ। इनमें प्रथम भी शाकल्य चरण-व्यूह के अन्तर्गत हैं। यह चरण-व्यूह ही भाष्यकार के समय में सर्वाधिक लोकप्रिय था।

पैल—पुराणों के अनुसार व्यास ने पैल को स्वयं ऋग्वेद पढ़ाया था। पैल पीला के पुत्र थे।[5] इन्हें पैलय भी कहते थे। सभापर्व में इन्हें वसुपुत्र तथा होता (ऋग्वेदीय) कहा है।[6] पैल के दो शिष्य हुए—बाष्कल और इन्द्रप्रमति। बाष्कल का उल्लेख भाष्य में नहीं मिलता। इन्द्रप्रमति की संहिता माण्डूकेय को मिली। भाष्य में पैल के शिष्यों को पैलीय कहा है। पैल के पुत्र भी पैल ही कहलाते थे।[7] पैलादिगण में भी इनका उल्लेख है।[8]

औदुम्बरि—आथर्वण परिशिष्ट के औदुम्बरि चरण से भाष्यकार परिचित थे।[9] उन्होंने पिता और पुत्र दोनों की आख्या औदुम्बरि ही बतलाई है।

---

१ अथछन्दसीत्युच्यते नैतच्छन्दः समीक्षितं काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकं।—भा० ४ १-८६, भा १ पृ० ९६ तथा ऋचीति नेदं छन्दो विवक्षितं काठकम्—किं तर्हि ऋक् चेत् प्रत्ययार्थो भवतीति।—४ १ १, भा० ३ पृ० ८।

२ ऋगित्युक्ते सम्पाठमात्रं गम्यते। नास्या अर्थो गम्यते।—१ १ ६९, भा० १ पृ० ४३८।

३ अथछन्दसीत्युच्यते नैतच्छन्दः समीक्षितं काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकं।—भा १ १-८६ भा० १ पृ० ९६ तथा ऋचीति नेदं छन्दो विवक्षितं काठकम्—किं तर्हि ऋक् चेत् प्रत्ययार्थो भवतीति।—४ १ १ भा० ३ पृ० ८।

४ बाह्वृच्य एकविंशतिधा। तत्र केनचित् कारणेन शतक्रतुना वज्रघातिता वेदशाखा यथावशिष्टा. सामबाह्वृच्योर्द्वादश द्वादश—प्र० हृदय वेद-प्रकरण।

५ पीलाया वा।—४ १ ११८।

६ पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत्।—सभापर्व अ० ३६, श्लो० ३५।

७ पैलस्य पैलीयाः।—४ १ १६५, भा० २, पृ० १६०।

८ यथेतावत् प्रयोजनं पैलादिष्वेव पाठं कुर्वीत।—१ २ ४१, भा० ४ पृ० ५१८।

९. २ ४-५९।

१० २ ४-५८ पृ० ४९३।

शाकल्य—शाकल लोग शाकल्य के शिष्य थे।[1] शाकल्य के गोत्रापत्य शाकल्यायन और शाकल्यायनी (स्त्री०) कहलाते थे।[2] ये स्वयं शकल के पुत्र थे। पाणिनि के कण्वादिगण में भी इनका नाम आया है।[3] शाकल्य का प्रगृह्यसंज्ञा-विषयक नियम वैयाकरणों में बहुत प्रसिद्ध था। उ+इति को अन्य आचार्य लोग 'विति' बोलते थे, किन्तु शाकल्य ऊँ इति तथा उ इति। इसी प्रकार के अनार्ष सम्बोधन के ओकार को भी वे प्रगृह्यसंज्ञक मानते थे। भाष्यकार ने इन नियमों का शाकल नाम से बार-बार उल्लेख किया है।[4]

शाकल्य की संहिता उपलब्ध थी और उसका पाठ भी किया जाता था। भाष्य में शाकल्य की संहिता को 'सुकृता' कहा है, जिसे सुनकर पर्जन्य बरस पड़ा था। यद्यपि यह घटना बार-बार होती नहीं देखी गई, तो भी इससे शाकल्य-संहिता के प्रति सामान्य जनों की श्रद्धा व्यक्त होती है।[5] कात्यायन की ऋक्-सर्वानुक्रमणी भी शाकल्य-संहिता पर ही है। यह बात अनुक्रमणीकार ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दी है।

वायु (अ० ६०) ब्रह्माण्ड (अ० ३५) और विष्णुपुराण (अ० ३ ४) के अनुसार शाकल्य के पाँच प्रमुख शिष्य हुए—मुद्गल, गालव, वात्सीय, वात्स्य और शैशिरेय। ये सब शाखाकार थे।

मुद्गल—मुद्गल से वार्तिककार और पतंजलि दोनों परिचित थे। इनकी पत्नी मुद्गलानी थीं। भाष्य में 'रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ' मन्त्रांश दो बार उद्धृत है।[6] मुद्गल भृम्यश्व के पुत्र थे। निरुक्त में इन्हें भार्म्यश्व कहा है। भार्म्यश्व ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२० वें सूक्त के ऋषि हैं। इस सूक्त में चार बार मुद्गल शब्द आया है। मुद्गल के पुत्र वध्र्यश्व और उनके दिवोदास हुए। ऋग्वेद में वध्र्यश्व के लिए दिवोदास को देने की बात कही गई है। इस मन्त्रांश को भाष्यकार ने भी उद्धृत किया है।

गालव—गालव के ह्रस्व-नियम का उल्लेख पाणिनि ने सादर किया है, जिसपर भाष्यकार ने कहा है कि जो नियम जिस आचार्य के नाम से बतलाया जाता है उसका प्रवक्ता उस

१　४ १ १८ वा० १, पृ० ४३।

२　लोहितादिषु शाकल्यस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्।—४-१ १८, पृ० ४३।

३　ये कण्वादयस्ते शकलादयः ये शकलपर्यन्तास्तेऽशकलपर्यन्ताः।—वही।

४　१ १ १८ वा० १ २ पृ० १८८, ८९।

५　शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशाम्य देवः प्रावर्षत्। अस्ति हि नाम स भवति येन पुनः पुनर्लभ्यते तदवश्यं सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते। सकृच्चासौ शाकल्येन।—१ ४-८४ तथा वा० १ २, पृ० २०० १।

६　४ १ ४९, वा० ५, पृ० ६३ तथा ५ १ ४९ वा० २, पृ० ४११ (४ का शेष) इदं तर्हि प्रयोजनं दीर्घशाकलप्रतिषेधार्थम्।—८-२-१ ८, पृ० ४०१ तथा १ १ ६३ वा० ६, पृ० ४०९ आदि।

७　दिवोदासाय गायत वध्र्यश्वाय दाशुषे।—६-२-९१, वा० १ पृ० २७५।

८　६ २-९१।

आचार्य की ही शिष्य-परम्परा में समझना चाहिए। इसलिए गालव नियम के अनुसार होनेवाले ह्रस्व का प्रयोग उन्हीं की शाखा में समझना चाहिए।[1] गालव का दूसरा नाम बाभ्रव्य पांचाल भी बतलाया गया है।[2] पाणिनि ने बाभ्रव्य को बभ्रु का गोत्रापत्य तथा कौशिकगोत्रीय माना है।[3] बाभ्रव्य का उल्लेख भाष्यकार ने भी किया है, किन्तु गालव से उसका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है।[4] गालव का एक मत ऐतरेय आरण्यक में ही मिलता है। उनके मत से महाव्रताध्ययन की समाप्ति एक ही दिन में की जा सकती है।[5] जातूकर्ण्य का मत इससे भिन्न है। गालवों के संहिता ब्राह्मण या सूत्रग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

शालीय[6] गार्ग्य और वात्सीय[7] नाम भाष्य में आये हैं, किन्तु इनके विषय में कोई जानकारी भाष्य से प्राप्त नहीं होती। इन शाखाओं के भी ब्राह्मण या सूत्रग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं।

ऋक् प्रातिशाख्य की कर्त्री शैशिर शाखा जिसपर सायण का अधिकांश भाष्य आधृत है, भाष्य में उल्लिखित नहीं है।

शौनक—पाणिनि और पतञ्जलि दोनों शौनकीयों से परिचित थे। शैशिरिशिक्षा में मुद्गल गालव, गार्ग्य शाकल्य और शैशिरि शौनक के शिष्य बतलाये गये हैं।[8] शौनक शाखा का उल्लेख भाष्य में सर्वत्र वात्स्यों के साथ हुआ है।

बाष्कल-संहिता—उपर्युक्त समस्त शाखाओं का मूल शाकल्य संहिता है। इसके अतिरिक्त बाष्कलों की भी अपनी संहिता थी और ब्राह्मण भी। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार बाष्कलों की अन्तिम ऋचा 'तच्छंयोरावृणीमहे' इत्यादि है। यह संज्ञान सूक्त की पन्द्रहवीं ऋचा है। शाकलों की अन्तिम ऋचा समानीव आकूति आदि है। बाष्कल के चार प्रमुख शिष्य हुए—बौध्य अग्निमाठर, पराशर और जातूकर्ण्य। भाष्य में बाष्कल और जातूकर्ण्य का उल्लेख नहीं है। बौध्य बोध के गोत्रापत्य और आंगिरसगोत्रीय थे।[10] भाष्य में अग्निमाठरों का नहीं केवल माठरों का उल्लेख है

---

१ आचार्यदेशशीलने न प्रयुज्यते तस्य तद्विषयता प्राप्नोति। इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य इति गालवा एव ह्रस्वान् प्रयुञ्जीरन्।—१ ४ ४४ वा० १७, पृ० २६४।

२ भगवद्दत्त: वैदिक वाङ्मय का इतिहास पृ० १९०।

३ मधुबभ्रोर्ब्राह्मणकौशिकयो:।—४ १ १०६।

४ १ ४ १, वा० ६, पृ० ९८ तथा १ १ ३ वा० ५, पृ० ११६।

५ नैवमेतस्मिन्नहनि समापयेत इति ह्रस्माह जातूकर्ण्यः। समापयेदिति गालवः।—ऐत० आ० ५ ३।

६ १ १ १, पृ० १२ तथा ४ १-८९, वा० ९, पृ० १०२।

७ ४-२ १०४, वा० २२, पृ० २९०।

८ ४ २-६६, वा० ३ पृ० १९० तथा ४-३-१०६।

९. राजकीय संग्रहालय, मद्रास ट्राइनियल कैटेलॉग ऑव संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स जिल्द ४ भाग आई० सी०, १९२८, पृ० ४५९, ९७।

१० कपिबोधादाङ्गिरसे।—४ १ १०७।

पर न प्रतिष्ठित व्यक्ति या आचार्य नहीं हैं।[1] पराशर लोगों का अपना कल्प था। भाष्यकार ने इसके अध्येता को पाराशरकल्पिक कहा है।[2] इससे अनुमान होता है कि पतंजलि-काल में इस शाखा का महत्त्व क्षीण हो चुका था।

माण्डूकेय—चरण-व्यूह द्वारा निर्दिष्ट आर्च शाखाओं का अन्तिम समूह माण्डूकेयों का था। पाणिनि ने माण्डूकों का स्मरण किया है। भाष्यकार ने इस सूत्र पर वार्त्तिक की टीका की है और वार्त्तिककार द्वारा निर्दिष्ट असुर शाखा के आसुरीय कल्प का उल्लेख किया है।[3]

बह्वृच—बह्वृच लोगों की एक स्वतन्त्र शाखा थी। भाष्यकार ने कठों के साथ बह्वृचों का स्मरण किया है।[4] उन्होंने उसे चरणाख्या[5] माना है। शाखा से भिन्नता व्यक्त करने के लिए ही बहुत ऋचाओंवाले सूत्र को बह्वृचक कहते थे।[6]

पैङ्ग्य—पैङ्ग्यों की भी एक शाखा थी। इनका अपना कल्प पैङ्गी कहलाता था।

आरुणी—महाभारत सभापर्व (४ १९) के आरुणि उद्दालक के शिष्यों को आरुणिन् कहते थे। भाष्य के अनुसार पिता की संज्ञा उद्दालक और पुत्र की औद्दालकि थी। उद्दालक के शाखा से भिन्न गोत्रापत्य औद्दालकायन कहलाते थे। ये लोग प्राच्य थे।[8] इनकी शाखा आरुणिन् कहलाती थी।[9]

शौनक—इस शाखा के ब्राह्मण भाष्यकाल में उपलब्ध थे। शौनक ब्राह्मण-ग्रन्थों का उल्लेख भाष्य में है।[10] वाशिष्ठी शाखा से भी भाष्यकार परिचित थे।[11] शौनकों का उल्लेख पाणिनि ने किया है और भाष्य में भी उक्त कथन को उद्धृत किया है।[12]

ऐतरेय का उल्लेख भाष्य में नहीं है, न आश्वलायन और शांखायन की ही कहीं चर्चा है, यद्यपि मनुस्मृति (२ ६) के टीकाकार मेधातिथि ने इक्कीसों बाह्वृच्य शाखाओं में ऐतरेय और आश्वलायन को प्रमुख माना है।[13] आश्वलायनों का अपना कल्प था जो शाकल बाष्कल-संहिताओं

---

१ १ १-२६, भा० १, पृ० ११६ तथा भा० २, पृ० ७१।

२ ४-२-६० पृ० १८०।

३ कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च कौरव्यमाण्डूक्योरासुरेरुपसंख्यानं कर्तव्यम्, आसुरीय कल्पः।—४ १ १९, भा० १, पृ० ४४।

४ २ ४-२९, पृ० १७८।

५ ५ ४ १५४ पृ० ५१४।

६ वही।

७ ४-२-६६, भा ५ पृ० १९१।

८ २-४ ६७, पृ० ५०५।

९ ४ २-१०४, भा० १६ पृ० २०९।

१० ४-२-६६ भा० ४ पृ० १९१।

११ ४ १ ११४ भा० १ पृ० १६७।

१२ शौनकादिभ्यश्छन्दसि।—४-२-६६, पृ० १९०।

१३ एकविंशति बाह्वृच्या आश्वलायनैतरेयादिभिर्भेदैः।

तथा प्रमुख इक्कीस ऐतरेय ब्राह्मणों के आधार पर बनाया गया था।[1] आश्वलायन का भी आधार होने के कारण ऐतरेय शाखा उससे बहुत पुरानी रही होगी। बाष्कल-संहिता पतंजलि के समय में प्रतिष्ठित नहीं रह गई थी, किन्तु आश्वलायनों ने उसका आश्रय लिया था। यह बात आश्वलायन कल्पसूत्र का काल पतंजलि से बहुत पूर्व सिद्ध करती है। शांखायनों तथा उसके अन्य तीनों भेदों—कौषीतकि, महाकौषीतकि और शाम्बव्य के विषय में भी भाष्य मौन है।

ऋग्वेद की सम्प्रति उपलब्ध संहिता (१) अष्टक अध्याय वर्ग मन्त्र (२) मण्डल सूक्त मन्त्र और (३) मण्डल अनुवाक सूक्त और मन्त्र इस क्रम से विभाजित है। भाष्यकार इन सब विभागों से परिचित थे।[2] दस मण्डलों में विभक्त होने के कारण ऋक्-संहिता को दाशतय कहते थे।[3] वर्ण-समुदाय पद, पद-समुदाय ऋक् और ऋक्-समुदाय सूक्त कहलाते थे।[4] एक वर्ण का पद, एक पद की ऋचा और एक ऋचा का भी सूक्त है।[5] द्विपदा ऋचाओं तृच सूक्त[6] तथा प्रगाथों का उल्लेख भाष्य में मिलता है।[7] दशानुवाक सूक्तवाक अध्याय पद-पाठ क्रम-पाठ[8] शब्द भी भाष्य में आये हैं, जिनसे ऋक्संहिता के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने में सहायता मिलती है। जिसमें अध्ययन किया जाय, उसे अध्याय कहते थे।[9]

यजुर्वेद

यजुर्वेद को भाष्यकार ने अध्वर्युवेद कहा है और इसकी एक सौ एक शाखाएँ बतलाई हैं। माध्यन्दिन शतपथ के अन्तिम वचन के अनुसार वाजसनेय या याज्ञवल्क्य शुक्ल यजुष् के संहिताकार हैं।[10] भाष्यकार ने याज्ञवल्क्य-प्रणीत ब्राह्मणों का उल्लेख किया है।[11] वार्त्तिक श्लोकों के प्रणेता वररुचि स्कन्दपुराण के अनुसार, इनके पुत्र थे।[12] किन्तु इनकी कोई स्वतन्त्र

---

१ शाकल्यस्य संहितैका बाष्कलस्य तथा परा।
द्वे संहिते समाश्रित्य ब्राह्मणान्येकविंशतिः॥
ऐतरेयकमाश्रित्य तदेवान्यैः प्रपूरयन्॥
—षड्गुरुशिष्यसर्वानुक्रमवृत्ति का उपोद्घात।

२ ५ २-६०, भा० १, पृ० १९६।

३ ६-४ १५९, भा० ९, पृ० ४९०।

४ वर्णसमुदायः पदं पदसमुदाय ऋक् ऋक्समुदायः सूक्तमित्युच्यते। भवति चैतद्‌ द्वैकस्मिन्नप्येकवर्णं पदमेकपदमेकर्क च सूक्तमिति।—१ १ २१, भा० ५, पृ० १००।

५ ६ १ १७ भा० ५, पृ० ९८।

६ २-४ ३३, पृ० ४७७।

७ ६ १ ३०, भा० १, पृ० ४७६।

८ ५ १ ११९, भा० ५, पृ० ३५६।

९ अधीयते तस्मिन्नध्यायः।—३ २-२०, भा० १ पृ० १०००।

१० आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।

११ ४ २-६६, भा० ४, पृ० १९१।

१२ पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः।—स्क० पु० १११—४२।

शाखा भी या नहीं कहा नहीं जा सकता। स्कन्दपुराण में ही इनके पुत्र कात्यायन को वेदसूत्रकर्ता कहा है।[1] इससे वररुचि और कात्यायन एक ही व्यक्ति का नाम जान पड़ता है।

वाजसनेयों की पन्द्रह शाखाएँ हुईं, जिनमें से जाबाल, बौधेय, काण्व, कात्यायन वैजवाप और आवटिक नाम भाष्य में मिलते हैं।

जाबालि—उपनिषद्-वाङ्मय के सत्यकाम जाबाल के पुत्र थे। पिता और पुत्र दोनों का उपनाम जाबालि प्रचलित था।[2] जाबालोपनिषद् के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है।

बौधेय—सम्भव है, याज्ञवल्क्य की शाखा हो। भाष्य में पिता और पुत्र दोनों का नाम बौधि ही बतलाया है।[3] एक चरण-व्यूह में बौधेय के स्थान पर शाखा का नाम बौधायन दिया है। सम्भव है बौधेय और बौधायन दोनों एक हों या एक गोत्र के हों।

काण्व—भाष्यकार ने काण्व दण्ड-माणवों तथा काण्व-छात्रों की चर्चा की है। इनकी संहिता और ब्राह्मण दोनों उपलब्ध हैं। कण्व गोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। काण्ववंशीय काण्वायन लोग आचार्य हुए हैं। इनके शिष्य काण्वायनीय कहे जाते थे। काण्व-संहिता में ४० अध्याय, ३२८ अनुवाक और २०८६ मंत्र मिलते हैं।

माध्यन्दिन—भाष्यकार ने माध्यन्दिन शब्द की उत्पत्ति मध्य से मानी है और किसी माध्यन्दिन द्वारा वेदपाठ का वर्णन किया है। माध्यन्दिन कौन थे, कहा नहीं जा सकता। वाजसनेयी संहिताओं में आजकल इसी शाखा की संहिता का प्रचार सर्वाधिक है। इसके ४० अध्यायों में ३०३ अनुवाक और १९७५ मन्त्र हैं। इनकी दो शिक्षाएँ भी प्रकाशित हैं, किन्तु सूत्रग्रन्थों का पता नहीं चला है।[5]

कात्यायन—कात्य और उनके गोत्रापत्य कात्यायन दोनों व्याकरण के आचार्य थे। सम्भव है, वे ही कात्यायन-शाखा के प्रवर्तक रहे हों। पतंजलि ने कात्य का मत उद्धृत किया है[6] और कात्यायन का भी।

वैजवापि—वैजवापियों का भी उल्लेख भाष्यकार ने किया है। इनके पुत्र यज्ञ-यज्ञ

---

१ कात्यायनं सुतं प्राप वेदसूत्रस्य कारकम्।—स्क० पु०, नागरखण्ड, अ० १३१।

२ २-४-५८, पृ० ४९३।

३ ४-१-१०४ वा० २३, पृ० ९१०।

४ ४-१-१६५, वा० १, पृ० १५९।

५ मध्य शब्दो मध्यं प्रथममापद्यते दिनम् तस्मात् प्रत्ययो वक्तव्यः; माध्यन्दिन उपमायति।—४-३-५८, वा० ३ पृ० २१७।

६ शौनाच भगवान् कात्यस्ते नातिनिर्दिष्टवस्तुतो।—१-२-३, पृ० २०८।

७ स्मारितिकिंचि पुराकल्पे यथाविधिमेव किं कृतो भवति। तस्य पुरस्तात् इति भगवता कात्यायनेनेह।—१-२-११८, पृ० ३५१।

८ तां वैजवापयो विदाञ्चक्रम्।—२-४-८१, वा० १, पृ० ५१०।

बिखरे मिलते हैं। गृह्यसूत्र प्रकाशित हो चुका है। पाणिनि के रैवतिकादिगण (४ ३ १३१) में इनका उल्लेख है।

आवटिक—अवट की गोत्र-परम्परा में आवट्य और आवट्यायन थे। आवटिकों का इनसे क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भव है आवट्य और आवटिक एक हों।[1]

चरक—काशिका के अनुसार वैशम्पायन का दूसरा नाम चरक था।[2] ये वैशम्पायन के द्वितीय शिष्य और कृष्ण यजुर्वेद के शाखाकार थे। इन्होंने ८६ शाखाएँ प्रवर्तित कीं। इनके शिष्य भी चरक कहलाये।[3] पाणिनि ने भी चरक-प्रोक्त ग्रन्थों का उल्लेख किया है और उनके हितकर को चरकीय नाम दिया है।[5] वाजसनेयिसंहिता में एक लिङ्ग है, जिसमें चरक शब्द का प्रयोग निन्दा प्रदर्शन के लिए हुआ है। शतपथ ने अपने अनुयायियों के प्रतिस्पर्धियों को चरकाध्वर्यु नाम दिया है। शतपथ इनका निन्दक है। वाजसनेयिसंहिता (१० १८) में तद्विषयक उल्लेख है।[6] भाष्यकार ने निवास की दृष्टि से जिन तीन प्राच्य तीन उदीच्य और तीन मध्य चरणों का वर्णन किया है[7], वे सब चरक थे। पुराणों के अनुसार भी ८६ कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं के ये तीन ही मुख्य भेद थे।[8] काशिका के अनुसार प्राच्यों में आलम्बि पलंग और कमल, उदीच्यों में श्यामायनि, कठ और कलाप तथा मध्य देश्यों में ऋचाभ आरुणि और ताण्ड्य प्रमुख थे। यही भाष्यकार की आचार्यत्रयी का चिह्न था।[9] भाष्यकार ने इनमें से कठों और कालापों का ही मुख्य रूप से वर्णन किया है।

कठ-कालाप—कठों और कालापों से भाष्यकार का विशेष सम्बन्ध था। यजुर्वेद की यही शाखा उनके समय में सर्वाधिक समादृत थी। काठकों की प्रतिष्ठा पाणिनि के समय में भी थी। उन्होंने काठक यजु संहिता के कुछ प्रयोगों की निष्पत्ति के नियम दिये हैं।[10] इनके आदि आचार्य कठ और कलापी थे। ये दोनों वैशम्पायन के प्रत्यक्ष शिष्य थे। कठ के प्रत्यक्ष शिष्य खाडायन हुए।[11] कलापी के प्रत्यक्ष शिष्यों का नाम भाष्यकार ने नहीं दिया है। कठ और कलापी

---

१ ४-१-७५, भा० २, पृ० ७८।

२ चरक इति वैशम्पायनस्याख्या।—४ ३-१०४ का०।

३ तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते।—वही।

४ ४-३-१०७।

५ ५-१-११।

६ मैक्समूलर: प्राचीन संस्कृत वाङ्मय पृ० ३५०।

७ त्रय प्राच्या त्रय उदीच्या त्रयो मध्यमा। सर्वे निवासलक्षणा।—४-२ १३८, भा० २ पृ० २१८।

८ वायु पु०, ६१-५ से १० तथा ब्रह्माण्ड पु०, पूर्वभाग ३४-८ से ११।

९. ४-३-१०४।

१० देवसुम्नयो यजुषि काठके।—७-४ ३८।

११ वैशम्पायनान्तेवासी कठः। कठान्तेवासी खाडायनः। वैशम्पायनान्तेवासी कलापी।—४ ३ १०४ पृ० २४८।

की संहिताएँ भाष्यकार के समय में गाँव-गाँव में पढ़ाई जाती थीं।[1] संहिताओं के प्रसंग में भाष्यकार ने काठक कालापक मौदक और पैप्पलादक का ही सर्वत्र उल्लेख किया है।[2] सामान्यतः 'छन्दस्' शब्द से इन संहिताओं का ही बोध होता था। चरण के उदाहरण में भी उन्होंने केवल इन्हीं संहिताओं का स्मरण किया है।[3] ये संहिताएँ सम्बद्ध चरणों का आम्नाय थीं। कठों के गुरुकुल भी पतंजलि-काल में बहुत थे। इस शाखा के सब विद्यार्थी सब्रह्मचारी होते थे। कठ का सब्रह्मचारी कठ ही होता था।[4] कठों कलापों और कौथुमों की संहिता के नाम तथा उनके प्रति मंगल-कामना के उल्लेख भी भाष्य में मिलते हैं।[5] जिस प्रकार पतंजलि ने पाणिनि की कृति को महत् और सुविहित कहा है उसी प्रकार कठों की संहिता को भी।[6] इस शाखा में अध्ययन करनेवाली अनेक विदुषी स्त्रियाँ थीं। कठी वृन्दारिका इन विदुषियों के प्रति सम्मान का द्योतक है।[7] इन स्त्रियों में पाई जानेवाली शास्त्रीय विशेषताओं को भाष्यकार ने कठीत्व और कठीता शब्दों से व्यक्त किया है।[8]

काशिका के अनुसार कलापी के चार शिष्य थे[9]—हरिद्रु, छगली तुम्बुरि और उलप। कलापों का आम्नाय कालापक और उनके शाखाध्यायी कालाप कहलाते थे। कठ और कालाप चरण थे। इनकी भी शाखाएँ रही होंगी।[10] कठों की संहिता कलापों की संहिता से मिलती-जुलती रही होगी। भाष्य में इनके साथ-साथ उल्लेख तथा कालकौथपाठिपन में साथ परिगणन से भी यह ध्वनि निकलती है। काठकों की संहिता प्रकाशित है। इनका अपना ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् है। विष्णु-स्मृति भी कठशाखीय है। चरण-व्यूहों में इनके ग्रन्थों की संख्या चालीस या चौवालीस बतलाई गई है। कठ वाङ्मय की व्यापकता के कारण ही कुछ चरण-व्यूहों ने कहा है कि जो काठक में नहीं है, वह कहीं नहीं है। (यन्नास्ति तन्नास्ति काठके)। लगभग ४००० श्लोकों की लौगाक्षि-स्मृति भी काठकों से सम्बद्ध है।

---

१ ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते।—४ ३-१०१, भा० १ पृ० २४६।

२ ४ १-८६, पृ० ९६ तथा ४-१ १, भा० ३, पृ० ८।

३ ४ २-१०४ भा० २२, पृ० २१०।

४ के सब्रह्मचारिणोऽस्येति कथा इत्युक्ते सम्बन्धमेतद्भवति गुणं सोऽपि कठ इत्येवम्। कठ इत्युक्ते सम्बन्धमेतद्भवत्यर्थं स्याद्भूतं तेऽपि कठा इति।—२-२-२४, भा २२, पृ० ११८।

५ नन्दन्तु कठ कालापाः, वर्धन्तां कठकौथुमाः, नन्दतु कठकालापम् वर्धतां कठकौथुमम्।—२-४ ३, भा० २, पृ० ४६२।

६ यथेह भवति पाणिनीयं महत् सुविहितमिति एवमिहापि स्यात्कठं महत् सुविहितम्—४ २-६६, भा० २, पृ० १९०।

७ ६ ३-४८ भा० ३, पृ० ३२७।

८ ६ ३-३५, भा० ३, पृ० ३२३।

९ ४-३-१०४ भा०।

१० ४-२-४६ काशिका।

कश्मीर के शैव काठक सिद्धान्ती हैं। भगवद्दत्त के अनुसार आजकल कठ लोग कश्मीर में ही पाये जाते हैं।[1] सम्भव है, कठों की यह उदीच्य शाखा काश्मीरी रही हो।

कलापियों की संहिता और ब्राह्मण सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वानों के मत से मैत्रायणी संहिता ही कलापियों की संहिता थी। कलापियों को कठों से सन्निकृष्ट होना चाहिए। याज्ञवल्क्य-स्मृति के टीकाकार विश्वरूप (१-७) ने कहा है कि मैत्रायणी संहिता काठक से बहुत भिन्न नहीं है।[2] निरुक्त के टीकाकार आचार्य दुर्ग (१०-५) ने हारिद्रवों को मैत्रायणीयों का शाखाभेद कहा है।[3] हारिद्रव कलापी की शिष्य-परम्परा में थे। इससे अनुमान होता है कि कठों से मिलती जुलती मैत्रायणी शाखा कलाप रही होगी।

हरिद्रु, तुम्बुरु और छगली की शाखाओं का भाष्यकार को परिचय था। ये शाखाएँ हारिद्रव, तौम्बुरव और छागल कहलाती थीं और इनके ग्रन्थों को पढ़नेवाले हारिद्रविन तौम्बुरविन[4] और छागलेय या छागलेयिन्।[5]

कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत कपिष्ठल, चारायण, वरतन्तु, वराह और तित्तिरि की शाखाओं का परिचय भी भाष्य में मिलता है। कपिष्ठलों के गोत्रापत्य कापिष्ठलि और उनके वंशज कापिष्ठल एवं कापिष्ठलायन कहलाते थे।[6] इनका आप्टकियों से सम्बन्ध था। इस शाखा की संहिता के आजकल चार अष्टक ही उपलब्ध हैं। चारायण शाखा भाष्यकार के समय में उन्नत अवस्था में थी। इनके गुरुकुलों में छात्रों को कम्बलों की बहुत सुविधा थी। इसलिए, बहुत-से छात्र कम्बलों के लोभ से चारायणीय शाखा में प्रविष्ट हो जाते थे।[8] चारायणीयों का अपना प्रातिशाख्य है। इनका एक मन्त्रार्षाध्याय और शिक्षा भी प्राप्त है।[9]

वरतन्तु की शाखा वारतन्तवी थी। वारतन्तव-छात्र वारतन्तवीय कहलाते थे।[10] वरतन्तु के शिष्य कौत्स का आख्यान कालिदास के रघुवंश में मिलता है। कौत्स पाणिनि के समकालीन थे। वे उनके पास मिलने भी गये थे।[11] उनके विद्यार्थी थे या नहीं, कहा नहीं जा सकता। इससे वरतन्तु का पाणिनि से पूर्वकालीन होना स्पष्ट है। वाराही शाखा के विषय में भाष्य से विशेष

---

१ वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृ० २८८।

२ नहि मैत्रायणी शाखा काठकस्यात्यन्तविलक्षणा।

३ हारिद्रवो नाम मैत्रायणीयानां शाखाभेदः।

४ ४-२-१०४, वा० १९, पृ० २०९।

५ ४-३-१०९।

६ ८-३-९१, पृ० ४६२

७ २-४-६९, पृ० ५०६

८ कम्बलचारायणीयाः १-१-७३, वा० ६ पृ० ४६१।

९ इण्डियन ऐण्टिक्विटी, जुलाई १८७६।

१० ४-२-६६ वा० ६, पृ० १९१।

११ उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम् ३-२-१०८, वा० २, पृ० २४१।

प्रकाश नहीं पड़ता। वाराही पुत्र[1] और वाराह्या शब्द भाष्य में अवश्य आये हैं।[2] इनका श्रौतसूत्र उपलब्ध है।

तित्तिरि—तित्तिरि वैशम्पायन की शिष्य-परम्परा में थे। पाणिनि और पतंजलि दोनों ने उनका उल्लेख किया है।[3] इनकी शाखा तैत्तिरीय कहलाती थी। वायुपुराण के १२वें स्कन्ध के छठे अध्याय के १७वें श्लोक से आगे व्यास की शिष्य-परम्परा का विस्तृत वर्णन है। तित्तिरि पक्षी के रूप में एक शिष्य ने (जब वैशम्पायन और याज्ञवल्क्य का झगड़ा हो जाने पर याज्ञवल्क्य ने उनकी संहिता लौटा दी) वैशम्पायन की संहिता को चुनकर ग्रहण कर लिया तब से यह शाखा तैत्तिरीय कहलाई। प्राचीन अध्वर्यु लोगों का ग्रन्थ तैत्तिरीय संहिता ही है। तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध मन्त्र ब्राह्मणमिश्र हैं। संहिता में चार पाद सात काण्ड और चौवालीस प्रश्न हैं।[4] इनके अतिरिक्त भाष्यकार के अनुसार तित्तिरि-प्रोक्त श्लोक भी थे जिनके लिए तैत्तिरीय शब्द व्यवहृत नहीं होता था। तित्तिरि प्रोक्त वैदिक साहित्य की ही तैत्तिरीय संज्ञा थी।[5] पाणिनि ने उख और खण्डिक का स्मरण तित्तिरि और वरतन्तु के साथ किया है। उनकी शाखा औखीय और खाण्डिकीय कहलाती थी। ये ही चरण-व्यूह में बतलाये हुए तैत्तिरीयकों के औखेय और खाण्डिकेय नामक दो भेद हैं। भाष्य में उल्लिखित शाट्यायनिन् लोग खाण्डिकीय शाखा की ही अवान्तर शाखा थे।[6]

पतंजलि और पाणिनि के कौण्डिन्य कृष्ण यजुर्वेद की तीन शाखा के अन्तर्गत थे। पाणिनि ने कौण्डिन्य का उल्लेख अगस्त्य के साथ किया है।[7] भाष्य के कौण्डिन्य विशेष शिष्ठ नहीं जान पड़ते।[8] वे माठरों के समान सामान्य गोत्र के ही लोग थे। कौण्डिन्यों का मूल पुरुष कुण्डिन् था और उसके अपत्य कौण्डिन् कहलाते थे।[9] आग्निवेश्य शाखा के लोग आग्निवेश्य थे। यह भी केवल सौत्री शाखा थी। भाष्यकार ने तीन बार इसका उल्लेख किया है। अग्निवेश के कल्प और कौण्डिन्य के श्रौतसूत्र का उल्लेख पुरुषोत्तम-कृत प्रवरमंजरी तथा तन्त्रवार्तिक (१ ३ ११) में भी मिलता है।[10]

---

१ ६ १ १३, भा० ३, पृ० ४२।

२ ४ १-७८, पृ० ८०।

३ तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण्।—४ ३-१०२, तथा भा० ४-२-६६, पृ० १९२।

४ यजुर्वेदे तैत्तिरीयशाखा मन्त्रब्राह्मणमिश्रा तत्र संहिता चतुष्पादा सप्तकाण्डा चतुश्चत्वारिंशत्प्रश्ना।—[illegible]।

५ छन्दोग्रहणं न कर्तव्यम्। इतरथा ह्यतिप्रसङ्गः स्यात्। इहापि प्रसज्येत तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोका इति।—४ ३-१०४ पृ० २४८।

६ ४-२-१०४, भा० १६, पृ० २०९।

७ २-४-७०, भा० १३, पृ० ५०६।

८ १ १-७६, भा० ३, पृ० ११६।

९ १ १ ४७, भा० १ पृ० २८०।

१० १ १-२१, भा० ७, पृ० २०३ १-२-३९, भा० १ पृ० ५१५ तथा ६ १ २१३ भा० ३ पृ० २४४।

पद के परिमाण के विषय में कौण्डिन्य का मत सत्याषाढसूत्र की उज्ज्वला टीका में मिलता है जो कौटिल्य के समान ही है।[1] सम्भव है लिपि दोष से ही कौटिल्य का कौण्डिन्य हो गया हो।

सम्प्रति कृष्ण यजुर्वेद की काठक (श्रोडर द्वारा प्रकाशित) कपिष्ठलकठ-संहिता मैत्रायणी संहिता तैत्तिरीय संहिता (वेबर द्वारा प्रकाशित सायण भाष्य-सहित) उपलब्ध हैं। इन चारों का परस्पर निकट सम्बन्ध है। शुक्लयजु की वाजसनेयिसंहिता की काण्व और माध्यन्दिन दो शाखाएँ हैं। इनमें बहुत कम अन्तर है।

कठों की चवालीस उपशाखाएँ बतलाई जाती हैं। ४२ अन्य शाखाएं थीं। कृष्ण यजुर्वेद का इन ८६ शाखाओं तथा शुक्ल यजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओं के योग को दृष्टि में रखकर भाष्यकार ने 'एकशतमध्वर्युशाखाः' कहा है।

सामवेद

भाष्यकार ने सामवेद को 'सहस्रवर्त्मा' कहा है। इसमें निष्णात लोग छन्दोग कहलाते थे। पुराणों के अनुसार सामसंहिताकार जैमिनि व्यास के तृतीय मुख्य शिष्य थे और उनके पौष्पिञ्जी तथा हिरण्यनाभ नामक दो शिष्य हुए, जिनमें से प्रत्येक ने पाँच-पाँच सौ शाखाएँ प्रवर्तित कीं। यह एक सामान्य विश्वास-मात्र जान पड़ता है। वैसे किसी भी ग्रन्थ में बारह से अधिक विश्वसनीय नाम प्राप्त नहीं होते। भाष्य में निम्नलिखित सामशाखाकारों के नाम मिलते हैं।

कौथुम—कौथुम कुथुमि की शिष्य-परम्परा में थे। भाष्यकार के काल में यह शाखा उन्नत अवस्था में थी। कठों और कलापों के साथ उन्होंने इनकी शाखा और संहिता का उल्लेख अत्यन्त आदर के साथ किया है[2] और उनके उदय तथा प्रतिष्ठा की चर्चा की है। कालैण्ड के अनुसार कौथुम संहिता की मन्त्र-संख्या १८६९ है। जैमिनीय शाखा की संहिता तथा ब्राह्मण और श्रौतगृह्यसूत्र मिलते हैं। इनकी संहिता में गानों की संख्या ३६८१ है, जो कौथुमों की (२७२२) संख्या से ९५९ अधिक है। जैमिनि के शिष्य तलवकार थे। इसलिए, जैमिनीय ब्राह्मण को बहुधा तलवकार ब्राह्मण भी कह देते हैं। जैमिनि लांगलिन् के शिष्य थे और मूल संहिताकार से भिन्न थे। लांगलिन् की शाखा के लोग लांगल कहलाते थे।[3] लांगली के दूसरे शाखाकार शिष्य शास्तवी थे। इनका उल्लेख भाष्य में अन्तेवासी ब्राह्मणों के रूप में मिलता है। भागवित्ति पौष्पिञ्जि के शिष्य थे। इनके अपत्य भागवित्तिक और शिष्य भागवित्त[4] कहलाते थे। कृत हिरण्यनाभ के पुत्र थे।

---

१ अथ कौटिल्येन देशस्य पदप्रमाणमुक्तम्—पञ्चारत्नी रथपथरथस्तारो हस्तिपथः क्षुद्रपशुमनुष्याणाम्।—२।४।२४, सत्या० सू० उज्ज्वला टीका।

२ २।४।३, पृ० ४६३।

३ ६।४।१४४, भा० १ पृ० ४८३।

४ ४।२।१०४, भा० १९, पृ० २०९।

५ ४।१।९०, भा० ३ पृ० १०८।

पाणिनि ने इनके शिष्य कार्त का[1] और पतंजलि ने कार्त्त का उल्लेख किया है।[2] पुराणों के अनुसार साम-संहिताकार कृत के २४ शिष्य थे। राणायन और सात्यमुग्रि शाखाओं ने उच्चारण-सम्बन्धी कुछ नवीन प्रयोग किये थे। वे 'सुजाते अश्वसूनृते', 'अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्' आदि मन्त्रों में अर्ध एकार और अर्ध ओकार का भी उच्चारण करते थे। यह उनकी अपनी पार्षद कृति थी। अन्यत्र लोक और वेद में कहीं अर्ध एकार या अर्ध ओकार का उच्चारण प्रचलित नहीं था।[3] इनका कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है, किन्तु पतंजलि-काल में ये शाखाएँ सक्रिय थीं। गौतम के धर्मसूत्र उपलब्ध हैं। इनके छात्रों गौतमीयों का स्मरण भाष्यकार ने पाणिनि और आपिशलि के साथ किया है। उनके समय तक गौतम शिष्य-परम्परा की पैंतीस पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं।[5]

अथर्ववेद

पतंजलि अथर्ववेद की नौ शाखाओं से परिचित थे जिनमें मौद और पैप्पलाद सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। इनका उल्लेख उन्होंने सर्वत्र साथ-साथ किया है। मौद और पैप्पलाद संहिताएँ साथ साथ गाई और पढ़ाई जाती थीं।[6] अतः इनमें निकट सम्बन्ध और सादृश्य होना चाहिए। पैप्पलादों की संहिता तो अब प्राप्त है। इनका एक ब्राह्मण भी था। ऋग्वेद भाष्य की अनुक्रमणी में स्कन्दस्वामी ने अपना ऐतरेय और आथर्वणों को पैप्पलाद ब्राह्मण बतलाया है।[7] इससे पता चलता है, अथर्वणों में पैप्पलाद शाखा ही प्रमुख थी। इसीलिए भाष्य के भी प्रारम्भ में अथर्ववेद से उद्धृत प्रथम मंत्र पैप्पलाद-संहिता के अनुसार ही है। गोपथ-ब्राह्मण (१ २९) से इस कथन की पुष्टि होती है। मौदों का कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है केवल अन्य ग्रन्थकारों द्वारा इनका नाम ही उद्धृत मिलता है। इन दोनों के आम्नाय मौदक और पैप्पलादक कहलाते थे।[9] भाष्यकार को इन दोनों की संहिताओं का ज्ञान था। उन्होंने छन्द (वेद) की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए मौद, पैप्पलाद आदि संहिताओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य माना है।[10]

---

१ ६-२ ३७।

२ ६ ४ १४४, भा० १ पृ० ४८३।

३ छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। पार्षदकृतिरेषा तत्र भवताम्।—भा० २, पृ० ५४।

४ १ २ ३६, भा० १, पृ० २५७।

५ त्रिपञ्चाशत् गौतमम्।—२-४-८४ पृ० ५१५।

६ २-४ ३ पृ० ४६१।

७ ऐतरेयकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम्।—ऋग्० भाष्य ८ १।

८ शन्नो देवी रभीष्टये।—भा० १, पृ० १।

९ ४ ३-१२०, भा० ११, पृ० २५२।

१० ४ ३ १०१, भा० २ पृ० २७०; ४ १ १ भा० ३, पृ० ८ तथा ४-१-८६, भा० १, पृ० ११।

उन्होंने और पैप्पलाद के अलग अलग माने जाने की भी चर्चा की है।[1] इससे दोनों संहिताओं का पृथक अस्तित्व स्पष्ट है।

शौनक ऋग्वेदीय थे और आथर्वण शाखाकार भी। नैमिषारण्य के सुप्रसिद्ध स्थविर शौनक ऋग्वेदीय थे। पाणिनि के शौनकादि गण में जिसे पतञ्जलि ने उद्धृत किया है[2] किस वेद के शाखाकार शौनक का उल्लेख है, कहा नहीं जा सकता। शौनक और पैप्पलाद की संहिताओं में अन्तर है। पैप्पलाद में बीस काण्ड हैं और शौनकीय में अट्ठारह। शौनकीय संहिता काण्ड प्रपाठक अनुवाक-सूक्त मन्त्र पर्याय गण और अवसानों में विभक्त है। भाष्यकार ने पैप्पलाद-संहिता को ही प्रमाण कर आंगिरस को बीस काण्डवाला बतलाया है।[3] ह्विटने के अनुसार इसके १८ काण्डों में ४४३२ मंत्र हैं आथर्वण और शाखाओं का नामोल्लेख-मात्र भाष्य में मिलता है।[4]

अथर्ववेद (१०-७-२०) में अथर्ववेद को अथर्वाङ्गिरस कहा है। आथर्वण याज्ञिक ग्रन्थों में उसे भृग्वंगिरस संज्ञा दी है। भृगु गोत्र आथवर्णों का था। भाष्यकार ने भृग्वंगिरसिका शब्द से भृगुओं और अंगिरसों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख किया है।[5] इस प्रकार, आथर्वण और आंगिरस परस्पर-सम्बन्धी सिद्ध होते हैं। अथर्वणों के आम्नाय का नाम आथर्वण था और उसके अध्येता आथर्वणिक कहलाते थे।[6]

अन्य—कुछ ऐसी शाखाओं के नाम भी भाष्य में आये हैं, जिनका सम्बन्ध किसी वेद विशेष से स्पष्ट नहीं है। इनमें काश्यपी काश्यप-प्रोक्त ग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले थे और कौशिकी कौशिक-प्रोक्त ग्रन्थों के अध्येता। भाष्यकार इनके कल्पग्रन्थों से परिचित थे। कश्यप कल्प-सूत्र तो प्रसिद्ध ही है। इनके अतिरिक्त औख काकत भारद्वाज[8] प्लाक्ष प्लाक्षायण[10] शाखामय तैतिल पैलक सौकरसद्म शैलाल और सौपर्ण शाखाओं के नाम भाष्य में मिलते हैं।[11] शैलाल शिलालि के वंशज थे। शतपथब्राह्मण (१५-५ ३ १) में ये यज्ञ-विधि

---

१ २-४ ३, पृ० ४६१।

२ ४-२-६६, भा० ३, पृ० १९०।

३ विभिन्नोऽङ्गिरसः।—५ २ ३७, श्लो० भा० २, पृ० ३७९।

४ ५-४-१४४, भा० १, पृ० ४८२।

५ २-४ ६९, भा० ८, पृ० ५००।

६ ४ ३-१३३, भा० २, पृ० २५५।

७ काश्यपकौशिकग्रहणं च कल्पे नियमार्थं द्रष्टव्यम्। काश्यपकौशिकाभ्यामेवैनि कल्पे वेतद्विषयो मा भूदन्यस्य इति। कल्पं काश्यपिनः कौशिकिनः इति।—४ ३-१६, भा० ६,पृ० १९१ ९२।

८ वही

९ १ १ २, भा० १ पृ० १९२।

१० १ १ ९१, भा० ७, पृ० १४४।

११ ६ ४-१११, भा० १ पृ० ४८३।

विषयक नियम के बनता बतलाये गये हैं। आपस्तम्ब सूत्र (५ १-७) में भी इसका उल्लेख है। काशिकाकार ने आर्चाभिन् शाखा का उल्लेख किया है, जिसे श्रीभगवद्दत्त ने आर्चाभिन् माना है। यह कृष्णयजुः की शाखा थी। निरुक्त (२ १) में इसका उल्लेख है।

इनमें से प्रत्येक चरण की अपनी विशेषताएँ थीं, जिन्हें लक्षण कहते थे। पाणिनि ने शाकल्य आदि चरणों के विशेष लक्षणों के लिए प्रत्यय का विधान किया है। काशिकाकार ने इस प्रसंग में गो आदि के स्वभूत चिह्नों को अङ्क और चरणों आदि के स्वभूत चिह्नों को लक्षण की संज्ञा देते हुए जिन शब्दों का ग्रहण किया बतलाया है।[1]

---

१ सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण् (?)। अङ्कलक्षणयोः को विशेषः? स्वयं लक्षणभूतस्यैव चिह्नभूतं स्वयं वा चिह्नं चिह्नानाम्। अङ्कस्तु पश्वादिस्थोऽपि पश्वादीनां एवं न भवति।—४-३ १२७, काशि० शाकलाद् वा० ४।३-१२८।

अध्याय ३

साहित्य और साहित्यकार

वर्गीकरण—भाष्य में साहित्य का पाँच भागों में वर्गीकरण मिलता है—दृष्ट, प्रोक्त व्याख्यात उपज्ञात और कृत। दृष्ट साहित्य मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों द्वारा प्रकाशित है। पतञ्जलि दृष्ट साहित्य को नित्य मानते थे। उन्होंने कहा है कि छन्दस् बनाये नहीं जाते। वे अकृत या अपौरुषेय हैं। ऋचाओं की वर्णानुपूर्वी में अन्तर हो सकता है। शाखा भेद से छन्दस् में वर्ण भेद होने पर भी मन्त्र अर्थात् उनमें निहित अर्थ-तत्त्व नित्य है। काठक कालापक मौदक और पैप्पलादक आदि भेद वर्णानुपूर्वी-भेद से माने जाते हैं।[1]

दृष्ट साहित्य

चातुर्वेद्य—दृष्ट साहित्य में चतुर्वेद या चातुर्वेद्य आते हैं।[2] कुछ लोग अथर्व को छोड़कर शेष वेदों को त्रिविद्या कहते थे। भाष्य ने त्रिविद्या को त्र्यवयवक विद्या कहा है और द्वितीय तृतीया विद्या का पृथक उल्लेख किया है।[3] चातुर्वेद्य और त्रिविद्या के अध्येता क्रमशः चतुर्वेद और त्रैविद्य कहलाते थे। अथर्वसंहिता पाणिनि को अविदित थी किन्तु भाष्यकार के समय तक वह समादृत हो चुकी थी। भाष्यकार को दृष्ट साहित्य का सूक्ष्म परिचय था। भाष्य में महानाम्नी सामिधेनी (ऋक्) सामिधेन्य[4] मन्त्र चमस[5] पञ्चदशस्तोम सप्ताक्षर छन्दस्य[6] ऋक्साम सामयजुष

---

१ न हि च्छन्दांसि क्रियन्ते। नित्यानि च्छन्दांसि। यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा नित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति।—४ ३-१०१, भा० ३ पृ० ३१७।

२ ५ १ १२४, भा० १, पृ० २६४।

३ तिस्रोविद्यास्त्रिविद्य इति। त्र्यवयवका विद्या त्रिविद्या।—४ १-८८, पृ० ९९, तथा ४ २-७, पृ० १७०।

४ ५ १ ९४, भा० १, पृ० ३४१।

५ ४ ३ १२०, भा० १०, पृ० २५२।

६ तैत्ति० सं० ४-७-४ के मंत्र। ५-२ ४, भा० २ पृ० ३६७।

७. ५ २-३७ श्लो० भा० २ पृ० ३७८।

८ ५-४ ३०, भा० २, पृ० ४९१।

महासाम[1] वैरूपच्छन्द[2] अस्यवामीय क्याशुभीय[3] (सूक्त) वृषसूक्त वृषसाम मुहूपचिमन्थ[4] अहोरपन्तर साम[5] स्वम्भीय गर्दभाण्डीय अनुक्रीय (अनुवाकसूक्त) सूक्त वसिष्ठ विश्वामित्र (अनुवाक)[6] आदि शब्द आये हैं। इनमें ऋग्वेद के बृहद् तथा अहोरपन्तर छन्दों ने सामवेद में रहस्यमयता उत्पन्न कर दी है। वृषसूक्त साम के उत्तरार्चिक में तीन तीन ऋचाओं को मिलकर बनाये गये २८७ पद्य हैं। उत्तरार्चिक में ही ८६ पद्य दो-दो ऋचाओं को मिलाकर बनाये हुए हैं और ११ में से प्रत्येक में एक ऋचा का है। भाष्यकार ने एकर्च छन्द की भी चर्चा की है। अनुवाकों और अध्यायों के नाम उनमें आये हुए शब्द विशेष के आधार पर भी प्रचलित थे। यथा मैत्रुत्व गोपवक आदि।[9] किसी-किसी सूक्त या अनुवाक का नाम उसके द्रष्टा ऋषि के नाम पर प्रसिद्ध हो गया था। काशेय आग्नेय औक्षणस् या[10] औक्षण और वामदेव्य[11] सामों के नाम कलि अग्नि उशनस और वामदेव द्वारा दृष्ट होने के कारण थे। यज्ञायज्ञीय साम के बाद गाये जानेवाले उक्थ सामों का भी उल्लेख भाष्य में हुआ है। इन्हें गानेवाले औक्थिक कहलाते थे। औक्थिकों का आम्नाय औक्थिक्य या उनके द्वारा गाये जानेवाले साम थे। इस प्रकार, साम का पर्यायवाची होने पर भी उक्थ शब्द सामविशेष (औक्थिक्य) में ही रूढ था। इसीलिए, औक्थिक विशेष सामग की संज्ञा थी।[12]

आम्नाय—चरणों और शाखाओं के मूल ग्रन्थ आम्नाय कहलाते थे। कठ कलापिन् मौद और पैप्पलाद शाखाओं के आम्नाय और धर्म काठक कालापक मौदक और पैप्पलादक थे।[13] इसी प्रकार, छन्दोगों औक्थिकों याज्ञिकों बह्वृचों नटों और अथर्वणों के अपने-अपने आम्नाय थे

---

१ ५-४-७, पृ० ५०४।

२ ५-४-१ ३, पृ० ५०७।

३ ५-२-५९, भा० ३, पृ० १९४।

४ ६-१-१६, भा० ५, पृ० ६८।

५ ४-४-९०, पृ० ९८६।

६ ८-२-६८ पृ० ३७६।

७ ५-२-६ भा० १ पृ० १९९।

८ ४-३-१३१ भा० १-२ पृ० २५५।

९ ५-२-६१ ६२।

१० ४-२-७, पृ० १६९, १७०।

११ ४-२-९, पृ० १७०।

१२ उक्थानीत्युच्यते। कान्युक्थानि? सामानि। यद्येवं सामगमात्रे औक्थिक इति प्राप्नोति। नैष दोषः। तावध्यैतास्यम्वदं भविष्यति। उक्थार्थमुक्थम्। इहोभयाध्यायीत औक्थिक इति। य इदानीं औक्थिक्यं याज्ञिक्यं चाधीते कथं तत्र भवितव्यम्? औक्थिकः याज्ञिक इत्येव भवितव्यम्।—४ २ ६० पृ० १८९ तथा उक्थशब्द केषुचिदेव सामसु रूढः। यथा यज्ञीयास्परेण यानि गीयन्ते।—वही, का०।

१३ ४-३ १२०, भा० ११, पृ० ५२।

भी कहा। छान्दस्य मौक्तिक्य याज्ञिक्य आदि सूक्ष्म माहात्म्य और आयतन कहे जाते थे।[1] भाष्यकार ने आम्नायों को अन्यभाव्य (नियत) कहा है क्योंकि उनकी वर्णानुपूर्वी, स्वर, देश तथा काल नियत रहता है। उदाहरणार्थ अस्यवामीय सूक्त में अस्यवाम शब्द का स्वर और वर्णानुपूर्वी निश्चित है। आम्नाय पढ़ने का स्थान भी निश्चित है क्योंकि वह चौरास्ते पर या श्मशान में नहीं पढ़ा जाता। उसका समय भी निश्चित है। चतुर्दशी और अमावास्या को आम्नाय का पठन वर्जित है। आम्नाय शब्द का प्रयोग सामान्यतया वेद के लिए होता था।

ऋषि—वेदों को ऋषि भी कहते थे।[2] सम्भवतः वेदों को यह नाम कर्ता (ऋषि) से तादात्म्य सूचित करने के लिए दिया गया था। भाष्य में एक अंश उद्धृत है जिससे ऋषियों के प्राचीन और नवीन दो वर्गों का पता चलता है।[3] भाष्यकार ने इन्हें प्रत्यक्षधर्मा परापरज्ञ विदितवेदितव्य और अधिगतयाथातथ्य कहा है।[4] यह परिभाषा निरुक्त की प्रतिध्वनिमात्र है।[5] निरुक्त के अनुसार अनृषि और अतपस्वी को वेद का प्रत्यक्ष नहीं होता।[6] भाष्यकार ने तपस् द्वारा ही विश्वामित्र को ऋषित्व की प्राप्ति बतलाई है। तप के बल से वे स्वयं ऋषि बने और तप की शक्ति से ही उन्होंने अपने पिता गाधि और पितामह कुशिक को ऋषि बनाया था।[7] *अट्ठासी सहस्र ऊर्ध्वरेतस् ऋषि हुए हैं जिनमें अगस्त्यादि आठ ने सन्तानोत्पत्ति स्वीकार की थी।*[8] भाष्य में प्रवीण तर्राग प्रस्कण्व हरिश्चन्द्र[9] नारद पर्वत[10] एकविंश औलिक[11] भृगु-अत्रि अंगिरसान्[12] कण्व मानवेय[13] मरीचि दक्ष वसिष्ठ बृहस्पति कश्यप च्यवन मामतेय आदि नाम मिलते हैं। नारद का उल्लेख अथर्ववेद में वशा गौ के मांस के खाद्याखाद्यत्व-विवेचन के प्रसंग

---

१ ४ ३ १२९ तथा ४ ३ १११, भा० १, पृ० २५४।

२ न चारे पुनरृषिर्नियमं वेदयते।—आ० १, पा० ७ पृ० २२।

३ अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ऋग्।—१ १ २।

४ भा० १ आ० ५, पृ० २४।

५ साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः।—निरुक्त १-२०।

६ यद्देषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।—नि० १३ १२।

७ विश्वामित्रस्तपस्तेपे नानृषिः स्यामिति। तत्र भवानृषिः सम्पन्नः। स पुनस्तपस्तेपे नानृषेः पुत्रः स्यामिति। तत्र भवान् गाधिरप्यृषिः सम्पन्नः। स पुनस्तपस्तेपे नानृषेः पौत्रः स्यामिति। तत्रभवान् कुशिकोऽप्यृषिः सम्पन्नः।—४।१।१०४ पृ० १३३।

८ अष्टाशीतिः सहस्राण्यूर्ध्वरेतसामृषीणां बभूवुस्तत्रागस्त्यप्रभृतयोऽष्टौ प्रजनेऽभ्युपगताः।—४ १-७९, भा० ३ पृ० ८८।

९ भा० १ आ० ५, पृ० २४।

१० ६-१-१५३।

११ ८-१-१५, पृ० ३७८।

१२ ४-१-१२०, पृ० १४१।

१३ ६-१-३७ भा० ५, पृ० ६८।

१४ ४-१-११४ पृ० १३७।

में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में नारद और पर्वत आम्बष्ठ्य और युधांश्रौष्टि के पट्टाभिषेककर्ता और हरिश्चन्द्र को अश्वमेध याग के परामर्शदाता कहे गये हैं।

ऋषि संहिता और कल्प दोनों प्रकार के साहित्य के प्रणेता थे। पाणिनि ने भी ब्राह्मण और कल्प के प्रणेता काश्यप और कौशिक को ऋषि कहा है। पतंजलि ने 'यवमतीभिरद्भिर्यूपं प्रोक्षति' इस कल्प-वचन को ऋषि कृत माना है।[1] पुराणों में ऋषि-पुत्रों की संज्ञा ऋषिक है। भाष्य में भी ऋषिकों का उल्लेख है। इनकी कृति आर्षक कहलाती थी।[2] प्राचीन ग्रन्थों में ऋषिक और ऋषाक दोनों शब्दों का व्यवहार मिलता है।[3] पुराणों के ऋषिकों में भरद्वाज शरद्वद्, वाजश्रवस् और पराशर नाम भाष्य में आये हैं।[4] पुराणों के अनुसार भृगुकुल में उत्पन्न ऋषि हुए हैं जिनमें भृगु, च्यवन, और्व जमदग्नि विद वैन्य दिवोदास वाध्र्यश्व और शौनक से भाष्यकार परिचित थे। इनमें भृगु, च्यवन और शौनक ही आर्षेय हैं। आंगिरस-कुल के ३३ ऋषियों में भरद्वाज गर्ग अम्बरीष अजमीढ कपि पृषदश्व कण्व मुद्गल ऋजिश्वान् आयास्य वामदेव कक्षीवान् छह काश्यपों में कश्यप नैध्रुव और रैभ्य छह आत्रेयों में अत्रि गविष्ठिर पूर्वातिथि एवं सात वासिष्ठों में वसिष्ठ पराशर, कुण्डिन् तथा तेरह कौशिकों में विश्वामित्र कत और लोहित का उल्लेख भाष्य में मिलता है।

प्रोक्त साहित्य

ब्राह्मण और कल्प—ऋषि-दृष्ट ग्रन्थों की विभिन्न शाखीय संहिताएँ तथा उनके अंगभूत ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थ प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत हैं। यह प्रवचनकार आचार्यों की अपनी कृति नहीं अपितु संहिताओं का प्रवचन-रूप साहित्य है।[5] भाष्यकार ने इस बात को स्पष्ट किया है कि किसी के द्वारा प्रोक्त साहित्य उसका कृत नहीं होता। उदाहरणार्थ माथुरी वृत्ति माथुर द्वारा कृत नहीं प्रोक्त है।[6] यह माथुरी वृत्ति कौन-सी थी स्पष्ट नहीं है। प्रोक्त साहित्य में तैत्तिरीय वारतन्तवीय खाण्डिकीय और औखीय संहिताएँ[7] काश्यप और कौशिक के कल्प कलापी वैशम्पायन तथा उसके अन्तेवासियों (हरिद्रु छगलि तुम्बुरु उलप आलायन और कठ)[8] के ग्रन्थ भाष्यकार को ज्ञात थे। इनके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य सुलभ[10] मास्लम शाट्यायन और ऐतरेय के ब्राह्मण

---

१ ५–२–९४ भा० ३ पृ० ४१।

२ ४–२–१०४ भा० २८, पृ० २४१।

३ ऋषिपुत्रानृषीकास्तु गर्भोत्पन्नानृषि०।

४ ४–१–१०२ तथा ४–१–११७।

५ ४–२–६४ पृ० १८८।

६ ४–३–१०१, भा० ३ पृ० २४०।

७ ४–३–१०२।

८ ४–१–६६, भा० १ पृ० १९१।

९ ४–३–१०४ भा १–३ पृ० २४८ तथा का०।

१० ४–३–१०५, भा० १ पृ० २४२।

पैङ्गी अरुणपराजी[1] 'आनुपीय पाराशर'[2] और कल्प शौनकादिकों (शौनक वाजसनेय शार्ङ्गरव साम्पम शाप्नेय शास्वेय स्कन्ध स्कन्द तवल्कार, रज्जुकण्ठ रज्जुभार, कठशाठ कशाय पुरुषांस दस्तपेय)[3] के ब्राह्मण कल्प और संहिताएँ, कठों और चरकों की संहिताएँ,[4] कलापी और छगलों के ग्रन्थ[5] पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षुसूत्र एवं शिलालिन और कृशाश्व के नटसूत्र पतंजलि के समय में विद्यमान थे।[6] इनमें से पैङ्गय मत का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण के दर्श पौर्णमास इष्टि के विवेचन-प्रसंग में मिलता है। ऐतरेय के सुप्रसिद्ध शुनःशेप शुनःपुच्छ और शुनोलांगूल का उल्लेख भी इस बात का सूचक है कि भाष्यकार ऐतरेय ब्राह्मण से भली भांति परिचित थे।[8] कौशिककल्प सम्भवतः आथर्वण कौशिकसूत्र है। सूत्र १ २-६४ में जिन संयुगकों का उल्लेख है, वे आश्वलायन श्रौतसूत्र (७-११) में मिलते हैं।

शौद कांकत[1] मौद और पैप्पलाद ब्राह्मण तथा तौम्बुरव भाल्लव शालापक आरुण शाट्यायन गार्गिक वारतक काण्व और ब्राह्मण-ग्रन्थों या कल्पसूत्रों का भी प्रचार पतंजलि-काल में रहा जान पड़ता है।[9] वेद तन्त्र वार्तिक संग्रह और कल्प इन विभागों की चर्चा महाभाष्य में है। इनके अध्येताओं के नाम के साथ सर्ववेद सर्वतन्त्र सवार्तिक ससंग्रहपञ्चकल्प द्वितन्त्र आदि विशेषण लगाये जाते थे।[10] काशिकाकार ने उपर्युक्त ब्राह्मणों में भाल्लव शाट्यायन और ऐतरेय को तथा कल्पों में पैङ्गी और अरुणपराजी को अति प्राचीन माना है।[11]

इस समय शतपथब्राह्मण का प्रचार अत्यधिक जान पड़ता है।[12] षष्टिपथ जिसका उल्लेख भाष्य में शतपथ के साथ ही हुआ है इसी का एक भाग है। शतपथ ब्राह्मण के पञ्चदशपथ षष्टिपथ अशीतिपथ आदि खण्ड थे। शतपथ की गणना पथादिगण (५ १ १००) में भी है। षष्टिपथ इसका नवम काण्ड-पर्यन्त भाग है। अग्निचयन इसके अन्तर्गत है। इसमें यजुर्वेद के प्रथम अट्ठारह अध्यायों के सब मंत्रों की व्याख्या की गई है। 'अव्ययं विभक्ति' (२ १ ६) सूत्र की व्याख्या में शाधिकादि ग्रन्थों का 'अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नि' यह उदाहरण भी षष्टिपथ

---

१ वही, का०।
२ ४-१-१९, भा० २ पृ० ४४ तथा ४-२-६०, पृ० १८६।
३ ४-२-१०६।
४ ४-३-१०७।
५ ४-३-१०८, १०९।
६ ४-३-११०, १११।
७ ऐत० ब्रा०, ७-११।
८ ऐत० ७-१७ १८ तथा ६-३-२१, भा० ४, पृ० ३०७।
९ ४-२-६६, पृ० १९१, १९२।
१० ४-२-१०४, भा० १६, पृ० २०९।
११ ४-२-६०, पृ० १८७।
१२ ४-३-१०५, भा० १, पृ० २४२।
१३ ४-२-६० ० १८८।

के विशेष प्रकार का परिचायक है। सूत्र १ २ ३७ के भाष्य में जिस सुब्रह्मण्या निगद की चर्चा है, वह भी शतपथ में उपलब्ध होता है। सुब्रह्मण्या का व्याख्यान षड्विंशब्राह्मण (१ १-८ से १ २ के अन्त तक) में मिलता है। शतपथ ही याज्ञवल्क्य ब्राह्मण है और यही शौनकादिगण (४ ३-१०६) का वाजसनेय ब्राह्मण है। सूत्र ५ १ ६२ में त्रैश और चात्वारिंश ब्राह्मणों का उल्लेख है। इनमें चालीस अध्याय का ऐतरेय ही चात्वारिंश ब्राह्मण है और त्रैश सम्भवतः इसके प्रथम तीस अध्याय। षड्गुरुशिष्य (पृ० २) ने ऐतरेय वृत्ति के प्रारम्भ में ही उसे चात्वारिंश कहा है। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार पंचविंश के पच्चीस प्रपाठक षड्विंश के पाँच मंत्र-ब्राह्मण के दो और छान्दोग्य उपनिषद् के आठ प्रपाठकों को मिलाकर चालीस अध्याय का एक ही ब्राह्मण वर्तमान था।[1] त्रैश ब्राह्मण में पंचविंश और षड्विंश को मिलाकर तीस अध्याय सम्मिलित थे।

अनुब्राह्मण या ब्राह्मण-सदृश ग्रन्थ सम्भवतः आरण्यकों के द्योतक हैं।[2] ये ब्राह्मण-ग्रन्थानुसारी तथा कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड दोनों के विषय हैं। सम्भव है ये विशिष्ट ग्रन्थ हों। भाष्यकार ने आरण्यक अध्याय का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समय में आरण्यक भाग पृथक उपलब्ध था।[3] उपनिषद् पाणिनि-काल में ही प्रचलित थे। शार्ङ्गरवादि गण (४ १-७३) में उसका उल्लेख है। ४ ३ १२ सूत्र में जिस छान्दोग्य आम्नाय की चर्चा है, उसी का छान्दोग्य उपनिषद् भी है। अनुब्राह्मणों के समान उक्थादि गण (४ २ ६०) में अनुकल्प शब्द भी आया है। सम्भव है ये यज्ञपद्धति पर लिखे गये ग्रन्थ हों।

ब्राह्मणों में कुछ प्राचीन और कुछ अर्वाचीन माने जाते थे।[4] पुराणों में भाल्लव शाट्यायन और ऐतरेय तथा अर्वाचीनों में याज्ञवल्क्य (शतपथ) और सौलभ नाम भाष्यकार ने बतलाये हैं। काशिका ने ताण्डव को प्राचीन माना है और सौलभ को नवीन। सुलभा का उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व में जनक के साथ ब्रह्मविद्या-विषयक संवाद के प्रसंग में हुआ है। आश्वलायनादि गृह्यसूत्रों के ऋषितर्पण में भी सुलभा नाम आया है। काशिकाकार ने अश्मरथ पैंग और आश्मरथ को भी अर्वाचीन बतलाया है। वार्तिककार ने याज्ञवल्क्य को भी प्राचीन माना है। सम्भवतः पुराण प्रोक्त (४ ३ १०५) का अर्थ उन्होंने पाणिनि से पूर्ववर्ती समझा है। ये ग्रन्थकार उनके मत से प्राचीन नहीं थे। इसीलिए, वार्तिक को अपने कथन की पुष्टि में (तुल्यकालत्वात्) कहना पड़ा। पाणिनि की दृष्टि में तो निश्चय ही ये प्राचीन नहीं थे। काशिकाकार ने भी इस सूत्र की व्याख्या में कहा है कि आख्यानों में यह वार्ता आती है कि याज्ञवल्क्यादि अचिरकालीन हैं। काशिका ने आश्मरथ को भी अर्वाचीनों में गणना की है।

उक्थादिगण (४ ३ ६०) में लोकायत न्याय न्यास निमित्त पुनरुक्त निरुक्त,

---

१ संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, पृ० १७५।

२ ४-३-६२, पृ० १८८।

३ ४-२-१२९, पृ २१६।

४ १-४-७९।

५ व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम्।—४-३-६६ काशि०।

समवर्षा पर्व, क्रमेतर, दशरूप पद क्रम संघात वृत्ति संग्रह गुणागुण आयुर्वेद दिपत्री (ज्यौतिषविषयक) अनुपद, अनुकल्प और अनुगुण इन विषयों का समावेश है। भाष्य के समय में इनमें से किस विषय के कौन-कौन-से ग्रन्थ विद्यमान थे यह पता नहीं है, यद्यपि इन विषयों में अधिकांश का उल्लेख भाष्य में हुआ है।

व्याख्यान साहित्य

व्याख्यान ग्रन्थ ग्रन्थों की व्याख्या के रूप में थे। निरुक्त व्याकरण आदि के व्याख्यापरक ग्रन्थ इसी श्रेणी के हैं। वे श्रेष्ठ ग्रन्थ या विषय जिनके लिए व्याख्यान-ग्रन्थों की आवश्यकता होती थी व्याख्यातव्य कहलाते थे।[1] सामान्य विषयों पर भी व्याख्यान-ग्रन्थ उपलब्ध थे। उदाहरणार्थ पाटलिपुत्र के प्राकार, प्रासाद आदि का विस्तरशः वर्णन सुकोसला नामक व्याख्यानी (पुस्तिका) में दिया गया था। फिर भी उसे व्याख्यान-ग्रन्थ नहीं माना जाता था। अवयवशः आख्यान को व्याख्यान मानते हुए भी भाष्यकार ने प्रकृततर गतिवाले व्याख्यान-ग्रन्थों को ही इस श्रेणी के अन्तर्गत स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि लोक-व्यवहार में ऐसा तो सुना जाता है कि निरुक्त की व्याख्या की जा रही है या व्याकरण की व्याख्या की जा रही है। पाटलिपुत्र की व्याख्या की जा रही है ऐसा कोई नहीं कहता। अतः, शब्द-ग्रन्थों को ही 'व्याख्यान' कहना उचित है।[2] व्याकरण के विषय में उन्होंने उदाहरण प्रत्युदाहरण और आवश्यकतानुसार वाक्यों को ऊपर से जोड़ना इन सबको संयुक्त रूप से व्याख्यान माना है।[3]

व्याख्यान-ग्रन्थों में बहुत-सा याज्ञिक साहित्य भी विद्यमान था जिसका सम्भवतः याज्ञिक कहलाता था। इस साहित्य को क्रतु-ग्रन्थ भी कहते थे। इसमें आग्निष्टोमिक राजसूयिक वाजपेयिक नावयज्ञिक पाकयज्ञिक पाञ्चौदनिक साप्तौदनिक व्याख्यान-कल्पों का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[4] पुरोडाश के संस्कार का निरूपण करनेवाले पुरोडाशिक ग्रन्थों तथा पुरोडाश सम्बन्धी मंत्रों की व्याख्या करनेवाले व्याख्यान-ग्रन्थ पौरोडाशिक कहलाते थे।[5] यह अन्तर पाणिनि के समय में ही स्पष्ट था। इसी प्रकार उष्मन् इष्टि पशु ब्राह्मण ऋक् अध्वर, पुरश्चरण नाम

---

१ व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम्।—४-३-६६ काशि०।

२ व्याख्यानार्थमपि व्याख्यातव्य नाम्नो ग्रहणं क्रियते। इह मा भूत् पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसलेति। यदपि कश्चित् प्रकृततरागतिर्भवति। शब्दग्रन्थेषु च एषा प्रकृततरा गतिर्भवति। निरुक्तं व्याख्यायते, व्याकरणं व्याख्यायते, न कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायते इति।—४-३-६६, वा० ४, पृ० ३१९।

३ उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्यस्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति।—भा० १, वा० १४ पृ० २८।

४ ४-२-६०, पृ० १८६।

५ ४-३-६६, वा० ६ पृ० २४०।

६. ४-३-७० तथा वा०।

और आख्यात-सम्बन्धी व्याख्यान-ग्रन्थ पतंजलि से बहुत पहले बन चुके थे।[1] नामिक आख्यातिक और नामाख्यातिक ग्रन्थों को लोग ग्रंथ भी कहते थे। छन्द-सम्बन्धी कार्तग्रन्थ भी स्वतन्त्र रूप से लिखे गये थे।[2] वासिष्ठिक अध्याय और वैश्वामित्रिक अध्याय में इन ऋषियों के मंत्रों के व्याख्यान थे।[3] ऋगयनादि गण में उल्लिखित विषयों का विस्तार बहुत अधिक है। इससे पता चलता है कि पतंजलि के समय में ऋगयन पदव्याख्यान, छन्दोमान छन्दोभाषा छन्दोविचिति न्याय पुनरुक्त व्याकरण निगम वास्तुविद्या अंगविद्या क्षत्रविद्या उत्पाद उत्पात संवत्सर, मुहूर्त निमित्त उपनिषद् और शिक्षा-सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्रा में विद्यमान था। भाष्य में ऐष्टिक पाशुक चातुर्होतृक ब्राह्मणिक वार्तिक आथर्वण वास्तुविद्य साहित्य की चर्चा है।

उपज्ञात साहित्य

लोक में विद्यमान विषय को बिना किसी से पढ़े सीखे या उपदेश प्राप्त किये स्वयं विश्लेषित कर वैज्ञानिक विधि से 'उपनिबद्ध' करना उपज्ञा का काम माना जाता था और इस प्रकार उपनिबद्ध किये गये ग्रन्थ उपज्ञात श्रेणी के माने जाते थे। इन ग्रन्थों में सामान्य विषय तो लोकानुसारी होते थे किन्तु कुछ अंश कर्ता की स्वोपज्ञा से प्रसूत होते थे। इनमें आपिशलि व्याकरण दुष्करण काशकृत्स्न का गुरुलाघव और पाणिनि का अकालकव्याकरण उनकी उपज्ञा की देन था।[6] उपज्ञात ग्रन्थों के कर्ताओं में काशिका ने व्याडि का भी नाम गिनाया है।[7]

कृत साहित्य

कृत मौलिक रचनाएँ थीं। लौकिक साहित्य यथा वररुचि के श्लोक हैकुपाद और भैकुराट की रचनाएँ इनके अन्तर्गत हैं। तित्तिरि के श्लोक मौलिक होने पर भी प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत थे कृत नहीं।[8]

ग्रन्थों के नामकरण—ब्राह्मणों या संहिताओं के नाम उनके प्रवचनकारों के नाम पर प्रचलित नहीं थे। जिस प्रकार, पाणिनि से उपज्ञात व्याकरण पाणिनीय कहलाता था और वररुचि से कृत श्लोक वाररुच उसी प्रकार काश्यप या कौशिक के बनाये ब्राह्मण काश्यपीय या कौशिकीय

---

१ ६–१–७१ तथा ४–३–७२, पृ० २४१।

२ ४–३–६७।

३ ४–३–६९।

४ ४–३–७३।

५ विनोपदेशं ज्ञातमुपज्ञातम्—स्वयमभिनिबद्धम्।

६ ६–२–१४ काशिका।

७. उत्पादितं कृतम् विद्यमानमेव ज्ञातमुपज्ञातमित्यनयोर्विशेषः।—४–३–११५ काशि०।

८. ४–३–११६ का०।

९. ४–२–६६, भा० २, पृ० १९१ तथा ४–३–१०५, भा० २, पृ० २४८।

नहीं कहे जाते थे। इन ग्रन्थों के नाम उनके प्रवचनकारों के शिष्यों के सन्दर्भ में ही प्रचलित थे। काश्यपिन् या कौशिकिन् छात्र वे कहलाते थे, जो काश्यप या कौशिक से प्रोक्त ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। इन छात्रों के नामों से ही काश्यप ब्राह्मणों या कौशिक ब्राह्मणों का अनुमान होता था। इससे स्पष्ट है कि प्रोक्त ग्रन्थ लिपिबद्ध नहीं थे। वे गुरुओं द्वारा मौखिक रूप से पढ़ाये जाते थे और शिष्य-परम्परा द्वारा जीवित रखे जाते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि 'पाणिनीय श्रेष्ठ और बड़ी रचना है', यह वाक्य ठीक है, किन्तु 'कठ श्रेष्ठ रचना है' यह प्रयोग ठीक नहीं है। अपेक्षाकृत नवीन ब्राह्मणों के लिए स्वतन्त्र शब्द थे। जैसे याज्ञवल्क्य ब्राह्मण या सौलभ ब्राह्मण। ये प्रारम्भ से ही लिपिबद्ध रहे होंगे। प्राचीन ब्राह्मण बाद में लिपिबद्ध किये गये जान पड़ते हैं।[1]

कुछ ग्रन्थों के नाम उनके वर्ण्य विषय के अनुसार रखे जाते थे। आख्यायिकाओं के नाम उनके नायक या नायिका के अनुसार होते थे। भाष्यकार के समय में वासवदत्ता सुमनोत्तरा और भैमरथी की आख्यायिकाएँ विद्यमान थीं।[2] शिशुक्रन्दीय यमसभीय श्येनकपोतीय इन्द्रजननीय देवासुरी रक्षोऽसुरी नामक कृतियाँ भी उस समय प्रचलित थीं।[3] आख्यानों में प्रयुक्त यवक्रीत प्रियंगु और ययाति के नाम भाष्य में मिलते हैं।

विभिन्न विषय—यदि हम विषय की दृष्टि से देखें तो भी पतंजलि-काल के साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध जान पड़ता है। वेदांगों में कल्प-साहित्य का परिमाण बहुत अधिक था। याज्ञिक्य ग्रन्थ तथा उनके व्याख्यानों की संख्या भी बहुत अधिक थी। यह बात ऊपर कही जा चुकी है। इसके अतिरिक्त व्याकरण तथा उससे सम्बद्ध विषयों तथा शिक्षा और निरुक्त पर पर्याप्त कार्य हो चुका था।

शिक्षा—पाणिनि के क्रमादिगण में शिक्षा भी सम्मिलित है। शिक्षा वर्णों के स्थान प्रयत्न-वर्णक ग्रन्थ हैं। पाणिनि ने आपिशलि का बार-बार उल्लेख किया है। उनकी शिक्षा आज भी उपलब्ध है। पाणिनीय शिक्षा का प्रचार पतंजलि के समय में भी रहा ही होगा। काशिका में शौनकीय शिक्षा का उल्लेख किया है। भाष्यकार ने स्वर-दोष-निरूपण करते हुए संवृत कल ध्मात एणीकृत अम्बूकृत अर्धक ग्रस्त निरस्त प्रगीत उपगीत क्ष्विण्ण रोमश आदि दोषों का उल्लेख किया है। किसी आचार्य के मत से अवलम्बित निर्हत विकम्पित संदष्ट, द्रुत और विकीर्ण भी स्वर-दोष हैं। इनके अतिरिक्त शेष स्वर-दोष दोनों आचार्यों के मत में सामान्य हैं। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा-शास्त्र की अपनी सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दावली थी। भाष्य द्वारा उद्धृत दो कारिकाएँ शिक्षा-ग्रन्थों की स्थिति की सूचक हैं।[5] सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखाओं की अर्ध एकार और अर्ध ओकारविषयक खोज भी इस दिशा में प्रवर्तमान प्रयत्न-परम्परा की ओर संकेत करती है। भाष्यकार ने इसे पार्षद कृति कहा है। अन्यत्र लोक या वेद में कहीं भी अर्ध

---

१ ४–२–६६, भा० १–२ पृ० १८९, १९०।

२ ४–३–८७ पृ० २४३।

३ ४–३–८८, भा० १ पृ० २४४।

४ ४–३–१०१।

५ भा० १, भा० १८, पृ० १९–२०।

एकारौकार नहीं बोले जाते थे।[1] यर्वाण तर्वाण ऋषियों के उच्चारण-दोष-जन्य उपहास की महाभाष्यीय उल्लेख भी शिक्षा-ग्रन्थों के व्यापक प्रभाव का परिचायक है। शिक्षा का सर्वप्रथम नाम निर्देश तैत्तिरीय उपनिषद् में मिलता है। उसमें शिक्षा के छह अंग माने हैं—वर्ण स्वर पर आघात पद-प्रमाण या अक्षरावयव एवं उसपर आधारित उच्चारण स्वर-माधुर्य और सम्यक्सन्धि।[2] शिक्षा का प्रारम्भ पद-पाठ से जिसमें सन्धि और पदपात पर विचार किया गया था, मानना चाहिए। भाष्यकार ने पद-पाठ की तुलना में व्याकरण को अधिक प्रमाण माना और कहा है कि व्याकरण के सूत्र पदकारों के अनुसार नहीं हो सकते। पदकारों को व्याकरण के नियमों का अनुकरण करना चाहिए।[3] शिक्षा क्षेत्र की खोजों के तीन शुभ परिणाम पतंजलि के समय तक स्पष्ट हो चुके थे। १ अक्षर-समाम्नाय की वैज्ञानिक पूर्णता, २ उदात्तादिस्वर, ३ स्थानकरणानुप्रदान के शास्त्रीय सिद्धान्त। भाष्यकार ने इन तीनों पर विचार भी किया है।[4]

निरुक्त—निरुक्त के व्याख्यान की चर्चा भाष्य में प्रत्यक्ष मिलती है। यास्क के निरुक्त को तो पतंजलि ने कई बार ज्यों का-त्यों और कहीं-कहीं थोड़े-से शब्द भेद से उद्धृत भी किया है।[5] यस्क गोत्र का जिसके वंशज यास्क कहलाते थे उल्लेख तो पाणिनि ने ही किया है।[6] भाष्य में नैगम और नैरुक्त सम्प्रदायों का भी वर्णन है। निरुक्त अनेक थे। दुर्गाचार्य की निरुक्त-वृत्ति में निरुक्त को चौदह भेदवाला बतलाया है। स्वयं यास्क (१२ १२) ने प्राचीन नैरुक्तों का स्मरण किया है। इनमें गार्ग्य गालव और शाकटायन का उल्लेख भाष्य में भी है। यास्क के अतिरिक्त अन्य किसी निरुक्त का नाम भाष्य में प्राप्त नहीं है।

व्याकरण—व्याकरण का प्रारम्भ प्रातिशाख्यों से हुआ था। भाष्यकार के सम्मुख ऋक् अथर्व वाजसनेय और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य थे। इस दिशा में सर्वप्रथम कार्य शौनकों ने किया। अथर्व प्रातिशाख्य भी इन्हीं का है। वाजसनेय के कर्ता कात्यायन का भी उल्लेख भाष्य में है। ये सब वैदिक चरणों के व्याकरण-ग्रन्थ हैं। ऋगयनादि गण परिगणित छन्दो-

---

१ आ० १, पृ० ५४।

२ तैत्ति० उप० १-२।

३ न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। यथालक्षणं पदं कर्तव्यम्।—३-१ १०९, पृ० १८६।

४ ८-४ ६८, पृ० ५००।

५ तुलना कीजिए—चत्वारि शृङ्गा (ऋग् ४-५८ ३), चत्वारि वाक्परिमिता पदानि (ऋग्० १ १६४ ४५) उतत्वः पश्यन्नददर्श (ऋग्० १०-७१ ४) तथा सक्तुमिव तितउना (१०-४ २); इन पस्पशाह्निक में व्याख्यात मन्त्रों की।—निरुक्त १३-७-१; १३-१-९, १ १९ तथा ४-९ में व्याख्या तथा इनपर सायण भाष्य। तथा अमतिर्निरिक्ता।—पस्पशाह्निक की निरुक्त ९-२ में तथा अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृता भाष्यन्ते।—भाष्य ७-१ ९६ की निरुक्त २-२ से।

६ २-४-६३।

७ ३-३-१, श्लो० वा० २, पृ० २८४।

भाषा का व्यय प्रातिशाख्य ही है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (२४-५) के माहिषेय भाष्य में यह बात स्पष्ट की गई है।

लौकिक वैयाकरणों में पाणिनि-पूर्व वैयाकरणों के अतिरिक्त पौष्करसादि का नाम एक वार्तिक में आया है। पुष्करसत् शब्द गणपाठों में कई बार मिलता है।[1] भाष्य में काशकृत्स्न एवं आपिशलि के ग्रन्थों का बार-बार उल्लेख है, उनका अध्ययन करनेवाली स्त्रियों के लिए काशकृत्स्नी और आपिशली के विशेषणों का प्रयोग है।[2] उन्हें काशकृत्स्न से प्रोक्त मीमांसा की जानकारी थी। किन्तु काशिकाकार ने तीन अध्यायों के काशकृत्स्न-व्याकरण का अनेक बार नाम लिया है। शाकटायन का व्याकरण अति प्रसिद्ध था। प्रातिशाख्यों और निरुक्त में वे वैयाकरणों के पिता कहे गए हैं। यास्क ने जिन पाणिनि-पूर्ववर्ती नवीन वैयाकरणों के नाम गिनाये हैं उनमें शाकटायन गार्ग्य और शाकल्य प्रमुख हैं। शाकटायन बड़े एकाग्र चिन्तक थे। रथमार्ग पर बैठे हुए भी इतने ध्यानस्थ हो जाते थे कि उन्हें सामने से गुजरनेवाले रथ-समूह का पता नहीं चलता था।[3] निरुक्तकार और पतञ्जलि दोनों ने शाकटायन का मत अत्यन्त आदरपूर्वक अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है।[4] उनका यह मत कि संज्ञा शब्द धातुज है आगे चलकर सिद्धान्त मान लिया गया। काशिकाकार के मत से सारे वैयाकरण शाकटायन के अनुवर्ती हैं। व्याघ्रपद के दशक व्याकरण से भी भाष्यकार परिचित थे या नहीं निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। उनके मत की उन्होंने चर्चा नहीं की है। आपिशल पाणिनीय व्याडीय गौतमीय का साथ उल्लेख मिलने से यह अनुमान होता है कि व्याडि और गौतम भी वैयाकरण थे।[5] गौतम की तिरपनवीं पीढ़ी भाष्यकार के समय में थी किन्तु पीढ़ी यह वैयाकरण गौतम की ही थी और यदि थी तो इन तिरपन में व्याकरणकार कौन था कहा नहीं जा सकता। फिर भी गौतमीय व्याकरण उनके समय में विद्यमान अवश्य था। स्वयं महाभाष्य में भी अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है। ये आचार्य व्याकरण में किसी न-किसी विशिष्ट सिद्धान्त के प्रवर्तक थे। इनका उल्लेख प्रातिशाख्यों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ आग्निवेश्य (तैत्ति॰ प्राति॰ ९ ४ मैत्रा॰ प्राति॰ ९ ४) इन्द्र (ऋक्तन्त्र १ ४) औदव्रजि (ऋक्तन्त्र २ ६ १०) कात्यायन (वाज॰ प्राति॰ ८-५३) काण्व (वाज॰ प्राति॰ १ १२३ १४९) काश्यप (वाज॰ प्रा॰ ४-५ ८-५०) कौण्डिन्य (तैत्ति॰ प्राति॰ ५ ३८ १८ ३) गार्ग्य (ऋक्प्राति॰ १ १५, १ १६) गौतम (तैत्ति॰ प्रा॰ ५ ३८ मैत्रा॰ प्रा॰ ५ ४०) जातूकर्ण्य (वाज॰ प्रा॰ ४ १२५ १६६) पौष्करसादि (तैत्ति॰ प्रा॰ ५ ३७ ३८ १३ १६) पाणिनि (लघु ऋक्तन्त्र), प्लाक्षि (तैत्ति॰ प्रा॰ ९ ६ १४ ११) प्लाक्षायण (तैत्ति॰ प्रा॰ ९ ६, १४ ११) बाभ्रव्य (ऋक्प्रा॰ ११ ६५) बृहस्पति (ऋक्तन्त्र १ ४) भरद्वाज (ऋक्तन्त्र १ ४) भारद्वाज (तैत्ति॰ प्रा॰ १७-३) मीमांसक (तै॰ प्रा॰ ५ ४२) यास्क (ऋ॰ प्रा॰ १ ४२)

---

१ २ ४ ६३ ४ १ ९९ तथा ७-३-२०।

२ ४ १ १४, भा॰ ३, पृ॰ ३६।

३ वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीन: शकटसार्थं यान्तं नोपलेभे।—३-२-११५, पृ॰ २५०।

४ ३ ३ १, श्लो॰ वा॰ २ पृ॰ २८४।

व्याडि (ऋक्प्रा० ६-२३, २८ तथा ६ ४३) वात्स्यायन (ऋक प्रा० १ १६ तथा १३-३१) शाकल्य (ऋक प्रा० ३-१३, २२) शौनक (ऋक प्रा० १ १)।[1] इस विषय पर प्रस्तावना में विशेष विवेचन किया गया है।

संग्रह-सूत्र की चर्चा भाष्य में आई है। यह संग्रह-सूत्र इस समय उपलब्ध नहीं है। पतंजलि ने शब्द के नित्यानित्यत्व के विषय में इसका मत प्रमाण-रूप में उद्धृत किया है।[2] उद्योतकार के मत से संग्रह के प्रणेता व्याडि थे। भाष्य में शब्द आकृति का वाचक है अथवा द्रव्य का इस विषय के विवेचन में वाजप्यायन और व्याडि दोनों के मत का उल्लेख किया है। वाजप्यायन शब्द को जाति या आकृति का अभिधायक मानते थे और व्याडि द्रव्य या व्यक्ति का।[3] प्रकाशकार के मत से संग्रह में एक लाख सूत्र या श्लोक थे।[4] महाभाष्यदीपिका में भी संग्रह को व्याडि-रचित लक्ष-ग्रन्थपरिमाण निबन्ध तथा व्याकरण-शास्त्र का एक ग्रन्थ माना है।[5] भाष्यकार ने दाक्षायण को संग्रह का प्रणेता माना है और उनकी कृति (संग्रह) को शोभन बतलाया है। दाक्षायण दाक्षी पुत्र पाणिनि के ममेरे भाई रहे होंगे। काशिका (२ ४ ६०) में दाक्षि को पिता और दाक्षायण को पुत्र कहा है। दाक्षी और दाक्षि बहन भाई ही हो सकते हैं। दाक्षायण काशिकाकार के अनुसार प्राच्यदेशीय थे। इनके गुरुकुल तथा ग्रन्थ की सार्वजनिक प्रतिष्ठा यहाँतक थी कि उससे स्नातक बने छात्रों का विवाह अच्छे कुल में होता था। इसलिए, कुछ विद्यार्थी श्रेष्ठ कन्याएँ प्राप्त करने के लोभ से उसका अध्ययन प्रारम्भ करते थे।[6] संग्रह व्याकरण का सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थ था। चान्द्र व्याकरण (४-१ ६३) में इसे पंचक कहा है। नागेश के प्रदीपोद्योत में इसे सर्वाधिक प्रमाण माना है।[7] भाष्य के बहुत-से श्लोक-वार्तिक तथा पूर्वोक्तार्थ संग्रह श्लोक-संग्रह से लिये गये जान पड़ते हैं। वाल्मीकीय रामायण के प्रणयन-काल में भी संग्रह के पठन-पाठन का विशेष प्रचार था, किन्तु पतंजलि से कुछ समय पूर्व ही उसका प्रचार कम हो गया था।

संग्रह-सूत्र के साथ भाष्य में वार्तिक-सूत्र का भी उल्लेख है। सम्भव है यह वार्तिक-सूत्र कात्यायन का ही हो। इन्द्र के व्याकरण की भी चर्चा महाभाष्य में आई है। ऐसा विश्वास था कि स्वयं बृहस्पति ने इन्द्र को प्रतिपद शब्द-पारायण का उपदेश दिया था किन्तु शब्दों का

---

१ ६-२ ३६, भा० १, पृ० २५७।

२ भा० १, पृ० ११।

३ १-२-६४, वा० ३५ तथा ४५, पृ० ५८६ एवं ५९०।

४ संग्रहो व्याडिकृतो लक्षसंख्यो ग्रन्थः।—महा० दीपिका।

५ व्याडयुपरचितलक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्। संग्रहोऽप्यमस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः, महा० दीपिका।—भर्तृहरि।

६ कुमारी दाक्षाः।—६ २-६९ काशि०।

७ एवं च संग्रहादिषु तदुदाहरणमसङ्गतं स्यात्।—४ १-१९ प्रदीपोद्योत।

८ ५-२-४८ तैत्तत।

९ प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्।
सम्प्राप्य वैया[illegible]म् संग्रहेऽस्तमुपागते॥—वाक्यप्रदीप द्वितीय काण्ड, ४८४।

मन्त्र न मिला।[1] बृहस्पति से शिक्षा पाकर इन्द्र ने व्याकरण की रचना की। ऐन्द्र व्याकरण लक्ष्य लक्षण पर आश्रित न होकर प्रतिपदाख्यानात्मक था।

भाष्यकार के समय में व्याकरण-सम्बन्धी अनुसन्धान चरम प्रकर्ष पर था और शिक्षा निरुक्त एवं प्रातिशाख्य भी उसी में समाविष्ट हो गये थे। यह सर्ववेदपारिषद शास्त्र माना जाता था जिसमें भिन्न-भिन्न आचार्यों के विभिन्न मत समादृत थे। किसी एक मत के स्वीकार का आग्रह न था।[2] व्याकरण शास्त्र उत्तरा विद्या मानी जाती थी और छन्द शास्त्र में अभिविनीत होने के बाद इसका अध्ययन किया जाता था।[3]

छन्द—ब्राह्मणादि ग्रन्थ में छन्दोनाम छन्दोभाषा और छन्दोविचिति शब्द आये हैं। इनमें छन्दोविचिति शब्द छन्दशास्त्र के लिए सामान्यतया व्यवहृत था। भाष्यकार के सम्मुख ऋक्-प्रातिशाख्य जिसके अन्तिम तीन पटलों में छन्दों का कथन है—साम के निदानसूत्र कात्यायन की अनुक्रमणी और शांखायन श्रौतसूत्र। ये छन्दशास्त्र-विषयक ग्रन्थ वर्तमान थे। भाष्य में छन्द शास्त्र को प्रातिशाख्य-शिक्षादि का पर्याय माना है। ऊपर व्याकरण के प्रसंग में व्याकरणाध्ययन से पूर्व छन्द-शास्त्र के अध्ययन की जो चर्चा की गई है, उसमें भाष्यकार का भी अभिप्राय प्रातिशाख्य और शिक्षा से जान पड़ता है। भाष्य में पंक्ति (पाँच पदों का छन्द) द्विपदा (दो पाद की ऋचा) त्रिपदा और चतुष्पदा ऋक् का उल्लेख है।[8] त्रिष्टुप् अनुष्टुप् और जगती को त्रैष्टुभ आनुष्टुभ और जागत भी कहते थे। भाष्य में ग्रैष्मी (ग्रीष्म शब्द युक्त) त्रिष्टुप् का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त उरस्यादि गण में पंक्ति उष्णिक् और ककुप् का समावेश है। पाणिनि ने बृहती विस्तारबृहती और विस्तारपंक्ति छन्दों की ओर संकेत किया है।[9] प्रत्येक पंक्ति में आठ-आठ पद या पादवाला छन्द अष्टापद कहलाता था।[10] भाष्य में आर्षी छन्द उद्धृत हैं।[11] भाष्य में वैदिक छन्द विस्तार तथा प्रगाथ का उल्लेख है। प्रगाथ छन्दों के विविध प्रकार के समूहों का नाम था। पतंजलि ने छन्दोविचिति के किसी ग्रन्थ का नाम नहीं दिया है।

---

१ भा० १, पृ० १२।

२ सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम् तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुमुत्सहते।—६ ३ १४, भा० ३, पृ० १०६।

३ व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या। सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलभ्याधिगन्तुमुत्सहते।—१-२ ३२, पृ० ५०८।

४ शाखाप्रोक्तसूत्रे।—७-२७ इत्यप्रकरण।

५ ४ १ १, भा० ३, पृ० ८।

६ ४ १-९।

७ ४-२-५५, भा० १, पृ० १८५।

८ ४ १-८६, भा० १ पृ० ९९।

९ ५ ४ ६, तथा ८ ३ ९४।

१० षडक्षरी षडक्षरी अष्टौ पदान्यस्येति।—८ १ १ भा० ६, पृ० ३६०।

११ ८ २-५६, पृ० ३७३।

दुर्योधन दुर्दान्त दुर्मर्षण कर्ण तथा अन्य सम्बद्ध व्यक्तियों में व्यास शुक (वैयासकि) सत्यभामा तथा पौराणिक नामों में सौभाद्रक वैश्वाक्षि शुक नाम भाष्य में मिलते हैं।[1] इनमें व्यास और कर्ण कानीन (कन्यापुत्र) थे।[2] सत्यभामा को केवल भामा भी कहते थे।[3] पाञ्चजन्य भी प्रसिद्ध हो चुका था। उग्रसेन का उल्लेख शतपथ (१३-५ ४ ३) में भी मिलता है। वहाँ उग्रसेन को राजा कहा गया है। वहीं पर भीमसेन और श्रुतसेन की चर्चा है। ये सब परीक्षित-पुत्र जनमेजय के भाई थे। सुतपुत्र उग्रपुत्री भेजपुत्री और भोजदुहिता की चर्चा भी पतंजलि ने की है। सूत और उग्रसेन तो महाभारत से सम्बद्ध ही हैं किन्तु भोज और भेज से उनका क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं है।[4] भाष्यकार ने इस बात को बलपूर्वक कहा है कि कुछ लोग धर्मपूर्वक युद्ध करते थे।[5] उन्होंने महाभारत से सम्बद्ध बहुत-से श्लोकांश महाभारत या अन्यत्र से भी उद्धृत किये हैं जो काव्य के प्रौढ़ उदाहरण कहे जा सकते हैं।

पुराण—पुराण और इतिहास का साथ उल्लेख भाष्य में है यद्यपि किसी पुराण का उसमें नहीं है। पौराणिक तथा वैदिक आख्यान अवश्य यत्र-तत्र आते हैं। इनमें उर्वशी का उल्लेख पुरूरवा और उर्वशी के प्रसिद्ध आख्यान की ओर संकेत करता है जो ऋग्वेद (१०-९५) कृष्णयजु के काठक ब्राह्मण महाभारत के शिल्पपर्व हरिवंश और विष्णु पुराण में भी आया है। इसी प्रकार इन्द्रवृत्राख्यान[9] देवासुर युद्ध[10] तथा इन्द्र द्वारा आत्मकुमारी को वर-प्रदान की कथा[11] एवं अहिल्या-इन्द्र की कथा[12] भाष्य में आई है। देवासुरी और राक्षोसुरी कृतियों की चर्चा भाष्य में है। यह कथा तैत्तिरीय संहिता (२ ४ १) पर आधृत है। इसमें देवों पितरों और मानवों का एक पक्ष तथा दैत्यों राक्षसों और पिशाचों का दूसरा पक्ष है तथा देवों द्वारा षड्यन्त्रपूर्वक असुरों तथा राक्षसों में भेद उत्पन्न कर दोनों को पराभूत करने का वर्णन है।

अन्य काव्य—पतंजलि-काल तक रामायण और महाभारत के अतिरिक्त अन्य काव्य भी लिखे जा चुके थे। भाष्य के प्रारम्भ में ही कात्यायन के बनाये भ्राज श्लोकों की चर्चा आई है।

---

१ ४ १ १५४, भा० ७, पृ० ११९ ४० ४-१ १२० पृ० १४१; ८ १ १५, पृ० २७८; ३-३-११०, पृ० ३२०; ४ १ ११६, भा० १ पृ० १४; २-२-११, पृ० ३४९ तथा ४ १ ९७ भा० १, पृ० १२९।

२ ४-१ ११६।

३ भा० १, पृ० १४।

४ ४-३-६०, श्लो० भा० ३, पृ० २३८।

५ ६ ३-७०, भा० ९, पृ० ३७०।

६ ३ २-१२२, भा० ३, पृ० २५४।

७ २-२-२४, पृ० ३३९।

८ ५-२-९५, पृ० ४११।

९ भा १, पृ० ४।

१० ४-३-८८, भा० १, पृ० २४४।

११ ८ ३ ० ३१७।

१२ २-३-४२, पृ० ४४९।

निश्चय ही ये श्लोक ग्रन्थ-रूप में रहे होंगे जिसमें भाष्यकार ने उद्धृत किया होगा।[1] इस समय ऋतु-वर्णनविषयक काव्य-ग्रन्थ भी विद्यमान थे। सम्भवतः, उन्हीं की परम्परा पर आगे चलकर ऋतु-संहार-जैसे ग्रन्थों की रचना हुई। वसन्तादिगण में सब ऋतुओं का समावेश है और भाष्यकार ने उनके अध्ययन को वासन्त अध्ययन (वसन्त सहचरित अध्ययन) नाम दिया है।[2] शिशुक्रन्दीय यमसभीय आदि काव्य थे या नाटक यह तो भाष्य में स्पष्ट नहीं है, किन्तु उसमें उद्धृत पचासों श्लोक इस बात के साक्षी हैं कि काव्य में आलंकारिकता (शाब्दिक और आर्थिक दोनों) आ चुकी थी। वाररुच काव्य, जालूकश्लोक, भ्राजश्लोक, तित्तिरि प्रोक्त श्लोक आदि उल्लेख इस बात के प्रमाण हैं कि कवियों के अतिरिक्त वैयाकरण, धर्मशास्त्री आदि लोग भी अपने विषय को सरस एवं आमुष्मार्य बनाने के लिए पद्य-रचना करते थे। भ्राजश्लोक कात्यायन-प्रणीत माने जाते हैं। वररुचि सम्भव है महापद्म नन्द के मन्त्री रहे हों। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में इन्हें अतिराग कहा गया है।[3] भाष्यकार किसी भ्राजश्लोकपाठी से भी परिचित थे।[4] पाणिनि ने श्लोकों के उपन्यसन करने के लिए *उपश्लोकयति ण्यन्त क्रिया का व्यवहार किया है।*[5] कवि लोग कभी-कभी व्याकरण के नियमों की उपेक्षा कर वैदिक प्रयोगों का व्यवहार लौकिक काव्य में भी कर देते थे किन्तु ऐसे प्रयोग दूषित माने जाते थे।[6] यद्यपि वे छन्दोवत् स्वीकार भी कर लिये जाते थे। पतंजलि कालीन काव्य के दो एक उदाहरण दे देना यहाँ समीचीन होगा—

१ असिद्वितीयोऽनुससार पाण्डवम्॥

२ सङ्कर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्।

३ अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्।
वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदी॥

४ बहूनामप्यचित्तानामेको भवति[9] चित्तवान्।
पश्य वानरसैन्येऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते॥
मैवं मंस्थाः सचित्तोऽयमेषोऽपि हि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति॥[10]

---

१ भा० १ पृ० ५।

२ ४-२-६३, पृ० १८८।

३ वररुचिर्नामविख्यातः अतिरागी अभूत्तदा।
नित्यं च मागधे धीरो तस्य राज्ञो भविष्यति॥
तस्याप्यनुजः सख्यः पाणिनिर्नाम माणवः॥—मंजुश्रीमूलकल्प, ४३३-३७।

४ १ ४ ३०, भा० ७, पृ० १९१।

५ ३ १-२५।

६ छन्दोवित् कवयः कुर्वन्ति। न ह्येषेष्टिः।—१ ४ ३, पृ० १३१।

७ २-२-२४ पृ० ३६९।

८ वही।

९ २-२-२६, भा० ६, पृ० ३७९।

१० १ ३-२५ पृ० ६४।

अध्याय ४

स्वास्थ्य और शरीर-विज्ञान

भाष्य में शरीर, शारीरिक सौन्दर्य, शरीर-विकृति, रोग, औषधि आदि के विषय में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार शरीर-शास्त्र एवं आयुर्विज्ञान से पूर्णत: परिचित थे।

देह या भोग—भाष्य के अनुसार शरीर, देह[1] काय एवं भोग पर्यायवाची हैं। भोग शब्द के अनेक अर्थों में शरीर भी एक है। तैत्तिरीयसंहिता (४ ६ ६) में कहा है कि जिस प्रकार साँप अपने भोगों से प्राणियों को वेष्टित कर लेते हैं उसी प्रकार धनुर्धारी मनुष्य चर्म से अपने हाथों का वेष्टन करते हैं। भाष्यकार ने संहिता के इस वाक्य को उद्धृत किया है और स्पष्ट कहा है कि भोग शब्द शरीरवाची भी देखा जाता है। आगे चलकर भोग शब्द 'सर्प के शरीर' का वाचक मान लिया गया।[2]

शरीरावयव—देह या भोग के अंगों के लिए भाष्य में शरीरावयव शब्द का व्यवहार हुआ है।[3] यह प्रयोग सामान्य था। वैज्ञानिक दृष्टि से पाणिनि और पतंजलि दोनों ने इसे स्वांग कहा है। भाष्यकार ने स्वांग की छह विशेषताएँ बतलाई हैं—१ द्रव न हो २ मूर्तिमान् हो ३ प्राणिस्थ हो ४ अविकारज हो ५ यदि प्राणी से संयुक्त न हो तो पहले संयुक्त रहा हो ६ उसी प्रकार किसी में संयुक्त हो जैसे प्राणी में संयुक्त होता है। इनमें प्रथम चार गुण अनिवार्य हैं और शेष दो विशेष परिस्थितियों में स्वांग की पहचान के लिए हैं। इस परिभाषा के अनुसार लोहित या रक्त और कफ द्रव होने से, मन, बुद्धि और ज्ञान अमूर्त होने से, शाला, सभा आदि के अंग के रूप में प्रचलित मुख, जघन आदि शब्द प्राणिस्थ न होने से और गुड, पिटक, शोफ आदि विकारज होने के कारण स्वांग नहीं माने जाते, किन्तु रथ्या में पड़े हुए उक्त केश-स्तम्भ तथा मूर्तियों के नासिकादि अवयव स्वांग की सीमा में आ जाते हैं।

---

१ ४ ३-६०, पृ० २३७।

२ भोगशब्दः शरीरवाच्यपि दृश्यते। अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुम्।—५ १ ९ पृ० ३०१।

३ ४ १-५५।

४ अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्। अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्। अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गम्। अद्रवमिति किमर्थम् बहुलोहिता बहुकफा। मूर्तिमदिति किमर्थम्? बहुबुद्धिः बहुमनाः प्राणिस्थमिति किमर्थम्? बहुस्तम्भमुखा शाला। अविकारजमिति किमर्थम्? बहुगण्डः बहुपिटका। अप्राणिस्थं प्राणिनि दृष्टं च स्वाङ्गं भवति—दीर्घकेशी रथ्या। तेन चेत्तत्तथायुतम् प्राणिनोऽपि स्वाङ्गं भवतीति दीर्घनासिकार्चा।—४-१-५४, पृ० ६५-६६।

स्वांगों के भेद—स्वांग दो प्रकार के होते हैं—ध्रुव[1] और अध्रुव। जिनके छिन्न हो जाने से प्राणी मर जाय, वे ध्रुव और जिनके काट देने पर भी प्राणी जीवित बना रहे वे अध्रुव माने गये थे।[2] काशिका ने ध्रुवांगों को एकरूप कहा है।[3] भाष्यकार के मत से मुख उदर स्फिक पृष्ठ ललाट पर्शु शिर आदि ध्रुव हैं और नख केश दन्त अक्षि बाहु भ्रू आदि अध्रुव। भाष्य में निम्नलिखित स्वांगों का उल्लेख है—शिर[4] ललाट[5] भ्रू[6] भृकुटि[7] अक्षि कर्ण[8] गर्न मक[9] मुख[10] या आस्य[11] चिबुक[12] नासिका[13] ओष्ठ[14] जिह्वा[15] जिह्वामूल[16] दन्त[17] मूर्धा[18] तालु,[19] काकलक[20] कण्ठ[21] हनु[22] अंस हृदय[23] या स्कन्ध ग्रीवा[24] मन्या[25] उरस्[26] स्तन[27] हस्त[28] बाहु[29] पाणि[30] अंगुलि[31] कराग्र नख[32] उदर,[33] नाभि[34] वस्ति[35] कटि[36] स्फिक्[37] गुदा[38] मेढ्र[39] सक्थि[40] जानु[41] ऊरु[42] पार्ष्णि[43] अष्ठीवत्[44] जंघा[45] अस्थि[46] पाद[47] प्रपाद[48] पृष्ठ[49] कुक्षि[50] पार्श्व[51] नीवी,[52] नितम्ब[53] यकृत्।[54]

---

१ ६-२ १७७, पृ० २९१।
२ ३-४-५४ का०।
३ ६-२ १७७, पृ० २९१।
४ १ ३-६६, पृ० ८४।
५ ४ ३ ६५।
६ १ १-५४ का०।
७ ६ ३-११, पृ० ३४०।
८ १ ४-५४ काशिका।
९ ४ ३ ६५।
१० ५-२ २४।
११ १ १-८, पृ० १५६।
१२ १ १ ९, पृ० १५९।
१३ भा० १, पृ० ११।
१४ १ १-८, पृ० १५६।
१५ १ १-९, पृ० १५९।
१६ ४ १-५९।
१७ ४ ३ ६९, पृ० २९८।
१८ ५ २-१०६।
१९ ५ ४ ११५।
२० १ १-५०, पृ० ३०१।
२१ १ १-९, पृ० १५९।
२२ १ १-५०, पृ० ३०१।
२३ ४ ३-५८, पृ० २३६।
२४ ६ ३-५०।
२५ ४-२-९६।
२६ ३-१ ९९।
२७ भा० १, पृ० ७।
२८ ३-२-२९, पृ० २१५।
२९ १ १ ४९, पृ० २९७।
३० १ ३-२, पृ० १८।
३१ २ ४ १६, पृ० ४६९।
३२ १ ४ १८, पृ० १४७।
३३ ६ ३-७५।
३४ १ ४-२४, पृ० १६२।
३५ ५ १-२, पृ० २९६।
३६ ५ २ १३९।
३७ १ ४ ६०, पृ० १९११
३८ कोशानिघण्ट ४ १-५६।
३९ वही।
४० ५ ४ ११३, पृ० ५०८।
४१ ४ ३-३०।
४२ ५ २ ३७, पृ० ३७८।
४३ ६ २ १७७, पृ० २९१।
४४ ८-२-१२।
४५ ६-२-११४।
४६ ४ ३-५६।
४७ २ ४ १६, पृ० ४६९।
४८ ५-२-८।
४९ १ ३-१, पृ० ८।
५० ४ ३-५६।
५१ ४ ३-१०, पृ० २३७।
५२ ४ ३-३०।
५३ ८ ४ १०, पृ० ४७९।
५४ ६ १ ६३।

इनमें शिर को शीर्ष भी कहते थे। वेदों में सिर के लिए शीर्ष और शीर्षन्[1] शब्द मिलते हैं। लोक में शीर्षन् प्रचलित नहीं था। वार्तिककार ने शिरस् को शीर्षन् और शीर्ष आदेश बतलाये हैं। शीर्ष पर होने के कारण केशों को शीर्षण्य या शिरस्य कहते थे। शीर्ष शरीर का सर्वोच्च भाग है।[2] इसलिए, मुख्य के लिए भी शीर्षण्य शब्द व्यवहार में आता था।[3] भाष्य में शिर और जानु के मोड़ने का उल्लेख है तथा बतलाया गया है कि उरस् कण्ठ तथा शिर क्रमशः[4] उत्तर स्थानीय[5] हैं। पके हुए बालोंवाला शिर पलित कहलाता था।[6]

ललाट या मस्तक शिर का अग्रभाग है। यहीं पर 'ललाटिका' नामक आभूषण पहना जाता था। भ्रू अक्षि भ्रू या भृकुटि मस्तक के नीचे भौंहों का नाम था। कर्ण को श्रोत्र भी कहते थे। शब्द को श्रोत्रोपलब्धि कहा है।[8] कर्ण के मूल को कर्णजाह कहते थे।[9] कर्ण के समीप का स्थान उपकर्ण कहलाता था।[10] अक्षि के लिए चक्षुष् का भी प्रयोग भाष्य में हुआ है। जैसे एक चक्षुष्मान् देखने में समर्थ है, सौ चक्षुष्मान् इकट्ठे होकर भी देख सकते हैं।[11] भाष्य में पिंगल नेत्रों की चर्चा है।[12] स्वस्थ रखने के लिए नेत्रों में काजल लगाने की प्रथा थी।[13] हनु ठुड्डी का वाचक था। हनु के चारों ओर होनेवाली वस्तु पारिहणव्य कही जाती थी। मुख और आस्य भी समानार्थी हैं। लोक-व्यवहार में आस्य ओष्ठ से काकलक तक के प्रदेश को कहते थे। वर्ण मुँह से क्षिप्त या असित होते हैं, इसलिए उसे आस्य कहते थे। मुह अन्न का आस्यन्दन (परिचालन) करता है, इसलिए भी वह आस्य कहा जाता था।[15] काकुद[16] या तालु के पास सप्त विभक्तियाँ क्षरित या प्रकाशित होती हैं। तालु वर्णों का उच्चारण-स्थान भी है। मूर्धा

---

१ ६-१ ६० पृ० ८४।

२ वही।

३ वही।

४ १ ३-६६, पृ० ८४।

५ १ २ ३०, पृ० ५०५।

६ ८-२-२५, पृ० ३४१।

७ ४ ३ ६५।

८ ६-३ ११ पृ० ३४०।

९ भा० २, पृ० ४२।

१० कर्णस्य मूलं कर्णजाहः।—५-२-२४।

११ ४ ३-३०।

१२ भा० ९, पृ० ७०।

१३ ७-१-७७, पृ० ७३।

१४ ८ २ ४८, पृ० ३६७।

१५ लौकिकमास्यमोष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकात्। कथं पुनरास्यम्? अस्यन्त्यनेन वर्णानित्यास्यम्। अन्नमेतदास्यन्दत इति वास्यम्।—१ १ ९, पृ० १५९।

१६ भा० ६, पृ० ११।

इससे भी ऊपर है[1] और काकलक[2] इससे भी आगे कण्ठ में। जिह्वामूलक कण्ठ के नीचे है। यह जिह्वामूलीय कवर्ग के उच्चारण का स्थान[3] है। मूर्धा से उच्चरित वर्ण मूर्धन्य कहलाते थे।[4] बोला जानेवाला शब्द तीन स्थानों उर, कण्ठ और सिर में बद्ध होता अर्थात् रुकता है।[5] भाष्य के मत से यह उच्चारण का प्रक्रम है।[6] शरीर के भीतर नाभि के निम्नप्रदेश नाभि और हृदय को गुहा नाम दिया गया है।[7] उच्चारण के लिए कण्ठ को विवृत किया जाता है। कण्ठ को फैलाकर बोलनेवाले को विवृत-कण्ठ कहते हैं।[8] जिह्वा वाचन का साधन है। इसी के सहारे वक्ता अपनी बात कहता है। जिह्वा यदि स्निग्ध और श्लक्ष्ण हुई, तो प्रयोक्ता मृदु, स्निग्ध और श्लक्ष्ण शब्दों का प्रयोग करता है।[9] दाँतों को साफ रखना आवश्यक है। जो लोग उन्हें साफ रखते हैं, उनके दाँत शुक्ल होते हैं अन्यथा वे काले-काले दिखते हैं।[10] हनवाह हनु के मूल का नाम था।[11]

इन शरीरांगों के अतिरिक्त नाड़ी धमनी[12] लोहित[13] अस्थि[14] चर्म कफ[15] लोम एवं वलि[16] का उल्लेख भाष्य में हुआ है। उसमें शरीर को बहुनाडि और ग्रीवा को बहुतन्त्रि या बहुधमनि कहा है।[17] धमनी और तन्त्री शब्द पर्याय हैं। भाष्य के मत से ग्रीवा शब्द भी धमनी वाचक है। ग्रीवा धमनियों का केन्द्र है। ग्रीवा में बहुत-सी धमनियाँ के एकत्र रहने के कारण ही ग्रीवा शब्द को भी अनेक बार बहुवचन कर दिया जाता है।[18] आनन्द से खड़े केशों या

---

१ ५ ४ ११५।
२ १ १-९, पृ० १५९।
३ ४ ३ १२, पृ० २३८।
४ ४ १ १११, पृ० १५३।
५ त्रिधा बद्धस्त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति।—भा० १, पृ० ७।
६ १-२ ३०, पृ० ५०५।
७ भा० १, पृ० ७।
८ १ १-९, पृ० १६०।
९ प्रयोक्ता हि मृद्व्या स्निग्धया श्लक्ष्णया जिह्वया मृदून् स्निग्धान् श्लक्ष्णान् शब्दान् प्रयुङ्क्ते।—५ १ १६, पृ० ३०६।
१० २-२-८, पृ० १३१।
११ ५-२ २४।
१२ ५ ४ १५९।
१३ ४ १-५४, पृ० ३५।
१४ ७-१-७५।
१५ ७-२ २६, पृ० १२०।
१६ ५ २ ११९।
१७ ५ ४ १५९ काशिका।
१८ ४ ३-५७ काशिका।

रोमों को हृषित या हृष्ट कहते थे।[1] प्रतिघात से भी कुण्ठित दाँत हृषित या हृष्ट ही कहे जाते थे।[2]

अंग-विन्यास और आकल्पकरण—शरीर के सौन्दर्य के लिए अंगों का समुचित आकार, विन्यास तथा मार्दव आवश्यक है। आकल्पकरण एक सीमा तक ही सहायक हो सकता है।[3] आकल्पकरण या सज्जा की भाष्यकार ने तीन कोटियाँ बतलाई हैं—दुराकल्पमय ईषदाकल्पमय और स्वाकल्पमय।[4] प्रथम तो शरीर को और विकृत कर देता है। अधिक या अनावश्यक सज्जा से शरीर और दुराढ्य हो जाता है। थोड़ी सज्जा कभी-कभी सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक होती है। स्वाकल्पकरण में वास्तव में कलापूर्ण ढंग से वस्त्राभूषण पहनना मुख एवं शरीर पर विविध अनुलेप पत्र-रचना आदि सम्मिलित हैं। किन्तु, यह सब सुन्दर शरीर पर ही शोभता है। भाष्यकार की दृष्टि अंगों की सुन्दर रचना की ओर रही है। उन्होंने यत्र तत्र तद्विषयक संकेत दिये हैं। उदाहरणार्थ 'सुशिर' सिर की निर्दोष बनावट के लिए है।[5] इसका ठीक उलटा त्रिमूर्ध या त्रिमूर्ध है, जिसके एक ही सिर दो-तीन सिर से जुड़े मालूम होते हैं।[6] ललाट का बड़ा होना सौन्दर्य और सौभाग्य दोनों का सूचक है। बड़े चौड़े ललाटवाला प्रललाट और चौड़ी पीठवाला व्यक्ति प्रपृष्ठ कहलाता था। पृष्ठ का चौड़ा होना सीने या वक्ष की चौड़ाई का सूचक है। चौड़ी छातीवाले को व्यूढोरस्क या महोरस्क कहते थे। पीछे की ओर झुके हुए ललाट वाले को 'प्रत्यग्ललाट'[9] कहते थे। आगे लटकते हुए मुल्क, अर्थात् प्रामुल्क[10] ललाट के सौन्दर्य को द्विगुणित करते हैं। आँखें तो जीवन का आधार ही हैं। उनका सुन्दर तथा स्वस्थ होना आवश्यक है। भाष्य में दर्शनीय नेत्रों और सुकुमार पलकों की चर्चा है जिनका उल्लेख वक्ता समर्थ करता है।[11] आँखों का हल्का लोहित होना सौन्दर्य और स्वास्थ्य दोनों का परिचायक है। इसीलिए लोहिताक्ष[12] व्यक्ति सुन्दर माना जाता था। नासिका का तुंग होना एवं बाहुओं का वृत्त होना भी सौन्दर्य-वर्धक था।[13] देवताओं की पूजा की बनाई हुई मूर्तियों की नासिका भी दीर्घ और तुंग

---

१ ७-२-२९, पृ० १२०।

२ ७-२-२९, पृ० १२०।

३ १-१-७२, पृ० ३५२।

४ १-१-१२७ पृ० ३२०।

५ ६-२-११७, पृ० २०८।

६. ५-४-११५।

७. ६-२-१७०, पृ० २९२।

८. भा० २ पृ० ७५।

९ ४-१-६० पृ० ७१।

१० वही।

११ १-४-२१ पृ० १५१।

१२ १-३-२, पृ० ९९।

१३ व्यूढोरस्को वृत्तबाहुर्लोहिताक्षस्तु भाती विचित्राभरणैर्यथा देवदत्त इति।—१-१-२, पृ० १८।

होती थी।[1] कुक्षि या पार्श्व में असि लटकाई जाती थी। इसीलिए, असि को कौक्षेयक[2] कहते थे। भाष्य में पार्श्वतीय[3] शब्द का भी प्रयोग मिलता है। छोटे-पतले पेटवाले को अनुदर और बड़े या लम्बे पेटवाले को उदर कहते थे। अनुदर कन्या सौन्दर्यशालिनी गिनी जाती थी।[4] स्फिक नितम्ब सक्थि जानु, जंघा और उसके सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था। प्रस्फिक[5] वक्रनितम्बा चक्रजघनी नारी[6] सुन्दर मानी जाती थी। उरुयष्ठी कदलीस्तम्भोरु, करभोरु संहितोरु सहोरु होना स्त्रियों के लिए गर्व की बात थी। सुन्दरी[7] और सुकेशा स्त्रियों के काम्य विशेषण थे। गोकर्ण खरकर्ण[8] गोजंघ अश्वजंघ एणीपद[9] शब्द शारीरिक गठन के सूक्ष्म निरीक्षण के परिचायक हैं। मेरा कान अच्छी तरह सुनता है मेरी आँख अच्छी तरह देखती है,[10] यह बात स्वस्थ व्यक्ति ही गर्व से कह सकता था। हृदय तो स्वांगों का सम्राट् ही है। हृद्य हृल्लास और हृल्लेख शब्द हार्दिक उल्लास को व्यक्त करते हैं।[11]

अंग-विकृति—जिस प्रकार सुगठित और स्वस्थ अंग प्रीति उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार विकृत अंग विरक्ति का भाव जाग्रत् करते हैं। भाष्य में सुन्दर अंगों के समान विकृतांगों का भी उल्लेख है। सुशिरा का ठीक उलटा त्रिमूर्ध या त्रिमुख है।[12] किसी-किसी व्यक्ति के सिर की बनावट इस प्रकार की होती है कि एक में तीन लगे हुए सिर प्रतीत होते हैं। ऐसे व्यक्ति को त्रिमूर्ध या त्रिमूर्ध कहते हैं। इसी प्रकार, स्थूलशिरा हस्तिशीर्ष पीलुशीर्ष लोग भी विकृत सिर वाले ही कहलाते थे।[13] लोहित[14] और पिंगल[15] नेत्रों में लोहित सुन्दर माने जाते थे। जिन नेत्रों

---

१ ४-१-५४, पृ० ११।
२ ४-२-९६।
३ ४-३-६०, पृ० ३१७।
४ १-४-६०, पृ० ११११।
५ १-४-२, पृ० ११२।
६ १-४-६०, पृ० ११११।
७ ८-४-१०, पृ० ४७९।
८ ५-४-११३ पृ० ५०८।
९ ४-१-३, पृ० ११।
१० ६-२-११२ काशिका।
११ वही।
१२ १-२-५९, पृ० ५।
१३ ६-३-५० काशिका।
१४ ५-४-११५।
१५ १-१-६१, पृ० ८५।
१६ १-३-२, पृ० १८।
१७ आली के दग्धपिङ्गले।—७-१-७७ पृ० ७१।

से पानी बहता रहता है, उन्हें पिल्ल या पिल्ल कहते थे।[1] जिस व्यक्ति की आँखें चिपचिपाती होती थीं वह भी पिल्ल या पिल्ल कहलाता था।[2] जो व्यक्ति बात करते समय एक आँख को दबाता या भौंहें चमकाता था उसके लिए कहा जाता था कि वह व्यक्ति 'अक्षिनिकाण' से बोलता है या सभ्रूविक्षेप बात करता है।[3] अक्षिहीन व्यक्ति को अन्ध कहते थे। अन्ध दो प्रकार के होते हैं—जन्मान्ध[4] तथा अन्ध। जन्मान्ध जन्म से ही अक्षिहीन होते हैं। समाज के लोग जन्मान्धों की देख-रेख करते थे। हर व्यक्ति इस बात का ध्यान रखता था कि वे खाग-खड्ड या कुएँ में न गिर पड़े।[5] काण उसे कहते थे, जिसे सारी वस्तु न दिखाई पड़े। 'यह अन्धों में काणतम है', भाष्य ने इस वाक्य का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा है कि 'कणि' धातु का प्रयोग सूक्ष्म अर्थात् कम देखने के अर्थ में होता है। अतः कम देखनेवालों में सबसे कम देखनेवाले के सम्बन्ध में इस वाक्य का प्रयोग होता है।[6] अन्ध और काण से भिन्न विकृताक्ष[7] का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है। नेत्र में पुष्पक या फूली का होना भी विकृति है। जिसके नेत्र में पुष्पक हो उसे भी पुष्पक कहते थे। 'किरिकाण' शब्द का प्रयोग भी भाष्य में है।[8]

नासिका-सम्बन्धी विकारों के लिए भाष्य में बहुत शब्द आये हैं। तुंग[9] और दीर्घ नासिका यदि सौन्दर्य का चिह्न थी तो चपटी झुकी और छोटी नाक कुरूपता की जननी। बड़ी और ऊँची उठी हुई नासिकावाला मुख प्रनस और उन्नस कहलाता था।[11] यह भी विकार था। प्रनस और उन्नस शब्द सामान्य से अधिक बड़ी और ऊँची नासिकावाले मुख के लिए प्रयुक्त होते थे। नासिका के झुकाव या नमन को अवटीट अवनाट या अवभ्रट कहा जाता था।[12] निबिड, निबिरीस[13] चिकिन और चिपिट[14] शब्द भी इस अर्थ में आते थे। ये शब्द संज्ञा थे। अथवा शब्द चिक्कित चिपिट और चिपक[15] शब्द भी इसी अर्थ में प्रचलित थे। नासिका के लिए

---

१ ५-२-३३, पृ० ३७०।

२ वही।

३ ३-४-५४ काशिका।

४ ६-१-३ पृ० २९९।

५ कूपावटौ वारयति, जन्मान्धः कूपं मा प्रापदिति।—१ ४ २७, पृ० ३३३।

६ ५ ३-५५, पृ० ४३५।

७ ६ ३ ३, पृ० २९९।

८ १ २-११ पृ० ५०१।

९ २-१ १, पृ० ९९०।

१० ४ १-५४ पृ० ३३।

११ १ ४ ३०, पृ० ३११।

१२ ५-२-३१।

१३ ५ २ ३२।

१४ ५ २-३३ पृ० ३७०।

१५ वही।

अनेक उपमान प्रसिद्ध थे जो भिन्न प्रकार की विकृतियों के सूचक थे। द्रुणस खरनस्, खुरणस् विविनस्, अर्चनस् और अहिनस् इसी प्रकार के शब्द थे।[1] उन्नस और प्रणस उन्नत और बड़ी नासिकावाले व्यक्ति कहलाते थे।[2] खरणस् खरा या सीधी तथा खुरणस् सपाट या फैली हुई नासिकावाले का विशेषण था। नकटा पुरुष विग्र या विख्य कहा जाता था।[3] भिनभिनाकर, अर्थात् नासिका के सहारे बोलनेवाले लोग जो मुखनासिकावचन कहलाते थे व्यंग्य के पात्र थे।

अतिस्थूल या प्रोदर होना भी शरीर से विरूप होना बतलाता था।[4] स्त्री के लिए चक्र, सक्थी[5] होना विकार का नहीं सौन्दर्य का सूचक था। तुन्द तोंदीले व्यक्ति को कहते थे। तुन्द व्यक्ति अलस होते हैं।[6] इन्हें तुन्दपरिमृज कहते थे। बस तोंद पर हाथ फेरना इनका काम रहता है। जो यों ही पेट का परिमार्जन करता हो, उसे तुन्दपरिमार्ज कहते थे। अनावश्यक लम्बा व्यक्ति वाट कहलाता था। जिसकी नाभि बड़ी बाहर निकली रहती थी, उसका नाम तुन्दिभ और जिसके पेट में मुटापे के कारण बल पड़ते थे उसका नाम वलिभ[9] था। नाकों की बनावट बुरी होने पर कुनास या कुनासी संज्ञा मिलती थी।[10] सूर्पनखों की भी कमी न थी।[11]

परमुख उष्ट्रमुख मुख-विकृति के सूचक थे।[12] दन्तुर[13] लम्बे बड़े दाँतोंवाले का नाम था। यह सुन्दर या सुदती का ठीक उल्टा था। और मुख सौन्दर्य का वाचक था।[14] जिसके हाथ या पाँव में पाँच के स्थान पर छह अँगुलियाँ होती थीं उसे षडिक कहते थे।[15] प्रतिलीन (बाकला) होना भी विकृति का बोधक था। त्वक या चमड़ी पर तिल किसी-किसी के बहुत अधिक होते

१ ५-४-११८, पृ० ५१०।
२ ५-४-११९, पृ० ५१०।
३ वही।
४ ६-२-१७७, ० २९१।
५ ५-१-१११।
६ १-२-११ पृ० ५०६।
७ तुन्दपरिमृजोऽलसः। यो हि तुन्दं परिमार्ष्टि तुन्दपरिमार्जः स भवति।—३-२-५, पृ० २१०।
८ ६-१-१५८, पृ० २९५।
९ ५-२-१३९।
१० ६-३-६२, पृ० ४४९।
११ ४-१-५८।
१२ भा० २, पृ० ७७।
१३ ५-२-१०६।
१४ ४-१-५८।
१५ अनुकम्पितः षडङ्गुलिः षडिकः।—१-४-१८, पृ० १४७।

ये चर्मतिल कहलाते थे।[1] इसी प्रकार काले तिलोंवालों को कालक कहते थे।[2] पाणि सामुद्र भी होते हैं और त्रिपोलिक[3] भी। पीठ और पाणि-पार्श्वों की नियमित सफाई उन्हें सुकुमार बनाये रखती है। उन्हें उन्मृद् बनाये रखना आवश्यक माना जाता था।[4] पाद यदि विकृत हुए, तो चलना-फिरना बन्द हो जाता है। भाष्य में ऐसे व्यक्ति को पंगु कहा है।[5]

भाष्य में मनुष्य की कुछ ऐसी आदतों का उल्लेख है, जिनका सीधा सम्बन्ध शरीर से है। उदाहरणार्थ अक्षिनिकाण या आँख दबाकर बोलना[6] भ्रूविक्षेप या भौंह मटकाकर बोलना उद्बाहु या हाथ उठाकर बोलना सिर उत्क्षिप्त करके बोलना[9] मुखनासिक[10] या मिन-मिनाकर बोलना ये भाषण या उच्चारण से सम्बन्ध रखते हैं। खरकण्ठ का सम्बन्ध भी उच्चारण से ही है।[11] जिन लोगों की नासिका सोते समय बजती है उनके लिए नासिकन्धम विशेषण था।

पुरुषायुष—शरीरांगों शरीर-सौन्दर्य और शारीरिक-विकृतियों के अतिरिक्त महाभाष्य में रोगों उनके कारणों एवं ओषधियों के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं। पुरुष की अपेक्षित आयु को जो सौ वर्ष से अधिक थी पुरुषायुष कहा जाता था।[12] कुछ लोग सामान्य से दूनी या तिगुनी आयु प्राप्त कर लेते थे। ये द्व्यायुष और त्र्यायुष कहे जाते थे।[13] भाष्यकार के समय में आयु की सीमा नीचे गिरने लगी थी। सौ वर्ष की आयु मिल जाना बहुत बड़ी बात हो गई थी।[14] भाष्यकार के मत से जीने का आनन्द तब है जब शरीर में कोई रोग न हो।[15] सामान्य स्वास्थ्य के नीचे व्यक्ति कृश या पाण्डु हो जाता है।[16] दुर्बल मनुष्य अपना काम भी नहीं कर पाता।

---

१ ८-४-१०, पृ० ४७९।
२ १-२-११, पृ० ५०९।
३ ८-१-८, पृ० २७१।
४ १-३-१, पृ० ८।
५. ४-१-९८।
६. ३-४-५४ काशिका।
७. वही।
८. ६-२-१७७ पृ० ३९९।
९. ३-४-५४ का०।
१० मुखनासिकं वचनं यस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः।—१-१-८, पृ० १५६।
११ ६-२-११४।
१२ ५-४-७७ पृ० ५०३, ४।
१३ वही।
१४ यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति।—आ० १, पृ० १२।
१५ एति जीवन्तमानन्दो नास्य किञ्चिदामुक्तीति।—१-३-१२, पृ० ५६।
१६. १-२-५०, पृ० ३०९।

यदि वह बलवान् के बराबर काम करे तो बड़ी बात है।[1] कभी-कभी रोग या अन्य कारणों से जब जीवन भार हो जाता है तब मनुष्य विष खा लेना अधिक अच्छा समझता है।[2] उदाहरणार्थ पर्पिक (बसाखी से चलनेवाला) पंगु दुःखार्त हो रहता है।[3] आयुवर्धक पदार्थों में भाष्यकार की दृष्टि में घृत का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने घृत को प्रत्यक्ष आयु कहा है।[4] साठ वर्ष या सत्तर वर्ष जीनेवाले षाष्टिक या साप्ततिक कहे जाते थे।[5] भाष्य के ये उदाहरण जो आयुपरिमाण बतलाने के लिए दिये गये हैं इस बात की ओर संकेत करते हैं कि मनुष्य की सामान्य आयु सत्तर या साठ वर्ष की होती थी। उन्होंने भगवान् वार्ष्यायणि के अनुसार आयु के छह भाग किये हैं—जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश।[6] व्याधि की भी तीन स्थितियाँ होती हैं—स्थिति, वृद्धि और अपक्षय। स्थिति यथावत् वृद्धि-क्षय-विरहित अवस्था का नाम है।

गर्भावस्था—जन्म के पूर्व की अवस्था की भी चर्चा भाष्य में आई है। एक स्थान पर उन्होंने उपमान के रूप में गर्भ की चर्चा करते हुए कहा है कि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे निमुष्टिव या पिण्डीभूत गर्भ के समान पकड़कर दिखाया जा सके।[8] गर्भिणी सब प्रकार स्वस्थ एवं प्रसन्न है।[9] बढ़ता हुआ गर्भ मर्यादापूर्ण हो गया है।[10] सगर्भा एक शिशु को दूध पिला रही है।[11] बच्चा उँगली या मुट्ठी चूस रहा है।[12] अभी यह स्तनन्धय[13] ही है। माता प्रथम गर्भ में ही बच्चा जनकर मर गई[14] जैसे कथन इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि भाष्यकार गर्भावस्था की कठिनाइयों, भ्रूण के विकास और प्रजनन-सम्बन्धी छोटी-मोटी बातों से पूर्ण परिचित थे। वे यह भी जानते थे किस प्रकार गर्भकाल में बालक के सपाद या अपाद होने का पता लगा लिया जा सकता है।

---

१ १ ३ ११, पृ० ४६।

२ १ ४-५०, पृ० १७५।

३ ४ ४ १०।

४ आयुर्घृतम् आयुषो निमित्तमिति गम्यते।—१ १-५९, पृ० १८५।

५ ५ १-५८, पृ० ३२६।

६ षड्भावविकारा इति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।—१ ३ १, पृ० २।

७ वही।

८ १ ३ १, पृ० ४४।

९ २-१-७१, पृ० ३३०।

१० ६ २ १०६ पृ० ३९८।

११ ३ ३-८९, पृ० ९५।

१२ ३-२-२९, पृ० २१५।

१३ वही।

१४ १ १-२५, पृ० २०२।

शरीर-रोग—रोग को उपताप व्याधि और स्पर्श कहते थे।[1] स्पर्श सम्भवतः संक्रामक रोग कहलाते थे। भाष्य में बहुत-से रोगों तथा ओषधियों के नाम मिलते हैं। जानु[2] या घुटनों की पीड़ा वातिक होती है। जाल या तुलसी से पीड़ा कम नहीं होती। कण्डूति या कण्डू में जब वेदना का अनुभव होता है, तब उसे रोग समझना चाहिए। सामान्य हिक्कित हसित या कण्डूयित ध्यान देने की वस्तु नहीं। वे रोग नहीं हैं।[3] दधि और त्रपुस (फलविशेष खीरा) मिलाकर खाने से ज्वर आ जाता है। यह प्रत्यक्ष ज्वर है।[4] ज्वर कई प्रकार के होते हैं। कोई प्रति दूसरे दिन चढ़ता है और कोई चौथे दिन। इन्हें क्रमशः द्वितीयक और चतुर्थक ज्वर कहते थे।[5] विष-पुष्पों के सम्पर्क से एवं काश-पुष्पों के स्पर्श से भी ज्वर उत्पन्न हो जाता है। ऐसे ज्वर क्रमशः विषपुष्पक और काशपुष्पक कहे जाते थे।[6] उष्णक ज्वर में रोगी को ताप अधिक मालूम होता है और शीतक ठंड या जूड़ी देकर चढ़ता है।[7] कण्ठ और शिर के फोड़े तो सामान्य बात है।[10] बहुगडु, बहुपिटक बहुपाक (सूजन) चिन्ता[11] के विषय होते हैं। भाष्यकार इन सब बातों से अभिज्ञ थे। शरद् ऋतु के प्रारम्भ होते ही मलेरिया या मौसमी ज्वर, सर्दी खाँसी चल पड़ते हैं। ये शरद् में होनेवाले मौसमी रोग शारद या शारदिक कहे जाते थे।[12] अतीसार,[13] छर्दिका[14] (वमन-व्याधि) प्रवाहिका[15] (पेचिश) सन्निपात[16] वैपादिक[17] (पादरोग) ददु (दाद)[18] अण्डकोष की वृद्धि या मुष्कता[19] अरोचकता या अरुचि[20] अर्श[21] कुष्ठादि उपताप[22] वातरोग[23] हृद्रोग या हृदयरोग[24] विगलित (गलित कुष्ठ उपताप) शिरःकम्पित (वात-कम्प)[25] स्थूल[26] (जिसमें व्यक्ति पालथा होकर ही सो सकता है) संज्वर (जीर्णज्वर)[27] सिध्म (एक प्रकार का कुष्ठ[28] (श्वेतकुष्ठ) वल्कलक[29] प्रच्छर्दिका (अम्लपित्त)[30] विचर्चिका (खुजली)

---

१ ३-३-१६, पृ० २९५।
२ १ १ १८ पृ० १८८।
३ १ १-५८, पृ० ३७१।
४ ३-१-२७, पृ० ८२।
५ आ० १, पृ० २४।
६ १ १-५९ पृ० १८५।
७ ५ २-८१ का०।
८ वही।
९ वही।
१० २-२ ३५, पृ० ३११।
११ ४-१-५४, पृ० २३।
१२ ४ ३-१३।
१३ ३ ३ १७, पृ० ३३५।
१४ ५ ४ ४३।
१५ ३ ३-१०८ का०।
१६ ५ १ ३८ पृ० ३२२।
१७ ५ २-१०३, पृ० ४१५।
१८ ५-२ १००, पृ० ४१४।
१९ ५ २ १०७।
२० २-३ १६, पृ० ४१७।
२१ ५ २ १२७ का०।
२२ ५ २-१२८ का०।
२३ ५ २ १२९।
२४ ५ ३-५१ का।
२५ ६-४-२४, पृ० ४०६।
२६ ७-३-६१, पृ० २०१।
२७ ३ २ १४२।
२८ ५-२ ९६ पृ० ४१२।
२९ ८ ४ ३१ पृ० ४९९।
३० ३ ३-१०८ का०।

आस्राव[1] (मूत्रातिसार) पामन्[2] (चर्मरोग), विक्षाव (खाँसी) आदि रोगों का भाष्यकार को निकट ज्ञान था। दद्रुवाले व्यक्तियों को दद्रुण, पामन् के रोगियों को पामन, मुष्कवृद्धिवालों को मुष्कर, अरुचिवालों को अरोचकी, संज्वर से पीड़ित को संज्वरी, अर्शवालों को अर्शस, वात रोगी को वातकी और अतीसार के रोगी को अतीसारकी तथा सिध्मवालों को सिध्मल या सिध्मवान् कहते थे। कौन वस्तु अरोचकी को पथ्य है और कौन-सी सामान्य आमयावी का यह पतंजलि को सम्यक् मालूम था।

कुछ रोग मासिक होते हैं। वे लगभग मास-भर टिकते हैं और कुछ के अच्छे होने में छह महीने लग जाते हैं। ये रोग मासिक[3] और षाण्मासिक[4] कहलाते थे। कुछ रोग असाध्य माने जाते थे। उसकी चिकित्सा इस लोक में नहीं, परलोक या शरीर-त्याग के ही बाद सम्भव होती है। ऐसे राजयक्ष्मादि रोग लोकीय कहे जाते थे।[5] जिस रोग का अपनयन करना हो उसके आगे तस् प्रत्यय[6] लगाकर उसकी अपनेयता व्यक्त की जाती थी।

अगदंकार—रोगों की चिकित्सा अगदंकार का काम था।[7] यह नाम पूर्णतः सार्थक था। अगदंकार स्वच्छता एवं स्वास्थ्य के नियमों का पालन कराकर, पथ्य-भोजन देकर एवं औषधि सेवन कराकर रोग की चिकित्सा करता था। स्वच्छता के नियमों में आवसथ (गृह) से दूर मल-मूत्र का उत्सर्ग[8] करना, शरीर की सफाई[9] आदि मुख्य थे। ये रोग के निरोधक उपाय थे। पथ्य भिन्न-भिन्न रोगों के भिन्न-भिन्न थे, किन्तु कुछ बातें सामान्य हैं, जिन्हें रोगी भी जानते थे, जैसे यवागू मूत्र अधिक लाती है। यवान्न उच्चार-दोष का इलाज है[10] आदि।

ओषधि—रोगों का कारण वात, पित्त या कफ का दूषित होना माना जाता था। तीनों दोषों के साम्य की अवस्था सन्निपात कहलाती थी जो अत्यन्त घातक होती है। वात, पित्त, कफ और सन्निपात की शामक या कोपक वस्तुएँ या ओषधियाँ वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक[11] कही गई हैं। भाष्य में जिन ओषधियों के नाम आये हैं वे वानस्पतिक हैं। ओष (प्रकाश)-मयी होने के कारण वे ओषधि कहलाती थीं। इसी गुण के कारण चन्द्रमा को ओषधि[12]

---

१ ३ १ १४१ का०।
२ ५-२-१००, पृ० ४१४।
३ ५ १-८० काशिका।
४ ५ १-८४ काशिका।
५ ५-२-९२, पृ० ४०२।
६ ५ ४ ४९।
७ ३ २-७०, पृ० ३४६।
८ २ ३ ३५, पृ० ४११।
९ १ ३-१, पृ० ८।
१० मूत्राय कल्पते यवागूः उच्चाराय कल्पते यवान्नम्।—२-३ १३, पृ० ४१७।
११ ५ १ ३८, पृ० ३२२।
१२ ओषधिश्चन्द्रमाः—ओषो धीयतेऽस्याम्।—६-२ ४२, पृ० २५९।

मानते थे। इसीलिए, ओषधियों को सुसस्या और सुपिप्पला[1] करने की प्रार्थना श्रुति में मिलती है। ओषधि[2] सामान्य जड़ी या बूटी को कहते थे। यह शब्द जातिवाचक माना जाता था। औषध में कई ओषधियों का भी मिश्रण होता था यद्यपि ये दोनों पर्याय थे। क्रमशः श्लेष्मघ्न और पित्तघ्न ओषधियों में मधु तथा घृत श्रेष्ठ माने जाते थे।[3] वनस्पतियों में पिप्पली नीली[4] मही[5] संफला भस्त्रफला अजिनफला पिण्डफला शणफला श्वेतफला त्रिफला अमूला, ओदनपाकी शंकुकर्णी शालपर्णी शंखपुष्पी दासी फली दर्भमूली गोमाली[6] मुंमुक[7] कुस्तुम्बरु[8] और निम्बुकी का उल्लेख ओषधि-रूप से मिलता है। यों भाष्य में उल्लिखित आमलकी आदि अनेक वनस्पतियाँ फल फूल मूल आदि ओषधि के रूप में प्रचलित थे और भाष्यकार को उनका स्पष्ट ज्ञान था फिर भी ओषधि के रूप में उनका उल्लेख नहीं किया है। वृक्षों के पाक पर्ण पुष्प मूल फल शाख (डालें) आदि सभी अंग ओषधि के काम आते थे।[11]

---

१ ६ १-८६, पृ० ११३।
२ ५ ४ ३७।
३ श्लेष्मघ्नं मधु पित्तघ्नं घृतम्।—६-१ ९२, पृ० १४।
४ भा० २ पृ० ६६।
५ ४ १ ४२, पृ० ५५।
६ ४ १ ४६, काशिका।
७ ४ १ ६४, पृ० ७४।
८ वही, काशिका।
९ ४ १-७१, पृ० ७०।
१० ६-१ १४३ काशिका।
११ ४ १ ६४, पृ० ७४।

अध्याय ५

काल और ज्योतिर्विज्ञान

काल—काल की परिभाषा करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि जिसके योग से मूर्त पदार्थों की वृद्धि या ह्रास होता दिखाई देता है, उसे काल कहते हैं। उसी काल को किसी एक क्रिया से युक्त होने पर अहन् या रात्रि कहते हैं। यह क्रिया सूर्य की गति है। यही क्रिया, अर्थात् सूर्य की गति जब बार बार आवृत्त होती है तब मास या संवत्सर आदि बनते हैं। ऐसा है, तभी जन् क्रिया के कारण प्रसूत बालक का परिमाण मास या वर्ष माना जाता है।[1]

भाष्यकार के इस कथन से दो बातें मालूम होती हैं। प्रथम यह कि काल और काल-वाचक शब्दों का अस्तित्व आदित्य की गति पर निर्भर है। दूसरे पारिभाषिक अर्थ में काल मले ही परिमाण न हो व्यवहार में काल परिमाण माना जाता था।

काल की गणना 'राजा' के शासन काल से की जाती थी। भाष्यकार ने तो इसका उल्लेख किया ही है। खारवेल से मन्दसौर तक के सभी शिलालेखों में काल की गणना राजाओं के शासन के सहारे की गई है। विक्रम-संवत् का उल्लेख इन शिलालेखों में ५वीं शती के बाद ही मिलता है।

काल-विभाग—पाणिनि आदि आचार्यों ने आदित्य-गति को आधार मानकर काल[2] के पूर्व, अपर वर्तमान भूत भविष्यत्[3] अद्यतन अनद्यतन[4] आदि भेद किये हैं। पाणिनि ने इसे काल-विभाग कहा है।[5] पतञ्जलि ने भी कहा है कि काल-विभाग अवश्य होते हैं। यदि काल-विभाग न होते तो पर्वत स्थित हैं स्थित रहेंगे और स्थित थे ये कथन कभी सम्भव न हो सकते।[6] इसलिए, यद्यपि पाणिनि ने काल की परिभाषा के विवाद-ग्रस्त प्रसंग को यह कहकर टाल दिया था कि काल के विषय में कोई परिभाषा या नियम बनाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि लोक में

---

१ येन मूर्तीनामुपचयापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमाहुः। तस्यैव हि कयाचित् क्रियया युक्तस्याहरिति च भवति रात्रिरिति च। कया क्रियया? आदित्यगत्या। तयैवासकृदावृत्तया मास इति भवति संवत्सर इति च। यतोऽयं भवति जातस्य मासः परिमाणम्।—२-२-५, पृ० ३१६।

२ ३ ४ २१।

३ ३ ३ १३५।

४ ३-२ १२३।

५ ३ ३ १३७।

६ सन्ति लस्यापि कालविभागाः। तिष्ठन्ति पर्वताः, स्थास्यन्ति पर्वताः, तस्थुः पर्वता इति। किं पुनस्त एते लस्य प्रयोक्तृनिमित्ताः सन्ति कालविभागाः।—३-२-१२३, पृ० २२५।

जिसके लिए जिस शब्द का प्रयोग होता है, उसे सब जानते हैं और यही अन्ततः प्रमाण मानना चाहिए।

वर्तमान काल—वर्तमान काल पर विचार करते हुए पतंजलि ने कहा है कि क्रिया के प्रारम्भ से समाप्ति तक के काल को वर्तमान मानना चाहिए। मैं पढ़ता हूँ यहाँ रहता हूँ आदि क्रियाएँ बराबर नहीं होती रहतीं। पढ़नेवाला पढ़ना छोड़कर भोजन भी करता है सोता भी है। इसी प्रकार रहनेवाला व्यक्ति कभी बाहर भी चला जाता है। तो भी उसके सम्बन्ध में पढ़ना और रहना क्रियाओं का वर्तमान काल में प्रयोग होता ही है। इसी प्रकार, नित्य प्रवृत्त क्रियाओं को भी वर्तमान काल में मानना चाहिए। नदियाँ बहती हैं पर्वत स्थित हैं आदि प्रसंगों में जहाँ क्रिया बहुत पहले से होती आ रही है और भविष्य में होती रहेगी वर्तमान काल का ही व्यवहार होता है।[1]

कुछ आचार्यों के मत से वर्तमान कोई काल नहीं होता। इनके मत से न तो यह संसार परिवर्तनशील है न बाण किसी पर फेंका जाता है और न नदियाँ समुद्र तक जाने के लिए बहती हैं। यह संसार कूटस्थ है, अर्थात् एक रूप से स्थित रहता है। विचारवान् पुरुष कौए से कहता है कि तुममें पतन-क्रिया है कहाँ। भूत और भविष्यत् की पतन-क्रिया को तो इस समय 'है' नहीं कह सकते। और, यदि कहें कि इस समय पतन-क्रिया हो रही है, तो भी यह कहना असंगत होता क्योंकि ऐसे तो पतन या गमन-क्रिया सारे विश्व में हो रही है यहाँतक कि हिमालय भी इधर उधर गमन करता है। इस प्रकार भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में 'गमन-क्रिया' कहना संभव नहीं है। साम्प्रत काल केवल भूत और भविष्यत् की सन्धि का नाम है। उसके भीतर का क्षण-दो क्षण या निमिष-मात्र काल नहीं है। फिर, वर्तमान काल में 'जाता है' आदि वाक्य कैसे बोले जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि लोग क्रिया-प्रवृत्ति के हेतुभूत गाड़ी में बैल जोतना आदि क्रियाओं को देखकर बिना विचारे ही इस प्रकार के वाक्य बोल देते हैं। सामान्य व्यवहार में यह ठीक भी है।[2]

किसी किसी आचार्य के मत से वर्तमान काल है किन्तु आदित्य की गति के समान प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। जब साधनभूत सारी सामग्री एकत्र हो जाती है, तब भी विकृति प्रत्यक्ष होती हुई परिलक्षित नहीं होती। विष के तन्तु भी जलते हुए नहीं दिखाई देते हैं। फिर, भी जिन लोगों को तीनों कालों की क्रियाओं का प्रत्यक्ष होता है ऐसे योगी लोग उस दाह-क्रिया को देखते ही हैं। हम जैसे साधारण जन तो उस क्रिया का अनुमान से ही जान सकते हैं।[3]

---

१ ३-२-१२३, पृ० २५४-५५।

२ अपर आह नास्ति वर्तमानकाल इति—न वर्तते चक्रमिषुर्न पात्यते न स्यन्दन्ते सरितः सागराय—कूटस्थोऽयं लोको न विचेष्टितास्ति यो ह्येवं पश्यति सोऽप्यनन्धः। मीमांसको मन्यमानो युवा मेधाविसंमतः—काकं स्नेहानुपृच्छति किं [illegible] पतितलक्षणम्। अनागते न पतसि अतिक्रान्ते च काक न यदि सम्प्रति पतसि सर्वो लोकः पतत्ययम्। हिमवानपि गच्छति।—वही पृ० २५६।

३ बिसस्य बाला इव दह्यमाना न दृश्यते विकृतिःसन्निपाते।
अस्तीति तां वेदयन्ते त्रिभावाः सूक्ष्मो हि भावोऽनुमितेन गम्यः॥—वही, पृ० २५७

फिर भी लोक-व्यवहार में वर्तमान काल का क्षेत्र व्यापकतर माना जाता था। उपर्युक्त दार्शनिक मतों की चिन्ता किये बिना लोग वर्तमान के सामीप्य में समीपी (अतीत तथा भविष्यत्) तक को भी वर्तमान के ही अन्तर्गत गिन लेते थे।[1] अप्राप्त प्रिय वस्तु की प्राप्तीच्छा अर्थात् आशंसा का विषय भविष्यत्काल होता है फिर भी उसके लिए भूत और वर्तमान का प्रयोग होता था।[2] इसी प्रकार क्रिया-सातत्य में जिसे क्रिया-प्रबन्ध भी कहते थे तथा सामीप्य गम्यमान होने पर अनद्यतन भूत और भविष्यत् के नियम लागू होते थे। ऐसे स्थलों पर अनद्यतनीय क्रिया का प्रयोग न होकर सामान्य-भूत या भविष्यत्कालीन क्रिया का व्यवहार होता था।[3] पाणिनि ने देश और काल के प्रविभागों के अवर भाग के सम्बन्ध में भी सामान्य काल-नियमों का प्रयोग न होना बतलाया है।[4] इन्हीं सब विभिन्नताओं को दृष्टि में रखकर पाणिनि ने काल को लोकाश्रित बतलाया है।

अहन्—काल के भेदों में अद्य ह्यः श्वः अहन् रात्रि पक्ष मास वर्ष हायन संवत्सर आदि नाम भाष्य में मिलते हैं। इनमें अद्यतन काल न्याय्य (सर्वसम्मत) उत्थान से न्याय्य संवेशन-काल तक को कहते थे। इस परिभाषा के अनुसार प्रातः ब्राह्म मुहूर्त से रात्रि में लगभग दस बजे तक का समय अद्यतन माना जाना चाहिए। कुछ लोगों के मत से गत अर्ध रात्रि से आगामी अर्धरात्रि तक का समय अद्यतन होता है।[6] दिन को दिवा और रात्रि को दोषा भी कहते थे। भाष्य में दिवामन्या रात्रि और दोषामन्य अहन् का[7] उल्लेख है। दुष्प्राह्ण और सुदिनाह इसका ठीक उलटा था। दिन को कई भागों में विभाजित किया जाता था। यथा—प्रातः[8] पूर्वाह्ण[9] मध्याह्न अपराह्ण[10] सायाह्न[11] संगव (ऋग्० ५-७६ ३), जिसके मत से बिल्कुल सबेरे का समय माना जाता था। रात्रि का प्रारम्भ प्रदोष से होना माना जाता था[12] और उसे पूर्वरात्र एवं अपररात्र इन दो भागों में बाँटा जाता था।[13] पूर्व दिवस को पूर्वेद्यु वर्तमान दिन को अद्य समान (उसी) दिन को सद्यः कहते थे। इसी प्रकार परेद्यवि अन्येद्यु अन्यतरेद्यु इतरेद्यु

१ ३ ३ १३१।
२ ३ ३ १३२।
३ ३ ३-१३५।
४ ३-३-१३६ तथा ३ ३ १३७।
५ १ २-५७ काशिका।
६ १ १ ४१, पृ० २५४।
७. २ ४ ३०, पृ० ४७६।
८. ४ ३-२८।
९ ५ ४ १२०।
१० ४ ३-२८।
११ ४ ३-२३, पृ० २२५।
१२ ४ ३ १४।
१३ ५ ४-८०।

अधरेद्युः उभयेद्युः या उभयद्युः ह्यः और श्वः[1] शब्द प्रचलित थे जिनसे प्रतीत होता है कि काल-गणना का मुख्य घटक दिन या अहन् था।

अहोरात्र—दिन और रात्रि को मिलाकर अहोरात्र[2] 'नक्तन्दिव या रात्रिन्दिव' कहते थे। अहोरात्र ही वह परिमाण था, जिससे अन्य कालमापकों की गणना की जाती थी। अहोरात्र से पक्ष और मास गिने जाते थे। केवल रात्रि का उल्लेख भी अहोरात्र के परिमाण का बोधक होता था।

मास—त्रिंशद् रात्र को मास और पंचदश रात्र को अर्धमास[3] कहते थे। अर्धमास पक्ष और उसका प्रथम दिन पक्षति कहलाता था।[4] पक्ष की गणना मास के प्रथम दिन से की जाती थी। दिन-गणना का आधार आदित्य-गति थी क्योंकि आदित्य एक होकर भी सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित[5] करता है। इसलिए, आदित्य के उदय के आधार पर काल की गणना में सबको सुभीता हो सकता था। मास और वर्ष का आधार सूर्य की ही वसहन् भक्ति मानी गई[6] थी।

मास की गणना चन्द्र के आधार पर भी की जाती थी। भाष्यकार ने चन्द्रमा को मास-प्रमित कहा है जिसका अर्थ है मास की माप का प्रारम्भ करनेवाला। प्रतिपच्चन्द्र मासप्रमित कहलाता था।

अयन—मास के बाद अयन था और उसके बाद वर्ष या संवत्सर। अहोरात्र में कुल तीस मुहूर्त होते हैं। भाष्यकार ने कहा है कि इनमें छह मुहूर्त ऐसे होते हैं, जो चर भी हैं और अचर या अगतिमान् भी। वे कभी दिन में चलते हैं और कभी रात्रि में। इसीलिए, उन्हें अहर्गत भी कहते हैं और रात्रिगत भी। वे अहरतिसृत या रात्र्यतिसृत भी कहे जाते हैं।[9] यहाँ 'कभी' से भाष्यकार का आशय उत्तरायण और दक्षिणायन में बढ़ने-घटनेवाले दिन के मुहूर्तों से है। ये मुहूर्त उत्तरायण में दिन में सम्मिलित रहते हैं और दक्षिणायन में रात्रि में। वर्ष बारह मास का होता था। वर्ष की गणना का प्रारम्भ कभी वर्षा के साथ होता था। वैदिक काल में वर्ष का प्रारम्भ शरद् से होता था। संवत्सर के अर्थ में प्रयुक्त ये दोनों शब्द स्वयं अपनी कथा कहते हैं।

---

१ ४ १-१५, पृ० २२१।

२ १-३ १३७, पृ० ३२९।

३ ५ ४-७८, पृ० ५०४।

४ योऽर्धत्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽधरो पञ्चदशरात्रः इति—३ १-११६, ० ३२८।

५ ५ ९-२५, पृ० ३७३।

६ भा० २, पृ० ४२।

७ आदित्यगत्या। तर्वैवासहस्राणुत्या मास इति भवति संवत्सर इति च।—९-१-६, पृ० ३३६।

८ ९-१-२६ पृ० ९८२।

९ षण्मुहूर्ताश्चराचरा—ते कदाचिदहर्गच्छन्ति कदाचिद्रात्रिम्। तदुच्यते अहर्गता रात्रिगता इति इदं तर्हि अहरतिसृताः, रात्र्यतिसृताः।—२ १ २९, पृ० ९८२।

वर्तमान संवत्सर को ऐषम, गत संवत्सर को परुत् और उससे भी पूर्व वर्ष को परारि[1] कहते थे। सामान्य वर्ष के अतिरिक्त भाष्य में दिव्य वर्ष का भी उल्लेख मिलता है।[2] अयन का अन्तवर्ती या सूर्य द्वारा अयनान्त के सामीप्य में बिताया गया समय अन्तरयण कहलाता था। अयनवृत्त के समीपवर्ती प्रदेश अन्तरयन कहे जाते थे।[3]

ऋतु—मासों के अतिरिक्त ऋतु भी वर्ष के अवयव थे। ऋतुओं में शरद्, शिशिर, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा का उल्लेख भाष्य में है। शरद् का उल्लेख श्राद्ध तथा रोग और उपताप के प्रसंग में हुआ है। शारदिक श्राद्ध गृहस्थ का सामान्य कर्त्तव्य माना जाता था। इस ऋतु में ज्वर आदि उपताप तथा कास आदि रोग भी फैलते थे।[4] सूत्रकार ने शारदिक या शारद आतप का विशेषतः उल्लेख किया है।[5] शरद की धूप बड़ी भयंकर एवं हानिकारक होती है। शिशिर ठण्ड की ऋतु है। भाष्यकार ने कहा है कि इस ऋतु में जिस बैल पर झूल नहीं डाली जाती वह कृश हो जाता है। शिशिर और वसन्त उत्तरायण में होते थे। भाष्य में इन्हें उदगयनस्थ ऋतु-मासा[8] है। काशिकाकार ने हेमन्त, शिशिर और वसन्त यह क्रम ऋतुओं का माना है।[9] इस प्रकार, शिशिर ऋतु माघ और फाल्गुन में पड़ती थी और उस समय सूर्य उत्तरायण होता है। इस ऋतु में मकर-संक्रान्ति के बाद दिनमान बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए शरद् को दीर्घा ही कहा है।[10] हेमन्त ऋतु के मास सह और सहस्य माने जाते थे। इन्हें हैमन्तिक भी कहते थे। हैमन्तिक या हैमन्त या हैमन वस्त्रों एवं उपकल्पन की व्यवस्था इस ऋतु में शीतरक्षा के लिए की जाती[11] थी। हेमन्त में वर्षा भी होती थी। भाष्य में एक वर्षा-विहीन हेमन्त का उल्लेख किया है।[12] वसन्त प्रकृति के यौवन का काल माना जाता है। मधु और माधव वसन्त के मास माने जाते थे।[13] भाष्य में इसे अधिककोकिल कहा है। यह नाम इस ऋतु में कोकिल के अधिक बोलने के कारण दिया गया था।[14] पाणिनि ने वसन्त-अध्ययन का विशेषतः उल्लेख

---

१ ५ १-२२, पृ० ४१४।
२ भा० १, पृ० १२।
३ ८ ४-२५।
४ ४ १-१२।
५. ४ १ ११।
६ वही।
७ गौरिवाकृतनीशारः प्रायेण शिशिरे कृशः।—१ १-२१, पृ० १०२।
८ २-२ ३४, पृ० ३९०।
९. वही—काशिका।
१० ८ ४-७ पृ० ४७८।
११ ४ ३ २१ तथा ४ ३-२९, पृ० २२४।
१२ २-२-६, पृ० ३३७।
१३ ४ ३-२० काशिका।
१४ २ २ १८, पृ० ३५०।

किया है, जिसपर भाष्यकार ने कहा है, वसन्त नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है। इसलिए, जिस ग्रन्थ में वसन्त का वर्णन हो उसे भी वसन्त कहते हैं और उसका अध्ययन वासन्तिक कहा जाता है।[1] ब्राह्मण के लिए वसन्त में अग्न्याधान[2] तथा अग्निष्टोमादि यज्ञ का विधान है।[3] अवश्य ही इस ऋतु में विशेष ग्रन्थों या वेदभाग के अध्ययन की भी प्रथा रही होगी। इसी को पतञ्जलि ने वसन्त-सहचरित अध्ययन कहा है और इसी के अध्येता को पाणिनि ने वासन्तिक कहा है। ग्रीष्म ज्येष्ठ-आषाढ़ मास कहलाते थे। ग्रीष्म ऋतु दीर्घाहा होती है। इस ऋतु से सम्बद्ध काल मास या अन्य वस्तु को ग्रैष्म[4] कहते थे। वर्षा को प्रावृष् भी कहते थे। प्रावृष् में होनेवाले मेघों को प्रावृषेण्य कहते थे। किन्तु, प्रावृष् में उत्पन्न होनेवाले कीट, वनस्पति अथ रोगादि प्रावृषिक[5] कहलाते थे। वर्षाकाल शालि आदि अन्नों की निष्पत्ति का साधन था।[6] इस ऋतु में अनेक आवाञ्छित वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं। भाष्य में इनके लिए वर्षासुज और वर्षाभू शब्द[7] प्रयुक्त हुए हैं। वसन्त वर्षा शरद् हेमन्त और शिशिर की गणना वसन्तादिगण में भी की गई है।[8]

मासों में मधु चैत्र का नाम था। इस ऋतु में मधु अधिक होता था। मधु के समीप का वैशाख मास माधव या माधव्य भी कहा जाता था। नभस् या वाष्प होने के कारण श्रावण को नभ भाद्रपद को नभस्य इच्छा में प्रबलता उत्पन्न करने के कारण क्वार या आश्विन को इष सन्ताप दायक होने के कारण फाल्गुन को तप और तपस्य शरीर शक्ति का दायक होने के कारण कार्तिक को ऊर्ज और मन में शोक को अंकुरित करने के कारण ज्येष्ठ को शुचि और आषाढ़ को शुक्र कहते थे। इस प्रकार मधु, माधव तप नभ इष ऊर्ज शुचि और शुक्र नाम सार्थक[9] थे। मास के दोनों पक्षों का प्रथम दिन प्रतिपद होता था और अन्तिम दिन अमावास्या और पौर्णमासी। सह अग्रहण और सहस्य पौष की संज्ञा थी। अमावास्या में होनेवाला काम या वस्तु अमावास्यक या आमावास्य कही जाती थी।[11]

सन्धि-वेला—पाणिनि ने सन्धि-वेला ऋतु और नक्षत्रों को कालवृत्ति या कालबोधक कहा है। सन्ध्या अमावास्या त्रयोदशी चतुर्दशी पंचदशी और प्रतिपद् को काशिकाकार ने

---

१ ४-२-३३, पृ० १८८।
२ ६ ३-८४, पृ० ११६।
३ ६-१ १०८ पृ० ११५।
४ ८ २-३६, पृ० ३०६।
५ ४ ३-८६, पृ० ९६।
६ ४-२-२६ तथा ४ ३ २५, पृ० २३१।
७. ३ २-१११ पृ० १२४।
८. ६ ३-१ पृ० २९८ तथा ६-४-८४, पृ० ४४०।
९. ४ २ ३३ पृ १८८।
१ ७-१-७७ पृ० ७४ तथा ४ ४-१२८ पृ० २९८, ९०।
११ ४-३ ३०।

'सन्धि-वेला' माना है।[1] नक्षत्रों को ज्योतिष् भी कहते थे।[2] नक्षत्र संज्ञा कभी क्षरित या क्षीण न होने के कारण[3] थी। इस प्रकार नक्षत्र ज्योतिष् और काल दोनों के वाचक थे। काल की माप भी नक्षत्रों से की जाती थी। जैसे आपके बहुत-से तिष्य और पुनर्वसु बीत गये।[4] एक ही नक्षत्र में उत्पन्न होनेवाले सज्योतिष् कहलाते थे।[5] सूर्य, च[न्द्र] और नक्षत्र सब ज्योतिष् के अन्तर्गत माने जाते थे। भाष्य में ज्योति का उद्गमन गम्यमान होने पर आ पूर्वक क्रम् धातु का आत्मनेपदत्व विधान किया है।[6]

नक्षत्र—नक्षत्रों या ज्योतिष् में दिवाकर विभाकर प्रभाकर या भास्कर निशाकर और विधुन्तुद[7] के अतिरिक्त निम्नलिखित नक्षत्रों के नाम भाष्य में आये हैं। इनमें विधुन्तुद शब्द राहु-सम्बन्धी प्राचीन विश्वास-परम्परा की याद दिलाता है।

कृत्तिका—भाष्य में दो बार कृत्तिका और रोहिणी[8] का साथ-साथ उल्लेख हुआ है[9] और दोनों बार बहुवचन में ही। कृत्तिका[10] को पाणिनि ने बहुल भी कहा है। कृत्तिका कई नक्षत्रों का समूह है यह बात सामान्य लोगों को भी ज्ञात थी।

रोहिणी—रोहिणी भी कई नक्षत्रों का समूह माना जाता था।[11]

आर्द्रा मूल, पुनर्वसु—पुनर्वसु वास्तव में दो नक्षत्र हैं। वेद में इनके लिए एकवचन का ही प्रयोग हुआ है।[12] इसी प्रकार विशाखा भी दो नक्षत्र हैं। वेद में इनके लिए भी एकवचन का ही प्रयोग मिलता[13] है। तिष्य को सिध्य[14] भी कहते थे। तिष्य और पुनर्वसु (दो) का समास होने पर बहुवचन होना चाहिए, किन्तु उनके लिए द्विवचन ही प्रयुक्त होता था जिससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि विशाखा पुनर्वसु आदि नक्षत्र ज्योतिष् की दृष्टि से दो थे तो भी लोग व्यवहार में उन्हें

---

१ ४-३-१६।
२ १-२-६३, पृ० ५६१।
३ ६-३-७५ काशिका।
४ १-२-६३, पृ० ५६१।
५ ६-३-८५।
६ १-३-४०, पृ० १७।
७ ३-२-२१।
८ ३-२-३५।
९ १-२-६३ पृ० ५६१।
१० २-२-३४ पृ० ३९०।
११ ४-३-३४।
१२ १-२-६३, पृ० ५६१।
१३ १-२-६१।
१४ १-२-६२, पृ० ५६१।
१५ १-२ [illegible] पृ० ५६२।

एक ही मानते थे।[1] पुष्य सामान्य नक्षत्रवाची भी माना जाता था। भाष्यकार ने कहा है कि एक अर्थ रहने पर भी शब्द-भेद होने पर लिंग-भेद हो जाता है, जैसे तिष्य तारका और नक्षत्र।[2] नक्षत्र विशेष मानकर आज पुष्य है, आज मघा[3] है।' 'पुष्य योग जानता है' 'पुष्य से मार्जित करता है', 'मघाओं से मार्जित करता है'[4] जैसे वाक्यों का उपयोग भाष्य में मिलता है। मघा भी कई नक्षत्रों का समूह था। धनिष्ठा फाल्गुनी अनुराधा हस्त आषाढा और स्वाति का नाम-ग्रहण पाणिनि ने तिष्य पुनर्वसु और विशाखा[5] के साथ किया है। वार्तिककार ने उसमें चित्रा रेवती और रोहिणी का और सम्मिलित कर दिया है। इनमें तिष्य पुष्य और सिध्य पर्याय[6] हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३-१ ४१) में सात कृत्तिकाओं के नाम मिलते हैं—अम्बा दुला नितत्नी अभ्रयन्ती मेघयन्ती वर्षयन्ती चुपुणिका। यद्यपि बाद में उनकी संख्या छह मानी जाने लगी। फाल्गुनी को दो और बहुत मानकर भी उल्लेख किया गया है। विशाखा एक द्वि और बहुवचन तीनों मानी जाती थी। अभिजित् और अश्वयुज् और शतभिषज् का उल्लेख एक साथ एक सूत्र में मिलता है। काठकसंहिता में श्रवण और अश्वत्थ पर्याय माने हैं। पाणिनि ने दो बार अश्वत्थ का उल्लेख किया है। एक बार श्रवण और अश्वत्थ साथ आये हैं जिससे प्रतीत होता है कि वे उन्हें पर्याय नहीं मानते।[7] दूसरे स्थान पर अश्वत्थ ऋतु का सूचक है।[8] प्रोष्ठपदा भी दो या अधिक माने जाते थे।[9] इसका प्रयोग पुंल्लिंग में भी होता था।[10] वैदिक नक्षत्रों का आरम्भ कृत्तिका से होता है। बाद में ४९ ई के लगभग दिन-रात के तुल्य भाग को घोतित करने के लिए अश्विनी का स्थान प्रथम माना जाने लगा। पतंजलि ने नक्षत्रों के द्वन्द्व में कृत्तिका का ही पूर्व प्रयोग किया है। पाणिनि ने सात नक्षत्रों की गणना में श्रविष्ठा का उल्लेख प्रथम किया है।[11] वेदाङ्ग ज्योतिष की सूची भी श्रविष्ठा से प्रारम्भ होती है। गर्ग की दृष्टि में धार्मिक कार्यों में कृत्तिका और सामान्य कार्यों में श्रविष्ठा प्रथम है।[12] महाभारत वनपर्व में श्रविष्ठा या धनिष्ठा से और अश्वमेधपर्व में श्रवण से प्रारम्भ

---

१ १-२ ६३, पृ० ५६१।

२ ४ १-९२, पृ० १०७।

३ २-३ ४५, पृ० ४३४।

४ ३ १-२६, पृ० ७६।

५. वही।

६ ४ ३ ३४।

७ ४ ३ ३४। पृ० २३२।

८ ३-१ ११६।

९. ४ २-५ काशिका।

१० ४ ३ ४८।

११ १-२-६० पृ० ५९०।

१२ ५ ४ १२०।

१३ ४ ३ ३४।

१४ औरायन, पृ० ३०।

माना है।[1] आदि पर्व में भी श्रवण प्रथम है।[2] यह इस बात का सूचक है कि मकर-संक्रान्ति या दक्षिणायन सूर्य धनिष्ठा के प्रथम स्थान से पश्चिम की ओर खसक गया था। ज्योतिष् वेदांग ने उसे श्रवण या धनिष्ठा में स्थिर किया था। प्राचीन ज्योतिष् भी श्रवण को ही मानती थी। पाणिनि ने पूर्वकाल की प्राचीन मान्यता का ध्यान में रखकर धनिष्ठा को प्रथम स्थान दिया है।[3] राशियों के उदय को लग्न कहते थे यद्यपि पाणिनि ने लग्न का प्रयोग इस अर्थ में नहीं अपितु अन्य अर्थ में किया है। नक्षत्र सत्ताईस माने गये थे। सूर्य के इस ग्रहण-सम्बन्धी गमन-मार्ग या क्रान्ति वृत्त सम्बन्धी विभाजन के अनुसार बारह मासों के नाम विशेष नक्षत्र के मध्य में चन्द्र के प्रवेश के अनुसार रखे गये थे। जब पूर्ण चन्द्र चित्रा के संयोग में होता था तब दिन को चैत्री पौर्णमासी कहते थे।

संवत्सर—वर्ष[5] को समा[6] संवत्सर[7] और हायन[8] कहते थे। प्रभव विभव आदि ६० संवत्सरों के पाँच वर्षों के क्रम से संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर ये नाम थे। इस प्रकार ये नाम क्रमशः पूरे युग में १२ बार आवृत्त होते थे। संवत्सर में होनेवाले काम को सांवत्सरिक या संवत्सरीण कहते थे।[9] वर्ष के दो भाग किये गये थे। प्रत्येक भाग षण्मास कहा जाता था।[10] मास-भर के बालकादि को मास्य या मासीन, दो-तीन मासवाले को द्विमास्य त्रिमास्य, छह मासवाले को षाण्मास्य, षण्मास्य या षाण्मासिक (मृग भृत भावी) कहते थे। अर्थ में भिन्न अर्थ में षण्मासिक या षाण्मास्य (रोगादि) शब्द प्रचलित था। वर्ष के चुकाव का अवरसमा[11] कहते थे। इस भाग में चुकाया जानेवाला ऋण आवरसमक कहलाता था।

---

१ वनपर्व २३०-१० तथा अश्वमेधपर्व, ४४ २।
२ आदिपर्व, ७१ ३४।
३ जर्नल आफ रायल ए० सो० १९१६-१७ पृ० ९३०।
४ ४ २-१, पृ० १९७।
५ ५ १-८८।
६ ५ १-८५।
७ ५ १-८७।
८ ५-१ १३० तथा ३-१ १४८ (अनुप्रवचनादि हायनो व्रीहिः। अहानि मावत्यनेति हायन: संवत्सरः।—काशिका)
९ ५-१ ९२।
१० ५ १-८१ से ८४ तक, पृ० ३३९।
११ ४-३-४९ तथा ४ ३ ४३।

अध्याय ९

संगीत

संगीत की परम्परा—संगीत की परम्परा भारत में बहुत प्राचीन है। सामवेद के संगीत पर अब देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। भाष्यकार ने भी साम का उल्लेख गीति के रूप में ही किया है। पाठशालाओं में माणवक[1] साम[1] गाया करते थे। यज्ञ के अवसर पर भी सामगान की प्रथा थी। साधारणतया साम-गान पूर्वाह्ण में होता था।[2] यज्ञों *में सामगान का विधान है और उसके साथ वाद्य-वादन का भी। वाद्य चार प्रकार के होते थे—* तत घन सुषिर और नद्ध। वीणा आदि तन्तु-वाद्य तत श्रेणी के थे। तैत्तिरीय ब्रा० (३-९ १४) में अश्वमेध में एक ब्राह्मण को दिन में वीणा बजाकर तथा रात्रि में एक क्षत्रिय को वीणा पर गाना होता है। ऋग्वेद (१-८५ १) में सोमपान करने के पश्चात् उसके मद में मरुद् लोग एक वाण नामक वाद्य बजाते हैं। इसमें सौ तार होते थे। तैत्ति० संहिता (७-५ ९) में शत-तार वाद्य का उल्लेख है। सामवेद में अलाबु वीणा वक्र वीणा कपिशीर्ष्णी महावीणा और पीछ-वीणा ये पाँच प्रकार की वीणाएँ मिलती हैं। इनमें कपिशीर्ष्णी नाम भाष्य में भी मिलता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (४ २-८) में पिच्छोरा और काण्डवीणा नामक स्त्री-वाद्यों का अपवादित कहा है। तैत्तिरीयसंहिता के सायण भाष्य (आनन्दाश्रम प्रेस पृ० ४७१७) में तुम्बुर वीणा का उल्लेख है। घन वाद्यों में झाँझ करताल आदि का प्रचार था। बौधायन ने अग्निष्टोम में उखल या उपला बजाने का विधान किया है। सुषिर वाद्यों में शंख बाँसा शहनाई आदि मिलते हैं। ऋग्वेद (१० १३५-७) में यम के घर में नाली नामक वेणु वाद्य बजने का उल्लेख है। तूणव एक बाँसुरी-सदृश वाद्य था। तैत्तिरीय ब्रा० (३-४ १४) में इसकी भी चर्चा है। नद्ध वाद्य वैदिक काल में ही प्रचलित थे। ढोल जैसी धातु के या लकड़ी के खोखे तैयार कर चमड़े से मढ़े जाते थे। वेद में वाजपेय यज्ञ के प्रकरण में दुन्दुभि (नगाड़ा) वाद्य का नाम मिलता है। तैत्तिरीय संहिता (७-५ ९) में भूमि-दुन्दुभि का भी वर्णन है। प्राचीन मण्डप के पश्चिम में एक गड्ढा खोदकर उसपर बैल का आर्द्र चर्म फैलाकर रखता था। उसे हिलने से रोकने के लिए उसके चारों ओर लकड़ी की खूँटियाँ ठोंककर कस दिया जाता था। और, इस प्रकार भूमि-दुन्दुभि तैयार की जाती थी। इस पर गौ के पुच्छाग्र से बजाते थे। सम्भवतः ये पुच्छाग्र बाजार में बिकते भी थे। भाष्य में गोपुच्छ से किसी वस्तु के साफ करने का उल्लेख मिलता है। बड़ी दुन्दुभि को

---

१ १ ४ ६७ पृ० ११७।

२ पूर्वाह्णगेयं साम।—२ १ ४१, पृ० २९५।

बजाने के लिए जिस बड़े गोपुच्छ की आवश्यकता होती थी उसे परमगोपुच्छ कहते थे।[1] तैत्ति० आरण्यक (१ ११ ६) में पणव या मृदंग का भी उल्लेख है। बाण नामक वाद्य के लिए जो अलाबु प्रयोग में लाया जाता था, वह ताँबे के रंग के बैल की चमड़ी से मढ़ा जाता था। इसमें दस खूँटियाँ होती थीं और प्रत्येक खूँटी में दस दस तार रहते थे। शाण्डिल्य के मत से तीन ही खूँटियाँ आवश्यक थीं जिनमें २१ १२ और २४ तार लगाये जाते थे। इसे बजाने के लिए इषीका या वेतस् के टुकड़े का धनुषाकार अंगुलीयक बनाया जाता था।

वैदिक काल में संगीत धार्मिक क्षेत्र तक सीमित रहा। धीरे-धीरे वह इस परिधि से बाहर निकला। गीत के साथ वाद्यों का प्रयोग और प्रचुरता से होने लगा। नृत्य का विकास हुआ और अन्त में नाट्य भी उसमें आ मिला। इस प्रकार वेदों के समान संगीत भी चातुरवयव हो गया।

गेय और गायक—भाष्य में संगीत के चारों अंगों का उल्लेख है। गाई जानेवाली वस्तु को गेय[2] और गान को गीति[3] कहते थे। गानेवाले को गायक और गायन कहा जाता था। स्त्री-गायिकाएँ गायिका और गायनी कहलाती थीं।

वाद्य—वाद्य संगीत के साथी थे। यों संगीत बिना वाद्य के भी चलता था। गायक और गायन शब्द बिना वाद्य के गानेवालों के लिए प्रयुक्त जान पड़ते हैं। फिर भी संगीत वाद्यों के साथ होता था। इसका प्रमाण सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त पाणिघ और ताडघ शब्द हैं।[5] ये शब्द गीत पर ताल देनेवालों के लिए व्यवहृत होते थे। पाणिघ हाथ से ताली बजाता था। ताडघ तबलची का काम करता था। वह ढोल या अन्य किसी नद्ध वाद्य पर ताल देता था। पाणिघ भी इसी प्रकार के ताल और मात्राओं के सन्तुलन करनेवाले का नाम था। सम्भवतः यह हाथ से ठेका लगाने का काम करता था। वाजसनेयी संहिता (३०-२०) तथा तैत्तिरीय ब्रा० (३ ४ १५ १) में पाणिघ्न शब्द आया है। पुरुषमेध में बलि दिये जानेवालों की सूची में इसका भी नाम है। वैदिक इण्डेक्स (१-५१५) में पाणिघ्न को तालियाँ बजाकर खेतों से चिड़ियाँ उड़ानेवाला व्यक्ति माना है। संगीत के मुख्य साथियों में मृदंग का स्थान था। काशिकाकार ने मृदंग को कल्याप्रिय कहा है।[6] मृदंग बजानेवाले को मार्दंगिक कहते थे। मृदंग का विकास धीरे-धीरे डमरू से हुआ है। कामशास्त्र में वीणा के साथ इसका उल्लेख मिलता है। अभिघात द्वारा बजाये जानेवाले अवनद्ध निर्मित वाद्यों में वैज्ञानिक दृष्टि से मृदंग सर्वश्रेष्ठ है। श्री सी० वी० रमन जैसे वैज्ञानिक का यह मत है।[9]

---

१ ५ १-२०, पृ० १११।

२ ३-४ ६८।

३ ३ ३ ९५।

४ ३-१ १४६, १४७।

५ ३-२-५५।

६ ६-२ १६ काशि०।

७ ४-४-५५, पृ० २८०।

८ भीमाडमरुकवाद्यानि।—रामायण अयो० १ अ० ३ पृ० १९।

९ रमन दि एकाउस्टिक नॉलेज ऑफ एन्शियेंट हिन्दूज सेन्ट्रल हि० कालेज मैगे० बनारस जनवरी १९२०, पृ० ९ १२।

मृदंग बहुत लोकप्रिय वाद्य रहा है। महावग्ग में भी मृदंग की चर्चा है।[1] अश्वघोष ने तो बार-बार मृदंग के साथ संगीत का वर्णन किया है।[2] मृदंग से मिलते-जुलते वाद्यों में मड्डुक पणव 'दर्दुर, मुरज और तूणव' का उल्लेख भाष्य में मिलता है। ये सब ढोल या मृदंग के ही विभिन्न रूप थे। मड्डुक और दर्दुर डुगडुग करनेवाले छोटे ग्राम-वाद्य थे जो आज भी ग्रामों में देखने को मिलते हैं। मड्डुक ढोलकी के समान होता था। पणव उससे कुछ छोटा था। इन वाद्यों के खोल काष्ठ के अतिरिक्त मिट्टी के भी बनते थे। इस प्रकार इनके निर्माण में कुलाल का भी हाथ था। विशिष्ट कुलाल इनके खोल बनाते थे और उनके आधार पर कुलालों के भी नाम पड़ जाते थे। दर्दुर का खोल बनानेवाला कुलाल दार्दुरिक कहलाता था।[3] इसी प्रकार मार्दंगिक और पाणविक कुलाल भी होते थे। मड्डुकादि बजानेवाले कलाकारों को माड्डुकिक पाणविक मौरजिक दार्दुरिक आदि कहते थे।[4]

प्रतिघात वाद्य—प्रतिघात वाद्यों में भेरी और दुन्दुभि भी प्रचलित थी।[5] इनका प्रयोग संगीत के साथ नहीं अपितु हर्षोन्माद या आवेश उत्पन्न या प्रकट करने के लिए होता था। ये वर्तमान नगाड़े के पूर्व रूप थे। मन्दिरों और रास-मण्डलियों में बजनेवाले नगाड़े इसी जाति के होते हैं। भेरी और दुन्दुभि गूँजनेवाले वाद्य थे। इनकी ध्वनि बहुत दूर तक जाती थी। भाष्यकार ने कहा है कि भेरी में आघात करने के बाद कोई बीस डग चल लेता है कोई तीस और कोई चालीस। तबतक भेरी का शब्द सुनाई देता रहता है।[8] वैदिक काल में नृत्य के साथ आघाटि वाद्य का प्रचलन था।[9]

कांस्य-वाद्य—मृदंग के साथी वाद्यों में भाष्यकार ने झर्झर (झांझ) का नाम लिया है। इसे बजानेवाला झार्झरिक कहलाता था।[10] पिठर भी संगीत-वाद्य था। भाष्य में पिठर-वादन को भी शिल्प कहा गया है। यह संभवतः काँसे की थाली या बड़ा गोलाकार थाली जैसा कांस्य-पात्र था जो संगीत और नृत्य के साथ बजाया जाता था। आज भी ग्रामों में निम्न श्रेणी के नृत्यों और गीतों के साथ पिठर का प्रयोग होता है। इसे बजानेवाले पैठरिक कहलाते थे।[11]

---

१ महावग्ग, १-७।

२ बुद्धचरित १ ४५।

३ ४-४-५६, ५५, पृ० २८० तथा २-२-१४ पृ० १८९।

४ वही।

५ ४ ४ १४।

६. २-२ १४, पृ० १८९।

७. २-२ १४, पृ० १८९।

८. भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशतिपदानि गच्छति कश्चित्त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत्।—१ १-७०, पृ० ४६५।

९. ऋग् १०-१४६ २ तथा अथर्व० ४-३७-४।

१० ४-४-५६।

११ ४-४-५५, पृ० २८०।

वेणु—ग्राम में बजनेवाले वाद्यों में वेणु प्रमुख है।[1] वेणु वंश (बाँस) से बनता था। वात्स्यायन ने इसे बड़ा मनोमोहक वाद्य कहा है।[2] भाष्य में वेणु के लिए मस्कर शब्द का प्रयोग मिलता है।[3]

तन्तु-वाद्य—तन्तु-वाद्यों में वीणा प्रमुख थी। वात्स्यायन ने वीणा और डमरुक का साथ बतलाया[4] है, किन्तु भाष्य में डमरुक का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार वात्स्यायन के उदक[5] वाद्य (जलतरंग) का नाम भाष्य में नहीं मिलता। सम्भवतः यह बाद का आविष्कार है। वीणा भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय वाद्य रहा है। इसे काशिकाकार ने सम्मान प्रवण कहा है। वीणा के स्वर को निक्वण या निक्वाण कहते थे। बजानेवाले के लिए वादक शब्द का प्रयोग होता था। भाष्य में वीणावादक के लिए प्रायः परिवादक शब्द का प्रयोग किया गया है।[8]

वादक—वादक स्वतन्त्र रूप से बजाते थे और दूसरों के द्वारा वैतनिक रूप में भी बुलाये जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि 'परिवादक से वीणा बजवाई गई।'[9] इससे परिवादक का पद प्रचलित होना स्पष्ट है। व्याकरण की दृष्टि से वद् धातु का प्रयोग णिजर्थ (बजाना) में आत्मनेपद में ही होता था। इसी प्रकार नृत् धातु का णिजन्त प्रयोग भी आत्मनेपद में प्रचलित था। वादयते और नर्तयते क्रियाएँ केवल बजाने और नचवाने के अर्थ में व्यवहृत होती थीं।[11] यद्यपि बजाने और नचवानेवाला इन क्रियाओं को स्वयं ही करवाता था।

वीणा-सहित संगीत अनुवीण और वीणा-रहित अपवीण कहा जाता था।[12]

वाद्य-शिल्प—भाष्यकार ने वाद्य रचना की व्यवस्था शिल्प के ही अन्तर्गत की है। उन्होंने मृदंग आदि के निर्माता और वादक दोनों को शिल्पी कहा है। इस विषय पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि मृदंग को शिल्प माना जाय तो कुम्हार भी शिल्पी कहलाएगा और उसे ही मार्दंगिक कहा जायगा क्योंकि वही मृदंग का निर्माण करता है। इसलिए, उन्होंने 'शिल्प के समान शिल्प' इस अर्थ में शिल्प शब्द का प्रयोग मानकर वादक को भी शिल्पी स्वीकार किया है।

---

१ ६-१-२१५, पृ० २१९।
२ कामसूत्र, अधि० ७, अ० २, पृ० ४३।
३ ६-१-१५४, पृ० ११९।
४ १-१-५७, पृ० ३६६।
५ कामसूत्र, अधि० १, अ० ३, पृ० १६।
६ वही।
७ ३-३-६५ काशिका तथा १-१-५७, पृ० ३६६।
८ वही।
९ अवीवदद् वीणां परिवादकेन (वादितवान् प्रयोजितवान्)।—१-१-५७, पृ० ३६६।
१० वही।
११ १-३-८९ काशिका।
१२ ६-२-१८७।

जिस प्रकार मृदंग आदि बनाना शिल्प है उसी प्रकार उन्हें बजाना भी शिल्प है। यह कहकर भाष्यकार ने यह व्यक्त करना चाहा है कि जिस प्रकार वाद्य कुलाल की जीविका के साधन हैं उसी प्रकार उनका वादन वादक की जीविका का साधन है।[1]

तूर्यादि वाद्य-वृन्द—वादन-शिल्प का प्रयोग सामूहिक रूप में भी होता था। इसे तूर्य कहते थे।[2] तूर्य अनेक वाद्यों का समाहार था। पाणिनि ने तूर्यांगों के द्वन्द्व के लिए एकवचन का विधान किया है, वाद्य भले ही अनेक हों। उन्होंने तूर्यांगों के साथ प्राण्यंगों और सेनांगों के द्वन्द्व के लिए भी एकवचन का निर्देश किया है। जो वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा उचित है। प्राणी के विभिन्न अंग पृथक् रहकर भी एक अवयवी के अधीन एक बनकर काम करते हैं। सेना के अंगों की भी यही स्थिति होती है। वे पृथक् होकर भी एक होते हैं। इसी प्रकार, तूर्यांग पृथक्-पृथक् ध्वनि उत्पन्न करते हुए भी परस्पर समन्वित एक स्वर, एक ताल के द्वारा संयुक्त प्रभाव की सृष्टि करते हैं। पृथक् दिखाई देने पर भी तूर्य में वे एक हो जाते हैं। अतः उनके लिए एकवचन का प्रयोग उचित ही है। काशिका ने तूर्यांगों के उदाहरणों में 'मार्दङ्गिकपाणविकम्' और 'वीणावादकपरिवादकम्' का उल्लेख किया है। भाष्यकार ने वीणावादक को परिवादक कहा है, जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है। यदि यह मान लिया जाय तो काशिका का उक्त उदाहरण असंगत ठहरता है। पर, ऐसा नहीं है। वीणा का ही एक भेद विपंची भी था। इसमें पाँच स्वरों की प्रधानता थी। विपंची का दूसरा नाम परिवादिनी था और इसका वादक परिवादक कहलाता था। काशिका के उदाहरण में वीणा और विपंची के भेद की ओर संकेत है। भाष्यकार ने इस सूक्ष्म अन्तर पर ध्यान न देकर दोनों के वादकों के लिए केवल एक सामान्य शब्द-परिवादक का ही प्रयोग कर दिया है। काशिकाकार ने अपने उदाहरणों में एक ही प्रकार के वाद्यों का समाहार दिखलाया है। उसमें मार्दंगिक और पाणविक साथ-साथ हैं तथा वीणावादक और परिवादक। इससे इस सन्देह को स्थान मिलता है कि कहीं एक ही कोटि के वाद्यों का सामूहिक वादन तो तूर्य नहीं कहलाता था। तूर्य एक स्वतन्त्र वाद्य भी था जो एक ओर ऊँची तान से देर तक बजाया जाता था। आधुनिक तुरही इसी का अपभ्रंश रूप जान पड़ता है।

ग्राम—पतंजलि ने ग्रामों की भी चर्चा की है। उनका 'अगामि भवता ग्राम' उदाहरण संगीत के विकास पर प्रकाश डालता है।[3] इससे यही पता चलता है कि इस काल के गायकों को स्वर, आरोह, अवरोह, श्रुति, मूर्च्छना, ग्राम आदि की शास्त्रीय जानकारी थी। ग्राम स्वरों के सन्दोह को कहते हैं। रत्नाकर में कहा है कि जिस प्रकार सारे कुटुम्बी मिलकर परिवार बनाते हैं उसी प्रकार स्वरों का सन्दोह ग्राम कहा जाता है। ग्राम तीन हैं—षड्ज ग्राम, मध्यम ग्राम और

---

१ किं यस्य मृदङ्ग शिल्पं स मार्दङ्गिकः? किञ्चातः? कुम्भकारे प्राप्नोति। एवं तर्हि मृदङ्गकरणं शिल्पम्। शिल्पमिव शिल्पम्। मृदङ्गे वादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः पैठरिकः, मौरजिकः, पाणविकः।—४-४-५५, पृ २८०।

२ २-४-२ पृ० ४६२ तथा वही, काशि०।

३ १ १ ६१, पृ० ४१६।

गान्धार ग्राम।[1] निश्चित है कि यदि भाष्यकार को ग्रामों की जानकारी थी, तो संगीत के अन्य अंगों से भी परिचय रहा होगा। यह निष्कर्ष हमें इस परिणाम पर पहुँचने को बाध्य करता है कि भाष्यकार के समय में संगीत-शास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका था और अनेक तात्त्विक शब्द प्रचलित हो चुके थे जो आज भी उन्हीं अर्थों में प्रचलित हैं।

संगीत-गोष्ठी—संगीत का इतना प्रचलन होने के बाद यह स्वाभाविक था कि समय-समय पर सार्वजनिक या निजी संगीत-गोष्ठियाँ होतीं। ये गोष्ठियाँ प्रमद या समद कही जाती थीं।[2] प्रमद या समद प्रायः सार्वजनिक स्थानों जैसे देवालयों के प्रांगण आदि में होते थे। इनमें सारी रात नृत्य और गीत होते थे। प्रमद या संमद की यह प्रथा रतजगों के रूप में अभी तक वर्तमान है। ये रतजगे पारिवारिक आनन्द प्रसंगों पर भी होते हैं और धार्मिक पर्वों पर भी।

---

१ यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि।
तथा स्वराणां सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते॥
षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च।
गान्धारग्राम इत्येतद् ग्रामत्रयमुदाहृतम्॥—रत्नाकर
२ १ १-९८।

अध्याय ५

नाट्य-नृत्य

नटों का आम्नाय—नटों के धर्म या आम्नाय को नाट्य कहते हैं। पाणिनि ने छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक और बह्वृच के साथ नट का उल्लेख किया है।[1] इन सबके अपने आम्नाय या कुल-धर्म थे। उदाहरणार्थ छन्दोगों का आम्नाय छान्दोग्य कहलाता था और बह्वृचों का बाह्वृच्य। इसी प्रकार नटों का आम्नाय नाट्य था। पाणिनि का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि ईसा-पूर्व ७०० से पहले भारत में न केवल नाट्य-कला का प्रचार था अपितु उसका वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रचलित हो चुका था और तदर्थ ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इन ग्रन्थों में दो के प्रणेताओं के नाम हमें विदित हैं। इनमें कृशाश्व सर्वाधिक प्राचीन जान पड़ते हैं। इनका नटसूत्र नट समाज में विशेष आदृत था और उनके अनुयायी 'कृशाश्विनः' कहे जाते थे। यह शब्द केवल नटों और नाट्यसूत्र के सम्बन्ध में व्यवहृत होता था। कृशाश्व-सम्बन्धी अन्य बातों को काशाश्व कहते थे। कृशाश्व के अनुयायी होने के कारण नटों का सामान्य नाम ही कृशाश्वी पड़ गया था। इसी के साथ या इसके कुछ पश्चात् एक दूसरे नटसूत्र का प्रणयन हुआ। इसके प्रणेता शिलालि थे। शिलालि के अनुयायी शैलालिन् या शैलाल कहे जाते थे। धीरे-धीरे शिलालि का सम्प्रदाय अधिक सम्मान पा गया और उनके अनुयायियों की संख्या काशाश्वों से अधिक हो गई। भरत के नाट्यशास्त्र के समय तक आते-आते कृशाश्व-शाखा विलुप्तप्राय हो गई। इसीलिए नाट्यशास्त्र में नटों के लिए शैलालक शब्द का व्यवहार मिलता है, कृशाश्विन् का नहीं। पतंजलि ने भी प्रत्यक्ष रूप से शैलालों का ही उल्लेख किया है।

नाट्यसूत्र—नाट्यसूत्रों की प्रतिष्ठा वैदिक चरण के रूप में हुई थी। शिलालि के नटसूत्रों का निर्माण ऋग्वेद-शाखा के अन्तर्गत हुआ था। शिलालि शैलाल ब्राह्मण के भी कर्त्ता बतलाये गये हैं।[2] इसी कारण नटसूत्रों को छान्दसत्व[3] प्राप्त हुआ।

नट—अभिनेता के लिए नट शब्द प्रचलित था। अभिनेत्रियाँ नटी कहलाती थीं। *उनकी सन्तान को 'नाटेर' कहते थे। इससे स्पष्ट है कि नटों की पृथक् श्रेणी बन गई थी।* नटियाँ नटों की ही पत्नियाँ होती थीं। पतंजलि के समय तक नर्तकियों और नटियों का अन्तर स्पष्ट

---

१ ४-३-१२९ चरणाद्धर्माम्नाययोरित्यतस्तदनुवर्तनादिति धर्माम्नाययोरेव भवति, नटानां धर्म आम्नायो वा नाट्यम् (काशिका)।

२ ४ ३-१११।

३ गुणवचनत्वा च शिलालिब्राह्मणयोश्छन्दस्त्वम्।—४ ३-११० काशिका।

४ ४ १ ११४, पृ० २१८।

हो चुका था किन्तु नटियों की प्रतिष्ठा समाज में कम हो गई थी। अभिनय का स्तर भी गिर रहा था। कोई भी दर्शक नटियों से प्रेमालाप कर सकता था। भाष्यकार ने कहा है कि व्यंजन नटों की भार्याओं के समान होते हैं। जिस प्रकार नटों की पत्नियों के रंग-स्थल में आने पर लोग उनसे पूछते हैं 'तुम किसकी हो किसकी हो' तो वे हर पूछनेवाले से यही कह देती हैं 'तुम्हारी हूँ तुम्हारी हूँ'। उसी प्रकार व्यंजन भी जिस स्वर के कार्य के लिए कहा जाता है उसी के बन जाते हैं।[1] कामसूत्र में नटी के लिए रंगोपजीविका शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

नट और शान्तरस—नट को रस का अनुभव होता है या नहीं इस विषय को लेकर परवर्ती आचार्यों ने काफी ऊहापोह किया है। कुछ आचार्य नाट्य में आठ ही रस स्वीकार करते थे। वे शान्त रस को इसलिए नाट्य-बाह्य मानते थे कि उनकी दृष्टि में शान्त बहुत श्रमसाध्य था और नट के लिए यह श्रम उठा सकना असम्भव था। भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के इस मत का उल्लेख नाट्यशास्त्र में किया है।[2] यदि भरत के इस कथन को पतंजलि के उपर्युक्त उद्धरण के सन्दर्भ में देखा जाता तो नटों के प्रति आचार्यों की हीनत्व-धारणा का कारण स्पष्ट हो जाता है। फिर भी भाष्यकार ने नट को 'रसिक' कहा है।[3] वाल्मीकि के आश्रम में प्रयुक्त होनेवाला नाट्य आगे चलकर इसीलिए श्रमणों और परिव्राजकों के लिए वर्जित मान लिया गया।

संगीत भी नाट्य का एक अंग था। प्रसंगानुसार नाट्य के बीच में संगीत का भी प्रयोग होता था। इसलिए नट संगीत का भी अभ्यास करते थे।[4] वे बड़े बड़े बाल रखते थे। संभव है, महात्माओं साधुओं आदि की भूमिका के लिए कुछ नट दाढ़ी-मूँछ भी रखते हों।[5]

भ्रूकुंस—कभी-कभी स्त्री-पात्रों की कमी पड़ जाती थी तो पुरुष ही स्त्री का भी अभिनय कर लेते थे। स्त्रियाँ पुरुषों की भूमिका ग्रहण करती थीं या नहीं इसका कोई संकेत भाष्य में नहीं मिलता। स्त्री की भूमिका ग्रहण करनेवाले नट 'भ्रूकुंस' कहलाते थे। ये लोग नारी का रूप ग्रहण करने के लिए कृत्रिम केश और स्तन लगाते थे। पतंजलि ने लिंगभेद पर विचार करते हुए शंका उपस्थित की है कि यदि स्तनकेशवती नारी दाढ़ी-मूँछवाले लोमश को पुरुष और इन दोनों के चिह्नों से रहित व्यक्ति को नपुंसक मान लिया[6] जाय तो भ्रूकुंस को भी स्त्री मानना पड़ेगा क्योंकि स्तन और केश तो उसके भी होते हैं। और, भ्रूकुंस को स्त्रीलिंग मानने से उसके

---

१ व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा—नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः।—१ १ २, पृ० १३।

२ शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये इति केचिदचूचुदन्॥—नाट्यशास्त्र

३ ५ २-९५, पृ० ४११।

४ समासोमट।—२ ४-७७ पृ० ५०८।

५ सर्वकेशी नटः।—२ १ ६९, पृ० ३२३।

६ स्तनकेशवती नारी लोमशः पुरुषः पुमान्।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥—वही, पृ० १९।

बाद स्त्रीत्वबोधक टाप् प्रत्यय होने लगेगा। इसलिए, पुंल्लिङ्गादि की यह परिभाषा दूषित है।[1] भाष्यकार का उक्त कथन पुरुषों द्वारा स्त्री-पात्रों का अभिनय किये जाने की ओर ही संकेत करता है स्त्रियों द्वारा पुरुषों की भूमिका ग्रहण किये जाने की ओर नहीं।

आरम्भक और ग्रन्थिक—नट जिस स्थान पर अभिनय करते थे, वह स्थान रंगस्थल कहलाता था। संक्षेप में उसे रंग कहते थे। रास-मण्डलियों ने आज भी इस शब्द को जीवित रखा है यद्यपि अब में थोड़ा सा अन्तर हो गया है। ये रंगशालाएँ सार्वजनिक सभा या प्रवचन के भी काम आती थीं। इनमें एक वेदी तथा श्रोताओं के बैठने का स्थान होता था। नट और ग्रन्थिक वेदी पर अभिनय और प्रवचन करते थे। भाष्यकार ने श्रोताओं या दर्शकों के लिए, जो नाट्य-प्रयोग के प्रेरक होते थे और जिनके पहुँचने पर प्रवचन या अभिनय प्रारम्भ किया जाता था 'आरम्भक'[2] शब्द का प्रयोग किया है। अभिनय के साथ एक व्यक्ति कथा-प्रसंगों को जोड़ता जाता था। जहाँ कथावस्तु संवादों द्वारा सुस्पष्ट नहीं हो पाती थी वहाँ एक व्यक्ति 'वाचक' के रूप में पुस्तक से आवश्यक अंश पढ़ देता था। इस व्यक्ति को ग्रन्थिक कहते थे। वस्तुतः ग्रन्थि (कथाग्रन्थि) से सम्बद्ध होने के कारण ही वे लोग ग्रन्थिक कहे जाते थे। नट और ग्रन्थिक दोनों पृथक व्यवसायों के व्यक्ति होते थे। नाटक में कथापाठ करनेवालों को ग्रन्थिक नहीं कहते थे। नट कभी-कभी अकेला ही अभिनय के साथ संगीत-रूपक उपस्थित करता था। 'नट का सुनता है ग्रन्थिक को सुनता है' ये उल्लेख इस बात के प्रमाण हैं। ग्रन्थिक शब्द ग्रन्थि से बना है। कुछ विद्वानों ने ग्रन्थ से इसका सम्बन्ध जोड़कर भ्रान्ति की है। भाष्य ने नट और ग्रन्थिक के संगीत या प्रवचन सुनने तथा गुरुमुख से पाठ सुनने में भेद किया है। प्रथम यदा-कदा और द्वितीय नियमपूर्वक होता है, जिसके लिए भाष्यकार ने उपयोग शब्द का व्यवहार किया है। उपयोग (नियमपूर्वक) की स्थिति में आचार्य से पढ़ता है आचार्य से सुनता है' ऐसे वाक्यों का प्रयोग होता था और नट या ग्रन्थिक से यदा-कदा सुनने के लिए 'नट को सुनता है ग्रन्थिक को सुनता है'। ये वाक्य प्रयुक्त होते थे। डॉ॰ वा॰ स॰ अग्रवाल ने 'आरम्भक' का अर्थ समझने में भ्रान्ति की है। फलतः, उस सम्पूर्ण प्रसंग से निकाले हुए उनके निष्कर्ष भ्रान्त हो गये हैं।[3]

---

१ लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने भ्रुकुंसे टाप् प्राप्नोति। यदि लोके पुम्प्रकृतिस्त्रियोर्ज्ञाने इयं स्त्रीरूपस्य तत् भ्रुकुंसे।—४-१-३ पृ० १७।

२ नटस्य शृणोति ग्रन्थिकस्य शृणोति। उपयोग इत्युच्यमानेऽप्यत्र प्राप्नोति। एषोऽपि ह्युपयोगः। आगमश्चोपयोगी यदारम्भका रङ्गं गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामो ग्रन्थिकस्य श्रोष्याम इति। एवं तर्ह्युपयोग इत्युच्यते सर्वश्चोपयोगस्तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते। साधीयो य उपयोग इति। कश्च साधीयः? यो धर्मार्थयोः। अथवोपयोगः को भवितुमर्हति। यो नियमपूर्वकः तद्यथा। उपयुक्ता माणवका इत्युच्यन्ते य एते नियमपूर्वकमधीयन्ते भवन्ति।—१ ४ २९, पृ० ३३५।

३ इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३३९।

शोभनिक—नट और ग्रन्थिक के साथ भाष्यकार ने शोभनिक का भी उल्लेख किया है।[1] शोभनिक नट को ही कहते थे। हो सकता है पात्रानुकूल वेशभूषा धारण किए मुखानुरूपण-युक्त नट को शोभनिक कहते हों।[2] पात्र रावण या कंस का अभिनय करते समय मुँह पर एक अनुलेप करते थे और रामादि के पक्ष का अभिनय करते समय दूसरा। पात्रानुकूल वर्ण प्रसाधन नाट्य के व्यापक प्रचार और पुरातन परम्परा का परिचायक है।

रंगमंच—भाष्यकार ने कंसवध और बलिबन्ध नाटकों की चर्चा की है।[3] ये दोनों मंच पर खेले जाते थे। रंगमंच पतंजलि के समय में खूब विकसित हो चुके थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह विकास किस सीमा तक पहुँच गया था पर इतना अवश्य है कि मंच युद्ध वध आदि के बड़े दृश्यों को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त होता था। अतीत की घटनाओं का वर्णन करने में वर्तमान काल के प्रयोग पर टीका करते हुए भाष्यकार ने प्रश्न किया है कि 'कंस को मरवाता है या बलि को बँधवाता है' जैसे प्रसंगों में जहाँ घटना को घटित हुए पर्याप्त समय बीत चुका है वर्तमान काल का प्रयोग कहाँ तक उपयुक्त है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है, 'नट लोग प्रत्यक्ष ही कंस को मरवाते हैं या बलि को बँधवाते हैं। चित्रों में भी प्रहारार्थ उठाये हुए हाथ और कंस-कर्षण आदि क्रियाएँ रहती हैं। उनके लिए भी वर्तमान काल का प्रयोग उचित है। रहे ग्रन्थिक लोग वे भी प्रारम्भ से मृत्यु तक उनकी वृद्धि का वर्णन करते हुए बुद्धि में उन विषयों को प्रकाशित करते हैं। श्रोता लोग मन में उन विषयों की कल्पना करते जाते हैं। उनके मन घटनाओं के साथ तदाकार बनते जाते हैं। इसीलिए, दर्शक या श्रोता भिन्न-भिन्न मत के भी दिखाई पड़ते हैं। कोई कंसपक्षीय होता है और कोई कृष्णपक्षीय। वे अपने प्रिय पात्र की विजय देखकर प्रसन्न होते हैं और पराजय देखकर दुःखी। कभी उनका मुँह लाल होता है और कभी स्याह पड़ जाता है। इसीलिए, मानसिक कल्पना के आधार पर अतीत की घटनाओं के लिए तीनों कालों का प्रयोग देखा जाता है। उदाहरणार्थ 'चलो कथा सुनने—आज कंस मारा जा रहा है या कंस मारा जायगा। अथवा अब जाकर क्या करोगे कंस तो मर ही गया' वाक्य प्रतिदिन व्यवहार में आते हैं।'[4]

---

१ ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति।—३-१-२६ पृ० ७८।

२ वही।

३ इह तु कथं वर्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बन्धयतीति चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ।—३।१।२६, पृ० ७८।

४ ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति। चित्रेषु कथम्? चित्रेष्वप्युद्गूर्णा निपतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसकर्षण्यश्च। ग्रन्थिकेषु कथं यत्र शब्दगडुमात्रं लक्ष्यते? तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाद् ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति। आतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते। केचित्कंसभक्ता भवन्ति केचिद्वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यत्वं खल्वपि पुष्यन्ति। केचिद् रक्तमुखा भवन्ति केचित् कालमुखाः। त्रैकाल्यं खल्वपि लोके लक्ष्यते। गच्छ हन्यते कंसः। गच्छ घानिष्यते कंसः। किं गतेन हतः कंसः इति।—३।१।२६, पृ० ७८, ७९।

कथा-प्रवचन—उपर्युक्त उद्धरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि नाट्य के साथ ही कथा-वाचन की कला भी खूब उन्नत हो चुकी थी। लोग रात रात भर ये कथाएँ सुनते रहते थे। हमारे पास इस बात के प्रमाण हैं कि नाटकों की कथावस्तु के मुख्य आधार रामायण महाभारत तथा प्राचीन पौराणिक आख्यान थे। कथावाचक भी इन्हीं आख्यानों को स्वर के उतार चढ़ाव तथा विभिन्न भाव-भंगियों-सहित सुनाया करते थे। भावाभिव्यक्ति के मुख्य सहायक होते थे—मुखमुद्रा और हस्तादिचालन। वर्तमान 'भरतनाट्यम्' के समान संगीत और संवादों के साथ पृथक् स्वतन्त्र अभिनय भी धीरे-धीरे प्रचलित हो गया। पर पतंजलि के समय में आख्यान-वाचन और अभिनय-कला दोनों स्वतन्त्र रूप से अलग प्रचलित और उन्नत हो चुके थे।[1] ये मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। इनमें नटों की एक स्वतन्त्र जाति या श्रेणी बन चुकी थी। नटों के लिए 'शोभनक' शब्द का प्रयोग केवल पतंजलि ने ही किया है।

नाट्यालेखन—उपर्युक्त उद्धरण रंगमंच के अतिरिक्त नाटक में व्यवहृत होनेवाले पर्दों के विषय में भी जानकारी प्रस्तुत करता है। नाट्यशाला में भित्तियों पर तथा रंगमंच में पर्दों पर आलेखन करने की प्रथा थी। जो नाटक दिखाये जाते थे उन्हीं के महत्त्वपूर्ण अंश पर्दों पर चित्रित किये जाते थे। ये पर्दे कपड़े के ही रहते होंगे। इससे जहाँ एक ओर यवनिका के प्रयोग पर प्रकाश पड़ता है वहाँ दूसरी ओर चित्रकला के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है। भित्ति आलेखन की प्रथा भारत में यों भी बहुत पुरानी है। प्राचीन साहित्य में भी भित्तियों पर महत्त्वपूर्ण जीवन-गाथाएँ चित्रित करने के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

नान्दी—नाटक के अंगों में नान्दी का भी उल्लेख मिलता है। नान्दी गानेवाला नान्दिकार कहा जाता था।[2]

नृत्य

नृत्य का अर्थ—भाष्य में संगीत और वाद्य के साथ नृत्य के विषय में भी कुछ संकेत मिलते हैं।[3] नृत्य वाद्य के समान विस्तृत नहीं था। उसकी गणना संगीत के समान कलाओं में होती थी। कला शब्द का प्रयोग पतंजलि ने स्त्री के सम्बन्ध में ही किया है।[4] हो सकता है इस युग में कला स्त्रियों की वस्तु समझी जाती हो। नृत्य शब्द नृत् धातु से बना है जिसका अर्थ है गात्रविक्षेप। इसलिए, मानव के समान पशु-पक्षियों के नर्तन के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता रहा है। भाष्यकार ने बार बार मयूर के नृत्य का उल्लेख किया है और कहा है

---

१ चित्रेषु कथम्? चित्रेष्वप्युद्गूर्णा निपतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसकर्षण्यश्च। ग्रन्थिकेषु कथं यत्र शब्दगडुमात्रं लक्ष्यते? तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाद् ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति।—३ १ २६, पृ० ७८-७९।

२ ३-२-२१।

३ १ १-८।

४ अणुमत्याः कला: सन्ति, न सन्तीति।—७-१-७४ पृ ७०।

कि वह प्रिया का स्पर्श कर नाचता है।[1] नृत्य हर्षातिरेक की प्रतिक्रिया है। पतञ्जलि ने नृत्
में पुरुषों के भी भाग लेने का उल्लेख किया है।[2]

नर्तकी—नाचनेवाले को नर्तक और नर्तकी कहते थे। महाभाष्य के अनुसार इनकी श्रेणियाँ होती थीं। इसीलिए नर्तकिका, नर्तकितरा और नर्तकितमा शब्दों का प्रयोग उनके लिए मिलता है।[3] नृत्यक्रिया के लिए 'नृत्यति' का प्रयोग होता था किन्तु प्रदर्शनार्थक नृत् धातु सदा आत्मनेपद में प्रयुक्त होती थी।

अप्सरा और गणिका—गीत-नृत्य में निपुण नारियों का एक वर्ग था। ये नारियाँ अप्सरा कही जाती थीं। नाट्यशास्त्र में भी नाट्य की सफलता के लिए ब्रह्मा द्वारा अप्सराओं के भेजे जाने का उल्लेख है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग उन्हीं पर निर्भर था। उर्वशी इस कलाकार-वर्ग में सर्वाधिक सुन्दरी थी।[5] धीरे-धीरे अप्सराओं की स्वतन्त्र श्रेणी बन गई और वे सारे समाज की वस्तु मानी जाने लगीं। जब नगरों का विकास हुआ और जब गणों का संगठन हुआ तब नर्तकी सारे गण की सम्मिलित संपत्ति समझी जाने लगी। ये गण या तो नागरिक जन-समवाय के रूप में थे या राजनीतिक संस्था के रूप में। गण की सम्पत्ति होने के कारण नर्तकी गणिका कही जाने लगी। लिच्छवि-गण की आम्रपाली या अम्बपाली नामक गणिका सुप्रसिद्ध ही है। उसकी कला का रसास्वादन करने का अधिकार सम्पूर्ण गण को था। ईसा-सन् के प्रारम्भ में गणिकाओं का बड़ा सम्मान था। वह सुशिक्षित और संस्कृत नारी का प्रतीक थी। यद्यपि मनु ने गण और गणिका दोनों का भोजन ब्राह्मण के लिए त्याज्य बतलाया है फिर भी समाज और राज्य उसे विशेष आदर की दृष्टि से देखता था। गणिका-पद संस्कारवान् था और विलक्षण कलावती ही 'गणिका'-सम्बोधन की अधिकारिणी बन पाती थी। वात्स्यायन के अनुसार 'शास्त्र-प्रहत-बुद्धि' तथा दोनों (काम और कर्म) प्रकार की चौंसठ कलाओं में निपुण गणिका ही जनसभा में सम्मान पाने की अधिकारिणी हो सकती थी।[6] (ललितविस्तर में शुद्धोदन द्वारा अपने पुत्र सिद्धार्थ के लिए ऐसी पत्नी खोजे जाने की चर्चा है जो गणिका-सी शास्त्रज्ञ और कलामयी हो।)[7] भरत ने गणिकाओं को अत्यन्त सम्मान्य माना है और उनके लिए उच्च योग्यताएँ निर्धारित की हैं।[8] उन्होंने नाटकों में अन्य नारी-पात्रों को प्राकृत बोलने की आज्ञा दी है किन्तु गणिका को संस्कृत में सम्भाषण करने की अनुमति प्रदान की है।[9]

---

१ २ १ १७ पृ० ३५१ तथा प्रियां मयूरः प्रतिनर्नतीति।—७-१-८७ पृ० २१२।
२ मद्रकं नरवर नमतीमि हृष्टः।—वही।
३ १ १ ४२, पृ० १२९।
४ ११-८१।
५ उर्वशी वै रूपिष्ठाप्सरसाम्।—५-२ १६, पृ० ४११।
६ कामसूत्र अधि० १ अ० ३ पृ० २०-२१।
७ ललितविस्तर, १२ ११९।
८ नाट्यशास्त्र २४ १०९ से ११३।
९ वही १७-३७ ३८।

महावग्ग में वैशाली की गणिका अम्बपाली के वैभव और प्रतिष्ठा का प्रभावशाली वर्णन है।[1] उसकी सामाजिक स्थिति का अनुमान साधारण सामाजिक अपराधियों एवं नपुंसकों को संघ से बहिष्कृत मानने वाले भगवान् बुद्ध द्वारा उसके स्वीकार से लगाया जा सकता है। पतंजलि के समय में गणिका-संस्था प्रभावशालिनी थी और उनकी संख्या इतनी थी कि उनका संघ बन सके। गणिकाओं के संघ के लिए एक स्वतन्त्र शब्द 'गाणिक्य' प्रचलित हो गया था।[2] गणिकाओं की यह उन्नति पाणिनि के बाद और पतंजलि-युग के कुछ पूर्व हुई जान पड़ती है, क्योंकि न तो पाणिनि और न कात्यायन ने ही इस शब्द से अभिज्ञता प्रकट की है। पतंजलि को एतदर्थ पृथक् वार्तिक का निर्माण करना पड़ा है।

---

१ महावग्ग ६ १० तथा ८ १।

२ गणिकायास्यञ्चेति वक्तव्यम्।—४ २-४०, पृ० १७९।

खण्ड ७

धार्मिक विश्वास, कृत्य और विचार

अध्याय ८

देवता

इन्द्र—महाभाष्यकालीन संस्कृति के यज्ञ प्रधान होने के कारण उसमें उत्तर वैदिककालीन देवताओं का अनेक बार उल्लेख हुआ है। वैदिक साहित्य के समान ही महाभाष्य में भी इन्द्र और अग्नि का प्राधान्य है। इन्द्र के सभी प्रसिद्ध नाम जैसे शक्र पुरुहूत वृत्रहन्[1] मघवन्[2] हरिवन्[3] पुरन्दर[4] और महेन्द्र[5] भाष्य में मिलते हैं। इनमें कहीं यथार्थ इन्द्र का आवाहन है[6] और उससे मयूररोमा मन्द्र अश्वों पर बैठकर आने की प्रार्थना की गई है[7] (यह वाक्य ऋग्वेद ३-४५ १ से उद्धृत है)। कहीं उसे दी जानेवाली बलि या हवि के प्रसंग में जिसका नाम उसी के आधार पर रखा जाता था, उसकी चर्चा हुई है। उदाहरणार्थ ऐन्द्र हवि या माहेन्द्र महेन्द्रिय या महेन्द्रीय हवि उसका स्मरण कराती है।[8] पुर का विदारण करने के कारण इन्द्र का नाम पुरन्दर बतलाया गया है।[9] एक स्थान पर उसे वृत्रहा का आचरण करनेवाला कहा गया है।[10] भाष्य में एक छोटा सा उपाख्यान भी आया है कि इन्द्र ने प्रसन्न होकर एक वृद्ध कुमारी से वर माँगने के लिए कहा। सो उसने वर माँगा कि मेरे पुत्र कांसे के कटोरे में खूब घी-दूध-मिला भात खावें। किन्तु उसके पति ही नहीं था पुत्र कहाँ से होते? न गाय थी और न धान्य। फिर उसने एक ही वाक्य से पति पुत्र गायें, धान्य सब कुछ माँग लिया।[11]

अग्नि—इन्द्र के समान ही अग्नि का नाम भी अनेक बार आया है। वैसे भाष्य में अग्नि का स्थान इन्द्र से बड़ा है। भाष्य में कहा गया है कि प्रथम विजय अग्नि ने प्राप्त की इन्द्र उसके बाद

---

१ १ १ ३९, पृ० २४८।

२ १-२-३६, पृ० ५४१।

३ १ २ ३९, पृ० ५६०।

४ ३-२ ४१।

५ ४-२-२९।

६ आमन्द्रैरिन्द्रहरिभिर्याहि मयूररोमभिः—१ २ १८, पृ० ३४९।

७ वही।

८-९ ६ ३ ६९।

१० ६ ४ १२, पृ० ३७८।

११ वृद्धकुमारीन्द्रेणोक्ता वरं वृणीष्व। सा वरमवृणीत। पुत्रा मे बहुक्षीरघृतमोदनं कांस्यपात्र्यां भुञ्जीरन्निति। न च तावदस्याः पतिर्भवति कुतः पुत्राः कुतो गावः कुतो धान्यम्। एकेनापि वाक्येन पतिः पुत्रा गावो धान्यमिति सर्वं संगृहीतं भवति।—८-२ ३ प० ३१७।

भाष्य की इस विचारणा से यह भी पता चलता है कि प्रजापति सम्पूर्ण विश्व की प्रकृति माना जाता था।[1] अपोनपात् अपांनपात् का संप्रैष भी अपोनपातेऽनुब्रूहि अपांनपातेऽनुब्रूहि ही होता था और उन्हें दी जानेवाली हवि अपोनप्त्रिय और अपांनप्त्रिय कही जाती थी।[2]

देवपत्नियाँ—उपर्युक्त देवताओं में कुछ की पत्नियों और उन्हें हविष् अर्पित करने की प्रथा का भी भाष्य से पता चलता है। इनमें अग्नि की पत्नी अग्नायी इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी सूर्य की पत्नी सूर्या प्रमुख हैं। सूर्य की मानवी पत्नी सूरी कहलाती थी।[3] भाष्य में पञ्चेन्द्र दशेन्द्र पञ्चाग्नि और दशाग्नि का उल्लेख है, जिनके देवता पाँच और दस इन्द्राणी एवं अग्नायी हैं। पाणिनि ने इन्द्राणी वरुणानी भवानी शर्वाणी रुद्राणी मृडानी[4] एवं वृषाकपि की पत्नी वृषा कपायी[5] का उल्लेख किया है। भाष्य ने इनकी पूजा की स्पष्ट चर्चा नहीं की है, तो भी अग्नायी और इन्द्राणी के समान इनकी भी पूजा होती होगी इसका सरलता से अनुमान किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य स्वतन्त्र स्त्री-देवताओं में गौरी सरस्वती लक्ष्मी[6] यमी[7] प्रमुख हैं। सरस्वती के अन्य नामों में अघ्न्या देवी इडा जिह्वा और काम्या भी मिलते हैं।[8] अम्बाला, अम्बाका अम्बिका शब्द आगे चलकर गौरी के पर्याय बन गये। सरस्वती की प्रसन्नता के लिए सारस्वती इष्टि की जाती थी। लक्ष्मी को श्री भी कहा है। लक्ष्मी का यह स्वरूप पौराणिक लक्ष्मी के समान ही है। सरस्वती लक्ष्मी और गौरी का यह त्रिक पौराणिक युग में बहुत प्रतिष्ठित हुआ।[9]

देवयुग्म—कुछ देवताओं का निर्देश युग्म रूप में मिलता है। इनमें इन्द्राग्नी[10] अग्नी षोम[11] मित्रावरुण[12] अग्नाविष्णू[13] ब्रह्मप्रजापति शिव-वैश्रवण[14] स्कन्दविशाख अग्निवरुण[15]

१ ४ २-३५, पृ० १७४।
२ ४-२ २७, पृ० १७४।
३ ४ १ ४८, पृ० ३३।
४ १ १-५८, पृ० ३८०।
५ ४ १ ४९।
६ ४-१ ३७।
७ १ १ १९ पृ० १८९।
८ आ० १, पृ० ९।
९ आ० १, पृ० ८।
१० ६ १ १०७ पृ० १६४।
११ ८ १-७० पृ० ३०८।
१२ ७-१-१०७, पृ० ३१५।
१३ ९ १-५९, पृ० ३३२।
१४ ६१ ४२ पृ० ११८।
१५ ३-२-१०१, पृ० ५७८।
१६ ६ १ २८, पृ० १११।
१७ ६ १ २९, पृ० ११०।
१८ ६ ३-४२, पृ० ११८।

अग्निवायू[1] वायुवरुण[2] प्रमुख हैं। इनमें महाप्रजापती शिववैश्रवण और स्कन्दविशाख वैदिक युग्म नहीं हैं। परवर्ती काल में इन युग्मों की पूजा प्रचलित हो गई थी। इसलिए, ये देवता-द्वन्द्व नहीं माने जाते थे। भाष्यकार के मत से वेद में सहवाप-निर्दिष्ट देवता ही द्वन्द्व माने जा सकते थे। अग्निवायू आदि वेद में सहवाप-निर्दिष्ट हैं किन्तु ये नहीं हैं।[3] अग्नीविष्णू का द्वन्द्व भी पाणिनि के बाद ही बना जान पड़ता है। पाणिनि में उसका उल्लेख नहीं है किन्तु वार्तिककार की दृष्टि उस ओर गई है। उनके समय में आग्नावैष्णव चरु का निर्वाप होता था। अग्निवारुणी अनड्वाही के आलम्भन की चर्चा भाष्य में अनेक बार आई है।[4] इसी प्रकार मित्रावरुण के लिए पय करम्भ का बार-बार निर्देश हुआ है।[5] इन्द्राग्नि के लिए एकादशकपाल चरु के निर्वाप का निर्देश[6] है और अग्निमरुतों के लिए अनड्वाही के आलम्भन का।

पाणिनि ने इनके अतिरिक्त इन्द्रावरुण[7] का और काशिकाकार ने इन्द्रासोम इन्द्राबृहस्पती[8] इन्द्राग्नी इन्द्रवायू और शुक्रामन्थिनी का उल्लेख किया है।[9]

नक्षत्र-देवता—इस समय नक्षत्रों को भी देवताओं में मान लिया गया था और सोम शुक्र बृहस्पति प्रोष्ठपदा और अभिजित् के लिए स्थालीपाक और हविष् दी जाती थी। पाणिनि ने शुक्रिय हवि का संकेत किया है।[10] भाष्य में बार्हस्पत्य हविष् का बार-बार उल्लेख हुआ है[11] तथा आभिजित मुहूर्त के आभिजित स्थालीपाक का भी निर्देश मिलता है।[12] सोम से याचना की गई है कि वह अमृतत्व प्रदान कर माता-पिता के लोक तक पहुँचायेगा।[13]

नामत्व[14] वास्तोष्पति, गृहमेध द्यावापृथिवी शुनासीर[15] मरुत्वत्[16] आदि कुछ देवताओं

---

१ ६ ३-२६, पृ० ३१०।
२ ६ ३ ४५, पृ० ३२८।
३ ६-२-२६, पृ० ३१०।
४ ६-२ २६, पृ० ३१० तथा ६ ३ २८, पृ० ३११।
५ ६ ३ ४२, पृ० ३२८।
६ ६-१ १०८ पृ० १६४ तथा ६ १ १२, पृ० १५।
७ ७-३-२१ का०।
८ वही।
९ ७-३-२१।
१० ६-२ १४१ का०।
११ ६-२-१४२।
१२ ४-२-२६।
१३ ४ १-८५, पृ० ९१।
१४ ५-३ ११८, पृ० ४८१।
१५ ६ ३ ३३ पृ० ३११।
१६ ६ ३-७५।
१७ ४-२ ३२।

के नाम पाणिनि-सूत्रों में संगृहीत हैं, यद्यपि भाष्य में उनपर कोई मत प्रकट नहीं किया है। नासत्य की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। वास्तोष्पति की प्रार्थना ऋग्वेद (८-५४ ५५) में भी मिलती है।

इस समय वायु, ऋतु, पितर, उषस् तथा अन्य कालवाची शब्द भी देवताओं की कोटि में आ चुके थे।[1] 'कालेभ्यो भववत्' (४ २-३४) सूत्र पर पतंजलि की सविस्तर व्याख्या इस बात की परिचायक है कि कालदेव की भी पूजा होती थी और तदर्थ चरु को कालेय कहते थे (४ २-७, भा० १ पृ० १९९) तथा उनके समय में भी पाणिनि-काल के समान इन सबकी पूजा प्रचलित थी। गो भी स्थालीपाक की देवता बतलाई गई है।[2] और उस स्थालीपाक को गव्य कहा है।

उपास्य देवता—महादेव शब्द महान् देवता और देवता विशेष दोनों अर्थों में आया है।[3] वैश्रवण की पूजा पतंजलि-काल में बहुत बढ़ गई थी। पिशाचकी नाम का अर्थ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। भाष्यकार ने उन्हें पिशाचकी कहा है। कुबेर, धनपति आदि उनके अन्य नाम थे। यक्ष से तो अंश प्राप्त होता ही था। उनके मन्दिर भी थे।[4] कृष्ण वासुदेव और कुबेर के मन्दिरों में सामूहिक नृत्य गान वाद्य आदि होते थे। उनके शयन और उत्थान का विवरण भाष्य में मिलता है, जो रात्रि एवं प्रभात वेला में उनके मन्दिर के द्वार बन्द होने और खुलने का द्योतक है।[5] इस प्रकार मन्दिरों में देवताओं के शयन और उत्थान के समय आरती पूजा की प्रथा बहुत पुरानी है। कृष्ण और बलराम के मन्दिर भी इस युग में थे और वे देवता की कोटि को पहुँच चुके थे। कृष्ण का दूसरा नाम गोविन्द व्यक्तिवाचक संज्ञा बन चुका था। भाष्य में किसी श्लोक का अंश उद्धृत किया गया है, जिसमें संकर्षण के साथ कृष्ण का बल बढ़ने की कामना की गई है।[6] महाराज के समान कृष्ण की भक्ति का प्रचार इस युग में हो गया था।[10] शिव स्कन्द विशाख की पूजा तो बहुप्रचलित थी।[11]

धनपति—धनपति को धनाप भी कहा गया है। सम्भव है, शुनासीर का यह दूसरा

---

१ ४-२-३३, ४ २-३४।
२ ४-१-८५, पृ० २५१।
३ भा० १, पृ० ९ तथा ६-१ ९३, पृ० ८९।
४ ५ २-१२६, पृ० ४९२।
५ ३-२ १४, पृ० १८९।
६ ३-१ १३३, पृ० १९७।
७. ४ १-९८, पृ० २३५।
८. ३-१ ११८, पृ० १९८।
९. २-२-२४, पृ० ३१९।
१० ४ १ ९७, तथा ३-१-२६, पृ० १७५।
११ ५-३-९९, पृ० ४७९।

नाम हो। अपांपति स्वतन्त्र देवता भी हो सकता है।[1] अपांपति वैदिक देवता है। काल का वर्णन भी देवता के रूप में ही भाष्य में किया गया है। इसमें सम्भवतः कारिका मत हो, भाष्यकार की न हो, पर इससे उनकी धारणा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके मत से काल भूतों का पचन करता है और वही प्रजाओं का संहार करता है।[2] इस प्रकार, काल वैदिक यम का ही दूसरा नाम है। निलिम्पों को भी भाष्य में देव कहा है।[3] मानियर विलियम्स के अनुसार ये मरुतों का एक दस्ता (*Troop*) थे। तैत्ति० सं० और अथर्ववेद में भी इन्हें दिव्य वर्गविशेष के रूप में स्वीकार किया है। भाष्य में धातापारस्करा देवा (७-१ १ वा० १ पृ० १७१) भी वर्णित हैं, जो पैत्र-पूजा के परिचायक हैं। पैंगाक्षीपुत्र और तार्णबिन्दव को वार्तिककार के समान भाष्यकार ने भी देवता माना है। ये कौन थे और इनका स्वरूप क्या था निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

देवासुर—देवों और असुरों और राक्षसों एवं असुरों का निरन्तर वैर रहता था।[4] राक्षसासुर-वैर का भाव सर्वथा नवीन ज्ञात पड़ता है। देवों के प्रिय या देवपूजक मानवों को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।[5] देवताओं की पूजा को देवदेवत्य और पितरों के श्राद्ध को पितृदेवत्य कहते थे। अतिमानवीय योनियाँ देव और पितरों में विभक्त थीं। देव और पितर दोनों पृथक् योनि के प्राणी माने जाते थे। आदित्य देवताओं की समान संज्ञा थी, पर भाष्यकार ने देवों और आदित्यों में भेद निरूपित किया है।[6] देव इन्द्रपत्नीय और आदित्य भूमपत्नीय माने जाते थे। भाष्य में इनके अतिरिक्त नागमाता कद्रु,[7] तथा काशिका में शाकिनी दुष्वसिनी[8] तथा अर्ध-देवता कपि मकर सिंह के नाम आये हैं।[9] अन्तिम तीनों ध्वजाङ्क थे।

सामान्य विश्वास था कि समस्त देवता 'प्रिय' करते हैं। उनकी स्तुति स्तोता को वीर्य प्रदान करती है।[10]

---

१ १-२-१, पृ० २०५।
२ ३ १ १६७, पृ० ३३१।
३ १ १ ११८, पृ० १६८।
४ ४-२-२८, पृ० १७५।
५ ४ १ १२५, पृ० २५३।
६ ५ १ १४ पृ० ४३२।
७ ५ ४ ३४, पृ० ४७९।
८ ५ ४ ४८, काशिका।
९ ५-४-४८, वा०।
१० ४ १-७१, पृ० ७७।
११ ४-२-५३।
१२ ५ १ १००।
१३ ६ १-८, पृ० २४।

अध्याय ९

यज्ञ

याज्ञिक परम्परा का पुनरुत्थान—पतंजलि कर्मकाण्डी मीमांसक थे अत: उनकी कृति में यज्ञ-यागविषयक उल्लेखों का प्राचुर्य स्वाभाविक है। वे स्वयं पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ में पुरोहित थे और उसी अवसर पर उन्होंने शिष्यों को अष्टाध्यायी पढ़ाते हुए महाभाष्य का प्रणयन किया था।[1] पतंजलि ने महाभाष्य में पुष्यमित्र द्वारा यज्ञ किये जाने का दो बार सीधा उल्लेख किया है और दो बार स्वयं द्वारा यज्ञ कराये जाने की चर्चा की है।[2] दूसरे, पतंजलि के समय तक यज्ञशास्त्र चरम उन्नति तक पहुँच चुका था। संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुत-से कल्प-ग्रन्थ लिखे जा चुके थे[3] और इस प्रकार स्वतन्त्र याजक-शास्त्र की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। भाष्यकार ने याजकों को शास्त्रकृत् कहा है और उनकी कृतियों को शास्त्र।[4] मन्त्रों के व्याख्यान-ग्रन्थों का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।[5] व्याख्यान-ग्रन्थों में उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा संक्षेप में कही हुई बात का अर्थ स्पष्ट करने के लिए अध्याहृत वाक्य भी सम्मिलित रहते थे।[6]

याज्ञिक शास्त्र—याज्ञिकों के आम्नाय को याज्ञिक्य कहते थे। यज्ञग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले याज्ञिक कहलाते थे। यज्ञ-ग्रन्थों की भी याज्ञिक्य संज्ञा थी। सामान्यतया यज्ञ के अध्ययन का अर्थ यज्ञग्रन्थों का अध्ययन समझा जाता था। याज्ञिक्य शास्त्र में निष्णात व्यक्ति याज्ञिक्य में परिगणिती कहा जाता था।[8] किन्तु, निन्दा या अवक्षेपण व्यक्त करने में उसे याज्ञिक्य कहते थे। जैसे इसे अपने याज्ञिक्यक का बड़ा गर्व हो गया है।[9] यज्ञ का शेष पशु है। उसमें प्रवीण पाशुपक कहलाता था। इसी प्रकार बर्हि-आस्तरण आदि कर्म में प्रवीण या नियुक्त याजक को बार्हिष्क कहते थे। जो नियमित रूप से यज्ञ का अध्ययन नहीं करता था, उसे व्यंग्य

---

१ ३ २-१२८, भा० १, पृ० ३११ तथा ३ २-१२३, भा० १, पृ० ९५४

२ पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्ति।—३-१ २६, भा० ३, पृ० ७४; ३ २-१२, भा० १ पृ० ९५४; ३-३-१४२ भा० १, पृ० ३११।

३ कल्पः सर्वे मन्त्रः—४ ३-६६, पृ० २४०।

४ याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते।—भा० १, पृ० २१,

५ ४ ३-६६, भा० ६, पृ० २४०,

६ भा० १, पृ० २५।

७ ४ २ ६० पृ० १८६।

८ परिगणितो याज्ञिक्ये।—२-३-३६, भा० १ पृ० ४३१।

९ अवक्षेपणे कन्—याज्ञिक्यकेनात्यं गर्वितः।—५ ३-९५, पृ० ४७८।

में प्रायेण याज्ञिक' कहते थे।[1] यज्ञ के अपने और यजमान के लिए करने की दृष्टि से यज् धातु का उभयपदीय प्रयोग तथा यज्ञपात्रों से भिन्न उपयोग में प्र तथा उप पूर्वक युज् धातु का आत्मनेपद में प्रयोग भी इस बात का प्रमाण है कि यज्ञ के विषय में प्रयुक्त भाषा के भी सूक्ष्म नियम बन गये थे।[2]

यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के मन्त्रों का प्रयोग पुरोडाश के संस्कार के लिए होता है। इनकी व्याख्या करनेवाला ग्रन्थ पौरोडाशिक कहलाता था। पुरोडाश बनाने तथा उसकी आहुति देने की विधि का वर्णन जिस ग्रन्थ में हो उसे पुरोडाशिक कहते थे। पौरोडाशिक और पुरोडाशिक ग्रन्थों का भेद यज्ञ-सम्बन्धी अवान्तर बातों के विषय में भी ग्रन्थ-प्रणयन के प्रति विद्वानों की रुचि का द्योतक है।[3] याज्ञवल्क्य और गौतम ब्राह्मण-ग्रन्थों ताण्डयी भाल्लवी शाट्यायनी ऐतरेयी आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों के वेत्ता अध्वर्यु आदि कोषों पर्णी आदि कल्पग्रन्थों तथा अनुब्राह्मणों के ज्ञाताओं का उल्लेख भाष्यकार ने किया है। उक्थ का अध्ययन करनेवाले औक्थिक और अग्निष्टोम वाजपेय आदि यज्ञों का अध्ययन करनेवाले अग्निष्टोमिक वाजपेयिक आदि कहे जाते थे।

याज्ञिकों की मान्यताएँ—भाष्य में याज्ञिकों के अनेक विधानों और व्यवहारों की चर्चा है। यथा (१) वेदों में मन्त्र इस प्रकार नहीं मिलते कि उनका उपयोग यज्ञ में एक या अनेक पुरुष अथवा स्त्रियाँ जब जिस प्रसंग में चाहें कर सकें। याज्ञिक को प्रयोगानुसार उनमें लिङ्ग या विभक्ति का परिवर्तन कर लेना चाहिए। प्रकृति-यज्ञों के कल्पग्रन्थों में प्रयाज-मन्त्र सविभक्तिक ही पठित[4] हैं फिर भी यदि अग्न्याधान के पश्चात् यजमान उन्नत-व्यथा से पीड़ित हुआ या संवत्सर के बीच में उसपर कोई बड़ी विपत्ति आ पड़ी तो उसे फिर से नैमित्तिकी आग्नेयी इष्टि करनी पड़ती है। इस समय में प्रयाजा सविभक्तिकाः कार्याः यह याज्ञिक आम्नाय[5] है। (२) आहिताग्नि को अपशब्द का प्रयोग करने पर प्रायश्चित्त के लिए सारस्वती इष्टि

---

१ २-१ १८, पृ० ४२०।

२ स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले।—१ ३-७२ १ ३ ६४, पृ० ८४।

३ पौरोडाशा पुरोडाशमन्त्राः —पुरोडाशाः पिष्टपिण्डास्तेषां संस्कारको मन्त्रः पौरोडाशः तस्य व्याख्यानं तत्र भवो वा पौरोडाशिकः—पौरोडाशिकः। पुरोडाशसहचरितो ग्रन्थः पुरोडाशस्तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पुरोडाशिकः।—४ ३-७० काशिका।

४ न सर्वैर्लिङ्गैर्न सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः।—भा० १, पृ० २।

५ याज्ञिकाः पठन्ति प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति।—भा० १, पृ० १।

६ यद्यपि प्रकृतौ प्रयाजमन्त्राः सविभक्तिका एव पठ्यन्ते तथापि अग्न्याधानानन्तरं यजमान उन्नतव्यथावान् स्यात् यदि संवत्सरमध्ये तस्य महती विपत् स्यात् तदा नैमित्तिकी पुनराधेयेष्टिर्विधीयते। तत्रेदमाम्नातम्—प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति।—शब्दकौस्तुभ।

करनी चाहिए।[1] (३) स्वर या वर्ण से दूषित शब्द का यदि यज्ञ में उच्चारण किया जाता है तो वह मिथ्याप्रयुक्त शब्द वांछित अर्थ का बोधक न होकर वाग्वज्र बन जाता है और यजमान का नाश कर देता है। अशुद्ध उच्चारण के कारण ही 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मन्त्र से इन्द्र का अभिचार करनेवाला वृत्र स्वयं नष्ट हो गया।[2] इसीलिए 'यद्वान' तद्वान' के स्थान पर 'यर्वाण' तर्वाण' बोलनेवाले ऋषि भी जिनका नाम ही अशुद्ध उच्चारण के कारण यर्वाण तर्वाण पड़ गया था यज्ञकाल में इन शब्दों का विशुद्ध उच्चारण करते थे। असुर लोग यज्ञकाल में भी अशुद्ध उच्चारण करते थे इसीलिए वे पराभूत हो गये।[3] अतः यज्ञ कराने का अधिकारी अर्थात् आर्त्विजीन वही ब्राह्मण बन सकता है, जो मंत्र का पदशः स्वरशः और अक्षरशः शुद्ध उच्चारण कर सके। (४) याज्ञिक शास्त्रों में अनेक ऐसे यज्ञों का वर्णन तथा विधि सन्निविष्ट है जिनका अनुष्ठान पतंजलि के समय बन्द हो गया था किन्तु लेखक याज्ञिक शास्त्र पर ग्रन्थ लिखते समय उन दीर्घ सत्रों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में करते थे। यहाँतक कि शास्त्रकार याज्ञिक सौ वर्षों या हजार वर्षों तक चलनेवाले सत्रों तक का विधान शास्त्रों में करते थे।[5] यह ऋषि सम्प्रदाय था। (५) याज्ञिकों के मतानुसार यज्ञ करना और उसकी विधि के विवरणों को ठीक समझना तथा पूर्ण श्रद्धा के साथ उसके रहस्यों को हृदयगम करना आवश्यक माना जाता था। अग्निष्टोम या नाचिकेत अग्नि का चयन ही पर्याप्त नहीं उसके महत्त्व का जानना भी आवश्यक था। इसके लिए याज्ञिक शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित होता है।[6] (६) किसी को दान करते या यज्ञ करते देखकर बिना पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये उसके अनुकरण पर दान या यज्ञ करनेवाला भी अभ्युदय का भागी माना जाता है। उदाहरणार्थ विश्वसृज् सत्र में अभ्यासीन व्यक्ति को देखकर जो कोई विश्वसृज् सत्र में अभ्यासीन हो वह भी अनुकार्य व्यक्ति के समान

---

१ याज्ञिकाः पठन्ति, आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्।—आ० १, पृ० ९।

२ दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।—आ० १ पृ० ४।

३ यर्वाणस्तर्वाणो नामर्षयो बभूवुः—ते तत्र भवन्तो यद्वानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते। तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितं ततस्ते पराभूताः।—आ० १, पृ० २५।

४ यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति।—आ० १ पृ० ५।

५ दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च। नचाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति। केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते। —आ० १ पृ० ११।

६ वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद—योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद।—आ० १ पृ० ११।

श्रेयोभागी होता है।[1] लोक और वेद दोनों में इस धारणा को मान्यता प्राप्त थी। (७) याज्ञिक प्रवक्ता वैयाकरणों के समान संज्ञाएँ नहीं करते थे। जिस प्रकार वैयाकरण वा विभाषा विकल्प अन्यतरस्याम् या बहुलम् आदि संज्ञाओं द्वारा भाषा आदि के विषय में विकल्प को स्वतन्त्रता देते हैं उस प्रकार याज्ञिक शास्त्र सांकेतिक या संज्ञा शब्दों का आश्रय नहीं लेते। वे सीधी भाषा द्वारा वैकल्पिकता का विधान करते हैं। उदाहरणार्थ यज्ञ में पशु या अनड्वान् की बलि यजमान की इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे, पशु बलि दे या न दे। याज्ञिक शास्त्र पशुबलि की अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं करते किन्तु इस यथेच्छ चिकीर्षा के लिए वे किसी पारिभाषिक शब्द का आश्रय न लेकर 'भिष्यानडवान् विभाषित' कह देते हैं।[2] (८) सामान्यतया द्विज यज्ञ में सक्रिय भाग लेते थे। तथा अयस्कार, रजक तन्तुवाय आदि कुछ जातियाँ भोजन पात्र से बहिष्कृत न थीं किन्तु यज्ञ कर्म से निरवसित मानी जाती थी।[3]

यज्ञों के भेद—यज्ञों को दो वर्गों—श्रौत और स्मार्त में बाँटा जा सकता है। श्रौत यज्ञों में वे बड़े बड़े यज्ञ आते हैं, जिनके सिद्धान्तों और प्रक्रिया का वर्णन संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। सोमयाग इस श्रेणी में है। गृह्ययज्ञों का वर्णन गृह्यसूत्रों में जो स्वयं स्मृति-साहित्य के अन्तर्गत हैं मिलता है। अतः उन्हें स्मार्त यज्ञ कहते हैं। इन यज्ञों का प्रारम्भ गृह्ययज्ञों से ही हुआ था जिन्हें धनी निर्धन पण्डित और सामान्य जन सभी सरलता से कर सकते थे। इनके लिए न विशेष वेदों की आवश्यकता होती थी और न पुरोहितों की। भाष्यकार ने इन यज्ञों में निम्नलिखित का उल्लेख किया है—

पाकयज्ञ—प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करता था जिनमें प्रातः-सायं के अग्निहोत्र भी सम्मिलित थे। ये पाकयज्ञ कहलाते थे। इन होमों में चरु और पुरोडाश की आहुति दी जाती थी। यवागू भी आहुति के काम आती थी।[4] इन यज्ञों को पति और पत्नी साथ-साथ करते थे इसलिए ये पत्नी-संयाज कहलाते थे।[5] पत्नी-संयाज नियत ही करते थे और यज्ञ-समाप्त

---

१ लोके च एवमसौ ददाति च एवमसौ यजते च एवमसावधीते इति तस्यानुकुर्वन् यथान्यः यजेत चाधीयीत च सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। वेदेऽपि च एवमसौ विश्वसृजः सत्राण्यासत इति तेषामनुकुर्वन् तद्वत्सत्राण्यासीत सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। —आ० २ पृ० ४८।

२ याज्ञिकाः खल्वपि संज्ञामनारभमाणा विभाषेत्युक्ते नित्यत्वमवगच्छन्ति तद्यथा भिष्यः पशुर्विभाषितो भिष्योऽनड्वान् विभाषित इति। आलस्यमध्ये नालस्यम्य मन्यते। —१ १ ४४, आ० १६, पृ० २६।

३ याज्ञात्कर्मणो निरवसितानाम्—एवमपि तक्षायस्कारम् रजकतन्तुवायमिति न सिध्यति। —२·४ १०, पृ० ४६५।

४ यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति। —२ १ १, पृ० ४०।

५ पत्नीसंयाजा इति अत्र यत्नर्थयीमः। सर्वेण च गृहस्थेन पञ्चमहायज्ञा निर्वर्त्याः। यथा प्रातः सायं होमचरुं पुरोडाशान्निर्वपति तस्याशाधीष्टे। —४ १ ३३, पृ० ५०-५१।

के कारण ही भार्या पत्नी-पद की अधिकारिणी होती थी। यज्ञाधिकारी न होने के कारण शूद्र की भार्या पत्नी नहीं कही जा सकती थी।[1]

पाकयज्ञ[2] गृहस्थ के दैनिक कर्तव्यों के अंग थे और गार्हपत्य अग्नि में किये जाते थे। पाकयज्ञ अत्यन्त संक्षिप्त होते थे जिनके लिए ऋत्विजों की आवश्यकता नहीं होती थी।

प्रातः-सायं अग्निहोत्र भी पाकयज्ञों के ही अंग थे। दर्श और पौर्णमास यज्ञ भी पाकयज्ञ प्रकृतिक माने जाते थे। इनमें प्रयाज अनुयाज और सामधेनिक विधि की आवश्यकता नहीं होती थी। केवल उक्त विधियों के मंत्रों के अन्त में स्वाहा जोड़कर दक्षिणाग्नि में पकाये हुए ओदन खीर, दधि घृत या दुग्ध की आहुतियाँ दी जाती थीं।[3]

गृह्य अग्नि में वैश्वदेव यज्ञ भी किये जाते थे, जो पाकयज्ञों के ही अन्तर्गत थे। इसमें सिद्ध या पकाये हुए हविष्य से आहुतियाँ दी जाती थीं और अवशिष्ट हविष्य बलि के काम आता था। बलि में प्रयुक्त होनेवाले तण्डुल बालेय कहे जाते थे। भाष्य में उन्हें गुणान्तर-युक्त अर्थात् संस्कारयुक्त कहा है।[5] बलि का हविष्य व्यंजनों से उपसिक्त रहता था। वैश्वदेव में प्रयुक्त अन्न को विघस कहते थे।[6] द्राह्यायण गृह्यसूत्र में गृह के भीतर या बाहर चार मणिक देश (पानी रखने का स्थान) में एक घर के मध्य में एक गर्भगृह के द्वार पर एक शय्या के पीछे एक घूरे या अवस्कर के पास एक खूँटे या पशु बाँधने के स्थान में एक इस प्रकार दस बलियाँ रखने का विधान है। पितर, रुद्र ये बलि-देवता हैं। भाष्यकार ने महाराज की बलि का भी उल्लेख किया है। काशिका में कुबेर-बलि की भी चर्चा है।

---

१ पत्युर्नो यज्ञसंयोगे। —४ १ ३३।

२ नवयज्ञोऽस्मिन्नस्ति काले नावमासिकः पाकयज्ञिकः। —४-२-३५, भा० १, पृ० १७६।

३ गृह्याग्नौ पाकयज्ञान् निर्हरेत् तस्मात् पाकयज्ञो हि स्वयंपाक इत्याचक्षते ३ दर्श पौर्णमासप्रकृतिः पाकयज्ञविधिः अप्रयाजानुयाजोऽसामधेनिकः स्वाहाकारान्ते निगद होमान् परस्तादुत्पत्तिर्दक्षिणाग्नावाहिताग्निर्होमयेन ओदनं पायसं चतुरस्रं चास्यन्दितमुपलिम्पेदु-पात्रं तस्मिन् लक्षणं कुर्वीत 'सत्यं सदसीति' पदनामानुपूर्वी लेखा लिखेत्। —द्राह्य गृह्यसूत्र, २१ १से४।

४ हविष्यं वा सिद्धस्य वैश्वदेवः। अग्नये सोमाय, प्रजापतये धन्वन्तरये वास्तोष्पतये विश्वेभ्यो देवेभ्योऽग्नये स्विष्टकृते च जुहुयात् अवशिष्टस्य बलिं हरेत्। —द्राह्या०, गृ० सू०, २०-३, ४।

५. बालेयास्तण्डुलाः, गुणान्तरयुक्ता हि तण्डुला बालेयाः। —५ १ १३, पृ० ३०४ ३०४।

६ विघसः उपसर्गेऽद्यः। —३-३-५९ का०।

७ बलीन्हरेत्-बहिरन्तर्वा चतुर्निधाय मणिकदेशे मध्ये द्वारि-शय्यामनु वर्चस्या—अथ सस्तूपम्-देवमद्भिः सर्वदक्षिणा, पृथ्वी वायु प्रजापति विश्वेदेवा आप ओषधिवनस्पतय आकाशः कामो मन्युर्वा रक्षोगणान् नयेत-पितरो रुद्र इति बलिदेवतानि। —द्राह्या० गृ० सू०, १-५ २२ से २६।

८ चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः—कुबेरबलिः महाराजबलिः। —२ १ ३६ का० तथा यो हि महाराजाय बलिर्दीयते महाराजार्थः स भवति। —वही, पृ० २८८।

दर्श पौर्णमास विहार

पूर्व

आसमन स्थान

क

घ

ख

ट

आग्नीध्र

ज

ब्रह्मा

आहवनीय

झ

ग

उत्कर

च

अध्वर्यु

च

छ

यजमान

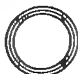
वेदी

ञ

होतृ

क ख ग घ ङ यजमान संचर के सूचक हैं
क ख ग घ च अध्वर्यु ,,
क ख छ ज ब्रह्मा ,,
क ख ग झ ञ होतृ ,,
क ख ट आग्नीध्र ,,





गार्हपत्य



पाकयज्ञों में गृह्यसूत्रकारों ने स्थपहोम का विधान किया है। कुछ आचार्यों के मत से पत्नी ही आहुति देती थी, क्योंकि पत्नी का दूसरा नाम गृह भी है और उसी के नाम पर इस अग्नि का नाम गृह्य पड़ा था।[1] गृह्याग्नि को ही एकाग्नि भी कहते थे। उसमें हवन करनेवाले भी एकाग्नि कहलाते थे।[2]

नवयज्ञ—बिना यज्ञ किये नया अन्न खाना निषिद्ध था इसलिए नई फसल तैयार होने पर प्रत्येक गृहस्थ उससे हवन कर तब नवान्न ग्रहण करता था। नवान्न का यह होम नवयज्ञ कहलाता था। शरद की पूर्णिमा या अमावास्या को व्रीहि से और वसन्त में यव से नवयज्ञ किया जाता था। इसमें इन्द्र और अग्नि देवता के लिए पायस तैयार कर आहुति दी जाती थी। नव यज्ञ पाकयज्ञ के अन्तर्गत था।

दर्श-पौर्णमास—ये इष्टियाँ भी पाकयज्ञ के ही अन्तर्गत मानी जाती थीं। भाष्य के अनुसार जिसके द्वारा यज्ञ किया जाय अथवा जिसके द्वारा कोई कामना की जाय उसे इष्टि कहते हैं।[3] जिस काल में सूर्य और चन्द्रमा साथ रहते हैं उसे दर्श कहते हैं और जिस समय चन्द्रमा सब कलाओं से पूर्ण हो जाता है, उसे पौर्णमास कहते हैं। दर्श और पौर्णमास को की जानेवाली इष्टियाँ भी इसी नाम से प्रसिद्ध थीं।

चातुर्मास्य यज्ञ—भाष्यकार ने चातुर्मास्यों का उल्लेख चार-चार मास में किये जाने वाले यज्ञों के रूप में किया है। इनको यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाला चातुर्मासिक या चातुर्मासी कहलाता था।[4] आश्वयुजी पौर्णमासी का भी नाम चातुर्मासी था। इस दिन रुद्र देवता को पायस या पृषातक की आहुति दी जाती थी।[5] पृषातक दूध में घी मिलाकर तयार किया जाता था।[6]

चातुर्मास्य तीन माने जाते थे—वैश्वदेव वरुण प्रघास और साकमेध। वैश्वदेव फाल्गुनी या चैत्री पूर्णमासी को निष्पन्न होता था। वरुण प्रघास आषाढ़ी और साकमेध कार्तिकी पूर्णिमा के दिन होता था।

अष्टका—भाष्यकार ने अष्टका को पितृदैवत्य कहा है। प्रायः सभी गृह्यसूत्रों में इसका सविस्तर वर्णन मिलता है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार मार्गशीर्ष की पौर्णमासी को आग्रहायणी कर्म होता था और इसके बाद तीन पिण्डा अष्टकाएँ होती थीं जो क्रमशः गन्धो बन्ध

---

१ पत्नी जुहुयादित्येके। गृहाः पत्नी गृह्योऽग्निरेष इति।—वही १-५ १७, १८।

२ १-२-२४, भा० १, पृ० २१६।

३ इज्यतेऽनयेतीष्टिः—इज्यतेऽनयेतीष्टिः।—३ २ ९५, भा० २, पृ० ११३।

४ अमावास्येन हविषा पूर्वपक्षमभियजते पौर्णमासेनापरपक्षम्।—गोभिल गृ० सू०, प्रपा० १, क० ५, सू० ६।

५ आश्वयुजी स्थाम पायसः।—आश्व० गृ० सू०, कार्मु० प्रकरण, २ २-१।

६ पयस्यानयेत् आज्यं तत्पृषातकम्।—वही २ २ ३।

७ अष्टकापितृदैवत्ये उपसंख्यानं कर्तव्यम्—पितृदैवत्य इति क्रियपम्—अष्टिका-भाती।—७-३ ४५, भा० ९, पृ० १९०।

देवी और प्राजापत्य कहलाती थीं।[१] खादायन गृह्यसंहिता के अनुसार माघहायनी के बाद की तीन तामिस्र अष्टमियाँ ही ये अष्टकाएँ थीं। प्रथम हवि के लिए स्थालीपाक तैयार किया जाता था। प्रथम अष्टका में आठ अपूप भी 'अष्टकायै स्वाहा' इस मन्त्र द्वारा अग्नि में चढ़ाये जाते थे। अन्तिम अष्टका में शाक और मध्यम में गौ की आहुति दी जाती थी। पिण्डहोम 'वह वपाम्' इत्यादि मन्त्र द्वारा होता था और 'वपस्य जातवेद' इत्यादि मन्त्र द्वारा। इसके लिए पुरोहित की आवश्यकता होती थी और पशुहोम में उसकी दक्षिणा पशु ही होता था।[२] अष्टका एकविंशतिसंस्थ होम था।[३]

अग्निहोत्र का अर्थ—अग्निहोत्र के सम्बन्ध में भाष्य में और भी विवरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ भाष्यकार के मत से अग्निहोत्र शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। उसका एक अर्थ ज्योति है क्योंकि अग्निहोत्र प्रज्वलित करता है, यह प्रयोग लोग करते हैं। दूसरा अर्थ हवि है। इसीलिए, 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य सार्थक होता है। जुहोति का प्रयोग प्रीणन और प्रक्षेपण दोनों अर्थों में देखा जाता है। 'यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति' के दोनों अर्थ होते हैं—यवागू अग्नि को प्रसन्न करती है और यवागू हवि अग्नि में है। इससे यवागू का हवि के रूप में व्यवहार स्पष्ट है भले ही कौशिक गृह्यसूत्र में उसका उल्लेख न हो।[४]

पंचावत्ती—भाष्यकार ने जामदग्न्यों को पंचावत्ती कहा है। पंचम अवदान सर्वप्रथम जमदग्नि ने किया था इसलिए जामदग्न्य गोत्रवालों को छोड़कर अन्य कोई पंचावत्त हवन नहीं करता।[५] अन्य लोग चतुरवत्त याग करते हैं। रखी गई हवि में से हाथपरिमित भाग को काटकर अलग करना अवदान कहलाता है। चतुरवत्त में अध्वर्यु आज्य से स्रुव द्वारा जुहू में एक बार आज्य लेकर होता को अनुवाक्या पढ़ने के लिए 'अनुब्रूहि' मन्त्र से संप्रेष देता है। इस क्रिया की आवृत्ति तीन बार होती है। जिस यजमान के यज्ञ में इस प्रकार चार बार आज्यावदान होता है वह चतुरवत्ती कहा जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में जामदग्न्य वत्स विद आर्ष्टिषेण भार्गव च्यावन वंश के पंचावत्ती कहे गये हैं।[६]

---

१ ऊर्ध्वमाग्रहायण्याः पौर्णमास्यास्तामिस्राष्टम्यस्ता अष्टका इत्याचक्षते ऐन्द्री वैश्वदेवी प्राजापत्या पित्र्येति।—१-१-१ २।

२ ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रस्तामिस्राष्टम्योऽष्टका इत्याचक्षते—तासु स्थालीपाकः—अष्टौ चापूपाः प्रथमायाम्-तानपरिवर्तयन् कपाले श्रपयेत्—अष्टकायै स्वाहेति जुहुयात्—उत्तमायां शाकम्-मध्यमायां गौः।—१-१ २० से १२ तथा १-४ १ वहवपामिति पित्र्येयमा होमः—जातवेद इति देवतये-पशुरेव पशोर्दक्षिणा—१ ४-२६, २७, ३०।

३ अष्टकायामष्टका होमाननुद्रुत्यास्तस्यां हवींषि धानाः करम्भः शष्कुल्यः पुरोडाश उदौदनं क्षीरौदनस्तिलौदनो यथोपपादि पशु।—१४ ११८-२, ४।

४ प्रथमग्निशब्दोऽस्त्येव ज्योतिषि वर्तते—तद्यथाऽग्निहोत्रं ज्वलयति। अस्ति हविषि वर्तते—तद्यथाऽग्निहोत्रं जुहोति। जुहोतिश्चास्त्येव प्रक्षेपणे वर्ततेऽस्ति प्रीणात्यर्थे वर्तते। यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति, अग्निं प्रीणाति, यवागूं हविरग्नौ प्रक्षिपति।—२ ३-३ पृ० ४०६।

५ जमदग्निर्वा एतत्पञ्चममवदानमवाद्यत्तस्मान्नाजामदग्न्यः पञ्चावत्तं जुहोति।—१ १ ४४, वा० १७, पृ० २६४।

६. श्रौ० प० नि०, पृ० ३१।

पंचौदन सव—भाष्य में पंचौदन सव का उल्लेख है।[1] यह सवनेष्टि का पर्याय है। सवनेष्टि भी पाकयज्ञों का अंग है जिसमें अग्नि को अष्टाकपाल पुरोडाश, इन्द्राग्नि को एकादश कपाल पुरोडाश और विश्वेदेवों को द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है। पंचौदन सव में ओदन की पाँच विशेष आहुतियाँ दी जाती थीं।[2]

पाकयज्ञों के नाम उनमें दी जानेवाली मुख्य आहुति के आधार पर भी रखे गये थे। उदाहरणार्थ जिन यज्ञों में मोदक या शष्कुली प्रमुख होती थी वे मौदकिक या शाष्कुलिक कहे जाते थे।[3]

इन्द्रमह, गंगामह और कर्णवेधयज्ञ—ये सम्भवतः सामान्य पाकयज्ञ थे, जो वैदिक न होकर लोक परम्परा पर आश्रित थे। श्रौत या गृह्यसूत्रों में इनका विवरण नहीं है। इन यज्ञों में सम्बद्ध देवताओं के लिए विशिष्ट आहुतियाँ दी जाती थीं और उत्सव, गीत तथा रात्रि जागरण किये जाते थे।

श्रौतयज्ञ—श्रौतयज्ञ वे हैं जिनका विधान संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है। इनमें कुछ तो सत्रात्मक यज्ञ हैं और कुछ सामान्य। भाष्य में शत सहस्र वर्षों तक चलने वाले यज्ञों की चर्चा है।[5] ये दीर्घ सत्र कहलाते थे। विश्वसृज् या प्रजापति का यज्ञ भी दीर्घकाल तक चलने के कारण सत्र की कोटि में आता था।[6] विश्वसृज् सत्र सहस्र संवत्सर का था।[7] दीर्घ सत्रों में कुछ तो धार्मिक लोगों द्वारा आत्मकल्याणार्थ किये जाते थे और कुछ राजाओं या धनिक यजमानों के लिए। इन दीर्घ सत्रों में होनेवाली क्रिया या वस्तु दार्घसत्र कहलाती थी।[8] दीर्घ सत्र सामान्यतया अप्रयुक्त थे। केवल ग्रन्थों में उनका विधान रह गया था।[9]

हवि की दृष्टि से यज्ञों के दो भाग थे—यज्ञ और क्रतु। क्रतु विशिष्ट यज्ञ थे जिनमें सोम की आहुति दी जाती थी।[10] जिन क्रतुओं का विधान अध्वर्यु वेद में मिलता है वे आध्वर्युक्रतु कहलाते थे। क्रतु शब्द सामान्यतया सोमयज्ञों में रूढ था। पाणिनि ने कुण्डपाय्य और संचाय्य क्रतुओं का उल्लेख किया है। कुण्डपाय्य क्रतु में कुण्ड (पात्र) द्वारा सोमपान किया जाता था।

---

१ सर्वे मे पञ्चौदन सव। —१ १ १६, वा० ४, पृ० १०९।

२ श्रौ० य० निर्दे० पृ० १४४।

३ मोदकाः प्रहृता अस्मिन् यज्ञे मौदकिको यज्ञः, मौदकमयः, शाष्कुलिको शष्कुलीमयः।—५ ४-२१ का०।

४ इन्द्रमहार्थमन्नमैन्द्रमहिकम् गाङ्गामहिकम् कार्णवेधिकम्।—५ १ १२, वा० १ २, पृ० १०२ ३०३।

५ दीर्घसत्राणि वर्षशतिकानि वर्षसहस्रिकाणि च। —आ० १ पृ० २१।

६ वेदेऽपि च एवं विश्वसृजः सत्रमध्यासत इति। —आ० २, पृ० ४८।

७ सहस्रं संवत्सरं विश्वसृजाम्। —कात्या०, २४-५-२४।

८ दीर्घसत्रे भवं दार्घसत्रम्। —७-३ १।

९ अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्। —आ० १ वा० ४, पृ० २१।

१० क्रतु शब्दः सोमयज्ञे रूढः। —२ ४ ४ का०।

यह द्वादशाह क्रतु की विकृति है और वर्ष-भर चलता है। संचाय्य सत्रा सोम का संचयन किये जाने के कारण थी।[1] अर्क अश्वमेध सामाह्न अतिरात्र आदि अध्वर्यु क्रतु थे। राजसूय वाजपेय भी अध्वर्युक्रतु थे। दर्श पौर्णमास का विधान अध्वर्यु वेद में है पर ये क्रतु नहीं थे।[2] क्रतुओं में अग्निष्टोम वाजपेय और राजसूय सर्वाधिक सिद्ध जान पड़ते हैं। इन्हीं तीन यज्ञों के व्याख्यान-ग्रन्थों की चर्चा भाष्य में दो बार हुई है।[3]

अग्निष्टोम—अग्निष्टोम यज्ञ करना और उसे आस्थापूर्वक ठीक समझना अभ्युदय-कारी माना जाता था। अग्निष्टोमयाजी विशेषण सम्मानार्थ प्रयुक्त होता था।[4] अग्निष्टोम का प्रारम्भ वसन्त में होता था। वासन्तिक अग्न्याधान ब्राह्मण का कर्तव्य माना जाता था।[5] अग्न्याधान यज्ञारम्भ की प्रतिपत्ति के लिए था। कात्यायन श्रौतसूत्र में अग्निष्टोम का प्रारम्भ काल वसन्त ही बतलाया गया है। इसके तीन भेद है—एकाह अहीन और सत्र। जिसमें सुत्या-कर्म एकाह साध्य होता है वह एकाह और जिसमें दो तीन से बारह दिन तक सुत्याकर्म चलता है वह अहीन तथा जिसका पक्ष मास संवत्सर और इस प्रकार सहस्र वर्ष तक अनुष्ठान चलता है वह सत्र कहलाता है। कुछ लोगों के मत से यहाँ संवत्सर शब्द दिन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अग्निष्टोम सम्पूर्ण श्रौतयागों की प्रकृति है। यह सबसे सरल एवं सर्वाधिक प्रचलित था। इसमें सोलह ऋत्विज् होते थे। अग्नि का एक छाग की बलि दी जाती थी और बारह स्तोत्रों का उपयोग होता था। प्रातः सवन में बहिष्पवमान और चार आज्य-स्तोत्रों मध्याह्न सवन में माध्यन्दिन पवमान और चार पृष्ठ-स्तोत्रों तथा सायं सवन में तृतीय या आर्भव पवमान और अग्निष्टोम साम का प्रयोग होता था। अग्निष्टोम साम के प्रयोग के ही कारण इसे अग्निष्टोम सत्व क्रतु कहते हैं।

तुरायण—तुरायण की प्रकृति पौर्णमास यज्ञ है। यह एक वर्ष तक चल सकता था। शाङ्खायन ब्राह्मण में इसे 'स्वर्गकामस्य यज्ञ' कहा है।[6] कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार यह सत्र है और वैशाख या चैत्र शुक्ल-पंचमी को प्रारम्भ होकर वर्ष-भर चलता है। भाष्यकार ने

---

१ चरौ कुम्भमाम्नं संचाय्यौ। —३ १ १३० । —तथा का०।

२ काशिका, ९ ४ ४।

३ ४ ३-६६, भा० ६, पृ० २४०।

४ योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद। —भा० १ पृ० २१।

५ अग्निष्टोमयाजी।—३-४ १ भा० २, पृ० १८१।

६ लोके वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत।—वेदे खल्वपि वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभि क्रतुभिर्यक्ष्येतेत्यग्न्याधाननिमित्तं वसन्ते वसन्त इष्यते—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेत्यग्न्याधानं यज्ञमुखप्रतिपत्त्यर्थम्।—६ १-८४ भा० ४ ५ पृ० ११६, ११७।

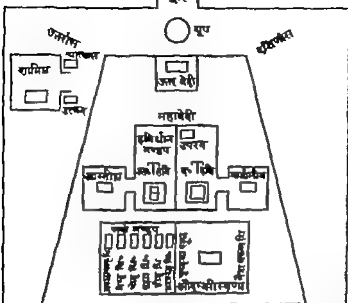
७. कात्या श्रौ० सू ७-१ ४।

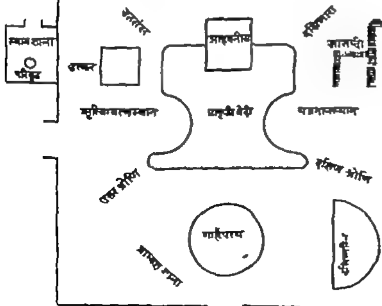
८. मीमांसादर्शन, अ० ६, पा० ७, अधि० १३ पृ० ११४०।

९. शांखा० ब्रा० ४ १९।

अग्निष्टोम यज्ञ-विहार







कहा है कि यद्यपि यज्ञ करनेवाला यजमान और चरु पुरोडाश तैयार करनेवाले ऋत्विज् दोनों तुरायण का यजन (तैयारी) करते हैं फिर भी ऋत्विज् को तौरायणिक कहने की प्रथा नहीं है।[1] यजमान तौरायणिक कहलाता है।

राजसूय—अग्निष्टोम के समान राजसूय का उल्लेख भी भाष्य में कई बार हुआ है।[2] काशिकाकार ने कहा है जिसमें राजा (सोम) का सवन होना चाहिए, अथवा राजा का सवन होता है, उसे राजसूय क्रतु कहते हैं।[3] राजसूय विशुद्ध सोम-यज्ञ नहीं था अपितु अनेक यज्ञों की संसृष्टि से युक्त लगभग दो साल से भी अधिक काल में समाप्त होनेवाला जटिल याग था। यह अनेक इष्टियों सोमयज्ञों और पशुमेधों का समवाय था। लाट्यायन के अनुसार केवल क्षत्रिय इसका अधिकारी था।[4] मीमांसा के शाबरभाष्य में काशिका और लाट्यायन दोनों मतों का समन्वय मिलता है।[5] कुछ लोगों के मत से राजसूय वही कर सकता था जिसने वाजपेय न किया हो।[6] कुछ लोगों के मत से वाजपेय कर लेने के बाद व्यक्ति इसका अधिकारी माना जाता था।[7] शतपथब्राह्मण में कहा है कि राजसूय करनेवाला राजा और वाजपेय करनेवाला सम्राट् होता था।[8] इससे वाजपेय का स्थान उच्चतर मालूम होता है। भाष्य में भी यज्ञों के प्रसंग में सर्वत्र अग्निष्टोम राजसूय और वाजपेय का क्रमिक ही उल्लेख हुआ है, जो शतपथ के अनुकूल है। राजसूय में यजमान को फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् के दिन पवित्र-संज्ञक सोमयज्ञ की दीक्षा लेनी पड़ती थी जिसकी प्रक्रिया अग्निष्टोम के ही समान है।[9] इसके एक वर्ष बाद अभिषेचनीय विधि होती थी। अभिषेचनीय इस यज्ञ का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था।[10] यज्ञारम्भ होने के लगभग १५ दिन बाद फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को अनुमति की इष्टि की जाती थी जिसमें अनुमति को पुरोडाश हवि दी जाती थी।[11] इसके बाद वैश्वदेव वरुण प्रघास और साकमेध नामक चातुर्मास्यों का प्रारम्भ हो जाता था और अगली फाल्गुन शुक्ल अमावस्या को शुनासीरीय प के साथ उनकी समाप्ति होती थी।

---

१ यस्तुरायणेन यजते स तौरायणिक इत्युच्यते—यश्च यजते यश्च चरुपुरोडाशान्निर्वपति उभौ तौ वर्तयतः। उभयत्र कस्मान्न भवति? अनभिधानात्।—५ १-७२, वा० २, पृ० ३३७।

२ ४ ३ ६६, वा० ६, पृ० २४०; ५ १ ९५, पृ० ३४२।

३ राजा सोतव्य राजा वा इह सूयते राजसूय क्रतु।—काशि० ३ १ ११४।

४ राजा राजसूयेन यजेत्।—लाट्या० श्रौ० सू० ९ १ १।

५ राजा तत्र सूयते तस्माद् राजसूयः। राज्ञो वा यज्ञो राजसूयः।—मीमां० शाबर भा० ४ ४ १।

६ कात्या०, २५ १ २।

७ आश्व० ९ ९ १९।

८ शत० ब्रा० ९ ३-४-८।

९ लाट्या० ९ १ २, आप० ९ ३-२; कात्या०, १५ १ ६।

१० लाट्या० ९ १ ४।

११ कात्या० १५ १ ९ तथा आप० १८-८ १०।

इसके बाद छोटे-मोटे अनेक कृत्य जिसमें पंचावत्तीय और अपामार्ग होम भी सम्मिलित हैं, होते थे।[1] बारह दिनों तक 'रत्निनां हवींषि' होती थीं जो रत्नियों (सेनापति पुरोहित आदि विशिष्ट राज्याधिकारी) के घर दी जाती थीं।[2] सौत्य के प्रथम दिन अभिषेचनीय विधि होती थी। अभिषेचन के लिए पुरोहित सत्रह उदुम्बर-पात्रों में सत्रह प्रकार का जल लाता था जो अनेक धार्मिक विधियों के बाद राजा पर डाला जाता था। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य सब इस जल से राजा का अभिषेचन करते थे।[3] अभिषेचनीय के बाद दस दिन तक 'संसृपां हवींषि' दी जाती थीं।[4] और फिर दशपेय (सोमपान) कृत्य होता था।[5] यही अवभृथस्नान का दिन था। इसके एक वर्ष बाद तक राजा को देवव्रतों का पालन करना पड़ता था।[6] इन व्रतों की समाप्ति केशवपनीय विधि से होती थी। इस समय यजमान के साल-भर से बढ़ हुए केशों का वाप होता था। इसके बाद व्युष्टि द्विरात्र और क्षत्रधृति यज्ञ होते थे। इसके साथ ही राजसूय की समाप्ति हो जाती थी यद्यपि इसके एक मास बाद सौत्रामणि इष्टि करनी पड़ती थी।

वाजपेय—अग्निष्टोम और राजसूय के साथ वाजपेय का भी उल्लेख भाष्य में कई स्थानों पर मिलता है। वाजपेय के कई अर्थ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सोम का नाम वाजपेय है और अन्न का भी। यह शक्ति का पेय है। इससे देवों को शक्ति प्राप्त हुई।[9] शांखायन श्रौतसूत्र के अनुसार अन्न को वाज और पान को पेय कहते हैं। इन दोनों की प्राप्ति के लिए वाजपेय करना चाहिए।[10] सत्रह की संख्या इसकी एक विशेषता है। आपस्तम्ब और ताण्ड्य ब्राह्मण दोनों के अनुसार इसमें सत्रह स्तोत्र और सत्रह ही शस्त्र हैं। इसमें प्रजापति के लिए सत्रह पशुओं की बलि का विधान है। सत्रह वस्तुएं ही दक्षिणा में दी जाती हैं।[11] वाजपेय का यूप भी सत्रह अरत्नि लम्बा होता था जिसे परिवृत करने के लिए वस्त्र के सत्रह टुकड़े काम में लाये जाते थे।[12] सत्रह दिन तक यह यज्ञ चलता था जिनमें १३ दिन दीक्षा के तीन दिन उपसद के तथा

---

१ आप० १८ ९ १०, ११ १५-२०।

२ वही १८ १०।

३ वही, १८ १६ ३ ५।

४ वही, १८ २०-७ तथा कात्या० १५-८ १ से ४।

५ लाट्या० ९ ११, कात्या० १५-८ १४।

६ लाट्या ९-९-१७।

७ आप० ९ ३-२४

८ वही ९ २ २५।

९ वाजाप्यो वा एष यार्गं ह्येतेन देवा। ऐप्सन् सोमो वै वाजपेयः। —तैत्ति०ब्रा०, १ ३४२।

१० पानं वै पेयः। अन्नं वाजः। पानं वै पूर्वमन्नाद्यम्। तयो रुभयोराप्त्यै। शांखा० श्रौ० सू०, १५ १४ से ६।

११ आप० १८ १ १२ ताण्ड्य १८-७-५।

१२ आप० १८ १ १२।

एक दिन सुत्या के लिए था। एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि इसमें प्रजापति को सत्रह सुरा के तथा सत्रह सोम के (चमस) पात्र चढ़ाये जाते थे और सत्रह अश्वरथों की दौड़ होती थी जिसका प्रारम्भ वेदी की उत्तर श्रोणी में रखी गई सत्रह दुन्दुभियाँ बजाकर किया जाता था[1] वाजपेय आधिपत्य समृद्धि या स्वाराज्य की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता था[2] और ब्राह्मण या क्षत्रिय ही इसके अधिकारी थे वैश्य नहीं।[3] इसका अनुष्ठान-काल शरद था।

सौत्रामणि—भाष्यकार ने भाक्षय-भाष्य में प्रमत्तमीढ कहकर एक श्लोक उद्धृत किया है, जो सौत्रामणि यज्ञ में ताम्रवर्णी बटियों में रखकर सुरा पीने की ओर संकेत करता है।[5] सौत्रामणि शब्द सुत्रामन् से बना है जिसका अर्थ है सम्यक् रक्षा करनेवाला। ऋग्वेद में सुत्रामन् इन्द्र का विशेषण है। यह सोमयज्ञ नहीं अपितु इष्टि और पशुमेध का मिश्रण है।[6] सुरा की आहुति इस यज्ञ की मुख्य विशेषता है। इस यज्ञ की अवधि चार दिन की होती है जिनमें प्रथम तीन दिन तक विभिन्न वस्तुओं से सुरा बनाई जाती है और चतुर्थ दिन तीन पात्र दुग्ध और तीन पात्र सुरा तथा पशुमांस से अश्विनों सरस्वती तथा इन्द्र को आहुति दी जाती है। कात्यायन भाष्य में बतलाया गया है कि सर्ज की छाल त्रिफला सोंठ पुनर्नवा चतुर्जातक-युक्त पिप्पली गजपिप्पली बंश अवका वृहच्छत्रा चित्रक इन्द्रवारुणी अश्वगन्धा धान्यक यवानी जीरक कालाजीरा दो हल्दी की गाँठ सुत्र व्रीहि और यव के अंकुर ये सब वस्तुएँ सुरा में डाली जाती हैं।[7]

अश्वमेध—अश्वमेध सर्वाधिक प्राचीन यज्ञों में है। भाष्यकार ने अश्वयूप का उल्लेख किया है।[8] आश्वलायन का मत है कि जो राजा सब कामों की पूर्ति तथा सर्वविजय चाहे वह

---

१ वही, १८४४ से ७।

२ कात्या० १४ १ १; आप० १८ १ १।

३ स वा एव ब्राह्मणस्य चैव राजन्यस्य च यज्ञः।—शै० ब्रा०, १ ३-२ तथापि ब्राह्मणा राजानश्च पुरस्कुर्वीरन् स वाजपेयेन यजेत।—कात्या० ८ ११ १।

४ शरदि वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत।—शाबरभाष्य १०-२ ६४ तथा एवं विद्वान् वाजपेयेन यजते गच्छति स्वाराज्यम्।—तैत्ति० ब्रा० १ ३-२ तथा वाजपेययाजी वाव प्रजापतिमाप्नोति।—तां० ब्रा० १८ ६ ४।

५ मधुशुम्भरवर्णानां घटानां भण्डर्क। महत् पीतं न गमयेत् स्वर्गं तत्क्षं चुयतं भवेत्।—भा० १।

६. शत० ब्रा० १२-७-२१।

७. त्वक्सर्ज त्रिफला चव शुण्ठी चैव पुनर्नवा।
चतुर्जातकसंयुक्ता पिप्पली गजपिप्पली॥
वनोत्कका वृहच्छत्रा चित्रकं चेन्द्रवारुणी।
अश्वगन्धां समुत्पाद्य मूलान्येतानि निर्दिशेत्॥
धान्यकं च यवानी च जीरकं कृष्णजीरकम्।
द्वे हरिद्रे तथा चैव विज्ञा व्रीहयो यवाः॥—कात्या० भाष्य०, १९ १-२०।

८. चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति।—१ ४ ६, पृ० ११६।

अश्वमेध करे।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में तो अश्वमेध से साम्राज्य भौज्य स्वाराज्य पारमेष्ठ्य आदि समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति बतलाई है।[2] इसका प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ल-अष्टमी या नवमी को अथवा ज्येष्ठ या आषाढ़ की इसी तिथि को याजक ब्राह्मणों को ब्रह्मौदन सहस्रों तथा सुवर्ण दिया जाता था।[3] इस समय विभिन्न सखियों-समेत राजा की चार रानियाँ उसके पास उपस्थित रहती थीं।[4] अश्व या तो काले गोल चित्तों-सहित सम्पूर्ण श्वेत होता था अथवा अग्रकृष्ण तथा शेष श्वेत अथवा श्यामपुच्छ या श्यामकर्ण होता था।[5]

अश्वमेध की प्रक्रिया भी राजसूय के समान दीर्घ और जटिल है। इसमें साल-भर तक सायंकाल धृति इष्टि की जाती[6] थी और वर्ष-भर तक ही सावित्री इष्टि जारी रहती थी, जिसमें पारिप्लव साम का गायन-श्रवण चलता था।[7] इस बीच यदि अश्व बीमार पड़ जाता या मर जाता तो कुछ अन्य इष्टियाँ करनी पड़ती थीं या अश्व को शत्रु छीन लेता तो यज्ञ नष्ट माना जाता था।

यज्ञशाला में पशुओं के बाँधने के लिए २१ यूप गाड़े जाते थे जो अरत्नि के बराबर ऊँचे रहते थे। इन यूपों में बहुत-से पशु बाँधे जाते थे और बलि दिये जाते थे। अन्त में अनेक विधियों के साथ जिनमें ब्रह्मोद्य (धार्मिक संवाद जिसमें प्रश्न पहेलियाँ तथा उत्तर होते हैं) होता था तथा अश्व की बलि करके उसके रक्त और मांस को पकाकर आहुति दी जाती थी।

अहीन—अग्निष्टोम तथा अन्य सोमयज्ञ प्रायः एकाह हैं। उनमें एक ही दिन प्रातः मध्याह्न और सायं सोम की आहुति दी जाती है। बृहस्पति सव गोसव श्येन उद्भिद

---

१ सर्वान् कामानाप्स्यन् सर्वा विजितीर्विजिगीषमाणः सर्वा व्युष्टीर्व्युष्टिप्यन्नश्वमेधेन यजेत।—आश्व० १०-६ १।

२ स य इच्छेदेवंवित् क्षत्रियमयं सर्वा जितीर्जयेतायं सर्वांल्लोकान्विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराळिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाभिषिञ्चेत।—ऐत० ब्रा०, ३९ १।

३ कात्या० श्रौ० सू०, २०-१-१ से ६ तथा लाट्या श्रौ० सू०, ९ ९ ६-७।

४ या पत्नीनां प्रियतमा यजमानस्य सा वावाता राजपुत्री। अनपचिता परिवृक्ती।—लाट्या० ९ १०-१ २।

५ शत० ब्रा० ८ ४-१-४ तथा कात्या० श्रौ० सू० २०-१-२९ से ३५ तथा लाट्या० श्रौ० सू० ९ ९ ४।

६ वाजस० सं०, २२-७-८।

७ शत० ब्रा० १३-१ ३-५ तथा विप्लुष्वत्यामि यजमानो सम्प्रेष्यति होता गमाग्निनी देवहिर्भ यजमानं सञ्जनप्लवेति।—आप० १०-७-१४, १५।

विश्वजित् और व्रात्यस्तोम भी एकाह हैं। विश्वजित् कर्ता एक सहस्र गाय अथवा अपने माम की सारी सम्पत्ति दान कर स्वयं वृक्षों के नीचे भिक्षा पर जीवन व्यतीत करता था और वर्ष भर जो मिल जाता था उसी भिक्षा पर निर्वाह करता था। गोसव का अनुष्ठान स्वराज्य का प्रदाता होता है।[1] गोसव करने के बाद एक वर्ष तक पशुव्रत का अनुष्ठान किया जाता था जिसमें पशुवत् खाने-पीने और रहने का विधान है।[2]

दो से बारह दिन तक जिन यज्ञों में सुत्याकर्म होता है, वे अहीन कहे जाते थे। इनकी समाप्ति सदा ही अतिरात्र से होती थी और इनकी सम्पूर्ण अवधि दीक्षा और उपसद को मिलाकर एक मास से अधिक नहीं होती थी। ये पूर्णिमा को प्रारम्भ होते थे। इनके त्रिरात्र (या त्रिरात्र) पंचरात्र पञ्चाह आदि वर्ग हैं। द्वादशाह की गणना अहीन और सत्र दोनों के अन्तर्गत है।[3]

अतिरात्र—भाष्य में उल्लिखित अतिरात्र एक दिन में समाप्त न होकर एक दिन और एक रात्रि बीतने पर समाप्त होता था इसीलिए इसे यह नाम दिया गया था। इसमें बहुत-सा अनुष्ठान स्तोत्र और शस्त्र अपेक्षित होते हैं। अतिरात्र स्तोत्र और शस्त्र तेरह हैं। अतिरात्र सत्या में सुत्या (सोमरस के हवन) के दिन सरस्वती देवता के लिए पशुयाग किया जाता है।

अग्निष्टुत्—यह एक सामयाग विकार है। इस याग में त्रिवृत् नाम स्तोम-पद्धति से अग्निदेवता का स्तवन किया जाता है। अनुष्ठान का प्रकार अग्निष्टोमवत् है। मन्त्र-तन्त्र में थोड़ा अन्तर है। पापमोचन और अभक्ष्य-भक्षण-पाप निवृत्ति आदि के लिए यह सामयाग भिन्न भिन्न स्तोम-पद्धतियों से किया जाता है।

सत्र—सत्र और अहीन में मुख्य अन्तर यह था कि सत्र केवल ब्राह्मण कर सकते थे किन्तु अहीन तीनों वर्णों द्वारा किया जा सकता था। सत्र वर्षों तक चलता था किन्तु अहीन बारह दिन से अधिक नहीं होता था। सत्र में यजमान पुरोहित दाता एक ही होते थे। इसलिए, उसमें दक्षिणा नहीं होती थी। अहीन का अन्तिम दिन अतिरात्र होता था। किन्तु, सत्र के प्रारम्भ और अन्त दोनों में अतिरात्र होता था। सत्रों के दो भेद किये जा सकते हैं—रात्रिसत्र और संवत्सरसत्र। दीर्घसत्रों का प्रचलन पतञ्जलि से बहुत पहले ही बन्द हो चुका था।[5]

---

१ तैत्ति० ब्रा० २-७-६।

२ तेनेष्ट्वा संवत्सरं पशुव्रतो भवति। उपावहायोदकं पिबेत्तृणानि चाच्छिन्द्यात्।

३ भाष्य० १-५-२।

४ अग्निष्टुती नामैकाहः—सोमविकृतयस्तेषु आग्नेयीऽग्निदेवत्यो निपद्य स्यात्।—सम्प्या० १४१; तत्र पीतमीयम् अग्न आगच्छ रोहिताभ्यां बृहद्भये भूमतो जातवेदो विचर्षणाङ्गिरस ब्राह्मणाङ्गिरसो बुवाण इति प्राक् सुत्यायोनान् (एतावदहे सुत्यामित्यन प्राक्)।— लाट्या० १४१।

५ ताण्ड्य० ४ १०-२।

सत्र-समाप्ति से पहला दिन जिसे महाव्रत कहते हैं बहुत मनोरंजन होता था।[1] महान् प्रजापति का वाचक है। इस दिन प्रजापति को सोम की अतिरिक्त हवि दी जाती थी और उसके लिए पशुबलि दी जाती थी। ये हवि महाव्रतीय कहलाती थी। इस अवसर पर महाव्रत साम का गान होता था और उसके बाद भद्रुलम्भन। इसके बाद आर्य-शूद्र-युद्ध ब्रह्मचारी और वेश्या का वाग्युद्ध स्त्री-पुरुष-मैथुन आदि विविध क्रियाएँ भी होती थीं जो अन्य यज्ञों में वर्जित थीं।

महाव्रत—किसी-किसी सोमयाग में महाव्रत नाम की एक विशेष विधि होती थी। यह प्रायः अग्निष्टोमादि सत्रों का अंग थी। ऐतरेय आरण्यक में इसे एकदिवससाध्य स्वतन्त्र क्रतु भी बताया है। इसमें कई मनोरंजक बातें होती थीं। आग्नीध्रीय मंडप के सामने और हविर्धान मण्डप के बीच में फैलाये हुए एक चारीदार चर्म को ब्राह्मण और शूद्र ताकत से अपनी-अपनी ओर खींचते थे। होता झूले पर बैठकर अपने मंत्र बोलता था। सुवर्णासन पर बैठकर अध्वर्यु और स्वर्ण-खचित आसन पर बैठकर उद्गाता अपने मंत्र बोलते थे। जब उद्गाता साम गाते थे तब यजमान की स्त्रियाँ सौ तारों के एक तम्बूवाद्य कर्कटी आदि अन्य वाद्यों के साथ उनका साथ देती थीं। कुछ दासियाँ सामगान के समय सिर पर पानी से भरे घड़े रखकर मार्जालीय मण्डप के उत्तर में विशिष्ट प्रकार से नृत्य करती थीं। भूमि-दुन्दुभि से गान पर ताल दिया जाता था। पश्चात् एक धनुर्धर राजपुत्र के पास टाँगे हुए चर्म पर बाण मारता था। भाष्य में महाव्रत ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख है, जिसका अनुष्ठाता महाव्रतिक कहलाता था।

अवभृथ—चातुर्मास्यों में वरुणप्रघास साकमेध और सर्व प्रकार के सोमयागों के अन्त में नदी आदि जल-प्रवाह के पास जाकर यह सोम देवता के लिए छोटी-सी इष्टि की जाती है। उसके बाद स्नान-विधि होती है। याग-समाप्ति-सूचक इस याग और स्नान को अवभृथ कहते हैं।

भाष्य में सवन और सत्र की चर्चा कई बार हुई है। सवन तीन होते हैं—प्रातः सवन को आर्भव माध्यन्दिन को अभिषवादि और साय को आदित्यारम्भण कहते हैं। ये आर्भवादि पवमान हैं।

सत्र—जिन यज्ञ के अन्त में यजमान का विशिष्ट रीति से अभिषेक करना होता था उन यज्ञों को सत्र कहते थे। ये सत्र सोमरस पर्वयागों और पुरोडाश के हवन-प्रधान कार्यों से सम्पादित किये जाते थे। ओदनसत्र में पकाये भात का होम मुख्य था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणादि क्रम से दूध घी दही और सत्तू से भरा एक-एक पात्र यजमान को देते थे। उन चारों पात्रों में चार ऋत्विक् हाथ लगाते थे एवं यजमान मंत्र बोलता था। पश्चात् यजमान होम से बचा भात खाता था। बाद में यजमान को अभिषेक कराया जाता था। भाष्य में पंचौदन सत्र आदि का बार-बार उल्लेख हुआ है।

---

१ दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च महाव्रते कश्चिदपि व्यवहरति।—भा० १, आ० ४, पृ० २१।

यज्ञशाला—यज्ञशाला के लिए प्राग्वंश शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[1] भाष्य में यज्ञशाला तथा उससे सम्बद्ध अनेक शब्द आये हैं। यज्ञशाला में अग्नीध्र और यजमान के रहने के लिए पृथक् स्थान बनाये जाते थे जिन्हें क्रमशः आग्नीध्र और आवसथ कहते थे।[2] आवसथ में रहने के कारण यजमान आवसथिक कहलाता था।[3] आवसथ के पास मूत्रादि क्रियाएँ वर्जित थीं।[4] यह संज्ञा आवसथ अग्नि के स्थान की थी।

यज्ञशाला के लिए उपयुक्त देश यज्ञिय कहा जाता था।[5] यज्ञभूमि का वह भाग जिसमें छन्दोग लोग सम्मिलित रूप से स्तुतिगान करते थे संस्ताव कहलाता था।[6] भाष्य में यज्ञभूमि के लिए देवयजन शब्द का प्रयोग हुआ है और समास नाम देवयजन का उल्लेख मिलता है।

अग्निचयन—अग्न्याधान के पूर्व श्रौतयज्ञों में अग्निचयन होता था। भाष्यकार ने इस चित्या भी कहा है। अग्निचित्या यज्ञकुण्ड और यज्ञवेदी के निर्माण की क्रिया है। अग्निचयन स्वतन्त्र और जटिल विधि है। शतपथब्राह्मण के तृतीयांश में अग्निचयन की प्रक्रिया है। प्रा॰ एग्लिंग ने सेक्रेड बुक्स ऑफ् ईस्ट की भूमिका (वाल्यूम ४३ पृ॰ १४) में लिखा है कि अग्निचयन पहले स्वतन्त्र संस्कार था और बाद में सोमयज्ञों की प्रक्रिया में सम्मिलित कर दिया गया। यज्ञवेदी ईंटों से बनाई जाती थी और उसमें प्रजापति पुत्र होने के कारण पुरुष द्वारा निर्माण करने की भावना निहित थी।[8] इस प्रकार यजमान प्राजापत्य कर्म का अनुष्ठान करके सन्तोष-लाभ करता था। पाँच चितियों (तहों) की वेदी सोमयाग का एक अंग है यद्यपि यह अनिवार्य अंग नहीं है। हाँ महाव्रत में जो गवामयन की समाप्ति के एक दिन पहले होता है उसका होना आवश्यक है। यज्ञ की नींव में एतदर्थ बलि दिये गये पशुओं के सिर भी चुने जाते थे। यजमान चाहता तो सोने या मिट्टी के बने सिर काम में ला सकता था।[9] वेदी कई प्रकार से बनाई जाती थी—यथा द्रोणचित्, रथचक्रचित्, श्येनचित्, कंकचित्, सुपर्णचित् आदि।[10] इनके लिए चौकोर तिकोनी पञ्चकोण

---

१ उपाध्यायस्य शिष्यो प्राग्वंशानि गत्वा प्रासनादीनि लभते।—१ १-५६ भा॰१, पृ॰ ११४।

२ अग्नीधः शरणमाग्नीध्रम्।—४ ३ १२०, भा॰ ९ पृ॰ २५२।

३ आवसथात् ष्ठल्।—४ ४-७४

४ दूरमावसथान्मूत्रम्।—१ १ ३५, भा॰ २, पृ॰ ४३०

५ ५ १-७१ काशिका।

६ संस्तावश्छन्दोगानाम्। समेत्य स्तुवन्ति छन्दोगा यस्मिन् सम्भेन संस्ताव इत्युच्यते।—३ ३ ३१ काशिका।

७ ६ ३ ९७ भा॰ ३ पृ॰ १५६।

८ अग्निचयनमेवाग्निचित्या अग्निचित्येति भावेऽप्योदात्तो भवति।—३ १ १३२ भा॰ १ प्राजापत्यं वा एतत्कर्म प्रजापति होतेन कर्मणारभते निरुक्ती वै प्रजापतिः।—शत॰ ब्रा॰ ६-२-२-२१।

९. कात्या॰ १६ १ ३२ तथा आप॰ ३ २-९१ तथा ३ २ ९२।

१० तैत्ति॰ सं॰ ५ ४ ११; कात्या॰ १६-५ ९ तथा श्येनचितं चिन्वीत सुवर्गकामः

आदि विविधाकार की पक्की ईंटों की आवश्यकता होती थी। भाष्य में इष्टकचित और पञ्चेष्टकचित का उल्लेख है।[1] आजकल श्येनचित वेदी का ही विशेष प्रचार है। ईंटों के परिमाण और चुने जाने के निश्चित नियम थे। इसके लिए वास्तुविद्या और रेखागणित दोनों का ज्ञान आवश्यक था। हर ईंट एक विशिष्ट मंत्रोच्चार के साथ रखी जाती थी? ईंटों के निश्चित नाम थे। 'यजुष्मती' ईंटें वेदी के मध्य भाग में लगाई जाती थीं पार्श्व या पुच्छ भाग में नहीं लगाई जा सकती थी। जिस मंत्र को बोलकर इष्टका चयन किया जाता था उसे उपधान-मंत्र कहते थे। इसी प्रकार, जिस मंत्र द्वारा ईश का उपस्थान किया जाता था वे उपस्थान-मंत्र कहलाते थे। चयन के समय बोले जानेवाले मंत्रों के आधार पर ईंटों के वर्चस्या तेजस्या पयस्या रेतस्या आश्विनी वयस्या मूर्धन्वती आदि नाम होते थे।[2] शतपथब्राह्मण के अनुसार हर तह के लिए दो सौ ईंटें आवश्यक होती थीं।[3] इस प्रकार कुल १००० ईंटों की आवश्यकता होती है। किन्हीं विकृति-यज्ञों में प्रकृति-यज्ञ से दुगुनी या तिगुनी बड़ी वेदी की आवश्यकता होती थी जिसे द्विस्तावा या त्रिस्तावा वेदी कहते थे।[4] विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा बतलाये गये चयन-काल में भी अन्तर है। इसके लिए गारा (पुरीष) चात्वाल (पास में बनाये गये गड्ढे) से खोदकर तैयार किया जाता था। यज्ञशाला का कूड़ा आदि फेंकने के लिए उत्कर या अवस्कर भी शाला के भीतर बनाया जाता था।[5]

अग्नि—अग्नि-चयन करनेवाले को अग्निचित् कहते हैं। भाष्यकार ने अनेक बार अग्निचित् शब्द का प्रयोग किया है।[6] अग्नियों में गार्हपत्य दक्षिणाग्नि और दक्षिणाग्नि की आवश्यकता श्रौत यागों में होती है। पाकयज्ञ केवल गार्हपत्य अग्नि में किये जाते हैं। गृहपति से संयुक्त होने के कारण ही इसे गार्हपत्य कहते हैं। पतंजलि ने कहा है[7] कि यदि गृहपति से संयुक्त होनेवाली अग्नि में ञ्य प्रत्यय मान लिया तो दक्षिणाग्नि में भी ञ्य प्रत्यय होना चाहिए।

छन्दश्चितं चिन्वीत यः कामयेत वीर्यावानमुष्मिँल्लोके स्यामिति। श्मशानचितं चिन्वीत यस्तुनीतं प्रतिष्ठाकामः ।— तैत्ति० सं० ५ ४ ११।

1 इष्टकचितं चिन्वीत-पञ्चेष्टकचितं चिन्वीत ।— १ १-७२, भा० २ पृ ४४।

2 ४४-१२५ से १२७ काशिका।

3 शत० ब्रा० ११-१ २२।

4 द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः, यावती प्रकृतौ वेदिस्ततो द्विगुणा वा त्रिगुणा वा कस्याश्चिद्विकृतौ तत्रेदं निपातनम् ।—५ ४-८४ का०।

5 पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्कराद् वुन् ।—४ ३-२८।

6. १ १ ३, भा० ५, पृ० ११५।

7. गृहपतिना संयुक्त इत्युच्यते तत्र दक्षिणाग्नावपि प्राप्नोति। दक्षिणाग्निरपि गृहपतिना संयुक्तः। एवं तर्हि गृहपतिना संयुक्त इत्युच्यते। सर्वत्र गृहपतिना संयुक्तस्तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते। साधीयो यो गृहपतिना संयुक्त इति। कश्च साधीयः यस्मिन् पत्नी संयाजाः क्रियन्ते। अथवा गृहपति नर्म गत्वा स यस्मिन्नुच्यते। अथवा संज्ञायामिति वर्तते।— ४-४-९० पृ० २८१।

दक्षिणाग्नि का भी संयोग गृहपति से होता है। उसमें भी गृहपति यज्ञ करता है। इसलिए, जिसका गृहपति से विशेष संयोग हो उससे प्रत्यय होता है और विशेष संयोग गृहपति का उस अग्नि से होता है जिसमें पत्नी-संयाज किये जाते हैं अथवा जिसमें गृहपति नाम का मन्त्र बोला जाता है। गार्हपत्य शब्द अग्निविशेष में रूढ़ संज्ञा भी मान सकते हैं। शाङ्खायन के अनुसार जिसमें गृहपति पाणिग्रहण करता है वह गृह्य अग्नि होती है।[1] विवाह के समय होनेवाले हवन की अग्नि को गृहस्थ सर्वदा प्रज्वलित रखता था और उसी में दैनन्दिन होम करता था। गार्हपत्याग्नि अम्बरीष या भड़भूजे के यहाँ से या शूद्र को छोड़कर अन्य किसी बहुयाजी परिवार से लाकर प्रतिष्ठित की जा सकती थी।[2] पारस्कर के अनुसार दार-काल के अतिरिक्त दायाद्यकाल में भी संयुक्त परिवार के बँटवारे के साथ विभक्त भ्राता स्वतन्त्र आवसथ्याग्नि की स्थापना कर सकते हैं।[3] आनाय्य उस विशेष दक्षिणाग्नि को कहते हैं, जो गार्हपत्य अग्नि से लेकर प्रतिष्ठित की जाती है और सदा प्रज्वलित नहीं रखी जाती। दक्षिणाग्नि वैश्य-कुल से या भ्राष्ट्र से या गार्हपत्य से लाई जाती है। दक्षिणाग्नि और आहवनीय का मूल यदि एक ही गृह्याग्नि हो तो उसे आनाय्य कहते हैं। जिस दक्षिणाग्नि का मूल कारण आहवनीय से भिन्न हो उसे आनाय्य कहकर आनय कहते हैं। यज्ञाहुतियों के अनुसार अनेक यज्ञाग्नियों के पृथक्-पृथक् नाम हैं और उनके लिए विशेष प्रकार की वेदियाँ बनाने का विधान किया गया है। उदाहरणार्थ नाचिकेत[4] निष्टसप। नाचिकेत काम्य चयन का एक भेद है। कठ महर्षि ने जिस चयन-पद्धति का प्रचार किया उसे काठक कहते हैं। ये पाँच प्रकार की होती हैं—सावित्र नाचिकेत चातुर्होत्र वैश्वसृज और अरुणकेतु। चित्य अग्नि के तीन रूप होते हैं—आरम्भ अर्थात् कुण्ड में प्रज्वलन के पूर्व तैयार अग्नि परिचाय्य संवर्धमान अवस्था की अग्नि उपचाय्य और जलकर बुझी हुई अग्नि में समूह्य कही जाती है। परिचाय्य का फल ग्रामप्राप्ति कहा गया है।[6] परिचाय्य उपचाय्य समूह्य और चित्य ये सब विभिन्न स्थितियों में यज्ञाग्नियों के नाम हैं। इनमें से प्रत्येक के चयन के भिन्न-भिन्न प्रकार और फल मान

---

१ शाङ्खा० गृ० सू० १-५ १ से ५।

२ यस्मिन्नग्नौ पाणिं गृह्णीयात्सगृह्यः—यस्मिन् वाऽन्त्यां समिधमादध्यात् अम्बरी वाद्वा भवेत बहुयाजिनो वोऽगाराच्छूद्रवर्जम्।—शाङ्खा० गृ० सू० १-५ १ से ५।

३ आवसथ्याधानं दारकाले-दायाद्यकाले एव वैश्याम्-मध्यमहायका इति श्रुते।—पार० गृ० सू० आवसथ्याधान सू० १,२, ६।

४ आनाय्योऽनित्ये-दक्षिणाग्नाविति वक्तव्यम्-आनेयोऽन्य। आनाय्योऽनित्य इति वैहत्याम्नी यत् भवेत्। एकयोनौ तु तं विद्यादानेयोऽन्योऽन्यथा भवेत्।—३-१ १२७ पृ० १९३, १९४ तथा का०।

५ योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद।—कठ० १ पृ० २३ तथा इष्टकाग्नि रचना।—पिता म० १-२-१६ का०-कव्यवाहन चिनुयात्।—१ २-१५, का०।

६. परिचाय्यं चिन्वीत ग्रामकाम।—मन० का० ५ ४ ११ ३।

७. अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्या।—समूह्यं चिन्वीत पशुकाम। पशवो वै पुरीषम्। पशूनेवास्मै तत्समूहति।—३ १ १३१ पृ० १९५।

जाते हैं। उदाहरणार्थ पशु-समृद्धि की कामनावाले को चिप्टचयाग्नि का चयन करना चाहिए।[1] समूह्याग्नि का भी फल पशु-वृद्धि है। अग्नि-चयन में प्रयुक्त होनेवाला पुरीष या गारा पशुओं का प्रतीक है। जो व्यक्ति अग्नि-चयन के लिए पुरीष एकत्र करता है वह अपने लिए पशु एकत्र करता है ऐसा समझना चाहिए।[2] कार्य के अनुसार अग्नि के हव्यवाहन कव्यवाहन पुरीष वाहन पुरीष्यवाहन आदि नाम मिलते हैं।[2] हव्य को देवताओं तक तथा कव्य को पितरों तक पहुँचाने के कारण ही अग्नि का नाम हव्यवाहन और कव्यवाहन भी है। वेद में उसे हव्यवाद् अजर और पिता कहा है। हव्यवाहन को चित्याग्नि भी कहा है।

अग्नि देवताओं तक हव्य द्रव्य पहुँचाने का माध्यम है। इसलिए, ऋग्वेद में उसे साक्षात् पुरोहित होता ऋत्विक और रत्नधातुर कहा है।[3] भाष्य में हिरण्यवर्ण और शुचि शब्द अग्नि के विशेषण के रूप में आये हैं।

समिध्—अग्नि के आधान के लिए समिधा की आवश्यकता होती है। समिधाएँ पीपल उदुम्बर, खदिर या पलाश की होती थीं।[5] इनके प्राप्त न होने पर बिभीतक बिल्वक तिल्वक बाधक नीप निम्ब राजवृक्ष शाल्मली अरलु, दधित्थ कोविदार और श्लेष्मातक को छोड़कर अन्य किसी भी वनस्पति का उपयोग यज्ञेन्धन के लिए हो सकता है।[6] समिधाएँ अरत्नि (लगभग एक हाथ) और प्रादेश (बित्ता) बराबर लम्बी काटी जाती थीं। समिधाओं का आधान विशेष ऋचाओं के उच्चारण के साथ किया जाता था। ये ऋचाएँ सामिधेनी कहलाती हैं। समिधाओं को इध्म भी कहते थे। सामिधेनी ऋचाएँ तेरह हैं किन्तु प्रथम और अन्तिम की तीन बार आवृत्ति की जाती है इसलिए वे सप्तदश सामिधेनी कहलाती हैं। सत्रह ही समिधाएँ काटी जाती हैं और प्रति ऋचा के साथ एक समिध् का अग्नि में आधान किया जाता है। एक साथ ही सत्रह प्रदेश या सत्रह अरत्नि भर लम्बी लकड़ी अग्नि में नहीं रखी जाती क्योंकि एक सत्रह अरत्नि या प्रदेश

---

१ चिप्टचयं चिन्वीत पशुकामः।—३-१ १२६, पृ०१९१।

२ कव्यपुरीषपुरीष्येषुण्युट्-हव्येऽनन्तःपादम् ।—३-२ ६५ ६६ ।

३ अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम् ।—१ १ १।

४ हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः।—४-१-७५, भा २, पृ० १८९।

५ समिध आम्बरा-(औदुम्बराः खादिरा. पालाशास्तदभावे यज्ञियाः पञ्चदश समिधो ऽभ्यादधाम।—आप०श्रौ० सू० १-२ २१ अध्ययनश्रुति ।

६ अवेम्यानुपलभ्यते खादिरम् वा पालाशान् वा०। खादिरपालाशाभावे बिभीतक बिल्वकतिल्वकबाधकनीपनिम्बराजवृक्षशाल्मल्यरलुदधित्थकोविदारश्लेष्मातकवर्जं सर्ववनस्पतीनामिध्मो यथार्थं स्यात् ।—गोभिल गृ० सू० प्रपा० १ ख ५, स० १४, १५।

७. यामे समिन्धनार्थी ऋचः सामिधेन्यः (आश्व०भाष्य० १ ९-३) तथा इन्धेऽह्वाएत-दध्वर्युरिध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम। समिन्धे सामिधेनीभिर्होता तस्मात्सामिधेन्यो नाम।—शत०ब्रा० १ ३ ५ १।

८ सप्तदशसामिधेन्या अन्वाहेति त्रि: प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामित्यावृत्तिः सप्तादशार्थं भवति।—आ० २ प० ४१।

मर लम्बा काष्ठवेणी में समा नहीं सकता दूसरे प्रति प्रणव एक समिध् रखने का विधान है।[1] बाल०(१-२ ७)के अनुसार ऋग्वेद की ३-२७-१ १६ १० मे १२ ३ २७-१ मे १५ १ १२ १ (३ २७-४ ५ २८ ५ और ६) ये ११ सामिधनी ऋचाएँ हैं। दर्शपौर्णमास में पन्द्रह सामिधनी अपेक्षित होती हैं। अतः (प्रवो वाजा ऋग्० ३ २७-१) प्रथम तथा (आजुह्वान ५-२८ ६) अन्तिम का तीन-तीन बार आवृत्ति कर यह संख्या पूरी की जाती है। सामिधनी एक श्रुति में पढ़ी जाती है। भाष्य में पलाश और अश्वत्थ की समिधाओं का नामपूर्वक उल्लेख किया है।[2] विशिष्ट सामिधनी को धाय्या कहते हैं।[3]

हविष्य—यज्ञाहुति द्रव्यों में आज्य का स्थान प्रमुख है। यज्ञ के हविष्य घृत को आज्य कहते हैं। भाष्य में उसे रस कहा गया है। यव तिल और व्रीहि के चावलों की आहुति सामान्य है।[4] तण्डुल चरु और बलि दोनों के काम आते हैं। चरु गार्हपत्याग्नि से अंगार लेकर चूल्हे पर अन्वाधानादि पूर्वक सजाये पकाये गये चावलों को कहते हैं। अग्नि में पकाये जाने के कारण चरु अग्निमान्-सा कहा गया है।[5] जिन चावलों से चरु बनाया जाता है वे चरव्य तण्डुल कहलाते हैं। दूध में पकाये गये तण्डुलों को पयसि चरु कहते हैं। तण्डुल (पकाये हुए) बलि के काम भी आते हैं इसलिए उन्हें बाल्य भी कहते हैं। पुरोडाश भी व्रीहि के पिष्ट का बनता है। व्रीहि का पुरोडाश व्रीहिमय कहलाता है।[9] पुरोडाश छोटी-मोटी रोटी के समान होता है। पुरः या पहली आहुति के रूप में चढ़ाये जाने के कारण इसे पुरोडाश कहते हैं।[10] आमिक्षा की भी हवि होती है जो आमिक्ष्य या आमिक्षीय कही जाती है।[11] इसे बिना मापवाले के बनाये हुए दूध में प्रातःकाल के गर्म दूध को डालकर बना दी जाती है। गर्म दूध में दही डालने पर उसके दो भाग हो जाते हैं। घनीभूत भाग आमिक्षा और जल-रूप भाग वाजिन कहलाता है। चरु दधि और मधु

---

१ सप्तदश सामिधन्यो भवन्तीति न सप्तदशारत्निमात्रं काष्ठमन्वाधानायोपते। विषम उपन्यास। प्रणवं प्रति हि तत्कम चोद्यते सम्भवतश्चाप्यो वेदाच। यथा तर्हि सप्तदश-प्रादेशमात्रारात्निवत्यो समिधो भ्यादधाति न प्रादेशमात्रं काष्ठमभ्यादधीत। अत्रापि प्रति प्रणव चैतत्कम चाद्यते तुल्यत्वात्सम्भवो न्यो वेदो च।—भा० २ पृ० ६२।

२ वही तथा पालाशी समिध।—४ ३ ११५ पृ० २६६।

३ २ १ १२९

४ अध्येतव्यमर्थस्यार्थं रसनम्-आज्यम्।—२ १ १०६, भा० २ पृ० १८५।

५ ४ ३ १४८, १४९।

६ ८ २-१५, पृ० ३३९।

७ चरव्यास्तण्डुलाः।—५ १-२ भा० ३ पृ० २९५।

८ बाल्यास्तण्डुलाः।—५ १ ११ भा० ३०४।

९ व्रीहेः पुरोडाशो।—४ ३ १४८

१० पुरोडाशः पुरः दाश्यते दीयते इति।—३-२-७१ पृ० २२७।

११ हविरपूपादिभ्यो विभाषाया अवकाशः आमिक्षम् आमिक्षीयम् पुरोडाशम्। पुरोडाशीयम् ५ १-२ भा० ३ पृ० २९५।

जाते हैं। उदाहरणार्थ पशु-समृद्धि की कामनावाले को त्रिष्टब्वर्णाग्नि का चयन करना चाहिए।[1] समूह्याग्नि का भी फल पशु-वृद्धि है। अग्नि-चयन में प्रयुक्त होनेवाला पुरीष या गारा पशुओं का प्रतीक है। जो व्यक्ति अग्नि-चयन के लिए पुरीष एकत्र करता है वह अपने लिए पशु एकत्र करता है ऐसा समझना चाहिए।[2] काशिका के अनुसार अग्नि के हव्यवाहन कव्यवाहन पुरीषवाहन पुरीष्यवाहन आदि नाम मिलते हैं।[3] हव्य को देवताओं तक तथा कव्य को पितरों तक पहुँचाने के कारण ही अग्नि का नाम हव्यवाहन और कव्यवाहन भी है। वेद में उसे हव्यवाट् अमर और पिता कहा है। हव्यवाहन को चित्याग्नि भी कहा है।

अग्नि देवताओं तक हव्य द्रव्य पहुँचाने का माध्यम है। इसलिए ऋग्वेद में उसे साक्षात् पुरोहित होता ऋत्विक् और रत्नभासुर कहा है।[4] भाष्य में हिरण्यवर्ण और शुचि शब्द अग्नि के विशेषण के रूप में आये हैं।

समिध्—अग्नि के आधान के लिए समिधा की आवश्यकता होती है। समिधाएँ पीपल उदुम्बर, खदिर या पलाश की होती थी।[5] इनके प्राप्त न होने पर विभीतक बिल्वक तिल्वक बाधक नीप निम्ब राजवृक्ष शाल्मली अरलु, दधित्थ कोविदार और श्लेष्मातक को छोड़कर अन्य किसी भी वनस्पति का उपयोग यज्ञेध्म के लिए हो सकता है।[6] समिधाएँ अरत्नि (लगभग एक हाथ) और प्रादेश (बित्ता) बराबर लम्बी काटी जाती थी। समिधाओं का आधान विशेष ऋचाओं के उच्चारण के साथ किया जाता था। ये ऋचाएँ सामिधनी कहलाती हैं। समिधाओं का इध्म भी कहते थे। सामिधानी ऋचाएँ तेरह हैं किन्तु प्रथम और अन्तिम की तीन बार आवृत्ति की जाती है इसलिए वे सप्तदश सामिधेनी कहलाती हैं। सत्रह ही समिधाएँ काटी जाती हैं और प्रति ऋचा के साथ एक समिध् का अग्नि में आधान किया जाता है। एक साथ ही सत्रह प्रदेश या सत्रह अरत्नि-भर लम्बी लकड़ी अग्नि में नहीं रख दी जाती क्योंकि एक सत्रह अरत्नि या प्रदेश

---

१ त्रिष्टब्वर्णं चिन्वीत पशुकाम।—४-१ १२१, पृ० १९१।

२ कव्यपुरीषपुरीष्येषण्युट्-हव्येऽनन्तःपादम्।—३-२ ६५ ६६।

३ अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्।—१ १ १।

४ हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः।—७-४-४७, भा० ३, पृ० १८९।

५ समिध आश्वत्थ्य-(औदुम्बर्यः खादिराः पालाशास्तदभावे यज्ञिया वृक्षास्तत्र समिधोऽभ्याधाय।—आश्व० गृ० सू० १ २ २१ नारायणवृत्ति।

६. अमेध्यानुपलभ्यते खादिरान् वा पालाशान् वा०। खादिरपालाशाभावे विभीतक बिल्वकतिल्वकबाधकनीपनिम्बराजवृक्षशाल्मल्यरलुदधित्थकोविदारश्लेष्मातकवर्जं सर्ववनस्पतीनामिध्मो यथार्थं स्यात्।—बौधा० गृ० सू० प्रपा० १ ख० ५, सू० १४ १५।

७ आग्ने समिध्यमानाय ऋच सामिधेन्य (आश्व०भाष्य० १ २ ३) तथा इन्धेह्वा एत-दध्वर्युरिध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम। समिन्ध सामिधेनीभिर्होता तस्मात्सामिधेन्यो नाम।—शत० ब्रा० १ ३-५ १।

८. सप्तदशसामिधेन्या अन्वाहेति त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामित्यावृत्तिः सप्तदशार्थं भवति।—भा० २ पृ० ४१।

भर लम्बा काष्ठ वेदी में समा नहीं सकता दूसरे प्रति प्रणव एक समिध् रखने का विधान है।[1] माश्व० (१ २-७) के अनुसार ऋग्वेद की ३ २७-१ १९ १० से १२ २७-१३ से १५ १ १२ १ (३-२७-४ ५ २८ ५ और ६) ये ११ सामिधेनी ऋचाएँ हैं। दर्शपौर्णमास में पन्द्रह सामिधेनी अपेक्षित होती हैं। अतएव (प्र वो वाजा ऋग्० ३-२७-१) प्रथम तथा (आजुह्वान ५ २८ ६) अन्तिम को तीन-तीन बार आवृत्ति कर यह संख्या पूरी की जाती है। सामिधेनी एक श्रुति में पढ़ी जाती है। भाष्य में पलाश और अश्वत्थ की समिधाओं का नामपूर्वक उल्लेख किया है।[2] विशिष्ट सामिधेनी को धाय्या कहते हैं।[3]

हविष्य—यज्ञाहुति द्रव्यों में आज्य का स्थान प्रमुख है। यज्ञ के हविष्य घृत को आज्य कहते हैं। भाष्य में उसे रस भी कहा है। यव तिल और व्रीहि के चावलों की आहुति सामान्य है।[4] तण्डुल चरु और बलि दोनों के काम आते हैं। चरु गार्हपत्याग्नि से अंगार लेकर चूल्हे पर मन्त्रोच्चारणादि पूर्वक यज्ञाय पकाये गये चावलों को कहते हैं। अग्नि में पकाये जाने के कारण चरु अग्निमान्-सा कहा गया है।[6] जिन चावलों से चरु बनाया जाता है वे चरव्य तण्डुल कहलाते हैं। दुग्ध में पकाये गये तण्डुलों को पयसि चरु कहते हैं। तण्डुल (पकाये हुए) बलि के काम भी आते हैं इसलिए उन्हें बाल्य भी कहते हैं। पुरोडाश भी व्रीहि के पिष्ट का बनता है। व्रीहि का पुरोडाश व्रीहिमय कहलाता है।[9] पुरोडाश छोटी-मोटी रोटी के समान होता है। पुरः या पहली आहुति के रूप में चढ़ाये जाने के कारण इसे पुरोडाश कहते हैं।[10] आमिक्षा की भी हवि होती है जो आमिक्ष्य या आमिक्षीय कही जाती है।[11] यह मिश्रा सायंकाल के जमाये हुए दूध में प्रातःकाल के गर्म दूध को डालकर बनाई जाती है। गर्म दूध में दही डालने पर उसके दो भाग हो जाते हैं। घनीभूत भाग आमिक्षा और जल-रूप भाग वाजिन कहलाता है। चरु दधि और अपूप

---

१ सप्तदश सामिधेन्यो भवन्तीति न सप्तदशारत्निमात्रं काष्ठमन्वाधायापीयते। विषम उपन्यासः। प्रत्यृचं चेद् हि तत्कर्म चोद्यते सप्तदशारत्नी वेदाः स्युः। यथा तर्हि सप्तदश-प्रादेशमात्रारात्न्यः समिधोऽभ्यादधति न प्रादेशमात्रं काष्ठमभ्याधीयते। अत्रापि प्रति प्रणवं चैव तत्कर्म चोद्यते तुल्यञ्चासम्बद्धोऽन्यो वेदो च।—भा० २, पृ० ६२।

२ नही तथा पालाशी समित्।—४ ३ ११५ पृ० २९६।

३ ३ १ १२९

४ अभ्येधोपसंख्यानं कर्तव्यम्-भाष्यम्।—३ १ १०९, भा० २ पृ० १८५।

५ ४ ३-१४८, १४९।

६ ८ २ १५, पृ० ३३९।

७ चरव्यास्तण्डुला।—५ १ २ भा० ३ पृ० २९५।

८ बाल्यास्तण्डुलाः।—५ १ ११ पृ० ३०४।

९ व्रीहेः पुरोडाशे।—४ ३ १४८

१० पुरोडाशः पुरः दाश्यते दीयते इति।—३-२-७१ पृ० २२७।

११ हविरपूपादिभ्यो विभाषाया अवस्थाः अमिक्ष्यम् आमिक्षीयम् पुरोडाश्यम्। पुरोडाशीयम् ५ १ २ भा० ३ पृ० २९५।

एक साथ भी हवि के काम आते हैं। भाष्य में चरु को अपूपवान् दधिमान् सरस्वतीमान् और भारतीमान् कहा है।[1] स्थाली में परिपक्व ओदन या स्थाली पाक हवि कहलाती है। जिस देवता को स्थालीपाक की हवि दी जाती है उसी के नाम पर स्थालीपाक का नाम रख दिया जाता है। जैसे ब्रह्मा देवता को स्थालीपाक की 'ब्राह्म' संज्ञा होती है।[2] इसी प्रकार देवताओं के नाम पर चरु भी आग्नेय कालेय आदि कहलाते हैं।[3] चरु या पुरोडाश जितने कपालों में पकाये जाते हैं, उनके अनुसार उनके नाम होते हैं—यथा अष्टाकपाल चरु पंचकपाल पुरोडाश आदि। हवि या आहुति का नाम होम के आधार पर भी होता है—जैसे स्विष्टकृत् होम में दी जानेवाली आहुति सौविष्टकृती होती है। यवागू हवि का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। जिन यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी उनमें वसा-मांसादि की आहुति होती थी।[5] आहुति की बलि भी भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम पर चढ़ाई जाती थी।[6] बलि देनेवाले को बलिकर कहते हैं।[7]

सान्नाय्य—सोमपायी अग्निहोत्री अग्निहोत्र में अमावस्येष्टि को इन्द्राग्नि के बदले इन्द्र या महेन्द्र को आहुति देते हैं। इनका हविर्द्रव्य पुरोडाश से भिन्न होता है। वे अमावास्या की रात्रि को दूध जमा देते हैं और अगले दिन उस जमे दही और तपाये हुये दूध के मिश्रण का हविर्द्रव्य बनाते हैं। दही और दूध के इस मिश्रित हवि को सान्नाय्य कहते हैं।

पशुबलि—यज्ञों में पशुबलि की प्रथा थी किन्तु सब यज्ञों में पशुबलि आवश्यक नहीं थी। जिन यज्ञों में बलि दी जाती थी उनमें भी पशु की बलि करना वैकल्पिक था।[8] भाष्यकार ने पशु और अनड्वान को वैकल्पिक रूप से मेध्य कहा है। गौ और अज मुख्य बलिपशु थे।[9] गो में गाय और बैल दोनों सम्मिलित थे। स्थूलपृषती अनड्वाही मेध्य मानी जाती थी। भाष्यकार ने स्थूलपृषती शब्द के अर्थ पर सन्देह करते हुए कहा है कि स्थूल और पृषत्वाली अथवा बड़े-बड़े पृषत्वाली ये दोनों अर्थ इस शब्द के हो सकते हैं। केवल स्वर ज्ञान से ही जाना जा

---

१ सरस्वतीवान् भारतीवान् अपूपवान् दधिवांश्चरुरित्यत्र न प्राप्नोति। —८-२-१५, पृ० ३३९

२ ब्रह्मा देवताऽस्य स्थालीपाकस्य ब्राह्मः स्थालीपाकः। —७-३-१९, पृ० १८४

३ अग्निर्देवताऽस्याग्नेयः कलिर्देवताऽस्य कालेयश्चरुः। —४-२-७, पृ० १६९ तथा अमावास्यामग्नये च आहुतिमप्रावाप्स्यत्। —१-२-१, भा० पृ० २०५।

४ अष्टाकपालं चरुं निर्वपेत् हविर्योति किम् अष्टाकपालं ब्राह्मणस्य। —६-३-४६, भा० २, पृ० ३३४।

५ इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं यज। —२-३-६१, पृ० ४४८।

६ कुबेराय बलिः महाराजाय बलिः। —२-१-३६ काशि०।

७ बलिकार। —३-२-२१।

८ मेध्यः पशुर्विभाषितः मेध्योऽनड्वान् विभाषित इति। न तद्विधार्थेनानड्वाहा अनड्वानिति। किं तर्हि आलम्भ्यो गोवेतव्य इति। —१-१-४४, भा० १५, पृ० २६३।

९ गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीय इति न बाहीकोऽनुबन्ध्यते। —१-१-१५, पृ० १८७।

सकता है कि कैसी गाय आलम्भन के लिए उपयुक्त होती है।[1] गौ शुक्ल और कृष्ण दोनों प्रकार के मेध्य थे। जहाँ शुक्ल का विधान है वहाँ शुक्ल की ही बलि उपयुक्त मानी जाती थी। इसी प्रकार, कृष्ण गौ के विषय में समझना चाहिए।[2] गौ के मारने उसमें धुआँ देने और उस भेंट में देने का भी भाष्य में उल्लेख है।[3] अज की बलि अग्नीषोम और इन्द्राग्नि को दी जाती थी।[4] यज्ञ के लिए सामान्य पशु की बलि का भाष्य में कथन है। पशु की बलि चढ़ाने का अर्थ पशु को अग्नि में प्रक्षिप्त करना माना जाता था।[5] एक स्थान पर इन्द्राग्नि को छाग की हवि वसा और मेदस् चढ़ाने का भी उल्लेख है।[6] केवल अग्नि के लिए भी छाग वसा और मेदस् की आहुति का विधान ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है।[7]

पशुमेध स्वतन्त्र यज्ञ भी है और सोमयाग का अंग भी। प्रथम को निरूढ-पशुबन्ध कहते हैं और द्वितीय को सौमिक।[8] निरूढ पशु अग्नीषोमीय पशु का ही दूसरा रूप है। पशुमेध वार्षिक (वर्षा ऋतु में) या उत्तरायण और दक्षिणायन का प्रारम्भ होने पर किये जाते थे। चातुर्मास्य यज्ञों के लिए आवश्यक पाँच पुरोहितों के अतिरिक्त पशुबन्ध में प्रशास्तृ नामक छठे पुरोहित की भी आवश्यकता होती थी जिसे मैत्रावरुण भी कहते थे।

सोम—अग्निचित् के समान सोमसुत् का भी भाष्य में बार-बार उल्लेख मिलता है। ऋतुओं में सोमसुत्या का दिन मुख्य माना जाता था। सोम के अभिषवण की बड़ी लम्बी प्रक्रिया श्रौतयाग के ग्रन्थों में दी है। कुछ लोग सोमवल्ली के विक्रय का व्यवसाय करते थे। वे मूजवन्त पर्वत से सोम लेकर उसे गाड़ियों पर लादकर बेचने निकलते थे। अध्वर्यु उस वस्तु से सम्बन्धित कर पूछता था 'सोमविक्रयिन् क्या तुम सोम बेचते हो?' विक्रयी उत्तर देता था 'हाँ बेचता हूँ।' अध्वर्यु पूछता था 'क्या ये मूजवत् से लाये गये हैं?' विक्रयी 'हाँ' में उत्तर देता था। फिर अध्वर्यु इसी प्रकार वार्तालाप करता हुआ छाग या वस्त्र या हिरण्य से सोम खरीदता था। मास्नापन क्रयणानुमन्त्रण क्रयणानुगमन मन्त्रपाठ सोमोपस्थान क्रयगताभिमन्त्रण सोमविमान सोम वेष्टन सोमावेक्षण शकट-परिवहन उपस्तम्भन आसन्दी-प्रतिष्ठापन आदि क्रियाएँ क्रम से

१ स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेतेति-तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती। तां ना व्याकरण स्वरतो व्यवस्यति।—आ० १ पृ ३।

२ शुक्लमालभेत कृष्णमालभेत। तत्र न शुक्ल आलब्धव्ये कृष्णमालभते नहि तेन यथोक्तं कृतं भवति।—१ १ १ वा० ११ पृ० १०६।

३ गां घ्नन्ति गां प्रधूमयन्ति गां समासद्भ्य उपहरन्ति।—२-३-१० पृ० ४४८।

४ गौरपुत्रभ्यामग्नीषोमीय।—१ १ १५, पृ० १८७ इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपा मेदः प्रस्थितं यज।—२ ३ ६१ पृ० ४४८।

५ पशुं ना वै यजते। पशुं छागय दद्यानीत्यर्थं। अग्नौ क्षिप्त पशुः प्रक्षिप्यते तद् पाकोपलक्षित इति।—१ ४ ३२, पृ० २६९।

६ अग्नये छागस्य हविषो वपायाः मेदसः प्रेष्य(या) अनुब्रूहि।—२ ३ ६१, काशि०।

७ ब्राह्म० ३-८ ३ ४।

८ १ १ ३ वा० ५, पृ० ११५ तथा १ ४ २ वा० १४ पृ० १२१।

सम्बद्ध थी।[1] फिर वसतीवरी जल से उसका आप्यायन होता था।[2] वह गोचर्म पर फैलाया जाता था[3] और पत्थर से पीसा जाता। इसीलिए इसे अद्रिसुत अद्रिदुग्ध और अद्रिसंहत कहते थे।[4] भाष्य में भी इसे अद्रिभिःसुतम् कहा है।[5] सोम पीसने-छानने की क्रिया आसुति कहलाती थी।[6] सोम के रस निकालने की क्रिया को सुत्या (३ ३ ९९) कहते थे। सोमसुत् को सुत्वा भी कहते थे (३ २ १०३)। सुत्वन् यजमान की संज्ञा थी। कुछ सत्रों में जहाँ याजक स्वयं यजमान रहते थे और सत्री कहलाते थे सुत्वन् माने जाते थे। पाणिनि ने प्रमुख कर्तृक रूप से सुत्या करनेवाले को सुत्वन् कहा है। इसमें दूध घी आदि भी मिलाये जाते थे। ये सब क्रियाएँ पवन कहलाती थी।[8] सम्भवतः सोम पकाया भी जाता था इसीलिए बहुवचन में 'श्राता सोमाः' और एकवचन में 'श्रित सोम' ये विशिष्ट वैदिक प्रयोग मिलते हैं, जिनकी निपातन-साधुता पर भाष्यकार ने भी विचार किया है।[9]

सोम मधु मिलाकर पिया जाता था। इसे सोम्यमधु कहते थे।[10] इसे पीने के अधिकारी ब्राह्मण भी सौम्य कहे जाते हैं।[11] याज्ञिक परम्परा के अनुसार जिसकी दस ऊपरी पीढ़ियों में कोई पुरुष ब्राह्मण-कर्तव्य-विहीन न हुआ हो वही ब्राह्मण सोमपान का अधिकारी हो सकता है।[12] यदि किसी कारण सोम उपलब्ध न हो सकता तो उसके स्थान पर पूतीक तृणों की सुत्या की जा सकती थी किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सोम के उपयोग की उपेक्षा कर दी जाय।[13]

सोम विक्रय कुत्सित कर्म माना जाता था और इसीलिए सोम बेचनेवाले को सोमविक्रयी

---

१ श्रौतपदार्थनिर्वचन पृ० २६८ से २७८ ।

२ यदद्भिः परिषिच्यसे मृज्यमानो गभस्त्योः ।—ऋग्० ९ ६५ ६ ।

३ एष सोमो अधि त्वचि गवां क्रीळति अद्रिभिः ।—ऋग्० ९ ६-२९ तथा अव्ये अधि त्वचि । ९ १०१ १६ ।

४ अद्रिसुतः ।—ऋग्० ९-७२ ४ अद्रिदुग्ध ।—९-५४ ९; अद्रिसंहत ९ ९८-६, वही।

५ ६ १ ११५, भा० ३ पृ० १७४।

६ आसुतिं करिष्ठ ।—६ ४ १५४, पृ० ४९३ ।

७. ३-२-११२, संयोगग्रहणं प्रधानकर्तृकप्रतिपत्त्यर्थम्-याजकेषु मा भूत् ।—काशिका ।

८. सोमं पवमान ।—२ ३ ६९ भा० २, पृ० ४५६ ।

९. श्रिता श्रितमिति किं निपात्यते? श्रीणातेः श्री आभावश्चमिमावौ निपात्येते ।—सोमस्तुत्ये भाषायामन्यत्र श्रिमाण ।—६ १ ३६, पृ० ६२ तथा ऋग्० ९-८ ६-७ तथा ९-८६ १० ।

१० अथैव सौम्यं मधु पिबन्ति ।—का० ४ ४ १३८ ।

११ सोममर्हति यः-सोममर्हन्ति सौम्याः ब्राह्मणाः ।—वही ४-४ १३७ ।

१२ एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति-दशपुरुषानूकं यस्य गृहे शूद्रा न पिबेरन् स सोमं पिबेदिति ।—४ १ ९३ भा० ५ । पृ० १२० ।

१३ वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतीकतृणान्यभिषुणुयादित्युच्यते न च तत्र सोमोऽभूतपूर्वो भवति ।—१ १-५६ भा० ११ पृ० १४१ ।

कहते थे किन्तु धान्य बेचनेवाले को धान्य-विक्रय। प्रत्यय का यह अन्तर कुत्सा-द्योतन के लिए था।[1]

यज्ञपात्र—अन्य जिन पात्रों की विकृति यज्ञों में आवश्यकता होती है उन्हें यज्ञपात्र या यज्ञायुध कहते हैं। इनमें से भाष्य में निम्नलिखित का उल्लेख हुआ है।

स्फ्य—खदिर के[2] काष्ठ से बना हुआ अरत्नि बराबर लम्बा और चार अंगुल चौड़ा खड्ग इति यज्ञ-साधन 'स्फ्य' कहलाता है[3] जिससे यज्ञभूमि में माप के अनुसार रेखाएँ खींची जाती हैं।

कपाल—मिट्टी से बनाकर अग्नि में पकाया हुआ दो अंगुल ऊँचा पात्र जो पुरोडाश भूनने के काम आता है, कपाल कहलाता है। जिस पुरोडाश में जितने कपालों का विधान होता है, उतने कपाल इकट्ठे कर गार्हपत्याग्नि के पीछे या पश्चिम भाग में रख दिये जाते हैं। किसी पुरोडाश में एक ही कपाल की आवश्यकता होती है और किसी में अधिक की। ये कपाल पुरोडाश सिद्ध करने के हेतु अग्नि पर रखे जाते हैं और 'भृगूणामङ्गिरसां च तपसा तप्यध्वम्' इत्यादि मन्त्र पढ़ जाते हैं। भाष्यकार ने कहा है कि मन्त्र न पढ़ें तो भी अग्नि कपालों को तपानेवाली हो क्योंकि तपाना अग्नि का काम ही है। तो भी मन्त्र पढ़ते हैं क्योंकि मन्त्रपूर्वक की गई क्रिया अभ्युदय कारिणी होती है।[4]

शोधन-पात्र—शूर्प[5] उलूखल[6] मुसल हविष्यान्नों के शोधन के काम आते हैं। कृष्णाजिन व्रीहि आदि के अवहनन के समय उलूखल के नीचे रखा जानेवाला कृष्णमृग का चर्म है। उलूखल पलाश के काष्ठ से बना आठ अंगुल ऊँचा होता है जो कि पुरोडाश-सम्बन्धी व्रीह्यादि के साफ करने में काम आता है। मुसल खदिर के काष्ठ से बनाया जाता है और शूर्प बाँस से बना होता है। शम्या ... का साधन काष्ठ है जिसका अग्रभाग ... का पतला है।[7] पीसने की शिला को दृषद कहते हैं।[8] पीसनेवाला ऊपर का पत्थर उपला कहलाता है। पलाश काष्ठ से बनी हुई अग्निहोत्र हवणी के समान मुख्य होम का साधन जुहू होता है। जुहू के द्वारा आहुति दी जाती है।[9] स्रवति आज्यादि द्रव्यमस्मात् इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्रुव के द्वारा आज्य की

---

१ कर्मणा निर्विविक्रय—कर्मणि कुत्सित इति वक्तव्यम्-इह मासूप धान्यविक्रायः।—१ २-९२, आ० १, पृ० २११।

२ खैरे याज्ञिका संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषाल इति।—१ १ १ आ० ४, पृ० ९५।

३ ४ १-८८, आ० २ पृ० १०० तथा काशिका।

४ अग्नीकपालान्यधिश्रित्याभिमन्त्रयते भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमिति। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि सन्तापयति।—आ० १, पृ० १९।

५ ५ १ २०, पृ० ३१२।

४ अवहननायोलूखलम्।—२-१ ३६ आ० १ पृ० २८८।

६ १ १-५०, आ० २ पृ० १०७।

७. खादिरेतरशम्यम् पीतद्रुतरशम्यम्।—२ १ १, आ० २९, पृ० १५८।

८. वही आ० २७।

९ जुहोति-हूयते चौर्यरत्न-जुहूः।—१ २ १७८, आ० ३ पृ० २८१।

आहुति दी जाती है।[1] स्रुव खदिरकाष्ठ से बनता है और अरत्नि-भर लम्बा और आगे अंगूठ की गाँठ के बराबर गहरा होता है। उपभृत नाम जुहू के पास धारण किये जाने के कारण दिया गया है। यह अश्वत्थ-काष्ठ से बनता है और जुहू जैसा ही होता है। याग की समाप्ति-पर्यन्त वेदी पर रहने के कारण विकंकत वृक्ष के काष्ठ से बना जुहू-सदृश पात्र ध्रुवा कहलाता है।[2] प्राशित्र वह हुतशेष हविर्भाग होता है जो ब्राह्मणों को दिया जाता है। प्राशित्र को लेने के काम का पात्र प्राशित्रहरण कहलाता है।[3] इडा का अर्थ है हविष्। उसके आधार-पात्र को इडापात्र कहते हैं। इडापात्र अश्वत्थ-काष्ठ से बना हुआ चार अंगुल का लम्बा होता है।[4]

यूप—पशुबन्ध के लिए यूप की आवश्यकता होती थी। यूप के लिए अध्वर्यु तक्षा को लेकर उस स्थान में जाता था जहाँ वृक्ष होते थे।[5] यूप पलाश खदिर बिल्व रोहितक या किसी एक वृक्ष का बनता था। भाष्यकार ने कहा है कि यद्यपि किसी भी ऊँचे काष्ठ को गाड़कर पशु बाँध सकते हैं तो भी याज्ञिकों ने नियम किया है कि यूप बिल्व या खदिर का हो क्योंकि ऐसा करना अभ्युदयकारी होता है।[6] वेद में स्फ्य यूप और चषाल ये पारिभाषिक शब्द हैं। व्युत्पत्ति से इनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। याज्ञिकों को इन शब्दों का उपयोग करते देखकर अन्य लोग भी जान लेते हैं कि यह इनकी संज्ञा है।[7]

भाष्यकार ने यूप के लिए बिभीतक और चषाल के लिए खदिर वृक्ष का काष्ठ ग्राह्य कहा है।[8]

यूप बनाने के बाद वृक्ष का जो भाग बच जाता है उससे तक्षा चषाल बनाता है। चषाल चार अंगुल ऊँचा होता है। यूप ऊपर की ओर अष्टकोण होता है और चषाल भी। चषाल खूंटे से यूपाग्र में पगड़ी की तरह फँसा रहता है।

यूप को वेदि-भाग में काटते और यूपावट के आगे रखते थे। बाद में उत्तर वेदी के उत्तर भाग में खड़ा करके जल से उसका प्रोक्षण करते थे। भाष्यकार ने इस विधि की ओर संकेत किया है।[9] ऋग्वेद-काल में यज्ञयूप के लिए स्वरु शब्द अधिक प्रचलित था।[10]

१ १ १ ४९, पृ० १०० ।

२ ध्रुवा ।—७-३-४५, भा० ५, पृ० १८९ ।

३ ५ ४ ४२, पृ० ४९४ तथा ५ १ १७ पृ० ३६४ ।

४ सत्या० श्रौ० सू० २-५ १ टिप्पणी ।

५ कात्या० ६ १-५, आप० ७-१ १५ ।

६ बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यादित्युच्यते । यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते । यत्तच्च यत्नेन किञ्चिदेव काष्ठमुच्छ्रित्यानुच्छ्रित्य वा पशुरनुबन्धुम् । तत्र नियमः क्रियते । एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवति ।—भा० १, पृ० १९ ।

७. वेदे याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषाल इति । तत्र भवतामुपचारादन्येऽपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति ।—१ १ १ भा० ४ पृ० ९५ ।

८ वैभीतको यूपः खादिरं चषालम् ।—५ १ १, भा० ६, पृ० २९६ ।

९ ५-२-९४ भा० २, पृ० ४१० ।

१० इट विल बी परहेप्स मियरर दि ट्रुथ टु से दैट दि वर्ड 'स्वरु' वाज मोर पापुलैरिली नोन दैन यूप ।—सर्विकाइसिस इन ऋग्वेद, पृ० ७७ ।

याजक—जो व्यक्ति अपने कल्याण के लिए यज्ञ करता है, उसे यजमान और जो यजमान के कल्याण के लिए उसके व्यय से उस यज्ञ कराता है उसे याजक कहते हैं। याजक दक्षिणा और लाभ की आशा से यजमान को यज्ञ कराते थे। इसीलिए, यज् धातु का प्रयोग यजमान के साथ आत्मनेपद में तथा याजक के साथ परस्मैपद में उपयुक्त माना गया है। 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (१ ३-७२) के भाष्य में पतञ्जलि ने 'कर्त्रभिप्राये' की उपयोगिता पर प्रश्न करते हुए उत्तर में 'यजन्ति याजका' उदाहरण दिया है और फिर शंका की है कि क्रिया का फल तो याजकों का भी मिलता है। वे दक्षिणा में गायों की आशा करते हैं और वे उन्हें मिलती हैं। इसलिए उनके साथ भी आत्मने पद का प्रयोग होना चाहिए। इस बात के उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि या तो प्रत्येक कर्त्ता को क्रिया का फल मिलता है। इसलिए, यहाँ फल की प्रधानता माननी चाहिए। यजमान को यदि क्रिया का फल बिना यज्ञ किये नहीं मिलता, किन्तु याजक को यज्ञ के बिना अन्य प्रकार से भी गाय मिल जाती है।[1] याजक यदि क्रिया के प्रेरक होते हैं। उदाहरणार्थ यज्ञ पुष्यमित्र करता है और याजक उसके प्रयोजक हैं। इसी भेद को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने एक और उदाहरण दिया है— आप यज्ञ कीजिए (यजताम् आत्मनेपद) याजक मिल जायेंगे। वे यज्ञ करायेंगे।[2] इससे स्पष्ट है कि व्याकरण की दृष्टि से भेद न होने पर भी व्यवहार में यजमान और याजक शब्दों के प्रयोग का क्षेत्र अलग-अलग निश्चित था। किन्तु याजक लोग उन्हीं को यज्ञ कराते थे, जिन्हें शास्त्र से यज्ञ करने की अनुमति थी।[3] ये यजमान प्रायः क्षत्रिय थे।[4] वृषल आदि जातियों का यज्ञ कराना गर्हित माना जाता था।[5] कुत्सित याजिक या याज्ञिकपाश कहते थे।[6]

याजकों की संख्या सब यज्ञों में समान नहीं होती। कालक्रम से भी उनकी संख्या में अन्तर हुआ है। पुरोहित जैसा कि नाम से स्पष्ट है यज्ञ में पुरः (आगे) हित (स्थापित) होते हैं। यज्ञ में सबसे पहले पुरोहितों का वरण किया जाता है। ऋग्वेद में अग्नि को पुरोहित कहा है और भाष्यकार ने उस मन्त्रांश को उद्धृत किया है। भाष्य में निम्नलिखित पुरोहितों का उल्लेख है।

---

१ कर्त्रभिप्राये क्रियाफल इति किमर्थम् ?—यजन्ति याजकाः—अत्रापि क्रियाफलं कर्त्तारमभिप्रैति-याजका यजन्ति गा लप्स्यामहे इति—सर्वत्र कर्त्तारं क्रियाफलमभिप्रैति तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते। साधीयो यत्र कर्त्तारं क्रियाफलमभिप्रैति। न चान्तरेण यजिं यजिफलं स्वर्गं वा यजिफलं लभन्ते। याजकाः पुनरन्तरेणापि यजिं गा लभन्ते।—१ ३-७२ पृ० ९०।

२ अहो यजत इत्युच्यते यः सुष्ठु त्यागं करोति। तं च पुष्यमित्रः करोति—याजकाः प्रयोजयन्ति। ३ १-२६, आ० ४ पृ० ७४।

३ अहं यजतां लप्स्यन्तेऽस्य याजकाः। य एनं याजयिष्यन्ति।—३ ३ १० पृ० ८८।

४ यथा क्षत्रिय क्षत्रियं याजयेत्।—३ २ १३७ पृ० ११२।

५ ३ २ १४२ से १५० तक, पृ० १११ से ११३।

६. भाष्ये याजक-पाशे कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम्-याज्ञिकपाश।—२ ४७ आ० १ पृ० ४४१।

७. वही, पृ० १।

अध्वर्यु—भाष्य में अध्वर्यु को अद्रि (पत्थर) से सोम का सवन करनेवाला कहा है।[1] एक स्थान पर उसे नग्न भावुक कहा है, जिसके यज्ञ में वस्त्र उतारकर बैठने का संकेत मिलता है।[2] अध्वर्यु और अध्वर परस्पर सम्बद्ध हैं। सम्भवतः, कार्य को निर्विघ्न सम्पादित करने की दृष्टि से (अ+ध्वर=अद्रूषित) यह नाम पड़ा है। हॉग के मत से अवेस्ता की धार्मिक विधियों (rituals) में भी होता (zaotra) और अध्वर्यु (Rathwi) विद्यमान थे।[3] यज्ञ में इनका स्थान इतना महत्त्वपूर्ण था कि यजुर्वेद या यजुर्वेद का नाम ही अध्वर्यु वेद पड़ गया।

ऋत्विक्—भाष्यकार के काल में ऋत्विज शब्द सामान्य पुरोहित के लिए व्यवहृत होता था। उन्होंने यज्ञ के प्रारम्भ में ऋत्विजों का वरण करने की प्रथा का उल्लेख किया है।[5] जो परिवार ऋत्विक्-कर्म के योग्य होता था उसे आर्त्विजीन कहते थे।[6] आर्त्विजीन होना ब्राह्मण के लिए सम्मान की बात थी। पतंजलि के समय में ऋत्विज् लोग लाल रंग की पगड़ी पहनते थे।[8]

होता—भाष्य में होता पोता नेष्टा और उद्गाता का अनेक बार साथ-साथ उल्लेख हुआ है।[9] इनमें होता से पुराना ऋत्विग् है। यही देव का आवाहक और आहुतिकर्ता है। प्रारम्भ में यही एक पुरोहित होता था और सबसे महत्त्वपूर्ण तो बाद में भी बना रहा। ऋग्वेद (१० २ १) में उसे यायजिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठतम याजक कहा है। एकाधिक पुरोहित होने पर सामान्य तया सभी पुरोहित होता कहे जाते थे।[10] देवों का आवाहन होने के कारण ही अग्नि भी होता कहा गया है। होता के कारण आहुति भी होत्री कहलाती है। ऋग्वेद (२ १ २ १० ९१ १०) में होता पोता नेष्टा अग्नीध प्रशास्ता अध्वर्यु और ब्रह्मा इन सात पुरोहितों का उल्लेख है। उद्गाता इसमें नहीं है। यह बाद में सम्मिलित किया गया। पहले इन पुरोहितों की स्थिति भी निश्चित न थी। उद्गाता का महत्त्व सामवेद के साथ बढ़ा। पहले उसका (होता का) वरण किया जाता था और स्थान निश्चित था। बाद में यह स्थान ब्रह्मा को मिल गया। पहले होता सम्पूर्ण यज्ञ के लिए उत्तरदायी होता था पर बाद में यह काम अध्वर्यु को मिल गया और होता उसका सहकारी बन गया। ऋग्वेद (१-३५-९) में अध्वर्यु और होता का पद बराबर था

---

१ अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्।—६ १ ११५, भा० ३ पृ० ९७४।

२ नग्नं भावुकोऽध्वर्युः।—६ १ ९१ भा० ९, पृ० १४६।

३ हॉग ए० बी० भा० पृ० १३।

४ एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः।—भा० १ भा० ५, पृ० २१।

५ याजी ऋत्विजः।—३-२ १०९, भा० १ पृ० १८५।

६ ऋत्विक्कर्मार्हत्यार्त्विजीनं ब्राह्मणकुलम्।—५ १-७१ भा० १, पृ० ३३६।

७ यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशः वाचं विदधाति स आर्त्विजीनः। आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।—भा० १ पृ० ६।

८ लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति।—१ १ १ भा० १६, पृ० १५।

९ २-१ ६, भा० २६, पृ० ३५७। ६ १-९१ भा० ९, पृ० १४६।

१० ऋग्० १०-३५ १० १०-९१ १।

बताया गया है[1] जहाँ वैकल्पिक रूप से पूजादि कृत्य दोनों करते हैं उस समय तक इन दोनों के पदों में ऊँच नीच का भेद न था।

पोता—पोता का काम साम को शुद्ध करने[1] (परिपवन) करने का है। भाष्य में 'सोमं पवमान' कहकर पोता के कृत्य का निर्देश किया है। या ऋग्वेद में (१ ९४ ६ सब पोतम् १-७४ ४) अग्नि को भी पोता कहा है। साम के पवन का काम पहले अध्वर्यु करता था। उसे अवकाश देने के लिए ही इस पद का प्रारम्भ किया गया था। मरुतों और द्रविणोदस को जिस पात्र में साम अर्पित किया जाता था, उसे पोत्र कहते थे।[1] ओल्डनबर्ग के मत से उत्तरकालीन साहित्य के समय यह नाममात्र का याजक रह गया था। उसका महत्त्व नष्ट हो चुका था।

नेष्टा—नेष्टा सहायक पुरोहित है। जिस पात्र से द्रविणोदस को सोम दिया जाता है वह नेष्टा के ही नाम पर नेष्ट्र कहलाता है। भाष्यकार ने नेष्टा की व्युत्पत्ति नी तथा नेष् धातु से मानी है।[1] यह सुरा तैयार करता तथा यजमान की पत्नी को यज्ञस्थान तक ले जाता था।[1]

उद्गाता—उद्गाता का काम सामगान है। ऋग्वेद में केवल एक बार इसका उल्लेख हुआ है।[1] इससे अनुमान होता है कि उद्गातृ पद का प्रारम्भ बहुत बाद में हुआ। साम का उल्लेख ऋग्वेद में बार-बार मिलने से यह भी प्रतीत होता है कि पहले भी सामगान की प्रथा तो थी किन्तु इस काम को कोई भी पुरोहित कर लेता था या उद्गाता का नाम कुछ और था। साममृद् और सामविप्र शब्दों से सम्भवतः उद्गाता ही इष्ट हो।

ब्रह्मा—भाष्य में ब्रह्मन् शब्द का उल्लेख वेद देवता ब्राह्मण आदि अर्थों में हुआ है, पुरोहित अर्थ में नहीं किन्तु ब्रह्मवाहिन् ब्रह्मवाह ब्रह्मसाम आदि शब्दों में ब्रह्मा का भी अन्तर्भाव हुआ है।[1] ब्रह्मा अधीक्षक (सुपरिंटेंडिंग) पुरोहित होता है यद्यपि ऋग्वेद-काल तक उसका यह स्थान नहीं बन पाया था। ओल्डनबर्ग के मत से ऋग् में इसका उल्लेख नहीं है। इसका अर्थ सामान्य पुरोहित था। मैकडॉनल कीथ और डॉ॰ पी॰ एस्॰ देशमुख इसे और ब्राह्मणाच्छंसी को एक मानते हैं।[1]

प्रशास्ता—भाष्यकार ने तृन् प्रत्यय के प्रसंग में होता पोता नेष्टा प्रशास्ता और अग्निहुत का ऋत्विजों में परिगणन किया है। ऋग्वेद (१ ९६ ६) में प्रशास्ता का काम अग्नि

---

१ अध्वर्यो वा प्रयतं शक्रहस्तात् होतुर्वा यतं हविषो जुषस्व।

२ ९-१-१६, भा॰ ५, पृ॰ ४५६।

३ ऋग्॰ १ ४२ २, २-३६-२।

४ रिलीजन डेर वेद, पृ॰ ३८३ ३९१ ३९५।

५ १ २ १३५, भा॰ १ २, ३ ४, पृ॰ ५७०।

६ रिलीजन डेर वेद, पृ॰ ३८३ ३९१ ३९५।

७ उद्गातेव शकुने साम गायसि।—२-४२ २।

८ ऋग्॰ ७-३३ १४ तथा ५-५४ १४।

९ १ २-७८, ३ १ १२३ ५ ४ १०३।

१० रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर, पृ॰ १४२।

से सम्बद्ध बतलाया गया है। ऋग् (२ १६ ४) में अग्नि को अग्निध् का इन्द्र को ब्रह्मा का और प्रतिहर्ता को उद्गाता का सहायक कहा है। प्रशास्ता को शंस्ता या मैत्रावरुण भी कहते थे। यह होता का सहायक था।

ब्राह्मणाच्छंसी—ब्राह्मणों से उद्धृत कर, अर्थात् उनसे ले-लेकर पद बोलने के कारण इस ऋत्विज् का नाम ब्राह्मणाच्छंसी पड़ा।[1] ऋग्वेद में इसे ब्राह्मण भी कहा है।

अग्नीध्[2]—अग्नीध्, आग्नीध् या अग्निमिन्ध अग्नि को प्रज्वलित करने का काम करता है। इसके स्थान को आग्नीध्र कहते हैं।[3] भाष्यकार ने 'अग्नीदग्नीन् विहर' इस प्रैष में उसके कर्तव्य का भी उल्लेख किया है। यज्ञशाला में अग्नीत् के लिए पृथक् स्थान की व्यवस्था की जाती थी। सोलह ऋत्विजों से भिन्न अन्य पुरोहित जो यज्ञकर्मों के उपद्रष्टा के रूप में नियुक्त किये जाते थे सदस्य कहलाते थे। सूत्रों में इनका ऋत्विजों के साथ विधिपूर्वक वरण नहीं किया जाता था।

भाष्यकार ने चार प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध बतलाये हैं, जिनमें स्रौव सम्बन्ध भी एक है। याचक लोगों तथा याजकों और यजमानों को एक सूत्र में बाँधनेवाला उनका स्रौव कर्म था। यह बात उनके सुसंगठित होने की ओर संकेत करती है।[4]

यजमान—यजमान यजि क्रिया का मुख्य कर्ता होता है। इसलिए, सोमयाग में उसे 'सुत्वन्' कहते हैं। 'सुत्वन्' का ङ्वनिप् प्रत्यय यज्ञ के मुख्य कर्ता का द्योतक है।[5] यह आवश्यक नहीं है कि यजमान स्वयं यज्ञ करे। भाष्यकार के मत से 'हविष्प्रक्षेपण' ही यजि क्रिया का अर्थ नहीं है। त्याग भी उसका अर्थ है। इसलिए, जो स्वयं प्रक्षेपण न कर त्याग-मात्र करता है, अपने द्रव्य से यज्ञ कराता है और स्वयं दक्षिणा देता है वह भी यज्ञकर्ता माना जाता है। इसी अर्थ के कारण 'याजक यज्ञ कराते और पुष्यमित्र यज्ञ करता है'[6] यह बात ठीक मानी जाती है। यदि क्रिया का कर्ता ही यज्ञकर्ता माना जाय तब तो कहना पड़ेगा कि पुष्यमित्र यज्ञ कराता है और ऋत्विक् लोग यज्ञ करते हैं। पर लोक-व्यवहार में वैसा नहीं होता।[6] यजमान उक्थ (सामविशेष) को बोलता है इसलिए उसे

---

१ ब्रह्माणि शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी—ब्राह्मणेभ्यो गृहीत्वा गृहीत्वाऽऽवृत्य शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी। —६-३-२, भा० २, पृ० २९९।

२ अग्निमिन्ध। —१ १-७० भा० १ पृ० १७०।

३ अग्नीध शरणमाग्नीध्रम्। —४-३-१२०, भा० २, पृ० २५२।

४ लोके बहवोऽभिसम्बन्धा आर्था यौना मौखाः स्रौवाश्च। —१ १ ४९, भा० १ पृ०, १००।

५ सुञो यज्ञसंयोगे। —३-२-१३२।

६ यज्यादिषु चाविपर्यासो दृष्टव्यः-पुष्यमित्रो यजते याजकाः याजयन्ति। तत्र भवितव्यं पुष्यमित्रो याजयते याजकाः यजन्तीति। नानाक्रियाणां यज्यर्थत्वात्। नानाक्रिया यजेरर्थः। नातश्च यजिर्हविष्प्रक्षेपण एव वर्तते। किं तर्हि। त्यागेऽपि वर्तते। यद्वै यजत इत्युच्यते य उत्सृष्ट त्यागं करोति। तं च पुष्यमित्रः करोति याजकाः प्रयोजयन्ति। —३ १ २६, भा० २, ४, पृ० ७४।

उपयष्टा भी कहते हैं।[1] इसमें गार्हपत्याग्नि में हवन करनेवाला एकाग्नि कहलाता है।[2] पुरुष के यजमान होने का प्रभाव उसकी पत्नी पर भी पड़ता है। जो पुरुष या स्त्री बहुत अधिक यज्ञ करता है और उच्च चरित्र का अनुष्ठान होता है, वह यज्ञ द्वारा पूत मन का होने के कारण पूतक्रतु कहलाता है। यदि केवल पुरुष पूतक्रतु हुआ तो उसकी पत्नी पूतक्रतायी कही जाती है।[3]

भाष्य में यजमान शब्द बार-बार आया है।[4] यज्ञ क्रिया के कर्ता होने की स्थिति में व्यक्ति यजमान कहलाता था और उसके पुरोहित याजक। जो व्यक्ति यज्ञ कर चुकता है, उसे यज्वा कहते हैं।[5] वेद में यज्वनी और यज्वरी शब्द आये हैं।[6] अग्निष्टोम आदि विशेष यज्ञ करनेवाले अग्निष्टोमयाजी आदि कहलाते थे। भविष्य में अग्निष्टोमादि करनेवाले के लिए भी इस शब्द का प्रयोग साधु माना जाता है। जैसे इसके जो पुत्र होगा वह अग्निष्टोमयाजी बनेगा।[7] यज्ञ-कर्म का व्रत करनेवाला यजमान दीक्षित कहा जाता था।[8] और, बहुत अधिक यजन करनेवाला यायजूक कहलाता था (यजजपदशां यङ ३-२ १६६)। दीक्षित यजमान को भूमिशयन ब्रह्मचर्य वाक्संयम[9] तथा नियमित भोजनादि व्रतों का पालन करना पड़ता था। ब्राह्मण पय क्षत्रिय यवागू और वैश्य आमिक्षा ही ग्रहण कर सकता था।[10] आमिक्षा दूध और दही मिला कर बनाई जाती थी। इसका ऋग्वेद में उल्लेख नहीं है किन्तु बाद की सब संहिताओं में और ब्राह्मणों में है।

बहुत अधिक यज्ञ करनेवाला यायजूक और यज्ञ कर चुकनेवाला इष्टी (इष्टमनेन) कहलाता था। इसी प्रकार श्राद्ध कर चुकनेवाला पूर्ती कहलाता था।[11] जो यजमान यज्ञ करता था उसके नाम के साथ लोग क्रतु का उल्लेख करते थे। गर्ग लोगों द्वारा किया जानेवाला त्रिरात्र उनके नाम से गर्गत्रिरात्र कहा जाता था। इसी प्रकार चरकत्रिरात्र कुसुरुबिन्दसप्तरात्र आदि

---

१ उपयानि उपरैवी संसति उपयसटः (यजमान)। —३ २-७१ पृ० २२९।

२ एकाग्निः। —५ ३-५२, भा० ३, पृ० ४४१।

३ पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी। यथा हि पूता क्रतव पूतक्रतुः सा भवति। —४ १ ३६, भा० १, पृ० ५२।

४ २-४ ४६, पृ० ४८७, ७-१-८२ पृ० १४५ आदि।

५ १-२ १, भा० ८ पृ० ४६८।

६ बहुलं छन्दसि धीवरी वसतम्मी यज्वरीरिषः, यज्वनोरिषः। —४ १-७ भा० १, पृ० ३०।

७ अग्निष्टोमेयाजोऽस्यैतस्मिन्नुभविता (कस्मिन् १) योऽस्य पुत्रो भविता करो? यश्चैनमग्निष्टोमेनेष्टं भवति। —३ ४ १ पृ० १४२।

८ होतव्यं दीक्षितस्य गृहे। —८-२ १०७ भा० २ पृ० ४००।

९ वाचंयमोयते। —३-२-४०।

१० पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतः क्षत्रिय आमिक्षाव्रतो वैश्य इति। —भा० १, पृ० १९

११ इष्टीयज्ञे पूर्ती श्राद्धे। —५-२-८८ भा०।

ब्द सम्भवतः यजमानों द्वारा किये जानेवाले यज्ञों के लिए व्यवहृत होते थे।[1] शास्त्रानुसार
ीत अग्नियों की प्रतिष्ठा करनेवाला यजमान आहिताग्नि या अग्न्याहित कहलाता था।[2]
ावसथ या आवसथ्य में रहने के कारण उसे आवसथिक भी कहते थे, जिसका अपभ्रंश रूप अवस्थी
ाज भी प्रचलित है। आवसथ यज्ञशाला में यजमान के लिए निश्चित स्थान होता था। यज्ञ
ामाप्ति तक यजमान वहीं रहता था। आवसथ को ही आवसथ्य कहते थे।[3]

मन्त्र—यज्ञ की क्रियाएँ मन्त्रोच्चारण के साथ की जाती हैं। यज्ञ के प्रारम्भ के पूर्व
स्वस्तिवाचन और पुण्याहवाचन किये जाते थे। स्वस्तिवाचन-मंत्र का अंश भाष्यकार ने उद्धृत
िया है।[4] मन्त्रोच्चारणपूर्वक क्रिया को पाणिनि ने मन्त्रकरण कहा है।[5] मन्त्र जिस देवता की
ुति आवाहन या आहुति के लिए प्रयुक्त होता था उसी के आधार पर ऋचा या मन्त्र का नाम
ड़ जाता था—जैसे ऐन्द्री या आग्नेयी ऋच।[6] इसी प्रकार यज्ञविशेष में प्रयुक्त मन्त्रों का नाम भी
न यज्ञों के आधार पर होता है। अग्निष्टोम में काम आनेवाले मंत्र भी अग्निष्टोम कहलाते हैं।
सी प्रकार राजसूय वाजपेय आदि यज्ञों के मन्त्र राजसूय और वाजपेय कहे जाते हैं।[7] समि
ाओं के आधान में जिन मन्त्रों का विनियोग होता है, वे सामिधेन्य मन्त्र या सामिधनी ऋचाएँ
हही जाती हैं।[8] ऋचा के प्रयुक्त शब्द के विशेष के आधार पर भी उसका नाम पड़ जाता था।[9]

त्रैस्वर्यमंत्र—वैदिक मन्त्रों के उच्चारण दो प्रकार से होते हैं। त्रैस्वर्ययुक्त और एक
ुति। सामान्य प्रपाठ में त्रैस्वर्य का ध्यान रखा जाता है किन्तु यज्ञ-कर्म में जप न्यूङ्ख और सामों
ो छोड़कर अन्यत्र एकश्रुति उच्चारण होता है। यजुर्वेद (२ १०) के 'मयीदमिन्द्र इन्द्रियम्' आदि
जपमन्त्र अनुकरण-मन्त्र हैं। न्यूङ्ख षोडश ओंकार आपो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ
ो ओ ३ ओ ओ वा रेवती अथवा हिरण्य जनु च भद्रं विभूयामृतं च। रायो ३ ओ ओ ओ ओ
ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ वा १ आदि हैं। जपमन्त्र का उच्चारण यजमान करता है और न्यूङ्ख
ा उच्चारण सामगानों में प्रातःकालीन आहुति के समय होता है। न्यूङ्खों में कुछ उदात्त हैं और
ुछ अनुदात्त। वाक्यविशेषस्थ गीतियाँ सामन् कहलाती हैं। इन तीनों में सस्वर उच्चारण

---

१ छिद्रोपज्यो मृगविरामः, सरलपञ्चरात्रः, कुसुरविन्दसप्तरात्रः। —६-२-१४, का०

२ वाहिताग्न्यादिषु-आहिताग्नि अग्न्याहितः। —२-२-३७ का०।

३ आवसथात् ष्ठल्–४ ४-७४ तथा आवसथ एव आवसथ्यम्। —५ ४-२३ का०।

४ भद्रं वोचेमाग्नये। —१-१-८६, पृ० १४६।

५ मसुमन्ती भारद्वेभातमस्तर्पे। —१-१-८६, पृ० १४६।

६ उपास्थमन्त्रकरणे-ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते। —१ ३
२५ का०।

७. मन्त्र मयेषु भुजगतम्यः अग्निष्टोमे भवो मन्त्रोऽग्निष्टोमः राजसूयः वाजपेयः।—
४ ३-६, भा० ५, पृ० २४०।

८ समिधामाधाने भवाः सामिधेन्यो मन्त्रः सामिधेन्यक्।—४ ३-१२०, भा० १०,
पृ० २५२।

९. अधिपतिवती जुहोति।—८ २-६५, पृ० ३३९।

किया जाता है। अन्यत्र यज्ञ-कार्यों में एकश्रुति होती है।[1] वौषट् का उच्चारण अधिक ऊँचे स्वर से किया जाता है और एकश्रुति भी। पर यह नियम वैकल्पिक है।[2] त्रैस्वर्य वाचिक सम्पादन में आवश्यक था। ब्राह्मणों में उद्धृत वेद-मन्त्र एकश्रुति या एकतार ही बोले जाते थे। पाणिनि काल से ही त्रैस्वर्योच्चारण का नियम ढीला पड़ चला था।[3] सुब्रह्मण्या निगद में वैकल्पिक एकश्रुति नहीं होती। इसमें प्राप्त स्वरित के स्थान में उदात्त कर त्रैस्वर्योच्चारण होता है।[4] सुब्रह्मण्या द्व्यक ऐन्द्री या आग्नेयी होती है।[5] ऐन्द्री में तीन बार 'सुब्रह्मण्योम्' बोलने के बाद 'इन्द्रागच्छ' आदि बोला जाता है। इसके अन्त में 'गौतम ब्रुवाण' के अनन्तर जितने दिन की सुत्या हो तदनुसार 'त्र्यहे' या 'श्वः सुत्याम्' आदि बोला जाता है[6] और उसके पश्चात् 'देवा ब्रह्माण आगच्छतागच्छत' बोलना चाहिए। इसमें ब्रह्मन् शब्द ऋत्विग्वाची है।[7] सुब्रह्मण्या का उच्चारण सदा अध्वर्यु का प्रैष पाने के बाद ही किया जाता है। 'सुब्रह्मण्योम् इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथे मेष वृषणश्वस्य मेने गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जार कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाण श्वः सुत्यामागच्छ मघवन्' आदि सुब्रह्मण्या निगद है। सुब्रह्मण्या में ही 'देवा ब्रह्माण' पठित है। उसमें भी स्वरित के स्थान में अनुदात्त उच्चारण किया जाता है।[9]

मन्त्र के पूर्व ओम् का प्रयोग किया जाता है। यह प्रारम्भ-द्योतक ओम् शब्द प्लुत होता है।[10] यज्ञ-कर्म में प्रयुक्त होनेवाला 'ये' शब्द भी प्लुत होता है जैसे 'ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितम्' आदि। कात्यायन और पतञ्जलि के मत से ब्राह्मण-भाग में सर्वत्र 'ये' का प्लुत नहीं होता। यज्ञ-कर्म में मंत्र की टि का प्लुत आदेश हो जाता है। जैसे 'अपां रेतांसि जिन्वतो३म्'। देवान् जिगाति सुम्न

---

१ यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु।—१-२-३४; जपोऽनुकरणमन्त्र—समागमेर्जपो। न्यूङ्खा ओङ्कारा षोडश-तेषु केचिदुदात्ताः केचिदनुदात्ताः—सामानि वाक्यविशेषस्था गीतय उच्यन्ते।—वही का०।

२ उच्चैस्तरां वा वषट्कारः—वषट् शब्देनात्र वौषट् शब्दो लक्ष्यते। वौषडित्यस्यैवेदं स्वरविधानम्।—१-२-३५ काशिका।

३ विभाषा छन्दसि-व्यवस्थितविकल्पोऽयमिति केचित्-व्यवस्था च वेदे मन्त्रभागे नियतं त्रैस्वर्यं ब्राह्मणभागे नियमेनैकश्रुत्यमिति।—१-२-३६ का०।

४ १-२-३७ ३८, ३९, पृ० ५१४ ५१५।

५ ऐन्द्री आग्नेयी वा द्व्यक सुब्रह्मण्या भवति।—लाट्या० श्रौ०सू० भा० १-२-१८।

६ सुब्रह्मण्योमिति त्रिरुक्त्वा निगदं ब्रूयादिन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथे मेष वृषणश्वस्य मेने गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जार कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेत्यावदेहे सुत्यामिति यावदहस्यात्।—वही, १ १-२।

७. देवा ब्रह्माण आगच्छतागच्छतेति गौतम।—वही, १ १ ३। ब्रह्मन् शब्द ऋत्विग्वचन।—वही, भाष्य।

८ अध्वर्युप्रैषे सर्वोपाकरणं सुब्रह्मण्यायाम्।—वही, १-२-१८।

९ १ २ ३७ ३८, ३९, पृ० ५१४ ५१५।

१० ओमभ्यादाने।—८ २-८७।

वो३म्। यदि इन्हीं मंत्रों का प्रयोग यज्ञ से भिन्न कार्य में किया जाय तो 'अपां रेतांसि जिन्वति' आदि बोला जायगा। प्रणवादेश का अर्थ है—ऋचा के पाद या अर्ध भाग का अन्तिम अक्षर हटाकर उससे पूर्व के बने हुए अक्षर के आगे तीन मात्रा का ओंकार या ओकार आदेश करना। इसे प्रणव कहते हैं।[1] याज्याकाण्ड में पठित तीन मन्त्रों को याज्य कहते हैं। यज्ञ-कर्म में पढ़े जानेवाले याज्या-मंत्रों की अन्तिम टि प्लुत होती है। जैसे उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। (ऋग्० ८४३ ११)[2] स्तोमैर्विधेमाग्नये३। जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहाम् ३। कुछ याज्या नाम की ऋचाएँ वाक्यसमुदाय-रूप हैं। उनमें जितने वाक्य होते हैं, उन सबकी टि प्लुत नहीं होती अपितु अन्तिम टि ही प्लुत होती है।[3] यज्ञ कर्म में प्रयुक्त होनेवाले ब्रूहि प्रेष्य श्रौषट् वौषट् और आवह शब्दों का आदि प्लुत होता है। इन शब्दों का प्रयोग इस प्रकार होता है—

प्रैष—यज्ञकर्म आरम्भ होते ही अध्वर्यु होता को 'प्रैष' या आदेश देता है कि वह उस देवता की प्रशंसा में जिसे प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किया जा रहा है मंत्र पढ़े। देवता की स्तुति के लिए पढ़ी जानेवाली ऋचा पुरोनुवाक्या कहलाती है। पुरोनुवाक्या प्रायः एक ही ऋचा होती है। यह एकश्रुति से पढ़ी जाती है। पुरोनुवाक्या के बाद याज्या जो वास्तविक आहुति देने के लिए पढ़ी जानेवाली ऋचा होती है, पढ़ी जाती है। पुरोनुवाक्या और याज्या का एक युग्म होता है।

इसके पश्चात् जुहू और उपभृत हाथ में लेकर अपने स्थान पर बैठा हुआ अध्वर्यु आग्नीध् को 'आ३ श्रा३ वय' पद द्वारा देवताओं को यह सूचित करने के लिए कि सब कुछ निर्विघ्न हो रहा है, वे पधारें, यह आदेश देता है। अध्वर्यु का यह आदेश अग्नीदाश्रवण या आश्रावण कहलाता है। इस आश्रावण का उत्तर 'अस्तु श्रौ३षट्' कहकर देता है जिसका तात्पर्य है 'देवों को विदित है'। अग्नीत् के इस उत्तर को प्रत्याश्रवण या प्रत्याश्रुत कहते हैं।

यजस्व—अग्नीध् से प्रत्याश्रवण पाकर अध्वर्यु होता को 'यज' अर्थात् यजन आरम्भ करो यह प्रैष देता है। तदनुसार होता याज्या (आहुति-मन्त्र) पढ़ता है किन्तु उसके पूर्व 'ये ३ यजामहे' यह कहा जाता है। याज्या के अन्त में वौषट् बोला जाता है। जैसे 'ओ३म् ये यजामहे समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु३ वौ३षट्। इस प्रकार, याज्या के जो प्रायः ऋग्वेद की एक ऋचा या आधी ऋचा होती है और आहुति देने के लिए विनियोग में आती है तीन भाग होते हैं—'ये३ यजामहे' याज्या वौ३षट्। वौषट् या वषट्कार का उच्चारण होता उच्चतर और उदात्त स्वर

---

१ प्रणवष्टेः—प्रणव इत्युच्यते कः प्रणवो नाम? पादस्य अर्धर्चस्य वाऽन्त्यमक्षरमुपसंहृत्य तदाद्यक्षरशेषस्य स्थाने त्रिमात्रमोङ्कारं त्रिमात्रमोकारं वा विदधति तं प्रणव इत्याचक्षते।—८-२-८९, पृ० ३९५।

२ ८-२ १००, पृ० ४००।

३ याज्यान्तः—याज्या नामर्चो वाक्यसमुदायास्तत्र यावन्ति वाक्यानि सर्वेषां टेः प्लुतः प्राप्नोति इष्यते चान्त्यस्य स्यादिति तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमन्तग्रहणम्।—८ २-९० पृ० ३९५।

४ त्रिवतीमर्ग्यानुवाक्या भवन्ति।—८-२-९१, पृ० ३९८।

में करता है।[1] याज्या का उच्चारण अपेक्षाकृत मन्द स्वर में होता है। वौषट् के उच्चारण के साथ ही अध्वर्यु अग्नि में आहुति छोड़ता है। सोमयाग में इसके बाद पुनः "अग्नेन्द्रयजे वीहि या सोमस्याग्ने वीही३ वौ षट्" बोला जाता है।[2] इस मंत्र के पूर्व भाग को गीत और उत्तर भाग को अनुवषट्कार कहते हैं। गीत भाग का अन्तिम स्वर प्लुत होता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया सत्रह अक्षरों के प्रजापति छन्दस्य (अक्षर-समूह) में पूर्ण होती है। ये सप्तदशाक्षर इस प्रकार हैं—ओश्रावय (चार) अस्तु श्रौषट् (चार) ये यजामहे (पाँच) यज (दो) वषट् या वौषट् (दो)। सत्रह अक्षरों के इस छन्दस् को छन्दस्य भी कहते हैं। भाष्यकार ने यह छन्दस्य तैत्तिरीय ब्राह्मण काण्ड से उद्धृत किया है।[3]

यज्ञ में प्रवरण (यजमान का प्रवरोच्चारण) के बाद निगद (ऋग्वेद में विहित यजुर्मन्त्र) पढ़ा जाता है। निगद-पाठ के बाद होता देवता के आवाहन के लिए मन्त्र पढ़ता है—अग्निमा३ वह। इसे देवतावाहन कहते हैं जिसमें आवह का आदि स्वर प्लुत होता है।

यज्ञ में सामगान की प्रथा रही है। सामों में अवभृथ यज्ञ के लिए दानवात्मों के एना विनाश के लिए गाया जाता था। रथन्तरादि साम तृच या तीन ऋचाओं के समाहार हैं जिन्हें परिमाण कहते हैं। परिमाण का मान प्रस्ताना करना है।[4] भाष्य में रथन्तर वामदेव्य और बृहद् इन तीनों सामों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त रौद्र यजुष् बहिष्पवमान अन्तरीक्षीय सूक्त प्रमाण आदि की चर्चा भाष्य में आयी है।[5]

एकश्रुति—भाष्यकार ने उच्चारण में सात स्वर बतलाये हैं। उदात्त उदात्ततर अर्थात् अतिशय उदात्त अनुदात्त अनुदात्ततर अर्थात् अतिशय अनुदात्त स्वरित स्वरित का अनुदात्त युक्त उदात्तभाग तथा एकश्रुति।[6] उच्च स्थान में निष्पन्न स्वर उदात्त कहलाता है। वर्णों की निष्पत्ति ताल्वादि स्थानों से होती है। ताल्वादि के अवयव होते हैं। उनमें ऊपरी अवयव से जिस वर्ण का उच्चारण किया जाता है वह उदात्त होता है।[7] उदात्त का अर्थ ऊँचे स्वर में उच्चारण नहीं

---

१ उच्चस्तरां वा वषट्कारः।—१-२ ३५।

२ यजेन्द्रयजेवीहि।—६ १ १२४ पृ० १७७।

३ अक्षरसमूहे छन्दसे उपसंख्यानं कर्तव्यम्। ओश्रावयेति चतुरक्षरम्। अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्। ये यजामहे इति पञ्चाक्षरम्। यजेति द्व्यक्षरम् द्व्यक्षरो वषट्कारः। एष वै सप्तदशाक्षरश्छन्दस्य प्रजापतिर्यज्ञमनुविहित।—४ ४ १४० वा० १ पृ० २९१ तथा ५ ४ ३० वा० २, पृ० ४९०-९१।

४ ८ २-९१।

५ लाट्या० श्रौ० सू०, १-५-२ भाष्य।

६. स एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्तस्वरा भवन्ति-उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः।—१-२ ३३ पृ० ५१४।

७ उच्चैरितिश्रुतिप्रकर्षो न गृह्यते। ताल्वादिषु हि भागवत्सु स्थानेषु वर्णा निष्पद्यन्ते। तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणा-मायामनिग्रहो भवति। रूक्षतोऽस्निग्धता स्वरस्य संवृतता कण्ठविवरस्य चेति।—१-२-२० काशिका।

है। उदात्त के उच्चारण में गात्र के आयाम पर नियन्त्रण रहता है जिससे स्वर कुछ रूखा और अस्निग्ध होता है। इसमें कण्ठ-विवर अपेक्षाकृत संवृत रहता है। ये ते के उदात्त हैं। अतिशय उच्च भाग से उच्चरित वर्ण उदात्ततर कहलाता है। अनुदात्त और अनुदात्ततर वर्ण इसके ठीक उलटे होते हैं। ये उच्चारण गात्र के नीचे भाग से उत्पन्न होते हैं। इनके उच्चारण में गात्रों में अन्वसर्ग और मार्दव रहता है जिससे स्वर में मृदुता स्निग्धता और सरसता उत्पन्न होती है। इनके उच्चारण में कण्ठ-विवर में उरुता और फैलाव रहता है। त्वम् सम सिम नेम आदि अनुदात्त हैं।[1] स्वरित में उदात्त और अनुदात्त दोनों का समाहार रहता है।[2] जैसे शिक्यम्, कन्या, ख आदि। एकश्रुति में उदात्त अनुदात्त और स्वरित का विभाग नहीं प्रतीत होता अर्थात् भेद का तिरोधान हो जाता है।[3] उदात्त अनुदात्त और स्वरित के समान एकश्रुति भी स्वर का नाम है जिस प्रकार नपुंसक लिंग-विशेष का नाम है। आश्वलायन के अनुसार उदात्त अनुदात्त और स्वरित का।

दक्षिणा—दक्षिणा यज्ञ का महत्त्वपूर्ण भाग है। सत्रों को छोड़कर, जिनमें ब्राह्मण स्वयं आत्मकल्याणार्थ यज्ञ करते हैं, अन्य यज्ञों में दक्षिणा देने का विधान है। प्रत्येक यज्ञ की दक्षिणा के अलग-अलग नाम हैं। यथा—आग्निष्टोमिकी राजसूयिकी वाजपेयिकी नावयज्ञिकी पाकयज्ञिकी प्राग्जीवनिकी दाशोदनिकी आदि।[5] दक्षिणा में गाय तो अवश्य ही दी जाती थी। जिन यज्ञों में हजार गाय की दक्षिणा का विधान है, उनमें विशिष्ट लक्षण की एक गाय (१ वर्ष की, ४ वर्ष की या वृद्धा) चुनकर उसे साहस्रतमी संज्ञा दी जाती थी और उसका विशिष्ट विधि से दान किया जाता था। पशुमेधों में शमिता को पशु ही दक्षिणा में मिलता था। याज्ञिक को अश्व और वैयाकरण को हाथी दक्षिणा में देने की प्रथा भी सामान्य मालूम होती है।[6] अनेक गायें प्राप्त न होने पर एक ही गाय का बार-बार दान करने से अनेक गायों के दान का पुण्य प्राप्त होने का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।

---

१ समाने स्थाने नीचभागे निष्पन्नोऽच् अनुदात्तः। यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणामन्वसर्गो मार्दवं भवति स्वरस्य मृदुता, स्निग्धता कण्ठविवरस्योरुता महता-त्वसमसिमनेम इत्यनुदात्तानि।—१ २ ३० का०।

२ द्वौ समाह्रियेते यस्मिन्नचि तस्य स्वरित इत्येषा संज्ञा विधीयते।—१ २-३१ का०।

३ स्वराणामुदात्तादीनामविभागो भेदतिरोधानमेकश्रुति।—१ २ ३३ का०।

४ एकश्रुतिः स्वरनाम यथा नपुंसकलिङ्गनाम।—६ ४ १७४ वा० ४, पृ० ५०६।

५ तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः—आख्याग्रहणं किमर्थम्? तस्य दक्षिणा यज्ञेभ्य इतीयुच्यमाने य एव संज्ञाभूतका यज्ञास्तत उत्पत्तिः स्यात् आग्निष्टोमिक्यः राजसूयिक्यः वाजपेयिक्यः। यत्र वा यज्ञशब्दोऽस्ति पाकयज्ञिक्यः नावयज्ञिक्यः। इह न स्यात् प्राग्जीवनिक्यः दाशोदनिक्यः।—५ १-९५, पृ० ३४२।

६ याज्ञिकाश्व वैयाकरणहस्तौ।—६-२-५९, वा० ७ पृ० २६९।

७ लोके ह्यपि सहस्रमेकां कपिलामेकैव सहस्रसहस्रो दत्त्वा तया सर्वे ते सहस्रदक्षिणाः सम्पन्नाः।—भा० २ पृ० ४१।

बछिया ईस भी दक्षिणा में दिये जाते थे।[1] अश्वयुक्त रथ जिसमें अनेक अश्व जुते रहते थे या केवल अश्व जोड़ी खच्चर, खच्चरी (अश्वतरी) गदभादि अवि मेष वस्त्र व्रीहि यव तिल माष आदि को दक्षिणा म देने का उल्लेख श्रौतसूत्रों में है।

यज्ञफल—ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों के विभिन्न फलों का सविस्तर वर्णन है। भाष्यकार ने इनमें अग्निष्टोम के प्रसंग में कहा है कि वसन्त में ब्राह्मण को अग्निष्टोमादि क्रतुओं से यजन करना चाहिए। इस शास्त्रीय विधान का कुछ प्रयोजन भी है। जो इस प्रकार यज्ञ करता है, उसे स्वर्ग में अप्सरा-पत्नियों की प्राप्ति होती है।[2] काम्येष्टियों का फल उनके नाम के द्वारा ही जाना जा सकता है। निरूढपशु और समूढ़ का चयन पशु-समृद्धि के लिए किया जाता था।[3] यज्ञों के द्वारा मध्य ओषधि वन आदि की समृद्धि की प्रार्थना की जाती थी और यही उनका फल था। मुसस्या ओषधियों और मुपिप्पला ओषधियों के लिए प्रार्थना भाष्यकार ने वैदिक साहित्य से उद्धृत की है।[4] ... और पुष्टि अनेक यज्ञों का लक्ष्य था।[5] कभी-कभी वर्षा के लिए संहिता-पाठ का आयोजन किया जाता था। शाकल्य द्वारा सुप्रणीत संहिता को सुनकर पर्जन्य बरसे[6] पड़ा ऐसा विश्वास समाज में था। यज्ञ में रात्रि जागरण से वैदिक विधाओं की प्राप्ति मानी जाती थी। ये यज्ञ पतंजलि के समय में साधारण समाज में बहुत प्रचलित हो चुके थे और लोग प्रायः उनका अनुष्ठान करते थे। यह बात उनके अनेक कथनों में स्पष्ट है। क्योंकि जैसा कि भाष्यकार ने उद्धृत किया है—यज्ञ प्रतिष्ठा (स्थिरता और सम्मान) का प्रदाता माना जाता था।[9] अग्निष्टोम का फल तो पुनर्जन्म से मुक्ति माना जाता है। इसीलिए, भाष्यकार ने अग्निष्टोमयाजी के साथ 'जनिता' के प्रयोग पर आपत्ति की है।[10]

भाष्य में बहुत और ब्राह्मणों से ऐसे अनेक वाक्य उद्धृत मिलते हैं जिनमें यज्ञ के फल के रूप में महर्षिवत् सन्तान की कामना की गई है या पत्नी के साथ स्वर्गमन की। महान् सौभाग्य

---

१ महानिरष्टो दक्षिणा दीयते।—६-२ १२, पृ० २५८।

२ वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमभि क्रतुभिर्यजेतेतीयमपि किञ्चित्प्रयोजनमुक्तम्। किम्? स्वर्गे लोकेऽप्सरस एनं जाया भूत्वोपशेरते इति।—६ १-८४, वा० ५, पृ० ११८।

३ निरूढपशुं चिन्वीत पशुकामः।—३ १ १२३ वा० १ पृ० १९१ तथा समूह्यं चिन्वीत पशुकामः पशवो वै पुरीषं पशूनेवास्मै तत्समूहति।—३ १ १३१ वा० ३, पृ० १९५।

४ सुसस्या ओषधयोऽभूवन् सुपिप्पला ओषधीस्कृधि।—६ १-८६, पृ० ११३ वा० ६।

५ रयिमान् पुष्टिवर्धनः ...।—६ १ ३७ वा० ६ पृ० ६८।

६ शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत्।—१ ४-८४, पृ० २००।

७ यो जजागार तमृचः कामयन्ते।—५-१-८, वा० १ पृ० २४।

८ ...—१ ४ ९, पृ० ११६।

९ यज्ञः प्रतिष्ठा ...।—३ १-८६ पृ० १४६।

१० कुतो नु खल्वेतदग्निष्टोमयाजी ... भविष्यति न पुनर्जनिष्यते।—१ ४ १ वा० २, पृ० १४१।

याजकों की अवस्थिरता, सम्पत्ति की वृद्धि देवों से अपने सौभगत्व में सामान्य ऋद्धि आदि की सहभागिता यज्ञ के फलस्वरूप प्राप्त करने की कामनाएँ की गई हैं।[1]

पारिभाषिक याज्ञिक शब्द—यज्ञशास्त्र और उसकी प्रक्रिया में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रचलित था जो पारिभाषिक कहे जा सकते हैं। ये शब्द विशेष अर्थ में रूढ़ हो गये थे और याज्ञिकों में भी उस रूढ़ अर्थ में प्रचलित थे। ऐसे बहुत-से शब्दों की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण शब्दों की जो भाष्य में मिलते हैं, व्याख्या नीचे दी जा रही है

अपरपरिग्रह—यज्ञ के लिए वेदी तैयार करने के निमित्त वेदि-स्थान से मिट्टी साफ की जाती है। अध्वर्यु के आदेश पर आग्नीध्र तीन बार मिट्टी लेकर उत्कर में डालता है। तब कुछ की मिट्टी साफ हो जाने पर अध्वर्यु आग्नीध्र को प्रैष देता है और आग्नीध्र वेदी के दाहिने अंस से प्रारम्भ कर दक्षिण श्रोणि तक वेदी के दक्षिण प्रान्त का स्फ्य से स्पर्श करता है और उसी प्रकार दक्षिण श्रोणि से प्रारम्भ कर उत्तर श्रोणि तक वेदि के पश्चिम प्रान्त (छोर) का उत्तर श्रोणि से प्रारम्भ कर उत्तरांस तक वेदि के उत्तर भाग का स्पर्श करता है। स्फ्य से वेदि के प्रान्त भाग का यह स्पर्शन अपरपरिग्रह या पूर्वपरिग्रह कहलाता है।

उत्तरपरिग्रह—अपरपरिग्रह के बाद मन्त्र-जप के साथ तीन बार वेदि-स्थान खोदा जाता है और खुदी हुई मिट्टी उठाकर आग्नीध्र उत्कर में डालता है और फिर ऊपर बतलाये हुए ढंग से स्फ्य द्वारा अन्य तीन मंत्रों के साथ वेदी के प्रान्त भागों का स्पर्श करता है। स्पर्श की यह द्वितीय क्रिया उत्तरपरिग्रह कहलाती है।[2]

उद्ग्राभ—स्रुक् को उठाने की क्रिया उद्ग्राभ कही जाती है।

निग्राभ—स्रुक् को नीचे रखने की क्रिया को निग्राभ कहते हैं।[3]

शंयुवाक—शंयुवाक विशेष ऋचा की संज्ञा है। शंयु पद-युक्त होने से इसे शंयुवाक कहते हैं। यज्ञ-प्रक्रिया में पुरोडाश-प्रहरण के बाद अध्वर्यु का प्रैष पाकर होता इस ऋचा को मध्य में अवसान देकर बिना प्रणव के एक श्रुति से पढ़ता है।

सूक्तवाक—प्रस्तरांजन-विधि के बाद अध्वर्यु होता को मंत्र पढ़ने के लिए कहता है। अध्वर्यु से प्रेरित होता जो मंत्र पढ़ता है उसे सूक्तवाक कहते हैं।

---

१ प्रजां विन्दाम ऋत्वियाम्।—१।१।१२७, भा० १, पृ० १८१; एहि त्वं आये स्वो रोहाय।—१।१।१०९, भा० १ पृ० ३११, पर्यन्तुत्या सुष्टुतयो गिरो मे, बृहस्पतिष्ट्वा, सुम्ने रम्णातु, अग्ने शर्म महते सौभगत्वाय।—१।४-५२, पृ० ४२९ ३०; अवस्थिरो तनुहियायुवाम्, पिनुहि यजं पिनुहि यज्ञपतिम् तेन मामाभिर्न कृणुहि।—१।४-१०९, भा० १, पृ० ४५९।

२ परी यते—उत्तरपरिग्राहः अपरपरिग्राहः।—३-२-४७ काशिका।

३ उद्ग्राभः निग्राभ इत्येतौ शब्दौ छन्दसि वर्तेते स्रुगुद्यमनं निपातनयोरर्थयो उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्मदेवा अवीवृधन्।—३-३-३६, भा० २ पृ० १०३।

४ २४-२९, भा० १ पृ० ४७५।

धाय्या—दर्श-पौर्णमासादि में १५ सामिधेनी ऋचाएँ होती हैं, जो ऋग्वेद (३-२७-१ से ११) से ली गई हैं। इनमें प्रथम और अन्तिम ऋचा के तीन-तीन बार पढ़ने से पन्द्रह संख्या पूर्ण होती है, किन्तु सामिधेनियों की संख्या यज्ञानुसार बढ़ती रहती है। सत्रह या इक्कीस संख्याएँ भी विस्तार आदि सम्पादन के लिए बतलाई गई हैं। ऐसी स्थिति में यह संख्या बाहर की ऋचाएँ मिलाकर पूरी की जाती है। अतिरिक्त ऋचाएँ चतुर्थ (सामिध्यमानवती—३ २७-४) और ग्यारहवीं (समिध्मवती ३ २७-११) के बीच में मिलाई जाती हैं। ये बाहर से मिलाई हुई ऋचाएँ धाय्या कहलाती हैं।[1] यह रूढ़ि शब्द है। धाय्या सामिधेनी से बाहर भी प्रयुक्त हो सकती है।

प्रस्तर—प्रकृति-इष्टियों में चार मुट्ठी दर्भ काटे जाते हैं। प्रथम दर्भ-मुष्टि मन्त्रों से संस्कृत की जाती है। जिस वेदी पर जुहू रखी जाती है, उसी पर यह भी रखी जाती है। उसे प्रस्तर कहते हैं।[2]

प्रयाज—प्रधान याग से पूर्व जिन मन्त्रों से यज्ञ किया जाता है, उन्हें प्रयाज कहते हैं। प्रकृति-यज्ञों में पाँच प्रयाज होते हैं। इनमें चार के देवता वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद् तथा पंचम के हेमन्त और शिशिर होते हैं।

अनुयाज—प्रधान याग के पश्चात् जिन मंत्रों से होम किया जाता है, वे याज्या-मंत्र अनुयाज कहे जाते हैं।

अवदान—यज्ञ के लिए स्थापित हविष् में से होम के काम आनेवाले भाग को अलग करने का नाम अवदान है।[3]

देवयजन—'देवा इज्यन्ते अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार देवताओं को उद्देश्य मान कर जिस स्थान में यज्ञ किया जाता है वह यागभूमि देवयजन कही जाती है।[4] देवयजन का उत्तर और पूर्व भाग नीचा होना चाहिए। यह स्थान तृणौषधिबहुल तथा वृक्षहीन और सम होता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके सामने जल हो और जल न होने पर कोई महावृक्ष कूप या महापथ (दूरगामी मार्ग) सामने हो किन्तु पास में ऊँची भूमि या पर्वत न हो।[5]

पवित्र—नख से न काटे हुए, अग्रभाग-सहित प्रादेश (बालिश्त) भर लम्बे मन्त्रों से संस्कृत बराबर लम्बे प्रोक्षणादि में काम आनेवाले दो दर्भ पवित्र कहे जाते हैं।[6]

---

१ पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्यामानहविर्निवाससामिधेनीषु।—३ १ १२९; सामिधेनी शब्द ऋगभिनिवेशस्य वाचकः तत्र च धाय्येति न सर्वा सामिधेन्युच्यते। किं तर्हि ? काचिदेव। रूढिशब्दोऽयम्। तथा चासामिधेन्यामपि दृश्यते।—३ १ १२९ काशिका।

२ प्रे स्त्रोऽयज्ञे।—३ ३ ३२।

३ अवदानमिदं एतानपञ्च नम वसानमवाप्तम्।—१ १ ४४ वा० १७, पृ० २१४।

४ तस्मात् नाम देवयजनम्।—१ २ १७ पृ०, ३५६।

५. प्रागुदक्प्रवणं देवयजनं लोमशमवृक्षं समम्—पुरस्तादुदकस्यायतनम्-तदभावे महावृक्षो महापथो वा—न चास्ये स्थलतरमदूरे स्यात्।—आपस्त० श्रौ० सू०, १ १ १४, १७।

६. १-२ १८४।

पंचहोता—अग्निर्होता इत्यादि पाँच को पंचहोतृ कहते हैं। इसका अन्तिम वाक्य 'वाताये ईयमभुत' आदि है।[1]

प्राशित्र—उपभृत में रखे हुए आज्य को जुहू में करके जुहू और उपभृत को यथा स्थान रखकर मंत्र से प्रथम प्रधान द्रव्य-सम्बन्धी प्राशित्र को अलग कर प्रणीता-पात्र के पश्चिम में रखते हैं।[2] यह प्रधान द्रव्य का भाग प्राशिता (ब्रह्मा) का भाग होने के कारण प्राशित्र कहा जाता है।[3]

स्थालीपाक—स्थाली में पकाया हुआ ओदन जो गृह्यकर्मों में आहुति के काम आता है।

व्रत—पत्नी और यजमान व्रतश्रपणागार (यज्ञ का रसोईघर) में पर्युषितत्वादि दोषों से रहित घी या दूध मिला जो पदार्थ खाते हैं वह भक्षणीय द्रव्य व्रत कहलाता है।

भिन्न-भिन्न परिवारों में विशेष प्रकार के यज्ञों का प्रचलन था। उदाहरणार्थ, अंगिरसों में द्विरात्र गर्गों में त्रिरात्र भर्गियों में चतुरात्र जमदग्नियों में एक भिन्न प्रकार का चतुरात्र और उद्दालक कुसुर-बिन्दुओं में सप्तरात्र का विशेष प्रचार था।

---

१ ९-१-५२ तथा १ १-५८।

२ प्राशिता प्राप्तीऽस्य प्राशित्रम्।—५ १-९८, पृ० १३४।

३ ४ १-८५, भा० ९, पृ० ९५।

४ पयोव्रतो ब्राह्मणः।—भा० १ पृ० १९।

अध्याय १०

मूर्ति, पूजा और भक्ति

अर्चा और प्रतिकृति—पतंजलि ने सामान्य मूर्तियों को 'प्रतिकृति' और पूजार्थ बनाई गई मूर्तियों को अर्चा कहा है। प्रतिकृति मूलवस्तु का प्रतिरूप या प्रतिच्छन्द होती है। हाथी, घोड़े, गध आदि के खिलौने उनसे बिलकुल मिलते-जुलते आकार के बनाये जाते थे। ये प्रतिकृति कहलाते थे। अश्व की प्रतिकृति अश्वक, उष्ट्र की उष्ट्रक और गर्दभ की गर्दभक कहलाती थी। प्रतिकृति बतलाने के लिए मूल वस्तु के वाचक शब्द के आगे 'क' लगाया जाता था।[1] प्रतिकृति न होने पर भी यदि कुछ आकृति-साम्य दिखाई पड़ा तो समाकृति वस्तु का नाम मूल वस्तु के नाम 'क' लगाकर रख दिया जाता था। इस प्रकार अश्व से मिलते आकार की वस्तु यदि मिला हुआ तो अश्वक कही जाती थी भले ही वह उसकी प्रतिकृति न हो।[2] प्रतिकृतियाँ खिलौनों या कलाकृतियों के रूप में प्रचलित थीं। वे खुले बाजार में बिकती थीं।

इसके अतिरिक्त चित्र कर्म में और ध्वज पर भी प्रतिकृतियाँ अंकित की जाती थीं। काशिकाकार ने अर्जुन दुर्योधन आदि के चित्रों का तथा कपि गरुड़ सिंह आदि की ध्वज प्रतिकृतियों का उल्लेख किया है।[3] गरुड़-प्रतिकृति-मय ध्वज प्राचीन वैष्णवमन्दिरों में लगाये जाते थे। मेहरौली सिमुनियाँ आदि स्थानों में गरुड़ध्वज स्थापित करने से सम्बद्ध शिलालेख प्राप्त हुए हैं। पतंजलि ने ध्वजों में अंकित प्रतिकृतियों का उल्लेख नहीं किया है यद्यपि चित्रकर्म की चर्चा उन्होंने की है और कृष्णपक्षीय और कंसपक्षीय चित्रों की विभवता का वर्णन किया है।

देवताओं की भी मूर्तियाँ बनती थीं। इन्हें शुद्ध अर्थ में प्रतिकृति नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये किसी विद्यमान कृति का प्रतिरूप नहीं होती थीं अपितु धार्मिक ग्रन्थों में देवविग्रह के कल्पित स्वरूप के आधार पर बनाई जाती थीं। भाष्यकार ने इन देवमूर्तियों को अर्चा कहा है। उन्होंने तुंगनासिकी और दीर्घनासिकी अर्चाओं का भी उल्लेख किया है।[4]

अपण्य और पण्य अर्चाएँ—अर्चाएँ पूजा की वस्तु थीं। वे मन्दिरों या सार्वजनिक स्थानों पर भी प्रतिष्ठित की जाती थीं। कुछ लोग अर्चाओं से जीविका भी कमाते थे। जीविका कमाने

---

१ ५।३।९६।

२ ५।३।९७।

३ अर्चासु पूजार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु।—५।३।१०० काशिका।

४ चिरेश्वपुष्पमूर्ती नियनिमातस्य प्रागरादुदुपमने इन-वर्धमानेन।—१।१।२१ पृ० ७९।

५ १।१-५४ पृ० ६६।

के दो प्रकार रहे होंगे। कुछ लोग देवमूर्तियों को घर-घर ले जाकर उन पर चढ़ावा प्राप्त करते होंगे जैसा कि अभी तक कुछ लोग करते हैं और यह चढ़ावा उनकी जीविका का साधन होता होगा। कुछ लोग घरों में मूर्ति रखकर भक्तजनों द्वारा चढ़ाये गये द्रव्य से निर्वाह करते होंगे। सार्वजनिक मन्दिरों में प्रतिष्ठित देवमूर्तियों के पुजारियों की जीविका का साधन भी अर्चाएँ ही थीं। ये अर्चाएँ जिस देवता की होती थीं उसी के नाम से पुकारी जाती थीं। जैसे शिव की मूर्ति (पूजार्थ) शिव ही कही जाती थी।[1] इस प्रकार, अर्चाओं की एक श्रेणी पुजारियों के उदर-निर्वाह का साधन थी।

दूसरे प्रकार की अर्चाएँ वे थीं, जो लोगों की व्यक्तिगत पूजा के काम आती थीं। ये विशुद्ध पूजा की वस्तु थीं। ये मूर्तियाँ भी जिस देवता की होती थीं उसी के नाम से पुकारी जाती थीं। उदाहरणार्थ-शिव स्कन्द या विशाख की ये मूर्तियाँ भी शिव स्कन्द या विशाख ही कही जाती थीं।[2] पतंजलि ने उक्त दोनों प्रकार की मूर्तियों को पूजार्थ कहा है।[3]

तीसरे प्रकार की मूर्तियाँ वे थीं जो पूजार्थ नहीं अपितु विक्रयार्थ बनाई जाती थीं। मौर्य राजाओं ने राज्य की आय के लोभ से देवताओं की मूर्तियाँ बनवाकर उन्हें बाजार में बेचना प्रारम्भ किया था। पण्यार्थ बनाई गई मूर्तियों का नामकरण सम्बद्ध देवों के नाम में 'क' प्रत्यय लगाकर किया गया था। उदाहरणार्थ—बिक्री के लिए बनायी गई शिव स्कन्द या विशाख आदि की मूर्तियाँ शिवक स्कन्दक या विशाखक आदि कहलाती थीं। इस प्रकार, इन मूर्तियों की अवमानना की प्रतिकृति के समान सामान्य खिलौनों में की गई है।[4] ये सब प्रतिमाएँ भीतर पोली रहती थीं।[5]

शिव स्कन्द, विशाख—भाष्यकार ने अर्चाओं के प्रसंग में शिव स्कन्द और विशाख का ही उल्लेख किया है। इससे यह तो निर्विवाद है कि इन देवताओं की मूर्तियों की पूजा का प्रचार था। इनके अतिरिक्त अन्य किन देवताओं की मूर्तियाँ पूजी जाती थीं इस बात का स्पष्ट उल्लेख भाष्य में नहीं है। 'देवताद्वन्द्वे च' (६ ३-२६) तथा 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादा' आदि (८-१ १५) सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने स्कन्द और विशाख को अत्यन्त सहचरित तथा लोक-विख्यात द्वन्द्व कहा है। इससे यह अनुमान होता है कि इन दोनों की मूर्तियाँ युग्म रूप में भी पूजी जाती थीं।

---

१ ५ ३-९९।

२ वही।

३ यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।—५ ३-९९ पृ० ४७१।

४ अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति शिवः स्कन्दः विशाख इति किं कारणम्? मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्—वही।

५. वही।

६ भा० १ पृ० २०।

७ ब्रह्मप्रजापती शिववैश्रवणौ स्कन्दविशाखौ—द्वन्द्व इत्यनुवर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणस्य तत्प्रयोजनं—लोकवेदयोर्द्वन्द्वसंज्ञा यथा स्यात्। कानि लोकवेदयोर्द्वन्द्वानि? वेदे ये सहवाप-निर्दिष्टा न चैते वेदे सहवापनिर्दिष्टाः।—६-३-२६, पृ० ११० तथा ८ १ १५, पृ० ३५८।

यह भी सम्भव है कि इनकी मूर्तियाँ युग्म रूप में बनती भी हों। यही बात शिव और वैश्रवण के विषय में कही जा सकती है। भाष्यकार ने इन दोनों युग्मों को द्वन्द्व माना है किन्तु वेद में ये सह वाप-निर्दिष्ट नहीं हैं। इससे इनकी एक साथ पूजा होना आवश्यक नहीं है। 'देवता द्वन्द्वे च' सूत्र के ही भाष्य में द्वन्द्व रूप से निर्दिष्ट ब्रह्म और प्रजापति की मूर्तियाँ पूजी जाती थीं या नहीं और पूजी जाती थीं तो द्वन्द्व रूप में या पृथक्-पृथक् यह बात भी भाष्य से स्पष्ट नहीं मालूम होती।[1]

पतञ्जलि के अनुसार इस युग में शिव-भक्ति का प्रचार सर्वाधिक जान पड़ता है। यहाँ तक कि शिवोपासकों का अपना स्वतन्त्र सम्प्रदाय तक बन चुका था और वे शिवभागवत कहलाते थे। ये लोग शिव-चिह्न के रूप में अपने पास त्रिशूल रखते थे। भाष्य में इसे अय शूल कहा है। इसके रखनेवाले आयःशूलिक कहे जाते थे। यों आयःशूलिक उन साहसिक लोगों को भी कहते थे जो मृदु उपायों से करने योग्य कार्यों को तीक्ष्ण उपाय से करने के अभ्यस्त होते हैं। इस अर्थ में अय शूल का प्रयोग लाक्षणिक था।[2]

काश्यप—काश्यप की भी मूर्ति पूजी जाती थी इस बात का संकेत 'सम्भावामेकवाय [illegible]कविमत्स्यों' (१ २ ६४) सूत्र के भाष्य में मिलता है। इसमें काश्यप की प्रतिकृति का काश्यप ही कहा है और यही प्रयोग लोक में प्रचलित माना है। यह काश्यप शब्द अण् प्रत्ययान्त है जिसके आगे प्रतिकृति अर्थ में कन् प्रत्यय होता है किन्तु अपण्य जीविकार्थ मूर्ति होने के कारण शिव स्कन्द आदि के समान 'कन्' का लुप् (लोप) हो जाता है। स्पष्ट है कश्यप की मूर्ति भी शिव की मूर्ति के समान पुजारी की जीविका का साधन थी। काश्यप वरुण या विष्णु का भी नाम है। कहा जाता है कि परशुराम ने क्षत्रियों का विनाश कर अश्वमेध करने के बाद पृथ्वी काश्यप को दान कर दी थी। इसीलिए पृथ्वी को काश्यपी देवी कहते हैं।[3]

धनपति राम और केशव—पतञ्जलि के समय में धनपति या वैश्रवण की पूजा होती थी यह बात स्पष्ट है। राम और केशव की पूजा का भी चलन था किन्तु ये राम और केशव कौन हैं? बलराम और कृष्ण अथवा परशुराम और विष्णु? परशुराम का उल्लेख भाष्य में अन्यत्र कहीं नहीं है। जमदग्नि और जामदग्न्य का उल्लेख एक स्थान पर अवश्य हुआ है किन्तु केवल पंचावत्त हवन करनेवाले ऋषि विशेष तथा उनके गोत्रापत्यों के अर्थ में।[4] परशुराम से उनका कोई सम्बन्ध नहीं बतलाया गया है। केशव शब्द का भी अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं है। भाष्यकार परशुराम के विषय में उदासीन जान पड़ते हैं। बलराम का उल्लेख उन्होंने अन्यत्र भी कृष्ण के

---

१ वही।

२ ५ २-७६, पृ० ३९८ कि योऽयःशूलेनान्विच्छति स आयःशूलिकः ? किं चातः ? शिवभागवतो प्राप्नोति।

३ मोनियर विलियम्स डिक्शनरी।—पृ० २८१।

४ पुनरुत्पत्ति पञ्चावत्तं जुह्वति तेषाम् [illegible] जमदग्निरामकेशवानाम्।—२ २-३४ पृ० ३८९।

५ १ १ ४४ पृ० २६४।

साथ किया है।[1] उन्होंने एक श्लोकार्द्ध भी उद्धृत किया है जिसमें संकर्षण के साथ उनकी बल-वृद्धि की कामना की गई है। इस श्लोक से राम और कृष्ण के प्रति भक्ति एवं उनकी बल-कामना तो परिलक्षित होती ही है उनके युग्म रूप में पूजित होने का भी आभास मिलता है। भास के 'स्वप्नवासवदत्त' का प्रारम्भ बलराम की स्तुति से होता है। कृष्ण के अतिरिक्त वासुदेव शब्द का उल्लेख भाष्य में अनेक बार हुआ है, किन्तु सर्वत्र महाभारत के वीर योद्धा अर्जुन के सहचर और कंस के घातक के रूप में।[2] इन समस्त प्रसंगों में उनका वृष्णि वंश के नेता अथवा वर्ग या पक्षविशेष के नायक के रूप में स्मरण किया गया है। उनके पक्षपाती लोग थे किन्तु कंस के पक्षपाती लोग भी थे। भाष्यकार ने कहा है कि नाटक में कंस का वध होने के समय कंस-भक्तों के चेहरे उदासी से काले पड़ जाते हैं और कृष्ण-भक्तों के मुख क्रोध से लाल हो जाते हैं। इससे यह पता चलता है कि पतंजलि-काल में कंस के समर्थकों की संख्या भले ही कम-ही विद्यमान थी। इस प्रकार, भाष्य के वासुदेव-सम्बन्धी उल्लेखों में उनकी विष्णुत्व-प्रतिष्ठा नहीं मिलती। हाँ भाष्यकार ने एक स्थान पर अवश्य न केवल उन्हें अर्जुन से बड़ा ही बतलाया गया है, अपितु क्षत्रिय से ऊपर उठाकर तत्रभवान् अर्थात् देवता रूप में प्रतिष्ठित स्वीकार कर लिया गया है। और यदि हम 'संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्' (२-२-२४ पृ० ११९) को अथवा 'सर्वथा तत्रभवतः' (४-३-९८ पृ० २७५) के साथ मिलाकर पढ़ें तो इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचेंगे कि पतंजलि-काल में कृष्ण में देवत्व का आरोप हो चुका था और बलराम के साथ उनकी पूजा होने लगी थी यद्यपि ऊपर उद्धृत वाक्य का 'अथवा' जो कि भाष्यकार के ध्यान में देर से आया इस ओर संकेत करता है कि कृष्ण वासुदेव में विष्णुत्व का आरोप अति प्रसिद्ध बात नहीं थी और यदि वे पूजे जाने लगे भी थे तो भी शिव स्कन्द विशाख के समान सर्वमान्य देवता के रूप में पूर्ण प्रसिद्ध नहीं हो पाये थे।

देव-मन्दिर—देवताओं के स्थान को उपर्युक्त उद्धरण में प्रासाद कहा है। मन्दिर या प्रतिष्ठान शब्द का प्रयोग देवगृह के रूप में भाष्य में नहीं हुआ है। प्रासाद का भी मन्दिर अर्थ में केवल एक बार ही उल्लेख मिलता है। इससे भी अनुमान होता है कि पतंजलि-काल वैदिक कर्मकाण्डों का युग था। भक्ति का प्रारम्भ इस समय हो रहा था और यज्ञशालाओं की तुलना में मन्दिरों की संख्या नगण्य थी। पाणिनि ने 'भक्तिकर' शब्द की निष्पत्ति विशेष रूप से बतलाई है।[5] भक्ति शब्द का प्रयोग पतंजलि ने इस अर्थ में कहीं नहीं किया है, जिस अर्थ में आगे चलकर भागवत-सम्प्रदाय में वह व्यवहृत हुआ। पाणिनि और पतंजलि दोनों ने उसे अँगरेजी के

---

१ संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्।—२-२ २४, पृ० ११९।

२ जघान कंसं किल वासुदेवः।—३-२ १११, पृ० ९६ तथा ४-२ १०४ पृ० २०८ तथा ४ ३-९८, पृ० २७५ तथा ४ १ ११४ पृ० ११९।

३ वही।

४ इदं तर्हि प्रयोजनं वासुदेवशब्दस्य पूर्वनिपातं वक्ष्यामि। अथवा नैषा क्षत्रियाख्या। संज्ञैषा तत्र भवतः।—४ ३-९८, पृ० २७५।

५ ३-२-२१।

लौंपस्टी' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इसलिए 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' (४।३।९८) के आधार पर 'वासुदेवक' शब्द का अर्थ वासुदेव का भक्त (उपासक) मान लेना भ्रम होगा क्योंकि जनपदों के साथ भी इस शब्द का प्रयोग भाष्य में बार-बार हुआ है, जहाँ जनपद भक्त का अर्थ उनके प्रति 'कौंयत' मात्र होता है।[1]

देवमह—देवताओं के उत्सव मनाने की प्रथा थी। उत्सवों को 'मह' कहते थे और एतदर्थ एकत्र समाज को संसद्। धनपति राम और केशव के प्रासाद की संसद् में मृदंग शङ्ख और पणव बजने की चर्चा ऊपर हुई है। भाष्यकार ने इन्द्र और गंगा के निमित्त होने वाले 'मह' का भी उल्लेख अन्यत्र किया है एतदर्थ काम में आनेवाली वस्तु ऐन्द्रमहिक और गांगामहिक कही जाती थी।[2] इन 'महों' को 'इज्य' भी कहते थे।

---

१ ४।३।१०० पृ० २४६ तथा ४-३-९९ से ९९।
२ ५।१।१२ पृ० ३०२।

अध्याय ११

दर्शन

दर्शन का लक्ष्य—समस्त धर्मों एवं दर्शनों का उद्देश्य दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति है। अभाव रोगादि पीड़ा तथा मृत्यु का भय ये मनुष्य को जीवन के दोनों छोरों से परे सोचने को विवश करते हैं। काल प्राणियों को वृद्ध बनाकर उनका संहार करता जाता है।[1] भाष्यकार ने मृत्यु की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने मनुष्यों को मरणधर्मा कहा है।[2] उन्होंने कहीं से एक कारिका उद्धृत की है जिसमें मृत्यु को 'दुर्मदी' कहा गया है। जिस प्रकार शराबी रात-दिन मद्य पीकर भी उससे तृप्त नहीं होता उसी प्रकार वैवस्वत (काल) रात-दिन भी अश्व पुरुष और अन्य पशुओं की बलि लेकर भी तृप्त नहीं होता।[3] शीतोष्ण सुख-दुःख और जनन-मरण के द्वन्द्व उनकी दृष्टि में थे। फिर भी उनका दृष्टिकोण निराशावादी नहीं था और न वे जीवन को कष्टमय ही मानते थे। रामायण (किष्कि० का०) के श्लोक का एक चरण उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि मनुष्य को कोई रोग न हो, तो वह सौ वर्ष की आयु के बाद भी जीवन का रस या आनन्द प्राप्त करता है।[5]

दार्शनिक—जीवन और जगत् के तत्त्वों पर विचार करनेवाले विद्वानों को पतंजलि ने धीर और ध्यानवन्त कहा है। वे प्रज्ञान या विज्ञानयुक्त वाणी बोलते हैं।[6] ऐसे विचारक प्रत्यक्षधर्मा परावरज्ञ विदित-वेदितव्य और अधिगतयाथातथ्य कहलाते थे। ये वाग्योगविद् ज्ञानी विज्ञान (तत्त्वज्ञान) के आधार पर अपना मन स्थिर करते थे।[8] इनके चिन्तन का लक्ष्य था धीरता आयुष्मत्ता और सिद्धार्थता प्राप्त करना जिससे दुःखार्तता से निवृत्ति प्राप्त की जा सके।[9] भाष्यकार ने कहा है कि जो मनुष्य दुःखार्त होता है, वह अन्य भयंकर दुःखों को सुनकर विष-मस्थ को ही अधिक अच्छा समझता है।[10]

---

१ ३-२ ११७, पृ० ३३९।

२ आ० १ पृ० ७।

३ अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुं, वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदी।—२-२-२९, पृ० ३८९।

४ वही पृ० ३८०।

५ एति जीवन्तमानन्दो नास्य किञ्चिदनुपततीति।—१ ३-१२, पृ० ५६।

६. आ० १ पृ०। ७. आ० १, पृ० २४।

८. आ० १ पृ० ५।

९. आ० १ पृ० १५।

१० इह य एष मनुष्यो दुःखार्तो भवति सोऽन्यानि दुःखान्यनुनिशम्य विषमस्थमेव आत्मानं मन्यते।—१ ४-१० पृ० १७५।

परम प्रतिष्ठा—भाष्यकार ने इहलोक और परलोक दोनों में सुख की चर्चा की है। ऐहलौकिक सुख को वे पर्याप्त नहीं मानते। वास्तव में 'परम प्रतिष्ठा'[1] तथा काम-पूर्ति की चिन्ता[2] उन्हें 'अमुत्र' से अधिक थी फिर भी वे जानते थे कि कामों का कहीं अन्त नहीं है।[3]

उपनिषद् और पतञ्जलि—महाभाष्य के पूर्व उपनिषदों की रचना हो चुकी थी, जिनमें काम प्रवृत्ति निवृत्ति ब्रह्म जीव जगत् और मुक्ति-सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन है। फिर भी पतंजलि को उपनिषदों की जानकारी थी ऐसा महाभाष्य से प्रतीत नहीं होता। उन्होंने ब्रह्मवादी और ब्रह्मज्य शब्दों का व्यवहार किया है किन्तु वेदवादी तथा ब्राह्मणपोषक के अर्थ में। ब्रह्म शब्द का उपयोग उन्होंने उपनिषद्-मान्य अर्थ में कहीं नहीं किया है। सांख्ययोगादि दर्शनों से भी वे अपरिचित मालूम होते हैं। ऐसे महान् वैदिक कर्मकाण्डी का उपनिषदों से इस प्रकार अपरिचित होना इस बात का पोषक है कि उपनिषद् का दर्शन वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में पल्लवित हुआ था। अतः यह स्वाभाविक था कि वैदिक लोग उनकी उपेक्षा करते। उनका काम्य आत्मज्ञान नहीं स्थूल सुख था और यज्ञ था उसका साधन। इसलिए वे ब्रह्मचिंतन के पचड़े में नहीं पड़े। पतंजलि ने ब्रह्म शब्द का प्रयोग वेद या ब्राह्मण के ही अर्थ में सर्वत्र क्यों किया है, यह बात उक्त पार्श्वभूमि में स्पष्ट समझी जा सकती है।

आत्मा—आत्मा के विषय में भी भाष्यकार ने जो कहा है वह बड़े स्थूल ढंग से कहा है। उन्होंने आत्मा के दो प्रकार माने हैं—शरीरात्मा और अन्तरात्मा। जिन कर्मों के परिणाम-स्वरूप शरीरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है उनका कर्ता अन्तरात्मा होता है और जिन कर्मों के परिणाम-स्वरूप अन्तरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है, उनका कर्ता शरीरात्मा होता है। इस परिभाषा के अनुसार शरीरात्मा और अन्तरात्मा दोनों कर्ता हैं और फलभोक्ता भी। इस प्रकार आत्मा आत्मा को मारता है यह कथन भी युक्तिसंगत हो सकता है।[5] अन्तरात्मा के कार्यों से शरीर को कष्ट पहुँच सकता है और शरीर के कार्यों से अन्तरात्मा को कष्ट हो सकता है। भाष्यकार ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि बिना अन्तरात्मा के आदेश से शरीरात्मा किस प्रकार कर्म कर सकता है। कार्य का मूल इच्छा है और इच्छा केवल चेतन में ही रह सकती है। यह बात भाष्यकार को सम्यक् अवगत थी।[6] 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' (३ १-७) सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने इस विषय पर भी विचार किया है और कहा है कि इच्छा की उप

१ सोऽन्तमाप्नोतिकर्वं परम।—आ० १ पृ० ५।

२ स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति—६ १-८४ पृ० ११९।

३ न वै कामानां तृप्तिरस्ति—वही।

४ १ २-७८, पृ० २२८ तथा १ २ १ पृ० २०५।

५ हन्त्यात्मानमात्मा—आत्मना हन्यत आत्मेति। कः पुनरात्मानं हन्ति को आत्मना हन्यते। द्वावात्मानावन्तरात्मा शरीरात्मा च। अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखदुःखे अनुभवति।—३ १-८७ पृ० १९३।

६ ३ १-७, पृ० २९।

इच्छा प्रवृत्ति से होती है। जो व्यक्ति चटाई बनाने जाता है वह यह घोषणा करता नहीं घूमता। उसे रज्जु, कील, पूल हाथ में लिये तैयार देखकर लोग उसकी इच्छा समझ लेते हैं। यह पुरुष की बात हुई। पशुओं में भी यही बात देखी जाती है। मुमूर्षु कुत्ते एकान्त में पड़े रहते हैं और उनकी आँखें बाहर कढ़ जाती हैं। अचेतनों में भी प्रवृत्ति रहती है। नदी का जो किनारा गिरनेवाला होता है, उसके लोष्ट शीर्ण हो जाते हैं, फट पड़ते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। इस प्रकार, अचेतनों में भी चेतनों के समान इच्छा दिखाई पड़ती है। अथवा सभी कुछ चेतनावान् है। कौड़ियाँ पानी में चमकती हैं। शिरीष नीचे झुककर सोता है, सूर्यमुखी सूर्य का अनुसरण करती है, लोहा चुम्बक की ओर सरकता है। वेद में भी कहा गया है—'ग्रावाणो सुनो'। इससे पता चलता है कि अचेतन कुछ नहीं है। इसी बात को दृष्टि में रखकर उन्होंने 'स्थानेऽन्तरतमः' (१ १-५०) सूत्र के भी भाष्य में कहा है कि चेतन-अचेतन सभी में सदृश के पास रहने की प्रवृत्ति देखी जाती है। ढेले को पूरी शक्ति से उठाकर फेंका जाय तो वह न ऊपर जाता है और न तिरछा अपितु पृथ्वी का विकार होने के कारण पृथ्वी पर ही आ जाता है। उसका पृथ्वी के साथ सादृश्य है। अन्तरिक्ष में सूक्ष्म जल का विकार धूम-समूह कुहरा निवात आकाश-देश में न तिरछा जाता है न नीचे आता है, अपितु जल का विकार जल में ही मिल जाता है। इसी प्रकार, ज्योति का विकार किरण निवात आकाश देश में जलने पर न तिरछा जाता है, न नीचे आता है अपितु ज्योति का विकार होने के कारण ज्योति में ही मिल जाता है क्योंकि इन दोनों में सादृश्य है। भाष्य के इस कथन से भी प्रतीत होता है कि पतंजलि अचेतनों में भी प्रवृत्ति और इच्छा स्वीकार करते थे।[1]

भावविकार—भाष्यकार ने भगवान् वार्ष्यायणि का मत उद्धृत किया है, जिन्होंने सत्तावान् या वर्तमान वस्तुओं को भाव कहा है। इनमें छह प्रकार से विकार उत्पन्न होते हैं—उत्पत्ति विद्यमानता विपरिणाम वृद्धि, अपक्षय और विनाश। समस्त भाव इन छह परिवर्तनों से गुजरते हैं। यही सृष्टि की परिवर्तनशीलता है। कर्ता की प्रवृत्ति उत्पादन-क्रिया के समय अन्य प्रकार की होती है और मरण-क्रिया के प्रति अन्य प्रकार की। नित्य वस्तु वह होती है जो ध्रुव कूटस्थ अविचाली अपाय-उपजन-विकार-रहित उत्पत्ति-वृद्धि-व्यय-हीन हो।[2] किसी-किसी विचारक के अनुसार यह सारा संसार कूटस्थ है। इसमें कहीं कोई चेष्टा या व्यापार नहीं है। यह कहना कि संसार परिवर्तनशील है युक्तिसंगत नहीं है। यहाँ चलाया हुआ बाण चलकर कहीं गिरता नहीं नदियाँ बहकर समुद्र को नहीं जातीं। यह संसार एक रूप से ही स्थित है।[3] एक दूसरे विचारक का कहना है कि संसार कूटस्थ नहीं है। इसमें परिवर्तन होते हैं किन्तु आदित्य की गति के समान दिखाई नहीं पड़ते। कारण-सामग्री के जुट जाने पर जिस प्रकार क्रमशः नाक के तन्तु

---

१ अचेतनेष्वपि। तद्यथा—लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथ्वीविकारः पृथ्वीमेवागच्छत्यान्तर्यतः।—१ १-५० पृ० ११०।

२ नित्यमध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्धिव्ययोगि यत्तन्नित्यम्।—भा० १ पृ०१७।

३ ३-२-१२३ पृ २५६।

चल जाते हैं किन्तु अन्दर दीख नहीं पड़ते। उसी प्रकार संसार में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें सामान्य लोग नहीं देख पाते। केवल त्रिकालज्ञ योगी ही उनके अस्तित्व का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। सामान्य जन तो अनुमान से ही उनको जान पाते हैं।[1]

अनुमान-प्रमाण—पतञ्जलि अनुमान प्रमाण से अभिज्ञ थे। उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त भी उन्होंने अनुमान का प्रमाण के रूप में उल्लेख किया है और साथ ही नैयायिकों के प्रसिद्ध उदाहरण धूम को देखकर अग्नि के अनुमान का उल्लेख भी। उन्होंने इसमें एक उदाहरण और जोड़ दिया है और वह है त्रिविष्टब्धक (त्रिदण्ड) को देखकर परिव्राजक का अनुमान किन्तु बात यों नहीं है। पहले अग्नि और धूम का तथा त्रिविष्टब्धक और परिव्राजक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध देखा जाता है। फिर उन्हें अन्य स्थान में भी देखकर जान लिया जाता है कि यहाँ अग्नि है या यहाँ परिव्राजक है।[2] आकाश में सूर्य और चन्द्र के न दिखाई देने पर भी आकाश को प्रकाशित देखकर उनका अनुमान हो जाता है। अनुमान प्रत्यक्ष से अधिक बलवान् होता है। जैसे अलातचक्र (घुमाये जाने या गोलाकार दिखनेवाले जलते काष्ठ) प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं किन्तु अनुमान से मालूम होता है कि वे वास्तव में चक्र नहीं होते।[3]

प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय-जन्य होता है। इसीलिए, इन्द्र या आत्मा के इन ज्ञान करणों को इन्द्रिय कहते हैं। ये करण ही आत्मा के भी अनुमापक हैं। बिना कर्त्ता के करण नहीं हो सकता। इसलिए, इन्द्रियों से आत्मा का अनुमान किया जा सकता है। आत्मा ने इन्हें स्वयं देखा है, इसलिए इन्द्रियाँ इन्द्रदृष्ट कहलाती हैं। इनको आत्मा ने स्वयं के लिए उत्पन्न किया है इनका स्वयं वरण किया है और वह स्वयं उन्हें भिन्न विषयों को प्रत्यक्षार्थ प्रदान करता है। इसलिए, इन्द्रियाँ इन्द्रदृष्ट, इन्द्रसृष्ट, इन्द्रजुष्ट और इन्द्रदत्त कही गई हैं।

प्रत्यक्ष के बाधक—प्रत्यक्ष में छह बाधक होते हैं—वस्तु का अत्यन्त सन्निकर्ष, वस्तु की बहुत दूरी, द्रष्टा और वस्तु के बीच किसी अन्य वस्तु का आ जाना, वस्तु का अन्धकार से आवृत होना और प्रत्यक्षेन्द्रिय की दुर्बलता। इन्द्रिय-दौर्बल्य में इन्द्रियों का सावहित न होना भी सम्मिलित है।[4] यह आवश्यक है कि मन इन्द्रियों से संयुक्त रहे। मन और इन्द्रियों का सान्निध्य न होने

---

१ बहुभावविकारा इति [illegible] स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। अन्यथा हि कारकाण्यस्तो प्रवर्तन्तेऽन्यथाऽहिंस्रिमने।—१ १ ९, पृ० १४।

२ धूमं दृष्ट्वाऽग्निरत्रेति गम्यते त्रिविष्टब्धकं दृष्ट्वा परिव्राजक इति। किमत्र उपन्यास। प्रत्यक्षतोऽग्निधूमयोरभिसम्बन्धं दृष्टो भवति त्रिविष्टब्धकपरिव्राजकयोश्च। स तद्विदेशस्थमपि दृष्ट्वा जानात्यग्निरत्र परिव्राजकोऽत्रेति। भवति वै प्रत्यक्षादनुमानं बलीयस्तरम्। अलातचक्रं प्रत्यक्षं दृश्यतेऽनुमानाच्च गम्यते नैतदस्तीति।—१ २ १२४ पृ२५ तथा ४ १ १ पृ० १९।

३ वही।

४ ५ २ ९३।

५ षड्भिः प्रकारैः सतां भावानामनुपलब्धिर्भवति-अतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षान्मूर्त्यन्तरव्यवधानात्तमसाऽऽवृतत्वादिन्द्रियदौर्बल्यादिति।—४ १ १-पृ० १८।

पर सामने उपस्थित वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं होता।[1] इसीलिए, शाकटायन नामक सुप्रसिद्ध वैयाकरण को रथमार्ग में बैठ रहने पर भी सामने से निकलनेवाले शकटसार्थ का पता नहीं चला। कभी-कभी अन्य कारणों से भी सत् का अप्रत्यक्ष और असत् का प्रत्यक्ष हो जाता है।

तदर्थ मृगतृष्णा और गन्धर्वनगर, जो शांकर वेदान्तियों के सुप्रसिद्ध हैं भाष्य में भी व्यवहृत हुए हैं। प्यासे मृग बालू में पानी की धारा देखते हैं किन्तु वह वहाँ नहीं होती। उसी प्रकार, गन्धर्वनगर दूर से दिखाई देते हैं किन्तु पास जाने पर नहीं मिलते। यह असत् वस्तु का प्रत्यक्ष है। आदित्य की गति विद्यमान होती हुई भी नहीं दिखलाई पड़ती।[1] यह सत् वस्तु का अप्रत्यक्ष है। कभी-कभी एक ही वस्तु का अनेक स्थानों में तथा अनेकाधिकरणों में एक साथ ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है, यद्यपि एक ही कर्ता एक साथ अनेक अधिकरणों में उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। आदित्य का प्रत्यक्ष इसी प्रकार का है।[1]

आप्तप्रमाण—प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आप्तप्रमाण का भी उल्लेख भाष्य में है। उन्होंने यद्यपि भाष्य में आप्त की परिभाषा नहीं दी है, तथापि वे शिष्टों को आप्त मानते हैं ऐसा उनके कथन से प्रतीत होता है। आर्यनिवास अर्थात् आर्यावर्त में रहनेवाले अलोलुप अगृही जितेन्द्रिय किसी विशेष विद्या में पारंगत ब्राह्मण उनकी दृष्टि में शिष्ट थे। भाष्यकार की यह धारणा वासिष्ठ धर्मशास्त्र के अनुकूल है।[1] शिष्ट वाक्य को मानकर ही उन्होंने कात्यायन प्रणीत भ्राज-श्लोकों को प्रमाण-रूप से उद्धृत किया है।[1] प्रमत्तगीत (वचन) को छोड़कर अन्य लोगों के वचन स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति नहीं है।

अन्वयव्यतिरेक—इनके अतिरिक्त पतंजलि कुछ ऐसे शब्दों तथा उपमानों का भी प्रयोग करते हैं जो न्याय-वैशेषिक में विशेष रूप से व्यवहृत होते हैं—यथा अन्वयव्यतिरेक। इनका अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि वृक्ष कहने पर एक शब्द सुनाई देता है—अकारान्त वृक्ष शब्द और सु प्रत्यय। एक अर्थ का भी बोध होता है—मूल-स्कन्ध-पलाश-फलवान् और एकत्व। 'वृक्षौ' कहने पर कुछ वर्ण छूट जाता है कुछ नया जुड़ जाता है और कुछ ज्यों-का-त्यों अर्थात् अन्वयी रहता है। सकार छूट जाता है, 'औ' जुड़ जाता है और कुछ ज्यों-का-त्यों स्थिर रहता है। यही ... अर्थ के सम्बन्ध में होती है। एकत्व हट जाता है द्वित्व बढ़ जाता है और मूल-स्कन्ध-पलाश- ... ज्यों ... बनी रहती है। इससे जान पड़ता है कि जो शब्द छूट जाता है उसका ही

कि

नहीं न

विचारक

के स ।

... वर्तमानं कालं नोपलेभे। किं पुनः कारणं शाकटा...

...संयुक्तानीन्द्रियाण्युपलब्धौ कारणानि भवन्ति मनसोऽ...

वह अंश होता है जो छूट जाता है। जो अर्थ चला जाता है, वह चले हुए शब्द का अर्थ होता है और जो अर्थ स्थिर रहता है वह स्थिर रहनेवाले शब्द का होता है। अन्वयव्यतिरेक की यह परिभाषा नैयायिकों के अनुसार ही है।[1]

गुहा—उपनिषदों में प्रयुक्त 'गुहा' शब्द महाभाष्य में भी आया है और उसी अर्थ में, किन्तु जिस श्लोक में यह शब्द मिलता है वह अन्यत्र से उद्धृत है।[2] निर्वाण का उल्लेख पाणिनि और पतञ्जलि दोनों ने किया है, किन्तु इससे अधिक मोक्षदर्शन-सम्बन्धी कोई जानकारी हम महाभाष्य से नहीं प्राप्त होती।

कार्य का लक्ष्य—मनुष्य के प्रत्येक कार्य का उद्देश्य किसी-न किसी फल की प्राप्ति होता है। समझदार व्यक्ति पहले बुद्धि-पूर्वक किसी वस्तु को देखता है। देखकर उसे पाने की कामना करता है। कामना के पश्चात् उसका प्रयत्न प्रारम्भ होता है। प्रयत्न का फल कार्यारम्भ उसका परिणाम काम का सम्पादन और काम-सम्पादन से फलावाप्ति होती है। फलावाप्ति से हीन कोई कर्म नहीं होता। कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त होता है। इसे पाणिनि और पतञ्जलि ने परलोक कहा है।[3] काशिका में भी परलोक का अर्थ जन्मान्तर-शरीर बतलाया है।

अन्य दार्शनिक मत—पतञ्जलि ने अनेक दार्शनिक मतों का भी उल्लेख किया है। आस्तिक नास्तिक दैष्टिक लोकायत अथ पूर्णी और मस्करी सम्प्रदाय से वे परिचित थे।

आस्तिक नास्तिक और दैष्टिक—परलोक में विश्वास रखनेवाले लोग आस्तिक कहे जाते थे और परलोक में विश्वास न रखनेवाले नास्तिक। अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (४ ४ ६०) सूत्र का भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने शंका की है कि क्या जिसमें मति हो (यस्यास्ति मतिः) उसे आस्तिक कहना चाहिए? तब तो चोर भी आस्तिक कहा जायगा। इसलिए 'है', यह जिसका विश्वास हो उसे आस्तिक और 'नहीं है' यह जिसका विश्वास हो उसे नास्तिक कहना चाहिए। इसी प्रकार, 'दिष्ट या भाग्य ही सब कुछ है' यह जिसका विश्वास हो उसे दैष्टिक कहते हैं।[4] इससे यह स्पष्ट है कि पतञ्जलि के समय तक आस्तिकता का ईश्वर या वेद से कोई सम्बन्ध न था। 'नास्तिका वेदनिन्दकः' आदि बातें बहुत पीछे की हैं। भाष्यकार के समय में ये तीनों मत विद्यमान थे। बुद्ध के समय में भी छह शास्ता—(मंखी गोसी, पकुधाय और तीर्थंकर)

---

१ १-२-४५, पृ ५१३, १४।

२ गुहा भौमि निहिता।—भा० १, पृ० ७; स एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध्या तावत्कञ्चिदर्थं पश्यति। सन्दृष्टे प्रार्थना प्रार्थनायामध्यवसायो ध्यवसाय आरम्भ आरम्भेनिर्वृत्तिर्निवृत्तौ फलावाप्तिः।—१ ४ १२ पृ०, १९८।

३ ५-२ ९२, पृ० ४०२ तथा परलोकं जन्मान्तरशरीरम्।—वहीं, का०।

४ वहीं।

५. किं यस्यास्ति मतिः स आस्तिकः ? किं चातः ? चोरेऽपि प्राप्नोति। एवं तर्हि-इतिलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। अस्तीत्यस्य मतिरास्तिकः। नास्तीत्यस्य मतिर्नास्तिकः। दिष्टमित्यस्य मतिर्दैष्टिकः।—४ ४ ६०, ० १८२।

पर सामने उपस्थित वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं होता।[1] इसीलिए, शाकटायन नामक सुप्रसिद्ध वैयाकरण को रथमार्ग में बैठे रहने पर भी सामने से निकलनेवाले शाकटसार्थ का पता नहीं चला। *कभी-कभी अन्य कारणों से भी सत् का अप्रत्यक्ष और असत् का प्रत्यक्ष हो जाता है।*

तदर्थ मृगतृष्णा और गन्धर्वनगर जो शांकर वेदान्तियों के सुप्रसिद्ध हैं भाष्य में भी व्यवहृत हुए हैं। प्यासे मृग बालू में पानी की धारा देखते हैं किन्तु वह वहाँ नहीं होती। उसी प्रकार, गन्धर्वनगर दूर से दिखाई देते हैं, किन्तु पास जाने पर नहीं मिलते। यह असत् वस्तु का प्रत्यक्ष है। आदित्य की गति विद्यमान होती हुई भी नहीं दिखलाई पड़ती।[2] यह सत् वस्तु का अप्रत्यक्ष है। कभी कभी एक ही वस्तु का अनेक स्थानों में तथा अनेकाधिकरणों में एक साथ ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है यद्यपि एक ही कर्ता एक साथ अनेक अधिकरणों में उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। आदित्य का प्रत्यक्ष इसी प्रकार का है।[3]

आप्तप्रमाण—प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आप्तप्रमाण का भी उल्लेख भाष्य में है। उन्होंने यद्यपि भाष्य में आप्त की परिभाषा नहीं दी है तथापि वे शिष्टों को प्राप्त मानते हैं ऐसा उनके कथन से प्रतीत होता है। आर्यनिवास अर्थात् आर्यावर्त में रहनेवाले अलोलुप अगृही जितेन्द्रिय किसी विशेष विद्या में पारंगत ब्राह्मण उनकी दृष्टि में शिष्ट थे। भाष्यकार की यह धारणा वासिष्ठ धर्मशास्त्र के अनुकूल है।[4] शिष्ट वाक्य को मानकर ही उन्होंने कात्यायन प्रणीत भ्राजश्लोकों को प्रमाण-रूप से उद्धृत किया है।[5] प्रमत्तगीत (वचन) को छोड़कर अन्य लोगों के वचन स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति नहीं है।

अन्वयव्यतिरेक—इनके अतिरिक्त पतंजलि कुछ ऐसे शब्दों तथा उपमानों का भी प्रयोग करते हैं जो न्याय-वैशेषिक में विशेष रूप से व्यवहृत होते हैं—यथा अन्वयव्यतिरेक। इनका अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि वृक्ष कहने पर एक शब्द सुनाई देता है—अकारान्त वृक्ष शब्द और सु प्रत्यय। एक अर्थ का भी बोध होता है—मूल-स्कन्ध-पलाश-फलवान् और एकत्व। 'वृक्षौ' कहने पर कुछ अर्थ छूट जाता है, कुछ नया जुड़ जाता है और कुछ ज्यों-का-त्यों अर्थात् अन्वयी रहता है। सकार छूट जाता है, औ जुड़ जाता है और कुछ ज्यों-का-त्यों स्थिर रहता है। यही बात अर्थ के सम्बन्ध में होती है। एकत्व हट जाता है द्वित्व जुड़ जाता है और मूल-स्कन्ध-पलाश-फलवत्ता ज्यों की-त्यों बनी रहती है। इससे जान पड़ता है कि जो शब्द छूट जाता है उसका ही

---

१ अथवा भवति वै कश्चिज्जाग्रदपि वर्तमानं कालं नोपलभते। किं पुनः कारणं जाग्रदपि वर्तमानं कालं नोपलभते? मनसा संयुक्तानीन्द्रियाण्युपलब्धौ कारणानि भवन्ति मनसोऽसान्निध्यात्।—२-१-११५, पृ० २५०।

२ ४ १ १ पृ० १७, १८।

३ वही

४ ६ १ १०९, पृ० ३५९।

५ वासि० धर्मशास्त्र अध्याय १।

६ भा १ पृ० ५६। एक आदित्यो... पद्देशपृथक्स्थेपूपलभ्यतेऽनको द्रष्टाऽऽदित्यमनेकाधिकरणस्थं युगपदुपलभ... ०९, पृ० ४२।

वह अर्थ होता है, जो छूट जाता है। जो अर्थ बच जाता है वह बचे हुए शब्द का अर्थ होता है और जो अर्थ स्थिर रहता है वह स्थिर रहनेवाले शब्द का होता है। अन्वयव्यतिरेक की यह परिभाषा नैयायिकों के अनुसार ही है।[1]

गुहा—उपनिषदों में प्रयुक्त 'गुहा' शब्द महाभाष्य में भी आया है और उसी अर्थ में, किन्तु जिस श्लोक में यह शब्द मिलता है वह अन्यत्र से उद्धृत है।[2] निर्वाण का उल्लेख पाणिनि और पतंजलि दोनों ने किया है, किन्तु इससे अधिक बौद्धदर्शन-सम्बन्धी कोई जानकारी हमें महाभाष्य से नहीं प्राप्त होती।

कार्य का लक्ष्य—मनुष्य के प्रत्येक कार्य का उद्देश्य किसी-न-किसी फल की प्राप्ति होता है। समझदार व्यक्ति पहले बुद्धि-पूर्वक किसी बात को देखता है। देखकर उसे पाने की कामना करता है। कामना के पश्चात् उसके प्रयत्न प्रारम्भ होता है। प्रयत्न का फल कार्यारम्भ, उसका परिणाम काम का सम्पादन और कार्य-सम्पादन से फलप्राप्ति होती है। फलप्राप्ति से हीन कोई कर्म नहीं होता। कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त होता है। इसे पाणिनि और पतंजलि ने परलोक कहा है।[3] काशिका में भी परलोक का अर्थ जन्मान्तर-शरीर बतलाया है।

अन्य दार्शनिक मत—पतंजलि ने अनेक दार्शनिक मतों का भी उल्लेख किया है। आस्तिक, नास्तिक, दैष्टिक, लोकायत, अज्ञ पूर्णी और मस्करी सम्प्रदायों से वे परिचित थे।

आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक—परलोक में विश्वास रखनेवाले लोग आस्तिक कहलाते थे और परलोक में विश्वास न रखनेवाले नास्तिक। अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (४ ४ ६०) सूत्र का भाष्य करते हुए पतंजलि ने शंका की है कि क्या जिसकी मति हो (यस्यास्ति मतिः) उसे आस्तिक कहना चाहिए? तब तो चोर भी आस्तिक कहा जायगा। इसलिए 'है' यह जिसका विश्वास हो उसे आस्तिक और 'नहीं है' यह जिसका विश्वास हो उसे नास्तिक कहना चाहिए। इसी प्रकार, 'दिष्ट या भाग्य ही सब कुछ है' यह जिसका विश्वास हो उसे दैष्टिक कहते हैं।[5] इससे यह स्पष्ट है कि पतंजलि के समय तक आस्तिकता का ईश्वर या वेद से कोई सम्बन्ध न था। 'नास्तिको वेदनिन्दकः' आदि बातें बहुत पीछे की हैं। भाष्यकार के समय में ये तीनों मत विद्यमान थे। बुद्ध के समय में जो छह शास्ता—(संघी, गणी, गणाचार्य और तीर्थंकर)

---

१ १ २-४५, पृ ५११, १४।

२ गुहा बीपि निहिता।—आ० १, पृ० ७; य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध्या तावत्कञ्चिदर्थं पश्यति। सन्दृष्टे प्रार्थना प्रार्थनायामध्यवसायो ऽध्यवसाय आरम्भ आरम्भे निर्वृत्तिर्निर्वृत्तौ फलावाप्तिः।—१ ४ ३२ पृ० ३६८।

३ ५-२ १२, पृ० ४०२ तथा परत्र जन्मान्तरशरीरम्।—वही का०।

४ वही।

५. किं यस्यास्ति मतिः स आस्तिकः? किं चातः? चोरेऽपि प्राप्नोति। एवं तर्हि इति लोपोऽत्र द्रष्टव्यः। अस्तीत्यस्य मतिरास्तिकः। नास्तीत्यस्य मतिर्नास्तिकः। दिष्टमित्यस्य मतिर्दैष्टिकः।—४ ४ ६०, ० २८२।

अजितकेसकम्बल पूर्णकस्सप पकुधकच्चायन, मक्खलिगोसाल, संजयबेलट्ठिपुत्त और निगंठ नातपुत्त थे उनमें निगंठनातपुत्र (जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर) आस्तिक थे। स्वयं बुद्ध भी आस्तिक थे। शेष पाँच में मक्खलिगोसाल को छोड़कर चार नास्तिक थे। अजितकेसकम्बल के मत से न दान है, न इष्टि न हुत न सुकृत और न दुष्कृत कर्म का फल-विपाक है। न इहलोक है, न परलोक। न श्रमण-ब्राह्मण हैं, जिन्होंने अभिज्ञा-बल से इहलोक-परलोक का साक्षात्कार किया है। बाल और पण्डित कायभेद से विनष्ट होते हैं मरणानन्तर वे नहीं रहते। इस प्रकार, ये भौतिकवादी या उच्छेदवादी थे। संजय का कहना था कि प्राणातिपात (वध) अदत्तादान (स्तेय) मृषावाद और परदार-गमन से पाप नहीं होता और दानयज्ञादि से पुण्य का आगम नहीं होता। अजितादि नास्तिक थे और कर्मविपाक को नहीं मानते थे।[1]

पूरणकस्सप अक्रियावादी थे। उनके मत से न भले कर्मों से पुण्य होता है और न बुरे कर्मों से पाप। कर्मों का फल परलोक में प्राप्त नहीं होता। पकुधकच्चायन अकृततावाद के प्रवर्तक थे। इनके मत से इस जगति में सात पदार्थों की सत्ता है—पृथ्वी आप् तेज वायु, सुख दुख और जीवन। इन्हें वे सप्तकाय कहते थे। ये सप्तकाय अकृत अर्थात् सुख-दुख के योग्य नहीं हैं। यहाँ न कोई हन्ता है, न घातयिता न श्रोता न श्रावयिता न ज्ञाता न ज्ञापयिता। जो तीक्ष्ण शस्त्र से सिर भी काटे तो भी कोई किसी को प्राण से नहीं मारता। शस्त्र सात कायों से अलग विवर में गिरता है। संजय का मत अनिश्चिततावाद है। ये कहते हैं कि परलोक देवता कर्मविपाक आदि के विषय में अस्ति नास्ति अस्ति-नास्ति और न अस्ति न नास्ति कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मैं ऐसा भी नहीं कहता और वैसा भी नहीं कहता।[2]

मस्करी—मस्करी दैष्टिक थे। मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयो: (६ १ १५५) सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने कहा है कि मस्कर वेणु को कहते हैं, किन्तु मस्करी संज्ञा वेणु रखने के कारण नहीं बनी है। जो लोग 'काम मत करो काम मत करो शान्ति ही श्रेयस्करी है' कहते हैं, वे मस्करी परिव्राजक कहलाते हैं।[3] इस मत के प्रवर्तक गोशाल थे। ये नियतिवादी थे। वे मानते थे कि सब सत्त्व (जीव) अवश हैं अवीर्य हैं। सत्त्वों के संक्लेश का कोई प्रत्यय या हेतु नहीं है। प्राणी अहेतुक क्लेश भोगते हैं और बिना हेतु-प्रत्यय के विशुद्ध होते हैं। बाल और पण्डित सभी सत्त्व संसरण कर दुख का अन्त करते हैं। वे इसे संसार-शुद्धि कहते थे।[4] काशिकाकार ने भी मा+कृ+इनि से मस्करी शब्द की व्युत्पत्ति मानी है, जिसके अनुसार इस शब्द का अर्थ है काम न करनेवाला अकर्मण्यतावादी या नियतिवादी। कैयट ने भी मस्करी को काम्य

---

१ दिग्घनिकाय हिन्दी पृ० १०९ से २२।

२ नरेन्द्रदेव बौद्धधर्म-दर्शन पृ० ४।

३ न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः।—६ १ १५५, पृ० १९४।

४ वही।

५ माकरणशीलो मस्करी कर्मापवादित्वात्परिव्राजक उच्यते।—६ १ १५४ का०।

र्मों के परित्याग की शिक्षा देनेवाला कहा है।[1] अंगुत्तरनिकाय (जि० १ पृ० २८६) में गो मका सिद्धान्त 'कर्म नहीं है, क्रिया नहीं है वीर्य नहीं है' बतलाया है।[2]

मक्खलि मस्करी का प्राकृत रूप है। व्याकरण के उपदेश के कारण गोशाल मस्करी के म से पुकारे जाने लगे। ये आजीवक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। 'ये अचेलक थे और अनेक कार के कष्ट तप करते थे। चेतवन के पीछे उनका एक स्थान था। ये पञ्चाग्नि तापते थ त्कुटिक थे और चमगादड़ की भाँति हवा में झूलते थे। 'पालिनिकाय' में इन्हें भुक्ताचार कहा । एक सूत्रान्त में इनको 'पुत्तमताय पुत्ता' कहा है अर्थात् यह उस माता के पुत्र हैं जिनके पुत्र र जाते हैं।"[3] सम्भवतः कर्म और कर्मफल दोनों का प्रतिषेध करने के कारण ही इन्हें ऐसा हा गया था।

बौद्धों और जैनों ने आजीवकों की निन्दा की है। कुछ समसामयिक शास्त्रों में इनसे ट आजीवकों को मानते थे। फिर भी समाज में इनका आदर था। महावीर के समकालिक ठोर आलोचक और प्रतिस्पर्धी होने के कारण प्राचीन जैनसाहित्य में इन्हें अतिनिन्दित चित्रित कया गया है।[4] सोमदेव ने भी यशस्तिलक में जैनों को आजीवकों बौद्धों नास्तिकों आदि दूर रहने का उपदेश दिया है।[5] इसी प्रकार सद्धर्मपुण्डरीक में कहा है कि बोधिसत्त्व चरकों रिव्राजकों आजीवकों और निर्ग्रन्थों (जैनों) का संग नहीं करते।[6]

बुद्ध और महावीर के बाद भी शताब्दियों तक आजीवकों की प्रतिष्ठा देश में कायम रही। क्षिण भारत तक इनका विस्तार था। प्रसिद्ध तमिल महाकाव्य 'मणिमेखलै' (Manime halai) में जो ईसा के प्रारम्भिक शतक की रचना है अन्य तात्कालिक दार्शनिक सिद्धान्तों ोर मतों के आजीवकों का भी वर्णन है। इसी समय के 'शिलप्प- (Silappadi karam) मक एक अन्य तमिल महाकाव्य में उसकी नायिका कण्णकि के पिता द्वारा अपनी सम्पत्ति के ाजीवकों को बाँट देने का वर्णन है।[7] अशोक के तीन शिलालेखों में आजीवकों द्वारा राजा दान प्राप्त करने का तीन बार उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान होता है कि बुद्ध के बा ताब्दियों तक इस सम्प्रदाय का स्थान देश में महत्त्वपूर्ण बना रहा। यशस्तिलक में आजीवकों ी चर्चा दसवीं सदी तक उनके अस्तित्व की सूचना देती है। छठी शती में कुमारदास ने जानकी

---

१ अयं माहत्त्व कर्मवादतोपुरुषस्य शान्तिन कार्यकर प्रहतिर्नुष्यादं चरती- पुपदेष्टा मस्करीत्युच्यते यही।—प्रदीप।

२ नत्थि कम्म नत्थि किरियं नत्थि विरियं।

३ नरेन्द्रदेव बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० ४।

४. गोपनि (gopani) आजीवक सेक्ट ए न्यू इन्टरप्रिटेशन इन भारतीय विद्या, ल्द २ भाग २।

५. ट्रान्स० कर्न (kern) पृ०२६३ सेक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट।

६. के० के० हन्दिकि यशस्तिलक ऐण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० ३७५।

७. वही।

८. रौक हिल्स लाइफ ऑफ् दि बुद्ध, भाग १, पृ० ७१।

सूत्र में उनका उल्लेख किया है। गोशाल के अनुयायी आजीवक मस्करी कहलाते थे। ये लोग बड़ी-बड़ी जटाएँ रखते थे। इसीलिए, कुमारदास ने साधुवेषधारी रावण को मस्करी-सदृश दिखनेवाला कहा है।[1]

'उवासगदसाओ' और 'भगवतीसूत्र' आदि जैनग्रन्थों तथा बौद्ध त्रिपिटकों के अनुसार गोशाल का पिता भी मस्करी था। इसकी माता का नाम भद्रा था। ये दोनों भिक्षु थे। घूमते-घूमते एक बार ये गोबहुल नामक ब्राह्मण के अतिथि हुए और वहीं उसकी गोशाला में इनका जन्म हुआ। इसीलिए, ये गोशाल कहलाये। ये मगध के रहनेवाले और महावीर के प्रथम तथा बड़े भक्त शिष्य थे। बाद में सिद्धान्त-भेद हो जाने से ये महावीर से पृथक् हो गये और उन्होंने आजीवक नाम से अपना नया मत चलाया। जीवन-काल में इनके ६ प्रमुख शिष्य बने—१ शाण, २ कलन्द ३ कर्णिकार ४ अच्छिद्र ५ अग्निवैशम्पायन ६ गोमायुपुत्र अर्जुन। ये सब महावीर से ही रुष्ट होकर इनकी जमात में मिले थे। इसीलिए जैन 'मस्कर' के अर्थ में गोशाल शब्द का प्रयोग करते हैं। श्रावस्ती की हालाहला नाम कुम्हारिन इनकी भक्त थी। इनके शिष्यों ने इनके चरित्र का अनुशीलन 'अष्ट चरमवाद' का प्रचार किया। ये आठ चरम (अन्तिम) बातें ये हैं—१ चरमपान २ चरमगान ३ चरमनृत्य, ४ चरम अंजलिकर्म ५ चरम पुष्कर संवर्तक महामेघ, ६ चरमसेचनक गन्धहस्ती ७ चरम महाशिला कंटकसंग्राम ८ चरम तीर्थंकर। महावीर की मृत्यु से १६ वर्ष पूर्व ही इनकी मृत्यु हो गई।[1] भगवतीसूत्र से पता चलता है कि गोशाल चित्रपट अपने साथ रखते थे। महावीर का शिष्यत्व ग्रहण करते समय अन्य वस्तुओं के साथ यह चित्रपट भी उन्होंने ब्राह्मणों को दान कर दिया था।[1]

लोकायत—चार्वाक का भौतिकवाद लोकायतों का सम्प्रदाय था। भाष्यकार के समय में लोकायतों का मत काफी फैला जान पड़ता है। यह नास्तिक उच्छेदवादी सम्प्रदाय था, मृत्यु के अनन्तर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता था। इनके मत की व्याख्या करनेवाले जन घूम-घूमकर अपने मत का प्रचार करते थे। भाष्यकार ने भागुरी नामक परिव्राजिका का उल्लेख किया है जो लोकायतों के मत का वर्णन करनेवाली और उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग के अनुसार वर्तन करनेवाली थी। काशिकाकार ने चार्वाक के अनुयायियों को चार्वी कहा है। वास्तव में, चार्वी मत या विचारधारा का नाम था और उसी से सम्बन्ध उसके अनुयायी भी चार्वी कहे जाते थे। यह बृहस्पति का दर्शन था। काशिका से यह भी पता चलता है कि लोकायतों का अपना शास्त्र था जो उ[illegible] पर आश्रित था। इ[illegible] भी दक्ष थे और अपने उपपाद्य विषय

[illegible] सीतर वर्द्धमानमत-

गतपृ[illegible]

म कुन्डि[illegible] य दि [illegible] माहने

को शिष्य को हृदयंगम करा सकने में सक्षम थे।[1] इसीलिए, इनके सिद्धान्त सम्मानित और पवित्र पूजित थे। काशिकाकार ने लोकायत शिक्षक को ज्ञान का शिक्षा देनेवाला बतलाया है क्योंकि प्रमेय का निश्चय करना ही ज्ञान है और लोकायत प्रमेय को तर्क से सिद्ध करता है।[2]

---

१ वदते चार्वी लौकायते। चार्वी बुद्धिः तत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वी। स लोकायते शास्त्रे पदार्थंमवने। उपनतिमपि विपरीतमस्य शिष्येभ्यः प्रापयति। ते युक्तिभिः स्थाप्यमाना सम्मानिता पूजिता भवन्ति।—१ ३-२६ काशिका।

२ ज्ञानं प्रमेयनिश्चयः। वदते चार्वी लोकायते। तत्र प्रमेयं निश्चिनोतीत्यर्थः।—वही।

हरण में उनका उल्लेख किया है। गोशाल के अनुयायी आजीवक मस्करी कहलाते थे। ये लोग बड़ी-बड़ी जटाएँ रखते थे। इसीलिए, कुमारदास ने साधुवेषधारी रावण को मस्करी-सदृश दिखने वाला कहा है।[1]

'उवासगदसाओ' और 'भगवतीसूत्र' आदि जैनग्रन्थों तथा बौद्ध त्रिपिटकों के अनुसार गोशाल का पिता भी मस्करी था। इसकी माता का नाम भद्रा था। ये दोनों भिक्षु थे। घूमते-घूमते एक बार ये गोबहुल नामक ब्राह्मण के अतिथि हुए और वहीं उसकी गोशाला में इनका जन्म हुआ। इसीलिए ये गोशाल कहलाये। ये मगध के रहनेवाले और महावीर के प्रथम तथा बड़े भक्त शिष्य थे। बाद में सिद्धान्त-भेद हो जाने से ये महावीर से पृथक् हो गये और उन्होंने आजीवक नाम से अपना नया मत चलाया। जीवन-काल में इनके ६ प्रमुख शिष्य बने—१ शान २ कलन्द ३ कर्णिकार, ४ अच्छिद्र ५ अग्निवैश्यायन ६ गोमायुपुत्र अर्जुन। ये सब महावीर से ही रुष्ट होकर इनकी जमात में मिले थे। इसीलिए जैन 'सहार' के अर्थ में गोशाल शब्द का प्रयोग करते हैं। श्रावस्ती की हालाहला नाम कुम्हारिन इनकी भक्त थी। इनके शिष्यों ने इनके चरित्र का अनुशीलन 'अष्ट चरमवाद' का प्रचार किया। ये आठ चरम (अन्तिम) बातें ये हैं—१ चरमपान २ चरमगान ३ चरमनृत्य ४ चरम अंजलिकर्म, ५ चरम पुष्कर संवर्तक महामेघ ६ चरमसेचनक गन्धहस्ती ७ चरम महाशिला कण्टकसंग्राम ८ चरम तीर्थंकर। महावीर की मृत्यु से १६ वर्ष पूर्व ही इनकी मृत्यु हो गई।[2] भगवतीसूत्र से पता चलता है कि गोशाल चित्रपट अपने साथ रखते थे। महावीर का शिष्यत्व ग्रहण करते समय अन्य वस्तुओं के साथ यह चित्रपट भी उन्होंने ब्राह्मणों को दान कर दिया था।[3]

लोकायत—चार्वाक का भौतिकवाद लोकायतों का सम्प्रदाय था। भाष्यकार के समय में लोकायतों का मत काफी फैला जान पड़ता है। यह नास्तिक उच्छेदवादी सम्प्रदाय था, मृत्यु के अनन्तर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता था। इनके मत की व्याख्या करनेवाले घूम घूमकर अपने मत का प्रचार करते थे। भाष्यकार ने भागुरी नामक परिव्राजिका का उल्लेख किया है जो लोकायतों के मत का वर्णन करनेवाली और उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग के अनुसार वर्तन करनेवाली थी। काशिकाकार ने चार्वाक के अनुयायियों को चार्वी कहा है। वास्तव में चार्वी मत या विचारधारा का नाम था और उसी से सम्बन्ध उसके अनुयायी भी चार्वी कहे जाते थे। यह बृहस्पति का दर्शन था। काशिका से यह भी पता चलता है कि लोकायतों का अपना शास्त्र था जो उपपत्ति या तर्क पर आश्रित था। इसके सिवाय भी दस व और अपने उपपाद्य विषय

---

१ दम्भाजीवकमुत्तुङ्गजटामण्डितमस्तकम्-कञ्चिन्मस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्।—जानकीहरण १०-७६।

२ बलदेव उपाध्याय बौद्धदर्शनमीमांसा पृ० ३३।

३ साडियाओ य पाडियाओ य कुण्डिया ओ य-वाहणाओ य चित्त फलगं य माहणे आयामेति।—भगवतीसूत्र।

४ वर्णिका भागुरी लोकायतस्य वर्तिका भागुरी लोकायतस्य।—७-३-४५, पृ० १९०।

को शिष्य को हृदयंगम करा सकने में सक्षम थे।[1] इसीलिए, इनके सिद्धान्त सम्मानित और पवित्र पूजित थे। कारिकाकार ने लोकायत चिंतक को ज्ञान का विश्लेषण करनेवाला बतलाया है क्योंकि प्रमेय का निश्चय करना ही ज्ञान है और लोकायत प्रमेय का तर्क से सिद्ध करता है।[2]

---

१ मन्यते चार्वी लोकायते। चार्वी बुद्धिः तत्सम्बन्धात्तदाचार्योऽपि चार्वी। स लोकायते मन्यते पदार्थमयते। उपपत्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्येभ्यः प्रापयति। ते युक्तिभिः। स्थाप्यमाना सम्मानिता पूजिता भवन्ति।—१ ३ १६ कारिका।

२ ज्ञानं प्रमेयनिश्चयः। मन्यते चार्वी लोकायते। तत्र प्रमेयं निश्चिनोतीत्यर्थ।—वही।

अध्याय १२

साधु-संन्यासी

वैखानस या वानप्रस्थ—पतंजलि द्वारा उल्लिखित चातुराश्रम्य में वानप्रस्थ या वैखानस तृतीय आश्रम है।[1] भाष्यकार ने इसका प्रत्यक्ष नामोल्लेख न करके इसके कर्तव्यों की यत्र तत्र चर्चा की है और वनस्थ के लिए तपस्वी शब्द का प्रयोग किया है। वास्तव में यह आश्रम तप और संयम के लिए ही था। वासिष्ठधर्मसूत्र में वनस्थ को जटिल चीर-अजिनधारी ऊर्ध्वरेता ग्राम से बाहर रहनेवाला अकृष्टपच्य मूल फल आदि खानेवाला और श्रामणक अग्नि में हवन करनेवाला कहा है।[2] आपस्तम्बीय धर्मसूत्र में गृहस्थाश्रम का निर्वाह करने के बाद सपत्नीक सपुत्र ग्राम से बाहर निवास करने का आदेश है। चाहे तो अकेला भी रह सकता है किन्तु उसे 'सहाग्नि' रहना चाहिए। 'शिलोञ्छ' उसकी जीविका का साधन है। किन्तु मूल फल पर्ण और तृण से प्रारम्भ कर अप्, वायु और आकाश (निराहार) के सहारे जीवित रहने का उसे अभ्यास करना चाहिए। स्वाध्याय हवन ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करना चाहिए। वन में गृह केवल अग्निहोत्र के लिए उपयोग में लाना चाहिए और स्वयं आकाश के नीचे बिना बिस्तर और शय्या के ही शयन करना चाहिए।[3] बौधायनधर्मसूत्र ने वानप्रस्थ और वैखानस आश्रम को एक मान कर वैखानस को वन में रहनेवाला मूलफलाशी तपःशील अग्राम्यभोजी सवन में उदकस्पर्शी श्रामणकाग्नि में हवन करनेवाला देव पितृ-भूत-मनुष्यर्षि-पूजक अफालकृष्टवासी या प्रतिषिद्ध-वर्ज-भैक्षसेवी जटिल चीराजिनधारी और ग्राम में न जानेवाला बतलाया है। बौधायन के अनुसार वानप्रस्थ दो प्रकार के होते हैं—पचमानक और अपचमानक। पचमानक जो पका कर खाते हैं पाँच प्रकार के होते हैं—सर्वारण्यक वैतुषिक कन्दमूलभक्ष फलभक्ष और शाकभक्ष। सर्वारण्यक दो प्रकार के होते हैं—इन्द्रावसिक्त अर्थात् वल्ली गुल्मलता वृक्ष को पकाकर खानेवाले और रेतोवसिक्त अर्थात् व्याघ्र वृक श्येन को मारकर मांस पकाकर खानेवाले। अपचमानक अर्थ बिना पकाये खानेवालों के भी पाँच भेद हैं—उन्मज्जक प्रवृत्ताशी मुखेनादायी तोयाहार और वायुभक्ष। उन्मज्जक लोहा पत्थर आदि छोड़कर काष्ठ आदि का उपयोग कर सकते हैं,

---

१ ५ । १ । २४, पृ० ३३४।

२ वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासी ग्रामं न प्रविशेत् न फालकृष्टमधितिष्ठेत् अकृष्टं मूल फलं संचिन्वीत ऊर्ध्वरेताः श्रामणकेनाग्निमाधायाहिताग्निः स्यात्।—वासि० धर्म०, अध्याय ८।

३ आप० धर्मसूत्र, २ ९-२२।

४. बौधा० धर्मसूत्र, प्रश्न २ अ० ६, सूत्र १७।

अर्थात् ये आग भूनकर खा सकते हैं। प्रवृत्ताशी हाथ में लेकर खाते हैं और मुखेनादायी हाथ का भी उपयोग नहीं करते। वे केवल पशुवत् मुख से ही लेकर खाते हैं। तोयाहार जल के सहारे निर्वाह करते हैं और वायुभक्ष निराहार रहकर जीवन बिताते हैं। स्वाध्याय और पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान गृहस्थों के समान वानप्रस्थ भी करते हैं।[1]

वानप्रस्थ के वैदिक तत्त्व—उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि वानप्रस्थ वैदिक धर्मानुयायियों का आश्रम था। और सूत्रग्रन्थों की रचना से पूर्व निवृत्ति और चिन्तन के समन्वय का आश्रम सदा ही समाज में मान्य थी। संन्यास का प्रचलन बौद्ध आन्दोलन के पश्चात् हुआ। इसीलिए सूत्रग्रन्थों में संन्यास और वानप्रस्थ का वर्णन बहुत कुछ अस्पष्ट और अव्यवस्थित-सा है। वैदिकधर्मी यज्ञ और बलि का परित्याग करने के लिए किसी भी स्थिति में तैयार न थे। वे 'यावज्जीवं जुहुयात्' में विश्वास रखते थे। आपस्तम्ब का धर्मसूत्र व स्मृति इस बात की समर्थक है। उसमें यज्ञ, अध्ययन, दान अर्थात् गृहस्थाश्रम, तप अर्थात् वानप्रस्थ और आचार्यकुलवास या ब्रह्मचर्य ये तीन धर्म के स्कन्ध बतलाए हैं।[2] इसीलिए, बौधायन ने 'एकाश्रम्य' अर्थात् गृहस्थाश्रम का प्राधान्य स्वीकार करते हुए अन्याश्रमों की विभिन्नता को अग्राह्य माना है। उनके मत से वेद प्रतिपादित आश्रम देवाहुति प्रधान है। पंचयज्ञ का परित्याग करनेवाला आश्रम (संन्यास) उन्हें लेकर आश्रम-विभाग देवों के स्पर्धालु प्रह्लाद के पुत्र असुर कपिल ने बनाया है। उनका लक्ष्य देवताओं को दी जानेवाली आहुति का विरोध करना है। अतः मनीषी को उनका आदर नहीं करना चाहिए।[3] ध्यान देने योग्य बात यह है कि बौधायन ने आश्रम-भेद का विरोध जिस यज्ञत्याग के भय से किया है वह यज्ञ-त्याग केवल संन्यास में ही विहित है। अतः संन्यास का अनादर ही बौधायन का लक्ष्य है। ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ दोनों में स्वाध्याय और यज्ञ आवश्यक है।

तपस्वी—भाष्यकार ने वानप्रस्थ विवरण के उल्लेख न केवल विषय की दृष्टि से, अपितु शब्दावली की दृष्टि से भी सूत्रग्रन्थों से लिए जान पड़ते हैं। कई स्थानों पर तो उन्होंने धर्मसूत्रों का अनुवाद-सा उपस्थित किया है। वानप्रस्थ तप का आश्रम है। भाष्यकार ने वानप्रस्थ के लिए तपस्वी या तापस शब्द का व्यवहार किया है, जिसका लक्ष्य ही तपश्चरण था। काशिकाकार ने भी 'तापस तप करता है' इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि उपवासादिक तप तापस को तपाते हैं। अस्थिचर्मावशिष्ट तापस स्वर्ग प्राप्ति के लिए तप करता है।[4] स्वर्ग प्राप्ति

---

१ वानप्रस्थो वैखानसशास्त्रसमुदाचारः वैखानसो वने मूलफलाशी तपःशीलः सवनेषूदकमुपस्पृशन् श्रामणकेनाग्निमाधायाग्राम्यभोजी देवपितृभूतमनुष्यर्षिपूजकः सर्वातिथिः प्रतिषिद्धवर्जं भैक्षमप्युपयुञ्जीत न फालकृष्टमधितिष्ठेद् ग्रामं च न प्रविशेत् जटिलश्चीराजिनवासा नातिसांवत्सरं भुञ्जीत।—बौधा० ध० सू०, २-६ १६, १७।

२ बौधा० धर्मसूत्र०, प्रश्न २, अ० ११।

३ वही।

४. ३ १ १६ पृ०५५।

५. ३-२-८८ का०।

वैदिक धर्मानुयायियों की ही काम्य रही है, अतः वे ही इस आश्रम को ग्रहण करते थे। तप, श्रद्धा दीक्षा ये जीवन के अभिन्न अंग थे। भोजन पर नियन्त्रण तप का महत्वपूर्ण अंग था।[1] इसलिए, अब्भक्ष (जल पर ही निर्वाह करना) और वायुभक्ष (केवल वायु पीकर, अर्थात् निराहार रहना) होना गौरव की बात मानी जाती थी।[2] भाष्यकार ने तापसों को जटिलक कहा है।[3] ये लोग अध्यापन-कार्य करते थे। उपनिषद् और सूत्रकाल के अध्यापक प्रायः वानप्रस्थ थे। मुण्डी जटी शिखी ये तीन अवस्थाएँ ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और संन्यासी की होती थी। जटी या जटिल लोग कर्तव्यविहीन भी होने लगे और जटाओं के नाम पर लोगों को भुलावा देकर उनसे प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे यह बात भाष्यकार को अविदित नहीं थी। पाणिनि[4]-सूत्र (५ २ १००) में भी जटिल होना निन्दा की बात माना है। श्यामाक अन्न और बेर (बदरी) आदि अकृष्टपच्य अन्न, फल आदि उञ्छ में शामिल थे।[5] सच्चे तपस्वी गृहस्थाश्रम में अर्जित महान् सम्पत्ति का भी परित्याग कर उञ्छवृत्ति से प्राणयापन करते थे। भाष्यकार ने किसी ऐसे व्यक्ति के उञ्छवृत्ति से निर्वाह करने की चर्चा की है, जिसके जन्म का शुभ समाचार सुनानेवाले ब्राह्मणों को उसके समृद्ध पिता ने दस सहस्र गायें दान में दी थी।[7] इस प्रकार, पतंजलि के समय में वानप्रस्थ आश्रम एक जीवित संस्था जान पड़ता है। जटिल होने के साथ तापस लोग चीर या अजिन धारण करते थे।[8] भाष्य में कुतप (चर्म) वास का भी उल्लेख मिलता है।[9] ये लोग स्थण्डिलशायी तथा वाग्यम होते थे।[10] भाष्य में स्थण्डिलशायिनी का उल्लेख है जो तापसी या वानप्रस्थ स्त्रियों का सूचक है।

तपस्वियों के व्रत—वानप्रस्थ लोग अनेक प्रकार के कृच्छ्र व्रतों का भी अनुष्ठान करते थे। इनमें से कुछ आत्मशुद्धि के लिए और कुछ प्रायश्चित्त के रूप में होते थे। चान्द्रायण अत्यन्त कठिन व्रत है।[11] सूत्रकार ने अनुताप को भी तप कहा है।[12] यह मासिक, अर्थात् मास में पूर्ण होने वाला व्रत है। इसका प्रारम्भ शुक्ल चतुर्दशी को केशश्मश्रुलोमनख आदि कटवाकर अहत वस्त्र धारण कर उपवास के साथ होता है। पूर्णिमा के दिन भोजन क जो कि अक्षारलवण हविष्यान्न

---

१ ९ १-१६, पृ० १९०।

२ भा० १, पृ० १४।

३ १-२-३२, पृ० ५११।

४ ६ १ ४८, पृ० ७९।

५ वही तथा १ १ १, पृ० १०५।

६ १ ४ ३, पृ० १११।

७. यस्मिन् दशसहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति।—१ ४ ३, पृ० १११।

८ ३ १ १९, पृ० ५७ तथा ४ ३-६०, पृ० २३८।

९. कुतपवासाः सौभुतः कुतपसौभुत।—२-१ ६९, पृ० ३३०।

१० ४ १ १, पृ० १० तथा ६-३-६९।

११ ५ १-७२, पृ० ३३७।

१२ ३-१ १५।

के समान होता है पन्द्रह भाग कर लिये जाते हैं। कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को उनमें से १४ ग्रास लेकर प्रतिदिन एक कम कर दिया जाता है और इस प्रकार अमावस्या को फिर उपवास हो जाता है, क्योंकि उस दिन कोई ग्रास नहीं रहता। फिर शुक्लपक्ष की अमावस्या को एक ग्रास लेकर प्रतिदिन एक ग्रास बढ़ाया जाता है और पौर्णमासी को स्थालीपाक से आहुति देकर पूर्णाहुति के साथ व्रत समाप्त होता है। पाणिनि ने चान्द्रायण के साथ पारायण और तुरायण का भी उल्लेख किया है, जिनमें पारायण और तुरायण तो दूसरा व्यक्ति भी किसी के लिए कर सकता है, पर चान्द्रायण व्यक्ति को स्वयं ही करना होता है। इसीलिए, काशिकाकार[1] ने चान्द्रायणिक को तपस्वी कहा है। बौधायनधर्मसूत्र (३-८) में चान्द्रायण की विस्तृत विधि दी हुई है। वानप्रस्थ की वनयात्रा को भाष्यकार ने 'आरण्यक विहार' कहा है।[2] आपस्तम्ब में भी 'अरण्यं तापसम्' का विधान है।[3]

स्त्री-वानप्रस्थ—वानप्रस्थों में कुमार और कुमारियाँ भी रहती थीं।[4] क्योंकि कुछ लोग बिना गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए सीधे वैखानस व्रत ले लेते थे। आपस्तम्ब में इसका विधान है[5] और इसीलिए अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में जिज्ञासा करता है कि क्या वह विवाह होने तक ही वैखानस व्रत का पालन करेगी या यावज्जीवन।[6] पाणिनि के 'कुमार श्रमणादिभिः'[7] (२-१-७०) के श्रमणादिगण में पठित श्रमणा, तापसी, प्रव्रजिता शब्द जिनका कुमार (कुमारी) शब्द के साथ तत्पुरुषसमास का विधान किया गया है, इसके प्रमाण हैं।

इस तप और संयम और कष्ट-सहन का परिणाम वानप्रस्थ के जीवन पर पड़ना स्वाभाविक था। व्यक्ति अपने तपोबल से न केवल अपना अपितु अपने पूर्वजों का भी उद्धार कर सकता था। अपने साथ अपनी दो ऊपरी पीढ़ियों (गाधि और कुशिक) को ऋषित्व प्रदान करनेवाले विश्वामित्र के तप का वर्णन भाष्यकार ने किया है। 'मैं अनृषि न रहूँ, अनृषि का पुत्र न रहूँ और अनृषि का पौत्र न रहूँ' इस उद्देश्य से किये गये उनके तप ने गाधि और कुशिक को भी ऋषि बना दिया, यह विश्वास पतंजलिकालीन धार्मिक-वर्ग में विद्यमान था।

ऊर्ध्वरेता—वासिष्ठधर्मसूत्र (९-५, ६) में वानप्रस्थ को क्ष्माशय (भूमि पर सोने वाला) अनिकेत और ऊर्ध्वरेता कहा है।[9] ऊर्ध्वरेता होते हुए सन्तान उत्पन्न करना या न

---

१ ५-१-७२।

२ ४-२-१२९, पृ० ३१९।

३ २-९-२२, पृ० ९१।

४ श्रमणादिगण २-१-७०।

५. अतएव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति अथ वानप्रस्थ।—२-९-२१-१९, १८।

६ अभि० शाकु० १-२७।

७. २-१-७०,

८. विश्वामित्रस्तपस्तेपे नानृषिः स्यामिति। तत्रभवानृषिः सम्पन्नः। स पुनस्तपस्तेपे नानृषेः पुत्रः स्यामिति। तत्रभवान् गाधिरप्यृषिः सम्पन्नः। स पुनस्तपस्तेपे नानृषेः पौत्रः स्यामिति। तत्रभवान् कुशिकोऽपि ऋषिः सम्पन्नः।—४-१-१०४ पृ० ११३।

९. ४-१-७९, पृ० ८८।

करना उनकी इच्छा पर निर्भर था। भाष्यकार ने अट्ठासी सहस्र ऊर्ध्वरेतस् ऋषियों की (ऋषि आजन्म वैखानस होते थे) जिनमें से अगस्त्य-सहित आठ ऋषियों ने प्रजन (सन्तानोत्पादन) स्वीकार किया चर्चा की है। इन आठ से उत्पन्न अपत्य गोत्र कहलाते हैं और इनसे भिन्न गोत्रावयव।[1] बौधायन के मत से ये आठ ऋषि श्रेष्ठ होने चाहिए, क्योंकि वे 'प्रजननिमित्ता समाख्या' मानते हैं और उनके मत से तीन ऋणों से ऋणवान् ब्राह्मण प्रजोत्पादन द्वारा ही पितृऋण से मुक्त होकर स्वर्ग में सुख प्राप्त करता है।[2] किन्तु, आपस्तम्ब का मत इसके विपरीत है। उसमें पुराण से दो श्लोक उद्धृत करते हुए प्रजावान् ऋषियों की निन्दा की गई है और कहा गया है कि अट्ठासी सहस्र ऋषियों में जिन्होंने सन्तानोत्पादन किया, वे जन्म-मरण के चक्र में पड़कर फिर श्मशान को प्राप्त हुए, किन्तु जो ऊर्ध्वरेतस रहे, वे अमृतत्व के भागी बने। इसलिए, ऊर्ध्वरेतस् ही प्रशस्त हैं।[3]

अवैदिक वैखानस—वृद्धगौतम (अ० ८ पृ० ५६४) द्वारा प्रदर्शित वैखानस और पाञ्चरात्रिक इन दो वैष्णव-सम्प्रदायों का उल्लेख या संकेत भाष्य में नहीं है। वेदान्तकल्पतरुपरिमल के रचयिता अप्पयदीक्षित (पृ० ४५१) के अनुसार पाञ्चरात्रिक सम्प्रदाय वैदिक नहीं है। वास्तव में वृद्धगौतम द्वारा उल्लिखित वैखानस-सम्प्रदाय का वैखानस-आश्रम से कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।

वैखानस वैदिक धर्मानुयायी वनवासी तपस्वियों का धर्म था। याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका (३-४५) में वानप्रस्थ को वन में प्रकृष्ट नियम से रहनेवाला कहा है। क्षीरस्वामी ने भी उन्हें वानप्रस्थ में रहनेवाला बतलाया है। इन दोनों विद्वानों की वानप्रस्थ की व्युत्पत्ति में अन्तर होने पर भी तात्पर्य में भेद नहीं है।[5]

संन्यास

परिव्राजक—संन्यास चतुर्थ आश्रम है। भाष्यकार ने संन्यासी को परिव्राजक और भिक्षु कहा है। पतंजलि के समय में संन्यासी का बड़ा सम्मान था। उन्होंने भिक्षु को सौ कोस से अभिनन्दन का अधिकारी बतलाया है और इस कारण उसे क्रौशशतिक नाम दिया है।[6] सामान्यतया वानप्रस्थ के बाद संन्यास ग्रहण करने की प्रथा रही है, पर उसका कोई समय नियत नहीं है। जिस दिन मन में वैराग्य उत्पन्न हो, उसी दिन व्रती अव्रती स्नातक अस्नातक या उत्सन्नाग्नि

---

१ वही।

२ बौधा० धर्मसू० २ ९ १ तथा स्वाध्यायेन ऋषीन् पूजयित्वा सोमेन च पुरन्दरं प्रजया च पितॄन् सर्वाननृण्यो दिवि मोदते।—वही, २ ९-५।

३ २ ९ २३-३ से ६ वही।

४ काणे हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र भाग २, पृ० ९१७।

५ वने प्रकर्षेण नियमेन तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः। वनप्रस्थ एव वानप्रस्थः।—मिता०, ३ ४५ तथा प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् प्रस्थः। वनप्रस्थे भवो वानप्रस्थः, वैखानसाख्यः—क्षीरस्वामी।

६ ५ १-७४, पृ० ३३७।

कोई भी द्विज संन्यास ले सकता था[1] और वस्तुओं को छोड़कर मनस्वी बनकर प्रव्रज्या ले सकता था। परिव्राजक घर का परित्याग कर अरण्य में रहते थे। वे कौपीन-मात्र पहनते थे। उनके वस्त्र काषाय रंग के होते थे। जिस समय घर में कूटना-पीसना नहीं चलता था और चूल्हे की आग बुझ चुकी होती थी तथा जूठे बरतन रखे जा चुके थे उस समय परिव्राजक गृहस्थों के घर से भिक्षा माँगकर लाता था जिससे किसी गृहस्थ को असुविधा न हो।[2] वासिष्ठधर्मशास्त्र में कहा है कि मुनि सब भूतों को अभय प्रदान करता चलता है इसलिए उसे भी किसी भूत से भय नहीं होता।[3] बौधायन में उस बात को मन, कर्म और वचन से भूतों का अद्रोही बतलाया है और थोड़े से अन्तर से उक्त कारिका का उल्लेख किया है।[4] संन्यासियों में पुरुष भी होते थे और स्त्रियाँ भी। पाणिनि ने श्रमणादि गण में प्रव्रजिता का परिगणन कर कुमारी प्रव्रजिताओं के अस्तित्व की सूचना दी है।[5] और, पतंजलि ने शंकरा नाम की परिव्राजिका का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुमारवादक उसे शंकरा कहते हैं।[6] संन्यासी एकदण्डी भी होते थे और त्रिदण्डी भी। भाष्य में दोनों का उल्लेख मिलता है। दण्डिमती शाखा और दाण्डिमायन एक दण्डवान संन्यासियों के सूचक हैं। तीन दण्डों का समूह त्रिविष्टब्धक कहलाता था। भाष्यकार ने कहा है कि संन्यासी न होने पर भी यदि किसी के हाथ में दण्ड हुआ तो उसे दण्डी कह देते हैं किन्तु त्रिविष्टब्धक केवल परिव्राजकों के पास ही होता है। त्रिविष्टब्धक देखकर संन्यासी पहचाना जाता है। जिस प्रकार धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है। परिव्राजक लोग तीन दण्डों को सूत की रस्सी से बाँधकर त्रिविष्टब्धक बनाते थे।[9] इस बात की पुष्टि बौधायन ने परिव्राजक को इच्छानुसार एक या तीन दण्ड धारण करने की अनुमति देते हुए की है।[10] परिव्राजकों को भिक्षु और मुनि भी कहते थे।[11] बौधायन ने उसके लिए भिक्षुक शब्द का प्रयोग किया है[12] और आपस्तम्ब में मुनि का।[13]

---

१ यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। जाबालोपनिषद् १—४।

२ वासि० ध० सू० १०-२।

३ बौधा० धर्मसू०, २-११ १७ से २५।

४ वासि० ध० सू०, २-११ २५।

५ ३ १-७०।

६ ३-२ १४ पृ० २१२।

७ ५-२-९४, पृ० ४०८ तथा ८-२-८३ पृ० २८८।

८ पूर्वं दृष्ट्वाग्निरस्ति मन्यते त्रिविष्टब्धकं च दृष्ट्वा परिव्राजक इति।—२ १ १ पृ० २४३।

९ १ १ १, पृ० १२०।

१० बौधा० ध० सू० २-१०-१।

११ आप० ध० सू० २ ९ १।

१२ भिक्षार्थमिति परित्यागात् पश्चाद् भवति भिक्षुः।—बौधा० २ १० १७।

१३ आप० २-९ १।

करना उसकी इच्छा पर निर्भर था। भाष्यकार ने अट्ठासी सहस्र ऊर्ध्वरेतस् ऋषियों की (ऋषि भाग में वैखानस होते थे), जिनमें से अगस्त्य-सहित आठ ऋषियों ने प्रथम (सन्तानोत्पादन) स्वीकार किया चर्चा की है। इन आठ से उत्पन्न अपत्य गोत्र कहलाते हैं और इनसे भिन्न गोत्रावयव।[1] बौधायन के मत से ये आठ ऋषि श्रेष्ठ होने चाहिए, क्योंकि वे 'प्रजननिमित्ता समाख्या' मानते हैं और उनके मत से तीन ऋणों से ऋणवान् ब्राह्मण प्रजोत्पादन द्वारा ही पितृऋण से मुक्त होकर स्वर्ग में सुख प्राप्त करता है।[2] किन्तु, आपस्तम्ब का मत इसके विपरीत है। उसमें पुराण से दो श्लोक उद्धृत करते हुए प्रजावान् ऋषियों की निन्दा की गई है और कहा गया है कि अट्ठासी सहस्र ऋषियों में जिन्होंने सन्तानोत्पादन किया वे जन्म-मरण के चक्र में पड़कर फिर श्मशान को प्राप्त हुए, किन्तु जो ऊर्ध्वरेतस रहे वे अमृतत्व के भागी बने। इसलिए, ऊर्ध्वरेतस् ही प्रशस्त है।[3]

अवैदिक वैखानस—वृद्धगौतम (अ० ८, पृ० ५६४) द्वारा प्रदर्शित वैखानस और पांचरात्रिक इन दो वैष्णव-सम्प्रदायों का उल्लेख या संकेत भाष्य में नहीं है। वेदान्तकल्पतरुपरिमल के रचयिता अप्पयदीक्षित (पृ० ४५१) के अनुसार पांचरात्रिक सम्प्रदाय वैदिक नहीं हैं। वास्तव में वृद्धगौतम द्वारा उल्लिखित वैखानस-सम्प्रदाय का वैखानस-आश्रम से कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।

वैखानस वैदिक धर्मानुयायी वनवासी तपस्वियों का वर्ग था। याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका (३-४५) में वानप्रस्थ को वन में प्रकृष्ट नियम से रहनेवाला कहा है। क्षीरस्वामी ने भी उन्हें वानप्रस्थ में रहनेवाला बतलाया है। इन दोनों विद्वानों की वानप्रस्थ की व्युत्पत्ति में अन्तर होने पर भी तात्पर्य में भेद नहीं है।[4]

संन्यास

परिव्राजक—संन्यास चतुर्थ आश्रम है। भाष्यकार ने संन्यासी को परिव्राजक और भिक्षु कहा है। पतञ्जलि के समय में संन्यासी का बड़ा सम्मान था। उन्होंने भिक्षु को सौ कोस से अभिनन्दन का अधिकारी बतलाया है और इस कारण उसे औपयोजिक नाम दिया है।[5] सामान्यतया वानप्रस्थ के बाद संन्यास ग्रहण करने की प्रथा रही है पर उसका कोई समय नियत नहीं है। जिस दिन मन में वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन व्रती अव्रती स्नातक अस्नातक या उत्सन्नाग्नि

---

१ वही।

२ बौधा० धर्मसू० २-९.१ तथा स्वाध्यायेन ऋषीन् पुण्यलोमेन च पुरन्दरं प्रजया च पितृन् सर्वानमुक्तो दिवि मोदते।—वही २-९-५।

३ २-९-२३ ३ से ६ वही।

४ काणे: हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र भाग २, पृ० ९१७।

५ वने प्रकर्षेण नियमेन तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः। वनप्रस्थ एव वानप्रस्थः।—मिता०, ३ ४५ तथा प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् प्रस्थः। वनप्रस्थे भवो वानप्रस्थः, वैखानसाख्यः—क्षीरस्वामी।

६. ५ १-७४ पृ० ११७।

कोई भी द्विज संन्यास ले सकता था[1] और बन्धुओं को छोड़कर अपरिग्रही बनकर प्रव्रज्या ले सकता था। परिव्राजक घर का परित्याग कर अरण्य में रहते थे। वे कौपीन-मात्र पहनते थे। उनके वस्त्र काषाय रंग के होते थे। जिस समय घर में कूटना-पीसना नहीं चलता था और गृहस्थ भी भोजन कर चुकते थे तथा जूठे बरतन मले जा चुकते थे उस समय परिव्राजक गृहस्थों के घर से भिक्षा माँगकर खाता था जिससे किसी गृहस्थ को असुविधा न हो।[2] वासिष्ठधर्मशास्त्र में कहा है कि मुनि सब भूतों को अभय प्रदान करता चलता है इसलिए उसे भी किसी भूत से भय नहीं होता।[3] बौधायन में उसे वाक् मन कर्म और दण्ड से भूतों का अद्रोही बतलाया है और थोड़े से अन्तर से उक्त कारिका का उल्लेख किया है।[4] संन्यासियों में पुरुष भी होते थे और स्त्रियाँ भी। पाणिनि ने श्रमण आदि गण में प्रव्रजिता का परिगणन कर कुमारी प्रव्रजिताओं के अस्तित्व की सूचना दी है।[5] और पतंजलि ने शंकरा नाम की परिव्राजिका का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुणरवाडव उसे शंकरा कहते हैं।[6] संन्यासी एकदण्डी भी होते थे और त्रिदण्डी भी। भाष्य में दोनों का उल्लेख मिलता है। दण्डिमती शाला और दाण्डिन्यायन एक दण्डवाले संन्यासियों के सूचक हैं। तीन दण्डों का समूह त्रिविष्टब्धक कहलाता था। भाष्यकार ने कहा है कि संन्यासी न होने पर भी यदि किसी के हाथ में दण्ड हुआ तो उसे दण्डी कह देते हैं किन्तु त्रिविष्टब्धक केवल परिव्राजकों के पास ही होता है। त्रिविष्टब्धक देखकर संन्यासी पहचाना जाता है। जिस प्रकार धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है। परिव्राजक लोग तीन दण्डों को मूंज की रस्सी से बाँधकर त्रिविष्टब्धक बनाते थे।[9] इस बात की पुष्टि बौधायन ने परिव्राजक को इच्छानुसार एक या तीन दण्ड धारण करने की अनुमति देते हुए की है।[10] परिव्राजकों को भिक्षु और मुनि भी कहते थे।[11] बौधायन ने उसके लिए भिक्षुक शब्द का प्रयोग किया है[12] और आपस्तम्ब में मुनि का।[13]

---

१ यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। जाबालोपनिषद् ।-४।

२ वासि० ध० सू०, १०-२।

३ बौधा० धर्मसू०, २-११ १७ से २५।

४ वासि० ध० सू०, २ ११ २५।

५ २ १-७०।

६ ३ २ १४ पृ० २१२।

७ ५ २ ९४, पृ० ४०८ तथा ८-२-८३, पृ० ३८८।

८ धूमं दृष्ट्वाग्निरस्तीति गम्यते त्रिविष्टब्धकं च दृष्ट्वा परिव्राजक इति।—२ १ १ पृ० २४३।

९ १ १ १, पृ० १२०।

१० बौधा० ध० सू० २ १०-१।

११ आप० ध० सू०, २ ९ ११।

१२ भिक्षार्थमिपरिभ्रमणात् भवति भिक्षुकः।—बौधा० २ १० १७।

१३ आप० २ ९ १।

वैदिक परिव्राजक—संन्यास सत्तर वर्ष की आयु के बाद लेने का विधान है। इस आयु में यज्ञादि वैदिक कर्म भोजन पकाना आदि समस्त कर्तव्यों से मुक्ति हो जाती है। आपस्तम्ब में इसे 'सर्वत परिमोक्ष' कहा है।[1] अनग्नि परिव्राजक, अनिकेतन असर्मा (अपरिग्रही) अशरण (अगृही) प्रायः मौन रहता था और केवल स्वाध्याय-काल में ही बोलता था।[2] स्थण्डिलशायी और वाचंयम परिव्राजक केशश्मश्रुनख आदि का वपन करता था किन्तु शिखा रखता था। शिखा को परिव्राजक का लक्षण माना है।[3] भाष्यकार का यह कथन गौतम (३-२१) के अनुकूल है यद्यपि महाभारत मनुस्मृति (६-५२) और वासिष्ठधर्मसूत्र में उसे सम्पूर्ण मुण्डित कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलि-काल में मुण्डित बौद्ध श्रमणों से अन्तर स्पष्ट करने के लिए वैदिक परिव्राजकों में शिखा रखने की प्रथा चल पड़ी थी।

परिव्राजकों के प्रकार—ऐकागारिकट् चौरे (५ १ ११३ पृ० ३४६) सूत्र पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने भिक्षु को ऐकागारिक (एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति) कहा है। एकागार भिक्षु अपने निजी पुत्र-पौत्रों द्वारा बना दिये गये घर में या किसी ऋषि के आश्रम में रहता था। शिखा धारण करता था यज्ञोपवीत पहनता था और त्रिविष्टब्धक रखता था। वह अपनी कुटी से बाहर नहीं जाता था। वैखानससूत्र में ऐकागारिक परिव्राजक को कुटीचक कहा है।[4] वै० सू० से विदित होता है कि उस समय परिव्राजकों के चार भेद थे—कुटीचक, बहूदक हंस और परमहंस। भाष्य में इन सबका यत्र-तत्र उल्लेख है। ऐकागारिक या कुटीचक का उल्लेख हो ही चुका है। ये लोग बस्ती से बाहर लगभग कोस-भर दूरी पर रहा करते थे। इसलिए ये, नैकटिक भी कहलाते थे।[5] वासिष्ठ धर्मशास्त्र के अनुसार ये ग्रामान्त में ग्राम्य पशुओं की पहुँच के बाहर रहा करते थे।[6] ये लोग अष्ट ग्रास खाकर दिन बिताते थे। बहूदक त्रिदण्ड-कमण्डलु-काषायधारी सात घरों से मांस लवण-पर्युषित छोड़कर भिक्षा माँगते हुए निर्वाह करते थे। ये लोग भिक्षा के लिए जाते समय भूमि में दृष्टि गड़ाये बिना इधर-उधर देखते चलते थे और कौक्कुटिक कहे जाते थे। हंस परिव्राजक ग्राम में एक दिन और नगर में अधिक-से-अधिक पाँच रात्रि तक ठहरते थे। ये लोग गोमूत्र या गोमयाहारी या मासोपवासी या नित्यचान्द्रायणव्रती होते थे। परमहंस वृक्ष के मूल या शून्यागार या देवकुल में सोकर समय बिताते थे। ये लोग समलोष्ट

---

१ आप० २ ९ १२।

२ अनग्निरनिकेतमः स्यादशर्माशरणो मुनिः स्वाध्याय एवोत्सृजेत् वाचम्।—आप० २-९ १०।

३ २-३-२१ काशिका।

४ वैखानससूत्र ८-९।

५ ४ ४-७३ काशिका।

६ ग्रामान्ते देवगृहे शून्यागारे वा वृक्षमूले वा, अरण्यनित्यः-नाग्राम्यपशूनां सन्दर्शने विचरेत्।—वासि० १०-११ [illegible] १६।

७ देशान्यासक्तया हि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिः पादविक्षेपदेशे चक्षुः संयम्य गच्छति स उच्यते कौक्कुटिक इति।— ४ ४-४६ काशिका।

कांचन और धर्माधर्म सत्यासत्य शुद्धाशुद्ध आदि द्वंद्वों से ऊपर होते थे तथा सब वर्णों के घर से भिक्षान्न ग्रहण करते थे। पाणिनि ने इन्हें सार्वान्नीन कहा है।[1]

अपच भिक्षु—सभी भिक्षु अपच होते थे। वे पकाकर भोजन नहीं करते थे। वृद्ध होने पर भी वे अशक्त होने के कारण नहीं अपितु शास्त्र-विधान के कारण ही अपच होते थे। काशिकाकार ने 'अच्कावशक्तौ' (६-२-१५७) सूत्र के भाष्य में इस बात को स्पष्ट किया है।

अर्हत्—तपस्यानुष्ठान करनेवाले सिद्ध परिव्राजक अर्हत् माने जाते थे। कात्यायन और पतंजलि ने 'अर्हत्' की स्थिति को आर्हन्त्य या आर्हन्ती कहा है।

श्रमण-ब्राह्मण—पतंजलि ने विभाषावृक्षमृग० आदि (२ ४ १२ पृ० ४६७) का भाष्य करते हुए 'श्रमण ब्राह्मणम्' को 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (२ ४ ९) का उदाहरण माना है, जिससे स्पष्ट पता चलता है कि पतंजलि से पूर्व शताब्दियों से श्रमणों और ब्राह्मणों में परस्पर विरोध चला आता था और इस विरोध से सारा समाज इसी प्रकार परिचित था जिस प्रकार काक-उलूक या अहि-नकुल-वैर से था। और इसका कारण था। श्रमण अवैदिक थे। वे यज्ञ यागादि क्रिया-कलाप को महत्त्व नहीं देते थे। इनकी दृष्टि में या तो इनका कुछ अर्थ है या व निरर्थक और निष्प्रयोजनीय है। श्रमण आस्तिक और नास्तिक दोनों प्रकार के थे। इनके कई सम्प्रदाय तपस्या को विशेष महत्त्व देते थे। जो आस्तिक थे वे भी जगत् का कोई स्रष्टा कर्ता नहीं मानते थे। 'पालिनिकाय' में जिन श्रमणों का उल्लेख है उनमें प्रायः नास्तिक ही हैं। ब्राह्मण और श्रमण ये दो संस्कृति-परम्पराएँ प्राचीन काल से चली आती हैं। ये एक दूसरे से प्रभावित हुई हैं।[2] इनमें नैसर्गिक वैर था। ब्राह्मण मुण्ड-दर्शन को अशुभ मानते थे। ब्राह्मण सांसारिक थे। श्रमण असांसारिक होते थे और ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। यह बात स्पष्ट समझ लेने पर बौधायन के इस कथन का कारण कि 'वास्तव में गृहस्थाश्रम ही प्रमुख है परिव्राजकादि अन्य आश्रम प्रह्लाद पुत्र कपिल असुर ने देवों से स्पर्धा करने के लिये चलाये हैं जिनमें उन्हें सफलता न मिल सकी। विद्वान् को इन आश्रमों का आदर नहीं करना चाहिए'[3] सरलता से समझा जा सकता है।

बौद्ध और वैदिक आश्रमों का परस्पर प्रभाव—इतना विरोध होते हुए भी ब्राह्मण बौद्ध तथा जैनधर्मों ने इस विषय में परस्पर एक दूसरे को प्रभावित किया है। ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत तापस भी होते थे जिनको वैखानस कहते थे। बौद्ध भिक्षुओं में भी कुछ भिक्षु होते थे जो वैखानसों के नियमों का पालन करते थे। इन नियमों को 'धुतांग' कहते हैं। वृक्षमूलनिकेतन अरण्यनिवास, श्मशानवास, अभ्यवकाशवास, पांशुकूलधारण आदि धुतांग हैं। वैखानसों से प्रभावित होकर बौद्धधर्म में भी यति होने लगे। कुछ विद्वानों का कहना है कि जब बौद्धधर्म पूर्व से पश्चिम की ओर गया तब इस प्रकार के परिवर्तन हुए। पश्चिम देश में पूर्व की अपेक्षा ब्राह्मणों का प्रभाव अधिक था।[4] वास्तव में वैदिकों में तीन आश्रमों की ही प्रथा थी। चतुर्थ आश्रम बाद

---

१ ५-२-९ काशिका।

२ नरेन्द्रदेवः बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० १।

३ बौधा० धर्मसूत्र, २-११।

४ बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० २।

में सम्मिलित हुआ। इसीलिए, चतुर्थ आश्रम का नाम विभिन्न धर्मसूत्रों में भिन्न दिया गया है और महत्त्व की दृष्टि से भी यह अन्त में रखा गया है। परिव्राट् परिव्राजक भिक्षु, मुनि और यति ये नाम विभिन्न धर्मसूत्रों में संन्यासी के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इनमें मुनि यति और भिक्षु तो बौद्ध तथा जैनधर्मों में विशेष प्रचलित हुए। नामों का यह विभेद तथा धर्मसूत्रों में वर्णित वानप्रस्थ और संन्यास के कर्त्तव्यों में समानता इस बात की द्योतक है कि एक आश्रम को ही दो भागों में विभक्त कर दिया गया। आपस्तम्ब और बौधायन के कुछ सूत्र तो दोनों आश्रमों के लिए समान हैं।

कन्था—वायुपुराण में सूत्र-वर्णित वस्तुओं के अतिरिक्त कमण्डलु लटकाने के लिए शिक्य तथा शीत से रक्षा के लिए कन्था का विशेष उल्लेख है।[1] शिक्य कुश कार्पास या ऊर्णा से बने होते थे। कन्था पण्य वस्तुओं में थी और व्यापारिक स्तर पर बनाई जाती थीं। उशीनर की कन्थाएँ अन्य प्रदेशों में श्रेष्ठ गिनी जाती[2] थीं इस बात की चर्चा पीछे हो ही चुकी है।

दाण्डाजिनिक—संन्यासियों की सामाजिक प्रतिष्ठा को देखकर कुछ लोग यों ही दण्ड अजिन लेकर बिना वैराग्य घर से निकल पड़ते थे[3] और संन्यास का ढोंग करते थे। ये लोग दाण्डाजिनिक कहे जाते थे। धीरे-धीरे यह शब्द सामान्य ढोंगी के लिए प्रयुक्त होने लगा।

---

१ वायु पु०, १-८ अपरार्क, पृ० ९४९, ५० पर उद्धृत।

२ २-४-२०।

३ ५-२-७६, पृ० ३७८।

अध्याय १३

धर्मकृत्य और विश्वास

पाप-पुण्य

धार्मिक भाष्य में चतुर्वर्ग के स्थान पर धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग का ही उल्लेख है।[1] मोक्ष की चर्चा भाष्य में नहीं है। वैदिक पण्डितों का लक्ष्य स्वर्ग था, मोक्ष नहीं। निर्वाण का उल्लेख एक स्थान पर अवश्य हुआ है, किन्तु दार्शनिक अर्थ में नहीं।[2] धर्म स्वर्ग्य माना जाता[3] था और अधर्म अन्धतमसावृत लोकों को ले जानेवाला। धर्म का आचरण करनेवाला धार्मिक और अधर्म का अनुष्ठाता आधार्मिक कहलाता था। पाणिनि ने सुकृतहन्, पुण्यहन् और पापहन् शब्दों की निष्पत्ति के लिए पृथक् सूत्र का निर्माण किया है। आधार्मिक और अधार्मिक में भाष्यकार ने अन्तर किया है।

धर्म—धर्म के प्रति भाष्य में कठोर श्रद्धा का भाव व्यक्त हुआ है। धर्माधर्म का निर्णय शास्त्र के अधीन था।[5] कामचार की स्थिति में शास्त्र नियमन करता था और तदनुसार किया गया आचरण अभ्युदयकारी माना जाता था।[6] अशास्त्रपूर्वक कर्म विगुण होता है और विगुण कर्म करने से फल की अवाप्ति नहीं होती, यह धारणा थी। शास्त्र का काम ही धर्मोपदेश है। वह जो कुछ बतलाता है, धर्म माना जाता था। धर्म का निश्चय एक दूसरे प्रकार से भी किया जाता था। जहाँ शास्त्र मौन या अस्पष्ट हो, वहाँ ऋषि-सम्प्रदाय से प्रचलित आचार प्रमाणित और धर्म माना जाता था।[9] पूर्व-पुरुषों द्वारा आचरित पन्थ, जिन्हें 'पूर्वित' या 'पूर्व्य' कहते थे, शास्त्रवत् प्रमाणित माने जाते थे। काशिकाकार ने कहा है कि पूर्व पुरुषों द्वारा निर्धारित ये मार्ग प्रशस्त होते हैं। सूत्रकार ने उनकी प्रशंसा की है और तदर्थ पृथक् सूत्र बनाया है।[10]

---

१ २-२ ३४, पृ० ३९०।
२ ५ १ १११ पृ० ३४५।
३ ८-२-५०, पृ० ३६८।
४ ४ ४ ४१ पृ० २७९।
५ शास्त्रेण धर्मनियमः।—भा० १, पृ० १८।
६ भा० १ पृ० १९।
७ अशास्त्रपूर्वके क्रियमाणे विगुणं कर्म भवति। विगुणे च कर्मणि फलानवाप्तिः—१ २ ६४ पृ० ५८९।
८ धर्मोपदेशनमिदं शास्त्रम्।—१ १-४४, पृ० २१७।
९ ऋषिसम्प्रदायो धर्मः।—भा० १, पृ० २०।
१० ४ ४ १३३ काशिका।

अधर्म—अधर्म के लिए पाप एनस् किल्ब किनीय और कौपीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। भाष्य में पाप को क्षेप कहा है[1] और एनस् से प्रतिगत या घिरे हुए व्यक्ति को प्रत्येनस् संज्ञा दी है।[2] कौपीन नाम कुएँ में डालने योग्य या त्याज्य होने के कारण दिया गया था[3] और किल्बिष दूर हटाने योग्य होने के कारण।[4] किल्ब चिकीर्षा के प्रसंग में वार्तिककार ने सत्र कक्ष, कष्ट और गहन शब्दों का आत्मनेपदीय नामधातुक प्रयोग निर्देशित किया है।[5]

प्रेक्षापूर्वकारी—भाष्य में कहा गया है कि प्रेक्षापूर्वकारी या समझदार लोग अधर्म से दूर रहते और उससे डरते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि अधर्म का परिणाम दुःख होता है।[6] इसलिए, वे पहले से ही सोच विचार कर उससे विरत रहते हैं। इससे विपरीत बुद्धि के लोग यह मानते हैं कि धर्म नाम की कोई वस्तु नहीं है। इसका आचरण करने की आवश्यकता नहीं। वे भी बुद्धिपूर्वक ही धर्म से निवृत्त विरत प्रमत्त या मुग्ध रहते हैं।

आधर्मिक कृत्य—भाष्य में धार्मिक, आधर्मिक और धर्माधर्म दोनों से विरहित इन तीन प्रकार के कर्मों की चर्चा है। धार्मिक कार्यों में वर्णाश्रमानुकूल आचरण प्रमुख है। ब्राह्मण के लिए जिन विशिष्ट कार्यों का अनुष्ठान धर्म माना जाता था उनमें अपभाषण से बचकर चलना बहुत महत्त्वपूर्ण था। भाष्यकार ने इसपर बार-बार जोर दिया है। अपशब्द म्लेच्छ माना जाता था और यह विश्वास था कि उसके व्यवहार से ब्राह्मण म्लेच्छता को प्राप्त होता है। साधु शब्द का ज्ञान धर्म और असाधु शब्द या अपशब्द का ज्ञान अधर्म के अन्तर्गत था।[7] इसीलिए कहा गया था कि साधु शब्दों से अर्थ का अभिधान करना चाहिए, असाधु शब्दों से नहीं।[8] गो-ब्राह्मण की रक्षा धर्म था। पतंजलि ने उनकी स्वस्ति-कामना की है।[9]

ब्रह्महत्या और सुरापान—ब्राह्मण-वध और सुरापान की गणना महापातकों में थी। धर्मोपदेष्टा शास्त्रों ने कहा है कि ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए और सुरा नहीं पीनी चाहिए।[10] भाष्यकार ने धर्मसूत्रों के आधार पर इस बात पर पुनः-पुनः जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि ब्राह्मण-

---

१ १ १-५०, पृ० १०५।

२ ४-२ २७ काशिका।

३ कूपावतरणमर्हत्यकार्यं तत्कौपीनम्।—५-२-२०, पृ० ३७२।

४ ३-१ १४, पृ० ५४।

५ ३-१ ११७।

६ य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखो धर्मो नानेन कृत्यमस्ति स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते।—य एष मनुष्यः सम्भिन्नबुद्धिर्भवति स पश्यति नैव किञ्चद् धर्मो नाम मर्न करिष्यामिति। १ ४-२४, पृ० २६०।

७ भा० १, पृ० ४।

८ भा० १ पृ० ५।

९ भा० १ पृ० १९।

१० २ १ १६, पृ० ४१८।

११ ६ १-८४, पृ० २१७।

वध और सुरापान में महान् दोष बतलाया गया है।[1] यह कहते समय निश्चय ही उनकी दृष्टि धर्मसूत्रों की ओर थी। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि धर्मशास्त्र की प्रवृत्ति इसी ओर है कि ब्राह्मण वध और सुरापान नहीं करना चाहिए।[2] जो व्यक्ति अनजान में भी ब्राह्मण को मारता है या सुरा पीता है, वह भी पतित हो जाता है।[3] ब्राह्मण के लिए तो सुरापान का सर्वथा निषेध था। सुरापी ब्राह्मणी पतिलोक को नहीं प्राप्त होती धर्मशास्त्र के इस कथन को भी पतञ्जलि ने भाष्य में उद्धृत किया है।[4]

गुरुतल्प-गमन—धर्मशास्त्रों द्वारा परिगणित पञ्च पातकों में गुरुतल्प-गमन भी सम्मिलित है। भाष्य में गौरतल्पिक का उल्लेख किया है[5] और कहा है गुरुतल्पग तो सर्वथा ध्वस्त हो जाता है।[6] परदार-गमन भी पाप माना जाता था। समाज पारदारिक को घृणित दृष्टि से देखता था। ब्राह्मण के लिए ब्राह्मणेतर स्त्री का सम्पर्क शिष्ट व्यवहार में सर्वथा वर्ज्य था।

अन्य पातक—ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, माता-पिता और भाई का वध महापातकों की गणना में था।[7] भ्रूणहत्या का उल्लेख भाष्य में अनेक बार हुआ है[8] और इस सम्बन्ध में भाष्यकार ने वसिष्ठ प्रमाण भी उद्धृत किए हैं जिनसे स्पष्ट है कि वसिष्ठ काल में ही इस पातक के विरोध का प्रारम्भ हो चुका था।[9] भ्रूणहा के वध के लिए प्रायश्चित्त तथा उससे सम्बद्ध अन्य वस्तुओं के लिए भाष्य में भ्रौणघ्न शब्द का प्रयोग हुआ है।[10] पाणिनि ने भी पृथक् सूत्र द्वारा इन शब्दों की निष्पत्ति प्रतिपादित की है। ब्रह्महा, मातृहा, पितृहा और भ्रूणहा इन पापों के प्रति समान घृणा का भाव था। पतञ्जलि ने इनका एक साथ उल्लेख किया है।

अनृत—इन महापातकों के अतिरिक्त अनृत-भाषण भी पाप या अधर्म माना जाता था। अनृत दो प्रकार से बोला जा सकता है—प्रच्छन्न और प्रकाश। भाष्यकार ने दोनों का ही गर्हण किया है[12] और उसे अग्राह्य कहा है। भाष्य से यह भी ध्वनित होता है कि सामान्य जनता की प्रवृत्ति

---

१ ब्राह्मणवध सुरापाने च महान् दोष उक्तः।—वही। पृ० २१८।

२ १-२-६४, पृ० ५८७।

३ भा० १, पृ० ५।

४ या ब्राह्मणी सुरापी भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति।— २-८ पृ० २१०।

५ ४-४-१ पृ० २७३।

६ ध्वंसते गुरुतल्पगः।—३-२-४८, पृ० २१७।

७ १-१-५५, पृ० ३११।

८ १-१-३६, पृ० २४८ तथा ३-२-८७ तथा ८-२-२, पृ० ३१५।

९ वही।

१० तां भ्रूणहत्यां निघृष्टानुचरणम् अस्यै त्वां भ्रूणहत्यायै चतुर्थं प्रतिगाम।— ३-१-१०८, पृ० १८४-८५।

११ ६-४-१७४, पृ० ५०६।

१२ ३-२-८७ पृ० ३२५।

१३ ८-२-४८, पृ० ३६६।

असत्य की ओर नहीं थी। उन्होंने असत्य-भाषण के सम्बन्ध में दो प्रकार के व्यक्तियों का उल्लेख किया है—मत्त और उत्फुल्ल। दोनों असामान्य मानसी स्थिति के व्यक्ति हैं। मत्त का अनृत सोद्देश्य हो सकता है किन्तु उत्फुल्ल का अनृत अतिशयोक्ति या अत्युक्तिपूर्ण कथन के रूप में ही होता है। अनृतवादी मत्त भाष्य के मत में पाप से लिप्त होता है।[1] उसकी बात का विश्वास नहीं करना चाहिए।[2] उत्फुल्ल अनृतवादी के विषय में भाष्य ने अपना मत नहीं व्यक्त किया है।[3]

अभ्युदय—कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनके करने में अधर्म होता है किन्तु जब वे सिद्ध हो जाते हैं तब उनसे जो पुण्य प्राप्त होता है वह साधन में प्राप्त होनेवाले अधर्म को अभिभूत कर नये धर्म या अभ्युदय की सृष्टि कर देता है। जैसे कूप खोदनेवाला कूप खोदते समय धूल-मिट्टी से भर जाता है, किन्तु कूप खुद जाने के बाद उससे प्राप्त जल से धूल-मिट्टी को तो धो ही डालता है, साथ ही और कहीं अधिक अभ्युदय को प्राप्त करता है।[4]

अशिष्टाप्रतिषिद्ध—कुछ क्रियाएँ ऐसी भी हैं जिनका फल न धर्म होता है न अधर्म। जैसे हिचकी लेना हँसना या खुजलाना।[5] इस प्रकार के कार्य अशिष्टाप्रतिषिद्ध कहलाते थे।

परलोक

उभौ लोकौ—भाष्यकार ने इस लोक से ऊपर एक अन्य लोक का उल्लेख कई स्थानों पर किया है और उसे परलोक अथवा और स्वर्ग की संज्ञा दी है। उन्होंने इस लोक को इहलोक कहकर उससे सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों को ऐहलौकिक और परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों को पारलौकिक कहा है।[6] इहलोक और परलोक दोनों संयुक्त रूप से 'उभौ लोकौ' कहे गये हैं। मनुष्य इस लोक का प्राणी है किन्तु उसे परलोक की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए जहाँ उसे नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो सकती है। इन सुखों में अप्सराओं की प्राप्ति भी एक आकर्षण है जो वहाँ पत्नी-रूप में उपस्थित होती हैं। देवता लोग दोनों लोकों में स्वच्छन्द विचरण करते हैं[9] किन्तु मनुष्य को इसके लिए कुछ विशिष्ट कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। भाष्यकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'वाग्योगवित्' होना परलोक में अनन्त जय अर्थात् प्रतिष्ठा का कारण बतलाया है।[10] उनके मत से अच्छे प्रकार से जाना हुआ और ठीक तरह से प्रयोग में लाया हुआ

---

१ अनृतं हि मत्तो वदति पाप्मा एनं विधुनाति—८ १ १५, पृ० २८९।
२ मत्तस्य न प्रतिशृणुयाम अनृतं हि मत्तो वदति।—१-१ ११८, पृ० १८९।
३ ८ २-५५, पृ० ३९९।
४ भा० १ पृ० २४।
५ भा० १ पृ० २४।
६ ४ ३ ६० पृ० २३७।
७ १ १-५४, पृ० ९८।
८ स्वर्गे लोकेऽप्सरस एनं जाया भूत्वोपशेरते।—६ १-८४, पृ० १११।
९ १ १-५४ पृ० ९८।
१० भा० १, पृ० ५।

एक भी शास्त्र-युक्त शब्द स्वर्ग और लोक में कामधुक होता है।[1] इस प्रकार 'काम-तृप्ति' इन वैदिक पण्डितों की काम्य जान पड़ती है। यही उनके दृष्टिकोण से तपश्चरण का लक्ष्य है। काशिकाकार ने 'क्षिप्यतेरपारलौकिके' सूत्र का भाष्य करते हुए इस बात को और भी स्पष्ट किया है। पाणिनि के मत से 'क्षिप्' धातु का रूप अपारलौकिक अर्थ में क्षापयति और पारलौकिक अर्थ में 'क्षेपयति' होता है। काशिकाकार ने इस प्रसंग में 'तपस्तापसं क्षेपयति' (पारलौकिक) उदाहरण देकर कहा है कि तपस्वी को उसके अपने ही कर्म ऊपर उठाते हैं। यहाँ 'क्षिप्' का अर्थ में पारलौकिक ज्ञानविशेष है। तपस्वी ज्ञानविशेष प्राप्त करता है। तप उसे उस ओर प्रयुक्त करता है। वह ज्ञानविशेष उत्पन्न होकर जन्मान्तर में परलोक में अभ्युदय-रूप फल में परिणत होता है और इस प्रकार परलोक प्राप्ति का कारण बनता है।[2]

स्वर्ग्य कार्य—भाष्यकार ने ऐसे कार्यों को जो परलोकजय के साधन हैं स्वर्ग्य कहा है।[3] इनमें अग्निष्टोमादि यज्ञ तो हैं ही, अनेक प्रकार के तप और जपादि भी हैं। इसीलिए, ब्राह्मण अधिक जप करते थे[4] और अग्नि के सामने तप करते थे।[5] धर्म-कार्यों में उपार्जित सम्पत्ति का व्यय करते थे।[6] इस प्रकार का सद्व्यय 'उपयोग' कहलाता था। अनेक ऐसे कार्य जो सार्वजनिक रूप से निन्दित माने जाते थे यज्ञ से सम्बद्ध हो जाने पर स्वर्ग के साधक बन जाते थे। फिर भी अनेक लोग इस बात को स्वीकार नहीं करते थे। सौत्रामणि यज्ञ में सुरापान इसी प्रकार का कृत्य था। भाष्यकार ने पूर्वपक्ष के रूप में एक श्लोक उद्धृत किया है जिसका अर्थ है 'यदि उदुम्बर वन की सुरा से भरी अनेक कलशियाँ पीकर कोई स्वर्ग नहीं पहुँच पाता तो यज्ञ में थोड़ी सी सुरा पीकर कैसे पहुँच सकेगा।'[7] भाष्यकार ने तर्क द्वारा इसका खण्डन न कर प्रमत्तगीत कह कर बात को टाल दिया है। भाष्य में नरक का भी उल्लेख मिलता है।[8]

पापोत्क (१-२-८ पृ० २१०) सूत्र का भाष्य करते हुए पतंजलि ने उदाहरण-स्वरूप कहा है 'जो स्त्री सुरापा या सुरापी होती है उसे देवता पतिलोक नहीं ले जाते।' पतिलोक से श्रुति का आशय परलोक में पति के साथ से है। (६ १-५१ पृ० १११) के भाष्य में भी पतंजलि ने एक वैदिक मंत्रांश उद्धृत किया है 'आमागन्ता पितरा मातरा च मा सोमा अमृतत्वाय गम्यात्।' इसमें अमृतलोक या अमृतत्व की चर्चा है। यह अमृतलोक स्वर्ग या अमर मुक्ति की स्थिति है या नहीं कुछ स्पष्ट रूप से कहा नहीं जा सकता। भाष्यकार ने अन्यत्र कहीं मोक्ष का उल्लेख नहीं

---

१ ६ १-८४, पृ० ११९।
२ ६ १ ४९ काशिका।
३ ५ १ १११, पृ० ३४५।
४ ३ १ १९, पृ० ६४।
५ तपस्यते लोकजिगीषुरग्निः। —२ १ १६, पृ० ५५।
६ १ ३ ३६ तथा १ ३ ३२ का०।
७ वही।
८ भा० १, पृ० ५।
९ ६ १-७ पृ० २१।

किया है। इससे अनुमान होता है कि भाष्यकार की दृष्टि में अमृतत्व का अर्थ दीर्घकालीन स्वर्ग सुख ही था।

नरक—किन्तु परलोक स्वर्ग ही नहीं है। स्वर्ग और नरक दोनों ही परलोक के अन्तर्गत हैं। पाणिनि का 'महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु' (६ २ ३८) सूत्र जिस महारौरव का संकेत करता है वह भी परलोक के ही अन्तर्गत है।

श्राद्ध

श्राद्ध का उद्देश्य—भाष्यकार ने श्राद्ध का उद्देश्य या प्रयोजन श्रद्धा माना है और 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' (२-२ ३४ भा० ४ ५ पृ० ३९०) के उदाहरणों में श्रद्धातपसी और श्रद्धामेधे को परिगणित कर यह भी स्पष्ट किया है कि वे तपस् और मेधा की अपेक्षा श्रद्धा को अधिक अभ्यर्हित मानते थे। श्राद्ध का उद्देश्य पितरों को प्रसन्न करना माना जाता था। इसके लिए दैनिक तर्पण का विधान था। तर्पण में तिल और उदक प्रयुक्त होते थे अतः तिलोदक शब्द तर्पण का वाचक बन गया था। तर्पण-क्रिया के दुहरे उद्देश्य की दृष्टि से एक कहावत ही चल पड़ी थी 'आम भी सिंच गये और पितर भी प्रसन्न हो गये।' पिण्डदान श्राद्ध का दूसरा प्रकार था। इन विधियों के अनुष्ठाता को भाष्य में श्राद्धकर और पिण्डकर कहा है। पिण्डों के प्रदान या निपूर्त करने का उल्लेख भाष्य में कई बार हुआ है। यह भी कहा गया है यायावरों (गृहस्थ-विशेष) को जल में पिण्डों का निवाप करना चाहिए।

पितृदैवत्य—फिर भी श्राद्ध शब्द का प्रयोग विशिष्ट विधि के लिए होता था जिसमें तर्पण और पिण्डदान दोनों सम्मिलित थे। श्राद्ध सामान्यतया शरद में होते थे। इसलिए उन्हें शारदिक कहते थे। पितरों के प्रीणन के निमित्त किये जाने के कारण इन्हें पितृदैवत्य भी कहा गया है। भाष्य में अष्टका नामक पितृदैवत्य का विशेष उल्लेख मिलता है जिसका वर्णन यज्ञों के प्रसंग में किया गया है। अष्टका श्राद्ध मार्गशीर्ष की पौर्णमासी के बाद आनेवाली तीन अष्टमियों को किया जाता था। इसमें पशुबलि भी दी जाती थी। गृह्यसूत्रों में अष्टका-पशुबलि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

ब्राह्मणभोजन—ब्राह्मण-भोजन श्राद्ध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग था। निमंत्रण स्वीकार करनेवाले ब्राह्मण दो वर्गों में विभक्त थे। कुछ लोग अन्य अवसरों पर यजमानों के यहाँ

---

१ ५-१-९७, पृ० ३४४।
२ १ ४-२, पृ० १९४।
३ भा० १, पृ० २१।
४ ३-२-१४ पृ० २१२।
५ १ १-७२ पृ० ४४८।
६ अप्सु यायावरः प्रक्षिपेत् पिण्डम्। —१ १-५८, पृ० ३७५।
७ ४ ३-१२, पृ० २२३।
८ ७-१-९६, पृ० १९०।

भोजन करने जाते थे किन्तु श्राद्धभोजन नहीं करते थे। वे अश्राद्धभोजी कहलाते थे।[1] इनका अलग वर्ग था। इनके विपरीत श्राद्धभोजन करनेवाले श्राद्धी या श्राद्धिक कहे जाते थे। किन्तु, श्राद्धी या श्राद्धिक किसी की स्थायी संज्ञा नहीं होती थी। जिस दिन जो श्राद्ध भोजन करता था उसी दिन उसके लिए इन विशेषणों का प्रयोग होता था। आज श्राद्ध खानेवाले के लिए कल श्राद्धिक शब्द नहीं प्रयुक्त हो सकता था। इस प्रकार, उक्त विशेषण विशेष काल में विशिष्ट क्रिया के परिणाम थे। अश्राद्धभोजी ऐसे व्रती होते थे अर्थात् वे किसी विशेष कारणवश जैसे सांसारिक भोगों का परित्याग कर देते थे वैसे श्राद्धभोजन का भी।[2] कुछ लोग श्राद्ध खाने के लिए बहुत उत्सुक रहते थे। २-१७ सूत्र के भाष्य में दिये गये उदाहरण से जिसमें कोई ब्राह्मण श्राद्ध को ललचाता है। इस बात का संकेत मिलता है।

श्राद्ध विरोध—समाज में सब लोग श्राद्ध के विषय में एकमत न थे। कुछ लोग उसके विरोधी भी थे। भाष्य के 'श्राद्धाय निगर्हते' उदाहरण से यह ध्वनित होता है। सम्भव है श्राद्ध न करने या ठीक ढंग से न करने के कारण व्यक्ति निन्दा का पात्र माना जाता हो।[3] एक अन्य स्थान पर भी एक व्यक्ति पर आक्षेप किया गया है जो इतना कृपण है कि उससे इस बात की भी आशा नहीं कि वह जब मरेगा तब अपने पितरों के श्राद्धादि के लिए कुछ छोड़ जायगा।[4]

मंगल्यामंगल्य—धार्मिक विधियों में जिस प्रकार यज्ञादि कृत्य आभ्युदयिक या मंगल्य माने जाते थे उसी प्रकार श्राद्धादि अमंगल्य। श्राद्धादि का अनुष्ठान सर्वथा अनिष्ट-निवारणार्थ किया जाता था और यज्ञादि का अभ्युदय-कामना से। पितर लोग कव्य न पाकर रुष्ट होते हैं और अनिष्ट कर सकते हैं यह भय श्राद्ध में समाविष्ट हो गया था। इसीलिए, जहाँ यज्ञादि में उत्साह परिलक्षित होता था वहाँ श्राद्धादि में विवशता का भाव। इसीलिए, यज्ञादि में अधिकाधिक देना अच्छा माना जाता था किन्तु श्राद्धादि में हर वस्तु थोड़ी-थोड़ी दी जाती थी।

श्राद्ध के प्रति यह भी एक सर्व-विदित आदर का भाव था कि श्राद्ध भोजन के लिए निमन्त्रित ब्राह्मण भोजन से इनकार नहीं कर सकता था। हव्य तथा कव्य के लिए बुलाना निमन्त्रण कहलाता था और उसका प्रत्याख्यान या अस्वीकृति से अधर्म माना जाता था। अन्य अवसरों पर बुलाया जाना आमन्त्रण कहा जाता है। आमन्त्रण की स्वीकृति या अस्वीकृति आमन्त्रित की इच्छा पर निर्भर थी।

---

१ १ १ ४३, पृ० २५७।
२ ५ २-८५, पृ० ४०१।
३ ३-२-८०, पृ० २२९।
४ २-१ १७ पृ० ४१९।
५ १ ४-३२, पृ० १९८।
६. अत्र येऽस्मदिष्यति न च पितृभ्यः पूर्वेभ्यो दास्यति।—८ १ ३०, पृ० २८८।
७. ५ ४-४२ पृ० ४९४
८. ब्राह्मणेन खिल्वं भुज्यतामित्युक्तेऽधर्म प्रत्याख्यातु आमन्त्रणे कामचारः।—३-३ १६१, पृ० ३३५।

पुण्य-दान

परलोक के साधनों में यज्ञयागादि का उल्लेख ऊपर हुआ है। विभिन्न यज्ञ-याग और अग्नि-चयन तो स्वयं धन धान्य आयु, बल यश पशु-समृद्धि आदि के साधन माने ही जाते थे, दान और तीर्थयात्रा भी स्वर्ग में सहायक ही समझे जाते थे। इसलिए गोदान वस्त्रदान आदि का बहुत महत्त्व था। गोदान की महिमा सर्वविदित है। भाष्य में गोदान-विषयक उल्लेख बार बार मिलते हैं।[1] यज्ञ श्राद्ध तथा मंगल-कार्यों के अवसर दान देने की प्रथा सामान्य थी। भाष्य में पुत्रजन्म के अवसर पर दस सहस्र तक गायें दान किये जाने का उल्लेख है।[2] ब्राह्मणों के अतिरिक्त भिक्षु भी दान के पात्र माने जाते थे। दक्षिणा के योग्य व्यक्ति दक्षिण्य या दक्षिणीय कहा जाता था।[3] भोजन दान बड़ा पुण्य कृत्य माना जाता था। दूसरों को भोजन कराने से स्वर्ग प्राप्ति मानी जाती थी।

तीर्थयात्रा और तीर्थस्नान भी पुण्यकर माना जाता था। भाष्यकार ने उपस्नात, स्थूलसिक्त तूष्णींगंग महाह्रद और द्रोण नामक तीर्थों का नाम-ग्रहण किया है। इनको जानेवाले तीर्थयात्री सर्वकल्मषीका विनिर्मुक्त हो जाते हैं यह धार्मिक मान्यता थी।[5]

शौचाशौच

शौचकृत्य—आर्य लोगों की दृष्टि शौच की ओर विशेष थी। इसीलिए, जहाँ शिष्ट या श्रेष्ठ व्यक्ति की चर्चा मिलती है वहाँ उसके साथ शुचि विशेषण प्रायः पाया जाता है। भाष्यकार ने भी ब्राह्मण की विशेषताएँ बतलाते हुए सर्वत्र उसे शुच्याचार कहा है।[4] शुच्याचारता बाह्य भी होती है और आन्तर भी। आन्तर शौच तप संयम सूनृतावाद आदि द्वारा सम्पादित किया जाता है जिसकी चर्चा यथाप्रसंग हुई है। बाह्य शौच में स्नान हस्तप्रावन स्थान वस्त्र आदि की सफाई सम्मिलित है। शौच एक गुण है जिसकी प्राप्ति के लिए कुछ नियमों का पालन आवश्यक माना जाता था। जो उन नियमों का पालन नहीं करता था वह समाज में गुणहीन कहा जाता था। उदाहरणार्थ बैठकर मल-मूत्र करना बैठकर भोजन करना शुचिता का लक्षण था। जो व्यक्ति खड़े-खड़े मूत्र-त्याग करता या चलते-चलते खाता वह गुणहीन माना जाता था। ब्राह्मणों को तो और भी कड़ाई से शौच के नियमों का पालन करना पड़ता था। लोम और नख का स्पर्श कर स्नान करना आवश्यक था। विशेषतः कटे हुए लोमों और नखों का स्पर्श अशौच का

---

१ २ ३-६९, पृ० ४५५ तथा ३-३-१२, पृ० २९१।

२ यस्मिन् दशसहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ। —१ ४-३, पृ० १११।

३ ५ १ ६९।

४ ३-३-० पृ० २८७।

५ उपसृप्तं स्थूलसिक्तं तूष्णींगङ्गं महाह्रदम्।
द्रोणं चेदयको गत्वा मत्वां तापयां प्रताशते॥ —२-२-२९, पृ० १७९।

६. २-२-६, पृ० ३४०।

७. २-२ ६, पृ० ३४०।

कारण माना जाता था।[1] स्नानानुक्षेप दैनिक कार्य था।[2] स्नान को लोग अभ्युदयकारी मानते थे, दोषनाशक तो यह है ही।[3] सम्यक् स्नानादि क्रिया करनेवाला पुरुष भोगवान् कहा जाता था।[4] बाह्य वस्तुओं के स्पर्श से उत्पन्न होनेवाले अशौच की निवृत्ति के लिए हस्तादि प्रक्षालन के अतिरिक्त तीन बार आचमन का भी विधान था।[5] दन्तधावन भी शौच का अंग है। प्रातःस्नान से पूर्व दन्तधावन भी सामान्य प्रथा थी।[6]

प्रत्येक पुरुष सबेरे उठकर शौच दन्तधावन स्नानादि शारीरिक क्रियाएँ पहले करता था और तब उसके बाद अपने मित्र और सम्बन्धियों के कार्य करता था। इस प्रकार, शरीर शुद्धि को अन्य सब कार्यों में प्राथमिकता प्रदान की गई थी।

अशौच—जन्म और मृत्यु के समय दस दिन तक परिवार में अशौच माना जाता था। इसीलिए पुत्र का नामकरण दस दिन बाद ही करने की प्रथा थी।

रजस्वला-धर्म—रजस्वला स्त्रियों के शौच के विशेष नियम थे जिनका पालन उन्हें प्रति मास तीन दिन तक करना पड़ता था। भाष्यकार ने तैत्तिरीयसंहिता (काण्ड २, प्रपाठक ५, अनुवाक १) से ऐसे कुछ नियमों को उद्धृत किया है। तैत्ति० सं० में रजस्वला स्त्रियों के लिए तेरह निर्देश दिये गये हैं। उसके साथ सम्भोग, अरण्य में संगति तथा स्नान के बाद भी उसकी अनिच्छा होने पर उससे यौन सम्बन्ध वर्जित है। रजस्वला को तीन दिन तक स्नान, शरीर में अभ्यंजन (तेल लगाना) कंघे से बाल बनाना, अंजन लगाना, दन्तधावन करना, नख काटना या चारा काटना, सूत कातना, रस्सी बटना, पलाश-पात्र से अथवा पकाये हुए पात्र से जल पीना आदि क्रियाओं से विरत रहना चाहिए। जो ये क्रियाएँ करती है, उसकी सन्तान को उसके दोषों का फल भोगना पड़ता है। उदाहरणार्थ, रजःकाल में उपभुक्ता की सन्तान अभिशस्त (सन्दिग्धचरित्र या पापयोनिमयी) अरण्यसंगता की स्तेन, पराची (इच्छा के विरुद्ध संगता) की धर्मीली (ह्रीत मुखी) बड़ी अधीर असाहसी (अप्रगल्भ), स्नान करनेवाली की जल में डूबकर मरनेवाली, तेल लगानेवाली की दुश्चर्मा या कुष्ठी, कंघी करनेवाली की गंजी और अपमारी (दुर्मरणयुक्त दुर्बल) काजल लगानेवाली की कानी, दातुन करनेवाली की काले दाँतोंवाली, नाखून काटनेवाली की कुनखी, चारा काटनेवाली या चर्खा चलानेवाली की नपुंसक, रस्सी बटनेवाली की उद्

---

१ भा० २, पृ० ११२।

२ भा० ९, पृ० ४८।

३ भा० १, पृ० २४।

४ शौचवानयं ब्राह्मण इत्युच्यते यः सम्यक् स्नानादी क्रिया अनुभवति।—५ १ ९, पृ० १००।

५ त्रिरुदकमाचम्याभिरद्भिराचम्याभिरपस्पृशेदित्युपस्पर्शनं शौचार्थम्।—५ १-८४, पृ० ११८।

६ २-१-१२, पृ० ४४९।

७ ११-५७, पृ० ३११।

८ भा० १, पृ० ९।

बन्धुक (स्वैराचार या फाँसी लगाकर मरनेवाली) द्रोण या पर्णपात्र से पीनेवाली की उन्मादुक (पागल) होती है।[1]

भक्ष्याभक्ष्य

सुरा—सूत्र-ग्रन्थों के आधार पर पतंजलि ने भी भाष्य में यत्र-तत्र अभक्ष्य और भक्ष्य के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने सर्वाधिक जोर सुरा न पीने पर दिया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१-५ १७-२१) में सब मद्यों को अपेय कहा है।[2] मनु ने ब्राह्मण राजन्य और वैश्य को तीनों प्रकार की (गौड़ी पैष्टी और माध्वी) सुरा का निषेध किया है।[3] विष्णुधर्मसूत्र ने सुरा के 'माधूक ऐक्षव टांक कौल खार्जूर, पानस मृद्वीकारस माध्वीक मैरेय और नारिकेलज ये भेद बतलाते हुए कहा है कि ये दसों प्रकार के मद्य अमेध्य होते हैं। ब्राह्मण को इनका स्पर्श नहीं करना चाहिए। हाँ क्षत्रिय और वैश्य इन्हें छू लें तो दोष नहीं है।[4] भाष्य ने सूत्रकारों के इस मत को बार-बार दुहराया है। सुरापान और ब्राह्मण-वध दोनों पतंजलि-काल में महापातक माने जाने लगे थे। सम्भवतः सुरा के प्रति बढ़ती हुई सामाजिक प्रवृत्ति को रोकने के लिए उसे महापातकों में परिगणित कर लिया गया। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि सुरा नहीं पीनी चाहिए। सुरापान में महान् दोष बतलाया गया है।[5] वे सुरा के भेदों से सुपरिचित थे। इसीलिए, उन्होंने कहा है कि ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए, सुरा नहीं पीनी चाहिए, इस आदेश के अनुसार एक ही नहीं कोई भी ब्राह्मण नहीं मारा जाता और किसी भी प्रकार की सुरा नहीं पी जाती।[6] यह कहते समय भाष्यकार का तात्पर्य सुरा के समस्त पूर्वोक्त भेदों से है।

स्त्रियों के लिए भी सुरा निषिद्ध थी। विशेषतः ब्राह्मण स्त्रियों के लिए कठोर निषेध था। भाष्यकार ने कहा है कि जो ब्राह्मणी सुरापी होती है उसे देवता मृत्यु के बाद पतिलोक को नहीं ले जाते। यह कथन वासिष्ठ धर्मशास्त्र के अनुकूल ही नहीं अपितु उसके सूत्र का एक भाग है।

---

१ या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वस्तिस्रो रात्रि। यस्ततो जायते सोऽभिशस्तो यामरण्ये तस्यै स्तेनो यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्यपगल्भो या स्नाति तस्या अप्सु मारुको याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा या प्रलिखते तस्यै खलतिरपमारी याऽङ्क्ते तस्यै काणो या दतो धावते तस्यै श्यावदन्ता नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी या कृणत्ति तस्यै क्लीबो या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुको या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको जायते।—२-१ ६९, पृ० ४८९।

२ सर्वमद्यमपेयम्।

३ सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।—मनु० ११-९३, ९४।

४ माधूकमैक्षवं टाङ्कं कौलं खार्जूरपानसे।
मृद्वीकारसमाध्वीके मैरेयं नारिकेलजम्।
अमेध्यानि दशैतानि स्पृष्ट्वैतानि न दुष्यति॥ —विष्णु ध० सू०, २२-८३, ८४।

५ १ १-८४, पृ० ११८।

६ १-२ ६४, पृ० ५८७।

७ १-२-८, पृ० २१०।

इसी सूत्र में वसिष्ठ ने आगे कहा है कि ऐसी स्त्री इसी लोक में घूमती रह जाती है और क्षीणपुण्या होकर पानी में जोंक या सीपी (कीट) बनती है।[1]

सुरापान के सम्बन्ध में पतंजलि का दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर था। यहाँतक कि बिना जाने भूल से भी सुरा पी लेनेवाला उनकी दृष्टि में पतित था।[2]

सुरा केवल सौत्रामणि यज्ञ में विहित थी। भाष्यकार ने प्राभाकर के नाम से पूर्व-पक्ष का कथन उपस्थित किया है—उदुम्बर यज्ञ की अनेक सुरा-भरी भरनी पी जाने पर भी यदि कोई स्वर्ग नहीं जाता तो मनु में थोड़ा-सी पीने से स्वर्ग कैसे जा सकता है।[3] यह कथन इस बात का प्रमाण है कि श्रोत्रिय लोग यज्ञ में सुरा पीना श्रेयस्कर मानते थे। मनु ने भी इस बात की पुष्टि की है।

पलाण्डु—पलाण्डु को सभी धर्मसूत्रकारों ने अभक्ष्य माना है। वसिष्ठ ने (१४.३३) उसके भक्षण का प्रायश्चित्त अतिकृच्छ्र व्रत द्वारा बतलाया है। भाष्यकार ने पलाण्डुभक्षियों का विशेष रूप से उल्लेख किया है, जो उनके प्रति घृणा का परिचायक है।[5] वृषल लोग पलाण्डु का भक्षण करते थे। कोई-कोई सुरा भी पीते थे। किन्तु पलाण्डु के साथ सुरापान सामान्य वृषल तक नहीं करते थे। घोर वृषल ही ऐसा करते थे और समाज में नीची दृष्टि से देखे जाते थे।[6] सुरापायी दुर्मदी व्यक्ति सुरा से कभी तृप्त नहीं होता, इस कारण भी सुरा हेय मानी जाती थी।

मांस—मांस-भक्षण का प्रचार था, किन्तु ग्राम्यकुक्कुट और ग्राम्यशूकर अभक्ष्य थे। वासिष्ठ धर्मशास्त्र में भी श्वाविद्, शल्यक, शशक, कच्छप और गोधा ये पाँच पंचनख प्राणी भक्ष्य बतलाये गये हैं। खड्ग और ग्राम्यशूकर के विषय में मतभेद था और ग्राम्यकुक्कुट वसिष्ठ के भी मत से सामान्यतया अभक्ष्य माना जाता था। वाल्मीकीय रामायण ने भी इस कथन की पुष्टि की है।[9] भाष्यकार का 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' और 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटो भक्ष्यो ग्राम्यशूकरः' कथन धर्मग्रन्थों के अनुकूल ही है और रामायण का उद्धरण-मात्र है।[10]

---

१ या ब्राह्मणी च सुरापी भवति न तां देवाः पतिलोकं नयन्ति इहैव सा चरति क्षीणपुण्यास्सु जलुका भवति शुक्तिका वा।—वासि० ध० शा० २१.११।

२ भा० १, पृ० ५।

३ वही।

४ सौत्रामण्यां तथा सर्वं श्रुतौ भक्ष्यमुदाहृतम्।—मनु० ५-५०।

५ २.२-३६, पृ० १९२।

६ वृषलस्योऽयम्—अप्यर्थे पलाण्डुना सुरां पिबेत्।—१.३-३६, पृ० ४६०।

७ २-२-२९, पृ० १७९।

८ वासि० ध० शा० १४-३९, ४७, ४८।

९ पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः॥—किष्कि० का० १७-३९।

१० भा० १, पृ० ११।

पक्षियों में शार्ङ्ग का मांस अभक्ष्य था। भाष्यकार ने पलाण्डुभक्षिती और शार्ङ्गभक्षी का उल्लेख निन्दा-द्योतन के लिए किया है।[1] सूत्र (६ १ ४२ वा० २) के भाष्य में निर्दिष्ट 'मृग्या क्षीरम्' भी अपेय था। आपस्तम्ब (१-५ १७-२३) में उष्ट्री, मृगी सन्धिनी (गर्भिणी गौ) और यमसू (दो बच्चे जननेवाली) का दुग्ध अपेय कहा है।

कृष्णधान्य—श्राद्ध में कृष्णधान्य का प्रयोग वर्जित था।[2] भाष्य में कहा है कि माष नहीं खाने चाहिए, इसका अर्थ यह हुआ कि माष किसी दूसरे अन्न के साथ भी मिलाकर नहीं खाये जाते।[3] विशेष पर्वों में लवण नहीं खाया जाता था। भाष्य का अलवणभोजी ब्राह्मण इसका साक्षी है।[4] आपस्तम्ब में मांस मधु और लवण तीनों श्राद्ध में अभक्ष्य कहे जाते हैं।[5]

निषिद्ध भोजन—भोजन किसका बनाया न खाया जाय और किसके साथ न खाया जाय, इस विषय में आज के समान कड़े नियम नहीं थे। आपस्तम्ब ने आर्यों (तीन वर्णों) को वैश्वदेव अन्न का संस्कर्ता (*पाचक*) *कहा है, किन्तु उसके मत से आर्याधिष्ठित शूद्र भी रसोइया हो सकता है।*[6] अपपात्रों का अन्न अवश्य वर्जित था। आपस्तम्ब के टीकाकार हरदत्त ने रजकादि प्रतिलोमों को अपपात्र माना है। इन लोगों को सवर्ण अपने पात्रों में भोजन नहीं करने देते थे। भाष्यकार ने इन्हें निरवसित और अनिरवसित इन दो भागों में विभक्त किया है। अनिरवसित वे थे, जिनके साथ भोजन तो नहीं किया जाता था किन्तु जिन्हें पात्रों में भोजन कराया जा सकता था। निरवसितों को सवर्णों द्वारा अपने पात्र में भोजन नहीं दिया जाता था क्योंकि उनके खाने पर पात्र अग्नि-संस्कार से भी शुद्ध नहीं माना जाता था।[8] वे निरवसित चण्डाल मृतप आदि थे।

कर्मच्युत सवर्णों के साथ भी कभी-कभी भोजन निषिद्ध मान लिया जाता था। यह एक प्रकार का सामाजिक बहिष्कार था। भाष्य में पणकुल को इस प्रकार बहिष्कृत बतलाया है।[9]

भक्ष्याभक्ष्य नियमन का उद्देश्य जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में कहा है सत्त्वशुद्धि था।[10] एतदर्थ सुरा लशुन पलाण्डु, गृञ्जन और मांसादि मुख्यतया अभक्ष्य ठहराये गये थे।[11]

---

१ २-२ ३६, पृ० ३९२।

२ कृष्ण धान्यं शूद्रान्नं ये चान्येनाश्यसंमताः।—आप० ध० सू० २-८ १८-२।

३ १ १-५१, पृ० ११८।

४ ३ १ १, पृ० २१२।

५. आप० ध० सू० १-५ १७-१५।

६. आर्याः प्रयता वैश्वदेवेऽन्नसंस्कर्तारः स्युः।—२-२ ३-१ तथा ४।

७. आप० ध० सू० १ १ ३-२५ तथा १-५ १६ ३०।

८ २ ४ १० पृ० ४६५।

९ ८ ४ ९ पृ० ४७४।

१० आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।—छान्दो० ७-२६-२।

११ धौ० २१ १ पर हरदत्त द्वारा उद्धृत वाक्य

मानवेतर योनियाँ

मानवेतर योनियों में भाष्यकार ने असुर, म्लेच्छ रक्षस् पिशाच भूत का भी उल्लेख भिन्न-भिन्न प्रसंगों में किया है। इनमें असुर देव-विरोधी के रूप में चित्रित हुए हैं। वे यज्ञ करते थे। किन्तु, शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते थे। इन्द्रशत्रु वृत्र नामक असुर तो यज्ञ में अशुद्ध स्वर बोलने के कारण नष्ट हो गया।[1] भाष्यकार ने यज्ञ में अपभाषण के कारण अन्य असुरों का भी पराभूत होना बतलाया है।[2] उन्होंने कहा है कि व्याकरण के न जानने से आर्य म्लेच्छ हो जाते हैं।[3] तब क्या ये असुर और म्लेच्छ एक ही थे। पाणिनि ने पर्श्वादिगण में असुर शब्द का परिगणन किया है। रक्षस् शब्द भी इसी गण में पठित है। असुर और रक्षस् आयुधजीवी संघ थे[4] जो आर्यविरोधी अथवा अपेक्षाकृत कम सभ्य थे। भाष्यकार ने इन आयुधजीवी संघों की स्त्री को रक्षस् और असुरी कहा है।[5] सम्भवतः धीरे-धीरे आर्यों और असुरों का विरोध अधिक बढ़ गया। वे आर्य देवों का विरोध करने लगे और देवविरोधी माने जाने लगे और काशिका काल तक आते आते वे अमनुष्य योनियों में गिन लिये गये और प्रेतयोनि के समकक्ष आ गये।

ऋग्वेद में (२ ३० ४ तथा ७-९९-५) असुर शब्द का प्रयोग देव श्रेष्ठ वरुण आदि दिव्य अर्थों में भी मिलता है यद्यपि ऋग्० (८ ९६ ९) में देवविरोधी के रूप में असुर शब्द बार बार आया है।

राक्षस असुर से भिन्न हैं। भाष्यकार ने आयुधजीवी संघ के अतिरिक्त अर्थ में भी रक्षस् शब्द का उल्लेख किया है। ये रक्षस् या राक्षस नृचक्षा (मनुष्यों की नाक में बैठनेवाले) होते थे।[6] उनका असुरों से साहचर्य सम्बन्ध था। देव इनके विरोधी थे। भाष्य में देवासुर का विरोधी और रक्षोसुर का मैथुनिक के रूप में उल्लेख है[7] और रक्षोघ्न का भी। रक्षाघ्न से भाष्यकार का संकेत किस ओर है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। काशिकाकार ने 'द्वितीये चानुपाख्ये' (६ ३-८०) सूत्र की व्याख्या में अनुपाख्य को अनुमेय या अप्रत्यक्षगम्य का पर्याय मानकर उसका उदाहरण सपिशाचा वात्या और सराक्षसी का शाला दिया है। इससे स्पष्ट है कि वे पिशाच और राक्षस ऐसी योनियों को मानते थे जो प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देतीं किन्तु जिनका अस्तित्व है। काशिका

---

१ तेऽसुरा हेलयोहेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः।—भा० १ पृ० ४।

२ भा० १, पृ० ४।

३ भा० १ पृ० २५।

४ भा० १, पृ० ४।

५ ५ ३ ११७।

६ ४-१ १७७ पृ० १९५।

७ अमनुष्यशब्दो रूढिशब्देन रक्षः पिशाचादिष्वेव वर्तते।

८ २ ४-५४ पृ० ४९०।

९ ४-३-१२५ पृ० २५१।

१० ५ ४ ३६, पृ० ४९१।

तो चतुर्दशी को ही दिखाई देनेवाले राक्षस का भी उल्लेख किया है।[1] पिशाच शब्द 'गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (५ १ १२४) के ब्राह्मणादिगण में भी पठित है। पाणिनि के 'अर्धर्चाः पुंसि च' (२ ४ ३१) सूत्र के अर्धर्चादिगण में भूत और पिशाच को पर्यायवाची माना है और इस अर्थ में भूत शब्द को उभयलिंग कहा है। पाणिनि ने 'मायायामण्' (४ ४ १२४) सूत्र से असुर की माया इस अर्थ में अण् प्रत्यय का विधान किया है, जिससे आसुरी माया प्रयोग निष्पन्न होता है। उनके अनुसार असुर की अपनी वस्तु असुर्य (४ ४ १२३) कहलाती है। पाणिनि ने रक्षस् और यातुओं को मारनेवाली तनु (शरीर) को रक्षस्या और यातव्या कहा है (४ ४ १२१)। भाष्यकार ने कुबेर को पिशाचकी कहा है।[2] पिशाच शब्द से मत्वर्थ में उसकी व्युत्पत्ति मानी है।

पाणिनि और वामन जयादित्य दोनों में इस विषय में मतैक्य है कि असुर, यातु, रक्षस् या राक्षस पिशाच और भूत ये सब मायावी देव-मानवविरोधी दिखाई न देनेवाले तथा अनिष्टकारी योनि-विशेष के जीव हैं। पतंजलि ने एतद्विषयक पाणिनि-सूत्रों पर अपना स्वतन्त्र मत नहीं प्रकट किया है, जो इस बात का द्योतक है कि वे सूत्रकार से पूर्णतः सहमत थे। फिर भी, उन्होंने असुर, रक्षस्, पिशाचादि का अनेक बार उक्त अर्थों में ही उल्लेख किया है और वे निश्चय ही प्रेत योनि में विश्वास रखते थे।

निमित्त-नैमित्तिक

संयोग-उत्पात—पतंजलि शकुन या निमित्त पर विश्वास रखते थे। 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' (५ १ ३८) की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस बात की ओर स्पष्ट संकेत किया है। उन्होंने संयोग और उत्पात का भेद बतलाते हुए कहा है अमुक काम करने पर अमुक फल की प्राप्ति होती है यह संयोग है। यदि गुरु से मिलकर ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति हुई, तो गुरु का वह साक्षात्कार ब्रह्मवर्चस्य संयोग कहलायेगा। धनपति से मिलकर सौ रुपयों की प्राप्ति हुई तो धनपति का मिलना शत्य संयोग कहा जायगा। प्राणियों का शुभाशुभसूचक महाभूतों का परिणाम (परिवर्तन) उत्पात कहलाता है। जैसे किसी प्रसंग में किसी चीज का अचानक फट पड़ना या कम्पित हो जाना अशुभ का और अकस्मात् पद्म दिखाई देना या नायवेलि का सामने पड़ जाना ये बातें शुभ की द्योतक हैं। इसे उत्पात कहते हैं। इस प्रकार, उत्पात शब्द शकुन का पर्याय हुआ।[3] पद्म *और नायवेलि के समान दधि-ओदन भी अर्थसिद्ध का निमित्त माना जाता था।* भाष्यकार ने उसे अर्थसिद्धि का प्रारम्भ कहा है।

---

१ ४-२-९२ काशिका।

२ ५ २-१२९, पृ० ४२२।

३ संयोगोत्पातयोः को विशेष ? संयोगो नाम स भवतीदं कृत्वेदमवाप्स्यत इति। उत्पातो नाम स भवति यादृच्छिको भेदो वा छेदो वा पद्मं वा पर्वं वा।—५ १ ३८, पृ० ३३२।

४ ५-४-१६१ पृ० ४३६।

यह सब अनुभव पर आश्रित था। प्राकृतिक उत्पात की सूचना पूर्व लक्षणों से प्राप्त कर ली जाती थी। उदाहरणार्थ पीली विद्युत् का चमकना तेज वायु चलने का, अत्यन्त लोहित वर्ण की विद्युत् का चमकना तेज आतप का, पीली का चमकना अच्छी उपज का और सफेद विद्युत् का चमकना दुर्भिक्ष का निमित्त माना जाता था।[1]

शकुन-लक्षण—जिस प्रकार पक्षि आदि शुभाशुभ के निमित्त माने जाते थे उसी प्रकार कुछ आंगिक लक्षण या चिह्न भी। अंगों से मनुष्य की प्रकृति भाग्य और भविष्य का अध्ययन पतंजलि-काल में इतना समुन्नत हो चुका था कि अंगविद्या के नाम से अध्ययन की एक स्वतन्त्र शाखा प्रतिष्ठित हो गई थी जिसमें निष्णात व्यक्ति आंगविद्य कहलाता था।[2] पाणिनि ने 'लक्षणे जायापत्योष्टक्' और 'अमनुष्यकर्तृके च' (३-२-५२, ५३) सूत्रों में अंग के इन चिह्नों को जो किसी विशेष बात के निमित्त माने जाते थे 'लक्षण' कहा है। किन्तु, वे लक्षण 'अमनुष्यकर्तृक' होने चाहिए। इन लक्षणों में निष्णात व्यक्ति लाक्षणिक कहलाता था।[3] लाक्षणिक का क्षेत्र व्यापक था और मनुष्य के अतिरिक्त भी अश्व आदि भी उसकी ज्ञान-परिधि के अन्तर्गत थे। पतंजलि ने अंग-लक्षण का उदाहरण देते हुए विशेष तिलकालक (तिल या मस्से) को जायाघ्न और विशेष पाणिरेखा को पतिघ्नी बतलाया है। यद्यपि उन्होंने यह निर्देश नहीं किया है कि किस स्थान का और कौन-सा तिलकालक जायाघ्न होता है और कौन-सी हस्तरेखा पतिघ्नी तथापि इतना तो स्पष्ट ही है कि तिलों मस्सों और हस्तरेखाओं का अध्ययन अंगविद्या का अंग था और लाक्षणिक उनके आधार पर बहुत-सी बातें बतलाया करते थे।[4] पाणिनि का 'राधीक्ष्यो-र्यस्य विप्रश्नः' (१ ४ ३९) सूत्र भी इस बात का सूचक है कि लोग शुभाशुभ पूछने के लिए नैमित्तिकों या शकुनज्ञों के पास जाते थे और वे विचारपूर्वक उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे।[5]

मंगल

अशुभ के निवारण के लिए बहुत-से उपाय काम में लाये जाते थे। ग्रन्थकर्ता विघ्न-निवारण के लिए ग्रन्थ के आदि में मंगलसूचक शब्दों का प्रयोग करते थे या मंगलार्थ किसी देवता की स्तुति करते थे। उनका विश्वास था जिन ग्रन्थों के प्रारम्भ में मंगल किया जाता है,[6] वे अधिक प्रसिद्ध होते हैं। उनके पढ़नेवाले वीर आयुष्मान् और सफलमनोरथ होते हैं। सिद्ध वृद्धि अथ आदि शब्द मंगलसूचक माने जाते थे। इसीलिए, पाणिनि ने वृद्धि वार्तिककार ने सिद्ध और पतंजलि ने अथ शब्द का प्रयोग अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है।

---

१ वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय सस्याय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥—१-१-११, पृ० ४१७।

२ ४-२-६० पृ० १८७।

३ वही।

४ जायाघ्नस्तिलकालकः, पतिघ्नी पाणिरेखा।—३-२-५२, पृ० २१८।

५ १ ४ ३९ काशिका।

६ भा० १, पृ० १५।

कार्य के प्रारम्भ में स्वस्तिवाचन की प्रथा थी। कार्य की समाप्ति शान्तिवाचन से होती थी। दिन में मध्य में कोई विघ्न उपस्थित न हो इसलिए पुण्याहवाचन कराये या किये जाते थे।[1] नवीन कार्यों के पूर्व और अन्त में शुभ अनुष्ठान किये जाते थे। उदाहरणार्थ गेह-प्रवेश और प्रासादारोहण के साथ गेहानुप्रवेशनीय और प्रासादारोहणीय विधि की प्रथा थी।[2] इसी प्रकार, वेदाध्ययन की समाप्ति पर छन्दःसमापनीय विधि की जाती है।[3] प्रत्येक विधि में सामान्य मन्त्र सम्मिलित रहता था। विधि के अन्त में प्रायः ब्रह्मौदन या ब्रह्मभोज कराया जाता था, जिसे अनुप्रवचनीय विधि कहते थे।

कुछ दिन भी श्रेष्ठ माने जाते थे। मङ्गल-कार्यों का प्रारम्भ ऐसे ही दिनों में किया जाता था।[5]

अभिवादन

अभ्युत्थान—अपने से बड़ों को अभिवादन करने की प्रथा थी। छोटे लोग बड़ों को प्रणाम करते थे। भाष्यकार ने कहा है कि बड़ों को आते देखकर छोटी आयुवालों की साँस ओर से ऊपर चलने लगती है और अभ्युत्थान तथा अभिवादन के बाद वह फिर स्वस्थता को प्राप्त होती है।[6] अपने से बड़ी आयु के व्यक्ति के आने पर उठकर खड़ा हो जाना चाहिए। शास्त्र में यद्यपि पूर्ववया ब्राह्मण के लिए प्रत्युत्थान का विधान है किन्तु प्रत्येक बड़ी आयुवाले के लिए प्रत्युत्थान किया जाता था ब्राह्मण-मात्र को ही नहीं। खड़े होने की इस विधि को भाष्यकार ने प्रत्युत्थान कहा है। प्रत्युत्थान शुभ माना गया है और अप्रत्युत्थान दोष। भाष्यकार ने यह बात धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिष्ठित मर्यादा के आधार पर कही है। आपस्तम्बीय धर्मसूत्र में समान ग्राम में रहनेवाले वृद्धतर लोगों को प्रातःकाल प्रातराश से पूर्व अभिवादन करने का निर्देश है।[9]

---

१ ५ १ १११ पृ० ३६५।

२ वही।

३ ५ १ ११२ पृ० ३४६।

४ ५ १ १११, पृ० ३६५।

५. २-४ ३०, पृ० ४७६।

६ ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥—६ १-८४, पृ० ११८।

७ ६ १-८४ पृ० ११७।

८. पूर्ववया ब्राह्मणः प्रत्युत्थेय इति पूर्ववयसोऽप्रत्युत्थाने दोष उक्तः प्रत्युत्थाने च पुण्यः।— वही।

९. समानग्रामे च वसतामन्येषामपि वृद्धतराणां प्राक्प्रातराशात्।—आप० ध० सू०, १-२-५ ११।

प्रत्यभिवाद—अभिवादन 'अमुकनामाऽहमभिवादये भोः' कहकर किया जाता था और प्रत्यभिवाद 'भो आयुष्मानेभि देवदत्त' आदि कहकर किया जाता था। अभिवादन के नियम निश्चित थे। प्रत्यभिवाद में जो वाक्य बोला जाता था उसके अन्तिम शब्द की टि का प्लुत उदात्त उच्चारण किया जाता था। उदाहरणार्थ ऊपर के वाक्य में 'देवदत्त३' का अन्तिम स्वर प्लुत उदात्त रहता था।

स्त्री और शूद्र—इस नियम के कुछ अपवाद थे। स्त्री, शूद्र तथा असूयक को दिये गये आशीर्वाद या प्रत्यभिवाद की टि प्लुत नहीं रहती थी। उदाहरणार्थ आयुष्मती 'भव गार्गि' में अन्तिम स्वर प्लुत नहीं होता था। शूद्र के अभिवादन का उत्तर उसकी कुशल पूछकर ही दिया जाता था। यथा 'कुशल्यसि तुषजक' इसमें भी टि भाग प्लुत नहीं रहता था। असूया या अविनय-प्रदर्शन के साथ किये गये प्रत्यभिवाद का उत्तर भी प्लुत-विहीन दिया जाता था। क्षत्रिय और वैश्य के अभिवादन के उत्तर में अन्तिम भाग का प्लुत करना या न करना प्रत्यभिवादक की इच्छा पर निर्भर था। कुछ लोगों का मत था कि अभिवादन का अपना नाम लेकर अभिवादन करना चाहिए, किन्तु उत्तर देनेवाले को आशीर्वाद देते समय अभिवादक का नाम न लेकर उसके स्थान पर 'भोः' ही कहना चाहिए। इनके अनुसार अभिवादये भवन्तं देवदत्तोऽहं भोः का उत्तर आयुष्मानेधि भो३ कहकर देना चाहिए।[1]

स्त्रियों का अभिवादन करते समय इस औपचारिक पद्धति की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वे उनका औपचारिक उत्तर नहीं दे पाती थीं। आपस्तम्बादि ने परदेश से लौटने पर अभिवादन का जो विधान किया है, वह दैनिक अभिवादन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।[2] उस समय भी स्त्रियों से 'असावहं भोः' (यह मैं आ गया) कह देना नमस्कार के बराबर माना जाता था। यही प्रथा अन्य अधिशिक्षित जनों के लिए भी थी।[3]

कुशल-प्रश्न—पाणिनि ने अभिवादन के उत्तर में आशीर्वाद पानेवाले व्यक्ति के लिए चतुर्थी विभक्ति का विधान किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि बड़ कामों में प्रणाम के उत्तर में छोटों को आयुष्य, भद्र, मद्र, कुशल, सुख, कल्याण, हित आदि का आशीर्वाद करने की प्रथा थी। आगत या अतिथि-जनों से कुशल समाचार के समान ही उनकी सुख-सुविधा पूछने की प्रथा भी अभिवादन जैसे उपचार के ही अन्तर्गत है। आपने अच्छी तरह स्नान तो कर लिया? आपकी रात्रि तो सुख से बीती? आपको नींद तो अच्छी तरह आई? आत्मजनों की इस प्रकार की चिन्ता रखना सामान्य उपचार था। प्रश्न करनेवालों के लिए सौस्नातिक, सौखरात्रिक, सौखशायिक आदि शब्द निश्चित थे, जो इस बात के सूचक हैं कि इस तरह के कुशल-प्रश्नों की औपचारिक शब्दावली का सर्व-सामान्य रूप भी निश्चित था।[4]

---

१ ८.२-८३, पृ० १८७-८८।

२ प्रोष्य च समागमे।—आप० १.४-५.१४।

३ आ० १, पृ० ९।

४ ९-३-७३।

५ ४-४-१ पृ० २७१।

आतिथ्य

अतिथि-पूजा—अतिथि-पूजन प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक पंच महायज्ञों में एक माना जाता था। अतिथि की सेवा को आतिथ्य कहते थे।[1] जिसके घर अतिथि आता था वह आतिथेय कहलाता था।[2] अतिथि परिवार-विशेष के भी होते थे और सम्पूर्ण ग्राम के भी। शायद विद्वत्समाज या सन्त-समूह सारे गाँव का संयुक्त रूप से अतिथि होता था। इसी बात को दृष्टि में रखकर भाष्यकार ने ग्राम के लिए 'आगतातिथि' विशेषण का प्रयोग किया है।[3]

आये हुए अतिथि को र के भीतर ठहराया जाता था। इसीलिए, उसे 'दुरोणसद्' कहते थे। आते ही उसे पाँव धोने के लिए जल दिया जाता था जो 'पाद्य' होता था। उसे पीने के लिए दिये जानेवाले जल की संज्ञा 'अर्घ्य' थी।[4] मधुपर्क से उसका सत्कार किया जाता था।[5] दण्डादिगण में पठित मधुपर्क, अर्घ्य, उदक शब्द अतिथि-सत्कार से ही सम्बद्ध है। सत्कार की इस क्रिया का नाम आतिथ्य है, जिसका उल्लेख भाष्य में अनेक बार हुआ है। आतिथ्य और सत्कार में अन्तर है। सत्कार सभी का हो सकता है, आतिथ्य केवल बिना पूर्वसूचना के आये हुए लोगों का होता है। भाष्य में सत्कार और असत्कार की भी चर्चा है।

आतिथ्य-विधि—आतिथ्य का स्वरूप अतिथि की योग्यता पर निर्भर रहता था। किसी अतिथि को मांस-भात खाने को दिया जाता था तो किसी को मटर की दाल। कोई स्वत छत्र का अधिकारी माना जाता था तो कोई सामान्य भोजन-पान का।[6] किसी-किसी अतिथि को समांस मधुपर्क दिया जाता था। समांस मधुपर्क के अधिकारी आचार्य या ऋत्विक ही प्रायः होते थे। इनके आने पर विशेष रूप से गाय या बैल का वध किया जाता था और उसके मांस का भोजन उन्हें दिया जाता था। इसीलिए, ये अतिथि गोघ्न कहलाते थे।[7] इस परम्परा का निर्वाह सदा किया ही जाता हो यह आवश्यक नहीं था फिर भी स्वागतार्थ गो-हनन के अधिकारी होने के कारण आचार्य गोघ्न कहे जाते थे। गोघ्न शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए काशिकाकार ने भी इस बात की पुष्टि की है।[11]

---

१ ५ ४-२६।

२ वही।

३ २-२-२४, पृ० ३३६।

४ ३ २ ६१ पृ० २२५।

५ ५ ४-२५।

६. ५ १ ६६।

७. यस्त आतिथ्यमानुगृह्णीयात्।—७-३-८७ पृ० ३१२।

८. १ ४-६३ पृ० १९५।

९. ५ १ १९, पृ० ३०९, ३०।

१० ३ ४-७३।

११ आगताय तस्मै दातुं गां हन्मीति गोघ्नोऽतिथिः। निपातनसामर्थ्याच्च गोघ्न शब्दस्य लिंगादिरप्यते। असत्यपि च गोहनने तस्य योग्यतया गोघ्न इत्यभिधीयते।—३-४-७३ का०।

ब्राह्मण लोग पायस (खीर) में अधिक रुचि रखते थे। उनके आतिथ्य में पायस का उपयोग होता होगा।[1]

अतिथि की विदाई—अतिथि की विदाई भी सत्कारपूर्वक की जाती थी। विदा होनेवाले व्यक्ति को ग्रामवन के अन्त में या ग्रामसन्धि, ग्रामसंगम अथवा मार्ग में जहाँ भी जल हो वहाँतक भेजने जाने की प्रथा थी। यदि अतिथि या विदा होनेवाला व्यक्ति विशेष पूज्य अथवा प्रिय हुआ तो उसे द्वितीय या तृतीय वनान्त या जलान्त तक भेजने जाते थे।[2]

व्रत-उपवास

व्रत और दीक्षा—भाष्य में व्रत शब्द का प्रयोग नियम के अर्थ में हुआ है। काशिकाकार इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शास्त्रपूर्वक नियम का नाम व्रत है।[3] पाणिनि ने वाक् निग्रह को व्रत माना है।[4] शास्त्रों में विशेष आश्रमों में अथवा विशेष अवसरों पर भिन्न-भिन्न व्रतों का विधान किया है। उदाहरणार्थ मौन व्रत तृतीय और चतुर्थ आश्रमों में तथा यज्ञादि दीक्षा के दिनों में विहित है। व्रत रूप में मौन ग्रहण करनेवाले वाचंयम तथा अन्य किसी कारण से न बोलनेवाले वाग्याम कहे जाते थे।[5] भूमि पर सोना, श्राद्ध-भोजन न करना, लवण-भोजन[6] का परित्याग और ब्रह्मचर्य ये सामान्य व्रत थे जिनका पालन दीक्षित व्यक्ति को पुण्यानुष्ठान के अवसर पर करना पड़ता था। ये नियम कामचार पर नियन्त्रण करने की दृष्टि से निश्चित किये गए थे। उदाहरणार्थ शय्या विद्यमान होने पर भी भूमि पर सोना व्रत का अंग माना जा सकता था अन्यथा नहीं। इसी प्रकार, भोजन होने पर भी अश्राद्ध ही खाना व्रत के अन्तर्गत था। भाष्यकार ने अश्राद्धभोजी का अर्थ श्राद्ध का न खानेवाला बतलाया है अश्राद्ध खानेवाला नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर अश्राद्ध न खाने की स्थिति में व्रतभंग होने लगेगा। ये नियम पुरुष और स्त्री दोनों के लिए थे। यज्ञ में यजमान के साथ उसकी पत्नी को भी इन नियमों का पालन करना पड़ता था। भाष्य में स्थण्डिलशायी के साथ स्थण्डिलशायिनी का भी उल्लेख मिलता है।[9] या

---

१ ६-२-१६, का०।

२ १ ४-५१, पृ० १८७-८८।

३ व्रत इति शास्त्रतो नियम उच्यते वाचंयम आस्ते। व्रत इति किम्? वाग्यामः।—३-२-४०, का०।

४ ३-२-४०।

५. वही।

६. कामचारप्राप्तौ नियमः सति शयने स्थण्डिल एव शेते स्थाण्डिलः। सति भोजने अश्राद्धमेव भुङ्क्ते न श्राद्धमिति स्थण्डिलशायी अश्राद्धभोजी।—३-२ ४० का०।

७. वही पृ० ५५९।

८. यदा त्वश्राद्धं न भुङ्क्ते तदास्य व्रतलोपः स्यात्।—३-२-४०, पृ० २२९।

९. ४ १ १ पृ० १०।

ग मल त्याग कर केवल जल या वायु पर जीवन-यापन करने का व्रत ले लेते थे वे अब्भक्ष और युभक्ष कहलाते थे।[1]

उपवास—उपवास भी व्रत का अंग था। भाष्य में त्रिरात्र उपवास का उल्लेख है।[2] नवास में सब प्रकार का भोजन वर्जित था। कभी-कभी भोजन किसी विशेष पदार्थ तक सीमित र दिया जाता था। यज्ञादि प्रसंगों में ब्राह्मण यजमान केवल पय क्षत्रिय केवल यवागू और श्य केवल आमिक्षा ग्रहण करता था।[3]

शिष्टाचार

शिष्ट—भाष्यकार ने शिष्टों और उनके आचार के प्रति बहुत आदर-भाव व्यक्त किया । शिष्ट शब्द का प्रयोग भाष्य में दो अर्थों में हुआ है—सज्जन तथा शास्त्र-विहित कार्य। पतंजलि शिष्ट किन्हें कहते हैं? यह प्रश्न कर स्वयं ही इसका उत्तर दिया भी है। उन्होंने पहले वैयाकरणों ो शिष्ट बतलाया क्योंकि शिष्टि शास्त्र से हो सकती है और वैयाकरण शास्त्रज्ञ होते हैं। किन्तु, से स्वीकार करने में इतरेतराश्रय दोष आ सकता है क्योंकि शास्त्र द्वारा शिष्टि होती है और शिष्टि होने पर ही शास्त्र ज्ञान हो सकता है। इसलिए, उन्होंने शिष्ट की दो विशेषताएँ स्वीकार ीं—निवास और आचार। शिष्ट होने के लिए जो आचार चाहिए वह आर्यावर्त में ही सुलभ । इसलिए, आर्यावर्त में रहनेवाले वे ब्राह्मण जो १ कुम्भीधान्य २ अलोलुप । इन्द्रियजयी और ४ थोड़े बहुत अन्तर में किसी-न-किसी विद्या में पारंगत हैं शिष्ट माने ाते हैं।

शिष्ट और विहित—शिष्ट शब्द का दूसरा प्रयोग शास्त्र-विहित क्रिया के अर्थ में हुआ है।[4] इस तरह शिष्टाचार इन्द्रियजयी ब्राह्मणों का आचरण या शास्त्रानुमोदित कृत्य कहलाता था। व्यवहारतः दोनों में कोई अन्तर नहीं था क्योंकि शिष्ट जन शास्त्रानुकूल ही आचरण करते थे। जहाँ उचित और अनुचित शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार के आचरण की सुविधा हो वहाँ अनुचित और अशुद्ध का निवर्तन करना शास्त्र का लक्ष्य माना गया है।[5] शिष्ट के आचरण में अनुचित के लिए अवकाश ही नहीं होता। इसलिए, पतंजलि ने शिष्टों के द्वारा व्यवहृत शब्दों को बिना किसी विचार के स्वीकार्य माना है। उनके मत से जो प्रयोग या परिपाटी शिष्टों में प्रचलित हो उसे अवश्य

---

१ २-१ १, पृ० २१२।

२ ग्रामेऽसौ वसंस्त्रिरात्रमुपवसति।—१ ४ ४८, पृ० १७९।

३ पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतः क्षत्रिय आमिक्षाव्रतो वैश्य इति।—आ० १ पृ० १९।

४ के पुनः शिष्टाः? वैयाकरणा—एतस्मिन् आर्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चित् विद्यायाः पारगास्तत्र भवन्तः शिष्टाः।—६ ३ १०९, पृ० १५९।

५ निवर्तकं शास्त्रम्।—१ १ २० पृ० १०२ तथा आ० २ पृ० ४८।

६ वही।

मानना चाहिए।[1] सम्भवत:, इन्हीं शिष्टों को पतंजलि ने कल्याणाचार या कल्याणाचारा (स्त्री०) और कल्याणप्रज्ञ कहा है।[2]

शिष्ट व्यवहार—शिष्ट जनों के व्यवहारों के कुछ उदाहरण भी भाष्य में उपलब्ध होते हैं। उपाध्याय और शिष्य को साथ-साथ जाना हो और यान या वाहन में एक ही व्यक्ति के बैठने भर का अवकाश हो तो गुरु को वाहन से भेजना चाहिए और शिष्य को पैदल जाना चाहिए। जो व्यक्ति इसका उल्टा करता अर्थात् स्वयं तो सवारी पर जाता किन्तु उपाध्याय को पैदल भेजता है, वह आचारभेद या शिष्टाचार का भंग करनेवाला माना जाता था।[3] इस आचार-भंग को क्रिया या धर्मव्यतिक्रम भी कहते थे। बैठकर भोजन करना और बैठकर मल-मूत्र त्याग करना शिष्टों में प्रचलित था। लेटे-लेटे या चलते हुए खाना शिष्टों में अनुचित माना जाता था। खड़े होकर मूत्रत्याग करना भी अशिष्टता का परिचायक था।[4] यवनों में ये प्रथाएँ प्रचलित थीं।[5] एक काल में यदि एक क्रिया हो सकती हो या एक वस्तु प्राप्त हो तो उस क्रिया या वस्तु पर पहले अर्ह का अधिकार हो सकता था। बाद में अपेक्षाकृत अर्ह को अवसर दिया जाता था। उदाहरणार्थ आढ्य दरिद्र और मूर्ख में पहले आढ्य को भोजन कराया जाता था बाद मे दरिद्र और मूर्ख को। ब्राह्मण और वृषल में ब्राह्मण को नाव से पार जाने का अवसर पहले प्राप्त होता था। वृषल तबतक प्रतीक्षा करता था।[6] इस प्रकार अर्ह और अनर्ह दोनों के आचार निश्चित थे। ब्राह्मण का वृषली या दासी से सम्बन्ध शिष्ट व्यवहार के विरुद्ध माना जाता था। शिष्टाचार के अनुसार ब्राह्मण ब्राह्मणी से ही प्रेम-सम्बन्ध रख सकता था। ध्यान देने योग्य बात है कि तत्कालीन समाज में इस प्रकार के अनुचित सम्बन्धों को दण्ड्य नहीं माना जाता था केवल अशिष्ट कहकर टाल दिया गया था।

शास्त्रशिष्ट—कुछ बातें शास्त्र द्वारा शिष्ट या विहित थीं। उनके विरुद्ध आचरण अशिष्ट माना जाता था। घी और तेल बेचना निषिद्ध था। मांस बेचना भी वर्जित था। गो सर्षप आदि की बिक्री पर प्रतिबन्ध नहीं था यद्यपि घी मांस और तेल इन्हीं से बनता था। सोम

---

१ सभासाम्यं शिष्टप्रयोग उपास्य ।—१ १-१, पृ० १७ ।

२ ३-२ १ पृ० २०४।

३ क्रिया धर्मव्यतिक्रम: आचारभेद:—स्वयं हि रथेन याति उपाध्यायं पदाति गमयति ।—८-१ ६० का०।

४ ३-२ १२६, पृ० २६४।

५ ३-२ १२६ काशिका।

६ २-३ ३६ पृ० ४३०।

७ १ ३-५५, पृ० ९९।

८ तैलं न विक्रेतव्यम् मांसं न विक्रेतव्यम् इति व्यपवृक्तं च न विक्रीयते व्यपवृक्तोच गावश्च सर्षपाश्च विक्रीयन्ते ।—आ० ९, पृ० ९२।

विकय अशिष्ट था किन्तु धान्य बेचा जा सकता था।[1] इस प्रकार की शास्त्रानुशासित बातों का उल्लेख भिन्न प्रकरणों में यथास्थान किया गया है।

कुछ बातें शिष्टाचार के कड़े नियमों के अन्तर्गत तो नहीं आतीं किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा का कारण अवश्य होती थी। इनमें समाज से अलग रहकर केवल अपना पेट भरना, चाटुकारिता आदि बातें थी। आत्मम्भरि, कुक्षिम्भरि और चाटुकार नीची नजर से देखे जाते थे।[2]

शिष्टानुकरण—शिष्ट का अनुकरण अच्छा और अभ्युदयकारी माना जाता था। अशिष्ट और अप्रतिषिद्ध का अनुकरण न दोषावह और न आभ्युदयिक होता था। शिष्टों में यज्ञ, दान आदि आते थे और अशिष्टों या अप्रतिषिद्धों में हिक्कित हसित कण्डूयित आदि।[3]

---

१ १ २ ६३ पृ० २३६।

२ आत्मम्भरिश्चरति धर्ममसेवमानः (?)।—३-२ २६ पृ० २१४ तथा ३-२-२२।

३ अनुकरणं हि शिष्टस्य साधुर्भवति अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा नैव तद्दोषाय भवति

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

वैदिक संहिता

ऋग्वेद (सायण-भाष्य)
यजुर्वेद
काठक-संहिता
मैत्रायणी संहिता
तैत्तिरीय संहिता (सायण-भाष्य)
वाजसनेयी संहिता (महीधर-भाष्य)
सामवेद
अथर्ववेद
ऐतरेय ब्राह्मण
शतपथब्राह्मण
गोपथब्राह्मण
ताण्ड्य महाब्राह्मण
पंचविंश ब्राह्मण
षड्विंश ब्राह्मण
कौषीतकिब्राह्मण
छान्दोग्य ब्राह्मण
तैत्तिरीय ब्राह्मण (सायण-भाष्य)
काठक ब्राह्मण
शांखायन ब्राह्मण
जैमिनीय ब्राह्मण
आश्वलायन श्रौतसूत्र
शांखायन श्रौतसूत्र
लाट्यायन श्रौतसूत्र
कात्यायन श्रौतसूत्र
बौधायन धर्मसूत्र
आपस्तम्ब धर्मसूत्र (हरदत्त टीका)
विष्णुधर्मसूत्र
वासिष्ठ धर्मसूत्र
कौशिक गृह्यसूत्र
पारस्कर गृह्यसूत्र (हरिहर-भाष्य)
वाराह गृह्यसूत्र
द्राह्यायण गृह्यसूत्र (रुद्रस्कन्द-वृत्ति)
गोभिल गृह्यसूत्र
बौधायन गृह्यसूत्र
आश्वलायन गृह्यसूत्र
सत्याषाढ सूत्र (उज्ज्वला-टीका)
वैखानससूत्र
तैत्तिरीय आरण्यक
बृहद् आरण्यक
ऐतरेय आरण्यक
छान्दोग्योपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
शाखाकोपनिषद्

प्रातिशाख्य-निरुक्त

ऋक्-प्रातिशाख्य (उव्वट-भाष्य)
कात्यायन-प्रातिशाख्य
तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य
साम-प्रातिशाख्य
अथर्व-प्रातिशाख्य
ऋक्तन्त्र
सामतन्त्र

अक्षरतन्त्र
पाणिनीय शिक्षा
आपिशल शिक्षा
निरुक्त (दुर्गाचार्यवृत्ति तथा स्कन्दस्वामी भाष्य)

अन्य वैदिक साहित्य

आश्वलायन परिशिष्ट-चरणव्यूह
प्रपंचहृदय
षड्गुरुशिष्य-सर्वानुक्रमणी
अथर्व चतुरध्यायी
प्रवरदर्पण
प्रतिज्ञासूत्र
भाषिक सूत्र
ग्रिफिथ—अथर्ववेद (अनुवाद)
वेबर—तैत्तिरीय संहिता (सम्पा०)
श्रोडर और कीपर्जिन—मैत्रायणी (सम्पा०)
मैक्समूलर—ऋग्वेद (अनु)
मैक्डानल कीथ—वैदिक इण्डेक्स

व्याकरण

अष्टाध्यायी
महाभाष्य (प्रदीपोद्योत)
महाभाष्य (मराठी अनु० पूना)
महाभाष्य लेक्चर्स ऑन पतञ्जलि—भाग १ २
महाभाष्यप्रकाशिका (भर्तृहरिटीका)
कातन्त्र
चान्द्र व्याकरण
वाक्यपदीय (हेलाराज पुण्यराजटीका)
सिद्धान्तकौमुदी
प्रौढमनोरमा
कातन्त्र
पदमंजरी (हरदत्त)
परिभाषेन्दुशेखर
वैयाकरणभूषा
लघुशब्देन्दुशेखर (भैरवमिश्र-टीका)
गणरत्नमहोदधि
परिभाषावृत्ति (सीरदेव)
वामनीय लिंगानुशासन
न्यास (जिनेन्द्र)
महाभाष्य शब्दकोष (पूना)
काशिका

रामायण

आदिकाण्ड
अयोध्याकाण्ड
किष्किन्धाकाण्ड
उत्तरकाण्ड

महाभारत (नीलकण्ठी टीका)

आदि पर्व
सभा पर्व
द्रोण पर्व
कर्ण पर्व
वन पर्व
भीष्म पर्व
अनुशासन पर्व
अश्वमेध पर्व
शान्ति पर्व

पुराण

अग्निपुराण
कूर्मपुराण
मत्स्यपुराण
वायुपुराण
वामनपुराण
पद्मपुराण
स्कन्दपुराण
मार्कण्डेयपुराण

विष्णुपुराण
भागवतपुराण
हरिवंशपुराण
ब्रह्माण्डपुराण
कालिकापुराण
पाराशरउपपुराण
देवीपुराण

दर्शन

योगदर्शन
वेदान्तदर्शन
मीमांसादर्शन (शाबर भाष्य)
योगसूत्रवृत्ति (भोजराज)

शास्त्र-संहिता

अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
अर्थशास्त्र (अनु॰ शामशास्त्री)
कामसूत्र (यशोधर-भाष्य)
नाट्यशास्त्र (भरत)
चरकसंहिता (चक्रपाणिटीका)
गार्गीसंहिता

स्मृति

मनुस्मृति (कुल्लूकभट्ट-टीका)
याज्ञवल्क्य-स्मृति (मिताक्षरा-टीका)
याज्ञवल्क्य-स्मृति (विश्वरूप-टीका)
लौगाक्षि-स्मृति

अन्य मूल ग्रन्थ

कथासरित्सागर
बुद्धचरित
भगवतीसूत्र
मिलिन्दपञ्हो
अंगुत्तरनिकाय
विनयपिटक
मज्झिमनिकाय
दिघनिकाय
संयुत्तनिकाय
धम्मपद
सामन्तपासादिका
महावग्ग
दिव्यावदान
विसुद्धिमग्ग
अवदानशतक
महावंश
बोधिसत्त्वावदानकल्पलता
सद्धर्मपुण्डरीक
मञ्जुश्रीमूलकल्प
विविधतीर्थकल्प
सुमंगलविलासिनी
मयमसूत्री
योगिनीतन्त्र
गार्गी संहिता (युगपुराण)
बृहत्कथामञ्जरी
श्रीतत्त्वनिधि
ललितविस्तर
बृहत्संहिता
संगीतरत्नाकर
चर्यापिटक
रघुवंश
मालविकाग्निमित्र
जातक—भाग १ ६ (कावेल)
पवनदूत (धोयी)
परिशिष्टपर्व (हेमचन्द्र)
नानार्थार्णवसंक्षेप (केशवस्वामी)
मत्तप्रम (नाटक)
पतञ्जलिचरित
यशस्तिलक (चम्पू)
सरस्वतीकण्ठाभरण (हृदयहारिणी-टीका)
कविकल्पद्रुम

काव्यमीमांसा
पञ्चतन्त्र
वीरमित्रोदय-संस्कारसमुच्चय
सुभाषितावली (वल्लभदेव)
दुर्घटवृत्ति (शरणदेव)
वेदान्तकल्पतरुपरिमल (अप्पयदीक्षित)
जानकीहरण
हर्षचरित
मणिमेखलइ (तमिल-काव्य)
श्रौतपदार्थनिर्वचन
जम्बूद्वीपपण्णत्ति

कोष

अभिधानचिन्तामणि (हेमचन्द्र)
त्रिकाण्डशेषकोष (पुरुषोत्तमदेव)
अमरकोष
वैजयन्तीकोष
भावप्रकाश
राजेन्द्रअभिधानकोष
संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी (मोनियर विलियम्स)

आधुनिक समीक्षात्मक ग्रन्थ

व्याकरण

बर्नेल—ऐन्द्र स्कूल ऑफ् ग्रैमेरियन्स
बेल्वेल्कर—सिस्टिम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर
चक्रवर्ती—दि फिलासफी ऑफ् संस्कृत ग्रामर
पथाटे—दि स्ट्रक्चर ऑफ अष्टाध्यायी
फैरेन्ड फैडरगन—स्टडीज ऑन पाणिनिज ग्रामर
गोल्डस्टुकर—पाणिनि हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर
बोथलिङ्क—पाणिनिज ग्रैमेटिक
कीलहॉर्न—कात्यायन ऐण्ड पतंजलि—देयर रिलेशन टु इच अदर ऐण्ड पाणिनि
युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास
कच्चायन—पालि ग्रामर

अन्य

मैक्समूलर—हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिटरेचर
मैक्समूलर—रिनेसां ऑफ संस्कृत लिटरेचर
मैकडानल—हिस्ट्री ऑफ् एन्शियेण्ट संस्कृत लिटरेचर
स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया चतुर्थ संस्करण

ई० जे० रेप्सन—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—भाग १
ई० जे० रेप्सन—इण्डियन क्वाइन्स
रीज डेविड्स—साम्स ऑफ दि ब्रदरेन
रीज डेविड्स—डायलाग्स ऑफ दि बुद्ध
कनिंघम—क्वाइन्स ऑफ एनशियेंट इण्डिया
कनिंघम—दि स्तूप ऑफ भरहुत
कनिंघम—एनशियेंट ज्याग्राफी ऑफ् इण्डिया तथा आर्कियालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट—भाग १ २ तथा ९, २०
मैक्रिण्डिल—एनशियेंट इण्डिया ऐज डैस्क्राइब्ड बाइ मैगास्थनीज ऐण्ड ऐरियन
मैक्रिण्डिल—इण्डिया एज डेस्क्राइब्ड बाइ टालेमी
मैक्रिण्डिल—दि इनवेजन ऑफ् अलेग्जैण्डर दि ग्रेट
पार्जिटर—एनशियेंट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रैडिशन
पार्जिटर—डायनेस्टीज ऑफ् दि कलि एज
पार्जिटर—मार्कण्डेयपुराण (सम्पा०)
विल्सन—विष्णुपुराण (सम्पा०)
कीथ—रिलीजन ऐण्ड फिलासफी ऑफ् दि वेद
कीथ—संस्कृत ड्रामा
वैटर्स—य्वान चुवांग चांग
मैसेन—मैस्टापोटेमिया इण्डिया
ब्लूम फील्ड—हिम्स ऑफ् दि अथर्ववेद
वेबर—ऑन दि डेट ऑफ् पतंजलि (इण्डिश्चस्टडीन से बोमड द्वारा अनूदित)
ओल्डेनबर्ग—रिलीजन डेर वेद
लूडर्स—लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स फ्रोम अर्लियेस्ट टाइम्स टु दि सेकेण्ड सेंचुयेरी ए० डी०
टॉर्न—ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया
रॉलिन्सन—इन्टरकोर्स बिटवीन इण्डिया ऐण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड
रॉलिन्सन—दि डिस्टेंस बिटवीन दि स्टेजेज ऑन दि रॉयल रोड (परिशिष्ट)
वाट—एकनामिक प्राडक्ट्स ऑफ इण्डिया
ह्वीलर—हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया—भाग १
वर्नेट—एण्टिक्विटीज ऑफ् इण्डिया
पीटर्सन—दि रिपोर्ट ऑन संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स
बील—बुद्धिस्ट रेकार्डस ऑफ् दि वेस्टर्न वर्ल्ड
गिबन—डिक्लाइन ऐण्ड फॉल
मार्शल—ए गाइड टु सांची
के० के० हंडिक्की—यशस्तिलक ऐण्ड इण्डियन कल्चर
के० के० ठाकुर—मार्कण्डेयकामिनिमित्र (गुज० अनु०)

ला—रिवर्स ऑफ् इण्डिया
ला—माउण्टेन्स ऑफ इण्डिया
ला—ज्याग्राफी ऑफ् अर्ली इण्डिया
ला—ट्राइब्स इन ऐनसियेण्ट इण्डिया
ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी ऑफ् एनशियेंट इण्डिया
फुहरर—मानुमेण्टल एण्टिक्वेरीज ऑफ् नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज ऐण्ड अवध
मनरंजन घोष—पाटलिपुत्र
इलियट—हिन्दुइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म
भण्डारकर—कलेक्टेड वर्क्स ऑफ भण्डारकर—भाग १ २
देशमुख—रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर
काण—हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र—भाग १ ३
बागची—प्रिमिप एण्ड डेमोद्रियस
बी० एम० बरुआ—भरहुत—भाग १ ३
बरुआ और सिन्हा—भरहुत इन्स्क्रिप्शन्स
एन्० एल० दे—ज्याग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एनशियेंट ऐण्ड मीडियेवल इण्डिया
गोरनि—पाणीनक सेवट—ए न्यू इण्टर प्रिटेशन
आप्टे—सोशल लाइफ इन गृह्यसूत्राज
सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज बनारस मैगजीन—१९२०
इण्डियन ऐण्टिक्वेरी—१८७२ ७६ तथा २ एवं १४ भाग
जर्नल ऑफ् भण्डारकर, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट—पूना
ट्राइनियल कैटेलाग ऑफ् संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स भाग ४—राजकीय संग्रहालय मद्रास
प्रोसीडिंग्स ऑफ् ओरियेण्टल कान्फ्रेंस मद्रास
गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल—भाग १ १९४४
पंजाब गजेटियर, अम्बाला जिला
आगरा गाइड ऐण्ड गजेटियर—भाग २, १८४१
इम्पीरियल गजेटियर ऑफ् इण्डिया—भाग २१

शिलालेख

रुद्रदामन का जूनागढ़-शिलालेख
स्कन्दगुप्त का जूनागढ़-शिलालेख
चन्द्र का मेहरौली-शिलालेख
अयोध्या का शिलालेख
अशोक का शिलालेख
भरहुत के शिलालेख
हथिगुम्फा-शिलालेख

अनुक्रमणी

ला—रिवर्स ऑफ् इण्डिया
ला—माउण्टेन्स ऑफ् इण्डिया
ला—ज्याग्राफी ऑफ् अर्ली इण्डिया
ला—ट्राइब्स इन ऐन्शियण्ट इण्डिया
ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी ऑफ एनशियेंट इण्डिया
फुहरर—मानुमेण्टल एण्टिक्वेरीज ऑफ नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज ऐण्ड अवध
मनरंजन घोष—पाटलिपुत्र
इलियट—हिन्दुइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म
भण्डारकर—कलेक्टेड वर्क्स ऑफ् भण्डारकर—भाग १ २
देशमुख—रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर
काणे—हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र—भाग १ ३
लायची—फिलिप एण्ड डमोट्रियस
बी० एम० बरुआ—भरहुत—भाग १ ३
बरुआ और सिनहा—भरहुत इन्स्क्रिप्शन्स
एन्० एल्० डे—ज्याग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ् एनशियेंट ऐण्ड मीडियेवल इण्डिया
मौपलि—आजीवक सेक्ट—ए न्यू इण्टर प्रिटेशन
आप्टे—सोशल लाइफ इन गृह्यसूत्राज
सेण्ट्रल हिन्दू कॉलिज बनारस मैगेजीन—१९२०
इण्डियन एण्टिक्वेरी—१८७२ ७९ तथा २ एवं १४ भाग
जर्नल ऑफ् भण्डारकर, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट—पूना
ट्राइनियल कैटेलाग ऑफ संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स भाग ४—राजकीय संग्रहालय मद्रास
प्रोसीडिंग्स ऑफ् ओरियेण्टल कान्फ्रेंस मद्रास
गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल—भाग १ १९४४
पंजाब गजेटियर, अम्बाला जिला
आगरा गाइड ऐण्ड गजेटियर—भाग २, १८४१
इम्पीरियल गजेटियर ऑफ् इण्डिया—भाग २१

शिलालेख

रुद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख
स्कन्दगुप्त का जूनागढ़-शिलालेख
चन्द्र का मेहरौली-शिलालेख
अयोध्या का शिलालेख
अशोक का शिलालेख
भरहुत के शिलालेख
हाथीगुम्फा-शिलालेख

अनुक्रमणी

अ

आ

ऋ

ए

ख

द

भ

म

य